ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

तत्त्वविवेचनी हिन्दी-टीकासहित



कल्याण मासिक पत्रके 'गीता-तत्त्वाङ्क'के रूपमें प्रकाशित
गीताकी विस्तृत टीकाका संशोधित संस्करण



टीकाकार—

जयदयाल गोयन्दका

प्रकाशक : गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

सं० २००४ से २०३५ तक	२,४६,२५०
सं० २०३८ चौदहवाँ संस्करण	२५,०००
सं० २०४० पंद्रहवाँ संस्करण	२५,०००
	२,९६,२५०

दो लाख छयानबे हजार दो सौ पचास

मूल्य ८.०० (आठ रुपये)

मुद्रक : हिन्दुस्तानी बुक डिपो (आफसेट विभाग) लखनऊ–२२६०१९

मिलने का पता : गीता प्रेस, पो० गीता प्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

प्रथम संस्करणका निवेदन

विक्रम-संवत् १९९६ में 'कल्याण'का गीता-तत्त्वाङ्क प्रकाशित हुआ था, जिसमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा की हुई गीताकी विस्तृत टीका भी दी गयी थी। विशेषाङ्क उस समयकी कल्याण-की ग्राहक-संख्याके अनुसार ५०६०० छपा था; परन्तु इस अङ्ककी माँग इतनी अधिक रही और प्रेमी ग्राहकोंका आग्रह इतना अधिक रहा कि छपाईमें युद्धजनित अनेक कठिनाइयोंके होनेपर भी इसके १६५०० प्रतियोंके तीन संस्करण और छापने पड़े; परन्तु उससे जनताकी माँगकी पूर्ति न हो सकी। इस टीकाको पुस्तकाकार छापनेका विचार तो पहलेसे ही था; परन्तु एक तो संशोधन-कार्यके लिये अवकाशकी कमी थी और दूसरे प्रेसमें भारत-सरकारकी कागज-नियन्त्रण (मितव्यय) आज्ञाके कारण छपाईके कोटेकी अत्यन्त कमी थी, अतः विवशता थी। गीताप्रेमी सज्जनोंके सौभाग्यसे श्रीगोयन्दकाजीने किसी तरह समय निकालकर अपना कार्य कर दिया और प्रेसको विदेशी कागजों-के अतिरिक्त व्ययकी विशेष आज्ञा प्राप्त हो गयी और इस प्रकार यह कार्य सम्पन्न हो सका।

आशा है कि प्रेमी पाठक इस ग्रन्थसे विशेष लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

गीता-तत्त्वविवेचनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताकी विषय-सूची

क्रम-संख्या — विषय — पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पंद्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सतरहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

चित्र-सूची

नम्र निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है। इसकी महिमा अपार है, अपरिमित है। उसका यथार्थमें वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते; फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास, पुराणों आदिमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; परन्तु जितनी महिमा इसकी अबतक गायी गयी है, उसे एकत्र कर लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है। सच्ची बात तो यह है कि इसकी महिमाका पूर्णतया वर्णन हो ही नहीं सकता। जिस वस्तुका वर्णन हो सकता है वह अपरिमित कहाँ रही, वह तो परिमित हो गयी।

गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया गया है। इसकी रचना इतनी सरल और सुन्दर है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे भी मनुष्य इसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते ही रहते हैं, इससे यह सदा नवीन ही बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप, तत्त्व, रहस्य और उपासनाका तथा कर्म एवं ज्ञानका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थोंमें एक साथ मिलना कठिन है; भगवद्गीता एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसका एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। गीतामें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो रोचक कहा जा सके। इसमें जितनी बातें कही गयी हैं, वे सभी अक्षरशः यथार्थ हैं; सत्यस्वरूप भगवान्‌की वाणीमें रोचकताकी कल्पना करना उसका निरादर करना है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीतामें सारे शास्त्रोंका सार भरा हुआ है। इसे सारे शास्त्रोंका खजाना कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। गीताका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर सब शास्त्रोंका तात्त्विक ज्ञान अपने-आप हो सकता है, उसके लिये अलग परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

महाभारतमें भी कहा है—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (भीष्म० ४३।२)। परन्तु इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि सारे शास्त्रोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई, वेदोंका प्राकट्य भगवान् ब्रह्माजीके मुखसे हुआ और ब्रह्माजी भगवान्‌के नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए। इस प्रकार शास्त्रों और भगवान्‌के बीचमें बहुत अधिक व्यवधान पड़ गया है। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है, इसलिये उसे सभी शास्त्रोंसे बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। स्वयं भगवान् वेदव्यासने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
(महा० भीष्म० ४३।१)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके महाभारतकारने यही बात व्यक्त की है। तात्पर्य यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभि-कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको तारनेका सामर्थ्य नहीं

रखता। किन्तु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तारनेमें समर्थ हो जाता है। गङ्गा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है और गीता साक्षात् भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें आकर स्नान करता है उसीको मुक्त करती है, परन्तु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है। इन्हीं सब कारणोंसे गीताको गङ्गासे बढ़कर कहते हैं।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जपसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, यह बात ठीक है; किन्तु गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है, पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। जब मुक्तिके दाता स्वयं भगवान् ही उसके हो जाते हैं, तब मुक्तिकी तो बात ही क्या है। मुक्ति उसकी चरणधूलिमें निवास करती है। मुक्तिका तो वह सत्र खोल देता है।

गीताको हम स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥
(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ घर है। गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

इसके सिवा, गीतामें ही भगवान् मुक्तकण्ठसे यह घोषणा करते हैं कि जो कोई मेरी इस गीतारूप आज्ञाका पालन करेगा वह निःसन्देह मुक्त हो जायगा; (३।३१) यही नहीं, भगवान् कहते हैं कि जो कोई इसका अध्ययन भी करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा (१८।७०)। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, तब जो मनुष्य इसके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बना लेता है और इसका रहस्य भक्तोंको धारण कराता है और उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है उसकी तो बात ही क्या है। उसके लिये तो भगवान् कहते हैं कि वह मुझको अतिशय प्रिय है। वह भगवान्‌को प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होता है, यह भी कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। भगवान् अपने ऐसे भक्तोंके अधीन बन जाते हैं।

अच्छे पुरुषोंमें भी यह देखा जाता है कि उनके सिद्धान्तोंका पालन करनेवाला जितना उन्हें प्रिय होता है, उतने प्यारे उन्हें अपने प्राण भी नहीं होते। गीता भगवान्‌का प्रधान रहस्यमय आदेश है। ऐसी दशामें उसका पालन करनेवाला उन्हें प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है।

गीता भगवान्‌का श्वास है, हृदय है और भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है। जिसके हृदयमें, वाणीमें, शरीरमें तथा समस्त इन्द्रियों एवं उनकी क्रियाओंमें गीता रम गयी है वह पुरुष साक्षात् गीताकी मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तनसे भी दूसरे मनुष्य परम पवित्र बन जाते हैं। फिर उसके आज्ञापालन एवं अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है। वास्तवमें गीताके समान संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नहीं हैं।

गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी है। इसके सङ्कलनकर्ता श्रीव्यासजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेशका कितना ही अंश तो पद्योंमें ही कहा था, जिसे व्यासजीने ज्यों-का-त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्यमें कहा था, उसे व्यासजीने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया, साथ ही अर्जुन, सञ्जय एवं धृतराष्ट्रके वचनोंको अपनी भाषामें श्लोकबद्ध कर लिया और इस सात सौ श्लोकोंके पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त करके महाभारतके अंदर मिला लिया, जो आज हमें इस रूपमें उपलब्ध है।

गीताका तात्पर्य

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है, इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्विजयी विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नम्बर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये ठीक वैसा ही है, जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना।

गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य-नूतन

विलक्षण भाव-रस-राशिकी उपलब्धि होती है। परन्तु आकाशमें गरुड़ भी उड़ते हैं तथा साधारण मच्छर भी! इसीके अनुसार सभी अपने-अपने भावके अनुसार कुछ अनुभव करते ही है।

अतएव विचार करनेपर प्रतीत होता है कि गीताका मुख्य तात्पर्य अनादिकालसे अज्ञानवश संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवको परमात्माकी प्राप्ति करवा देनेमें है और उसके लिये गीतामें ऐसे उपाय बतलाये गये हैं, जिनसे मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। व्यवहारमें परमार्थके प्रयोगकी यह अद्भुत कला गीतामें बतलायी गयी है और अधिकारी-भेदसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये इस प्रकारकी दो निष्ठाओंका प्रतिपादन किया गया है। वे दो निष्ठाएँ हैं—**ज्ञाननिष्ठा** यानी सांख्ययोग और **योगनिष्ठा** यानी कर्मयोग (३ । ३)।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रायः सभी शास्त्रोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके तीन प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। ऐसी दशामें गीताने दो ही निष्ठाएँ कैसे मानी हैं? क्या गीताको भक्तिका सिद्धान्त मान्य नहीं है? बहुत-से लोग तो गीताका उपदेश भक्तिप्रधान ही मानते हैं और यत्र-तत्र भगवान्‌ने भक्तिका विशेष महत्त्व भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है (६ । ४७) और भक्तिके द्वारा अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (८ । १४)।' इसका उत्तर यह है कि शास्त्रोंमें कर्म और ज्ञानके अतिरिक्त जो 'उपासना' का प्रकरण आया है, वह उपासना इन्हीं दो निष्ठाओंके अन्तर्गत है। जब अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर उपासना की जाती है तब वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाती है और जब भेददृष्टिसे की जाती है तब योगनिष्ठाके अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठामें यही मुख्य अन्तर है। इसी प्रकार तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें केवल ध्यानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है; परन्तु वहाँ भी यही बात समझनी चाहिये कि जो ध्यान अभेददृष्टिसे किया जाता है वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत है और जो भेददृष्टिसे किया जाता है वह योगनिष्ठाके अन्तर्गत है। गीताने भक्तिको भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन माना है—लोगोंकी यह मान्यता भी ठीक ही है। गीताने भक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है और स्थान-स्थानपर अर्जुनको भक्त बननेकी आज्ञा भी दी है (९ । ३४; १२ । ८; १८ । ५७, ६५, ६६)। परन्तु गीताने निष्ठाएँ दो ही मानी हैं। इनमें भक्ति योगनिष्ठामें शामिल है क्योंकि भक्तिमें द्वैतभाव रहता है, इसलिये ऐसा मानना युक्तिविरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। भक्ति किस प्रकार योगनिष्ठाके साथ मिली हुई है, इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। अस्तु,

गीतामें केवल भजन-पूजन अथवा केवल ध्यानसे अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि योगनिष्ठाके पूरे साधनसे तो उनकी प्राप्ति होती ही है, उसके एक-एक अङ्गके साधनसे भी उनकी प्राप्ति हो सकती है। यह उनकी कृपा है कि उन्होंने अपनेको जीवोंके लिये इतना सुलभ बना दिया है।

इसके अतिरिक्त गीतामें 'ज्ञान' और 'कर्म' शब्दोंका प्रयोग जिन-जिन अर्थोंमें हुआ है, वह भी विशेष रहस्यमय है। गीताके कर्म और कर्मयोग तथा ज्ञान और ज्ञानयोग एक ही चीज नहीं हैं। गीताके अनुसार शास्त्रविहित कर्म ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनों ही दृष्टियोंसे हो सकते हैं। ज्ञाननिष्ठामें भी कर्मका विरोध नहीं है और योगनिष्ठामें तो कर्मोंका सम्पादन ही साधन माना गया है (६ । ३) और उनका स्वरूपसे त्याग उल्टा बाधक माना गया है (३ । ४)। दूसरे अध्यायके सैंतालीसवेंसे लेकर इक्यावनवें श्लोकतक तथा तीसरे अध्यायके उन्नीसवें और चौथे अध्यायके बयालीसवें श्लोकोंमें अर्जुनको योगनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है और तीसरे अध्यायके अट्ठाईसवें तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें और तेरहवें श्लोकोंमें सांख्य यानी ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी बात कही गयी है। सकाम कर्मके लिये किसी भी निष्ठामें स्थान ही नहीं है, सकामकर्मियोंको तो भगवान्‌ने तुच्छबुद्धि बतलाया है (२ । ४२–४४ और ४९; ७ । २०–२३; ९ । २०, २१, २३, २४)

ज्ञानका अर्थ भी गीतामें केवल ज्ञानयोग ही नहीं है; फलरूप ज्ञान, जो सब प्रकारके साधनोंका फल है—जो ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनोंका फल है और जिसे यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसे भी 'ज्ञान' शब्दसे ही कहा

है । चौथे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवेंके उत्तरार्द्धमें ज्ञानयोगका वर्णन है और चौथे अध्यायके छत्तीसवेंसे उन्चालीसवेंतकमें फलरूप ज्ञानका वर्णन है । इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना चाहिये ।

अब, सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके क्या स्वरूप हैं, उन दोनोंमें क्या अन्तर है, उनके कितने और कौन-कौन-से अवान्तर भेद हैं तथा दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं अथवा परस्पर सापेक्ष हैं, इन निष्ठाओंके कौन-कौन अधिकारी हैं, इत्यादि विषयोंपर संक्षेपसे विचार किया जा रहा है—

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—इस प्रकार समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (५ । ८-९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका भाव न रहना (१३ । ३०)—यह तो 'सांख्यनिष्ठा' है । 'ज्ञानयोग' अथवा 'कर्मसंन्यास' भी इसीके नाम हैं । और—

(२) सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवत्-आज्ञानुसार सब कर्मोंका आचरण करना (२ । ४७-५१) अथवा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (६ । ४७)—यह 'योगनिष्ठा' है । इसीका भगवान्‌ने समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म एवं सात्त्विक त्याग आदि नामोंसे उल्लेख किया है ।

योगनिष्ठामें सामान्यरूपसे अथवा प्रधानरूपसे भक्ति रहती ही है । गीतोक्त योगनिष्ठा भक्तिसे शून्य नहीं है । जहाँ भक्ति अथवा भगवान्‌का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं है (२ । ४७–५१) वहाँ भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन तो है ही—इस दृष्टिसे भक्तिका सम्बन्ध वहाँ भी है ही ।

ज्ञाननिष्ठाके साधनके लिये भगवान्‌ने अनेक युक्तियाँ बतलायी हैं, उन सबका फल एक सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति ही है । ज्ञानयोगके अवान्तर भेद कई होते हुए भी उन्हें मुख्य चार विभागोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है ।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह मायामय है; वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।

(३) जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब मेरा ही स्वरूप है—मैं ही हूँ ।

(४) जो कुछ प्रतीत होता है, वह मायामय है, अनित्य है, वास्तवमें है ही नहीं; केवल एक नित्य चेतन आत्मा मैं ही हूँ ।

इनमेंसे पहले दो साधन 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' पदकी दृष्टिसे हैं और पिछले दो साधन 'त्वम्' पदकी दृष्टिसे हैं । इन्हींका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) इस चराचर जगत्‌में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है । कर्म, कर्मके साधन एवं उपकरण तथा स्वयं कर्ता—सब कुछ ब्रह्म ही है (४ । २४) । जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए बर्फके ढेलोंके बाहर और भीतर सब जगह जल-ही-जल व्याप्त है तथा वे ढेले स्वयं भी जलरूप ही हैं, उसी प्रकार समस्त चराचर भूतोंके बाहर-भीतर एकमात्र परमात्मा ही परिपूर्ण हैं तथा उन समस्त भूतोंके रूपमें भी वे ही हैं (१३ । १५) ।

(२) जो कुछ यह दृश्यवर्ग है, उसे मायामय, क्षणिक एवं नाशवान् समझकर—इन सबका अभाव करके केवल उन सबके अधिष्ठानरूप एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है, और कुछ भी नहीं है—ऐसा समझते हुए मन-बुद्धिको भी ब्रह्ममें तद्रूप कर देना एवं परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर उनके अपरोक्षज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना (५ । १७) ।

(३) चर, अचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ; इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार विचारकर सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपना आत्मा ही समझना ।

इस प्रकारका साधन करनेवालेकी दृष्टिमें एक ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं रहता, वह फिर अपने उस विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही आनन्दका अनुभव करता है (५।२४; ६।२७; १८।५४)।

(४) जो कुछ भी यह मायामय, तीनों गुणोंका कार्यरूप दृश्यवर्ग है—इसको और इसके द्वारा होनेवाली सारी क्रियाओंको अपनेसे पृथक् नाशवान् एवं अनित्य समझना तथा इन सबका अत्यन्त अभाव करके केवल भावरूप आत्माका ही अनुभव करना (१३ । २७, ३४)।

इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्ने गीतामें अनेक युक्तियोंसे साधकको जगह-जगह यह बात समझायी है कि आत्मा द्रष्टा, साक्षी, चेतन और नित्य है तथा यह देहादि जड दृश्यवर्ग—जो कुछ प्रतीत होता है—अनित्य होनेसे असत् है; केवल आत्मा ही सत् है। इसी बातको पुष्ट करनेके लिये भगवान्ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निराकार, निर्विकार, अक्रिय, गुणातीत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है। अभेदरूपसे साधन करनेवाले पुरुषोंको आत्माका स्वरूप ऐसा ही मानकर साधन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है। जो कुछ चेष्टा हो रही है, गुणोंकी ही गुणोंमें हो रही है, आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है (५ । ८, ९; १४ । १९)—न वह कुछ करता है और न करवाता है—ऐसा समझकर वह नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है (५ । १३)।

उपर्युक्त ज्ञानयोगके चारों साधनोंमें पहले दो साधन तो ब्रह्मकी उपासनासे युक्त हैं एवं तीसरा और चौथा साधन अहंग्रह-उपासनासे युक्त है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'उपर्युक्त चारों साधन व्युत्थान-अवस्थामें करनेके हैं या ध्यानावस्थामें या वे दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं।' इसका उत्तर यह है कि चौथे साधनके अन्तमें जो प्रक्रिया पाँचवें अध्यायके नवें श्लोकानुसार बतलायी गयी है—यह तो केवल व्यवहारकालमें करनेकी है और दूसरे साधनके आरम्भमें पाँचवें अध्यायके सतरहवें श्लोकके अनुसार जो साधन बताया गया है, वह केवल ध्यानकालमें ही किया जा सकता है। शेष सब प्रायः दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि 'पहले साधनमें 'वासुदेवः सर्वमिति' —जो कुछ दीखता है सब वासुदेवका ही स्वरूप है (७ । १९) तथा 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'—जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको ही भजता है (६ । ३१)—इनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया।' इसका उत्तर यह है कि ये दोनों श्लोक भक्तिके प्रसङ्गके हैं और दोनोंमें ही परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका वर्णन है; अतः इनका उल्लेख इस प्रसङ्गमें नहीं किया गया। परन्तु यदि कोई इनको ज्ञानके प्रसङ्गमें लेकर इनके अनुसार साधन करना चाहे तो कर सकता है; ऐसा करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

जिस प्रकार ऊपर सांख्यनिष्ठाके चार विभाग किये गये हैं, उसी प्रकार योगनिष्ठाके भी तीन मुख्य भेद हैं—

१—कर्मप्रधान कर्मयोग।

२—भक्तिमिश्रित कर्मयोग।

३—और भक्तिप्रधान कर्मयोग।

(१) समस्त कर्मोंमें और सांसारिक पदार्थोंमें फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके अपने वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्म करते रहना ही कर्मप्रधान कर्मयोग है। इसके उपदेशमें कहीं-कहीं भगवान्ने केवल फलके त्यागकी बात कही है (५ । १२; ६ । १; १२ । ११; १८ । ११), कहीं केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है (३ । १९; ६ । ४) और कहीं फल और आसक्ति दोनोंके छोड़नेकी बात कही है (२ । ४७, ४८; १८ । ६, ९)। जहाँ केवल फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ आसक्तिके त्यागकी बात भी साथमें समझ लेनी चाहिये और जहाँ केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है, वहाँ फलके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये। कर्मयोगका साधन वास्तवमें तभी पूर्ण होता है जब फल और आसक्ति दोनोंका ही त्याग होता है।

(२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग—इसमें सारे संसारमें परमेश्वरको व्याप्त समझते हुए अपने-अपने वर्णोचित कर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करनेकी बात कही गयी है (१८ । ४६) इसलिये इसको भक्तिमिश्रित कर्मयोग कह सकते हैं।

(३) भक्तिप्रधान कर्मयोग—

इसके दो अवान्तर भेद हैं—

(क) 'भगवदर्पण' कर्म ।

(ख) और 'भगवदर्थ' कर्म।

भगवदर्पण कर्म भी दो तरहसे किया जाता है । पूर्ण 'भगवदर्पण' तो वह है जिसमें समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर तथा यह सब कुछ भगवान्‌का है, मैं भी भगवान्‌का हूँ और मेरेद्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्‌के ही हैं, भगवान् ही मुझसे कठपुतलीकी भाँति सब कुछ करवा रहे हैं—ऐसा समझते हुए भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं । (३ । ३०; १२ । ६; १८ । ५७, ६६) ।

इसके अतिरिक्त पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फलमात्र भगवान्‌के अर्पण कर देना—यह भी 'भगवदर्पण'का ही प्रकार है, यह भगवदर्पणकी प्रारम्भिक सीढ़ी है । ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त पूर्ण भगवदर्पण होता है ।

'भगवदर्थ' कर्म भी दो प्रकारके होते हैं—

जो शास्त्रविहित कर्म भगवत्-प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं वे तथा जो भगवान्‌के विग्रह आदिका अर्चन तथा भजन-ध्यान आदि उपासनारूप कर्म जो भगवान्‌के ही निमित्त किये जाते हैं और स्वरूपसे भी भगवत्सम्बन्धी होते हैं, वे दोनों ही 'भगवदर्थ' कर्मके अन्तर्गत हैं । इन दोनों प्रकारके कर्मोंका 'मत्कर्म' और 'मदर्थ कर्म'नामसे भी गीतामें उल्लेख हुआ है (११ । ५५; १२ । १०) ।

जिसे अनन्यभक्ति अथवा भक्तियोग कहा गया है (८ । १४, २२; ९ । १३, १४, २२, ३०, ३४; १० । ९; १३ । १०; १४ । २६), वह भी 'भगवदर्पण' और 'भगवदर्थ' इन दोनों कर्मोंमें ही सम्मिलित है । इन सबका फल एक—भगवत्प्राप्ति ही है ।

अब प्रश्न यह होता है कि योगनिष्ठा स्वतन्त्ररूपसे भगवत्प्राप्ति करा देती है या ज्ञाननिष्ठाका अङ्ग बनकर । इसका उत्तर यह है कि गीताको दोनों ही बातें मान्य हैं अर्थात् भगवद्गीता योगनिष्ठाको भगवत्प्राप्ति यानी मोक्षका स्वतन्त्र साधन भी मानती है और ज्ञाननिष्ठामें सहायक भी । साधक चाहे तो बिना ज्ञाननिष्ठाकी सहायताके सीधे ही कर्मयोगसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है अथवा कर्मयोगके द्वारा ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त कर फिर ज्ञाननिष्ठाके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है । दोनोंमेंसे वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करे, यह उनकी रुचिपर निर्भर है । योगनिष्ठा स्वतन्त्र साधन है, इस बातको भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है(५ । ४,५तथा १३ । २४) । भगवान्‌में चित्त लगाकर भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेवालेको भगवान्‌की कृपासे भगवान् मिल जाते हैं, यह बात भी जगह-जगह भगवान्‌ने कही है (८ । ७; ११ । ५४, ५५; १२ । ६—८) ।

इसी प्रकार निष्काम कर्म और उपासना दोनों ही ज्ञाननिष्ठाके अङ्ग भी बन सकते हैं (५ । ६; १४ । २६) । किन्तु ज्ञानयोगमें अभेद-उपासना है, इसलिये ज्ञाननिष्ठा भेद-उपासनारूप भक्तियोगका यानी योगनिष्ठाका अङ्ग नहीं बन सकती । यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञाननिष्ठाके साधककी आगे चलकर रुचि अथवा मत बदल जाय और वह ज्ञाननिष्ठाको छोड़कर योगनिष्ठाको पकड़ ले और उसे फिर योगनिष्ठाके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति हो ।

यदि कोई पूछे कि कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्ययोगके साधनद्वारा जो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनकी प्रणाली कैसी होती है, तो इसे जाननेके लिये 'त्याग' के नामसे सात श्रेणियोंमें विभाग करके उसे यों समझना चाहिये—

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग ।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना—यह पहली श्रेणीका त्याग है ।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके एवं रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना । यह दूसरी श्रेणीका त्याग है ।

यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय, जो स्वरूपसे तो सकाम हो, परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसे कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसीप्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना— आदि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना। यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंको स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थोंको स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविका एवं शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि जितने कर्तव्य-कर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना। यह पाँचवीं श्रेणीका त्याग है।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, मकान और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परमप्रेममय भगवान्में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ बातोंमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान्के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

यह कर्मयोगका साधन है; इस साधनके करते-करते ही साधक परमात्माकी कृपासे परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है (१८। ५६)।

किन्तु यदि कोई सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त साधन करनेके अनन्तर निम्नलिखित सातवीं श्रेणीकी प्रणालीके अनुसार सांख्ययोगका साधन करना चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र सम-

इसके दो अवान्तर भेद हैं—

(क) 'भगवदर्पण' कर्म।

(ख) और 'भगवदर्थ' कर्म।

भगवदर्पण कर्म भी दो तरहसे किया जाता है। पूर्ण 'भगवदर्पण' तो वह है जिसमें समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर तथा यह सब कुछ भगवान्‌का है, मैं भी भगवान्‌का हूँ और मेरेद्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्‌के ही हैं, भगवान् ही मुझसे कठपुतलीकी भाँति सब कुछ करवा रहे हैं—ऐसा समझते हुए भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं। (३ । ३०; १२ । ६; १८ । ५७, ६६)।

इसके अतिरिक्त पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फलमात्र भगवान्‌के अर्पण कर देना—यह भी 'भगवदर्पण'का ही प्रकार है, यह भगवदर्पणकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त पूर्ण भगवदर्पण होता है।

'भगवदर्थ' कर्म भी दो प्रकारके होते हैं—

जो शास्त्रविहित कर्म भगवत्-प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं वे तथा जो भगवान्‌के विग्रह आदिका अर्चन तथा भजन-ध्यान आदि उपासनारूप कर्म जो भगवान्‌के ही निमित्त किये जाते हैं और स्वरूपसे भी भगवत्सम्बन्धी होते हैं, वे दोनों ही 'भगवदर्थ' कर्मके अन्तर्गत हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंका 'मत्कर्म' और 'मदर्थ कर्म' नामसे भी गीतामें उल्लेख हुआ है (११ । ५५; १२ । १०)।

जिसे अनन्यभक्ति अथवा भक्तियोग कहा गया है (८ । १४, २२; ९ । १३, १४, २२, ३०, ३४; १० । ९; १३ । १०; १४ । २६), वह भी 'भगवदर्पण' और 'भगवदर्थ' इन दोनों कर्मोंमें ही सम्मिलित है। इन सबका फल एक—भगवत्प्राप्ति ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि योगनिष्ठा स्वतन्त्ररूपसे भगवत्प्राप्ति करा देती है या ज्ञाननिष्ठाका अङ्ग बनकर। इसका उत्तर यह है कि गीताको दोनों ही बातें मान्य हैं अर्थात् भगवद्गीता योगनिष्ठाको भगवत्प्राप्ति यानी मोक्षका स्वतन्त्र साधन भी मानती है और ज्ञाननिष्ठामें सहायक भी। साधक चाहे तो बिना ज्ञाननिष्ठाकी सहायताके सीधे ही कर्मयोगसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है अथवा कर्मयोगके द्वारा ज्ञान-निष्ठाको प्राप्त कर फिर ज्ञाननिष्ठाके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। दोनोंमेंसे वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करे, यह उनकी रुचिपर निर्भर है। योगनिष्ठा स्वतन्त्र साधन है, इस बातको भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है (५ । ४, ५ तथा १३ । २४)। भगवान्‌में चित्त लगाकर भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेवालेको भगवान्‌की कृपासे भगवान् मिल जाते हैं, यह बात भी जगह-जगह भगवान्‌ने कही है (८ । ७; ११ । ५४, ५५; १२ । ६—८)।

इसी प्रकार निष्काम कर्म और उपासना दोनों ही ज्ञान-निष्ठाके अङ्ग भी बन सकते हैं (५ । ६; १४ । २६)। किन्तु ज्ञानयोगमें अभेद-उपासना है, इसलिये ज्ञाननिष्ठा भेद-उपासनारूप भक्तियोगका यानी योगनिष्ठाका अङ्ग नहीं बन सकती। यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञाननिष्ठाके साधककी आगे चलकर रुचि अथवा मत बदल जाय और वह ज्ञाननिष्ठा-को छोड़कर योगनिष्ठाको पकड़ ले और उसे फिर योगनिष्ठाके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति हो।

यदि कोई पूछे कि कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्य-योगके साधनद्वारा जो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनकी प्रणाली कैसी होती है, तो इसे जाननेके लिये 'त्याग' के नामसे सात श्रेणियोंमें विभाग करके उसे यों समझना चाहिये—

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना—यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके एवं रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना। यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय, जो स्वरूपसे तो सकाम हो, परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसे कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसीप्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना—आदि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना। यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंको स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थोंको स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविका एवं शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि जितने कर्तव्य-कर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना। यह पाँचवीं श्रेणीका त्याग है।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, मकान और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परमप्रेममय भगवान्में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ बातोंमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान्के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

यह कर्मयोगका साधन है; इस साधनके करते-करते ही साधक परमात्माकी कृपासे परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है (१८। ५६)।

किन्तु यदि कोई सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त साधन करनेके अनन्तर निम्नलिखित सातवीं श्रेणीकी प्रणालीके अनुसार सांख्ययोगका साधन करना चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सम-

भावसे परिपूर्ण हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना तथा इस प्रकार शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है।

इस प्रकार साधन करनेसे वह पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है (६।२८)। किन्तु जो पुरुष उक्त प्रकारसे कर्मयोगका साधन न करके आरम्भसे ही सांख्ययोगका साधन करता है, वह परमात्माको कठिनतासे प्राप्त होता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः (५।६)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि कोई साधक एक ही समयमें दोनों निष्ठाओंके अनुसार साधन कर सकता है या नहीं—यदि नहीं तो क्यों? इसका उत्तर यह है कि—सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंका सम्पादन एक कालमें एक ही पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता। क्योंकि कर्मयोगी साधनकालमें कर्मको, कर्मफलको, परमात्माको और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्तिका त्याग करके ईश्वरार्थ या ईश्वरार्पणबुद्धिसे समस्त कर्म करता है (३।३०; ५।१०; ११।५५; १२।१०; १८।५६-५७) और सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहता है (३।२८; ५।१३; १३।२९; १४।१९-२०; १८।४९—५५)। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५।११), सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता। (५।८,९) कर्मयोगी अपने कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है (९।२७, २८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली अहंतारहित क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८।१७)। कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे पृथक् मानता है (१२।१०), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (१८।२०)। कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८।६१) सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी भी सत्ता नहीं मानता (१३।३०)। कर्मयोगी कर्मफल और कर्मकी सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो ब्रह्मसे भिन्न कर्म और उनके फलकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है। इस प्रकार दोनोंकी साधन-प्रणाली और मान्यतामें पूर्व और पश्चिमकी भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्थामें दोनों निष्ठाओंका साधन एक पुरुष एक कालमें नहीं कर सकता। जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिका न्यूयार्क शहरको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्ते होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा; वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधन-प्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक शीघ्र पहुँच जाता है (५।४)।

अधिकारी

अब प्रश्न यह रह जाता है कि गीतोक्त सांख्ययोग और कर्मयोगके अधिकारी कौन हैं—क्या सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके तथा सभी जातियोंके लोग इनका आचरण कर सकते हैं अथवा किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम तथा किसी खास जातिके लोग ही इनका साधन कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गीतामें जिस पद्धतिका निरूपण किया गया है वह सर्वथा भारतीय और ऋषिसेवित है, तथापि गीताकी शिक्षापर विचार करनेपर यह कहा जा सकता है कि गीतामें बताये हुए साधनोंके अनुसार आचरण करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णका यह उपदेश समस्त मानवजातिके लिये है—किसी खास वर्ण, अथवा किसी खास आश्रमके लिये नहीं। यही गीताकी विशेषता है। भगवान्‌ने अपने उपदेशमें जगह-जगह 'मानवः', 'नरः', 'देहभृत्', 'देही' आदि शब्दोंका प्रयोग करके इस बातको

स्पष्ट कर दिया है। जहाँ सांख्ययोगका मुख्य साधन बतलाया गया है, भगवान‍्ने 'देही' शब्दका प्रयोग करके मनुष्यमात्रको उसका अधिकारी बताया है (५।१३)। इसी प्रकार भगवान‍्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मनुष्यमात्र अपने-अपने शास्त्र-विहित कर्मोंद्वारा सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है (१८।४६)। इसी प्रकार भक्तिके लिये भगवान‍्ने स्त्री, शूद्र तथा पापयोनितकको अधिकारी बतलाया है (९।३२)। और भी जहाँ-जहाँ भगवान‍्ने किसी भी साधनका उपदेश दिया है, वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि इस साधनको करनेका किसी खास वर्ण, आश्रम या जातिको ही अधिकार है, दूसरोंको नहीं।

ऐसा होनेपर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी कर्म सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी नहीं होते इसीलिये भगवान‍्ने वर्णधर्मपर बहुत जोर दिया है। जिस वर्णके लिये जो कर्म विहित हैं, उसके लिये वे ही कर्म कर्तव्य हैं, दूसरे वर्णके नहीं। इस बातको ध्यानमें रखकर ही कर्म करने चाहिये। ऐसे वर्ण-धर्मके द्वारा नियत कर्तव्य-कर्मोंको अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल मनुष्यमात्र ही कर सकते हैं। वर्णधर्मके अतिरिक्त मानवमात्रके लिये पालनीय सदाचार, भक्ति आदि-का साधन तो सभी कर सकते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सांख्ययोगके साधनका अधिकार संन्यासियोंको ही है, दूसरे आश्रमवालोंको नहीं। यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। भगवान‍्ने सांख्य-की दृष्टिसे भी युद्ध करनेकी आज्ञा दी है (२।१८)। भगवान् यदि केवल संन्यासियोंको ही सांख्ययोगका अधिकारी मानते तो वे अर्जुनको उस दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा कभी न देते। क्योंकि संन्यास-आश्रममें कर्ममात्रका त्याग कहा गया है, युद्ध-रूपी घोर कर्मकी तो बात ही क्या है। फिर अर्जुन तो संन्यासी थे भी नहीं। उन्हें भगवान‍्ने ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेतककी बात कही है (४।३४)।

इसके अतिरिक्त तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान‍्ने सांख्ययोगकी सिद्धि केवल कर्मोंके स्वरूपतः त्यागसे नहीं बतलायी। यदि भगवान् सांख्ययोगका अधिकारी केवल संन्यासियोंको ही मानते तो सांख्ययोगके लिये कर्मोंका स्वरूप-से त्याग आवश्यक बतलाते और यह नहीं कहते कि कर्मोंका स्वरूपतः त्याग कर देनेमात्रसे ही सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं होती। यही नहीं; अ० १३।७–११ में जहाँ ज्ञानके साधन बतलाये गये हैं, वहाँ एक साधन स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिमें आसक्ति एवं ममताका त्याग भी बतलाया है—

'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।'

स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिके साथ स्वरूपतः सम्बन्ध होनेपर ही उनके प्रति आसक्ति एवं ममताके त्यागकी बात कही जा सकती है। संन्यास-आश्रममें इनका स्वरूपसे ही त्याग है; ऐसी दशामें यदि संन्यासियोंको ही ज्ञानयोगके साधनका अधिकार होता तो उनके लिये इन सबके प्रति आसक्ति और ममताके त्यागका कथन अनावश्यक था।

तीसरी बात यह है कि अठारहवें अध्यायमें जहाँ अर्जुनने खास संन्यास और त्यागके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, वहाँ भगवान‍्ने संन्यासके स्थानपर सांख्ययोगका ही वर्णन किया है (१३ से ४०), संन्यास-आश्रमका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यदि भगवान‍्को 'संन्यास' शब्दसे संन्यास-आश्रम अभिप्रेत होता अथवा सांख्ययोगका अधिकारी वे केवल संन्यासियोंको ही मानते तो इस प्रसङ्गपर अवश्य उसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख करते। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सांख्ययोगका अधिकार संन्यासी, गृहस्थ सभीको समान रूपसे है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सांख्ययोगका साधन करनेके लिये संन्यास-आश्रममें सुविधाएँ अधिक हैं, इस दृष्टिसे उस आश्रमको गृहस्थाश्रमकी अपेक्षा सांख्ययोगके साधनके लिये अवश्य ही अधिक उपयुक्त कह सकते हैं।

कर्मयोगके साधनमें कर्मकी प्रधानता है और स्ववर्णोचित विहित कर्म करनेकी विशेषरूपसे आज्ञा है (३।८; १८।४५, ४६); बल्कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग इसमें बाधक बतलाया गया है (३।४), इसलिये संन्यास-आश्रममें कर्म-प्रधान कर्मयोगका आचरण नहीं बन सकता, क्योंकि वहाँ द्रव्य और यज्ञ-दानादि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग है; किन्तु भगवान‍्की भक्ति सभी आश्रमोंमें की जा सकती है, अतः भक्ति-प्रधान कर्मयोग सभी आश्रमोंमें बन सकता है।

कुछ लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि गीता तो साधु-संन्यासियोंके कामकी चीज है, गृहस्थोंके कामकी नहीं; इसी-लिये वे प्रायः बालकोंको इस भयसे गीता नहीं पढ़ाते कि इसे

पढ़कर ये लोग गृहस्थका त्याग कर देंगे। परन्तु उनका ऐसा समझना सर्वथा भूल है, यह बात ऊपरकी बातोंसे स्पष्ट हो जाती है। वे लोग यह नहीं सोचते कि मोहके कारण अपने क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये उद्यत अर्जुनने जिस परमरहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीता-शास्त्रका यह उलटा परिणाम किस प्रकार हो सकता है। यही नहीं, गीताके उपदेष्टा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जबतक इस धराधामपर अवताररूपमें रहे, तबतक बराबर कर्म ही करते रहे—साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका संहार करके उद्धार किया और धर्मकी स्थापना की। यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कहा है कि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो लोग मेरी देखादेखी कर्मोंका परित्याग कर आलसी बन जायँ और इस प्रकार लोककी मर्यादा छिन्न-भिन्न करनेका दायित्व मुझीपर रहे (३।२३-२४)। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि गीता संन्यासियोंके लिये नहीं है। गीता सभी वर्णाश्रमवालोंके लिये है। सभी अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्मोंको करते हुए सांख्य या योग—दोनोंमेंसे किसी एक निष्ठाके द्वारा अधिकारानुसार साधन कर सकते हैं।

गीतामें भक्ति

गीतामें भक्ति, ज्ञान, कर्म—सभी विषयोंका विशदरूपसे विवेचन किया गया है; सभी मार्गोंसे चलनेवालोंको इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है। किन्तु अर्जुन भगवान्‌के भक्त थे; अतः सभी विषयोंका प्रतिपादन करते हुए जहाँ अर्जुनको स्वयं आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है, वहाँ भगवान्‌ने उसे प्रायः भक्तिप्रधान कर्मयोगका उपदेश दिया है (३।३०; ८।७; १२।८; १८।५७, ६२, ६५, ६६)। कहीं-कहीं केवल कर्म करनेकी भी आज्ञा दी है (२।४८, ५०; ३।८, ९, १९; ४।४२; ६।४६; ११।३३-३४) परन्तु उसके साथ भी भक्तिका अन्य स्थलोंसे अध्याहार कर लेना चाहिये। चौथे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें जो भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेकी आज्ञा दी है, वह भी ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणाली बतलाने तथा अर्जुनको चेतावनी देनेके लिये। वास्तवमें भगवान्‌का आशय अर्जुनको ज्ञान सीखनेके लिये किसी ज्ञानीके पास भेजनेका नहीं था और न अर्जुनने जाकर उस प्रक्रियासे कहीं ज्ञान सीखा ही। उपक्रम-उपसंहारको देखते हुए भी गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है। वैसे तो गीताका उपदेश 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२।११) इस श्लोकसे प्रारम्भ हुआ है; किन्तु इस उपक्रमका बीज 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' (२।७) अर्जुनकी इस उक्तिमें है, जिसमें 'प्रपन्नम्' पदसे शरणागति-का भाव स्पष्ट है। इसीलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८।६६) इस श्लोकसे भगवान्‌ने शरणागतिमें ही अपने उपदेशका उपसंहार भी किया है।

गीताका ऐसा कोई भी अध्याय नहीं है, जिसमें कहीं-न-कहीं भक्तिका प्रसङ्ग न आया हो। उदाहरणके लिये दूसरे अध्यायका इकसठवाँ, तीसरे अध्यायका तीसवाँ, चौथे अध्याय-का ग्यारहवाँ, पाँचवें अध्यायका उन्तीसवाँ, छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ, सातवें अध्यायका चौदहवाँ, आठवें अध्यायका चौदहवाँ, नवें अध्यायका चौंतीसवाँ, दसवें अध्यायका नवाँ, ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ, बारहवें अध्यायका दूसरा, तेरहवें अध्यायका दसवाँ, चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ, पंद्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ, सोलहवें अध्यायका पहला (जिसमें 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' पदके द्वारा भगवान्‌के ध्यान-की बात कही गयी है), सतरहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ और अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें भक्तिका प्रसङ्ग आया है। सातवेंसे लेकर बारहवें अध्यायतकमें तो भक्तियोगका प्रकरण भरा पड़ा है; इसीलिये इन छहों अध्यायोंको भक्तिप्रधान माना गया है। यहाँ उदाहरणके लिये प्रत्येक अध्यायके एक-एक श्लोककी ही संख्या दी गयी है।

इसी प्रकार ज्ञानपरक श्लोक भी बहुत-से अध्यायोंमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये—दूसरे अध्यायका उन्तीसवाँ, तीसरेका अट्ठाईसवाँ, चौथेका चौबीसवाँ, पाँचवेंका तेरहवाँ, छठेका उन्तीसवाँ, आठवेंका तेरहवाँ, नवेंका पंद्रहवाँ, बारहवें-का तीसरा, तेरहवेंका चौंतीसवाँ, चौदहवेंका उन्नीसवाँ और अठारहवेंका उन्चासवाँ श्लोक देखना चाहिये। इनमें भी दूसरे, पाँचवें, तेरहवें, चौदहवें तथा अठारहवें अध्यायोंमें ज्ञानपरक श्लोक बहुत अधिक मिलते हैं।

गीतामें जिस प्रकार भक्ति और ज्ञानका रहस्य अच्छी

तरहसे खोला गया है, उसी प्रकार कर्मोंका रहस्य भी भलीभाँति खोला गया है। दूसरे अध्यायके उन्चालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक, तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे पैंतीसवें श्लोकतक, चौथे अध्यायके तेरहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक, पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकसे सातवें श्लोकतक तथा छठे अध्यायके पहले श्लोकसे चौथे श्लोकतक कर्मोंका रहस्य पूर्णरूपसे भरा हुआ है। इनमें भी दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें तथा चौथेके सोलहवेंसे अठारहवेंतकमें कर्मोंके रहस्यका विशेषरूपसे विवेचन हुआ है। इसके सिवा अन्यान्य अध्यायोंमें भी कर्मोंका वर्णन है।

स्थान-सङ्कोचसे अधिक प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं। इससे यह विदित होता है कि गीतामें केवल भक्तिका ही वर्णन नहीं है, ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनोंका ही सम्यक्तया प्रतिपादन हुआ है।

सगुण-निर्गुणकी उपासना और तत्त्व

ऊपर यह बात कही गयी कि परमात्माकी उपासना भेद-दृष्टिसे की जाय अथवा अभेद-दृष्टिसे, दोनोंका फल एक ही है— यह बात कैसे कही गयी, क्योंकि भेदोपासकको तो भगवान् साकाररूपमें दर्शन देते हैं और इस शरीरको छोड़नेके बाद वह उन्हींकेपरमधामको जाता है;और अभेदोपासक स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। वह कहीं जाता-आता नहीं। इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो बात कही गयी वह ठीक है और प्रश्नकर्ताने जो बात कही वह भी ठीक है। दोनोंका समन्वय कैसे है, अब इसीपर विचार किया जाता है।

साधनकालमें साधक जिस प्रकारके भाव और श्रद्धासे भावित होकर परमात्माकी उपासना करता है, उसको उसी भावके अनुसार परमात्माकी प्राप्ति होती है। जो अभेदरूपसे अर्थात् अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर परमात्माकी उपासना करते हैं,उन्हें अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति होती है और जो भेदरूपसे उन्हें भजते हैं, उन्हें भेदरूपसे ही वे दर्शन देते हैं। साधकके निश्चयानुसार परमात्मा भिन्न-भिन्न रूपसे सब लोगोंको मिलते हैं।

भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों ही उपासनाएँ भगवान्‌की उपासना हैं। क्योंकि परमात्मा सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सभी कुछ हैं। जो पुरुष परमात्माको निर्गुण-निराकार समझते हैं, उनके लिये वे निर्गुण-निराकार हैं (१२।३)। जो उन्हें सगुण-निराकार मानते हैं, उनके लिये वे सगुण-निराकार हैं (८।९)। जो उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वोत्तम यानी सब प्रकारके उत्तम गुणोंसे युक्त मानते हैं,उनके लिये वे सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं (१५।१५, १७, १९*)। जो पुरुष उन्हें सर्वरूप मानते हैं उनके लिये वे सर्वरूप हैं। (७।७–१२; ९।१६–१९)। जो उन्हें सगुण-साकार मानते हैं, उनके लिये वे सगुण-साकाररूपमें प्रकट होतेहैं (४।८;९।२६)।

ऊपर जो बात कही गयी, वह तो ठीक है; परन्तु इससे प्रश्नकर्ताकी मूल शङ्काका समाधान नहीं हुआ, वह ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। शङ्का तो यही थी कि जब भगवान् सबको अलग-अलग रूपमें मिलते हैं, तब फलमें एकता कहाँ हुई। इसकाउत्तरयह है कि प्रथम परमात्मा साधकको उसकेभावके अनुसार ही मिलते हैं। उसके बाद जो भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि होती है, वह वाणीके द्वारा अकथनीय है, वह शब्दोंद्वारा बतलायी नहीं जा सकती। भेद अथवा अभेदरूपसे जितने प्रकारसे भी परमात्माकी उपासना होती है, उन सबका अन्तिम फल एक ही होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने अभेदोपासकोंको अपनी प्राप्ति बतलायी है (१२।४; १४।१९; १८।५५) और भेदोपासकके लिये यह कहा है कि वह ब्रह्मको प्राप्त होता है (१४।२६), शाश्वत् शान्तिको प्राप्त होता है (९।३१),ब्रह्मको जान जाता है (७।२९),अविनाशी शाश्वत पदको प्राप्त होता है (१८।५६) इत्यादि, इत्यादि। अभेदोपासना तथा भेदोपासना दोनों प्रकारकी उपासनाका फल एक ही होता है,इसी बातको लक्ष्य करानेके लिये भगवान्‌ने एक ही बातको उलट-फेरकर कई प्रकारसे कहा है।

भेदोपासक तथा अभेदोपासक दोनोंके द्वारा प्राप्णीय वस्तु, यथार्थ तत्त्व एक ही है; उसीको कहीं परम शान्ति और शाश्वत स्थानके नामसे कहा है (१८।६२), कहीं परम

* उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌के श्रेष्ठ गुणोंका ही वर्णन है, अतएव १५।१५ में हमने 'अपोहन' शब्दका अर्थ—और स्मृतिका नाश न लेकर संशय-विपर्ययका नाश है।

धामके नामसे (१५ । ६), कहीं अमृतके नामसे (१३ । १२), कहीं 'माम्' पदसे (९ । ३४), कहीं परम गतिके नामसे (८ । १३), कहीं संसिद्धिके नामसे (१८ । ४५), कहीं अव्यय पदके नामसे (१५ । ५), कहीं ब्रह्मनिर्वाणके नामसे (५ । २४) और कहीं निर्वाणपरमा शान्तिके नामसे (६ । १५) व्यक्त किया है। इनके अतिरिक्त और भी कई शब्द गीतामें उस अन्तिम फलको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु वह वस्तु सभी साधनोंका फल है—इसके अतिरिक्त उसके विषयमें कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वह वाणीका अविषय है। जिसे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, वही उसे जानता है; परन्तु वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता, उपर्युक्त शब्दों तथा इसी प्रकारके अन्य शब्दोंद्वारा शाखाचन्द्रन्यायसे उसका लक्ष्यमात्र करा सकता है। अतः सब साधनोंका फलरूप जो परम वस्तु-तत्त्व है वह एक है, यही बात युक्तिसङ्गत है।

परमात्माका यह तात्त्विक स्वरूप अलौकिक है, परम रहस्यमय है, गुह्यतम है। जिन्हें वह प्राप्त है, वे ही उसे जानते हैं। परन्तु यह बात भी उसका लक्ष्य करानेके उद्देश्यसे ही कही जाती है। युक्तिसे विचारकर देखा जाय तो यह कहना भी नहीं बनता।

गीतामें समता

गीतामें समताकी बात प्रधानरूपसे आयी है। भगवत्प्राप्तिकी तो समता ही कसौटी है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—तीनों ही मार्गोंमें साधनरूपमें भी समताकी आवश्यकता बतायी गयी है और तीनों ही मार्गोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका भी समताको एक असाधारण लक्षण बतलाया गया है। साधन भी उसके बिना अधूरा है, सिद्धि तो अधूरी है ही। जिसमें समता नहीं, वह सिद्ध ही कैसा? 'समदुःखसुखम्' पदसे ज्ञानमार्गके साधकोंमें समतावालेको ही अमृतत्व अर्थात् मुक्तिका अधिकारी बतलाया गया है (२ । १५)। 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' इस प्रकार कर्मयोगके साधकको समतायुक्त होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है (२ । ४८)। और भक्तिमार्गके साधकके लिये भी इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कही गयी है (१२ । २०)। इसी प्रकार गुणातीत (सिद्ध ज्ञानयोगी) के लक्षणोंमें भी समताका प्रधानरूपसे समावेश पाया जाता है (१४ । २४-२५)। और सिद्ध कर्मयोगीको सम बतलाया गया है (६ । ७—९) तथा सिद्ध भक्तके लक्षणोंमें भी समताका उल्लेख किया गया है (१२ । १८, १९)।

इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण प्राणी, क्रिया, भाव और पदार्थोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(५ । १८)

'ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(१२ । १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति'के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
(१४। २४)

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है)।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं; लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं; निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं और प्रिय-अप्रिय 'प्राणी', 'भाव', 'पदार्थ' तथा 'क्रिया' सभीके वाचक हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें कथनमात्रकी अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें समबुद्धि रखता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें समभाव है, वह समतायुक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है। आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें परमात्माको सम देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्‌में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषरहित व्यवहार है।

जीवोंकी गति

गीतामें जीवोंके गुण एवं कर्मानुसार उनकी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन गतियाँ बतलायी गयी हैं। कर्मयोग तथा सांख्ययोगकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त कर्म एवं उपासना करनेवाले साधकोंकी गति आठवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें बतलायी गयी है। उनमें जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं उनकी गतिका वर्णन छठे अध्यायके चालीसवेंसे पैंतालीसवेंतकमें किया गया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि मरनेके बाद वे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं और सुदीर्घकालतक उन दिव्यलोकोंके सुख भोगकर पवित्र आचरणवाले श्रीमान् लोगोंके घरोंमें जन्म लेते हैं अथवा स्वर्गमें न जाकर सीधे योगियोंके ही कुलमें जन्मते हैं और वहाँ पूर्व अभ्यासके कारण पुनः योगके साधनमें प्रवृत्त होकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं।

सकामभावसे विहित कर्म एवं उपासना करनेवालोंकी गतिका वर्णन नवें अध्यायके बीसवें और इक्कीसवें श्लोकमें किया गया है—वहाँ स्वर्गकी कामनासे यज्ञ-यागादि वेदविहित कर्म करनेवालोंको स्वर्गके भोगोंकी प्राप्ति तथा पुण्योंके क्षय हो जानेपर उनके पुनः मर्त्यलोकमें ढकेले जानेकी बात कही गयी है। वे लोग किस मार्गसे तथा किस तरह स्वर्गको जाते हैं, इसकी प्रक्रिया आठवें अध्यायके पचीसवें श्लोककी व्याख्यामें बतलायी गयी है।

चौदहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और अठारहवें श्लोकोंमें सामान्यभावसे सभी पुरुषोंकी गति संक्षेपमें बतलायी गयी है। सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले उत्तम लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तथा तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्षादि योनियोंमें जन्मते हैं। इस प्रकार सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष भी मरकर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् नरकोंको और तिर्यक्‌योनियोंको प्राप्त होते हैं। सोलहवें अध्यायके उन्नीसवेंसे बीसवें श्लोकतक आसुरी प्रकृतिके तामसी मनुष्योंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है कि उन्हें मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें अर्थात् कूकर-शूकर आदि योनियोंमें डालता हूँ और इसके बाद वे घोर

गिरते हैं। इसी प्रकार और-और स्थलोंमें भी गुण-कर्मके अनुसार गीतामें जीवोंकी गति बतलायी गयी है। मुक्त पुरुषोंकी गतिका वर्णन विस्तारसे सांख्य और योगके फलरूपमें जगह-जगह किया गया है। जीवन्मुक्त पुरुषोंका कहीं जाना-आना नहीं होता। वे तो यहीं परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

गीताकी कुछ खास बातें

(१) गुणोंकी पहिचान

गीतामें सात्त्विक-राजस-तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंकी कुछ खास पहिचान बतलायी गयी है। वह इस प्रकार है—

(क) जिस भाव या क्रियाका स्वार्थसे सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममता न हो तथा जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो, उसे सात्त्विक जानना चाहिये।

(ख) जिस भाव या क्रियामें लोभ, स्वार्थ एवं आसक्तिका सम्बन्ध हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसे राजस समझना चाहिये।

(ग) जिस भाव या क्रियामें हिंसा, मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दुःख एवं अज्ञान हो, उसे तामस समझना चाहिये।

इस प्रकार तीनों तरहके भावों एवं क्रियाओंका भेद बतलाकर भगवान्‌ने सात्त्विक भावों एवं क्रियाओंको ग्रहण करने तथा राजस एवं तामस भावों एवं क्रियाओंका त्याग करनेका आदेश दिया है।

(२) गीतामें आचरणकी अपेक्षा भावकी प्रधानता

यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरणका उत्तम भाव, दोनोंहीको गीताने कल्याणका साधन माना है, किन्तु प्रधानता भावको ही दी है। दूसरे, बारहवें तथा चौदहवें अध्यायोंके अन्तमें क्रमशः स्थितप्रज्ञ, भक्त एवं गुणातीत पुरुषोंके लक्षणोंमें भावकी ही प्रधानता बतलायी गयी है (देखिये २।५५ से ७१; १२।१३ से १९; १४।२२ से २५)। दूसरे तथा चौदहवें अध्यायोंमें तो अर्जुनने प्रश्न किया है आचरणको प्रधान मानकर, परन्तु भगवान्‌ने उत्तर दिया है भावकी ही प्रधानता रखकर।

गीताके अनुसार सकामभावसे की हुई यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा आदि ऊँची-से-ऊँची क्रियाकी अपेक्षा निष्कामभावसे की हुई युद्ध, व्यापार, खेती, शिल्प एवं सेवा आदि छोटी-से-छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होनेके कारण श्रेष्ठ है (२।४०,४९; १२।१२; १८।४६)। चौथे अध्यायमें जहाँ कई प्रकारके यज्ञरूप साधन बतलाये गये हैं (४।२४से३२) उनमें भी भावकी प्रधानतासे ही मुक्ति बतलायी है।

गीता और वेद

गीता वेदोंको बहुत आदर देती है। भगवान् अपनेको समस्त वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य, वेदान्तका रचनेवाला और वेदोंका जाननेवाला कहकर उनका महत्त्व बहुत बढ़ा देते हैं (१५।१५)। संसाररूपी अश्वत्थवृक्षका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मूलसहित उस वृक्षको तत्त्वसे जाननेवाला ही वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला है (१५।१)।' इससे भगवान्‌ने यह बतलाया है कि जगत्‌के कारणरूप परमात्माके सहित जगत्‌के वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे जनाना ही वेदोंका तात्पर्य है। भगवान्‌ने कहा है कि 'जो बात वेदोंके द्वारा विभागपूर्वक कही गयी है, उसीको मैं कहता हूँ।' (१३।४) इस प्रकार अपनी उक्तियोंके समर्थनमें वेदोंको प्रमाण बतलाकर भगवान्‌ने वेदोंकी महिमाको बहुत अधिक बढ़ा दिया है। भगवान्‌ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—वेदत्रयीको अपना ही स्वरूप बतलाकर उसको और भी अधिक आदर दिया है (९।१७)। भगवान् वेदोंको अपनेसे ही प्रकट बतलाते हैं (३।१५; १७।२३)। भगवान्‌ने यह कहा है कि परमात्माको प्राप्त करनेके अनेकों साधन वेदोंमें बतलाये हैं (४।३२)। इससे मानो भगवान् स्पष्टरूपसे यह कहते हैं कि वेदोंमें केवल भोगप्राप्तिके साधन ही नहीं हैं—जैसा कि कुछ अविवेकीजन समझते हैं—किन्तु भगवत्प्राप्तिके भी एक-दो नहीं, अनेकों साधन भरे पड़े हैं। भगवान् परमपदके नामसे अपने स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वेदवेत्तालोग उसे अक्षर (ओंकार) के नामसे निर्देश करते हैं (८।११)। इससे भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि वेदोंमें केवल सकाम पुरुषोंद्वारा प्रापणीय इस लोकके एवं स्वर्गके अनित्य भोगोंका ही वर्णन नहीं है, उनमें परमात्माके अविनाशी स्वरूपका भी

विशद वर्णन है। उपर्युक्त वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेदोंको भगवान्‌ने बहुत अधिक आदर दिया है।

इसपर यह शङ्का होती है कि 'फिर भगवान्‌ने कई स्थलोंमें वेदोंकी निन्दा क्यों की है। उदाहरणतः उन्होंने सकाम पुरुषोंको वेदवादमें रत एवं अविवेकी बतलाया है (२।४२) तथा वेदोंको तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले कहकर अर्जुनको उन भोगोंमें आसक्तिरहित होनेके लिये कहा है (२।४५) और वेदत्रयीधर्मका आश्रय लेनेवाले सकाम पुरुषोंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने यह कहा है कि वे बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, आवागमनके चक्रसे नहीं छूटते। (९।२१)। ऐसी स्थितिमें क्या माना जाय?'

इस शङ्काका उत्तर यह है कि उपर्युक्त वचनोंमें यद्यपि वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनमें वेदोंकी निन्दा नहीं है। गीतामें सकामभावकी अपेक्षा निष्कामभावको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये उसे आवश्यक बतलाया है। इसीसे उसकी अपेक्षा सकामभावको नीचा और नाशवान् विषय-सुखके देनेवाला बतलानेके लिये ही उसको जगह-जगह तुच्छ सिद्ध किया है, निषिद्ध कर्मोंकी भाँति उसकी निन्दा नहीं की है। जहाँ वेदोंके फलको लाँघ जानेकी बात कही गयी है, वहाँ भी सकाम कर्मको लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है (८।२८)। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने गीतामें वेदोंकी निन्दा कहीं भी नहीं की है, बल्कि जगह-जगह वेदोंकी प्रशंसा ही की है।

गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शन

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गीतामें जहाँ-जहाँ 'सांख्य' शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ वह महर्षि कपिलके द्वारा प्रवर्तित सांख्यदर्शनका वाचक है; परन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। गीताके तेरहवें अध्यायमें लगातार तीन श्लोकों (१९, २० और २१) में तथा अन्यत्र भी 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है और प्रकृति-पुरुष सांख्यदर्शनके खास शब्द हैं; इससे लोगोंने अनुमान कर लिया कि गीताको कापिल सांख्यका सिद्धान्त मान्य है। इसी प्रकार 'योग' शब्दको भी कुछ लोग पातञ्जलयोगका वाचक मानते हैं। पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें तथा अन्यत्र भी कई जगह 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंका एक ही जगह प्रयोग हुआ है; इससे भी लोगोंने यह मान लिया कि 'सांख्य' और 'योग' शब्द क्रमशः कापिल सांख्य तथा पातञ्जल योगके वाचक हैं; परन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। न तो गीताका 'सांख्य' कापिल सांख्य ही है और न गीताका 'योग' पातञ्जल योग ही है। नीचे लिखी बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है।

(१) गीतामें ईश्वरको जिस रूपमें माना है, उस रूपमें सांख्यदर्शन नहीं मानता।

(२) यद्यपि 'प्रकृति' शब्दका गीतामें कई जगह प्रयोग आया है, परन्तु गीताकी 'प्रकृति' और सांख्यकी 'प्रकृति'में महान् अन्तर है। कापिल सांख्यकी प्रकृति तीनों गुणोंकी साम्यावस्था है; किन्तु गीताकी प्रकृति तीनों गुणोंकी कारण है, गुण उसके कार्य हैं (१४।५)। सांख्यने प्रकृतिको अनादि एवं नित्य माना है; गीताने भी प्रकृतिको अनादि तो माना है (१३।१९), परन्तु नित्य नहीं।

(३) गीताके 'पुरुष' और सांख्यके 'पुरुष' में भी महान् अन्तर है। कापिल सांख्यके मतमें पुरुष नाना हैं; किन्तु गीताका सांख्य पुरुषको एक ही मानता है (१३। २२, ३०; १८।२०)।

(४) गीताकी 'मुक्ति' और सांख्यकी 'मुक्ति' में भी महान् अन्तर है। सांख्यके मतमें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है; गीताकी 'मुक्ति'में दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही किन्तु साथ-ही-साथ परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी है (६।२१-२२)।

(५) उपर्युक्त सिद्धान्तभेदके सिवा पातञ्जल योगमें योगका अर्थ है—'चित्तवृत्तिका निरोध।' परन्तु गीतामें प्रकरणानुसार 'योग' शब्दका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है (देखिये अ० २।५३ की टीका)।

इस प्रकार गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शनके सिद्धान्तोंमें बड़ा अन्तर है।

इस टीकाका प्रयोजन

बहुत दिनोंसे कई मित्रोंका आग्रह एवं प्रेरणा थी कि मैं अपने भावोंके अनुसार गीतापर एक विस्तृत टीका लिखूँ। यों तो गीतापर पूज्यपाद आचार्यों, संत-महात्माओं एवं शास्त्रके मर्मको जाननेवाले विद्वानोंके अनेक भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ हैं, जो सभी आदरणीय हैं एवं सभीमें अपनी-अपनी दृष्टिसे गीताके मर्मको समझानेकी चेष्टा की गयी है। किन्तु उनमेंसे अधिकांश संस्कृतमें हैं और विद्वानोंके विशेष कामकी हैं। इसीलिये मित्रोंका यह कहना था कि सरल भाषामें एक ऐसी सर्वोपयोगी टीका लिखी जाय जो सर्वसाधारणकी समझमें आ सके और जिसमें गीताका तात्पर्य विस्तारपूर्वक खोला जाय। इसी दृष्टिको लेकर तथा सबसे अधिक लाभ तो इससे मुझको ही होगा, यह सोचकर इस कार्यको प्रारम्भ किया गया। परन्तु यह कार्य आपाततः जितना सुकर मालूम होता था, आगे बढ़नेपर अनुभवसे वह उतना ही कठिन सिद्ध हुआ।

मैं जानता हूँ कि योग्यता एवं अधिकार दोनोंकी दृष्टिसे ही मेरा यह प्रयास दुःसाहस समझा जायगा। वर्णसे तो मैं एक वैश्यका बालक हूँ और विद्या-बुद्धिकी दृष्टिसे भी मैं अपनेको इस कार्यके लिये नितान्त अयोग्य पाता हूँ। अतः गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थपर टीका लिखनेका सर्वथा अनधिकारी हूँ। रह गयी भावोंके सम्बन्धकी बात, सो भगवान्‌के उपदेशका पूरा-पूरा भाव समझनेकी बात तो दूर रही, उसका शतांश भी मैं समझ पाया हूँ—यह कहना मेरे लिये दुःसाहस ही होगा। भगवान्‌के उपदेशोंको यत्किञ्चित् भी समझकर उनको काममें लाना तो और भी कठिन बात है। उसे तो वही लोग काममें ला सकते हैं, जिनपर भगवान्‌की विशेष कृपा है। पूरे उपदेशको अमलमें लाना तो दूर रहा, जिन लोगोंने गीताके साधनात्मक किसी एक श्लोकके अनुसार भी अपने जीवनको बना लिया है, वे पुरुष भी वास्तवमें धन्य हैं और उनके चरणोंमें मेरा कोटिशः प्रणाम है। गीताकी व्याख्या करनेके भी ऐसे ही लोग अधिकारी हैं।

अस्तु, मेरा तो यह प्रयास सब तरहसे दुःसाहसपूर्ण एवं बालचेष्टा ही है; किन्तु फिर भी इसी बहाने गीताके तात्पर्यकी यत्किञ्चित् आलोचना हुई, भगवान्‌के दिव्य उपदेशोंका मनन हुआ, अध्यात्म-विषयकी कुछ चर्चा हुई और जीवनका यह समय बहुत अच्छे काममें लगा—इसके लिये मैं अपनेको धन्य समझता हूँ। इससे यद्यपि मेरा गीता-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ा ही है और बहुत-सी भूलोंका भी मार्जन हुआ है। फिर भी भूलें तो इस कार्यमें पद-पदपर हुई होंगी। क्योंकि गीताके तात्पर्यका सौवाँ हिस्सा भी मैं समझ पाया हूँ, यह नहीं कहा जा सकता। गीताका वास्तविक तात्पर्य पूरी तरहसे तो स्वयं श्रीभगवान् ही जानते हैं और कुछ अंशमें अर्जुन जानते हैं, जिनके उद्देश्यसे भगवान्‌ने गीता कही थी। अथवा जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्हें भगवत्-कृपाका पूर्ण अनुभव हो चुका है, वे भी कुछ जान सकते हैं। मैं तो इस विषयमें क्या कह सकता हूँ? जिन-जिन पूज्य महानुभावोंने गीतापर भाष्य अथवा टीकाएँ लिखी हैं, मैं तो उनका अत्यन्त ही कृतज्ञ और ऋणी हूँ क्योंकि इस टीकाके लिखनेमें मैंने बहुत-से भाष्यों और टीकाओंसे बड़ी सहायता ली है। अतः मैं उन सभी वन्दनीय पुरुषोंको कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे सादर कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ।

हाँ, इस टीकाके सम्बन्धमें मैं निःसङ्कोच यह कह सकता हूँ कि यह सर्वथा अपूर्ण है। भगवान्‌के भावको व्यक्त करना तो दूर रहा; बहुत-सी जगह उसे समझनेमें ही मुझसे भूलें हुई होंगी और बहुत-सी जगह उससे विपरीत भाव भी आ गया होगा। उन सब भूलोंके लिये मैं दयालु परमात्मासे तथा सभी गीताप्रेमियोंसे हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ। जो कुछ मैंने लिखा है, अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार लिखा है और इस प्रकार अपनी समझका परिचय देकर मैंने जो बालचपलता की है, उसे विज्ञजन क्षमा करेंगे। इस टीकामें मैंने किसी भी आचार्य अथवा टीकाकारके सिद्धान्तोंका न तो उल्लेख किया है और न किसीका खण्डन ही किया है। किन्तु अपनी बात कहनेमें भावसे किसीके विरुद्ध कोई बात आ ही सकती है; इसके लिये मैं सबसे क्षमा चाहता हूँ। खण्डन-मण्डन करना अथवा किसी सिद्धान्तकी दूसरे सिद्धान्तके साथ तुलना करना मेरा उद्देश्य नहीं है।

इसमें इस बातका भी भरसक ध्यान रक्खा गया है कि कहीं पूर्वापरमें विरोध न आवे; परन्तु टीकाका कलेवर बहुत

ढ जानेसे सम्भव है, कहीं-कहीं इस तरहका दोष रह या हो । आशा है, विज्ञ पाठक इस प्रकारकी लोंको सुधार लेंगे और मुझे भी सूचना देनेकी कृपा रेंगे ।

इस टीकाके लिखनेमें मुझे कई पूज्य महानुभावों, मित्रों वं बन्धुओंसे अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है । आजकलकी रिपाटीके अनुसार उनके नामोंका उल्लेख करना आवश्यक ; परन्तु मैं यदि ऐसा करने जाता हूँ तो प्रथम तो उनको कष्ट ता हूँ, दूसरे उन लोगोंके साथ जैसा सम्बन्ध है उसे देखते नकी बड़ाई करना अपनी ही बड़ाई करनेके समान है । सलिये मैं उनमेंसे किसीके भी नामका उल्लेख न करके ना ही कह देना पर्याप्त समझता हूँ कि वे लोग यदि नोयोगके साथ इस कार्यमें सहयोग न देते तो यह टीका इस रूपमें कदाचित् प्रकाशित न हो पाती ।

यह टीका पहले विक्रम सं० १९९६में 'गीतातत्त्वाङ्क' के रूपमें प्रकाशित हुई थी । उस समय यह संकेत किया गया था कि पुस्तकरूपमें प्रकाशनके समय भूलें सुधारनेकी चेष्टा की जा सकती है, उसके अनुसार कहीं भाषाकी दृष्टिसे और कहीं छपाईकी भूलोंका संशोधन करनेकी दृष्टिसे एवं कहीं-कहीं नवीन भावोंको प्रकट करनेके उद्देश्यसे भी सुधार किया गया है । परन्तु अब भी बहुत-सी त्रुटियोंका रह जाना सम्भव है तथा किसी जगह दृष्टिदोषसे नयी भूलका हो जाना भी सम्भव है । अतः अन्तमें मेरी पुनः सबसे करबद्ध प्रार्थना है कि मेरी इस बालचपलतापर सुधीजन प्रसन्न होकर मेरी भूलोंको सुधार लें और मुझे सूचना देनेकी कृपा करें ।

विनीत—जयदयाल गोयन्दका

टीकाके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें

यह विस्तृत टीका गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित धारण भाषाटीकाके आधारपर विक्रम संवत् १९९६ में खी गयी और गीतातत्त्वाङ्कके रूपमें प्रकाशित की गयी थी। व उसका पुस्तकरूपमें तत्त्वविवेचनी टीकाके नामसे काशन किया जाता है । अतः यत्र-तत्र उसकी भाषामें शोधन किया गया है और किसी-किसी स्थलमें श्लोकोंके न्वयमें भी परिवर्तन किया गया है । भाव प्रायः वही रक्खा या है । कहीं-कहीं कुछ नया भाव प्रकट करनेके उद्देश्यसे रिवर्तन भी किया गया है ।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके लिये जिन भिन्न-न्न सम्बोधनोंका प्रयोग हुआ है, उनका शब्दार्थ न देकर यः उन-उन श्लोकोंके अर्थमें 'श्रीकृष्ण' तथा 'अर्जुन' शब्दों- ा ही प्रयोग किया गया है और कहीं-कहीं 'परन्तप' आदि ब्द ज्यों-के-त्यों रख दिये गये हैं । उनकी व्याख्या बहुत कम लोंपर की गयी है । जहाँ-जहाँ सम्बोधन किसी विशेष भिप्रायको द्योतित करनेके लिये रक्खे गये प्रतीत हुए, केवल उन्हीं स्थलोंमें उस अभिप्रायको प्रश्नोत्तरके रूपमें खोलनेकी चेष्टा की गयी।

टीकामें जहाँ अन्यान्य ग्रन्थोंके उद्धरण दिये गये हैं, वहाँ उन ग्रन्थोंका उल्लेख कहीं-कहीं सङ्केतरूपमें किया गया है—जैसे उपनिषद्के लिये 'उ०' । इसमें जिन-जिन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है, उनके नामोंकी तालिका पाठकोंकी सुविधाके लिये अलग दी गयी है । जहाँ ग्रन्थका नाम न देकर केवल संख्या ही दी गयी है, उन स्थलोंको गीताका समझना चाहिये । अध्याय और श्लोक-संख्याओंको सीधी लकीरसे पृथक् किया गया है । बायीं ओरकी अध्याय-संख्या और दाहिनी ओरकी श्लोक-संख्या समझनी चाहिये ।

श्लोकोंके भावको खोलनेके लिये तथा वाक्योंकी रचना-को आधुनिक भाषाशैलीके अनुकूल बनानेके लिये टीकामें मूलसे अधिक शब्द भी यत्र-तत्र जोड़े हैं और भाषाका प्रवाह न टूटे, इसलिये उन्हें कोष्ठकमें नहीं रक्खा गया है । किसी-

किसी जगह जहाँ पूरा-का-पूरा वाक्य ऊपरसे जोड़ा गया है, कोष्ठकका प्रयोग किया गया है। अर्थको जहाँतक हो सका है अन्वयके अनुकूल बनाया गया है तथा मूल पदोंकी विभक्तिकी भी रक्षा करनेकी चेष्टा की गयी है। इससे कहीं-कहीं वाक्यरचना भाषाकी दृष्टिसे सुन्दर नहीं हो सकी है; फिर भी मूल पदोंके अर्थकी रक्षा करते हुए भाषाकी सुन्दरतापर भी यथाशक्य ध्यान दिया गया है। प्रश्नोत्तरोंका क्रम प्रायः सर्वत्र अर्थके क्रमके अनुसार ही तथा कहीं-कहीं श्लोकके क्रमानुसार भी रक्खा गया है। बहुत थोड़े स्थलोंमें यह क्रम बदला भी गया है।

प्रश्नोत्तरमें जहाँ संस्कृतके विभक्तिसहित पदोंको लिया है, वहाँ उनके लिये संस्कृत-व्याकरणकी परिभाषाके अनुसार 'पद' शब्दका प्रयोग किया गया है और जहाँ उनको हिन्दीका रूप दे दिया गया है, वहाँ उन्हें 'शब्द' कहा गया है। प्रश्नोंमें जहाँ किसी पद, शब्द या वाक्यका भाव या अभिप्राय पूछा गया है, उनके उत्तरमें कहीं-कहीं तो उस पद, शब्द या वाक्यका सरल अर्थमात्र दे दिया गया है और कहीं-कहीं हेतुसहित उस पद, शब्द या वाक्यके प्रयोगका आशय बतलाया गया है। दोनों ही प्रकारसे ऐसे प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है।

प्रश्नोत्तरमें कहीं-कहीं अन्वय-क्रमसे मूल श्लोकोंके अंशोंको लेकर ही प्रश्न किये गये हैं और कहीं-कहीं अर्थके वाक्यांशोंको लेकर प्रश्न किये गये हैं। अर्थके वाक्यांशोंको भी कहीं-कहीं अविकलरूपसे उद्धृत किया है और कहीं-कहीं शब्दोंमें कुछ परिवर्तन करके उनको दुहराया गया है। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं कुछ नये प्रश्न भी हैं। प्रश्नोंमें 'अभिप्राय', 'भाव' आदि शब्द आये हैं, उनमेंसे कुछ तो अर्थके ही पर्यायमें आये हैं और कुछ खास किसी बातको पूछनेकी दृष्टिसे आये हैं।

गीतामें 'एतन्मे संशयम्' (६ । ३९), 'हे सखेति' 'इदं महिमानम्' (११ । ४१) इसी प्रकार कई आर्षप्रयोग हैं, जो वर्तमान प्रचलित व्याकरणकी दृष्टिसे ठीक नहीं माने जाते। इन प्रयोगोंके सम्बन्धमें टीकामें कुछ नहीं लिखा गया है और इनके अर्थ करनेमें भी प्रचलित व्याकरणका ध्यान न रखकर प्रयोगके अनुसार ही अर्थ किये गये हैं।

ग्रन्थोंके नाम

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रायः मुख्य-मुख्य संस्कृत-भाष्यों और अनेकों टीकाओंके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है—

ऋग्वेदसंहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ब्रह्मोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद्, योगदर्शन, सांख्यकारिका, मनुस्मृति, वसिष्ठस्मृति, संवर्तस्मृति, बृहद्योगियाज्ञवल्क्य, शङ्खस्मृति, अत्रिस्मृति, उत्तरगीता, श्रीमद्भागवत, अग्निपुराण, वायुपुराण, वाराहपुराण, गरुडपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, स्कन्दपुराण, बृहद्धर्मपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, देवीभागवत, महाभारत, हरिवंश, वाल्मीकीय रामायण, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र, सूर्यसिद्धान्त, श्रीरामचरितमानस, विनयपत्रिका, कृष्णकर्णामृत और भक्तमाल आदि-आदि।

गीता-माहात्म्य

श्रीभगवानुवाच

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवास्ति निरामयम्।
नैकमस्ति न च द्वित्वं सच्चित्कारं विजृम्भते ॥१॥
गीतासारमिदं शास्त्रं सर्वशास्त्रसुनिश्चितम्।
यत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेदशास्त्रसुनिश्चितम् ॥२॥
इदं शास्त्रं मया प्रोक्तं गुह्यवेदार्थदर्पणम्।
यः पठेत्प्रयतो भूत्वा स गच्छेद्विष्णुशाश्वतम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले—न बन्धन है, न मोक्ष; केवल निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है। न अद्वैत है, न द्वैत; केवल सच्चिदानन्द ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है॥ १॥ गीताका सारभूत यह शास्त्र सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा भलीभाँति निश्चित सिद्धान्त है, जिसमें वेद-शास्त्रोंसे अच्छी तरह निश्चित किया हुआ ब्रह्मज्ञान विद्यमान है॥२॥ मेरेद्वारा कहा हुआ यह गीताशास्त्र वेदके गूढ़ अर्थको दर्पणकी भाँति प्रकाशित करनेवाला है; जो पवित्र हो मन-इन्द्रियोंको वशमें रखकर इसका पाठ करता है, वह मुझ सनातनदेव भगवान् विष्णुको प्राप्त होता है॥ ३॥

एतत्पुण्यं पापहरं धन्यं दुःखप्रणाशनम्।
पठतां शृण्वतां चापि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४॥
अष्टादशपुराणानि नवव्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम् ॥ ५॥
भारतोदधिनिर्मथ्य गीतानिर्मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे धृतम् ॥ ६॥
मलनिर्मोचनं पुंसां गङ्गास्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ७॥
गीतानामसहस्रेण स्तवराजो विनिर्मितः।
यस्य कुक्षौ च वर्तेत सोऽपि नारायणः स्मृतः ॥ ८॥

भगवान् विष्णुका यह उत्तम माहात्म्य(गीताशास्त्र)पढ़ने और सुननेवालोंके पुण्यको बढ़ानेवाला,पापनाशक,धन्यवादके योग्य और समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला है॥४॥मुनिवर व्यासने अठारह पुराण,नव व्याकरण और चार वेदोंका मन्थन करके महाभारतकी रचना की॥ ५॥ फिर महाभारतरूपी समुद्रका मन्थन करनेसे प्रकट हुई गीताका भी मन्थन करके [उपर्युक्त गीतासारके रूपमें] उसके अर्थका सार निकालकर उसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें डाल दिया॥ ६॥ गङ्गामें प्रतिदिन स्नान करनेसे मनुष्योंका मैल दूर होता है, परन्तु गीतारूपिणी गङ्गाके जलमें एक ही बारका स्नान सम्पूर्ण संसारमलको नष्ट करनेवाला है॥७॥ गीताके सहस्र नामोंद्वारा जो स्तवराज निर्मित हुआ है, वह जिसकी कुक्षि (हृदय) में वर्तमान हो अर्थात् जो उसका मन-ही-मन स्मरण करता हो, वह भी साक्षात् नारायणका स्वरूप कहा गया है॥ ८॥

सर्ववेदमयी गीता सर्वधर्ममयो मनुः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो हरिः॥ ९॥
पादस्याप्यर्धपादं वा श्लोकं श्लोकार्धमेव वा।
नित्यं धारयते यस्तु स मोक्षमधिगच्छति ॥१०॥
कृष्णवृक्षसमुद्भूता गीतामृतहरीतकी।
मानुषैः किं न खाद्येत कलौ मलविरेचनी ॥११॥
गङ्गा गीता तथा भिक्षुः कपिलाश्वत्थसेवनम्।
वासरं पद्मनाभस्य पावनं किं कलौ युगे ॥१२॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥१३॥
आपदं नरकं घोरं गीताध्यायी न पश्यति ॥१४॥

गीता सम्पूर्ण वेदमयी है, मनुस्मृति सर्वधर्ममयी है, गङ्गा सर्वतीर्थमयी है तथा भगवान् विष्णु सर्वदेवमय हैं॥९॥ जो गीताका पूरा एक श्लोक, आधा श्लोक, एक चरण अथवा आधा चरण भी प्रतिदिन धारण करता है, वह अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥१०॥ मनुष्य श्रीकृष्णरूपी वृक्षसे प्रकट हुई गीतारूप अमृतमयी हरीतकीका भक्षण क्यों नहीं करते, जो समस्त कलिमलको शरीरसे बाहर निकालनेवाली है।११। कलियुगमें श्रीगङ्गाजी, गीता, सच्चे संन्यासी, कपिला गौ, अश्वत्थवृक्षका सेवन और भगवान् विष्णुके पर्व-दिन(एकादशी आदि) इनसे बढ़कर पवित्र करनेवाली और क्या वस्तु हो सकती है?॥१२॥ अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन? केवल गीताका ही सम्यक् प्रकारसे गान (पठन और मनन) करना चाहिये;जो कि साक्षात् भगवान् विष्णुके मुख-कमलसे प्रकट हुई है॥१३॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाले मनुष्यको आपत्ति और घोर नरकको नहीं देखना पड़ता॥१४॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रीगीतासारे भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम्।

ॐ

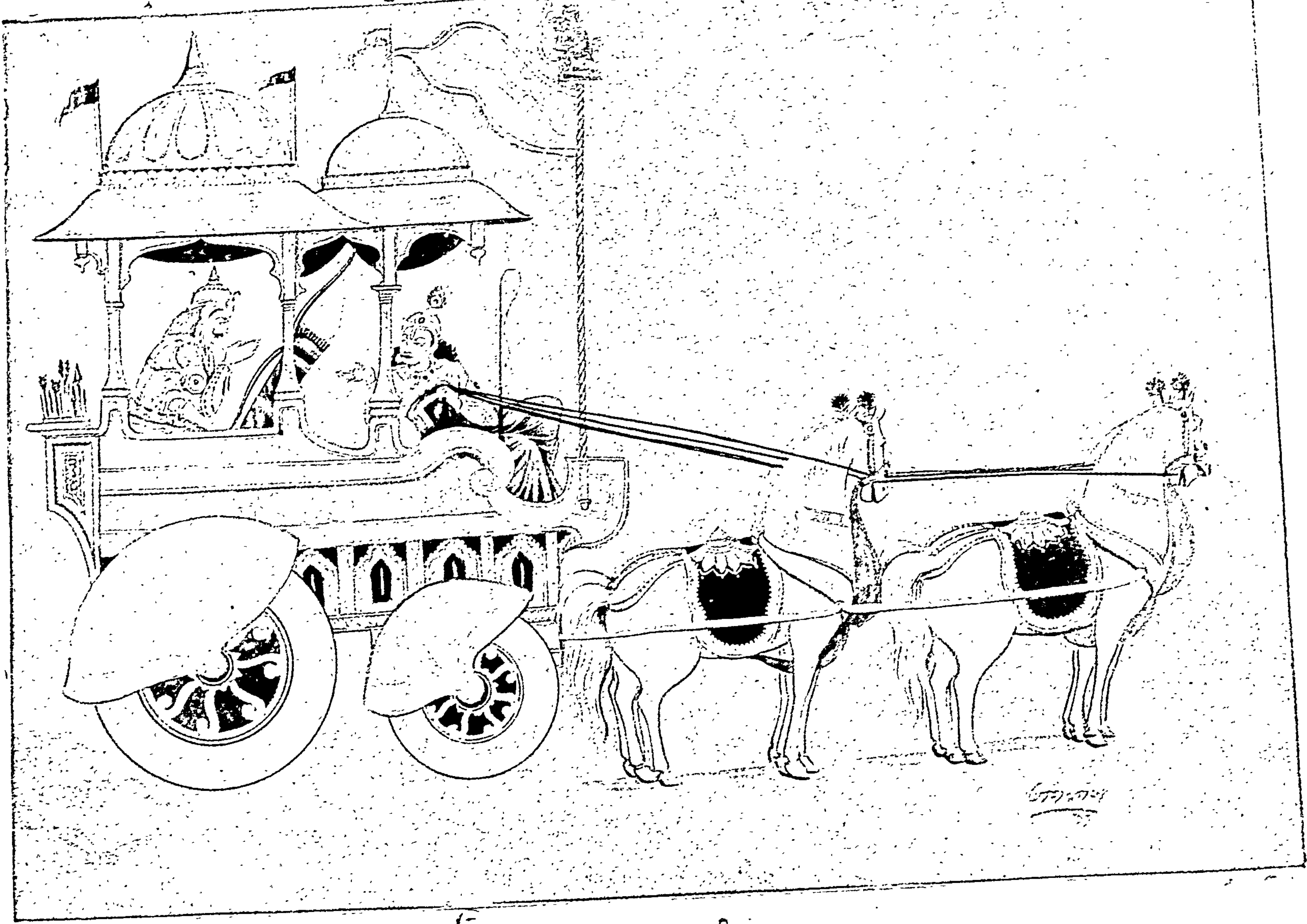
श्री परमात्मने नमः

शास्त्रोंका अवलोकन और महापुरुषों के वचनोंका श्रवण करके मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके समान कल्याणके लिये कोई भी उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। गीतामें ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, आदि जितने भी साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रुचि और योग्यताके अनुसार करनेसे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त साधनोंका तथा परमात्माका तत्त्व रहस्य जाननेके लिये महापुरुषोंका और उनके अभावमें उच्च कोटिके साधकोंका श्रद्धा, प्रेमपूर्वक सङ्ग करनेकी विशेष चेष्टा रखते हुवे गीताको अर्थ और भाव सहित मनन करने तथा उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये प्राण पर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

निवेदक—

कार्तिक शुक्ला १२ सं० २००६ | जयदयाल गोयन्दका।
गु० बांकुड़ा



शरणागत अर्जुन

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीटीकासहित)

प्रथमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त विश्वको श्रीगीताके रूपमें जो महान् उपदेश दिया है, यह अध्याय उसकी अवतारणाके रूपमें है । इसमें दोनों ओरके प्रधान-प्रधान योद्धाओंके नाम गिनाये जानेके बाद मुख्यतया अर्जुनके बन्धुनाशकी आशङ्कासे उत्पन्न मोहजनित विषादका ही वर्णन है । इस प्रकारका विषाद भी अच्छा संग मिल जानेपर सांसारिक भोगोंमें वैराग्यकी भावनाद्वारा कल्याणकी ओर अग्रसर करनेवाला हो जाता है । इसलिये इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' रक्खा गया है ।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें धृतराष्ट्रने सञ्जयसे युद्धका विवरण पूछा है, इसपर सञ्जयने दूसरेमें द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधनके बातचीत आरम्भ करनेका वर्णन किया है, तीसरेमें दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे विशाल पाण्डव-सेना देखनेके लिये कहकर चौथेसे छठेतक उस सेनाके प्रमुख योद्धाओंके नाम बतलाये हैं । सातवेंमें द्रोणाचार्यसे अपनी सेनाके प्रधान सेनानायकोंको भलीभाँति जान लेनेके लिये कहकर आठवें और नवें श्लोकोंमें उनमेंसे कुछके नाम और सब वीरोंके पराक्रम तथा युद्धकौशलका वर्णन किया है । दसवेंमें अपनी सेनाको अजेय और पाण्डवोंकी सेनाको अपनी अपेक्षा कमजोर बतलाकर ग्यारहवेंमें सब वीरोंसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये अनुरोध किया है । बारहवेंमें भीष्मपितामहके शङ्ख बजानेका और तेरहवेंमें कौरव-सेनामें शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि विभिन्न बाजोंके एक ही साथ बज उठनेका वर्णन है । चौदहवेंसे लेकर अठारहवेंतक क्रमशः भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पाण्डव-सेनाके अन्यान्य समस्त विशिष्ट योद्धाओंके द्वारा अपने-अपने शङ्ख बजाये जानेका और उन्नीसवेंमें उस शङ्खध्वनिके भयङ्कर शब्दसे आकाश और पृथ्वीके गूँज उठने तथा दुर्योधनादिके व्यथित होनेका वर्णन है । बीसवें और इक्कीसवेंमें धृतराष्ट्र-पुत्रोंको युद्धके लिये तैयार देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे अपना रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलनेके लिये कहा है और बाईसवें तथा तेईसवेंमें सारी सेनाको भलीभाँति देख चुकनेतक रथको वहीं खड़े रखनेका सङ्केत करके सबको देखनेकी इच्छा प्रकट की है । चौबीसवें और पचीसवेंमें अर्जुनके अनुरोधके अनुसार रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके श्रीकृष्णने युद्धके लिये एकत्रित सब वीरोंको देखनेके लिये अर्जुनसे कहा है, इसके बाद तीसवेंतक स्वजन-समुदायको देखकर अर्जुनके व्याकुल होनेका तथा अर्जुनके द्वारा अपनी शोकाकुल स्थितिका वर्णन है । इकतीसवें श्लोकमें युद्धके विपरीत परिणामकी बात कहकर बत्तीसवें और तैंतीसवेंमें अर्जुनने विजय और राज्यसुख न चाहनेकी युक्तिपूर्ण दलील दी है ।

चौंतीसवें और पैंतीसवेंमें आचार्यादि स्वजनोंका वर्णन करके अर्जुनने 'मुझे मार डालनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन आचार्य और पिता-पुत्रादि आत्मीय स्वजनोंको मारना नहीं चाहता' ऐसा कहकर छत्तीसवें और सैंतीसवेंमें दुर्योधनादि स्वजनोंके आततायी होनेपर भी उन्हें मारनेमें पापकी प्राप्ति और सुख तथा प्रसन्नताका अभाव बतलाया है, अड़तीसवें तथा उन्तालीसवेंमें कुलके नाश और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापसे बचनेके लिये युद्ध न करना उचित बतलाकर चालीसवेंसे चौवालीसवेंमें कुलनाशसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पैंतालीसवें और छियालीसवेंमें राज्य और सुखादिके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये की हुई युद्धकी तैयारीको महान् पापका आरम्भ बतलाकर शोक प्रकाश करते हुए अर्जुनने दुर्योधनादिके द्वारा अपने मारे जानेको श्रेष्ठ बतलाया है और अन्तके सैंतालीसवें श्लोकमें युद्ध न करनेका निश्चय करके शोकनिमग्न अर्जुनके शस्त्रत्यागपूर्वक रथपर बैठ जानेकी बात कहकर सञ्जयने अध्यायकी समाप्ति की है।

सम्बन्ध—पाण्डवोंके राजसूययज्ञमें उनके महान् ऐश्वर्यको देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी भारी जलन पैदा हो गयी और उन्होंने शकुनि आदिकी सम्मतिसे जुआ खेलनेके लिये युधिष्ठिरको बुलाया और छलसे उनको हराकर उनका सर्वस्व हर लिया। अन्तमें यह निश्चय हुआ कि युधिष्ठिरादि पाँचों भाई द्रौपदी-सहित बारह वर्ष वनमें रहें और एक साल छिपकर रहें; इस प्रकार तेरह वर्षतक समस्त राज्यपर दुर्योधनका आधिपत्य रहे और पाण्डवोंके एक सालके अज्ञातवासका भेद न खुल जाय तो तेरह वर्षके बाद पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दिया जाय। इस निर्णयके अनुसार तेरह साल वितानेके बाद जब पाण्डवोंने अपना राज्य वापस माँगा तब दुर्योधनने साफ इन्कार कर दिया। उन्हें समझानेके लिये द्रुपदके ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध पुरोहितको भेजा गया, परन्तु उन्होंने कोई बात नहीं मानी। तब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

भगवान् श्रीकृष्णको रण-निमन्त्रण देनेके लिये दुर्योधन द्वारिका पहुँचे, उसी दिन अर्जुन भी वहाँ पहुँच गये। दोनोंने जाकर देखा—भगवान् अपने भवनमें सो रहे हैं। उन्हें सोते देखकर दुर्योधन उनके सिरहाने एक मूल्यवान् आसनपर जा बैठे और अर्जुन दोनों हाथ जोड़कर नम्रताके साथ उनके चरणोंके सामने खड़े हो गये। जागते ही श्रीकृष्णने अपने सामने अर्जुनको देखा और फिर पीछेकी ओर मुड़कर देखनेपर सिरहानेकी ओर बैठे हुए दुर्योधन देख पड़े। भगवान् श्रीकृष्णने दोनोंका स्वागत-सत्कार किया और उनके आनेका कारण पूछा। तब दुर्योधनने कहा—'मुझमें और अर्जुनमें आपका एक-सा ही प्रेम है और हम दोनों ही आपके सम्बन्धी हैं; परन्तु आपके पास पहले मैं आया हूँ, सज्जनोंका नियम है कि वे पहले आनेवालेकी सहायता किया करते हैं। सारे भूमण्डलमें आज आप ही सब सज्जनोंमें श्रेष्ठ और सम्माननीय हैं, इसलिये आपको मेरी ही सहायता करनी चाहिये।' भगवान्ने कहा—'निःसन्देह, आप पहले आये हैं; परन्तु मैंने पहले अर्जुनको ही देखा है। इसलिये मैं दोनोंकी सहायता करूँगा। परन्तु शास्त्रानुसार बालकोंकी इच्छा पहले पूरी की जाती है, इसलिये पहले अर्जुनकी इच्छा ही पूरी करनी चाहिये। मैं दो प्रकारसे सहायता करूँगा। एक ओर मेरी अत्यन्त बलशालिनी नारायणी-सेना रहेगी और दूसरी ओर मैं, युद्ध न करनेका प्रण करके, अकेला रहूँगा; मैं शस्त्रका प्रयोग नहीं करूँगा। अर्जुन! धर्मानुसार पहले तुम्हारी इच्छा पूर्ण होनी चाहिये; अतएव दोनोंमेंसे जिसे पसंद करो माँग लो। इसपर अर्जुनने शत्रुनाशन नारायण भगवान् श्रीकृष्णको माँग लिया। तब दुर्योधनने उनकी नारायणी-सेना माँग ली और उसे लेकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गये।

इसके बाद भगवान्ने अर्जुनसे पूछा—अर्जुन ! जब मैं युद्ध ही नहीं करूँगा, तब तुमने क्या समझकर नारायणी-सेनाको छोड़ दिया और मुझको स्वीकार किया ? अर्जुनने कहा—'भगवन् ! आप अकेले ही सबका नाश करनेमें समर्थ हैं, तब मैं सेना लेकर क्या करता ? इसके सिवा बहुत दिनोंसे मेरी इच्छा थी कि आप मेरे सारथी बनें, अब इस महायुद्धमें मेरी उस इच्छाको आप अवश्य पूर्ण कीजिये !' भक्तवत्सल भगवान्ने अर्जुनके इच्छानुसार उसके रथके घोड़े हाँकनेका काम स्वीकार किया । इसी प्रसङ्गके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथी बने और युद्धारम्भके समय कुरुक्षेत्रमें उन्हें गीताका दिव्य उपदेश सुनाया । अस्तु ।

दुर्योधन और अर्जुनके द्वारकासे वापस लौट आनेपर जिस समय दोनों ओरकी सेना एकत्र हो चुकी थी, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं हस्तिनापुर जाकर हर तरहसे दुर्योधनको समझानेकी चेष्टा की; परन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'मेरे जीते-जी पाण्डव कदापि राज्य नहीं पा सकते, यहाँतक कि सूईकी नोकभर भी जमीन मैं पाण्डवोंको नहीं दूँगा ।' (महा० उद्योग० १२७ । २२ से २५) । तब अपना न्यायोचित स्वत्व प्राप्त करनेके लिये माता कुन्तीकी आज्ञा और भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे पाण्डवोंने धर्म समझकर युद्धके लिये निश्चय कर लिया ।

जब दोनों ओरसे युद्धकी पूरी तैयारी हो गयी, तब भगवान् वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप आकर उनसे कहा—'यदि तुम घोर संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर सकता हूँ ।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा—'ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ ! मैं कुलके इस हत्याकाण्डको अपनी आँखों देखना तो नहीं चाहता, परन्तु युद्धका सारा वृत्तान्त भलीभाँति सुनना चाहता हूँ ।' तब महर्षि वेदव्यासजीने सञ्जयको दिव्यदृष्टि प्रदान करके धृतराष्ट्रसे कहा—'ये सञ्जय तुम्हें युद्धका सब वृत्तान्त सुनावेंगे । युद्धकी समस्त घटनावलियोंको ये प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेंगे । सामने या पीछेसे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या केवल मनमें आयी हुई, ऐसी कोई बात न होगी जो इनसे तनिक भी छिपी रह सकेगी । ये सब बातोंको ज्यों-की-त्यों जान लेंगे । इनके शरीरसे न तो कोई शस्त्र छू जायगा और न इन्हें जरा भी थकावट ही होगी ।'

'यह 'होनी' है, अवश्य होगी; इस सर्वनाशको कोई भी रोक नहीं सकेगा । अन्तमें धर्मकी जय होगी ।'

महर्षि वेदव्यासजीके चले जानेके बाद धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जय उन्हें पृथ्वीके विभिन्न द्वीपोंका वृत्तान्त सुनाते रहे, उसीमें उन्होंने भारतवर्षका भी वर्णन किया । तदनन्तर जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ हो गया और लगातार दस दिनोंतक युद्ध होनेपर पितामह भीष्म रणभूमिमें रथसे गिरा दिये गये, तब सञ्जयने धृतराष्ट्रके पास आकर उन्हें अकस्मात् भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनाया (महा० भीष्म० १३) । उसे सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा ही दुःख हुआ और युद्धकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनानेके लिये उन्होंने सञ्जयसे कहा, तब सञ्जयने दोनों ओरकी सेनाओंकी व्यूह-रचना आदिका विस्तृत वर्णन किया । इसके बाद धृतराष्ट्रने विशेष विस्तारके साथ आरम्भसे अबतककी पूरी घटनाएँ जाननेके लिये सञ्जयसे प्रश्न किया । यहींसे श्रीमद्भगवद्गीताका पहला अध्याय आरम्भ होता है । महाभारत, भीष्मपर्वमें यह पचीसवाँ अध्याय है । इसके आरम्भमें धृतराष्ट्र सञ्जयसे प्रश्न करते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्रित, युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

प्रश्न—कुरुक्षेत्र किस स्थानका नाम है और उसे धर्मक्षेत्र क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—महाभारत, वनपर्वके तिरासिवें अध्यायमें और शल्यपर्वके तिरपनवें अध्यायमें कुरुक्षेत्रके माहात्म्यका विशेष वर्णन मिलता है; वहाँ इसे सरस्वती नदीके दक्षिण-भाग और दृषद्वती नदीके उत्तरभागके मध्यमें बतलाया है। कहते हैं कि इसकी लंबाई-चौड़ाई पाँच-पाँच योजन थी। यह स्थान अंबालेसे दक्षिण और दिल्लीसे उत्तरकी ओर है। इस समय भी कुरुक्षेत्रनामक स्थान वहीं है। इसका एक नाम समन्तपञ्चक भी है। शतपथब्राह्मणादि शास्त्रोंमें कहा है कि यहाँ अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओंने तप किया था; राजा कुरुने भी यहाँ बड़ी तपस्या की थी तथा यहाँ मरनेवालोंको उत्तम गति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनके कारण उसे धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र कहा जाता है।

प्रश्न—धृतराष्ट्रने 'मामकाः' पदका प्रयोग किनके लिये किया है और 'पाण्डवाः' का किनके लिये ? और उनके साथ 'समवेताः' और 'युयुत्सवः' विशेषण लगाकर जो 'किम् अकुर्वत' कहा है, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'मामकाः' पदका प्रयोग धृतराष्ट्रने निज पक्षके समस्त योद्धाओंसहित अपने दुर्योधनादि एक सौ एक पुत्रोंके लिये किया है और 'पाण्डवाः' पदका युधिष्ठिर-पक्षके सब योद्धाओंसहित युधिष्ठिरादि पाँचों भाइयोंके लिये। 'समवेताः' और 'युयुत्सवः' विशेषण देकर और 'किम् अकुर्वत' कहकर धृतराष्ट्रने गत दस दिनोंके भीषण युद्धका पूरा विवरण जानना चाहा है कि युद्धके लिये एकत्रित इन सब लोगोंने युद्धका प्रारम्भ कैसे किया ? कौन किससे कैसे भिड़े ? और किसके द्वारा कौन, किस प्रकार और कब मारे गये ? आदि।

भीष्मपितामहके गिरनेतक भीषण युद्धका समाचार धृतराष्ट्र सुन ही चुके हैं, इसलिये उनके प्रश्नका यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उन्हें अभी युद्धकी कुछ भी खबर नहीं है और वे यह जानना चाहते हैं कि क्या धर्मक्षेत्रके प्रभावसे मेरे पुत्रोंकी बुद्धि सुधर गयी और उन्होंने पाण्डवोंका स्वत्व देकर युद्ध नहीं किया ? अथवा क्या धर्मराज युधिष्ठिर ही धर्मक्षेत्रके प्रभावसे प्रभावित होकर युद्धसे निवृत्त हो गये ? या अबतक दोनों सेनाएँ खड़ी ही हैं, युद्ध हुआ ही नहीं और यदि हुआ तो उसका क्या परिणाम हुआ ?—इत्यादि।

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जय कहते हैं—

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥

प्रश्न—दुर्योधनको 'राजा' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सञ्जयके द्वारा दुर्योधनको 'राजा' कहे जानेमें कई भाव हो सकते हैं—

(क) दुर्योधन बड़े वीर और राजनीतिज्ञ थे तथा शासनका समस्त कार्य दुर्योधन ही करते थे।

(ख) संत सभीको आदर दिया करते हैं और सञ्जय संत-स्वभाव थे।

(ग) पुत्रके प्रति आदरसूचक विशेषणका प्रयोग सुनकर धृतराष्ट्रको प्रसन्नता होगी।

प्रश्न—व्यूहरचनायुक्त पाण्डव-सेनाको देखकर दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास गया, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—भाव यह है कि पाण्डव-सेनाकी व्यूहरचना इतने विचित्र ढंगसे की गयी थी कि उसको देखकर दुर्योधन चकित हो गये और अधीर होकर स्वयं उसकी सूचना देनेके लिये द्रोणाचार्यके पास दौड़े गये। उन्होंने सोचा कि पाण्डव-सेनाकी व्यूहरचना देख-सुनकर धनुर्वेदके महान् आचार्य गुरु द्रोण उनकी अपेक्षा अपनी सेनाकी और भी विचित्ररूपसे व्यूहरचना करनेके लिये पितामहको परामर्श देंगे।

प्रश्न—दुर्योधन राजा होकर स्वयं सेनापतिके पास क्यों गये ? उन्हींको अपने पास बुलाकर सब बातें क्यों नहीं समझा दीं ?

उत्तर—यद्यपि पितामह भीष्म प्रधान सेनापति थे, परन्तु कौरव-सेनामें गुरु द्रोणाचार्यका स्थान भी बहुत उच्च और बड़े ही उत्तरदायित्वका था। सेनामें जिन प्रमुख योद्धाओंकी जहाँ नियुक्ति होती है, यदि वे वहाँसे हट जाते हैं तो सैनिक-व्यवस्थामें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। इसलिये द्रोणाचार्यको अपने स्थानसे न हटाकर दुर्योधनने ही उनके पास जाना उचित समझा। इसके अतिरिक्त द्रोणाचार्य वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध होनेके साथ ही गुरु होनेके कारण आदरके पात्र थे; तथा दुर्योधनको उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करना था, इसलिये भी उन्हें सम्मान देकर उनका प्रियपात्र बनना उन्हें अभीष्ट था। पारमार्थिक दृष्टिसे तो सबसे नम्रतापूर्ण सम्मानयुक्त व्यवहार करना कर्तव्य है ही, राजनीतिमें भी बुद्धिमान् पुरुष अपना काम निकालनेके लिये दूसरोंका आदर किया करते हैं। इन सभी दृष्टियोंसे उनका वहाँ जाना उचित ही था।

सम्बन्ध—*द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधनने जो कुछ कहा, अब उसे बतलाते हैं*—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

प्रश्न—धृष्टद्युम्न द्रुपदका पुत्र है, आपका शिष्य है और बुद्धिमान् है—दुर्योधनने ऐसा किस अभिप्रायसे कहा ?

उत्तर—दुर्योधन बड़े चतुर कूटनीतिज्ञ थे। धृष्टद्युम्नके प्रति प्रतिहिंसा तथा पाण्डवोंके प्रति द्रोणाचार्यकी बुरी भावना उत्पन्न करके उन्हें विशेष उत्तेजित करनेके लिये दुर्योधनने धृष्टद्युम्नको द्रुपदपुत्र और 'आपका बुद्धिमान् शिष्य' कहा। इन शब्दोंके द्वारा वह उन्हें इस प्रकार समझा रहे हैं कि देखिये, द्रुपदने आपके साथ पहले बुरा बर्ताव किया था और फिर उसने आपका वध करनेके उद्देश्यसे ही यज्ञ करके धृष्टद्युम्नको पुत्ररूपसे प्राप्त किया था। धृष्टद्युम्न इतना कूटनीतिज्ञ है और आप इतने सरल हैं कि आपको मारनेके लिये पैदा होकर भी उसने आपके ही द्वारा धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त कर ली! फिर इस समय भी उसकी बुद्धिमानी देखिये कि उसने आपलोगोंको छकानेके लिये कैसी सुन्दर व्यूहरचना की है। ऐसे पुरुषको पाण्डवोंने अपना प्रधान सेनापति बनाया है! अब आप ही विचारिये कि आपका क्या कर्तव्य है।

प्रश्न—कौरव-सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी और पाण्डव-सेना केवल सात ही अक्षौहिणी थी; फिर दुर्योधनने उसको बड़ी भारी (महती) क्यों कहा और उसे देखनेके लिये आचार्यसे क्यों अनुरोध किया ?

उत्तर—संख्यामें कम होनेपर भी वज्रव्यूहके कारण पाण्डव-सेना बहुत बड़ी मालूम होती थी; दूसरे यह बात भी है कि संख्यामें अपेक्षाकृत स्वल्प होनेपर भी जिसमें पूर्ण सुव्यवस्था होती है, वह सेना विशेष शक्तिशालिनी समझी जाती है। इसीलिये दुर्योधन कह रहे हैं कि आप इस व्यूहाकार खड़ी की हुई सुव्यवस्थित महती सेनाको देखिये और ऐसा उपाय सोचिये जिसमें हमलोग विजयी हों।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाकी व्यूहरचना दिखलाकर अब दुर्योधन तीन श्लोकोंद्वारा पाण्डव-सेनाके प्रमुख महारथियोंके नाम बतलाते हैं—

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य; पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४-५-६ ॥

प्रश्न—'अत्र' पदका यहाँ किस अर्थमें प्रयोग हुआ है ?

उत्तर—'अत्र' पद यहाँ पाण्डव-सेनाके अर्थमें प्रयुक्त है ।

प्रश्न—'युधि' पदका अन्वय 'अत्र'के साथ न करके 'भीमार्जुनसमाः'के साथ क्यों किया गया ?

उत्तर—'युधि' पद यहाँ 'अत्र'का विशेष्य नहीं बन सकता, क्योंकि उस समय युद्ध आरम्भ ही नहीं हुआ था । इसके अतिरिक्त उसके पहले पाण्डव-सेनाका वर्णन होनेके कारण 'अत्र' पद स्वभावसे ही उसका वाचक हो जाता है, इसीलिये उसके साथ किसी विशेष्यकी आवश्यकता भी नहीं है । 'भीमार्जुनसमाः' के साथ 'युधि' पदका अन्वय करके यह भाव दिखलाया है कि यहाँ जिन महारथियोंके नाम लिये गये हैं, वे पराक्रम और युद्धविद्यामें भीम और अर्जुनकी ही समता रखते हैं ।

प्रश्न—युयुधान, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु और उत्तमौजा कौन थे ?

उत्तर—अर्जुनके शिष्य सात्यकिका ही दूसरा नाम युयुधान था (महा० उद्योग० ८१ । ५—८) । ये यादववंशीय राजा शिनिके पुत्र थे (महा० द्रोण० १४४ । १७—१९) । ये भगवान् श्रीकृष्णके परम अनुगत थे और बड़े ही बलवान् एवं अतिरथी थे । ये महाभारतयुद्धमें न मरकर यादवोंके पारस्परिक युद्धमें मारे गये थे । युयुधाननामक एक दूसरे यादव-वंशीय योद्धा भी थे (महा० उद्योग० १५२ । ६) ।

विराट मत्स्यदेशके धार्मिक राजा थे । पाण्डवोंने एक वर्ष इन्हींके यहाँ अज्ञातवास किया था । इनकी पुत्री उत्तराका विवाह अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके साथ हुआ था । ये महाभारतयुद्धमें उत्तर, श्वेत और शंख-नामक तीनों पुत्रोंसहित मारे गये ।

द्रुपद पाञ्चालदेशके राजा पृषत्के पुत्र थे । राजा पृषत् और भरद्वाज मुनिमें परस्पर मैत्री थी, द्रुपद भी बालक-अवस्थामें भरद्वाज मुनिके आश्रममें रहे थे । इससे भरद्वाजके पुत्र द्रोणके साथ इनकी भी मित्रता हो गयी थी । पृषत्के परलोकगमनके पश्चात् द्रुपद राजा हुए, तब एक दिन द्रोणने इनके पास जाकर इन्हें अपना मित्र कहा । द्रुपदको यह बात बुरी लगी । तब द्रोण मनमें क्षुब्ध होकर चले आये । द्रोणने कौरव

और पाण्डवोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा देकर गुरुदक्षिणामें अर्जुनके द्वारा द्रुपदको पराजित कराकर अपने अपमानका बदला चुकाया और उनका आधा राज्य ले लिया। द्रुपदने ऊपरसे द्रोणसे प्रीति कर ली, परन्तु उनके मनमें क्षोभ बना रहा। उन्होंने द्रोणको मारनेवाले पुत्रके लिये याज और उपयाजनामक ऋषियोंके द्वारा यज्ञ करवाया। उसी यज्ञकी वेदीसे धृष्टद्युम्न तथा कृष्णाका प्राकट्य हुआ। यही कृष्णा द्रौपदी या याज्ञसेनीके नामसे प्रसिद्ध हुई और स्वयंवरमें जीतकर पाण्डवोंने उसके साथ विवाह किया। राजा द्रुपद बड़े ही शूरवीर और महारथी थे। महाभारत युद्धमें द्रोणके हाथसे इनकी मृत्यु हुई (महा० द्रोण० १८६)।

धृष्टकेतु चेदिदेशके राजा शिशुपालके पुत्र थे। ये महाभारतयुद्धमें द्रोणके हाथसे मारे गये थे (महा० द्रोण० १२५)।

चेकितान वृष्णिवंशीय यादव (महा० भीष्म० ८४ । २०), महारथी योद्धा और बड़े शूरवीर थे। पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके सात सेनापतियोंमेंसे एक थे (महा० उद्योग० १५१)। ये महाभारतयुद्धमें दुर्योधनके हाथसे मारे गये (महा० शल्य० १२)।

काशिराज काशीके राजा थे, ये बड़े ही वीर और महारथी थे। इनके नामका ठीक पता नहीं लगता। (महा० उद्योग० १७१ में) काशिराजका नाम सेनाबिन्दु और क्रोधहन्ता बतलाया गया है। कर्णपर्व अध्याय छः में जहाँ काशिराजके मारे जानेका वर्णन है, वहाँ उनका नाम 'अभिभू' बतलाया गया है।

पुरुजित् और कुन्तिभोज दोनों कुन्तीके भाई थे। और युधिष्ठिर आदिके मामा होते थे। ये दोनों ही महाभारतयुद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये (महा० कर्ण० ६ । २२, २३)।

शैब्य धर्मराज युधिष्ठिरके श्वशुर थे, इनकी कन्या देविकासे युधिष्ठिरका विवाह हुआ था (महा० आदि० ९५)। ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ, बड़े बलवान् और वीर योद्धा थे। इसीलिये इन्हें 'नरपुङ्गव' कहा गया है।

युधामन्यु और उत्तमौजा—दोनों भाई पाञ्चालदेशीय राजकुमार थे (महा० द्रोण० १३०)। पहले अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करनेपर इन्हें नियुक्त किया गया था (महा० भीष्म० १५ । १९)। ये दोनों ही बड़े भारी पराक्रमी और बलसम्पन्न वीर थे, इसीलिये इनके साथ क्रमशः 'विक्रान्त' और 'वीर्यवान्'—दो विशेषण जोड़े गये हैं। ये दोनों रातको सोते समय अश्वत्थामाके हाथसे मारे गये (महा० सौप्तिक० ८ । ३४–३७)।

प्रश्न—अभिमन्यु कौन थे ?

उत्तर—अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रासे विवाह किया था। उन्हींके गर्भसे अभिमन्यु उत्पन्न हुए थे। मत्स्यदेशके राजा विराटकी कन्या उत्तरासे इनका विवाह हुआ था। इन्होंने अपने पिता अर्जुनसे और प्रद्युम्नसे अस्त्रशिक्षा प्राप्त की थी। ये असाधारण वीर थे। महाभारतयुद्धमें द्रोणाचार्यने एक दिन चक्रव्यूहकी ऐसी रचना की कि पाण्डव-पक्षके युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि कोई भी वीर उसमें प्रवेश नहीं कर सके; जयद्रथने सबको परास्त कर दिया। अर्जुन दूसरी ओर युद्धमें लगे थे। उस दिन वीर युवक अभिमन्यु अकेले ही उस व्यूहको भेदकर उसमें घुस गये और असंख्य वीरोंका संहार करके अपने असाधारण शौर्यका परिचय दिया। द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा—इन छः महारथियोंने मिलकर अन्यायपूर्वक इन्हें घेर लिया; उस अवस्थामें भी इन्होंने अकेले ही बहुत-से वीरोंका संहार किया। अन्तमें दुःशासनके लड़केने इनके सिरपर गदाका बड़े जोरसे प्रहार किया, जिससे इनकी मृत्यु हो गयी (महा० द्रोण० ४९)। राजा परीक्षित् इन्हींके पुत्र थे।

प्रश्न—द्रौपदीके पाँच पुत्र कौन-कौन थे ?

उत्तर—प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन—ये पाँचों क्रमशः युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवके औरस और द्रौपदीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे (महा० आदि० २२१ । ८०–८४)। इनको रात्रिके समय अश्वत्थामाने मार डाला था (महा० सौप्तिक० ८)।

प्रश्न—'सर्व एव महारथाः' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—शास्त्र और शस्त्रविद्यामें अत्यन्त [illegible]

असाधारण वीरको महारथी कहते हैं; जो अकेला ही दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका युद्धमें संचालन करता हो।

एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥

दुर्योधनने यहाँ जिन योद्धाओंके नाम लिये हैं, ये सभी महारथी हैं—इसी भावसे ऐसा कहा गया है। (महा० उद्योग० १६९–१७२ में) प्रायः इन सभी वीरोंके पराक्रमका पृथक्-पृथक्रूपसे विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ भी इन्हें अतिरथी और महारथी बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त पाण्डवसेनामें और भी बहुत-से महारथी थे, उनके भी नाम वहाँ बतलाये गये हैं। यहाँ 'सर्वे' पदसे दुर्योधनका कथन उन सबके लिये भी समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाके प्रधान योद्धाओंके नाम बतलाकर अब दुर्योधन आचार्य द्रोणसे अपनी सेनाके प्रधान योद्धाओंको जान लेनेके लिये अनुरोध करते हैं—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या अभिप्राय है? और 'अस्माकम्' के साथ इसका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—'तु' पद यहाँ 'भी' के अर्थमें है; इसका 'अस्माकम्' के साथ प्रयोग करके दुर्योधन यह कहना चाहते हैं कि केवल पाण्डव-सेनामें ही नहीं, अपने पक्षमें भी बहुत-से महान् शूरवीर हैं।

प्रश्न—'विशिष्टाः' पदसे किनका लक्ष्य है? और 'निबोध' क्रियापदका क्या भाव है?

उत्तर—दुर्योधनने 'विशिष्टाः' पदका प्रयोग उनके लक्ष्यसे किया है, जो उनकी सेनामें सबसे बढ़कर वीर, धीर, बलवान्, बुद्धिमान्, साहसी, पराक्रमी, तेजस्वी और शस्त्रविद्याविशारद पुरुष थे और 'निबोध' क्रियापदसे यह सूचित किया है कि अपनी सेनामें भी ऐसे सर्वोत्तम शूरवीरोंकी कमी नहीं है; मैं उनमेंसे कुछ चुने हुए वीरोंके नाम आपकी विशेष जानकारीके लिये बतलाता हूँ, आप मुझसे सुनिये।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें दुर्योधन अपने पक्षके प्रधान वीरोंके नाम बतलाते हुए अन्यान्य वीरोंके सहित उनकी प्रशंसा करते हैं—

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

आप-द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

प्रश्न—द्रोणाचार्य कौन थे और दुर्योधनने समस्त वीरोंमें सबसे पहले उन्हें 'आप' कहकर उनका नाम किस हेतुसे लिया?

उत्तर—द्रोणाचार्य महर्षि भरद्वाजके पुत्र थे। इन्होंने महर्षि अग्निवेश्यसे और श्रीपरशुरामजीसे रहस्यसमेत समस्त अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये थे। ये वेद-वेदाङ्गके ज्ञाता, महान् तपस्वी, धनुर्वेद तथा शस्त्रास्त्र-विद्याके अत्यन्त मर्मज्ञ और अनुभवी एवं युद्धकलामें नितान्त

निपुण और परम साहसी अतिरथी वीर थे। ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि विचित्र अस्त्रोंका प्रयोग करना इन्हें भलीभाँति ज्ञात था। युद्धक्षेत्रमें जिस समय ये अपनी पूरी शक्तिसे भिड़ जाते थे, उस समय इन्हें कोई भी जीत नहीं सकता था। इनका विवाह महर्षि शरद्वान्की कन्या कृपीसे हुआ था। इन्हींसे अश्वत्थामा उत्पन्न हुए थे। राजा द्रुपदके ये बालसखा थे। एक समय इन्होंने द्रुपदके पास जाकर उन्हें प्रियमित्र कहा, तब ऐश्वर्य-मदसे चूर द्रुपदने इनका अपमान करते हुए कहा—'मेरे-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न राजाके साथ तुम-सरीखे निर्धन, दरिद्र मनुष्यकी मित्रता किसी तरह भी नहीं हो सकती।' द्रुपदके इस तिरस्कारसे इन्हें बड़ी मर्मवेदना हुई और ये हस्तिनापुरमें आकर अपने साले कृपाचार्यके पास रहने लगे। वहाँ पितामह भीष्मसे इनका परिचय हुआ और इन्हे कौरव-पाण्डवोंकी शिक्षाके लिये नियुक्त किया गया। शिक्षा समाप्त होनेपर गुरुदक्षिणाके रूपमें इन्होने राजा द्रुपदको पकड़ लानेके लिये शिष्योंसे कहा। महात्मा अर्जुन ही गुरुकी इस आज्ञाका पालन कर सके और द्रुपदको रणक्षेत्रमें हराकर सचिवसहित पकड़ लाये। द्रोणने द्रुपदको बिना मारे छोड़ दिया, परन्तु भागीरथीसे उत्तरभागका उनका राज्य ले लिया। महाभारत-युद्धमें इन्होंने पाँच दिनतक सेनापतिके पदपर रहकर बड़ा ही घोर युद्ध किया और अन्तमें अपने पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका भ्रममूलक समाचार सुनकर इन्होंने शस्त्रास्त्रका परित्याग कर दिया और समाधिस्थ होकर ये भगवान्का ध्यान करने लगे। इनके प्राणत्याग करनेपर इनके ज्योतिर्मय स्वरूपका ऐसा तेज फैला कि सारा आकाश-मण्डल तेजराशिसे परिपूर्ण हो गया। इसी अवस्थामें धृष्टद्युम्नने तीखी तलवारसे इनका सिर काट डाला।

यहाँ दुर्योधनने इन्हें 'आप' कहकर सबसे पहले इन्हे इसीलिये गिनाया कि जिसमे ये खूब प्रसन्न हो जायँ और मेरे पक्षमें अधिक उत्साहसे युद्ध करें। शिक्षागुरु होनेके नाते आदरके लिये भी सर्वप्रथम 'आप' कहकर इन्हें गिनाना युक्तिसङ्गत ही है।

प्रश्न—भीष्म कौन थे?

उत्तर—भीष्म राजा शान्तनुके पुत्र थे। भागीरथी गङ्गाजीसे इनका जन्म हुआ था। ये 'द्यो' नामक नवम वसुके अवतार थे (महा० शान्ति० ५०।२६)। इनका पहला नाम देवव्रत था। इन्होंने सत्यवतीके साथ अपने पिताका विवाह करवानेके लिये सत्यवतीके पालनकर्ता पिताके आज्ञानुसार, पूर्ण युवावस्थामें ही स्वयं जीवनभर कभी विवाह न करनेकी तथा राज्यपदके त्यागकी भीषण प्रतिज्ञा कर ली थी; इसी भीषण प्रतिज्ञाके कारण इनका नाम भीष्म पड़ गया। पिताके सुखके लिये इन्होंने प्रायः मनुष्यमात्रके परम लोभनीय स्त्री-सुख और राज्य-सुखका सर्वथा त्याग कर दिया। इससे परम प्रसन्न होकर इनके पिता शान्तनुने इन्हें यह वरदान दिया कि तुम्हारी इच्छाके बिना मृत्यु भी तुम्हें नहीं मार सकेगी। ये बालब्रह्मचारी, अत्यन्त तेजस्वी, शस्त्र और शास्त्र दोनोंके पूर्ण पारदर्शी और अनुभवी, महान् ज्ञानी और महान् वीर तथा दृढ़निश्चयी महापुरुष थे। इनमें शौर्य, वीर्य, त्याग, तितिक्षा, क्षमा, दया, शम, दम, सत्य, अहिंसा, सन्तोष, शान्ति, बल, तेज, न्यायप्रियता, नम्रता, उदारता, लोकप्रियता, स्पष्टवादिता, साहस, ब्रह्मचर्य, विरति, ज्ञान, विज्ञान, मातृ-पितृ-भक्ति और गुरुसेवन आदि प्रायः सभी सद्गुण पूर्णरूपसे विकसित थे। भगवान्की भक्तिसे तो इनका जीवन ओतप्रोत था। ये भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले और उनके एकनिष्ठ, पूर्ण-श्रद्धासम्पन्न और परम प्रेमी भक्त थे। महाभारत-युद्धमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई भी वीर नहीं था। इन्होंने दुर्योधनके सामने प्रतिज्ञा की थी कि मैं पाँचों पाण्डवोंको तो कभी नहीं मारूँगा, परन्तु प्रतिदिन दस हजार योद्धाओंको मारता रहूँगा (महा० उद्योग० १५६।२१)। इन्होंने कौरवपक्षमें प्रधान सेनापतिके पदपर रहकर दस दिनोंतक घोर युद्ध किया। तदनन्तर शरशय्यापर पड़े-पड़े सबको महान् ज्ञानका उपदेश देकर उत्तरायण आ जानेके बाद स्वेच्छासे देहत्याग किया।

प्रश्न—कर्ण कौन थे?

उत्तर—कर्ण कुन्तीके पुत्र थे, सूर्यदेवके प्रभावसे

असाधारण वीरको महारथी कहते हैं, जो अकेला ही दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका युद्धमें संचालन करता हो।

एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥

दुर्योधनने यहाँ जिन योद्धाओंके नाम लिये हैं, ये सभी महारथी हैं—इसी भावसे ऐसा कहा गया है। (महा० उद्योग० १६९–१७२ में) प्रायः इन सभी वीरोंके पराक्रमका पृथक्-पृथक्रूपसे विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ भी इन्हें अतिरथी और महारथी बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त पाण्डवसेनामें और भी बहुत-से महारथी थे, उनके भी नाम वहाँ बतलाये गये हैं। यहाँ 'सर्वे' पदसे दुर्योधनका कथन उन सबके लिये भी समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाके प्रधान योद्धाओंके नाम बतलाकर अब दुर्योधन आचार्य द्रोणसे अपनी सेनाके प्रधान योद्धाओंको जान लेनेके लिये अनुरोध करते हैं—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥ ७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ॥ ७॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या अभिप्राय है? और 'अस्माकम्' के साथ इसका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—'तु' पद यहाँ 'भी' के अर्थमें है; इसका 'अस्माकम्' के साथ प्रयोग करके दुर्योधन यह कहना चाहते हैं कि केवल पाण्डव-सेनामें ही नहीं, अपने पक्षमें भी बहुत-से महान् शूरवीर हैं।

प्रश्न—'विशिष्टाः' पदसे किनका लक्ष्य है? और 'निबोध' क्रियापदका क्या भाव है?

उत्तर—दुर्योधनने 'विशिष्टाः' पदका प्रयोग उनके लक्ष्यसे किया है, जो उनकी सेनामें सबसे बढ़कर वीर, धीर, बलवान्, बुद्धिमान्, साहसी, पराक्रमी, तेजस्वी और शस्त्रविद्याविशारद पुरुष थे और 'निबोध' क्रियापदसे यह सूचित किया है कि अपनी सेनामें भी ऐसे सर्वोत्तम शूरवीरोंकी कमी नहीं है; मैं उनमेंसे कुछ चुने हुए वीरोंके नाम आपकी विशेष जानकारीके लिये बतलाता हूँ, आप मुझसे सुनिये।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें दुर्योधन अपने पक्षके प्रधान वीरोंके नाम बतलाते हुए अन्यान्य वीरोंके सहित उनकी प्रशंसा करते हैं—

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

आप-द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा॥ ८॥

प्रश्न—द्रोणाचार्य कौन थे और दुर्योधनने समस्त वीरोंमें सबसे पहले उन्हें 'आप' कहकर उनका नाम किस हेतुसे लिया?

उत्तर—द्रोणाचार्य महर्षि भरद्वाजके पुत्र थे। इन्होंने महर्षि अग्निवेश्यसे और श्रीपरशुरामजीसे रहस्यसमेत समस्त अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये थे। ये वेद-वेदाङ्गके ज्ञाता, महान् तपस्वी, धनुर्वेद तथा शस्त्रास्त्र-विद्याके अत्यन्त मर्मज्ञ और अनुभवी एवं युद्धकलामें नितान्त

निपुण और परम साहसी अतिरथी वीर थे। ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि विचित्र अस्त्रोंका प्रयोग करना इन्हें भलीभाँति ज्ञात था। युद्धक्षेत्रमें जिस समय ये अपनी पूरी शक्तिसे भिड़ जाते थे, उस समय इन्हें कोई भी जीत नहीं सकता था। इनका विवाह महर्षि शरद्वान्‌की कन्या कृपीसे हुआ था। इन्हींसे अश्वत्थामा उत्पन्न हुए थे। राजा द्रुपदके ये बालसखा थे। एक समय इन्होंने द्रुपदके पास जाकर उन्हें प्रियमित्र कहा, तब ऐश्वर्य-मदसे चूर द्रुपदने इनका अपमान करते हुए कहा—'मेरे-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न राजाके साथ तुम-सरीखे निर्धन, दरिद्र मनुष्यकी मित्रता किसी तरह भी नहीं हो सकती।' द्रुपदके इस तिरस्कारसे इन्हें बड़ी मर्मवेदना हुई और ये हस्तिनापुरमें आकर अपने साले कृपाचार्यके पास रहने लगे। वहाँ पितामह भीष्मसे इनका परिचय हुआ और इन्हे कौरव-पाण्डवोंकी शिक्षाके लिये नियुक्त किया गया। शिक्षा समाप्त होनेपर गुरुदक्षिणाके रूपमें इन्होंने राजा द्रुपदको पकड़ लानेके लिये शिष्योंसे कहा। महात्मा अर्जुन ही गुरुकी इस आज्ञाका पालन कर सके और द्रुपदको रणक्षेत्रमें हराकर सचिवसहित पकड़ लाये। द्रोणने द्रुपदको बिना मारे छोड़ दिया, परन्तु भागीरथीसे उत्तरभागका उनका राज्य ले लिया। महाभारत-युद्धमें इन्होने पाँच दिनतक सेनापतिके पदपर रहकर बड़ा ही घोर युद्ध किया और अन्तमें अपने पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका भ्रममूलक समाचार सुनकर इन्होंने शस्त्रास्त्रका परित्याग कर दिया और समाधिस्थ होकर ये भगवान्‌का ध्यान करने लगे। इनके प्राणत्याग करनेपर इनके ज्योतिर्मय स्वरूपका ऐसा तेज फैला कि सारा आकाश-मण्डल तेजराशिसे परिपूर्ण हो गया। इसी अवस्थामें धृष्टद्युम्नने तीखी तलवारसे इनका सिर काट डाला।

यहाँ दुर्योधनने इन्हे 'आप' कहकर सबसे पहले इन्हें इसीलिये गिनाया कि जिसमें ये खूब प्रसन्न हो जायँ और मेरे पक्षमें अधिक उत्साहसे युद्ध करें। शिक्षागुरु होनेके नाते आदरके लिये भी सर्वप्रथम 'आप' कहकर इन्हें गिनाना युक्तिसङ्गत ही है।

प्रश्न—भीष्म कौन थे?

उत्तर—भीष्म राजा शान्तनुके पुत्र थे। भागीरथी गङ्गाजीसे इनका जन्म हुआ था। ये 'द्यो' नामक नवम वसुके अवतार थे (महा० शान्ति० ५०।२६)। इनका पहला नाम देवव्रत था। इन्होंने सत्यवतीके साथ अपने पिताका विवाह करानेके लिये सत्यवतीके पालनकर्ता पिताके आज्ञानुसार, पूर्ण युवावस्थामें ही स्वयं जीवनभर कभी विवाह न करनेकी तथा राज्यपदके त्यागकी भीषण प्रतिज्ञा कर ली थी; इसी भीषण प्रतिज्ञाके कारण इनका नाम भीष्म पड़ गया। पिताके सुखके लिये इन्होंने प्रायः मनुष्यमात्रके परम लोभनीय स्त्री-सुख और राज्य-सुखका सर्वथा त्याग कर दिया। इससे परम प्रसन्न होकर इनके पिता शान्तनुने इन्हें यह वरदान दिया कि तुम्हारी इच्छाके बिना मृत्यु भी तुम्हें नहीं मार सकेगी। ये बालब्रह्मचारी, अत्यन्त तेजस्वी, शस्त्र और शास्त्र दोनोंके पूर्ण पारदर्शी और अनुभवी, महान् ज्ञानी और महान् वीर तथा दृढनिश्चयी महापुरुष थे। इनमें शौर्य, वीर्य, त्याग, तितिक्षा, क्षमा, दया, शम, दम, सत्य, अहिंसा, सन्तोष, शान्ति, बल, तेज, न्यायप्रियता, नम्रता, उदारता, लोकप्रियता, स्पष्टवादिता, साहस, ब्रह्मचर्य, विरति, ज्ञान, विज्ञान, मातृ-पितृ-भक्ति और गुरुसेवन आदि प्रायः सभी सद्गुण पूर्णरूपसे विकसित थे। भगवान्‌की भक्तिसे तो इनका जीवन ओतप्रोत था। ये भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले और उनके एकनिष्ठ, पूर्ण-श्रद्धासम्पन्न और परम प्रेमी भक्त थे। महाभारत-युद्धमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई भी वीर नहीं था। इन्होंने दुर्योधनके सामने प्रतिज्ञा की थी कि मैं पाँचों पाण्डवोंको तो कभी नहीं मारूँगा, परन्तु प्रतिदिन दस हजार योद्धाओंको मारता रहूँगा (महा० उद्योग० १५६।२१)। इन्होंने कौरवपक्षमें प्रधान सेनापतिके पदपर रहकर दस दिनोंतक घोर युद्ध किया। तदनन्तर शरशय्यापर पड़े-पड़े सबको महान् ज्ञानका उपदेश देकर उत्तरायण आ जानेके बाद स्वेच्छासे देहत्याग किया।

प्रश्न—कर्ण कौन थे?

उत्तर—कर्ण कुन्तीके पु[illegible]

कुन्तीकी कुमारी अवस्थामें ही इनका जन्म हो गया था। कुन्तीने इन्हें पेटीमें रखकर नदीमें डाल दिया था, परन्तु भाग्यवश इनकी मृत्यु नहीं हुई और बहते-बहते वह पेटी हस्तिनापुर आ गयी। अधिरथ नामक सूत इन्हें अपने घर ले गया और उसकी पत्नी राधाने इनका पालन-पोषण किया और ये उन्हींके पुत्र माने जाने लगे। कवच और कुण्डलरूपी धनके साथ ही इनका जन्म हुआ था, इससे अधिरथने इनका नाम 'वसुषेण' रक्खा था। इन्होंने द्रोणाचार्य और परशुरामजीसे शस्त्रास्त्रविद्या सीखी थी, ये शास्त्र और शस्त्र दोनोंके ही बड़े पण्डित और अनुभवी थे। शस्त्रविद्या और युद्धकलामें ये अर्जुनके समान थे। दुर्योधनने इन्हें अङ्गदेशका राजा बना दिया था। दुर्योधनके साथ इनकी प्रगाढ़ मैत्री थी और ये तन-मनसे सदा उनके हितचिन्तनमें लगे रहते थे। यहाँतक कि माता कुन्ती और भगवान् श्रीकृष्णके समझानेपर भी इन्होंने दुर्योधनको छोड़कर पाण्डव-पक्षमें आना स्वीकार नहीं किया। इनकी दानशीलता अद्वितीय थी, ये सदा सूर्यदेवकी उपासना किया करते थे। उस समय इनसे कोई कुछ भी माँगता, ये सहर्ष दे देते थे। एक दिन देवराज इन्द्रने अर्जुनके हितार्थ ब्राह्मणका वेश धरकर इनके शरीरके साथ लगे हुए नैसर्गिक कवच-कुण्डलोंको माँग लिया। इन्होंने बड़ी ही प्रसन्नताके साथ उसी क्षण कवच-कुण्डल उतार दिये। उसके बदलेमें इन्द्रने इन्हें एक वीरघातिनी अमोघ शक्ति प्रदान की थी, कर्णने युद्धके समय उसीके द्वारा भीमसेनके वीर पुत्र घटोत्कचका वध किया था। द्रोणाचार्यके बाद महाभारत-युद्धमें दो दिनोंतक प्रधान सेनापति रहकर ये अर्जुनके हाथसे मारे गये थे।

प्रश्न—कृपाचार्य कौन थे ?

उत्तर—ये गौतमवंशीय महर्षि शरद्वान्‌के पुत्र हैं। ये धनुर्विद्याके बड़े पारदर्शी और अनुभवी हैं। इनकी बहिनका नाम कृपी था। महाराज शान्तनुने कृपा करके इन्हें पाला था, इसीसे इनका नाम कृप और इनकी बहिनका नाम कृपी हुआ। ये वेद-शास्त्रके ज्ञाता, धर्मात्मा तथा सद्गुणोंसे सम्पन्न सदाचारी पुरुष हैं। द्रोणाचार्यसे पूर्व कौरव-पाण्डवोंको और यादवादिको धनुर्वेदकी शिक्षा दिया करते थे। समस्त कौरववंशके नाश हो जानेपर भी ये जीवित रहे, इन्होंने परीक्षित्‌को अस्त्रविद्या सिखलायी। ये बड़े ही वीर और विपक्षियोंपर विजय प्राप्त करनेमें निपुण हैं। इसीलिये इनके नामके साथ 'समितिञ्जयः' विशेषण लगाया गया है।

प्रश्न—अश्वत्थामा कौन थे ?

उत्तर—अश्वत्थामा आचार्य द्रोणके पुत्र हैं। ये शस्त्रास्त्रविद्यामें अत्यन्त निपुण, युद्धकलामें प्रवीण, बड़े ही शूरवीर महारथी हैं। इन्होंने भी अपने पिता द्रोणाचार्यसे ही युद्ध-विद्या सीखी थी।

प्रश्न—विकर्ण कौन थे ?

उत्तर—धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्रोंमेंसे ही एकका नाम विकर्ण था। ये बड़े धर्मात्मा, वीर और महारथी थे। कौरवोंकी राजसभामें अत्याचारपीड़िता द्रौपदीने जिस समय सब लोगोंसे पूछा कि 'मैं हारी गयी या नहीं', उस समय विदुरको छोड़कर शेष सभी सभासद् चुप हो रहे। एक विकर्ण ही ऐसे थे, जिन्होंने सभामें खड़े होकर बड़ी तीव्र भाषामें न्याय और धर्मके अनुकूल स्पष्ट कहा था कि 'द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर न दिया जाना बड़ा अन्याय है। मैं तो समझता हूँ कि द्रौपदी हमलोगोंके द्वारा जीती नहीं गयी है।' (महा० सभा० ६७। १८—२५)

प्रश्न—सौमदत्ति कौन थे ?

उत्तर—सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवाको 'सौमदत्ति' कहा करते थे। ये शान्तनुके बड़े भाई बाह्लीकके पौत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, युद्धकलामें कुशल और शूरवीर महारथी थे। इन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किये थे। ये महाभारत-युद्धमें सात्यकिके हाथसे मारे गये।

प्रश्न—'तथा' और 'एव'—इन दोनों अव्यय-पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन दोनों अव्ययोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा भी कृपाचार्यके समान ही संग्रामविजयी थे।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सब-के-सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे पूर्व शल्य, बाह्लीक, भगदत्त, कृतवर्मा और जयद्रथादि महारथियोंके नाम नहीं लिये गये हैं, इस श्लोकमें उन सबकी ओर सङ्केत करके दुर्योधन इससे यह भाव दिखला रहे हैं कि अपने पक्षके जिन-जिन शूरवीरोंके नाम मैंने बतलाये हैं, उनके अतिरिक्त और भी बहुत-से योद्धा हैं, जो तलवार, गदा, त्रिशूल आदि हाथमें रक्खे जानेवाले शस्त्रोंसे और बाण, तोमर, शक्ति आदि छोड़े जानेवाले अस्त्रोंसे भलीभाँति सुसज्जित हैं तथा युद्धकलामें बड़े कुशल महारथी हैं। एवं ये सभी ऐसे हैं जो मेरे लिये अपने प्राण न्योछावर करनेको तैयार हैं । इससे आप यह निश्चय समझिये कि ये मरते दमतक मेरी विजयके लिये डटकर युद्ध करेंगे ।

सम्बन्ध—अपने महारथी योद्धाओंकी प्रशंसा करके अब दुर्योधन दोनों सेनाओंकी तुलना करते हुए अपनी सेनाकी पाण्डव-सेनाकी अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी और उत्तम बतलाते हैं—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

प्रश्न—दुर्योधनने अपनी सेनाको भीष्मपितामहके द्वारा रक्षित और अपर्याप्त बतलाकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—इससे दुर्योधनने हेतुसहित अपनी सेनाका महत्त्व सिद्ध किया है । उनका कहना है कि हमारी सेना उपर्युक्त बहुत-से महारथियोंसे परिपूर्ण है और परशुराम-सरीखे युद्धवीरको भी छका देनेवाले, भूमण्डलके अद्वितीय वीर भीष्मपितामहके द्वारा संरक्षित है । तथा संख्यामें भी पाण्डव-सेनाकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है । ऐसी सेनापर विजय प्राप्त करना किसीके लिये सम्भव नहीं है, वह सब प्रकारसे अपर्याप्त—आवश्यकतासे कहीं अधिक शक्तिशालिनी, अतएव सर्वथा अजेय है । महाभारत, उद्योगपर्वके पचपनवें अध्यायमें जहाँ दुर्योधनने धृतराष्ट्रके सामने अपनी सेनाका वर्णन किया है, वहाँ भी प्रायः इन्हीं महारथियोंके नाम लेकर और भीष्मद्वारा संरक्षित बतलाकर उसका महत्त्व प्रकट किया है । और स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

गुणहीनं परेषाञ्च बहु पश्यामि भारत ।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ॥
(महा० उद्योग० ५५ । ६७)

'हे भरतवंशी राजन् ! मैं विपक्षियोंकी सेनाको अधिकांशमें गुणहीन देखता हूँ और अपनी सेनाको बहुत गुणोंसे युक्त और परिणाममें गुणोंका उदय करनेवाली मानता हूँ।' इसलिये मेरी हारका कोई कारण नहीं है । इसी प्रकार भीष्मपर्वमें भी जहाँ दुर्योधनने द्रोणाचार्यके सामने फिरसे अपनी सेनाका वर्णन किया है, वहाँ उपर्युक्त गीताके श्लोकको ज्यों-का-त्यों दोहराया है (महा० भीष्म० ५१ । ६)। और उसके पहले श्लोकमें तो यहाँतक कहा है—

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः ।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ॥
(भीष्म० ५१ । ५)

'आप सब महारथी ऐसे हैं, जो रणमें अकेले ही पाण्डवोंको सेनासमेत मार डालनेमें समर्थ हैं; फिर सब मिलकर उनका संहार कर दें, इसमें तो कहना ही क्या है !

अतएव यहाँ 'अपर्याप्त' शब्दसे दुर्योधनने अपनी सेनाका महत्त्व ही प्रकट किया है। और उपर्युक्त स्थलोंमें यह श्लोक अपने पक्षके योद्धाओंको उत्साहित करनेके लिये ही कहा गया है; ऐसा ही होना उचित और प्रासंगिक भी है।

प्रश्न—पाण्डवसेनाको भीमके द्वारा रक्षित और पर्याप्त बतलाकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—इससे दुर्योधनने उसकी न्यूनता सिद्ध की है। उनका कहना है कि जहाँ हमारी सेनाके संरक्षक भीष्म हैं, वहाँ उनकी सेनाका संरक्षक भीम है, जो शरीरसे बड़ा बलवान् होनेपर भी भीष्मकी तो तुलनामें ही नहीं रक्खा जा सकता। कहाँ रणकला-कुशल, शस्त्र-शास्त्रनिपुण, परम बुद्धिमान् भीष्मपितामह और कहाँ धनुर्विद्यामें अकुशल, मोटी बुद्धिका भीम! इसलिये उसकी सेना पर्याप्त—सीमित शक्तिवाली है, उसपर हम लोग सहज ही विजय प्राप्त कर सकते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार भीष्मद्वारा संरक्षित अपनी सेनाको अजेय बतलाकर, अब दुर्योधन सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये द्रोणाचार्य आदि समस्त महारथियोंसे अनुरोध करते हैं—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सभी निःसन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें ॥ ११ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—पितामह भीष्म अपनी रक्षा करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, यह बात दुर्योधन भी जानते थे। परन्तु भीष्मजीने पहले ही यह कह दिया था कि 'द्रुपदपुत्र शिखण्डी पहले स्त्री था, पीछेसे पुरुष हुआ है; स्त्रीरूपमें जन्म होनेके कारण मैं उसे अब भी स्त्री ही मानता हूँ। स्त्री-जातिपर वीर पुरुष शस्त्रप्रहार नहीं करते, इसलिये वह सामने आ जायगा तो मैं उसपर शस्त्रप्रहार नहीं करूँगा।' इसीलिये सारी सेनाके एकत्र हो जानेपर दुर्योधनने पहले भी सब योद्धाओंसहित दुःशासनको सावधान करते हुए विस्तारपूर्वक यह बात समझायी थी (महा० भीष्म० १५। १४—२०)। यहाँ भी उसी भयकी सम्भावनासे दुर्योधन अपने पक्षके सभी प्रमुख महारथियोंसे अनुरोध कर रहे हैं कि आप लोग जो जिस व्यूहद्वार—मोर्चेपर नियुक्त हैं, सभी अपने-अपने स्थानपर दृढ़ताके साथ डटे रहें और पूरी सावधानी रक्खें जिससे किसी भी व्यूहद्वारसे शिखण्डी अपनी सेनामें प्रविष्ट होकर भीष्मपितामहके पास न पहुँच जाय। सामने आते ही, उसी समय, शिखण्डीको मार भगानेके लिये आप सभी महारथी प्रस्तुत रहें। यदि आप लोग शिखण्डीसे भीष्मको बचा सके तो फिर हमें किसी प्रकारका भय नहीं है। अन्यान्य महारथियोंको पराजित करना तो भीष्मजीके लिये बड़ी आसान बात है।

सम्बन्ध—दुर्योधनके द्वारा अपने पक्षके महारथियोंकी विशेषरूपसे पितामह भीष्मकी प्रशंसा किये जानेका वर्णन सुनाकर अब सञ्जय उसके बादकी घटनाओंका वर्णन करते हैं—

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—भीष्मपितामह कुरुकुलमें बाह्लीकको छोड़कर सबसे बड़े थे, कौरवों और पाण्डवोंसे इनका एक-सा सम्बन्ध था और पितामहके नाते ये दोनोंके ही पूज्य

थे; इसीलिये सञ्जयने इनको कौरवोंमें वृद्ध और पितामह कहा है। अवस्थामें बहुत वृद्ध होनेपर भी तेज, बल, पराक्रम, वीरता और क्षमतामें ये अच्छे-अच्छे वीर युवकोंसे भी बढ़कर थे; इसीसे इन्हें 'प्रतापवान्' बतलाया है। ऐसे पितामह भीष्मने जब द्रोणाचार्यके पास खड़े हुए दुर्योधनको, पाण्डव-सेना देखकर, चकित और चिन्तित देखा; साथ ही यह भी देखा कि वे अपनी चिन्ताको दबाकर योद्धाओंका उत्साह बढ़ानेके लिये अपनी सेनाकी प्रशंसा कर रहे हैं और द्रोणाचार्य आदि सब महारथियोंको मेरी रक्षा करनेके लिये अनुरोध कर रहे हैं; तब पितामहने अपना प्रभाव दिखलाकर उन्हें प्रसन्न करने और प्रधान सेनापतिकी हैसियतसे समस्त सेनामें युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये सिंहके समान दहाड़ मारकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयङ्कर हुआ॥ १३॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—भीष्मपितामहने जब सिंहकी तरह गरजकर और शङ्ख बजाकर युद्धारम्भकी घोषणा कर दी, तब सब ओर उत्साह फैल गया और समस्त सेनामें सब ओरसे विभिन्न सेनानायकोंके शङ्ख और भाँति-भाँतिके युद्धके बाजे एक ही साथ बज उठे। उनके एक ही साथ बजनेसे इतना भयानक शब्द हुआ कि सारा आकाश उस शब्दसे गूँज उठा।

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रने पूछा था कि युद्धके लिये एकत्र होनेके बाद मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया, इसके उत्तरमें सञ्जयने अबतक धृतराष्ट्रके पक्षवालोंकी बात सुनायी; अब पाण्डवोंने क्या किया, उसे पाँच श्लोकोंमें बतलाते हैं—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये॥ १४॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुनका रथ बहुत ही विशाल और उत्तम था। वह सोनेसे मँढ़ा हुआ बड़ा ही तेजोमय, अत्यन्त प्रकाशयुक्त, खूब मजबूत, बहुत बड़ा और परम सुन्दर था। उसपर अनेकों पताकाएँ फहरा रही थीं, पताकाओंमें घुँघुरू लगे थे। बड़े ही दृढ़ और विशाल पहिये थे। ऊँची ध्वजा बिजली-सी चमक रही थी, उसमें चन्द्रमा और तारोंके चिह्न थे; और उसपर श्रीहनुमान्‌जी विराजमान थे। ध्वजाके सम्बन्धमें सञ्जयने दुर्योधनको बतलाया था कि 'वह तिरछे और ऊपर सब ओर एक योजनतक फहराया करती है। जैसे आकाशमें इन्द्रधनुष अनेकों प्रकाशयुक्त विचित्र रंगोंका दीखता है, वैसे ही उस ध्वजामें रंग दीख पड़ते हैं। इतनी विशाल और फैली हुई होनेपर भी न तो उसमें बोझ है और न वह कहीं रुकती या अटकती ही है। वृक्षोंके झुंडोंमें वह निर्बाध चली जाती है, वृक्ष उसे छू नहीं पाते।' चार बड़े सुन्दर, सुसज्जित, सुशिक्षित, बलवान् और तेजीसे चलनेवाले सफेद दिव्य घोड़े उस रथमें जुते हुए थे। ये चित्ररथ गन्धर्वके दिये हुए सौ दिव्य घोड़ोंमेंसे थे। इनमेंसे कितने भी क्यों न मारे जायँ, ये संख्यामें सौ-के-सौ बने रहते थे। कम न होते थे। और ये पृथ्वी, स्वर्ग आदि सब स्थानोंमें जा सकते थे। यही बात रथके लिये भी थी (महा० उद्योग० ५६)। खाण्डव-वन-दाहके समय अग्निदेवने प्रसन्न होकर यह रथ अर्जुनको दिया था (महा० आदि० २२५)। ऐसे महान् रथपर विराजित भगवान् श्री-

कृष्ण और वीरवर अर्जुनने जब भीष्मपितामहसहित कौरव-सेनाके द्वारा बजाये हुए शङ्खों और अन्यान्य रणवाद्योंकी ध्वनि सुनी, तब इन्होंने भी युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये अपने-अपने शङ्ख बजाये। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके ये शङ्ख साधारण नहीं थे; अत्यन्त विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक थे। इसीसे इनको दिव्य बतलाया गया है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्तनामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया॥ १५॥

प्रश्न—भगवान्‌के 'हृषीकेश' नामका क्या भाव है? और उनको 'पाञ्चजन्य' शंख किससे मिला था?

उत्तर—'हृषीक' इन्द्रियोंका नाम है, उनके स्वामीको 'हृषीकेश' कहते हैं;* तथा हर्ष, सुख और सुखमय ऐश्वर्यके निधानको 'हृषीकेश' कहते हैं।† भगवान् इन्द्रियोंके अधीश्वर भी हैं और हर्ष, सुख और परमैश्वर्यके निधान भी, इसीलिये उनका एक नाम 'हृषीकेश' है। पञ्चजननामक शंखरूपधारी एक दैत्यको मारकर भगवान्‌ने उसे शंखरूपसे स्वीकार किया था। इससे उस शंखका नाम 'पाञ्चजन्य' हो गया (हरिवंश २। ३३। १७)।

प्रश्न—अर्जुनका 'धनञ्जय' नाम क्यों पड़ा और उन्हें 'देवदत्त' शंख कहाँसे प्राप्त हुआ?

उत्तर—राजसूययज्ञके समय अर्जुन बहुत-से राजाओंको जीतकर अपार धन लाये थे, इस कारण उनका एक नाम 'धनञ्जय' हो गया और 'देवदत्त' नामक शंख इनको, निवातकवचादि दैत्योंके साथ युद्ध करनेके समय, इन्द्रने दिया था; (महा० वन० १७४। ५)। इस शंखका शब्द इतना भयङ्कर होता था कि उसे सुनकर शत्रुओंकी-सेना दहल जाती थी।

प्रश्न—भीमसेनके 'भीमकर्मा' और 'वृकोदर' नाम कैसे पड़े एवं उनके पौण्ड्रनामक शंखको महाशंख क्यों बतलाया गया?

उत्तर—भीमसेन बड़े भारी बलवान् थे, उनके कर्म ऐसे भयानक होते थे कि देखने-सुननेवाले लोगोंके मनोंमें अत्यन्त भय उत्पन्न हो जाता था; इसलिये ये 'भीमकर्मा' कहलाने लगे। इनके भोजनका परिमाण बहुत अधिक होता था और उसे पचानेकी भी इनमें बड़ी शक्ति थी, इसलिये इन्हें 'वृकोदर' कहते थे। इनका शंख बहुत बड़े आकारका था और उससे बड़ा भारी शब्द होता था, इसलिये उसे 'महाशंख' कहा गया है।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक-नामक शङ्ख बजाये॥ १६॥

प्रश्न—युधिष्ठिरको 'कुन्तीपुत्र' और 'राजा' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—महाराज पाण्डुके पाँच पुत्रोंमें युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो कुन्तीसे उत्पन्न हुए थे और

* हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो यतो भवान्। हृषीकेशस्ततो विष्णो ख्यातो देवेषु केशव॥ (हरिवंश २७९। ४६)
विष्णो! हृषीक इन्द्रियोंको कहते हैं। आप उनके ईश (स्वामी) हैं, अतः केशव! आप देवताओंमें 'हृषीकेश' नामसे विख्यात हैं।

† हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्यात् हृषीकेशत्वमश्नुते। (महा० उद्योग० ७०। ९)
हर्ष (हृषी), सुख (क), सुखमय ऐश्वर्य (ईश) के कारण श्रीकृष्ण हृषीकेश पदवीको प्राप्त हुए हैं।

नकुल तथा सहदेव माद्रीसे । इस श्लोकमें नकुल और सहदेवके भी नाम आये हैं; युधिष्ठिर और नकुल-सहदेवकी माताएँ भिन्न-भिन्न थीं, इसी बातको जनानेके लिये युधिष्ठिरको 'कुन्तीपुत्र' कहा गया है। तथा इस समय राज्यभ्रष्ट होनेपर भी युधिष्ठिरने पहले राजसूययज्ञमें सब राजाओंपर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती साम्राज्यकी स्थापना की थी, सञ्जयको विश्वास है कि आगे चलकर वे ही राजा होंगे और इस समय भी उनके शरीरमें समस्त राजचिह्न वर्तमान हैं; इसलिये उनको 'राजा' कहा गया है।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन्! सब ओरसे अलग-अलग शङ्ख बजाये॥ १७-१८॥

प्रश्न—काशिराज, धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, द्रुपद तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्युका तो परिचय पहले प्रासङ्गिक रूपमें मिल चुका है। शिखण्डी कौन थे और इनकी उत्पत्ति कैसे हुई थी?

उत्तर—शिखण्डी और धृष्टद्युम्न दोनों ही राजा द्रुपदके पुत्र थे। शिखण्डी बड़े थे, धृष्टद्युम्न छोटे। पहले जब राजा द्रुपदके कोई सन्तान नहीं थी, तब उन्होंने सन्तानके लिये आशुतोष भगवान् शङ्करकी उपासना की थी। भगवान् शिवजीके प्रसन्न होनेपर राजाने उनसे सन्तानकी याचना की, तब शिवजीने कहा—'तुम्हें एक कन्या प्राप्त होगी।' राजा द्रुपद बोले—'भगवन्! मैं कन्या नहीं चाहता, मुझे तो पुत्र चाहिये।' इसपर शिवजीने कहा—'वह कन्या ही आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो जायगी।' इस वरदानके फलस्वरूप राजा द्रुपदके घर कन्या उत्पन्न हुई। राजाको भगवान् शिवके वचनोंपर पूरा विश्वास था, इसलिये उन्होंने उसे पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध किया। रानीने भी कन्याको सबसे छिपाकर असली बात किसीपर प्रकट नहीं होने दी। उस कन्याका नाम भी मर्दोंका-सा 'शिखण्डी' रक्खा और उसे राजकुमारोंकी-सी पोशाक पहनाकर यथाक्रम विधिपूर्वक विद्याध्ययन कराया। समयपर दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्यासे उसका विवाह भी हो गया। हिरण्यवर्माकी कन्या जब ससुरालमें आयी तब उसे पता चला कि शिखण्डी पुरुष नहीं है, स्त्री है; तब वह बहुत दुःखित हुई और उसने सारा हाल अपनी दासियोंद्वारा अपने पिता राजा हिरण्यवर्माको कहला भेजा। राजा हिरण्यवर्माको द्रुपदपर बड़ा ही क्रोध आया और उसने द्रुपदपर आक्रमण करके उन्हें मारनेका निश्चय कर लिया। इस संवादको पाकर राजा द्रुपद युद्धसे बचनेके लिये देवाराधन करने लगे। इधर पुरुषवेषधारी उस कन्याको अपने कारण पितापर इतनी भयानक विपत्ति आयी देखकर बड़ा दुःख हुआ और वह प्राण-त्यागका निश्चय करके चुपचाप घरसे निकल गयी। वनमें उसकी स्थूणाकर्ण-नामक एक ऐश्वर्यवान् यक्षसे भेंट हुई। यक्षने दया करके कुछ दिनोंके लिये उसे अपना पुरुषत्व देकर बदलेमें उसका स्त्रीत्व ले लिया। इस प्रकार शिखण्डी स्त्रीसे पुरुष हो गया और अपने घरपर आकर माता-पिताको आश्वासन दिया और श्वशुर हिरण्यवर्माको अपने पुरुषत्वकी परीक्षा देकर उन्हें शान्त कर दिया। पीछेसे कुबेरके शापसे स्थूणाकर्ण जीवनभर स्त्री रह गये, इससे शिखण्डीको पुरुषत्व लौटाना नहीं पड़ा और

वे पुरुष बने रहे । भीष्मपितामहको यह इतिहास मालूम था, इसीसे वे उनपर शस्त्र-प्रहार नहीं करते थे। ये शिखण्डी भी बड़े शूरवीर, महारथी योद्धा थे। इन्हींको आगे करके अर्जुनने पितामह भीष्मको मारा था।

प्रश्न—इन सभीने अलग-अलग शङ्ख बजाये, इस कथनमें भी कोई खास बात है?

उत्तर—'सर्वशः' शब्दके द्वारा सञ्जय यह दिखलाते हैं कि श्रीकृष्ण, पाँचों पाण्डव और काशिराज आदि प्रधान योद्धाओंके—जिनके नाम लिये गये हैं—अतिरिक्त पाण्डवसेनामें जितने भी रथी, महारथी और अतिरथी वीर थे, सभीने अपने-अपने शङ्ख बजाये। यही खास बात है।

सम्बन्ध—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके पश्चात् पाण्डवसेनाके अन्यान्य शूरवीरोंद्वारा सब ओर शङ्ख बजाये जानेकी बात कहकर अब उस शङ्खध्वनिका क्या परिणाम हुआ? उसे सञ्जय बतलाते हैं—

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके यानी आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—पाण्डवसेनामें जब समस्त वीरोंके शङ्ख एक ही साथ बजे, तब उनकी ध्वनि इतनी विशाल, गहरी, ऊँची और भयानक हुई कि समस्त आकाश तथा पृथ्वी उससे व्याप्त हो गयी। इस प्रकार सब ओर उस घोर ध्वनिके फैलनेसे सर्वत्र उसकी प्रतिध्वनि उत्पन्न हो गयी, जिससे पृथ्वी और आकाश गूँजने लगे। उस ध्वनिको सुनते ही दुर्योधनादि धृतराष्ट्रपुत्रोंके और उनके पक्षवाले अन्य योद्धाओंके हृदयोंमें महान् भय उत्पन्न हो गया, उनके कलेजे इस प्रकार पीडित हो गये मानो उनको चीर डाला गया हो।

सम्बन्ध—पाण्डवोंकी शङ्खध्वनिसे कौरव-वीरोंके व्यथित होनेका वर्णन करके, अब चार श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति कहे हुए अर्जुनके उत्साहपूर्ण वचनोंका वर्णन किया जाता है—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये ॥ २०-२१ ॥

प्रश्न—अर्जुनको कपिध्वज क्यों कहा गया?

उत्तर—महावीर हनुमान्‌जी भीमसेनको वचन दे चुके थे (महा० वन० १५१।१७,१८), इसलिये वे अर्जुनके रथकी विशाल ध्वजापर विराजित रहते थे और युद्धमें समय-समयपर बड़े जोरसे गरजा करते थे (महा० भीष्म० ५२।१८)। यही बात धृतराष्ट्रको याद दिलानेके लिये सञ्जयने अर्जुनके लिये 'कपिध्वज' विशेषणका प्रयोग किया है।

प्रश्न—अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठा लिया, इस कथनका स्पष्टीकरण कीजिये ?

उत्तर—अर्जुनने जब यह देखा कि दुर्योधन आदि सब भाई कौरव-पक्षके समस्त योद्धाओंसहित युद्धके लिये सज-धजकर खड़े हैं और शस्त्रप्रहारके लिये बिल्कुल तैयार हैं, तब अर्जुनके मनमें भी वीर-रस जग उठा तथा इन्होंने भी तुरंत अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया ।

प्रश्न—सञ्जयने यहाँ भगवान्‌को पुनः हृषीकेश क्यों कहा ?

उत्तर—भगवान्‌को हृषीकेश कहकर सञ्जय महाराज धृतराष्ट्रको यह सूचित कर रहे हैं कि इन्द्रियोंके स्वामी साक्षात् परमेश्वर श्रीकृष्ण जिन अर्जुनके रथपर सारथीका काम कर रहे हैं, उनसे युद्ध करके आप लोग विजयकी आशा करते हैं—यह कितना बड़ा अज्ञान है !

प्रश्न—अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये अनुरोध करते समय अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको 'अच्युत' नामसे सम्बोधन किया, इसका क्या हेतु है ?

उत्तर—जिसका किसी समय भी पराभव या पतन न हो अथवा जो अपने स्वरूप, शक्ति और महत्त्वसे सर्वथा तथा सर्वदा अस्खलित रहे—उसे 'अच्युत' कहते हैं । अर्जुन इस नामसे सम्बोधित करके भगवान्‌की महत्ताके और उनके स्वरूपके सम्बन्धमें अपने ज्ञानको प्रकट करते हैं । वे कहते हैं कि आप रथ हाँक रहे हैं तो क्या हुआ, वस्तुतः आप सदा-सर्वदा साक्षात् परमेश्वर ही हैं ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये ॥२२॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कह रहे हैं कि आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर ऐसे उपयुक्त स्थानपर और इतने समयतक खड़ा रखिये, जहाँसे और जितने समयमें मैं युद्धके लिये सज-धजकर खड़े हुए समस्त योद्धाओंको भलीभाँति देख सकूँ । ऐसा करके मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस रणोद्यममें—युद्धके विकट प्रसङ्गमें स्वयं मुझको किन-किन वीरोंके साथ लड़ना होगा ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा ॥ २३ ॥

प्रश्न—दुर्योधनको अर्जुनने दुर्बुद्धि क्यों बतलाया ?

उत्तर—वनवास तथा अज्ञातवासके तेरह वर्ष पूरे होनेपर पाण्डवोंको उनका राज्य लौटा देनेकी बात निश्चित हो चुकी थी और तबतक वह कौरवोंके हाथमें धरोहरके रूपमें था, परन्तु उसे अन्यायपूर्वक हड़प जानेकी नीयतसे दुर्योधन इससे सर्वथा इन्कार कर गये । दुर्योधनने पाण्डवोंके साथ अबतक और तो अनेकों अन्याय तथा अत्याचार किये ही थे, परन्तु इस बार उनका यह अन्याय तो असह्य ही हो गया । दुर्योधनकी इसी पापबुद्धिका स्मरण करके अर्जुन उन्हें दुर्बुद्धि बतला रहे हैं ।

प्रश्न—दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो ये राजा इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा, अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनका इसमें यह भाव प्रतीत होता है कि पापबुद्धि दुर्योधनका अन्याय और अत्याचार

जगत्‌में प्रत्यक्ष प्रकट है, तो भी उसका हित करनेकी इच्छासे उसकी सहायता करनेके लिये ये राजालोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं; इससे मालूम होता है कि इनकी भी बुद्धि दुर्योधनकी बुद्धिके समान ही दुष्ट हो गयी है। तभी तो ये सब अन्यायका खुला समर्थन करनेके लिये आकर जुटे हैं और अपनी शान दिखाकर उसकी पीठ ठोक रहे हैं। तथा इस प्रकार उसका हित करने जाकर वास्तवमें उसका अहित कर रहे हैं। अपनेको बड़ा बलवान् मानकर और युद्धके लिये उत्सुक होकर खड़े हुए इन सबको मैं जरा देखूँ तो सही कि ये कौन-कौन हैं? और फिर युद्धस्थलमें भी देखूँ कि ये कितने बड़े वीर हैं और इन्हें अन्याय तथा अधर्मका पक्ष लेनेका मजा चखाऊँ!

सम्बन्ध—अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर भगवान्‌ने क्या किया? अब दो श्लोकोंमें सञ्जय उसका वर्णन **करते हैं—**

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥ २५॥

सञ्जय बोले—हे धृतराष्ट्र! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओं-के बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि हे पार्थ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख॥ २४-२५॥

प्रश्न—'गुडाकेश' का क्या अर्थ है और सञ्जयने अर्जुनको यहाँ गुडाकेश क्यों कहा?

उत्तर—'गुडाका' निद्राको कहते हैं; जो नींदको जीतकर उसपर अपना अधिकार कर ले, उसे 'गुडाकेश' कहते हैं। अर्जुनने निद्रा जीत ली थी, वे बिना सोये रह सकते थे। नींद उन्हें सताती नहीं थी, आलस्यके वश तो वे कभी होते ही न थे। सञ्जय 'गुडाकेश' कहकर यह सूचित कर रहे हैं कि जो अर्जुन सदा इतने सावधान और सजग हैं, उन्हें आपके पुत्र कैसे जीत सकेंगे?

प्रश्न—युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख, भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने जो यह कहा था कि जबतक मैं सबको देख न लूँ तबतक रथ वहीं खड़ा रखियेगा, उसके अनुसार मैंने सबके बीचमें ऐसी जगह रथको लाकर खड़ा कर दिया है जहाँसे तुम सबको भलीभाँति देख सको। रथ स्थिरभावसे खड़ा है, अब तुम जितनी देरतक चाहो सबको भलीभाँति देख लो।

यहाँ 'कुरून् पश्य' अर्थात् 'कौरवोंको देखो' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय स्वजन ही हैं। उनको तुम अच्छी तरह देख लो।' भगवान्‌के इसी सङ्केतने अर्जुनके अन्तः-करणमें छिपे हुए कुटुम्बस्नेहको प्रकट कर दिया। अर्जुनके मनमें बन्धुस्नेहसे उत्पन्न करुणाजनित कायरता प्रकट करनेके लिये ये शब्द मानो बीजरूप हो गये। मालूम होता है कि अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिससे उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और उसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे त्रिलोकपावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निकली, जो अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी।

सम्बन्ध—भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा सुनकर अर्जुनने क्या किया? अब उसे बतलाते हैं—

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६ ॥ २७ वेंका पूर्वार्ध ॥

प्रश्न—इस डेढ़ श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—भगवान्‌की आज्ञा पाकर अर्जुनने दोनों ही सेनाओंमें स्थित अपने समस्त स्वजनोंको देखा । उनमें भूरिश्रवा आदि पिताके भाई, पितातुल्य पुरुष थे । भीष्म, सोमदत्त और बाह्लीक आदि पितामह-प्रपितामह थे । द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरु थे पुरुजित, कुन्तिभोज और शल्य आदि मामा थे । अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, घटोत्कच, लक्ष्मण आदि अपने और भाइयोंके पुत्र थे । लक्ष्मण आदिके पुत्र थे, जो सम्बन्धमें अर्जुनके पौत्र लगते थे । साथ खेले हुए बहुत-से मित्र और सखा थे । द्रुपद, शैव्य आदि ससुर थे । और बिना ही किसी हेतुके उसका कल्याण चाहनेवाले बहुत-से सुहृद् थे ।

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको देखनेके बाद अर्जुनने क्या किया ? अब उसे बतलाते हैं—

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७ वेंका उत्तरार्ध और २८ वेंका पूर्वार्ध ॥

प्रश्न—'उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं'से किनका लक्ष्य है ?

उत्तर—पूर्वके डेढ़ श्लोकमें अर्जुन अपने 'पिता-पितामहादि बहुत-से पुरुषोंकी बात कह चुके हैं; उनके सिवा जिनका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं बता आये हैं, ऐसे धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदि साले तथा जयद्रथ आदि बहनोई और अन्यान्य जो अनेकों प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त स्वजन दोनों ओरकी सेनामें हैं— उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं'से सञ्जय उन सभीका लक्ष्य कराते हैं।

प्रश्न—अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त हो गया, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—अर्जुनने जब चारों ओर अपने उपर्युक्त स्वजन-समुदायको देखा और यह सोचा कि इस युद्धमें इन सबका संहार हो जायगा, तब बन्धुस्नेहके कारण उनका हृदय काँप उठा और उसमें युद्धके विपरीत एक प्रकारकी करुणाजनित कायरताका भाव प्रबल रूपसे जागृत हो गया । यही 'अत्यन्त करुणा' है जिसको सञ्जयने 'परया कृपया' कहा है और इस कायरताके आवेशसे अर्जुन अपने क्षत्रियोचित वीर स्वभावको भूलकर अत्यन्त मोहित हो गये, यही उनका उस 'करुणासे युक्त हो जाना है ।'

प्रश्न—'इदम्' पदसे अर्जुनके कौन-से वचन समझने चाहिये ?

उत्तर—'इदम्' पदका प्रयोग अगले श्लोकसे लेकर छियालीसवें श्लोकतक अर्जुनने जो-जो बातें कही हैं, उन सभीके लिये किया गया है ।

सम्बन्ध—बन्धुस्नेहके कारण अर्जुनकी कैसी स्थिति हुई, अब ढाई श्लोकोंमें अर्जुन स्वयं उसका वर्णन करते हैं—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८ वेंका उत्तरार्ध और २९ ॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनका यह भाव है कि इस महायुद्धका महान् भयङ्कर परिणाम होगा । ये सारे छोटे और बड़े सगे-सम्बन्धी तथा आत्मीय-स्वजन, जो इस समय मेरी आँखोंके सामने हैं, मौतके मुँहमें चले जायँगे। इस बातको सोचकर मुझे इतनी मार्मिक पीड़ा हो रही है, मेरे हृदयमें इतना भयङ्कर दाह और भय उत्पन्न हो गया है कि जिसके कारण मेरे शरीरकी ऐसी दुरवस्था हो रही है ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है । तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—करुणाजनित कायरतासे अर्जुनकी बड़ी शोचनीय स्थिति हो गयी है, उसीका वर्णन करते हुए वे कह रहे हैं कि 'मेरे सारे अङ्ग अत्यन्त शिथिल हो गये हैं, हाथ ऐसे शक्तिशून्य हो रहे हैं कि उनसे गाण्डीव धनुषको चढ़ाकर बाण चलाना तो दूर रहा, मैं उसको पकड़े भी नहीं रह सकता, वह हाथसे छूटा जा रहा है । युद्धके भावी परिणामकी चिन्ताने मेरे मनमें इतनी जलन पैदा कर दी है कि उसके कारण मेरी चमड़ी भी जल रही है और भीषण मानसिक पीड़ाके कारण मेरा मन किसी बातपर क्षण-भर भी स्थिर नहीं हो रहा है । तथा इसके परिणाम-स्वरूप मेरा मस्तिष्क भी घूमने लगा है, ऐसा मालूम होता है कि मैं अभी-अभी मूर्च्छित होकर गिर पड़ूँगा ।'

प्रश्न—अर्जुनका गाण्डीवधनुष कैसा था ? और वह उसे कैसे मिला था ?

उत्तर—अर्जुनका गाण्डीव धनुष दिव्य था । उसका आकार तालके समान था (महा० उद्योग० १६१) । गाण्डीवका परिचय देते हुए बृहन्नलाके रूपमें स्वयं अर्जुनने उत्तरकुमारसे कहा था—'यह अर्जुनका जगत्प्रसिद्ध धनुष है । यह स्वर्णसे मँढ़ा हुआ, सब शस्त्रोंमें उत्तम और लाख आयुधोंके समान शक्तिमान् है । इसी धनुषसे अर्जुनने देवता और मनुष्योंपर विजय प्राप्त की है । इस विचित्र, रंग-बिरंगे, अद्भुत, कोमल और विशाल धनुषका देवता, दानव और गन्धर्वोंने दीर्घकालतक आराधन किया है, इस परम दिव्य धनुषको ब्रह्माजीने एक हजार वर्ष, प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्ष, इन्द्रने पचासी वर्ष, चन्द्रमाने पाँच सौ वर्ष और वरुणदेवने सौ वर्षतक रक्खा था ।' (महा० विराट० ४३) यह अर्जुनको खाण्डववन जलानेके समय अग्निदेवने वरुणसे दिलाया था (महा० आदि० २२५) ।

सम्बन्ध—अपनी विषादयुक्त स्थितिका वर्णन करके अब अर्जुन अपने विचारोंके अनुसार युद्धका अनौचित्य सिद्ध करते हैं—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ। तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

प्रश्न—मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—किसी भी क्रियाके भावी परिणामकी सूचना देनेवाले शकुनादि चिह्नोंको लक्षण कहा जाता है, श्लोकमें 'निमित्तानि' पद इन्हीं लक्षणोंके लिये आया है । अर्जुन लक्षणोंको विपरीत बतलाकर यह भाव दिखला रहे हैं कि असमयमें ग्रहण होना, धरतीका काँप उठना और आकाशसे नक्षत्रोंका गिरना आदि बुरे शकुनोंसे भी यही प्रतीत होता है कि इस युद्धका परिणाम अच्छा नहीं होगा । इसलिये मेरी समझसे युद्ध न करना ही श्रेयस्कर है ।

प्रश्न—युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनके कथनका भाव यह है कि युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंके मारनेसे किसी प्रकारका भी हित होनेकी सम्भावना नहीं है; क्योंकि प्रथम तो आत्मीय स्वजनोंके मारनेसे चित्तमें पश्चात्तापजनित क्षोभ होगा, दूसरे उनके अभावमें जीवन दुःखमय हो जायगा और तीसरे उनके मारनेसे महान् पाप होगा । इन दृष्टियोंसे न इस लोकमें हित होगा और न परलोकमें ही । अतएव मेरे विचारसे युद्ध करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है ।

सम्बन्ध—अर्जुनने यह कहा कि स्वजनोंको मारनेसे किसी प्रकारका भी हित होनेकी सम्भावना नहीं है; अब फिर वे उसीकी पुष्टि करते हैं—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है ? ॥ ३२ ॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—अर्जुन अपने चित्तकी स्थितिका चित्र खींचते हुए कहते हैं कि हे कृष्ण ! इन आत्मीय स्वजनोंको मारनेपर जो विजय, राज्य और सुख मिलेंगे, मैं उन्हें जरा भी नहीं चाहता । मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इनके मारनेपर हमें इस लोक और परलोकमें संताप ही होगा, फिर किसलिये युद्ध किया जाय और इन्हें मारा जाय ? क्या होगा ऐसे राज्य और भोगोंसे ! मेरी समझसे तो इन्हें मारकर जीनेमें भी कोई लाभ नहीं है ।

सम्बन्ध—अब अर्जुन स्वजनवधसे मिलनेवाले राज्य-भोगादिको न चाहनेका कारण दिखलाते हैं—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुन यह कह रहे हैं कि मुझको अपने लिये तो राज्य, भोग और सुखादिकी आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि न तो इनमें स्थायी आनन्द ही है और न ये स्वयं ही नित्य हैं। मैं तो इन भाई-बन्धु आदि स्वजनोंके लिये ही राज्यादिकी इच्छा करता था, परन्तु मैं देखता हूँ कि ये सब युद्धमें प्राण देनेके लिये तैयार खड़े हैं। यदि इन सबकी मृत्यु हो गयी तो फिर राज्य, भोग और सुख आदि किस काम आवेंगे ? इसलिये किसी प्रकार भी युद्ध करना उचित नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार युद्धका अनौचित्य दिखलाकर अब अर्जुन युद्धमें मरनेके लिये तैयार होकर आये हुए स्वजन-समुदायमें कौन-कौन हैं, उनका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥ ३४ ॥

प्रश्न—अर्जुन इन सम्बन्धियोंके नाम लेकर क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर—आचार्य, ताऊ, चाचे आदि सम्बन्धियोंकी बात तो संक्षेपमें पहले कही जा चुकी है। यहाँ 'श्यालाः' शब्दसे धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदिका तथा 'सम्बन्धिनः' से जयद्रथादिका स्मरण कराकर वे यह कहना चाहते हैं कि संसारमें मनुष्य अपने प्यारे सम्बन्धियोंके ही लिये तो भोगोंका संग्रह किया करता है; जब ये ही सब मारे जायँगे, तब राज्य-भोगोंकी प्राप्तिसे होगा ही क्या ? ऐसे राज्य-भोग तो दुःखके ही कारण होंगे।

सम्बन्ध—सेनामें उपस्थित शूरवीरोंके साथ अपना सम्बन्ध बतलाकर अब अर्जुन किसी भी हेतुसे इन्हें मारनेमें अपनी अनिच्छा प्रकट करते हैं—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

प्रश्न—अर्जुनने यह क्योंकर कहा कि मुझे मारनेपर भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता; क्योंकि दोनों सेनाओं-में स्थित सम्बन्धियोंमेंसे जो अर्जुनके पक्षके थे, उनके द्वारा तो अर्जुनके मारे जानेकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती ?

उत्तर—इसीलिये अर्जुनने 'घ्नतः' और 'अपि' शब्दोंका प्रयोग किया है। उनका यह भाव है कि मेरे पक्षवालोंकी तो कोई बात ही नहीं है; परन्तु जो विपक्षमें स्थित सम्बन्धी हैं, वे भी जब मैं युद्धसे निवृत्त हो जाऊँगा, तब सम्भवतः मुझे मारनेकी इच्छा नहीं करेंगे। क्योंकि वे सब राज्यके लोभसे ही युद्ध करनेको तैयार हुए हैं; जब हमलोग युद्धसे निवृत्त होकर राज्यकी आकाङ्क्षा ही छोड़ देंगे तब तो मारनेका कोई कारण ही नहीं रह जायगा। परन्तु कदाचित् इतनेपर भी उनमेंसे कोई मारना चाहेंगे तो उन मुझे मारनेकी चेष्टा करनेवालोंको भी मैं नहीं मारूँगा।

प्रश्न—तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी नहीं, फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ! इस कथनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि

पृथ्वीके राज्य और सुखोंकी तो बात ही कौन-सी है, इनको मारनेपर कहीं त्रिलोकीका निष्कण्टक राज्य मिलता हो तो उसके लिये भी मैं इन आचार्यादि आत्मीय स्वजनोंको नहीं मारना चाहता।

सम्बन्ध—यहाँ यदि यह पूछा जाय कि आप त्रिलोकीके राज्यके लिये भी उनको मारना क्यों नहीं चाहते, तो इसपर अर्जुन अपने सम्बन्धियोंको मारनेमें लाभका अभाव और पापकी सम्भावना बतलाकर अपनी बातको पुष्ट करते हैं—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा॥ ३६॥

प्रश्न—धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुन कहते हैं कि विपक्षमें स्थित इन धृतराष्ट्र-पुत्रोंको और उनके साथियोंको मारनेसे इस लोक और परलोकमें हमारी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं होगी और जब इच्छित वस्तु ही नहीं मिलेगी तब प्रसन्नता तो होगी ही कैसे। अतएव किसी दृष्टिसे भी मैं इनको मारना नहीं चाहता।

प्रश्न—स्मृतिकारोंने तो स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
(मनु० ८। ३५०-५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।'

वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिन॥
(३। १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।'

दुर्योधनादिमें आततायीके उपर्युक्त लक्षण पूरे पाये जाते हैं। लाक्षा-भवनमें आग लगाकर उन्होंने पाण्डवोंको जलानेकी चेष्टा की थी, भीमसेनके भोजनमें विष मिला दिया था, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार थे ही। जूएमें छल करके पाण्डवोंका समस्त धन और सम्पूर्ण राज्य हर लिया था, अन्यायपूर्वक द्रौपदीको सभामें लाकर उसका घोर अपमान किया था और जयद्रथ उन्हें हरकर ले गया था। इस अवस्थामें अर्जुनने यह कैसे कहा कि इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मृतिकारोंके मतमें आततायियोंका वध करना दोष नहीं माना गया है। और यह भी निर्विवाद सत्य है कि दुर्योधनादि आततायी भी थे। परन्तु किन्हीं स्मृतिकारने एक विशेष बात यह कही है—

'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्।'

'जो अपने कुलका नाश करता है, वह सबसे बढ़कर पापी है।'

इन वाक्योंको सामान्य आज्ञाकी अपेक्षा कहीं बलवान् समझकर यहाँ अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'धृतराष्ट्रके पुत्र आततायी होनेपर भी जब हमारे कुटुम्बी हैं, तब इनको मारनेमें तो हमें पाप ही होगा; और लाभ तो किसी प्रकार भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें मैं इन्हें मारना नहीं चाहता।' अर्जुनने इस अध्यायके अन्ततक इसी बातका स्पष्टीकरण किया है।

सम्बन्ध—स्वजनोंको मारना सब प्रकारसे हानिकारक बतलाकर अब अर्जुन अपना मत प्रकट कर रहे हैं—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं । क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'मेरी जैसी स्थिति हो रही है और युद्ध न करनेके पक्षमें मैंने अबतक जो कुछ कहा है तथा मेरे विचारमें जो बातें आ रही हैं, उन सबसे यही निश्चय होता है कि दुर्योधनादि बन्धुओंको मारना हमारे लिये सर्वथा अनुचित है । कुटुम्बको मारकर हमें इस लोक या परलोकमें किसी तरहका भी कोई सुख मिले, ऐसी जरा भी सम्भावना नहीं है । अतएव मैं युद्ध नहीं करना चाहता ।'

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कुटुम्ब-नाशसे होनेवाला दोष तो दोनोंके लिये समान ही है; फिर यदि इस दोषपर विचार करके दुर्योधनादि युद्धसे नहीं हटते, तब तुम ही इतना विचार क्यों करते हो ? अर्जुन दो श्लोकोंमें इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? ॥ ३८-३९ ॥

प्रश्न—इन दोनों श्लोकोंका स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनके कथनका यह भाव है कि अवश्य ही दुर्योधनादिका यह कार्य अत्यन्त ही अनुचित है, परन्तु उनके लिये ऐसा करना कोई बड़ी बात नहीं है; क्योंकि लोभने उनके अन्तःकरणके विवेकको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है । इसलिये न तो वे यह देख पाते हैं कि कुलके नाशसे कैसे-कैसे अनर्थ और दुष्परिणाम होते हैं और न उन्हें यही सूझ पड़ता है कि दोनों सेनाओंमें एकत्रित बन्धु-बान्धवों और मित्रोंका परस्पर वैर करके एक-दूसरेको मारना कितना भयङ्कर पाप है । पर हमलोग—जो उनकी भाँति लोभसे अन्धे नहीं हो रहे हैं और कुलनाशसे होनेवाले दोषको भलीभाँति जानते हैं—जान-बूझकर घोर पापमें क्यों प्रवृत्त हों ? हमें तो विचार करके इससे हट ही जाना चाहिये ।

सम्बन्ध—कुलके नाशसे कौन-कौन-से दोष उत्पन्न होते हैं, इसपर अर्जुन कहते हैं—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है ॥ ४० ॥

प्रश्न—'सनातन कुलधर्म' किन धर्मोंको कहते हैं—और कुलके नाशसे उन धर्मोंका नाश कैसे हो जाता है ?

उत्तर—अपने-अपने कुलमें परम्परासे चली आती हुई जो शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ हैं, जिनसे सदाचार सुरक्षित रहता है और कुलके स्त्री-पुरुषोंमें अधर्मका प्रवेश नहीं हो सकता, उन शुभ और श्रेष्ठ कुल-मर्यादाओंको 'सनातन कुलधर्म' कहते हैं। कुलके नाशसे, जब इन कुल-धर्मोंके जाननेवाले और उनको बनाये रखनेवाले बड़े-बूढ़े लोगोंका अभाव हो जाता है, तब शेष बचे हुए बालकों और स्त्रियोंमें ये धर्म स्वाभाविक ही नहीं रह सकते।

प्रश्न—धर्मका नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का। इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके लिये ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते। शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बके साथ रहता है। जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज या कुल बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है। यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर सकता, वह मनुष्यको सर्वथा उच्छृङ्खल बना देता है। जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृङ्खलता आ जाती है, उस समाज या कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार जब समस्त कुलमें पाप फैल जाता है तब क्या होता है, अर्जुन अब उसे बतलाते हैं—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—कुल-धर्मके नाश हो जानेसे जब कुलके स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल हो जाते हैं, तब उनकी प्रायः सभी क्रियाएँ अधर्मयुक्त होने लगती हैं; इससे पाप अत्यन्त बढ़कर सारे समाजमें फैल जाता है, सर्वत्र पाप छा जानेसे समाजके स्त्री-पुरुषोंकी दृष्टिमें किसी भी मर्यादाका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता और उनका पालन करना तो दूर रहा, वे उनको जाननेकी भी चेष्टा नहीं करते; और कोई उन्हें बतलाता है तो उसकी दिल्लगी उड़ाते हैं या उससे द्वेष करते हैं। ऐसी अवस्थामें पवित्र सती-धर्मका, जो समाज-धर्मकी रक्षाका आधार है, अभाव हो जाता है। सतीत्वका महत्त्व खोकर पवित्र कुलकी स्त्रियाँ घृणित व्यभिचार-दोषसे दूषित हो जाती हैं। उनका विभिन्न वर्णोंके परपुरुषोंके साथ संयोग होता है। माता और पिताके भिन्न-भिन्न वर्णोंके होनेसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह वर्णसङ्कर होती है। इस प्रकार सहज ही कुलकी परम्परागत पवित्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है।

सम्बन्ध—वर्णसङ्कर सन्तानके उत्पन्न होनेसे क्या-क्या हानियाँ होती हैं, अर्जुन अब उन्हें बतलाते हैं—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२॥

वर्णसङ्कर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२॥

प्रश्न—'कुलघाती' किनको कहा गया है और इस श्लोकमें 'कुलस्य' पदके साथ 'च' अव्ययका प्रयोग करके क्या सूचित किया गया है ?

उत्तर—'कुलघाती' उनको कहा गया है, जो युद्धादिमें अपने कुलका संहार करते हैं और 'कुलस्य' पदके साथ 'च' अव्ययका प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि वर्णसङ्कर सन्तान केवल उन कुलघातियोंको ही नरक पहुँचानेमें कारण नहीं बनती, वह उनके समस्त कुलको भी नरकमें ले जानेवाली होती है।

प्रश्न—'लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त हो जाते हैं' इसका क्या भाव है ?

उत्तर—श्राद्धमें जो पिण्डदान किया जाता है और पितरोंके निमित्त ब्राह्मण-भोजनादि कराया जाता है वह 'पिण्डक्रिया' है और तर्पणमें जो जलाञ्जलि दी जाती है वह 'उदकक्रिया' है; इन दोनोंके समाहारको 'पिण्डोदकक्रिया' कहते हैं। इन्हींका नाम श्राद्ध-तर्पण है। शास्त्र और कुल-मर्यादाको जानने-माननेवाले लोग श्राद्ध-तर्पण किया करते हैं। परन्तु कुलघातियोंके कुलमें धर्मके नष्ट हो जानेसे जो वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं, वे अधर्मसे उत्पन्न और अधर्माभिभूत होनेसे प्रथम तो श्राद्ध-तर्पणादि क्रियाओंको जानते ही नहीं, कोई बतलाता भी है तो श्रद्धा न रहनेसे करते नहीं और यदि कोई करते भी हैं तो शास्त्र-विधिके अनुसार उनका अधिकार न होनेसे वह पितरोंको मिलती नहीं। इस प्रकार जब पितरोंको सन्तानके द्वारा पिण्ड और जल नहीं मिलता तब उनका पतन हो जाता है।

सम्बन्ध—वर्णसङ्करकारक दोषोंसे क्या हानि होती है, अब उसे बतलाते हैं—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३॥

इन वर्णसङ्करकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३॥

प्रश्न—'इन वर्णसङ्करकारक दोषों' से किन दोषोंकी बात कही गयी है ?

उत्तर—उपर्युक्त पदोंसे उन दोषोंकी बात कही गयी है जो वर्णसङ्करकी उत्पत्तिमें कारण हैं। वे दोष हैं—(१) कुलका नाश, (२) कुलके नाशसे कुलधर्मका नाश तथा (३) पापोंकी वृद्धि और (४) पापोंकी वृद्धिसे कुल-स्त्रियोंका व्यभिचारादि दोषोंसे दूषित होना। इन्हीं चार दोषोंसे वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—'सनातन कुलधर्म' और 'जातिधर्म' में क्या अन्तर है तथा उपर्युक्त दोषोंसे इनका नाश कैसे होता है ?

उत्तर—वंशपरम्परागत सदाचारकी मर्यादाओंका नाम 'सनातन कुलधर्म' है। चालीसवें श्लोकमें इनके साथ 'सनातनाः' विशेषण दिया गया है और यहाँ इनके साथ 'शाश्वताः' विशेषणका प्रयोग किया गया है। वेद-शास्त्रोक्त 'वर्णधर्म' का नाम 'जातिधर्म' है। कुलकी श्रेष्ठ मर्यादाओंके जानने और चलानेवाले बड़े-बूढ़ोंका अभाव होनेसे जब 'कुलधर्म' नष्ट हो जाते हैं और वर्णसङ्करताकारक दोष बढ़ जाते हैं, तब 'जातिधर्म' भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि वर्णेतरके संयोगसे उत्पन्न सङ्कर सन्तानमें वर्ण-धर्म नहीं रह सकता। इसी प्रकार वर्णसङ्करकारक दोषोंसे इन धर्मोंका नाश होता है।

सम्बन्ध—'कुल-धर्म' और 'जाति-धर्म' के नाशसे क्या हानि है ? अब इसपर कहते हैं—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुन कहते हैं कि जिनके 'कुल-धर्म' और 'जाति-धर्म' नष्ट हो गये हैं, उन सर्वथा अधर्ममें फँसे हुए लोगोंको पापोंके फलस्वरूप दीर्घकालतक कुम्भीपाक और रौरव आदि नरकोंमें गिरकर भाँति-भाँतिकी भीषण यम-यातनाएँ सहनी पड़ती हैं—ऐसा हमलोग परम्परासे सुनते आये हैं । अतएव कुलनाशकी चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार स्वजन-वधसे होनेवाले महान् अनर्थका वर्णन करके अब अर्जुन युद्धके उद्योगरूप अपने कृत्यपर शोक प्रकट करते हैं—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

हा ! शोक ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥

प्रश्न—हमलोग महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं—इस वाक्यके साथ 'अहो' और 'बत' इन दोनों अव्यय-पदोंका प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अहो' अव्यय यहाँ आश्चर्यका द्योतक है और 'बत' पद महान् शोकका ! इन दोनोंका प्रयोग करके उपर्युक्त वाक्यके द्वारा अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हमलोग जो धर्मात्मा और बुद्धिमान् माने जाते हैं और जिनके लिये ऐसे पापकर्ममें प्रवृत्त होना किसी प्रकार भी उचित नहीं हो सकता, वे भी ऐसे महान् पापका निश्चय कर चुके हैं । यह अत्यन्त ही आश्चर्य और शोककी बात है ।

प्रश्न—जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखाया है कि हमलोगोंका राज्य और सुखके लोभसे इस प्रकार तैयार हो जाना बड़ी भारी गलती है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार पश्चात्ताप करनेके बाद अब अर्जुन अपना निर्णय सुनाते हैं—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये हुए धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन यहाँ कह रहे हैं कि इस प्रकार युद्धकी घोषणा होनेपर भी जब मैं शस्त्रोंका त्याग कर दूँगा और उन लोगोंकी किसी भी क्रियाका

प्रतिकार नहीं करूँगा, तब सम्भवतः वे भी युद्ध नहीं करेंगे और इस तरह समस्त आत्मीय जनोंकी रक्षा हो जायगी। परन्तु यदि कदाचित् वे ऐसा न करके मुझे शस्त्रहीन और युद्धसे निवृत्त जानकर मार भी डालें तो वह मृत्यु भी मेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारक होगी। क्योंकि इससे एक तो मैं कुलघातरूप भयानक पापसे बच जाऊँगा; दूसरे, अपने सगे-सम्बन्धी और आत्मीय जनोंकी रक्षा हो जायगी; और तीसरे, कुलरक्षाजनित महान् पुण्यकर्मसे परमपदकी प्राप्ति भी मेरे लिये आसान हो जायगी।

अर्जुन अपने प्रतिकाररहित उपर्युक्त प्रकारके मरणसे कुलकी रक्षा और अपना कल्याण निश्चित मानते हैं। इसीलिये उन्होंने वैसे मरणको अत्यन्त कल्याणकारक (क्षेमतरम्) बतलाया है।

सम्बन्ध—भगवान् श्रीकृष्णसे इतनी बात कहनेके बाद अर्जुनने क्या किया, इस जिज्ञासापर अर्जुनकी स्थिति बतलाते हुए सञ्जय कहते हैं—

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

सञ्जय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया॥ ४७॥

प्रश्न—इस श्लोकमें सञ्जयके कथनका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ सञ्जय कह रहे हैं कि विषादमग्न अर्जुनने भगवान्से इतनी बातें कहकर बाणसहित गाण्डीव धनुषको उतारकर नीचे रख दिया और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठकर वे नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें डूब गये। उनके मनमें कुलनाश और उससे होनेवाले भयानक पाप और पापफलोंके भीषण चित्र आने लगे। उनके मुखमण्डलपर विषाद छा गया और नेत्र शोकाकुल हो गये।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है। 'ॐ तत्सत्' भगवान्के पवित्र नाम हैं (१७। २३), स्वयं श्रीभगवान्के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अध्यायमें परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे............योगो नाम' कहा गया है।

द्वितीयोऽध्यायः

अध्यायका नाम इस अध्यायमें शरणागत अर्जुनद्वारा अपने शोककी निवृत्तिका ऐकान्तिक उपाय पूछे जानेपर पहले-पहल भगवान्‌ने तीसवें श्लोकतक आत्मतत्त्वका वर्णन किया है। सांख्ययोगके साधनमें आत्मतत्त्वका श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही मुख्य है। यद्यपि इस अध्यायमें तीसवें श्लोकके बाद स्वधर्मका वर्णन करके कर्मयोगका स्वरूप भी समझाया गया है, परन्तु उपदेशका आरम्भ सांख्ययोगसे ही हुआ है और आत्मतत्त्वका वर्णन अन्य अध्यायोंकी अपेक्षा इसमें अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है इस कारण इस अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप इस अध्यायके पहले श्लोकमें सञ्जयने अर्जुनके विषादका वर्णन किया है तथा दूसरे और तीसरेमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मोह और कायरतायुक्त विषादकी निन्दा करते हुए उन्हें युद्धके लिये उत्साहित किया है; चौथे और पाँचवेंमें अर्जुनने भीष्म-द्रोण आदि पूज्य गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भिक्षान्नके द्वारा निर्वाह करना श्रेष्ठ बतलाया है। छठेमें युद्ध करने या न करनेके विषयमें संशय करके तथा सातवेंमें मोह और कायरताके दोषका वर्णन करते हुए भगवान्‌के शरण होकर उनसे कल्याणप्रद उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की है और आठवेंमें त्रिलोकीके निष्कण्टक राज्यको भी शोकनिवृत्तिमें कारण न मानकर वैराग्यका भाव प्रदर्शित किया है। उसके बाद नवें और दसवेंमें सञ्जयने अर्जुनके युद्ध न करनेके लिये कहकर चुप हो रहने और उसपर भगवान्‌के मुस्कराकर बोलनेकी बात कही है। तदनन्तर ग्यारहवेंसे भगवान्‌ने उपदेशका आरम्भ करके बारहवें और तेरहवेंमें आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका निरूपण करते हुए चौदहवेंमें समस्त भोगोंको अनित्य बतलाकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहन करनेके लिये कहा है और पंद्रहवेंमें उस सहनशीलताको मोक्षप्राप्तिमें हेतु बतलाया है। सोलहवेंमें सत् और असत्‌का लक्षण कहकर सतरहवेंमें 'सत्' और अठारहवेंमें असत् वस्तुका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। उन्नीसवेंमें आत्माको मरने या मारनेवाला समझनेवालोंको अज्ञानी बतलाकर बीसवेंमें जन्मादि छः विकारोंसे रहित आत्मस्वरूपका निरूपण करते हुए इक्कीसवेंमें यह सिद्ध किया है कि आत्मतत्त्वका ज्ञाता किसीको भी मारने या मरवानेवाला नहीं बनता। तदनन्तर बाईसवेंमें मनुष्यके कपड़े बदलनेका उदाहरण देते हुए शरीरान्तरप्राप्तिका तत्त्व समझाकर तेईसवेंसे पचीसवेंतक आत्मतत्त्वको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य तथा नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया है। छब्बीसवें और सत्ताईसवेंमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी और अट्ठाईसवेंमें शरीरोंकी अनित्यताके कारण भी शोक करना अनुचित बतलाया है। उन्तीसवेंमें आत्मतत्त्वके द्रष्टा, वक्ता और श्रोताकी दुर्लभताका प्रतिपादन करते हुए तीसवेंमें आत्मतत्त्व सर्वथा अवध्य होनेके कारण किसी भी प्राणीके लिये शोक करनेको अनुचित सिद्ध किया है। इकतीसवेंसे छत्तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धको अर्जुनका स्वधर्म बतलाकर उसका त्याग [illegible] प्रकारसे अनुचित सिद्ध करते हुए सैंतीसवेंमें युद्धको इस लोक और परलोक दोनोंमें लाभप्रद बतलाकर [illegible] युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा दी है। अड़तीसवेंमें समत्वको युद्धादि कर्मोंमें पापसे निर्लिप्त [illegible] बतलाकर उनचालीसवेंमें कर्मबन्धनको काटनेवाली कर्मयोगविषयक बुद्धिका वर्णन करनेकी [illegible] चालीसवेंमें कर्मयोगकी महिमा बतलाकर इकतालीसवेंमें निश्चयात्मिका बुद्धिका और अव्य[illegible]

बुद्धियोंका भेद निरूपण करते हुए बियालीसवेंसे चौवालीसवेंतक स्वर्गपरायण सकाम मनुष्योंके स्वभावका वर्णन किया है। पैंतालीसवेंमें अर्जुनको निष्काम, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, योगक्षेमको न चाहनेवाला और आत्मसंयमी होनेके लिये कहकर छियालीसवेंमें ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणके लिये वेदोक्त कर्मफलरूप सुखभोगको अप्रयोजनीय बतलाकर सैंतालीसवेंमें सूत्ररूपसे कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। अड़तालीसवेंमें योगकी परिभाषा समत्व बतलाकर उनचासवेंमें सम बुद्धिकी अपेक्षा सकाम कर्मोंको अत्यन्त तुच्छ और फल चाहनेवालोंको अत्यन्त दीन बतलाया है। पचासवें और इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लग जानेकी आज्ञा दी है और समभावका फल अनामय पदकी प्राप्ति बतलाया है। उसके बाद बावनवें और तिरपनवेंमें भगवान्‌ने वैराग्यपूर्वक बुद्धिके शुद्ध, स्वच्छ और निश्चल हो जानेपर परमात्माकी प्राप्ति बतलायी है। चौवनवेंमें अर्जुनने स्थिरबुद्धि पुरुषके विषयमें चार प्रश्न किये हैं तथा पचपनवेंमें पहले प्रश्नका, छप्पनवें तथा सत्तावनवेंमें दूसरेका तथा अट्ठावनवेंमें तीसरे प्रश्नका सूत्ररूपसे उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने पचपनवेंसे अट्ठावनवेंतक समस्त कामनाओंका अभाव, बाह्य साधनोंकी अपेक्षा न रखकर अन्तरात्मामें ही सदा सन्तुष्ट रहना, दुःखोंसे उद्विग्न न होना, सुखोंमें स्पृहा न करना, राग, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव, शुभाशुभकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक और राग-द्वेषका न होना तथा समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अपने वशमें रखना आदि, स्थिरबुद्धि पुरुषके लक्षणोंका वर्णन किया है। उनसठवेंमें इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका ग्रहण न करनेसे विषयोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी रागकी निवृत्ति नहीं होती, उसकी निवृत्ति तो परमात्मदर्शनसे होती है—यह बात कहकर, साठवेंमें इन्द्रियोंकी प्रबलताका निरूपण किया है। इकसठवेंमें मन और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक भगवत्परायण होनेके लिये कहकर इन्द्रियविजयी पुरुषकी प्रशंसा की है। बासठवें और तिरसठवेंमें विषयचिन्तनसे पतनका क्रम बतलाकर चौंसठवें और पैंसठवेंमें राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करनेवालेको प्रसादकी प्राप्ति, उससे समस्त दुःखोंका नाश और शीघ्र ही उसकी बुद्धि स्थिर हो जानेकी बात कही है। तदनन्तर छाछठवेंमें अयुक्त पुरुषके लिये श्रेष्ठ बुद्धि, भगवच्चिन्तन, शान्ति और सुखका अभाव दिखलाकर सड़सठवेंमें वायु और नौकाके दृष्टान्तसे मनके संयोगसे इन्द्रियको बुद्धिका हरण करनेवाली बतलाते हुए अड़सठवेंमें यह बात सिद्ध की है कि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, वही वास्तवमें स्थिरबुद्धि है। उसके बाद उनहत्तरवेंमें साधारण मनुष्योंके लिये ब्रह्मानन्दको रात्रिके समान और तत्त्वको जाननेवाले योगीके लिये विषयसुखको रात्रिके समान बतलाकर सत्तरवेंमें समुद्रके दृष्टान्तसे ज्ञानी महापुरुषकी महिमा की गयी है और इकहत्तरवेंमें समस्त कामना, स्पृहा, ममता और अहङ्कारसे रहित होकर विचरनेवाले पुरुषको परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाकर बहत्तरवें श्लोकमें उस ब्राह्मी स्थितिका माहात्म्य वर्णन करते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी
१ ख *वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजनसमुदायको देखकर शोक और मोहके कारण युद्धसे अर्जुनके निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर उस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया; यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर सञ्जय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—*

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

सञ्जय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

प्रश्न—'तम्' पद यहाँ किसका वाचक है एवं उसके साथ 'तथा कृपयाविष्टम्', 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' और 'विषीदन्तम्'—इन तीन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—पहले अध्यायके अन्तमें जिनके शोकमग्न होकर बैठ जानेकी बात कही गयी है, उन अर्जुनका वाचक यहाँ 'तम्' पद है और उसके साथ उपर्युक्त विशेषणोंका प्रयोग करके उनकी स्थितिका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि पहले अध्यायमें जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन हो चुका है, उस बन्धुस्नेहजनित करुणायुक्त कायरताके भावसे जो व्याप्त हैं, जिनके नेत्र आँसुओंसे पूर्ण और व्याकुल हैं तथा जो बन्धु-बान्धवोंके नाशकी आशङ्कासे एवं उन्हें मारनेमें भयानक पाप होनेके भयसे शोकमें निमग्न हो रहे हैं, ऐसे अर्जुनसे भगवान् बोले।

प्रश्न—यहाँ 'मधुसूदन' नामके प्रयोगका और 'वाक्यम्' के साथ 'इदम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌के 'मधुसूदन' नामका प्रयोग करके तथा 'वाक्यम्' के साथ 'इदम्' विशेषण देकर सञ्जयने धृतराष्ट्रको चेतावनी दी है। अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्णने पहले देवताओंपर अत्याचार करनेवाले 'मधु' नामक दैत्यको मारा था, इस कारण इनका नाम 'मधुसूदन' पड़ा; वे ही भगवान् युद्धसे मुँह मोड़े हुए अर्जुनको ऐसे (आगे कहे जानेवाले) वचनोंद्वारा युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आपके पुत्रोंकी जीत कैसे होगी, क्योंकि आपके पुत्र भी अत्याचारी हैं और अत्याचारियोंका विनाश करना भगवान्‌का काम है; अतएव अपने पुत्रोंको समझाकर अब भी आप* सन्धि कर लें, तो इनका संहार रुक जाय।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है ॥ २ ॥

प्रश्न—'इदम्' विशेषणके सहित 'कश्मलम्' पद किसका वाचक है? तथा 'तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'इदम्' विशेषणके सहित 'कश्मलम्' पद यहाँ अर्जुनके मोहजनित शोक और कातरताका वाचक है तथा उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने अर्जुनको डाँटते हुए उनसे आश्चर्यके साथ यह पूछा है कि इस विषमस्थलमें अर्थात् कायरता और विषादके लिये सर्वथा अनुपयुक्त रणस्थलीमें और ठीक युद्धारम्भके अवसरपर, बड़े-बड़े महारथियोंको सहज ही पराजित कर देनेवाले तुम-सरीखे शूरवीरमें, जिसकी जरा भी सम्भावना न थी, ऐसा यह मोह (कातरभाव) कहाँसे आ गया?

प्रश्न—उपर्युक्त 'मोह' (कातरभाव) को 'अनार्यजुष्ट', 'अस्वर्ग्य' और 'अकीर्तिकर' कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अपने उपर्युक्त आश्चर्यको सहेतुक बतलाया है। अभिप्राय यह है कि तुम

* स्मरण रहे कि ये बातें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे दस दिनतक युद्ध हो जानेके पश्चात् कही थीं; अतः 'अब भी सन्धि कर लें' इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि शेष बचे हुए कुटुम्बकी रक्षाके लिये अब दस दिनके बाद भी आपको सन्धि कर लेनी चाहिये, इसीमें बुद्धिमत्ता है।

जिस भावसे व्याप्त हो रहे हो, यह भाव न तो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित है, न स्वर्ग देनेवाला है और न कीर्ति ही फैलानेवाला है । इससे न तो मोक्षकी सिद्धि हो सकती है, न धर्म तथा अर्थ और भोगोंकी ही । ऐसी अवस्थामें बुद्धिमान् होते हुए भी तुमने इस मोहको (कातरभावको) कैसे स्वीकार कर लिया ?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती । हे परन्तप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्याग कर युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

प्रश्न—'पार्थ' सम्बोधनके सहित नपुंसकताको मत प्राप्त हो और तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती—इन दोनों वाक्योंका क्या भाव है ?

उत्तर—कुन्तीका दूसरा नाम पृथा था । कुन्ती वीरमाता थीं । जब भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरव-पाण्डवोंकी सन्धि करानेके लिये हस्तिनापुर गये और अपनी बुआ कुन्तीसे मिले, उस समय कुन्तीने श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको वीरतापूर्ण सन्देश भेजा था, उसमें विदुला और उनके पुत्र सञ्जयका उदाहरण देकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित किया था । अतः यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करके माता कुन्तीके उस क्षत्रियोचित सन्देशकी स्मृति दिलाते हुए उपर्युक्त दोनों वाक्योंद्वारा यह सूचित किया है कि तुम वीर जननीके वीर पुत्र हो, तुम्हारे अंदर इस प्रकारकी कायरताका सञ्चार सर्वथा अनुचित है । कहाँ महान्-से-महान् महारथियोंके हृदयोंको कँपा देनेवाला तुम्हारा अतुल शौर्य ? और कहाँ तुम्हारी यह दीन स्थिति ?—जिसमें शरीरके रोंगटे खड़े हैं, बदन काँप रहा है, गाण्डीव गिरा जा रहा है और चित्त विषाद-मग्न होकर भ्रमित हो रहा है ! ऐसी कायरता और भीरुता तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है ।

प्रश्न—यहाँ 'परन्तप' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो अपने शत्रुओंको ताप पहुँचानेवाला हो, उसे 'परन्तप' कहते हैं । अतः यहाँ अर्जुनको 'परन्तप' नामसे सम्बोधित करनेका यह भाव है कि तुम शत्रुओंको ताप पहुँचानेवाले प्रसिद्ध हो । निवातकवचादि असीम शक्तिशाली दानवोंको अनायास ही पराजित कर देनेवाले होकर आज अपने क्षत्रिय स्वभावके विपरीत इस कापुरुषोचित कायरताको स्वीकारकर उल्टे शत्रुओं-को प्रसन्न कैसे कर रहे हो ?

प्रश्न—'क्षुद्रम्' विशेषणके सहित 'हृदयदौर्बल्यम्' पद किस भावका वाचक है ? और उसे त्याग कर युद्धके लिये खड़ा होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे-जैसे वीर पुरुषके अन्तःकरणमें रणभीरु कायर प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाली, शूरजनोंके द्वारा सर्वथा त्याज्य, इस तुच्छ दुर्बलताका प्रादुर्भाव किसी प्रकार भी उचित नहीं है । अतएव तुरंत इसका त्याग करके तुम युद्धके लिये डटकर खड़े हो जाओ ।

सम्बन्ध—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर गुरुजनोंके साथ किये जानेवाले युद्धको अनुचित सिद्ध करते हुए दो श्लोकोंमें अर्जुन अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा ? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'अरिसूदन' और 'मधुसूदन' इन दो सम्बोधनोंके सहित 'कथम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—मधु नामके दैत्यको मारनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं और वैरियोंका नाश करनेके कारण वे अरिसूदन कहलाते हैं। इन दोनों नामोंसे सम्बोधित करते हुए इस श्लोकमें 'कथम्' पदका प्रयोग करके अर्जुनने आश्चर्यका भाव प्रकट किया है। अभिप्राय यह है कि आप मुझे जिन भीष्म और द्रोणादिके साथ युद्ध करनेके लिये प्रोत्साहन दे रहे हैं वे न तो दैत्य हैं और न शत्रु ही हैं, वरं वे तो मेरे पूजनीय गुरुजन हैं; फिर अपने स्वाभाविक गुणोंके विरुद्ध आप मुझे गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेके लिये कैसे कह रहे हैं। यह घोर पापकर्म मैं कैसे कर सकूँगा ?

प्रश्न—'इषुभिः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'इषु' कहते हैं बाणको। यहाँ 'इषुभिः' पदका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिन गुरुजनोंके प्रति वाणीसे हलके वचनोंका प्रयोग भी महान् पातक बतलाया गया है, उनपर तीक्ष्ण बाणोंका प्रहार करके मैं उनसे लड़ कैसे सकूँगा। आप मुझे इस घोर पापाचारमें क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५ ॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ। क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥ ५ ॥

प्रश्न—'महानुभावान्' विशेषणके सहित 'गुरून्' पद यहाँ किनका वाचक है ?

उत्तर—दुर्योधनकी सेनामें जो द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि अर्जुनके आचार्य तथा बाह्लीक, भीष्म, सोमदत्त, भूरिश्रवा और शल्य आदि गुरुजन थे, जिनका भाव बहुत ही उदार और महान् था, उन श्रेष्ठ पूज्य पुरुषोंका वाचक 'महानुभावान्' विशेषणसहित 'गुरून्' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'भैक्ष्यम्' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इसका यह भाव है कि यद्यपि क्षत्रियोंके लिये भिक्षाके अन्नसे शरीर-निर्वाह करना निन्द्य है, तथापि गुरुजनोंका संहार करके राज्य भोगनेकी अपेक्षा तो वह निन्द्य कर्म भी कहीं अच्छा है।

प्रश्न—'भोगान्'के साथ 'रुधिरप्रदिग्धान्' और 'अर्थकामान्' विशेषण देनेका तथा 'एव' अव्ययके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिन गुरुजनोंको मारना सर्वथा अनुचित है, उनको मारकर भी मिलेगा क्या ! न तो मुक्ति ही होगी और न धर्मकी सिद्धि ही; केवल इसी लोकमें अर्थ और कामरूप तुच्छ भोग ही तो मिलेंगे, जिनका मूल्य इन गुरुजनोंके जीवनके सामने कुछ भी नहीं है। और वे भी गुरुजनोंकी हत्याके फलस्वरूप होनेके कारण एक प्रकारसे उनके रक्तसे सने हुए ही होंगे, अतएव ऐसे भोगोंको प्राप्त करनेके लिये गुरुजनोंका वध करना कदापि उचित नहीं है।

प्रश्न—'अर्थकामान्' पदको यदि 'गुरून्'का विशेषण मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि 'गुरून्'के साथ 'महानुभावान्' [illegible] न होता तो ऐसा भी माना जा सकता था; किन्तु एक [illegible] श्लोकमें जिन गुरुजनोंको अर्जुन पहले '[illegible] कहते हैं, उन्हींको पीछेसे 'अर्थकामान्' [illegible] बतलावें, ऐसी कल्पना उचित नहीं [illegible] विशेषण परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं, [illegible] पदको 'गुरुन्'का विशेषण [illegible]

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको सन्तोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शङ्का उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं ॥ ६ ॥

प्रश्न—'हमारे लिये युद्ध करना या न करना इनमें कौन-सा श्रेष्ठ है ? यह हम नहीं जानते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है—युद्ध करना या युद्धका त्याग करना—इस बातका भी हम निर्णय नहीं कर सकते; क्योंकि युद्ध करना तो क्षत्रियका धर्म माना गया है और उसके फलस्वरूप होनेवाले कुलनाशको महान् दोष भी बतलाया गया है।

प्रश्न—'हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे' इस वाक्य-का क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यदि एक पक्षमें हम यही मान लें कि युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, तो फिर इस बातका भी पता नहीं कि जीत हमारी होगी या उनकी ?

प्रश्न—'जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र मुकाबलेमें खड़े हैं' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यदि हम यह भी मान लें कि जीत हमारी ही होगी, तो भी युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं मालूम होता; क्योंकि जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही दुर्योधनादि हमारे भाई मरनेके लिये हमारे सामने खड़े हैं। अतएव यदि हमारी जीत भी हुई तो इनको मारकर ही होगी, इससे हम यह निर्णय न कर सके हैं कि हमारे लिये क्या करना उचित है ?

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्तव्यका निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करनेके बाद अब अर्जुन भगवान्‌की शरण ग्रहण करके अपना निश्चित कर्तव्य बतलानेके लिये उनसे प्रार्थना करते हैं—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ, मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

प्रश्न—कार्पण्यदोष क्या है और अर्जुनने जो अपनेको उससे 'उपहतस्वभाव' कहा है, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'कृपण' शब्द विभिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होता है—

१—जिसके पास पर्याप्त धन है, परन्तु जिसकी धनमें इतनी प्रबल आसक्ति और लोभ है कि जो दान और भोगादिके न्यायसङ्गत और उपयुक्त अवसरोंपर भी एक पैसा खर्च नहीं करना चाहता, उस कंजूसको कृपण कहते हैं।

२—मनुष्यजीवनका शास्त्रसम्मत और संतजनानुमोदित

प्रधान लक्ष्य है 'भगवान्‌के तत्त्वको जानकर उन्हें प्राप्त कर लेना' जो मनुष्य इस लक्ष्यको भुलाकर विषय-भोगोंमें ही अपना जीवन खो देता है, उस 'मूर्ख' को भी कृपण कहते हैं। श्रुति कहती है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।

(बृह० उ० ३। ८। १०)

'हे गार्गि! इस अविनाशी परमात्माको बिना जाने ही जो भी कोई इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण है।'

भगवान्‌ने भी भोगैश्वर्यमें आसक्त फलकी वासनावाले मनुष्योंको 'कृपण' कहा है ('कृपणाः फलहेतवः'—२। ४९)।

३—सामान्यतः दीनस्वभावका वाचक भी 'कृपण' शब्द है।

यहाँ अर्जुनमें जो 'कार्पण्य' है, वह न तो लोभजनित कंजूसी है और न भोगासक्तिरूप कृपणता ही है। क्योंकि अर्जुन स्वभावसे ही अत्यन्त उदार, दानी एवं इन्द्रियविजयी पुरुष हैं। यहाँ भी वे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'मुझे अपने लिये विजय, राज्य या सुखकी आकाङ्क्षा नहीं है; जिनके लिये ये वस्तुएँ अपेक्षित हैं, वे सब आत्मीय-जन तो यहाँ मरनेके लिये खड़े हैं। इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, मैं तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी दुर्योधनादिको नहीं मारना चाहता। (१। ३२—३५) समस्त भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी मुझे शोकरहित नहीं कर सकते (२। ८)।' जो इतना त्याग करनेको तैयार है, वह कंजूस या भोगासक्त नहीं हो सकता। दूसरे, यहाँ ऐसा अर्थ मानना इस प्रकरणके भी सर्वथा विरुद्ध है।

यहाँ अर्जुनका यह कार्पण्य एक प्रकारका दैन्य ही है, जो करुणायुक्त कायरता और शोकके रूपमें प्रकट हो रहा है। सञ्जयने प्रथम श्लोकमें अर्जुनके लिये 'कृपयाविष्टम्' पदका प्रयोग करके इस करुणाजनित कायरताका ही निर्देश किया है। तीसरे श्लोकमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी 'क्लैब्यम्' पदका प्रयोग करके इसीकी [illegible] की है। अतएव यही प्रतीत होता है कि अर्जुनका यह कार्पण्य बन्धुनाशकी आशङ्कासे उत्पन्न करुणायुक्त कायरता ही है।

अर्जुन आदर्श क्षत्रिय हैं, स्वाभाविक ही शूरवीर हैं; उनके लिये कायरता दोष ही है, चाहे वह किसी भी कारणसे उत्पन्न हो। इसीसे अर्जुन इसे 'कार्पण्य-दोष' कहते हैं।

इस कार्पण्यदोषसे अर्जुनका अतुलनीय शौर्य, वीर्य, धैर्य, चातुर्य, साहस और पराक्रमादिसे सम्पन्न क्षत्रियस्वभाव नष्ट-सा हो गया है; इसीसे उनके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, अङ्ग काँप रहे हैं, शरीरमें जलन-सी हो रही है और मन भ्रमित-सा हो रहा है। करुणायुक्त कायरताके आवेशसे अर्जुन अपनेमें इन स्वभावविरुद्ध लक्षणोंको देखकर कहते हैं कि 'मैं कार्पण्यदोषसे उपहतस्वभाव हो गया हूँ।'

प्रश्न—अर्जुनने अपनेको 'धर्मसम्मूढचेताः' क्यों कहा?

उत्तर—धर्म-अधर्म या कर्तव्य-अकर्तव्यका यथार्थ निर्णय करनेमें जिसका अन्तःकरण सर्वथा असमर्थ हो गया हो, उसे 'धर्मसम्मूढचेताः' कहते हैं। अर्जुनका चित्त इस समय भयानक धर्मसङ्कटमें पड़ा है; वे एक ओर प्रजापालन, क्षात्रधर्म, स्वत्वसंरक्षण आदिकी दृष्टिसे युद्धको धर्म समझकर उसमें लगना उचित समझते हैं और दूसरी ओर उनके चित्तकी वर्तमान कार्पण्यवृत्ति युद्धके नाना प्रकारके भयानक परिणाम दिखाकर उन्हें भिक्षावृत्ति, संन्यास और वनवासकी ओर प्रवृत्त करना चाहती है। चित्त इतना करुणाविष्ट है कि वह बुद्धिको किसी निर्णयपर पहुँचने ही नहीं देता, इसीसे अपनेको किङ्कर्तव्यविमूढ पाकर अर्जुन ऐसा कहते हैं।

प्रश्न—'निश्चितं श्रेयः' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—कौरवोंकी भीष्म-द्रोण-कर्णादि विश्वविख्यात अजेय शूरवीरोंसे संरक्षित अपनी सेनासे कहीं बड़ी सेनाको देखकर अर्जुन डर गये हों और युद्धमें अपने विजयकी सम्भावनासे सर्वथा निराश होकर अपना कल्याण युद्ध करनेमें है या न करनेमें, इस उद्देश्यसे 'श्रेयः' शब्दका प्रयोग करके जय-पराजयके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌से एक निश्चित निर्णय पूछते हों, ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो उनके चित्तमें बन्धु-स्नेह जाग उठा

है। और बन्धुनाशजनित एक बहुत बड़े पापकी सम्भावना हो गयी है, जिसे वे अपने परम कल्याणमें महान् प्रतिबन्धक समझते हैं और दूसरी ओर मनमें यह भावना भी आ रही है कि क्षत्रियधर्मसम्मत युद्धका जो मैं त्याग कर रहा हूँ, कहीं यही अधर्म हो और मेरे परम कल्याणमें बाधक हो जाय, ऐसी बात तो नहीं है। इसीसे वे 'निश्चित श्रेय' की बात पूछते हैं। उनका यह 'निश्चित श्रेय' जय-पराजयसे सम्बन्ध नहीं रखता, इसका लक्ष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम कल्याण है। अर्जुन यह कहते हैं कि भगवन्! मैं कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हूँ। आप ही निश्चितरूपसे बतलाइये— मेरे परम कल्याणका साधन कौन-सा है?

प्रश्न—मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागतको आप शिक्षा दीजिये—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय सखा थे। आध्यात्मिक तत्त्वकी बात दूसरी हो सकती है, परन्तु व्यवहारमें अर्जुनके साथ भगवान्‌का प्रायः सभी स्थलोंमें बराबरीका ही सम्बन्ध था। खाने, पीने, सोने और जाने-आनेमें सभी जगह भगवान् उनके साथ समान बर्ताव करते थे। और भगवान्‌के श्रेष्ठत्वके प्रति मनमें श्रद्धा और सम्मान होनेपर भी अर्जुन उनके साथ बराबरीका ही व्यवहार करते थे। आज अर्जुनको अपनी ऐसी शोचनीय दशा देखकर यह अनुभव हुआ कि मैं वस्तुतः इनसे बराबरी करनेयोग्य नहीं हूँ। बराबरीमें सलाह मिलती है, उपदेश नहीं मिलता; प्रेरणा होती है, बलपूर्वक अनुशासन नहीं होता। मेरा काम आज सलाह और प्रेरणासे नहीं चलता। मुझे तो गुरुकी आवश्यकता है जो उपदेश करे और बलपूर्वक अनुशासन करके श्रेयके मार्गपर लगा दे तथा मेरे शोक-मोहको सर्वथा नष्ट करके मुझे परम कल्याणकी प्राप्ति करवा दे। और श्रीकृष्णसे बढ़कर गुरु मुझे कौन मिल सकता है। परन्तु गुरुकी उपदेशामृतधारा तभी बरसती है, जब शिष्यरूपी क्षेत्र उसे ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत होता है। इसीलिये अर्जुन कहते हैं—'भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ।'

शिष्योंके कई प्रकार होते हैं। जो शिष्य उपदेश तो गुरुसे ग्रहण करते हैं परन्तु अपने पुरुषार्थका अहङ्कार रखते हैं; या अपने सद्गुरुको छोड़कर दूसरोंपर भरोसा रखते हैं, वे गुरुकृपाका यथार्थ लाभ नहीं उठा सकते। अर्जुन इसीलिये शिष्यत्वके साथ ही अपनेमें अनन्यशरणत्वकी भावना करके कहते हैं कि भगवन्! मैं केवल शिष्य ही नहीं हूँ, आपके शरण भी हूँ। 'प्रपन्न' शब्दका भावार्थ है—भगवान्‌को अत्यन्त समर्थ और परमश्रेष्ठ समझकर उनके प्रति अपनेको समर्पण कर देना। इसीका नाम 'शरणागति', 'आत्मनिक्षेप' या 'आत्मसमर्पण' है। भगवान् सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणोंके अपार समुद्र, सर्वाधिपति, ऐश्वर्य-माधुर्य, धर्म, शौर्य, ज्ञान, वैराग्य आदिके अनन्त आकर, क्लेश, कर्म, संशय और भ्रमादिका सर्वथा नाश करनेवाले, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गुरु और परम महेश्वर हैं—ऐसा विश्वास करके अपनेको सर्वथा निराश्रय, निरवलम्ब, निर्बुद्धि, निर्बल और निःसत्त्व मानकर उन्हींके आश्रय, अवलम्ब, ज्ञान, शक्ति, सत्त्व और अतुलनीय शरणागत-वत्सलताका दृढ़ और अनन्य भरोसा करके अपनेको सब प्रकारसे सदाके लिये उन्हींके चरणोंपर न्योछावर कर देना और निर्निमेष नेत्रोंसे उनके मनोनयनाभिराम मुखचन्द्रकी ओर निहारते रहनेकी तथा जड कठपुतलीकी भाँति नित्य-निरन्तर उनके सङ्केतपर नाचते रहनेकी एकमात्र लालसासे उनका अनन्यचिन्तन करना ही भगवान्‌के प्रपन्न होना है। अर्जुन चाहते हैं कि मैं इसी प्रकार भगवान्‌के शरण हो जाऊँ और इसी भावनासे भावित होकर वे कहते हैं—'भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ और आपके शरण हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिये।' 'ते' और 'त्वाम्' पदोंका प्रयोग करके अर्जुन यही कह रहे हैं। अर्जुनकी यह शरणागतिकी सर्वोत्तम और सच्ची भावना जब अठारहवें अध्यायके पैंसठवें और छाछठवें श्लोकोंमें भगवान्‌के सर्वगुह्यतम उपदेशके प्रभावसे सच्ची शरणागतिके रूपमें परिणत हो जायगी और अर्जुन जब अपनेको उनके कथनानुसार चलनेके लिये तैयार कर सकेंगे,

तभी गीताका उपदेश समाप्त हो जायगा। वस्तुतः इसी श्लोकसे गीताकी साधनाका आरम्भ होता है, यही उपदेशके उपक्रमका बीज है और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोकमें ही इस साधनाकी सिद्धि है, वही उपसंहार है।

सम्बन्ध—इस प्रकार शिक्षा देनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करके अब अर्जुन उस प्रार्थनाका हेतु बतलाते हुए अपने विचारोंको प्रकट करते हैं—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके॥ ८॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके कथनका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने भगवान्से शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना की है, इसलिये यहाँ यह भाव प्रकट करते हैं कि आपने पहले मुझे युद्ध करनेके लिये कहा है; किन्तु उस युद्धका अधिक-से-अधिक फल विजय प्राप्त होनेपर इस लोकमें पृथ्वीका निष्कण्टक राज्य पा लेना है और विचार करनेपर यह बात मालूम होती है कि इस पृथ्वीके राज्यकी तो बात ही क्या, यदि मुझे देवताओंका आधिपत्य भी मिल जाय तो वह भी मेरे इस इन्द्रियोंको सुखा देनेवाले शोकको दूर करनेमें समर्थ नहीं है। अतएव मुझे कोई ऐसा निश्चित उपाय बतलाइये जो मेरी इन्द्रियोंको सुखानेवाले शोकको दूर करके मुझे सदाके लिये सुखी बना दे।

सम्बन्ध—इसके बाद अर्जुनने क्या किया, यह बतलाया जाता है—

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

सञ्जय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये॥ ९॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस श्लोकमें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे यह कहा है कि उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के शरण होकर शिक्षा देनेके लिये उनसे प्रार्थना करके और अपने विचार प्रकट करके अर्जुन यह कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गये।

प्रश्न—'गोविन्द' शब्दका क्या अर्थ है?

उत्तर—'गोभिर्वेदवाक्यैर्विद्यते लभ्यते इति गोविन्दः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वेद-वाणीके द्वारा भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि होती है, इसलिये उनका नाम 'गोविन्द' है। गीतामें भी कहा है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (१५। १५)—सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ।'

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चुप हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने क्या किया, इस जिज्ञासापर सञ्जय कहते हैं—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले॥ १०॥

प्रश्न—'उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तम्' विशेषणके सहित 'तम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि जिन अर्जुनने पहले बड़े साहसके साथ अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये भगवान्से कहा था, वे ही अब दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजनसमुदायको देखते ही मोहके कारण व्याकुल हो रहे हैं; उन्हीं अर्जुनसे भगवान् कहने लगे।

प्रश्न—'हँसते हुए-से यह वचन बोले' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे सञ्जय इस बातका दिग्दर्शन कराते हैं कि भगवान्ने क्या कहा और किस भावसे कहा। अभिप्राय यह है कि 'अर्जुन उपर्युक्त प्रकारसे शूरवीरता प्रकट करनेकी जगह उल्टा विषाद कर रहे हैं तथा मेरे शरण होकर शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना करके मेरा निर्णय सुननेके पहले ही युद्ध न करनेकी घोषणा भी कर देते हैं—यह इनकी कैसी गलती है!' इस भावसे मन-ही-मन हँसते हुए भगवान् (जिनका वर्णन आगे किया जाता है, वे वचन) बोले।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक, सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

प्रश्न—अर्जुनके कौन-से वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्ने यह बात कही है जिनका शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो ?

उत्तर—दोनों सेनाओंमें अपने चाचा, ताऊ, बन्धु, बान्धव और आचार्य आदिको देखते ही उनके नाशकी आशङ्कासे विषाद करते हुए अर्जुनने जो प्रथम अध्यायके अट्ठाईसवें, उनतीसवें और तीसवें श्लोकोंमें अपनी स्थितिका वर्णन किया है, पैंतालीसवें श्लोकमें युद्धके लिये तैयार होनेकी क्रियापर शोक प्रकट किया है और सैंतालीसवें श्लोकमें जो सञ्जयने उनकी स्थितिका वर्णन किया है, उनको लक्ष्य करके यहाँ भगवान्ने यह बात कही है कि 'जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो।' यहींसे भगवान्के उपदेशका उपक्रम होता है, जिसका उपसंहार (१८। ६६) में हुआ है।

प्रश्न—अर्जुनके कौन-से वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्ने यह कहा है कि तुम पण्डितों-सरीखी बातें कह रहे हो ?

उत्तर—पहले अध्यायमें इकतीसवेंसे चौवालीसवें और दूसरे अध्यायमें चौथेसे छठे श्लोकतक अर्जुनने कुलके नाशसे उत्पन्न होनेवाले महान् पापका वर्णन करते हुए अहङ्कारपूर्वक दुर्योधनादिकी नीचता और अपनी धर्मज्ञताकी बातें कहकर अनेकों प्रकारकी युक्तियोंसे युद्धका अनौचित्य सिद्ध किया है; उन्हीं सब वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्ने यह कहा है कि तुम पण्डितों-सरीखी बातें कह रहे हो।

प्रश्न—'गतासून्' और 'अगतासून्' किनका वाचक

है तथा 'उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–जिनके प्राण चले गये हों, उनको 'गतासु' और जिनके प्राण न गये हों, उनको 'अगतासु' कहते हैं। 'उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार तुम अपने पिता और पितामह आदि मरकर परलोकमें गये हुए पितरोंके लिये चिन्ता कर रहे हो कि युद्धके परिणाममें हमारे कुलका नाश हो जानेपर वर्णसंकरता फैल जानेसे हमारे पितरलोग नरकमें गिर जायँगे इत्यादि। तथा सामने खड़े हुए बन्धु-बान्धवोंके लिये भी चिन्ता कर रहे हो कि इन सबके बिना हम राज्य और भोगोंको लेकर ही क्या करेंगे। कुलका संहार हो जानेसे स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जायँगी इत्यादि। इस प्रकारकी चिन्ता पण्डित लोग नहीं करते। क्योंकि पण्डितोंकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नित्य और सत् वस्तु है, उससे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है, वही सबका आत्मा है, उसका कभी किसी प्रकार भी नाश हो नहीं सकता और शरीर अनित्य है, वह रह नहीं सकता तथा आत्मा और शरीरका संयोग-वियोग व्यावहारिक दृष्टिसे अनिवार्य होते हुए भी वास्तवमें स्वप्नकी भाँति कल्पित है; फिर वे किसके लिये शोक करें और क्यों करें। किन्तु तुम शोक कर रहे हो, इसलिये जान पड़ता है तुम पण्डित नहीं हो, केवल पण्डितोंकी-सी बातें ही कर रहे हो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह बात कही कि जिन भीष्मादि स्वजनोंके लिये शोक करना उचित नहीं है, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो। इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि उनके लिये शोक करना किस कारणसे उचित नहीं है। अतः पहले भगवान् आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करके आत्म-दृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे॥ १२॥

प्रश्न–इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इसमें भगवान्‌ने आत्मरूपसे सबकी नित्यता सिद्ध करके यह भाव दिखलाया है कि तुम जिनके नाशकी आशङ्का कर रहे हो, उन सबका या तुम्हारा-हमारा कभी किसी भी कालमें अभाव नहीं है। वर्तमान शरीरोंकी उत्पत्तिके पहले भी हम सब थे और पीछे भी रहेंगे। शरीरोंके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता; अतएव नाशकी आशङ्कासे इन सबके लिये शोक करना उचित नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करके अब उसकी निर्विकारताका प्रतिपादन करते हुए आत्माके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता॥ १३॥

प्रश्न—'उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तम्' विशेषणके सहित 'तम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि जिन अर्जुनने पहले बड़े साहसके साथ अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये भगवान्से कहा था, वे ही अब दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजनसमुदायको देखते ही मोहके कारण व्याकुल हो रहे हैं; उन्हीं अर्जुनसे भगवान् कहने लगे।

प्रश्न—'हँसते हुए-से यह वचन बोले' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे सञ्जय इस बातका दिग्दर्शन कराते हैं कि भगवान्ने क्या कहा और किस भावसे कहा। अभिप्राय यह है कि 'अर्जुन उपर्युक्त प्रकारसे शूरवीरता प्रकट करनेकी जगह उल्टा विषाद कर रहे हैं तथा मेरे शरण होकर शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना करके मेरा निर्णय सुननेके पहले ही युद्ध न करनेकी घोषणा भी कर देते हैं—यह इनकी कैसी गलती है !' इस भावसे मन-ही-मन हँसते हुए भगवान् (जिनका वर्णन आगे किया जाता है, वे वचन) बोले।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक, सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते॥ ११॥

प्रश्न—अर्जुनके कौन-से वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्ने यह बात कही है जिनका शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो ?

उत्तर—दोनों सेनाओंमें अपने चाचा, ताऊ, बन्धु, बान्धव और आचार्य आदिको देखते ही उनके नाशकी आशङ्कासे विषाद करते हुए अर्जुनने जो प्रथम अध्यायके अट्ठाईसवें, उनतीसवें और तीसवें श्लोकोंमें अपनी स्थितिका वर्णन किया है, पैंतालीसवें श्लोकमें युद्धके लिये तैयार होनेकी क्रियापर शोक प्रकट किया है और सैंतालीसवें श्लोकमें जो सञ्जयने उनकी स्थितिका वर्णन किया है, उनको लक्ष्य करके यहाँ भगवान्ने यह बात कही है कि 'जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो।' यहींसे भगवान्के उपदेशका उपक्रम होता है, जिसका उपसंहार (१८। ६६) में हुआ है।

प्रश्न—अर्जुनके कौन-से वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्ने यह कहा है कि तुम पण्डितों-सरीखी बातें कह रहे हो ?

उत्तर—पहले अध्यायमें इकतीसवेंसे चौवालीसवें और दूसरे अध्यायमें चौथेसे छठे श्लोकतक अर्जुनने कुलके नाशसे उत्पन्न होनेवाले महान् पापका वर्णन करते हुए अहङ्कारपूर्वक दुर्योधनादिकी नीचता और अपनी धर्मज्ञताकी बातें कहकर अनेकों प्रकारकी युक्तियोंसे युद्धका अनौचित्य सिद्ध किया है; उन्हीं सब वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्ने यह कहा है कि तुम पण्डितों-सरीखी बातें कह रहे हो।

प्रश्न—'गतासून्' और 'अगतासून्' किनका वाचक

है तथा 'उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–जिनके प्राण चले गये हों, उनको 'गतासु' और जिनके प्राण न गये हों, उनको 'अगतासु' कहते हैं। 'उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार तुम अपने पिता और पितामह आदि मरकर परलोकमें गये हुए पितरोंके लिये चिन्ता कर रहे हो कि युद्धके परिणाममें हमारे कुलका नाश हो जानेपर वर्णसंकरता फैल जानेसे हमारे पितरलोग नरकमें गिर जायँगे इत्यादि । तथा सामने खड़े हुए बन्धुबान्धवोंके लिये भी चिन्ता कर रहे हो कि इन सबके बिना हम राज्य और भोगोंको लेकर ही क्या करेंगे। कुलका संहार हो जानेसे स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जायँगी इत्यादि। इस प्रकारकी चिन्ता पण्डित लोग नहीं करते। क्योंकि पण्डितोंकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नित्य और सत् वस्तु है, उससे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है, वही सबका आत्मा है, उसका कभी किसी प्रकार भी नाश हो नहीं सकता और शरीर अनित्य है, वह रह नहीं सकता तथा आत्मा और शरीरका संयोग-वियोग व्यावहारिक दृष्टिसे अनिवार्य होते हुए भी वास्तवमें स्वप्नकी भाँति कल्पित है; फिर वे किसके लिये शोक करें और क्यों करें। किन्तु तुम शोक कर रहे हो, इसलिये जान पड़ता है तुम पण्डित नहीं हो, केवल पण्डितोंकी-सी बातें ही कर रहे हो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह बात कही कि जिन भीष्मादि स्वजनोंके लिये शोक करना उचित नहीं है, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो। इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि उनके लिये शोक करना किस कारणसे उचित नहीं है। अतः पहले भगवान् आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करके आत्मदृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

प्रश्न–इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इसमें भगवान्‌ने आत्मरूपसे सबकी नित्यता सिद्ध करके यह भाव दिखलाया है कि तुम जिनके नाशकी आशङ्का कर रहे हो, उन सबका या तुम्हारा-हमारा कभी किसी भी कालमें अभाव नहीं है। वर्तमान शरीरोंकी उत्पत्तिके पहले भी हम सब थे और पीछे भी रहेंगे। शरीरोंके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता; अतएव नाशकी आशङ्कासे इन सबके लिये शोक करना उचित नहीं है।

सम्बन्ध–इस प्रकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करके अब उसकी निर्विकारताका प्रतिपादन करते हुए आत्माके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसमें आत्माको विकारी मानकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते-आते समय उसे कष्ट होनेकी आशङ्कासे जो अज्ञानीजन शोक किया करते हैं, उसको भगवान्‌ने अनुचित बतलाया है । वे कहते हैं कि जिस प्रकार बालकपन, जवानी और जरा अवस्थाएँ वास्तवमें आत्माकी नहीं होतीं, स्थूलशरीरकी होती हैं और आत्मामें उनका आरोप किया जाता है, उसी प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना-आना भी वास्तवमें आत्माका नहीं होता, सूक्ष्मशरीरका ही होता है और उसका आरोप आत्मामें किया जाता है । अतएव इस तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानीजन ही देहान्तरकी प्राप्तिमें शोक करते हैं, धीर पुरुष नहीं करते; क्योंकि उनकी दृष्टिमें आत्माका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिये तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारता प्रतिपादन करके उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा नित्य और निर्विकार हो तो भी बन्धु-बान्धवादिके साथ होनेवाले संयोग-वियोगादिसे सुख-दुःखादिका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, अतएव शोक हुए बिना कैसे रह सकता है ? इसपर भगवान् सब प्रकारके संयोग-वियोगादिको अनित्य बतलाकर उनको सहन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ॥ १४ ॥

प्रश्न—'मात्रास्पर्शाः' पद यहाँ किनका वाचक है ?

उत्तर—जिनके द्वारा किसी वस्तुका माप किया जाय—उसके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे 'मात्रा' कहते हैं; अतः 'मात्रा'से यहाँ अन्तःकरण-सहित सभी इन्द्रियोंका लक्ष्य है । और स्पर्श कहते हैं सम्बन्ध या संयोगको । अन्तःकरणसहित इन्द्रियोंका शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि उनके विषयोंके साथ जो सम्बन्ध है, उसीको यहाँ 'मात्रास्पर्शाः' पदसे व्यक्त किया गया है ।

प्रश्न—उन सबको 'शीतोष्णसुखदुःखदाः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शीत-उष्ण और सुख-दुःख शब्द यहाँ सभी द्वन्द्वोंके उपलक्षण हैं । अतः विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धोंको 'शीतोष्णसुखदुःखदाः' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वे समस्त विषय ही इन्द्रियोंके साथ संयोग होनेपर शीत-उष्ण, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि समस्त द्वन्द्वोंको उत्पन्न करनेवाले हैं । उनमें नित्यत्व-बुद्धि होनेसे ही नाना प्रकारके विकारोंकी उत्पत्ति होती है, अतएव उनको अनित्य समझकर उनके संगसे तुम्हें किसी प्रकार भी विकारयुक्त नहीं होना चाहिये ।

प्रश्न—इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको उत्पत्ति, विनाशशील और अनित्य कहकर अर्जुनको उन्हें सहन करनेकी आज्ञा देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ऐसी आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सुख-दुःख देनेवाले जो इन्द्रियोंके विषयोंके साथ संयोग हैं, वे क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं, इसलिये उनमें वास्तविक सुखका लेश भी नहीं है । अतः तुम उनको सहन करो अर्थात् उनको अनित्य समझकर उनके आने-जानेमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक मत करो । बन्धु-बान्धवोंका संयोग भी इसीमें आ जाता है । क्योंकि अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा ही अन्य विषयोंकी भाँति उनके साथ संयोग-वियोग होता है । अतः यहाँ सभी प्रकारके संयोग-वियोगोंके परिणामस्वरूप सुख-दुःखोंको सहन करनेके लिये भगवान्‌का कहना है—यह बात समझ लेनी चाहिये ।

सम्बन्ध—इन सबको सहन करनेसे क्या लाभ होगा ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'हि'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' यहाँ हेतुके अर्थमें है । अभिप्राय यह है कि इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको किसलिये सहन करना चाहिये, यह बात इस श्लोकमें बतलायी जाती है ।

प्रश्न—'पुरुषर्षभ' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—'ऋषभ' श्रेष्ठका वाचक है । अतः पुरुषोंमें जो अधिक शूरवीर एवं बलवान् हो, उसे 'पुरुषर्षभ' कहते हैं । यहाँ अर्जुनको 'पुरुषर्षभ' नामसे सम्बोधित करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम बड़े शूरवीर हो, सहनशीलता तुम्हारा स्वाभाविक गुण है, अतः तुम सहजहीमें इन सबको सहन कर सकते हो ।

प्रश्न—'धीरम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—'धीरम्' पद अधिकांशमें परमात्माको प्राप्त पुरुषका ही वाचक होता है, पर कहीं-कहीं परमात्माकी प्राप्तिके पात्रको भी 'धीर' कह दिया जाता है । अतः यहाँ 'धीरम्' पद सांख्ययोगके साधनमें परिपक्क स्थितिपर पहुँचे हुए साधकका वाचक है ।

प्रश्न—'समदुःखसुखम्' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने धीर पुरुषका लक्षण बतलाया है कि जिस पुरुषके लिये सुख और दुःख सम हो गये हैं, उन्हें अनित्य समझकर जिसकी उन द्वन्द्वोंमें भेदबुद्धि नहीं रही है, वही 'धीर' है और वही इनको सहन करनेमें समर्थ है ।

प्रश्न—'एते' पद किनका वाचक है और 'न व्यथयन्ति'का क्या भाव है ?

उत्तर—विषयोंके साथ इन्द्रियोंके जो संयोग हैं, जिनके लिये पूर्वश्लोकमें 'मात्रास्पर्शाः' पदका प्रयोग किया गया है, उन्हींका वाचक यहाँ 'एते' पद है । और 'न व्यथयन्ति' से यह भाव दिखलाया है कि विषयोंके संयोग-वियोगमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक न करनेका अभ्यास करते-करते जब साधककी ऐसी स्थिति हो जाती है कि किसी भी इन्द्रियका किसी भी भोगके साथ संयोग किसी प्रकार उसे व्याकुल नहीं कर सकता, उसमें किसी तरहका विकार उत्पन्न नहीं कर सकता तब यह समझना चाहिये कि यह 'धीर' और सुख-दुःखमें समभाववाला हो गया है ।

प्रश्न—'वह मोक्षके योग्य होता है' इसका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उपर्युक्त समभाववाला पुरुष मोक्षका—परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है और उसे शीघ्र ही अपरोक्षभावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

सम्बन्ध—बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया तथा चौदहवें श्लोकमें इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किन्तु आत्मा क्यों नित्य है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं ? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'असतः' पद यहाँ किसका वाचक है और 'उसकी सत्ता नहीं है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'असतः' पद यहाँ परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयोंसहित समस्त जडवर्गका वाचक है। और 'उसकी सत्ता यानी भाव नहीं है' इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वह जिस कालमें प्रतीत होता है, उसके पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा; अतएव जिस समय प्रतीत होता है, उस समय भी वास्तवमें नहीं है। इसलिये यदि तुम भीष्मादि स्वजनोंके शरीरोंके या अन्य किसी जड वस्तुके नाशकी आशङ्कासे शोक करते हो तो तुम्हारा यह शोक करना अनुचित है।

प्रश्न—'सतः' पद यहाँ किसका वाचक है और 'उसका अभाव नहीं है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सतः' पद यहाँ परमात्मतत्त्वका वाचक है, जो सर्वव्यापी है, और नित्य है। 'उसका अभाव नहीं है' इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उसका कभी किसी भी निमित्तसे परिवर्तन या अभाव नहीं होता। वह सदा एकरस, अखण्ड और निर्विकार रहता है। इसलिये यदि तुम आत्मरूपसे भीष्मादिके नाशकी आशङ्का करके शोक करते हो, तो भी तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है।

प्रश्न—'अनयोः' विशेषणके सहित 'उभयोः' पद किनका वाचक है और तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंद्वारा उनका तत्त्व देखा जाना क्या है ?

उत्तर—'अनयोः' विशेषणके सहित 'उभयोः' पद उपर्युक्त 'असत्' और 'सत्' दोनोंका वाचक है तथा तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा उन दोनोंका विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस वस्तुका परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं और जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, वह सत् है—अर्थात् सत्‌का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वके लिये यह कहा गया कि 'उसका अभाव नहीं है', वह 'सत्' तत्त्व क्या है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

प्रश्न—'सर्वम्' के सहित 'इदम्' पद यहाँ किसका वाचक है और वह किसके द्वारा व्याप्त है तथा जिससे व्याप्त है, उसे अविनाशी कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन, भोगोंकी सामग्री और भोग-स्थान आदि समस्त जडवर्गका वाचक यहाँ 'सर्वम्' के सहित 'इदम्' पद है। वह सम्पूर्ण जडवर्ग चेतन परमात्मतत्त्वसे व्याप्त है। उस परमात्मतत्त्वको अविनाशी कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वका मैंने लक्षण किया है तथा तत्त्व-ज्ञानियोंने जिस तत्त्वको 'सत्' निश्चित किया है, वह परमात्मा ही अविनाशी नामसे कहा गया है।

प्रश्न—इस अविनाशीका बिनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि आकाश-से बादलके सदृश इस परमात्मतत्त्वके द्वारा अन्य सब जडवर्ग व्याप्त होनेके कारण उनमेंसे कोई भी इस परमात्म-तत्त्वका नाश नहीं कर सकता; अतएव सदा-सर्वदा विद्यमान रहनेवाला होनेसे यही एकमात्र 'सत्' तत्त्व है।

सम्बन्ध—इस प्रकार 'सत्' तत्त्वकी व्याख्या हो जानेके अनन्तर पूर्वोक्त 'असत्' वस्तु क्या है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

प्रश्न—'इमे' के सहित 'देहाः' पद यहाँ किनका वाचक है ? और उन सबको 'अन्तवन्तः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'इमे' के सहित 'देहाः' पद यहाँ समस्त शरीरोंका वाचक है और असत्की व्याख्या करनेके लिये उनको 'अन्तवन्तः' कहा है । अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित समस्त शरीर नाशवान् हैं । जैसे स्वप्नके शरीर और समस्त जगत् बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये समस्त शरीर भी बिना ही हुए अज्ञान-से प्रतीत हो रहे हैं; वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है । इसलिये इनका नाश होना अवश्यम्भावी है, अतएव इनके लिये शोक करना व्यर्थ है ।

प्रश्न—यहाँ 'देहाः' पदमें बहुवचनका और 'शरीरिणः' पदमें एकवचनका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—इस प्रयोगसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि समस्त शरीरोंमें एक ही आत्मा है । शरीरोंके भेदसे अज्ञानके कारण आत्मामें भेद प्रतीत होता है, वास्तवमें भेद नहीं है ।

प्रश्न—'शरीरिणः' पद यहाँ किसका वाचक है और उसके साथ 'नित्यस्य', 'अनाशिनः' और 'अप्रमेयस्य' विशेषण देनेका तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जड-वर्गको व्याप्त बतलाया है, उसी तत्त्वका वाचक यहाँ 'शरीरिणः' पद है तथा इन तीनों विशेषणोंका प्रयोग उस 'सत्' तत्त्वके साथ इसकी एकता करनेके लिये ही किया है एवं इसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ इसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतन तत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती, स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता ।

प्रश्न—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके युद्धके लिये आज्ञा देनेका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

*उत्तर—*हेतुवाचक 'तस्मात्' पदके सहित युद्धके लिये आज्ञा देकर भगवान्ने यहाँ यह दिखलाया है कि जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि शरीर नाशवान् हैं, उनका नाश अनिवार्य है और आत्मा नित्य है, उसका कभी नाश होता नहीं, तब युद्धमें किञ्चिन्मात्र भी शोकका कोई कारण नहीं है । अतएव अब तुमको युद्धमें किसी तरहकी आनाकानी नहीं करनी चाहिये ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके अर्जुनको युद्धके लिये आज्ञा दी, किन्तु अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि वे मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका स्पष्ट समाधान नहीं किया । अतः अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहकर उसका समाधान करते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥*

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यदि आत्मा न मरता है और न किसीको मारता है, तो मरने और मारनेवाला फिर कौन है ?

उत्तर—स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके वियोगको 'मरना' कहते हैं, अतएव मरनेवाला स्थूलशरीर है; इसीलिये पहले 'अन्तवन्त: इमे देहा:' कहा गया। इसी तरह मन-बुद्धिके सहित जिस स्थूलशरीरकी क्रियासे किसी दूसरे स्थूलशरीरके प्राणोंका वियोग होता है, उसे 'मारनेवाला' कहते हैं। अतः मारनेवाला भी शरीर ही है, आत्मा नहीं किन्तु शरीरके धर्मोंको अपनेमें अध्यारोपित करके अज्ञानी लोग आत्माको मारनेवाला (कर्ता) मान लेते हैं (३ । २७), इसीलिये उनको उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह कहा कि आत्मा किसीके द्वारा नहीं मारा जाता; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा किसीके द्वारा नहीं मारा जाता; इसमें क्या कारण है ? इसके उत्तरमें भगवान् आत्मामें सब प्रकारके विकारोंका अभाव बतलाते हुए उसके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ॥ २० ॥

प्रश्न—'न जायते म्रियते'—इन दोनों क्रियापदोंका क्या भाव है ?

उत्तर—इनसे भगवान्ने आत्मामें उत्पत्ति और विनाश-रूप आदि-अन्तके दो विकारोंका अभाव बतलाकर उत्पत्ति आदि छहों विकारोंका अभाव सिद्ध किया है और इसके बाद प्रत्येक विकारका अभाव दिखलानेके लिये अलग-अलग शब्दोंका भी प्रयोग किया है।

प्रश्न—उत्पत्ति आदि छः विकार कौन-से हैं और इस श्लोकमें किन-किन शब्दोंद्वारा आत्मामें उनका अभाव सिद्ध किया है ?

उत्तर—१ उत्पत्ति (जन्मना), २ अस्तित्व (उत्पन्न होकर सत्तावाला होना), ३ वृद्धि (बढ़ना), ४ विपरिणाम (रूपान्तरको प्राप्त होना), ५ अपक्षय (क्षय होना या घटना) और ६ विनाश (मर जाना)—ये छः विकार हैं। इनमेंसे आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति' रूप विकारका अभाव बतलाया है। 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व' रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि' रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर विपरिणामका, 'नित्यः' (अखण्डसत्तावाला) कहकर 'क्षय'का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश'का अभाव दिखलाया है।

* हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥ (उ० कठ १ । २ । १९)

सम्बन्ध—उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही कि, आत्मा न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है; उसके अनुसार बीसवें श्लोकमें उसे विकाररहित बतलाकर इस बातका प्रतिपादन किया कि वह क्यों नहीं मारा जाता ! अब अगले श्लोकमें यह बतलाते हैं कि वह किसीको मारता क्यों नहीं ?

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसमें भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो पुरुष आत्मस्वरूपको यथार्थ जान लेता है, जिसने इस तत्त्वका भलीभाँति अनुभव कर लिया है कि आत्मा अजन्मा, अविनाशी, अव्यय और नित्य है, वह कैसे किसको मारता है और कैसे किसको मरवाता है ? अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित स्थूल शरीरके द्वारा दूसरे शरीरका नाश किये जानेमें वह यह कैसे मान सकता है कि मैं किसीको मार रहा हूँ या दूसरेके द्वारा किसीको मरवा रहा हूँ ? क्योंकि उसके ज्ञानमें सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व है, जो न मरता है और न मारा जा सकता है, न किसीको मारता है और न मरवाता है; अतएव यह मरना, मारना और मरवाना आदि सब कुछ अज्ञानसे ही आत्मामें अध्यारोपित हैं, वास्तवमें नहीं हैं। अतः किसीके लिये भी किसी प्रकार शोक करना नहीं बनता ।

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्मा नित्य और अविनाशी है—उसका कभी नाश नहीं हो सकता, अतः उसके लिये शोक करना नहीं बन सकता और शरीर नाशवान् है—उसका नाश होना अवश्यम्भावी है, अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता—यह सर्वथा ठीक है । किन्तु आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है ? इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

प्रश्न—पुराने वस्त्रोंके त्याग और नवीन वस्त्रके धारण करनेमें मनुष्यको सुख होता है, किन्तु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें तो क्लेश होता है। अतएव इस उदाहरणकी सार्थकता यहाँ कैसे हो सकती है ?

उत्तर—पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें अज्ञानीको ही दुःख होता है, विवेकीको नहीं । माता बालकके पुराने गंदे कपड़े उतारती है और नये पहनाती है तो वह रोता है; परन्तु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये कपड़े बदल ही देती है । इसी प्रकार भगवान् भी जीवके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसके देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण उचित ही है ।

प्रश्न—भगवान्‌ने यहाँ शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' पदका प्रयोग किया है; परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर (शरीर पुराना होनेपर) ही मनुष्यकी मृत्यु हो । नयी उम्रके जवान और बच्चे भी मरते देखे जाते

हैं। इसलिये भी यह उदाहरण युक्तियुक्त नहीं जँचता ?

उत्तर—यहाँ 'जीर्णानि' पदसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल, जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है, वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। अतएव यह उदाहरण सर्वथा युक्ति-सङ्गत है।

प्रश्न—यहाँ 'वासांसि' और 'शरीराणि' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं। कपड़ा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ भी तीन-चार पुराने वस्त्र त्यागकर नये धारण कर सकता है; परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोड़कर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण युक्तिसे सिद्ध नहीं है। अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है ?

उत्तर—(क) जीवात्मा अबतक न जाने कितने शरीर छोड़ चुका है और कितने नये धारण कर चुका है तथा भविष्यमें भी जबतक उसे तत्त्वज्ञान न होगा तबतक न जाने कितने असंख्य पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंको धारण करता रहेगा। इसलिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

(ख) स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे शरीर तीन हैं। जब जीवात्मा इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है तब ये तीनों ही शरीर बदल जाते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसका स्वभाव (प्रकृति) बदलता जाता है। सत्, रज, तम तीनों गुणमयी व्यष्टिप्रकृति ही यहाँ कारण-शरीर है, इसीको स्वभाव कहते हैं। प्रायः स्वभावके अनुसार ही अन्तकालमें सङ्कल्प होता है और सङ्कल्पके अनुसार ही सूक्ष्मशरीर बन जाता है। कारण और सूक्ष्मशरीरके सहित ही यह जीवात्मा इस शरीरसे निकलकर सूक्ष्मके अनुरूप ही स्थूलशरीरको प्राप्त होता है। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे तीनों शरीरोंके परिवर्तन होनेके कारण भी बहुवचनका प्रयोग युक्तियुक्त ही है।

प्रश्न—आत्मा तो अचल है, उसमें गमनागमन नहीं होता; फिर देहीके दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही गयी ?

उत्तर—वास्तवमें आत्मा, अचल और अक्रिय होनेके कारण, उसका किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म-शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। यहाँ 'देही' शब्द देहाभिमानी चेतनका वाचक है, अतएव देहके सम्बन्धसे उसमें भी गमनागमन होता-सा प्रतीत होता है। इसलिये देहीके अन्य शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी।

प्रश्न—वस्त्रोंके लिये 'गृह्णाति' तथा शरीरके लिये 'संयाति' कहा है। एक ही क्रियासे काम चल जाता, फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया ?

उत्तर—'गृह्णाति' का मुख्य अर्थ 'ग्रहण करना' है और 'संयाति' का मुख्य अर्थ 'गमन करना' है। वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये यहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी है और शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाना प्रतीत होता है, इसलिये 'संयाति' कहा गया है।

प्रश्न—'नरः' और 'देही'—इन दो पदोंका प्रयोग क्यों किया गया, एकसे भी काम चल सकता था ?

उत्तर—'नरः' पद मनुष्यमात्रका वाचक है और 'देही' पद समस्त जीवसमुदायका। अतः दोनों ही सार्थक हैं; क्योंकि वस्त्रका ग्रहण या त्याग मनुष्य ही करता है, अन्य जीव नहीं। किन्तु एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमनागमन सभी देहाभिमानी जीवोंका होता है, इसलिये वस्त्रोंके साथ 'नरः' का तथा शरीरके साथ 'देही' का प्रयोग किया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरके प्राप्त होनेमें शोक करना अनुचित सिद्ध करके, अब भगवान् आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता, निराकारता और निर्विकारताका प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशङ्कासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुन शस्त्र-अस्त्रोंद्वारा अपने गुरुजन और भाई-बन्धुओंके नाश होनेकी आशङ्कासे शोक कर रहे थे; अतएव उनके शोकको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें पृथ्वी आदि चारों भूतोंको आत्माका नाश करनेमें असमर्थ बतलाकर निर्विकार आत्माका नित्यत्व और निराकारत्व सिद्ध किया है । अभिप्राय यह है कि शस्त्रोंके द्वारा शरीरको काटनेपर भी आत्मा नहीं कटता, अग्न्यस्त्रद्वारा शरीरको जला डालनेपर भी आत्मा नहीं जलता, वरुणास्त्रसे शरीर गला दिया जानेपर भी आत्मा नहीं गलता और वायव्यास्त्रके द्वारा शरीरको सुखा दिया जानेपर भी आत्मा नहीं सूखता । शरीर अनित्य एवं साकार वस्तु है, आत्मा नित्य और निराकार है; अतएव किसी भी अस्त्र-शस्त्रादि पृथ्वीतत्त्वद्वारा या वायु, अग्नि और जलके द्वारा उसका नाश नहीं किया जा सकता ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है । तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें यह बात कह दी गयी थी कि शस्त्रादिके द्वारा आत्मा नष्ट नहीं किया जा सकता; फिर इस श्लोकमें उसे दुबारा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने आत्मतत्त्वका शस्त्रादिद्वारा नाश न हो सकनेमें कारणका प्रतिपादन किया है । अभिप्राय यह है कि आत्मा कटनेवाली, जलनेवाली, गलनेवाली और सूखनेवाली वस्तु नहीं है । वह अखण्ड, अव्यक्त, एकरस और निर्विकार है; इसलिये उसका नाश करनेमें शस्त्रादि कोई भी समर्थ नहीं हैं ।

प्रश्न—अच्छेद्यादि शब्दोंसे आत्माका नित्यत्व प्रतिपादन करके फिर उसे नित्य, सर्वगत और सनातन कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अच्छेद्यादि शब्दोंसे जैसा अविनाशित्व सिद्ध होता है वह तो आकाशमें भी सिद्ध हो सकता है; क्योंकि आकाश अन्य समस्त भूतोंका कारण और उन सबमें व्याप्त होनेसे न तो पृथ्वी-तत्त्वसे बने हुए शस्त्रोंद्वारा काटा जा सकता है, न अग्निद्वारा जलाया जा सकता है, न जलसे गलाया जा सकता है और न वायुसे सुखाया ही जा सकता है । आत्माका अविनाशित्व उससे अत्यन्त विलक्षण है—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये उसे नित्य, सर्वगत और सनातन कहा गया है । *अभिप्राय यह है कि आकाश नित्य नहीं* है, क्योंकि महाप्रलयमें उसका नाश हो जाता है और आत्माका कभी नाश नहीं होता, इसलिये वह नित्य है । आकाश सर्वव्यापी नहीं है, केवल अपने कार्यमात्रमें व्याप्त है और आत्मा सर्वव्यापी है । आकाश सनातन, सदासे रहनेवाला, अनादि नहीं है और आत्मा सनातन—अनादि है । इस प्रकार उपर्युक्त शब्दोंद्वारा *आकाशसे आत्माकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलायी गयी है ।*

प्रश्न—आत्माको स्थाणु और अचल कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे आत्मामें चलना और [illegible] दोनों

क्रियाओंका अभाव दिखलाया है। एक ही स्थानमें स्थित रहते हुए काँपते रहना 'हिलना' है और एक जगहसे दूसरी जगह जाना 'चलना' है। इन दोनों क्रियाओंका ही आत्मामें अभाव है। वह न हिलता है और न चलता ही है; क्योंकि वह सर्वव्यापी है, कोई भी स्थान उससे खाली नहीं है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

प्रश्न—आत्माको 'अव्यक्त' और 'अचिन्त्य' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—आत्मा किसी भी इन्द्रियके द्वारा जाना नहीं जा सकता, इसलिये उसे 'अव्यक्त' कहते हैं और वह मनका भी विषय नहीं है, इसलिये उसे 'अचिन्त्य' कहा गया है।

प्रश्न—आत्माको 'अविकार्य' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते, इसलिये प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किन्तु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी किसी भी अवस्थामें विकार नहीं होता। अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है।

प्रश्न—इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे नित्य, सर्वगत अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार जान लेनेके बाद उसके लिये शोक करना नहीं बन सकता।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

किन्तु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

प्रश्न—'अथ' और 'च' दोनों अव्यय यहाँ किस अर्थमें हैं ? और इनके सहित 'इसको तू सदा जन्मनेवाला और सदा मरनेवाला मानता हो तो भी तुझे शोक करना उचित नहीं है' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अथ' और 'च' दोनों अव्यय यहाँ औपचारिक स्वीकृतिके बोधक हैं। इनके सहित उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि वास्तवमें आत्मा जन्मने और मरनेवाला नहीं है—यही बात यथार्थ है, तो भी, यदि तुम इस आत्माको सदा जन्मनेवाला अर्थात् प्रत्येक शरीरके संयोगमें प्रवाहरूपसे सदा जन्मनेवाला मानते हो तथा सदा मरनेवाला अर्थात् प्रत्येक शरीरके वियोगमें प्रवाहरूपसे सदा मरनेवाला मानते हो तो इस मान्यताके अनुसार भी तुम्हें उसके लिये इस प्रकार (जिसका वर्णन पहले अध्यायके अट्ठाईसवेंसे सैंतालीसवें श्लोकतक किया गया है) शोक करना नहीं चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

प्रश्न—'हि' का यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' हेतुके अर्थमें है। पूर्वश्लोकमें जिस मान्यताके अनुसार भगवान्‌ने शोक करना अनुचित बतलाया है, उसी मान्यताके अनुसार युक्तिपूर्वक उस बातको इस श्लोकमें सिद्ध करते हैं।

प्रश्न—जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है—यह बात तो ठीक है; क्योंकि जन्मा हुआ सदा नहीं रहता, इस बातको सभी जानते हैं। परन्तु यह बात कैसे कही कि जो मर गया है उसका जन्म निश्चित है; क्योंकि जो मुक्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता—यह प्रसिद्ध है (४।९; ५।१७; ८।१५, १६, २१ इत्यादि) ?

उत्तर—यहाँ भगवान् वास्तविक सिद्धान्तकी बात नहीं कह रहे है, भगवान्‌का यह कथन तो उन अज्ञानियोंकी दृष्टिसे है जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं। उनके मतानुसार जो मरणधर्मा है उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती। जिस वास्तविक सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित ही है।

प्रश्न—'तस्मात्' पदका क्या अभिप्राय है ? तथा 'अपरिहार्ये अर्थे'का क्या भाव है और उसके लिये शोक करना अनुचित क्यों है ?

उत्तर—'तस्मात्' पद हेतुवाचक है। इसका प्रयोग करके 'अपरिहार्ये अर्थे' से यह दिखलाया है कि उपर्युक्त मान्यताके अनुसार आत्माका जन्म और मृत्यु निश्चित होनेके कारण वह बात अनिवार्य है उसमें उलट-फेर होना असम्भव है; ऐसी स्थितिमें निरुपाय बातके लिये शोक करना नहीं बनता। अतएव इस दृष्टिसे भी तुम्हारा शोक करना सर्वथा अनुचित है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंद्वारा जो आत्माको नित्य, अजन्मा, अविनाशी मानते हैं और जो सदा जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, उन दोनोंके मतसे ही आत्माके लिये शोक करना नहीं बनता—यह बात सिद्ध की गयी। अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ? ॥ २८ ॥

प्रश्न—'भूतानि' पद यहाँ किनका वाचक है ? और उनके साथ 'अव्यक्तादीनि', 'अव्यक्तनिधनानि' और 'व्यक्तमध्यानि'—इन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'भूतानि' पद यहाँ प्राणिमात्रका वाचक है। उनके साथ 'अव्यक्तादीनि' विशेषण जोड़कर यह भाव दिखलाया है कि आदिमें अर्थात् जन्मसे पहले इनका वर्तमान स्थूलशरीरोंसे सम्बन्ध नहीं था; 'अव्यक्तनिधनानि' से यह भाव दिखलाया है कि अन्तमें अर्थात् मरनेके बाद भी स्थूल शरीरोंसे इनका सम्बन्ध नहीं रहेगा और 'व्यक्तमध्यानि' से यह भाव दिखलाया है कि केवल जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त बीचकी अवस्थामें ही ये व्यक्त हैं अर्थात् इनका शरीरोंके साथ सम्बन्ध है।

प्रश्न—ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जैसे स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नकालसे पहले या पीछे नहीं है, केवल स्वप्नकालमें ही मनुष्यका उसके साथ सम्बन्ध-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिन शरीरोंके साथ केवल बीचकी अवस्थामें ही सम्बन्ध होता है, नित्य सम्बन्ध नहीं है उनके लिये क्या शोक करना है ? महाभारत-स्त्रीपर्वके दूसरे अध्यायमें विदुरजीने भी यही बात इस प्रकार कही है—

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः ।

नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥ १३ ॥

अर्थात् जिनको तुम अपने मान रहे हो, ये सब अदर्शनसे आये हुए थे यानी जन्मसे पहले अप्रकट थे और पुनः अदर्शनको प्राप्त हो गये। अतः वास्तवमें न ये तुम्हारे हैं और न तुम इनके हो; फिर इस विषयमें शोक कैसा ?

सम्बन्ध—आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसे समझानेके लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसके स्वरूपका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका निरूपण करते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥ *

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता ॥ २९ ॥

प्रश्न—'कोई एक ही इसे आश्चर्यकी भाँति देखता है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि आत्मा आश्चर्यमय है, इसलिये उसे देखनेवाला संसारमें कोई विरला ही होता है और वह उसे आश्चर्यकी भाँति देखता है। जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है; आत्माका अद्भुत और अलौकिक है। जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही अपनेको देखता है। उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती; इसलिये वह देखना आश्चर्यकी भाँति है।

प्रश्न—'वैसे ही कोई आश्चर्यकी भाँति इसका वर्णन करता है।' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि आत्मसाक्षात् कर चुकनेवाले सभी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष दूसरोंको समझानेके लिये आत्माके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते। जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले और वेदशास्त्रके ज्ञाता होते हैं, वे ही आत्माका वर्णन कर सकते हैं और उनका वर्णन करना भी आश्चर्यकी भाँति होता है। अर्थात् जैसे किसीको समझानेके लिये लौकिक वस्तुके स्वरूपका वर्णन किया जाता है, उस प्रकार आत्माका वर्णन नहीं किया जा सकता; उसका वर्णन अलौकिक और अद्भुत होता है।

* इसी श्लोकसे मिलता-जुलता कठोपनिषद्‌का मन्त्र इस प्रकार है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ (१ । २ । ७)

'जो (आत्मतत्त्व) बहुतोंको सुननेके लिये भी नहीं मिलता और बहुत-से सुननेवाले भी जिसे नहीं जान पाते, उस आत्माका वर्णन करनेवाला कोई आश्चर्यमय पुरुष ही होता है। उसे प्राप्त करनेवाला निपुण पुरुष भी कोई एक ही होता है तथा उसका ज्ञाता भी कोई कुशल आचार्यद्वारा उपदिष्ट आश्चर्यमय पुरुष ही होता है।'

जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझानेवाला नहीं है। उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है, क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्थामें कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है? तथापि विधिमुख और निषेधमुख आदि बहुत-से आश्चर्यमय संकेतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही उनका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है। वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता।

प्रश्न—'दूसरा इसको आश्चर्यकी भाँति सुनता है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस आत्माके वर्णनको सुननेवाला सदाचारी शुद्धचित्त श्रद्धालु आस्तिक पुरुष भी कोई विरला ही होता है और उसका सुनना भी आश्चर्यकी भाँति है। अर्थात् जिन पदार्थोंको वह पहले सत्य, सुखरूप और रमणीय समझता था तथा जिन शरीरादिको अपना स्वरूप मानता था, उन सबको अनित्य, नाशवान्, दुःखरूप और जड़ तथा आत्माको उनसे सर्वथा विलक्षण सुनकर उसे बड़ा भारी आश्चर्य होता है; क्योंकि वह तत्त्व उसका पहले कभी सुना या समझा हुआ नहीं होता तथा किसी भी लौकिक वस्तुसे उसकी समानता नहीं होती, इस कारण वह उसे बहुत ही अद्भुत मालूम होता है। तथा वह उस तत्त्वको तन्मय होकर सुनता है और सुनकर मुग्ध-सा हो जाता है, उसकी वृत्तियाँ दूसरी ओर नहीं जातीं—यही उसका आश्चर्यकी भाँति सुनना है।

प्रश्न—'कोई-कोई सुनकर भी इसको नहीं जानता' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिसके अन्तःकरणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती—ऐसा मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; अतएव इस आत्मतत्त्वका समझना अनधिकारीके लिये बड़ा ही दुर्लभ है।

प्रश्न—'आश्चर्यवत्' पद यहाँ आत्माका विशेषण है या उसे देखने, कहने और सुननेवालोंका अथवा देखना, वर्णन करना और श्रवण करना—इन क्रियाओंका?

उत्तर—'आश्चर्यवत्' पद यहाँ देखना, सुनना आदि क्रियाओंका विशेषण है; क्रियाविशेषण होनेसे उसका भाव कर्ता और कर्ममें अपने-आप ही आ जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका प्रतिपादन करके अब, आत्मा नित्य ही अवध्य है; अतः किसी भी प्राणीके लिये शोक करना उचित नहीं है'—यह बतलाते हुए भगवान् सांख्ययोगके प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीरोंमें सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

प्रश्न—'यह आत्मा सबके शरीरोंमें सदा ही अवध्य है' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यमें भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया कि समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, उन समस्त शरीरोंमें एक ही आत्मा है। शरीरोंके भेदसे अज्ञानके कारण आत्मामें भेद प्रतीत होता है, वास्तवमें भेद नहीं है। और वह आत्मा सदा ही अवध्य है, उसका कभी किसी भी साधनसे कोई भी नाश नहीं हो सकता।

प्रश्न—'इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेको योग्य नहीं है' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकरणमें यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है कि आत्मा सदा-सर्वदा अविनाशी है, उसका नाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है; अतः तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये शोक करना उचित नहीं है । क्योंकि जब उसका नाश किसी भी कालमें किसी भी साधनसे हो ही नहीं सकता, तब उसके लिये शोक करनेका अवकाश ही कहाँ है ? अतएव तुम्हें किसीके भी नाशकी आशङ्कासे शोक न करके युद्धके लिये तैयार हो जाना चाहिये ।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके अनुसार अनेक युक्तियोंद्वारा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और अकर्ता आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन करके तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरोंके लिये अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया । साथ ही प्रसङ्गवश आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन किया और अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी । अब सात श्लोकोंद्वारा क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये । क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि आत्माको नित्य और शरीरोंको अनित्य समझ लेनेके बाद शोक करना या युद्धादिसे भयभीत होना उचित नहीं है, यह बात तो मैंने तुमको समझा ही दी है; उसके अतिरिक्त यदि तुम अपने वर्णधर्मकी ओर देखो तो भी तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि युद्धसे विमुख न होना क्षत्रियका स्वाभाविक धर्म है (१८ । ४३) ।

प्रश्न—'हि' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ हेतुवाचक है । अभिप्राय यह है कि भयभीत क्यों नहीं होना चाहिये, इसकी पुष्टि उत्तरार्धमें की जाती है ।

प्रश्न—'क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेय नहीं है' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस युद्धका आरम्भ अनीति या लोभके कारण नहीं किया गया हो एवं जिसमें अन्यायाचरण नहीं किया जाता हो किन्तु जो धर्मसंगत हो, कर्तव्यरूपसे प्राप्त हो और न्यायानुकूल किया जाता हो, ऐसा युद्ध ही क्षत्रियके लिये अन्य समस्त धर्मोंकी अपेक्षा अधिक कल्याणकारक है । क्षत्रियके लिये उससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणप्रद धर्म नहीं है, क्योंकि धर्ममय युद्ध करनेवाला क्षत्रिय अनायास ही इच्छानुसार स्वर्ग या मोक्षको प्राप्त कर सकता है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥ ३२ ॥

प्रश्न—'पार्थ' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करके भगवान्, उनकी माता कुन्तीने हस्तिनापुरसे आते समय जो सन्देश कहलाया था, उसकी पुनः स्मृति दिलाते हैं। उस समय कुन्तीने भगवान्से कहा था—

एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥
(महा० उद्योग० १३७ । ९-१०)

अर्थात् 'धनञ्जय अर्जुनसे और सदा कमर कसे तैयार रहनेवाले भीमसे तुम यह बात कहना कि जिस कार्यके लिये क्षत्रिय-माता पुत्र उत्पन्न करती है, अब उसका समय सामने आ गया है।'

प्रश्न—यहाँ 'युद्धम्' के साथ 'यदृच्छयोपपन्नम्' विशेषण देकर उसे 'अपावृतम् स्वर्गद्वारम्' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'यदृच्छयोपपन्नम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि तुमने यह युद्ध जान-बूझकर खड़ा नहीं किया है। तुमलोगोंने तो सन्धि करनेकी बहुत चेष्टा की, किन्तु जब किसी प्रकार भी तुम्हारा धरोहरके रूपमें रक्खा हुआ राज्य बिना युद्धके वापस लौटा देनेको दुर्योधन राजी नहीं हुआ—उसने स्पष्ट कह दिया कि सूईकी नोक टिके इतनी जमीन भी मैं पाण्डवोंको नहीं दूँगा* (महा० उद्योग० १२७ । २५), तब तुमलोगोंको बाध्य होकर युद्धका आयोजन करना पड़ा; अतः यह युद्ध तुम्हारे लिये 'यदृच्छयोपपन्नम्' अर्थात् बिना इच्छा किये अपने-आप प्राप्त है। तथा 'अपावृतम् स्वर्गद्वारम्' विशेषण देकर यह दिखलाया है कि यह खुला हुआ स्वर्गका द्वार है, ऐसे धर्मयुद्धमें मरनेवाला मनुष्य सीधा स्वर्गमें जाता है, उसके मार्गमें कोई भी रोक-टोक नहीं कर सकता।

प्रश्न—'इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा धर्ममय युद्ध, जो कि अपने-आप कर्तव्य-रूपसे प्राप्त हुआ है और खुला हुआ स्वर्गद्वार है, हरेक क्षत्रियको नहीं मिल सकता। यह तो किन्हीं बड़े भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिला करता है। अतएव तुम्हारा बड़ा ही सौभाग्य है जो तुम्हें ऐसा धर्ममय युद्ध अनायास ही मिल गया है, अतएव अब तुम्हें इससे हटना नहीं चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार धर्ममय युद्ध करनेमें लाभ दिखलानेके बाद अब उसे न करनेमें हानि दिखलाते हुए भगवान् अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

प्रश्न—'अथ' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अथ' पद यहाँ पक्षान्तरमें है। अभिप्राय यह है कि अब प्रकारान्तरसे युद्धकी कर्तव्यता सिद्ध की जाती है।

प्रश्न—'संग्रामम्'के साथ 'इमम्' और 'धर्म्यम्'—इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह युद्ध धर्ममय होनेके कारण अवश्यकर्तव्य है, यह बात तुम्हें अच्छी तरह समझा दी गयी; इसपर भी यदि तुम किसी कारणसे युद्ध न करोगे तो तुम्हारे द्वारा 'स्वधर्मका त्याग' होगा और निवातकवचादि दानवोंके साथ युद्धमें विजय पानेके कारण तथा भगवान् शिवजीके साथ युद्ध करनेके कारण तुम्हारी जो संसारमें बड़ी भारी कीर्ति छायी है, यह

* यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव । तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति ॥

भी नष्ट हो जायगी। इसके सिवा कर्तव्यका त्याग करनेके कारण तुम्हें पाप भी होगा ही; अतएव तुम जो पापके भयसे युद्धका त्याग कर रहे हो और भयभीत हो रहे हो, यह सर्वथा अनुचित है।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे। और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग करके यह कहनेका क्या भाव है कि सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्ति करेंगे?

उत्तर—यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग करके इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि केवल स्वधर्म और कीर्तिका नाश होगा और तुम्हें पाप लगेगा, इतना ही नहीं; साथ ही देवता, ऋषि और मनुष्यादि सभी लोग तुम्हारी बहुत प्रकारसे निन्दा भी करेंगे। और वह अपकीर्ति ऐसी नहीं होगी जो थोड़े दिन होकर रह जाय; वह अनन्त कालतक बनी रहेगी। अतएव तुम्हारे लिये युद्धका त्याग सर्वथा अनुचित है।

प्रश्न—'माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यदि कदाचित् तुम यह मानते होओ कि अकीर्ति होनेमें हमारी क्या हानि है? तो ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। जो पुरुष संसारमें प्रसिद्ध हो जाता है, जिसे बहुत लोग श्रेष्ठ मानते हैं, ऐसे पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर दुःखदायिनी हुआ करती है। अतएव जब वैसी अकीर्ति होगी तब तुम उसे सहन न कर सकोगे; क्योंकि तुम संसारमें बड़े शूरवीर और श्रेष्ठ पुरुषके नामसे विख्यात हो, स्वर्गसे लेकर पातालतक सभी जगह तुम्हारी प्रतिष्ठा है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

प्रश्न—जिनकी दृष्टिमें 'तू बहुत सम्मानित होकर लघुताको प्राप्त होगा' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भीष्म, द्रोण और शल्य आदि तथा विराट, द्रुपद, सात्यकि और धृष्टद्युम्नादि महारथीगण, जो तुम्हारी बहुत प्रतिष्ठा करते आये हैं, तुम्हें बड़ा भारी शूरवीर, महान् योद्धा और धर्मात्मा मानते हैं, युद्धका त्याग करनेसे तुम उनकी दृष्टिमें गिर जाओगे—वे तुमको कायर समझने लगेंगे।

प्रश्न—'महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने महारथियोंकी दृष्टिमें अर्जुनके गिर जानेका ही स्पष्टीकरण किया है। अभिप्राय यह है कि वे महारथीलोग यह नहीं समझेंगे कि अर्जुन अपने स्वजनसमुदायपर दया करके या युद्धको पाप समझकर उसका परित्याग कर रहे हैं; वे तो यही समझेंगे कि ये भयभीत होकर अपने प्राण बचानेके लिये युद्धका त्याग कर रहे हैं। इस परिस्थितिमें युद्ध न करना तुम्हारे लिये किसी तरह भी उचित नहीं है।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे। उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

प्रश्न—चौंतीसवें श्लोकमें यह बात कह ही दी थी कि सभी प्राणी तुम्हारी निन्दा करेंगे; फिर यहाँ यह कहनेमें क्या विशेषता है कि तुम्हारे शत्रुलोग तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुम्हें बहुत-से न कहनेयोग्य वचन भी कहेंगे ?

उत्तर—चौंतीसवें श्लोकमें सर्वसाधारणके द्वारा सदा की जानेवाली निन्दाका वर्णन है और यहाँ दुर्योधनादि शत्रुओंद्वारा मुँहपर कहे जानेवाले निन्दायुक्त दुर्वचनोंकी बात है । वह निन्दा तो केवल माननीय पुरुषोंके लिये ही अधिक दुःखदायिनी होती है, सबके लिये नहीं । किन्तु अपने मुँहपर शत्रुओंके दुर्वचनोंको सुनकर तो साधारण मनुष्यको भी भयङ्कर दुःख होता है । इसलिये भगवान्‌का कहना है कि केवल जगत्‌में तुम्हारी निन्दा होगी और तुम्हें जो अबतक बड़ा शूरवीर मानते थे वे कायर समझने लगेंगे, इतनी ही बात नहीं है; किन्तु उनमेंसे जो तुम्हारा अहित चाहनेवाले हैं, तुम्हारी हानिसे जिनको हर्ष होता है, वे तुम्हारे वैरी दुर्योधनादि तुम्हारे बल,पराक्रम और युद्धकौशल आदिकी निन्दा करते हुए तुमपर भाँति-भाँतिके असह्य वाग्बाणोंकी वर्षा भी करेंगे, वे कहेंगे—अर्जुन किस दिनका वीर है, वह तो जन्मका ही नपुंसक है । उसके गाण्डीव धनुषको और उसके पौरुषको धिक्कार है ।

प्रश्न—'उससे अधिक दुःख और क्या होगा' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने उपर्युक्त घटनाके परिणामको महान् दुःखमय सिद्ध किया है । अभिप्राय यह है कि इससे बढ़कर दुःख तुम्हारे लिये और क्या होगा; अतएव अभी तुम जो युद्धके त्यागमें सुख समझ रहे हो और युद्ध करनेमें दुःख मान रहे हो, यह तुम्हारी भूल है । युद्धका त्याग करनेमें ही तुम्हारे लिये सबसे अधिक दुःख है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बहुत-से हेतुओंको दिखलाकर युद्ध न करनेमें अनेक प्रकारकी हानियोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् युद्ध करनेमें दोनों तरहसे लाभ दिखलाते हुए अर्जुनको युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा देते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—छठे श्लोकमें अर्जुनने यह बात कही थी कि मेरे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है या न करना तथा युद्धमें हमारी विजय होगी या हमारे शत्रुओंकी, इसका मैं निर्णय नहीं कर सकता; उसका उत्तर देते हुए भगवान् इस वाक्यसे युद्ध करते-करते मारा जानेमें अथवा विजय प्राप्त कर लेनेमें—दोनोंमें ही लाभ दिखलाकर अर्जुनके लिये युद्धका श्रेष्ठत्व सिद्ध करते हैं । अभिप्राय यह है कि यदि युद्धमें तुम्हारे शत्रुओंकी जीत हो गयी और तुम मारे गये तो भी अच्छी बात है, क्योंकि युद्धमें प्राणत्याग करनेसे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा और यदि विजय प्राप्त कर लोगे तो पृथ्वीका राज्यसुख भोगोगे; अतएव दोनों ही दृष्टियोंसे तुम्हारे लिये तो युद्ध करना ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ है । इसलिये तुम युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया; किन्तु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने कुलका नाश नहीं करना चाहता। अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस प्रकार युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

प्रश्न—जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझना क्या है ?

उत्तर—युद्धमें होनेवाले जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें किसी तरहकी भेदबुद्धिका न होना अर्थात् उनके कारण मनमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी प्रकारके विकारोंका न होना ही उन सबको समान समझना है।

प्रश्न—उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि तुमको राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा नहीं है तो युद्धमें होनेवाले विषमभावका सर्वथा त्याग करके उपर्युक्त प्रकारसे युद्धके प्रत्येक परिणाममें सम होकर, उसके बाद तुम्हें युद्ध करना चाहिये। ऐसा युद्ध सदा रहनेवाली परम शान्तिको देनेवाला है।

प्रश्न—'इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने अर्जुनके उन वचनोंका उत्तर दिया है जिनमें अर्जुनने युद्धमें स्वजन-वधको महान् पापकर्म बतलाया है और ऐसा बतलाकर युद्ध न करना ही उचित सिद्ध किया है (१ । ३६, ३९, ४५)। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे युद्ध करनेपर तुम्हें किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं लगेगा अर्थात् तू शुभाशुभ कर्मबन्धनरूप पापसे भी सर्वथा मुक्त हो जायगा।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समतापूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥ ३९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'एषा' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद किस बुद्धिका वाचक है और 'यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको जिस समभावसे युक्त होकर युद्ध करनेके लिये कहा है, उसी समताका वाचक यहाँ 'एषा' पदके सहित 'बुद्धिः' पद

है; क्योंकि 'एषा' पद अत्यन्त निकटवर्ती वस्तुका लक्ष्य करानेवाला है। अतएव इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि ज्ञानयोगके साधनसे यह समभाव किस प्रकार प्राप्त होता है, ज्ञानयोगीको आत्माका यथार्थ स्वरूप विवेकद्वारा समझकर किस प्रकार समभावसे युक्त रहते हुए वर्णाश्रमोचित विहित कर्म करने चाहिये—ये सब बातें ग्यारहवें श्लोकसे लेकर तीसवें श्लोकतक बतला दी गयीं।

प्रश्न—ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतकके प्रकरणमें इस समभावका वर्णन किस प्रकार किया गया है?

उत्तर—आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही मनुष्यका समस्त पदार्थोंमें विषमभाव हो रहा है। जब आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेनेपर उसकी दृष्टिमें आत्मा और परमात्माका भेद नहीं रहता और एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब उसकी किसीमें भेदबुद्धि हो ही कैसे सकती है। इसीलिये भगवान्‌ने एकादश श्लोकमें मरने और जीवित रहनेमें भ्रममूलक इस विषमभाव या भेदबुद्धिके कारण होनेवाले शोकको सर्वथा अनुचित बतलाकर उस शोकसे रहित होनेके लिये सङ्केत किया, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें आत्माके नित्यत्व और असङ्गत्वका प्रतिपादन करते हुए यह दिखलाया है कि प्राणियोंके मरनेमें और जीवित रहनेमें जो भेद प्रतीत होता है, यह अज्ञानजनित है, आत्मज्ञानी धीर पुरुषोंमें यह भेदबुद्धि नहीं रहती; क्योंकि आत्मा सम, निर्विकार और नित्य है। तदनन्तर शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके द्वारा भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाले शब्दादि समस्त विषय-संयोगोंको अनित्य बतलाकर अर्जुनको उन्हें सहन करनेके लिये—उनमें सम रहनेके लिये कहा (२।१४) और सुख-दुःखादिको सम समझनेवाले पुरुषकी प्रशंसा करके उसे परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बतलाया (२।१५)। इसके बाद सत्यासत्य वस्तुका निर्णय करके अर्जुनको युद्धके लिये आज्ञा देकर (२।१६—१८) अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने-मारनेवाला माननेवालोंको अज्ञानी बतलाकर आत्माके निर्विकारत्व, अकर्तृत्व और नित्यत्वका प्रतिपादन करते हुए यह बात सिद्ध कर दी कि शरीरोंके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता; इसलिये इस मरने और जीनेमें विषमभाव करके तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये किञ्चिन्मात्र भी शोक करना उचित नहीं है (२।१९—३०)। इस प्रकार उक्त प्रकरणमें सत्य और असत्य पदार्थोंके विवेचनद्वारा आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होनेवाली समताका प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न—'इमाम्' पद किस बुद्धिका वाचक है और अब तू इसको योगके विषयमें सुन, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—'इमाम्' पद भी उसी पूर्वश्लोकमें वर्णित समभावरूप बुद्धिका वाचक है। अतः उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वही समभाव कर्मयोगके साधनमें किस प्रकार होता है, कर्मयोगीको किस प्रकार समभाव रखना चाहिये और उस समताका क्या फल है—ये सब बातें मैं अब अगले श्लोकसे तुम्हें बतलाना आरम्भ करता हूँ; अतएव तू उन्हें सुननेके लिये सावधान हो जा।

प्रश्न—यदि यही बात है तो इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतकका प्रकरण किसलिये है?

उत्तर—वह प्रकरण अर्जुनको यह समझानेके लिये है कि तुम क्षत्रिय हो, युद्ध तुम्हारा स्वधर्म है, उसका त्याग तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित है और उसका करना सर्वथा लाभप्रद है। और अड़तीसवें श्लोकमें यह बात समझायी गयी है कि जब युद्ध करना ही है तो उसे ऐसी युक्तिसे करना चाहिये जिससे वह बन्धनका हेतु न बन सके। इसीलिये ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों ही साधनोंमें समभावसे युक्त होना आवश्यक बतलाया गया है। और इस श्लोकमें उस समभावका दोनों प्रकारके साधनोंके साथ देहली-दीपकन्यायसे सम्बन्ध दिखलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'कर्मबन्धम्' पदका क्या अर्थ है और उपर्युक्त समबुद्धिसे उसका नाश कर देना क्या है?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंसे यह जीव बँधा है तथा इस मनुष्यशरीरमें पुनः अहंता, ममता, आसक्ति और कामनासे नये-नये कर्म करके और भी अधिक जकड़ा जाता है। अतः यहाँ

इस जीवात्माको बार-बार नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें घुमानेके हेतुभूत जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके सञ्चित संस्कार-समुदायका वाचक 'कर्मबन्धम्' पद है। कर्मयोग-की विधिसे समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छा-का त्याग करके तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर यानी राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर जो इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए तथा वर्तमानमें किये जानेवाले समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करने-की शक्तिको नष्ट कर देना—उन कर्मोंको भूने हुए बीज-की भाँति कर देना है—यही समबुद्धिसे कर्मबन्धनको सर्वथा नष्ट कर डालना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है॥ ४०॥

प्रश्न—इस कर्मयोगमें आरम्भका नाश नहीं है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यदि मनुष्य इस कर्मयोगके साधनका आरम्भ करके उसके पूर्ण होनेके पहले बीचमें ही त्याग कर दे तो जिस प्रकार किसी खेती करनेवाले मनुष्यके खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षा न करनेसे या उसमें जल न सींचनेसे वे बीज नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार इस कर्मयोगके आरम्भका नाश नहीं होता, इसके संस्कार साधकके अन्तःकरणमें स्थित हो जाते हैं और वे साधकको दूसरे जन्ममें जबरदस्ती पुनः साधनमें लगा देते हैं (६। ४३-४४)। इसका विनाश नहीं होता, इसीलिये भगवान्‌ने कर्मयोगको सत् कहा है (१७। २७)।

प्रश्न—इसमें प्रत्यवाय यानी उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहीं उसके अच्छे-बुरे फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय अर्थात् विपरीत फल भी नहीं होता। सकामभावसे देव, पितृ, मनुष्य आदिकी सेवामें किसी कारणवश त्रुटि हो जाने-पर उनके रुष्ट होनेसे साधकका अनिष्ट भी हो सकता है; किन्तु स्वार्थरहित यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कर्मोंके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका विपरीत फलरूप अनिष्ट नहीं होता। अथवा जैसे रोगनाशके लिये सेवन की हुई ओषधि अनुकूल न पड़नेसे रोगका नाश करनेवाली न होकर रोगको बढ़ानेवाली हो जाती है, उस प्रकार इस कर्मयोगके साधनका विपरीत परिणाम नहीं होता (६। ४०)। अर्थात् यदि वह पूर्ण न होने-के कारण इस जन्ममें साधकको परमपदकी प्राप्ति न करा सके तो भी उसके पालन करनेवाले मनुष्यको न तो पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप या इस जन्ममें होनेवाले आनुषङ्गिक हिंसादिके फलस्वरूप तिर्यक्‌योनि या नरकोंका ही भोग करना पड़ता है और न अपने पूर्वकृत शुभ कर्मोंके फलरूप इस लोक या परलोकके सुखभोगसे वञ्चित ही रहना पड़ता है। वह पुरुष पुण्यवानोंके उत्तम लोकोंको ही प्राप्त होता है और वहाँ बहुत कालतक निवास करके पुनः विशुद्ध श्रीमानोंके घर-में जन्म लेता है अथवा योगीकुलमें जन्म लेता है और पहलेके अभ्याससे पुनः उस साधनमें प्रवृत्त हो जाता है। (६। ४१ से ४४)

प्रश्न—'प्रत्यवायो न विद्यते' का अर्थ कर्मयोगमें विघ्न-बाधा—रुकावट नहीं आती, ऐसा ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—पूर्वजन्मके पापके कारण विषयभोगोंका एवं प्रमादी, विषयी और नास्तिक पुरुषोंका संग होनेसे साधनमें विघ्न-बाधा—रुकावट तो आ सकती है; किन्तु निष्काम कर्मका परिणाम बुरा नहीं होता। इसलिये विपरीत फलरूप दोष नहीं होता, यही अर्थ लेना ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद यहाँ किसका वाचक है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'योग' के नामसे जिसका वर्णन किया गया है, उसी कर्मयोगका वाचक है।

प्रश्न—कर्मयोग किसको कहते हैं?

उत्तर—शास्त्रविहित उत्तम क्रियाका नाम 'कर्म' है और समभावका नाम 'योग' है (२ । ४८); अतः ममता-आसक्ति, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदिसे रहित होकर जो समतापूर्वक अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करना है, वही कर्मयोग है। इसीको समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म और मत्कर्म भी कहते हैं।

प्रश्न—'इस 'कर्मयोग'रूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन महान् भयसे रक्षा कर लेता है' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यह कर्मयोगका साधन यदि अपनी पूर्ण सीमातक पहुँच जाता है, तब तो वह मनुष्यको उसी क्षण परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। अतः इसके पूर्ण साधनके महत्त्वका तो कहना ही क्या है, पर यदि मनुष्य इसका कुछ आंशिक साधन कर लेता है अर्थात् समत्वकी अटल स्थिति न होकर यदि मनुष्यके द्वारा थोड़े-से भी कर्तव्य-कर्मका आचरण समभावसे हो जाता है और वह थोड़ा-सा भी समभाव यदि अन्तकालमें स्थिर हो जाता है, तब तो उसी समय मनुष्यको निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति करा देता है (२ । ७२); नहीं तो वह जन्मान्तरमें साधकको पुनः साधनमें प्रवृत्त करके परम गतिकी प्राप्ति करा देता है (६ । ४१—४५)। इस प्रकार यथासमय उसका अवश्य उद्धार कर देता है। सकामभावसे हजारों वर्षोंतक किये हुए बड़े-से-बड़े यज्ञ, दान, तप, तीर्थसेवन और व्रत, उपवास आदि कर्म भी मनुष्यका संसारसे उद्धार नहीं कर सकते और समभावसे किये हुए शास्त्रविहित भिक्षाटन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प आदि छोटे-से-छोटे जीविकाके कर्म भी भावपूर्ण होनेपर क्षणमात्रमें संसारसे उद्धार करनेवाले बन जाते हैं। क्योंकि कल्याण-साधनमें 'कर्म' की अपेक्षा 'भाव' की ही प्रधानता है।

प्रश्न—जब कि यह कर्मयोगका थोड़ा-सा साधन वृद्धिको प्राप्त होनेपर ही महान् भयसे रक्षा करता है, तब फिर थोड़ेका क्या महत्त्व रहा?

उत्तर—निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है—यही उसका महत्त्व है।

प्रश्न—यदि कर्मयोगका थोड़ा-सा साधन भी महान् भयसे रक्षा करनेवाला है, तब उसका पूर्ण साधन करनेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—थोड़ा-सा साधन भी रक्षा करनेवाला तो है—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उसमें समयका नियम नहीं है; पता नहीं, वह इस जन्ममें उद्धार करे या जन्मान्तरमें; क्योंकि वह थोड़ा-सा साधन क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर पूर्ण होनेपर ही उद्धार करेगा। अतएव शीघ्र कल्याण चाहनेवाले प्रयत्नशील मनुष्योंको तो तत्परता और उत्साहके साथ पूर्णरूपमें ही समत्व प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—महान् भय किसे कहते हैं और उससे रक्षा करना क्या है?

उत्तर—जीवोंको सबसे अधिक भय मृत्युसे होता है अतः अनन्त कालतक पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहना ही महान् भय है। इसी जन्म-मृत्युरूप [illegible] भयको भगवान्‌ने आगे चलकर [illegible] नामसे कहा है (१२ । ७)। जैसे [illegible] होती है उसी प्रकार इस संसार[illegible] की अनन्त लहरें उठती और [illegible] समुद्रकी लहरें तो चाहे [illegible]

पर जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता तबतक कितनी बार मरना पड़ेगा ? इसकी गणना कोई भी नहीं कर सकता। ऐसे इस मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार कर देना—सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छुड़ाकर इस प्रपञ्चसे सर्वथा अतीत सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे मिला देना ही महान् भयसे रक्षा करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

हे अर्जुन! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥ ४१॥

प्रश्न—'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद यहाँ किस बुद्धिका वाचक है और वह एक ही है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—अटल और स्थिर निश्चय ही जिस बुद्धिका स्वरूप है, उनचालीसवें श्लोकमें जिस बुद्धिसे युक्त होनेका फल कर्मबन्धनसे मुक्त होना बतलाया है, उस स्थायी समभावरूप निश्चयात्मिका बुद्धिका वाचक यहाँ 'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद है; क्योंकि इस प्रकरणमें जगह-जगह इसी अर्थमें 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग हुआ है तथा 'वह बुद्धि एक ही है' यह कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि इसमें केवलमात्र एक सच्चिदानन्द परमात्माका ही निश्चय रहता है। नाना भोग और उनकी प्राप्तिके उपायोंको इसके निश्चयमें स्थान नहीं मिलता। इसीको स्थिरबुद्धि और समबुद्धि भी कहते हैं।

प्रश्न—'अव्यवसायिनाम्' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और उनकी बुद्धियोंको बहुत भेदोंवाली और अनन्त बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनमें उपर्युक्त निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है, अज्ञानजनित विषमभावके कारण जिनका अन्तःकरण मोहित हो रहा है, उन विवेकहीन भोगासक्त मनुष्योंका वाचक 'अव्यवसायिनाम्' पद है। उनकी बुद्धियोंको बहुत भेदोंवाली और अनन्त बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सकामभावसे यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्योंके भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहते हैं; कोई एक किसी भोगकी प्राप्तिके लिये किसी प्रकारका कर्म करता है, तो दूसरा उससे भिन्न किन्हीं दूसरे ही भोगोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे ही प्रकारका कर्म करता है। इसके सिवा वे किसी एक उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्ममें भी अनेक प्रकारके भोगोंकी कामना किया करते हैं और संसारके समस्त पदार्थोंमें और घटनाओंमें उनका विषमभाव रहता है। किसीको प्रिय समझते हैं, किसीको अप्रिय समझते हैं। एक ही पदार्थको किसी अंशमें प्रिय समझते हैं। और किसी अंशमें अप्रिय समझते हैं। इस प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें, व्यक्तियोंमें और घटनाओंमें उनकी अनेक प्रकारसे विषमबुद्धि रहती है और उसके अनन्त भेद होते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगीके लिये अवश्य धारण करनेयोग्य निश्चयात्मिका बुद्धिका और त्याग करनेयोग्य सकाम मनुष्योंकी बुद्धियोंका स्वरूप बतलाकर अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, नकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा हनेवाले हैं—वे अविवेकीजन इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी यायोंका वर्णन करनेवाली है उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥ ४२-४३-४४ ॥

प्रश्न—'कामात्मानः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—यहाँ 'काम' शब्द भोगोंका वाचक है; उन गोंमें अत्यन्त आसक्त होकर उनका चिन्तन करते-ते जो तन्मय हो जाते हैं, जो उनके पीछे अपने पुरुषत्वको सर्वथा भूले रहते हैं—ऐसे भोगासक्त नुष्योंका वाचक 'कामात्मानः' पद है ।

प्रश्न—'वेदवादरताः' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—वेदोंमें इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्तिके लिये बहुत प्रकारके भिन्न-भिन्न काम्य कर्मोंका धान किया गया है और उन कर्मोंके भिन्न-भिन्न फल तलाये गये हैं; वेदके उन वचनोंमें और उनके द्वारा तलाये हुए फलरूप भोगोंमें जिनकी अत्यन्त आसक्ति , उन मनुष्योंका वाचक यहाँ 'वेदवादरताः' पद है। दोंमें जो संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाले और रमात्माके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले वचन , उनमें प्रेम रखनेवाले मनुष्योंका वाचक यहाँ वेदवादरताः' पद नहीं है; क्योंकि जो उन वचनोंमें ीति रखनेवाले और उनको समझनेवाले हैं, वे यह हीं कहते कि 'स्वर्गप्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है—इससे ढ़कर कुछ है ही नहीं ।' अतएव यहाँ 'वेदवादरताः' द उन्हीं मनुष्योंका वाचक है जो इस रहस्यको नहीं ानते कि समस्त वेदोंका वास्तविक अभिप्राय परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करना है, वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य एक परमेश्वर ही है (१५ । १५) और इस रहस्यको न समझनेके कारण ही जो वेदोक्त सकाम कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त हो रहे हैं ।

प्रश्न—'स्वर्गपराः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो स्वर्गको ही परम प्राप्य वस्तु समझते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्गसे बढ़कर कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है ही नहीं, इसी कारण जो परमात्माकी प्राप्तिके साधनों-से विमुख रहते हैं, उनका वाचक 'स्वर्गपराः' पद है ।

प्रश्न—यहाँ 'नान्यदस्तीति वादिनः' इस विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—जो अविवेकीजन भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं, उनकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके सुख और स्वर्गादि परलोकके सुखोंके अतिरिक्त मोक्ष आदि कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा की जाय । स्वर्गकी प्राप्तिको ही वे सर्वोपरि परम ध्येय मानते हैं और वेदोंका तात्पर्य भी वे इसीमें समझते हैं; अतएव वे इसी सिद्धान्तका कथन एवं प्रचार भी करते हैं । यही भाव 'नान्यदस्तीति वादिनः' इस विशेषणसे व्यक्त किया गया है ।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंको 'अविपश्चितः' विवेकहीन कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—उनको विवेकहीन कहकर भग

दिखलाया है कि यदि वे सत्यासत्य वस्तुका विवेचन करके अपने कर्तव्यका निश्चय करते तो इस प्रकार भोगोंमें नहीं फँसते। अतएव मनुष्यको विवेकपूर्वक अपने कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये।

प्रश्न—'वाचम्' के साथ 'इमाम्,' 'याम्' और 'पुष्पिताम्' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—'इमाम्' और 'याम्' विशेषणोंसे यह भाव दिखलाया गया है कि वे अपनेको पण्डित माननेवाले मनुष्य जो दूसरोंको ऐसा कहा करते हैं कि स्वर्गके भोगोंसे बढ़कर अन्य कुछ है ही नहीं। तथा जन्मरूप कर्मफल देनेवाली जिस वेदवाणीका वे वर्णन करते हैं, वही वाणी उनके और उनका उपदेश सुननेवालोंके चित्तका अपहरण करनेवाली होती है तथा 'पुष्पिताम्' विशेषणसे यह भाव दिखलाया है कि उस वाणीमें यद्यपि वास्तवमें विशेष महत्त्व नहीं है, वह नाशवान् भोगोंके नाममात्र क्षणिक सुखका ही वर्णन करती है तथापि वह टेसूके फूलकी भाँति ऊपरसे बड़ी रमणीय और सुन्दर होती है, इस कारण सांसारिक मनुष्य उसके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं?

प्रश्न—यहाँ 'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद किसका वाचक है और समाधिका अर्थ परमात्मा कैसे किया गया है तथा जिनका चित्त उपर्युक्त पुष्पिता वाणीद्वारा हरा गया है एवं जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इकतालीसवें श्लोकमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उसी निश्चयात्मिका बुद्धिका वाचक यहाँ 'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद है। 'समाधीयते अस्मिन् बुद्धिः इति समाधिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ समाधिका अर्थ परमात्मा किया गया है। तथा उपर्युक्त वाक्यसे यहाँ यह भाव दिखलाया है कि उन मनुष्योंका चित्त भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त रहनेके कारण हर समय अत्यन्त चञ्चल रहता है और वे अत्यन्त स्वार्थपरायण होते हैं; अतएव उनकी परमात्मामें अटल और स्थिर निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।

सम्बन्ध—इस प्रकार भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त सकाम मनुष्योंमें निश्चयात्मिका बुद्धिके न होनेकी बात कहकर अब कर्मयोगका उपदेश देनेके उद्देश्यसे पहले भगवान् अर्जुनको उपर्युक्त भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तिसे रहित होकर समभावसे सम्पन्न होनेके लिये कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

हे अर्जुन! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योगक्षेमको न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो॥ ४५॥

प्रश्न—'त्रैगुण्यविषयाः' पदका क्या अर्थ है और वेदोंको 'त्रैगुण्यविषयाः' कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यको 'त्रैगुण्य' कहते हैं। अतः समस्त भोग और ऐश्वर्यमय पदार्थों और उनकी प्राप्तिके उपायभूत समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'त्रैगुण्य' शब्द है; उन सबका अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित जिनमें वर्णन हो, उनको 'त्रैगुण्यविषयाः' कहते हैं। यहाँ वेदोंको 'त्रैगुण्यविषयाः' बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्डका वर्णन अधिक होनेके कारण वेद 'त्रैगुण्यविषय' हैं।

प्रश्न—'निस्त्रैगुण्य' होना क्या है?

उत्तर—तीनों गुणोंके कार्यरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें तथा उनके साधनभूत समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित हो जाना ही 'निस्त्रैगुण्य' होना है। यहाँ स्वरूपसे समस्त कर्मोंका त्याग कर देना निस्त्रैगुण्य होना नहीं है; क्योंकि

स्वरूपसे समस्त कर्मोंका और समस्त विषयोंका त्याग कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता (३ । ५); यह शरीर भी तो तीनों गुणोंका ही कार्य है, जिसका त्याग बनता ही नहीं । इसलिये यही समझना चाहिये कि शरीरमें और उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनासे रहित होना ही यहाँ निस्त्रैगुण्य अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यसे रहित होना है ।

प्रश्न–'द्वन्द्व' किनको कहते हैं और उनसे रहित होना क्या है ?

उत्तर–सुख-दुःख, लाभ-हानि, कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान और अनुकूल-प्रतिकूल आदि परस्परविरोधी युग्म पदार्थोंका नाम द्वन्द्व है और इन सबके संयोग-वियोगमें सदा ही सम रहना, इनके द्वारा विचलित या मोहित न किया जाना अर्थात् हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदिसे रहित रहना ही इनसे रहित होना है ।

प्रश्न–'नित्यसत्त्व' क्या है और उसमें स्थित होना क्या है?

उत्तर–सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही नित्यसत्त्व–सत्य वस्तु हैं; अतएव नित्य अविनाशी सर्वज्ञ परम पुरुष परमेश्वर-के स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए उनमें *अटलभावसे स्थित रहना ही नित्य वस्तुमें स्थित होना है ।*

प्रश्न–'नित्यसत्त्वस्थः' का अर्थ यदि निरन्तर सत्त्व-गुणमें स्थित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर–ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें हानिकी कोई बात नहीं है; किन्तु उपर्युक्त अर्थमें और भी अच्छा भाव है, क्योंकि कर्मयोगका अन्तिम परिणाम समस्त गुणोंसे अतीत होकर परमात्माको प्राप्त कर लेना कहा गया है ।

प्रश्न–'योगक्षेम' किसको कहते हैं और अर्जुनको निर्योगक्षेम होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर–अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी कामनाका त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका भी सर्वथा त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है । *अभिप्राय यह है कि तुम ममता* और आसक्तिसे सर्वथा रहित हो जाओ, किसी भी वस्तुकी प्राप्ति या रक्षाको चाहनेवाले मत बनो ।

प्रश्न–'आत्मवान्' किसको कहते हैं और अर्जुनको 'आत्मवान्' होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर–इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण और शरीरका वाचक यहाँ 'आत्मा' पद है । मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जब-तक मनुष्यके वशमें नहीं हो जाते, उसके अपने नहीं बन जाते, उसके शत्रु बने रहते हैं, तबतक वह 'आत्मवान्' नहीं है । अतएव जिसने अपने मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियों-को भलीभाँति वशमें कर लिया है, उसको 'आत्मवान्' यानी 'आत्मावाला' कहना चाहिये । जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, उसको 'समत्वयोग' का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह साधन करनेसे सहजमें ही समत्वयोग-को पा सकता है । इसलिये भगवान्ने यहाँ अर्जुनको 'आत्मवान्' होनेके लिये कहा है ।

सम्बन्ध–पूर्वश्लोकमें अर्जुनको यह बात कही गयी कि सब वेद तीनों गुणोंके कार्यका प्रतिपादन करने-वाले हैं और तुम तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगोंमें और उनके साधनोंमें आसक्तिरहित हो जाओ । अब उसके फलस्वरूप ब्रह्मज्ञानका महत्त्व बतलाते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है ॥ ४६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें जलाशयके दृष्टान्तसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—इस श्लोकमें जलाशयका दृष्टान्त देकर भगवान्‌ने ज्ञानी महात्माओंकी आत्यन्तिक तृप्तिका वर्णन किया है । अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी, कूप, तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसकी जलविषयक सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही जो पुरुष समस्त भोगोंमें ममता, आसक्तिका त्याग करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको जान लेता है, जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है । अतः ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके पूर्णतया 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना चाहिये ।

प्रश्न—सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें मनुष्यको जितने जलका प्रयोजन होता है, उतना जल वह ले लेता है, इसी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने प्रयोजनके अनुसार वेदोंके अंशको ले लेता है—ऐसा अर्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें कोई हानिकी बात नहीं है, किन्तु उपर्युक्त अर्थका भाव और भी सुन्दर है, क्योंकि ब्रह्मको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई भी प्रयोजन नहीं रहता (३ । १८) ।

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

प्रश्न—'कर्मणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है', इस कथनसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित हैं, उनका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है । शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंका वाचक 'कर्मणि' पद नहीं है; क्योंकि पापकर्मोंमें मनुष्यका अधिकार नहीं है, उनमें तो वह राग-द्वेषके वशमें होकर प्रवृत्त हो जाता है, यह उसकी अनधिकार चेष्टा है । इसीलिये वैसे कर्म करनेवालोंको नरकादिमें दुःख भुगताकर दण्ड दिया जाता है । यहाँ 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है' यह कहकर भगवान्‌ने ये भाव दिखलाये हैं—

(१) इस मनुष्यशरीरमें ही जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी जाती है; अतः यदि वह अपने अधिकारके अनुसार परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करता रहे और उन कर्मोंमें तथा उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बना ले तो वह सहजमें ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है । तुम्हें इस समय मनुष्यशरीर प्राप्त है, अतः तुम्हारा कर्मोंमें अधिकार है; इसलिये तुम्हें इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

(२) मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, उनका स्वरूपतः त्याग करनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है; यदि वह अहंकारपूर्वक हठसे कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी चेष्टा भी करे तो भी सर्वथा त्याग नहीं कर सकता (३ । ५), क्योंकि उसका स्वभाव उसे जबरदस्ती

कर्मोंमें लगा देता है (३ । ३३; १८ । ५९, ६०) । ऐसी परिस्थितिमें उसके द्वारा उस अधिकारका दुरुपयोग होता है तथा विहित कर्मोंके त्यागसे उसे शास्त्राज्ञाके त्यागका भी दण्ड भोगना पड़ता है । अतएव तुम्हें कर्तव्य-कर्म अवश्य करते रहना चाहिये, उनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।

(३) जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है, तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परम-पदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

प्रश्न—कर्मोंके फलोंमें तेरा कभी अधिकार नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है; उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा ? इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है । बहुत मनुष्य नाना प्रकारके भोगोंको भोगना चाहते हैं, पर इसके लिये सुयोग मिलना उनके हाथकी बात नहीं है । अनेक तरहके संयोग-वियोग वे नहीं चाहते, पर बलात्कारसे हो जाते हैं; कर्मोंके फलका विधान करना सर्वथा विधाताके अधीन है; मनुष्यका उसमें कुछ भी उपाय नहीं चलता । अवश्य ही पुत्रेष्टि आदि शास्त्रीय यज्ञानुष्ठानोंके साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होनेपर उनके फल प्राप्त होनेका निश्चित विधान है और वैसे कर्म सकाम मनुष्य कर भी सकते हैं; परन्तु उनका यह विहित फल भी कर्म-कर्ताके अधीन नहीं है, देवताके ही अधीन है । इसलिये इस प्रकार इच्छा करना कि अमुक वस्तुकी, धनैश्वर्यकी, मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाकी अथवा स्वर्ग आदि लोकोंकी मुझे प्राप्ति हो, एक प्रकारसे अज्ञान ही है । साथ ही ये सब अत्यन्त ही तुच्छ तथा अल्पकालस्थायी अनित्य पदार्थ हैं, अतएव तुमको तो किसी भी फलकी कामना नहीं करनी चाहिये ।

प्रश्न—तो क्या मुक्तिकी कामना भी नहीं करनी चाहिये ?

उत्तर—मुक्तिकी कामना शुभेच्छा होनेके कारण मुक्तिमें सहायक है; यद्यपि इस इच्छाका भी न होना उत्तम है, परन्तु भगवान्‌के तत्त्व और मर्मको यथार्थरूपसे जाने बिना इस इच्छासे रहित होकर और ईश्वराज्ञाके पालनको कर्तव्य समझकर हेतुरहित कर्मोंका आचरण करना बहुत ही कठिन है । अतएव मुक्तिकी कामना करना अनुचित नहीं है । मुक्तिकी इच्छा न रखनेसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति होगी, इस प्रकारका भाव भी छिपी हुई मुक्तिकी इच्छा ही है ।

प्रश्न—'कर्मफलका हेतु बनना' क्या है ? और अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है; कर्मोंमें और उनके फलमें ममता,

प्रश्न—इस श्लोकमें जलाशयके दृष्टान्तसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—इस श्लोकमें जलाशयका दृष्टान्त देकर भगवान्‌ने ज्ञानी महात्माओंकी आत्यन्तिक तृप्तिका वर्णन किया है । अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी, कूप, तड़ागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसकी जलविषयक सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही जो पुरुष समस्त भोगोंमें ममता, आसक्तिका त्याग करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको जान लेता है, जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है । अतः ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके पूर्णतया 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना चाहिये ।

प्रश्न—सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें मनुष्यको जितने जलका प्रयोजन होता है, उतना जल वह ले लेता है, इसी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने प्रयोजनके अनुसार वेदोंके अंशको ले लेता है—ऐसा अर्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें कोई हानिकी बात नहीं है, किन्तु उपर्युक्त अर्थका भाव और भी सुन्दर है, क्योंकि ब्रह्मको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई भी प्रयोजन नहीं रहता (३ । १८) ।

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

प्रश्न—'कर्मणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है', इस कथनसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित हैं, उनका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है । शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंका वाचक 'कर्मणि' पद नहीं है; क्योंकि पापकर्मोंमें मनुष्यका अधिकार नहीं है, उनमें तो वह राग-द्वेषके वशमें होकर प्रवृत्त हो जाता है, यह उसकी अनधिकार चेष्टा है । इसीलिये वैसे कर्म करनेवालोंको नरकादिमें दुःख भुगताकर दण्ड दिया जाता है । यहाँ 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है' यह कहकर भगवान्‌ने ये भाव दिखलाये हैं—

(१) इस मनुष्यशरीरमें ही जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी जाती है; [illegible] वह अपने अधिकारके अनुसार परमेश्वरकी [illegible] करता रहे [illegible] कर्मोंमें तथा उ[illegible] स[illegible] उन कर्मों[illegible] [illegible] सहज [illegible] तुम्हें इस [illegible] ोंमें [illegible] योग [illegible] का [illegible] त्याग [illegible] भी [illegible]

प्रश्न—इस श्लोकमें जलाशयके दृष्टान्तसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—इस श्लोकमें जलाशयका दृष्टान्त देकर भगवान्‌ने ज्ञानी महात्माओंकी आत्यन्तिक तृप्तिका वर्णन किया है । अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी, कूप, तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसकी जलविषयक सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही जो पुरुष समस्त भोगोंमें ममता, आसक्तिका त्याग करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको जान लेता है, जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है । अतः ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके पूर्णतया 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना चाहिये ।

प्रश्न—सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें मनुष्यको जितने जलका प्रयोजन होता है, उतना जल वह ले लेता है, इसी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने प्रयोजनके अनुसार वेदोंके अंशको ले लेता है—ऐसा अर्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें कोई हानिकी बात नहीं है, किन्तु उपर्युक्त अर्थका भाव और भी सुन्दर है, क्योंकि ब्रह्मको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई भी प्रयोजन नहीं रहता (३ । १८) ।

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

प्रश्न—'कर्मणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है', इस कथनसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित हैं, उनका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है । शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंका वाचक 'कर्मणि' पद नहीं है; क्योंकि पापकर्मोंमें मनुष्यका अधिकार नहीं है, उनमें तो वह राग-द्वेषके वशमें होकर प्रवृत्त हो जाता है, यह उसकी अनधिकार चेष्टा है । इसीलिये वैसे कर्म करनेवालोंको नरकादिमें दुःख भुगताकर दण्ड दिया जाता है । यहाँ 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है' यह कहकर भगवान्‌ने ये भाव दिखलाये हैं—

(१) इस मनुष्यशरीरमें ही जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी जाती है; अतः यदि वह अपने अधिकारके अनुसार परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करता रहे और उन कर्मोंमें तथा उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बना ले तो वह सहजमें ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है । तुम्हें इस समय मनुष्यशरीर प्राप्त है, अतः तुम्हारा कर्मोंमें अधिकार है; इसलिये तुम्हें इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

(२) मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, उनका स्वरूपतः त्याग करनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है; यदि वह अहंकारपूर्वक हठसे कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी चेष्टा भी करे तो भी सर्वथा त्याग नहीं कर सकता (३ । ५), क्योंकि उसका स्वभाव उसे जबरदस्ती

कर्मोंमें लगा देता है (३ । ३३; १८।५९, ६०) । ऐसी परिस्थितिमें उसके द्वारा उस अधिकारका दुरुपयोग होता है तथा विहित कर्मोंके त्यागसे उसे शास्त्राज्ञाके त्यागका भी दण्ड भोगना पड़ता है । अतएव तुम्हें कर्तव्य-कर्म अवश्य करते रहना चाहिये, उनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।

(३) जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है, तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परम-पदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

प्रश्न—कर्मोंके फलोंमें तेरा कभी अधिकार नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है; उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा ? इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है । बहुत मनुष्य नाना प्रकारके भोगोंको भोगना चाहते हैं, पर इसके लिये सुयोग मिलना उनके हाथकी बात नहीं है । अनेक तरहके संयोग-वियोग वे नहीं चाहते, पर बलात्कारसे हो जाते हैं; कर्मोंके फलका विधान करना सर्वथा विधाताके अधीन है; मनुष्यका उसमें कुछ भी उपाय नहीं चलता । अवश्य ही पुत्रेष्टि आदि शास्त्रीय यज्ञानुष्ठानोंके साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होनेपर उनके फल प्राप्त होनेका निश्चित विधान है और वैसे कर्म सकाम मनुष्य कर भी सकते हैं; परन्तु उनका यह विहित फल भी कर्म-कर्ताके अधीन नहीं है, देवताके ही अधीन है । इसलिये इस प्रकार इच्छा करना कि अमुक वस्तुकी, धनैश्वर्यकी, मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाकी अथवा स्वर्ग आदि लोकोंकी मुझे प्राप्ति हो, एक प्रकारसे अज्ञान ही है । साथ ही ये सब अत्यन्त ही तुच्छ तथा अल्पकालस्थायी अनित्य पदार्थ हैं, अतएव तुमको तो किसी भी फलकी कामना नहीं करनी चाहिये ।

प्रश्न—तो क्या मुक्तिकी कामना भी नहीं करनी चाहिये ?

उत्तर—मुक्तिकी कामना शुभेच्छा होनेके कारण मुक्तिमें सहायक है; यद्यपि इस इच्छाका भी न होना उत्तम है, परन्तु भगवान्‌के तत्त्व और मर्मको यथार्थरूपसे जाने बिना इस इच्छासे रहित होकर और ईश्वराज्ञाके पालनको कर्तव्य समझकर हेतुरहित कर्मोंका आचरण करना बहुत ही कठिन है । अतएव मुक्तिकी कामना करना अनुचित नहीं है । मुक्तिकी इच्छा न रखनेसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति होगी, इस प्रकारका भाव भी छिपी हुई मुक्तिकी इच्छा ही है ।

प्रश्न—'कर्मफलका हेतु बनना' क्या है ? और अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मों-में और उनके फलमें आसक्त होता है उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है; कर्मोंमें और उनके फलमें ममता,

प्रश्न–इस श्लोकमें जलाशयके दृष्टान्तसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर–इस श्लोकमें जलाशयका दृष्टान्त देकर भगवान्‌ने ज्ञानी महात्माओंकी आत्यन्तिक तृप्तिका वर्णन किया है। अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी, कूप, तड़ागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसकी जलविषयक सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही जो पुरुष समस्त भोगोंमें ममता, आसक्तिका त्याग करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको जान लेता है, जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है। अतः ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके पूर्णतया 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना चाहिये।

प्रश्न–सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें मनुष्यको जितने जलका प्रयोजन होता है, उतना जल वह ले लेता है, इसी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने प्रयोजनके अनुसार वेदोंके अंशको ले लेता है–ऐसा अर्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर–ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें कोई हानिकी बात नहीं है, किन्तु उपर्युक्त अर्थका भाव और भी सुन्दर है, क्योंकि ब्रह्मको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई भी प्रयोजन नहीं रहता ([illegible])।

सम्बन्ध–इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अ[illegible] भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित हो[illegible] लिये कह[illegible]

कर्मोंमें लगा देता है (३।३३; १८।५९, ६०)। ऐसी परिस्थितिमें उसके द्वारा उस अधिकारका दुरुपयोग होता है तथा विहित कर्मोंके त्यागसे उसे शास्त्राज्ञाके त्यागका भी दण्ड भोगना पड़ता है। अतएव तुम्हें कर्तव्य-कर्म अवश्य करते रहना चाहिये, उनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

(३) जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है, तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है। अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परम-पदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये।

प्रश्न—कर्मोंके फलोंमें तेरा कभी अधिकार नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है; उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा? इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है। मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है। बहुत मनुष्य नाना प्रकारके भोगोंको भोगना चाहते हैं, पर इसके लिये सुयोग मिलना उनके हाथकी बात नहीं है। अनेक तरहके संयोग-वियोग वे नहीं चाहते, पर बलात्कारसे हो जाते हैं; कर्मोंके फलका विधान करना सर्वथा विधाताके अधीन है; मनुष्यका उसमें कुछ भी उपाय नहीं चलता। अवश्य ही पुत्रेष्टि आदि शास्त्रीय यज्ञानुष्ठानोंके साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होनेपर उनके फल प्राप्त होनेका निश्चित विधान है और वैसे कर्म सकाम मनुष्य कर भी सकते हैं; परन्तु उनका यह विहित फल भी कर्म-कर्ताके अधीन नहीं है, देवताके ही अधीन है। इसलिये इस प्रकार इच्छा करना कि अमुक वस्तुकी, धनैश्वर्यकी, मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाकी अथवा स्वर्ग आदि लोकोंकी मुझे प्राप्ति हो, एक प्रकारसे अज्ञान ही है। साथ ही ये सब अत्यन्त ही तुच्छ तथा अल्पकालस्थायी अनित्य पदार्थ हैं, अतएव तुमको तो किसी भी फलकी कामना नहीं करनी चाहिये।

प्रश्न—तो क्या मुक्तिकी कामना भी नहीं करनी चाहिये?

उत्तर—मुक्तिकी कामना शुभेच्छा होनेके कारण मुक्तिमें सहायक है; यद्यपि इस इच्छाका भी न होना उत्तम है, परन्तु भगवान्‌के तत्त्व और मर्मको यथार्थरूपसे जाने बिना इस इच्छासे रहित होकर और ईश्वराज्ञाके पालनको कर्तव्य समझकर हेतुरहित कर्मोंका आचरण करना बहुत ही कठिन है। अतएव मुक्तिकी कामना करना अनुचित नहीं है। मुक्तिकी इच्छा न रखनेसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति होगी, इस प्रकारका भाव भी छिपी हुई मुक्तिकी इच्छा ही है।

प्रश्न—'कर्मफलका हेतु बनना' क्या है? और अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है; कर्मोंमें और उनके फलमें ममता,

प्रश्न—इस श्लोकमें जलाशयके दृष्टान्तसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—इस श्लोकमें जलाशयका दृष्टान्त देकर भगवान्‌ने ज्ञानी महात्माओंकी आत्यन्तिक तृप्तिका वर्णन किया है। अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी, कूप, तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसकी जलविषयक सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही जो पुरुष समस्त भोगोंमें ममता, आसक्तिका त्याग करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको जान लेता है, जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है। अतः ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके पूर्णतया 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना चाहिये।

प्रश्न—सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें मनुष्यको जितने जलका प्रयोजन होता है, उतना जल वह ले लेता है, इसी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने प्रयोजनके अनुसार वेदोंके अंशको ले लेता है—ऐसा अर्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें कोई हानिकी बात नहीं है, किन्तु उपर्युक्त अर्थका भाव और भी सुन्दर है, क्योंकि ब्रह्मको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई भी प्रयोजन नहीं रहता (३। १८)।

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

प्रश्न—'कर्मणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है', इस कथनसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित हैं, उनका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंका वाचक 'कर्मणि' पद नहीं है; क्योंकि पापकर्मोंमें मनुष्यका अधिकार नहीं है, उनमें तो वह राग-द्वेषके वशमें होकर प्रवृत्त हो जाता है, यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। इसीलिये वैसे कर्म करनेवालोंको नरकादिमें दुःख भुगताकर दण्ड दिया जाता है। यहाँ 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है' यह कहकर भगवान्‌ने ये भाव दिखलाये हैं—

(१) इस मनुष्यशरीरमें ही जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी जाती है; अतः यदि वह अपने अधिकारके अनुसार परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करता रहे और उन कर्मोंमें तथा उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बना ले तो वह सहजमें ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। तुम्हें इस समय मनुष्यशरीर प्राप्त है, अतः तुम्हारा कर्मोंमें अधिकार है; इसलिये तुम्हें इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये।

(२) मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है; उनका स्वरूपतः त्याग करनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है; यदि वह अहंकारपूर्वक हठसे कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी चेष्टा भी करे तो भी सर्वथा त्याग नहीं कर सकता (३। ५), क्योंकि उसका स्वभाव उसे जबरदस्ती

कर्मोंमें लगा देता है (३ । ३३; १८।५९, ६०) । ऐसी परिस्थितिमें उसके द्वारा उस अधिकारका दुरुपयोग होता है तथा विहित कर्मोंके त्यागसे उसे शास्त्राज्ञाके त्यागका भी दण्ड भोगना पड़ता है । अतएव तुम्हें कर्तव्य-कर्म अवश्य करते रहना चाहिये, उनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।

(३) जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है, तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परम-पदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

प्रश्न—कर्मोंके फलोंमें तेरा कभी अधिकार नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है; उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा ? इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है । बहुत मनुष्य नाना प्रकारके भोगोंको भोगना चाहते हैं, पर इसके लिये सुयोग मिलना उनके हाथकी बात नहीं है । अनेक तरहके संयोग-वियोग वे नहीं चाहते, पर बलात्कारसे हो जाते हैं; कर्मोंके फलका विधान करना सर्वथा विधाताके अधीन है; मनुष्यका उसमें कुछ भी उपाय नहीं चलता । अवश्य ही पुत्रेष्टि आदि शास्त्रीय यज्ञानुष्ठानोंके साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होनेपर उनके फल प्राप्त होनेका निश्चित विधान है और वैसे कर्म सकाम मनुष्य कर भी सकते हैं; परन्तु उनका यह विहित फल भी कर्म-कर्ताके अधीन नहीं है, देवताके ही अधीन है । इसलिये इस प्रकार इच्छा करना कि अमुक वस्तुकी, धनैश्वर्यकी, मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाकी अथवा स्वर्ग आदि लोकोंकी मुझे प्राप्ति हो, एक प्रकारसे अज्ञान ही है । साथ ही ये सब अत्यन्त ही तुच्छ तथा अल्पकालस्थायी अनित्य पदार्थ हैं, अतएव तुमको तो किसी भी फलकी कामना नहीं करनी चाहिये ।

प्रश्न—तो क्या मुक्तिकी कामना भी नहीं करनी चाहिये ?

उत्तर—मुक्तिकी कामना शुभेच्छा होनेके कारण मुक्तिमें सहायक है; यद्यपि इस इच्छाका भी न होना उत्तम है, परन्तु भगवान्‌के तत्त्व और मर्मको यथार्थरूपसे जाने बिना इस इच्छासे रहित होकर और ईश्वराज्ञाके पालनको कर्तव्य समझकर हेतुरहित कर्मोंका आचरण करना बहुत ही कठिन है । अतएव मुक्तिकी कामना करना अनुचित नहीं है । मुक्तिकी इच्छा न रखनेसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति होगी, इस प्रकारका भाव भी छिपी हुई मुक्तिकी इच्छा ही है ।

प्रश्न—'कर्मफलका हेतु बनना' क्या है ? और अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मों-में और उनके फलमें आसक्त होता है उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है; कर्मोंमें और उनके फलमें ममता,

आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देनेवालेको नहीं (१८।१२)। अतः अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये तुम अपने कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके करो।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्म करनेवाला मनुष्य क्या पापकर्मोंके फलका भी हेतु नहीं बनता ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाला मनुष्य किसी प्रकारके भी कर्मोंके फलका हेतु नहीं बनता। उसके शुभ और अशुभ सभी कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका अभाव हो जाता है; क्योंकि पापकर्मोंमें प्रवृत्तिका हेतु आसक्ति ही है; अतः आसक्ति, ममता और कामनाका सर्वथा अभाव हो जानेके बाद नवीन पाप तो उससे बनते नहीं और पहलेके किये हुए पाप ममता, आसक्तिरहित कर्मोंके प्रभावसे भस्म हो जाते हैं। इस कारण वह पापकर्मोंके फलका हेतु नहीं बनता और शुभ कर्मोंके फलका वह त्याग कर देता है, इस कारण उनके भी फलका हेतु नहीं बनता। इस प्रकार कर्म करनेवाले मनुष्यके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं (४।२३) और वह अनामय पदको प्राप्त हो जाता है (२।५१)।

प्रश्न—तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार शास्त्रविहित कर्मोंसे विपरीत निषिद्ध कर्मोंका आचरण करना कर्माधिकारका दुरुपयोग करना है, उसी प्रकार वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो अवश्यकर्तव्य है, उसका न करना भी उस अधिकारका दुरुपयोग करना है। विहित कर्मोंका त्याग किसी प्रकार भी न्यायसङ्गत नहीं है। अतः इनका मोहपूर्वक त्याग करना तामस त्याग है (१८।७) और शारीरिक क्लेशके भयसे त्याग करना राजस त्याग है (१८।८)। विहित कर्मोंका अनुष्ठान बिना किये मनुष्य कर्मयोगकी सिद्धिको भी नहीं पा सकता (३।४) अतः तुम्हारी किसी भी कारणसे विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह बात कही गयी कि तुमको न तो कर्मोंके फलका हेतु बनना चाहिये और न कर्म न करनेमें ही आसक्त होना चाहिये अर्थात् कर्मोंका त्याग भी नहीं करना चाहिये। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि तो फिर किस प्रकार कर्म करना चाहिये ? इसलिये भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

हे धनञ्जय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है॥ ४८॥

प्रश्न—सिद्धि और असिद्धिमें सम होनेपर आसक्तिका त्याग तो उसमें आ ही जाता है; फिर यहाँ अर्जुनको आसक्तिका त्याग करनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोगके आचरणकी प्रक्रिया बतलायी है। कर्मयोगका साधक जब कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका त्याग कर देता है, तब उसमें राग-द्वेषका और उनसे होनेवाले हर्ष-शोकादिका अभाव हो जाता है। ऐसा होनेसे ही वह सिद्धि और असिद्धिमें सम रह सकता है। इन दोषोंके रहते सिद्धि और असिद्धिमें सम नहीं रहा जा सकता। तथा सिद्धि और असिद्धिमें अर्थात् किये जानेवाले कर्मके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके अनुकूल और प्रतिकूल परिणाममें सम रहनेकी चेष्टा रखनेसे अन्तमें राग-द्वेष आदिका अभाव होता है। इस प्रकार आसक्तिके त्यागका और समताका

परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है एवं दोनों परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं; इसलिये भगवान्ने यहाँ आसक्तिका त्याग करके और सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके लिये कहा है।

प्रश्न—जब समत्वका ही नाम योग है, तब सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके अन्तर्गत ही योगमें स्थित होनेकी बात आ जाती है; फिर योगमें स्थित होनेके लिये अलग कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें समता रखते-रखते ही मनुष्यकी समभावमें अटल स्थिति होती है और समभावका स्थिर हो जाना ही कर्मयोगकी अवधि है। अतः यहाँ योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे काम नहीं चलेगा, प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये।

प्रश्न—'समत्व ही योग कहलाता है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने 'योग' पदका पारिभाषिक अर्थ बतलाया है। अभिप्राय यह है कि यहाँ योग समताका नाम है और किसी भी साधनके द्वारा समत्वको प्राप्त कर लेना ही योगी बनना है। अतएव तुमको कर्मयोगी बननेके लिये समभावमें स्थित होकर कर्म करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकामभावकी निन्दा और समभावरूप बुद्धियोगका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनञ्जय ! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

प्रश्न—'बुद्धियोगात्' पद यहाँ किस योगका वाचक है ? कर्मयोगका या ज्ञानयोगका ?

उत्तर—जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ 'बुद्धियोगात्' पद है। क्योंकि उन्चालीसवें श्लोकमें 'योगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है, इस कारण यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका अर्थ 'ज्ञानयोग' माननेकी गुंजाइश नहीं है। इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहनेवालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके 'अनामय पद' को प्राप्त हो जाता है (२ । ५१); इस कारण भी यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका प्रकरणविरुद्ध 'ज्ञानयोग' अर्थ मानना नहीं बन सकता। क्योंकि ज्ञानयोगीके लिये यह कहना नहीं बनता कि वह कर्मफलका त्याग करके अनामय पदको प्राप्त होता है; वह तो अपनेको कर्मका कर्ता ही नहीं समझता, फिर उसके लिये फलत्यागकी बात ही कहाँ रह जाती है ?

प्रश्न—बुद्धियोगकी अपेक्षा सकाम कर्मको अत्यन्त ही निम्नश्रेणीका बतलानेका क्या भाव है तथा यहाँ 'कर्म' पदका अर्थ निषिद्ध कर्म मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—सकाम कर्मोंको बुद्धियोगकी अपेक्षा अत्यन्त नीचा बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सकाम कर्मोंका फल नाशवान् क्षणिक सुखकी प्राप्ति है और कर्मयोगका फल परमात्माकी प्राप्ति है।

दोनोंमें दिन और रातकी भाँति महान् अन्तर है। यहाँ 'कर्म' पदका अर्थ निषिद्ध कर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे सर्वथा त्याज्य हैं और उनका फल महान् दु:खोंकी प्राप्ति है। इसलिये उनकी तुलना बुद्धियोगका महत्त्व दिखलानेके लिये नहीं की जा सकती।

प्रश्न—'बुद्धौ' पद किसका वाचक है और अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस समबुद्धिका प्रकरण चल रहा है, उसीका वाचक यहाँ 'बुद्धौ' पद है; उसका आश्रय लेनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक कर्म करते समय तुम निरन्तर समभावमें स्थित रहनेकी चेष्टा करते रहो, यही कल्याणप्राप्तिका सुगम उपाय है।

प्रश्न—कर्मफलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जो मनुष्य कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामना करके कर्मफलप्राप्तिके कारण बन जाते हैं, वे दीन हैं अर्थात् दयाके पात्र हैं; इसलिये तुमको वैसा नहीं बनना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको समताका आश्रय लेनेकी आज्ञा देकर अब दो श्लोकोंमें उस समतारूप बुद्धिसे युक्त महापुरुषोंकी प्रशंसा करते हुए भगवान् अर्जुनको कर्मयोगका अनुष्ठान करनेकी पुनः आज्ञा देकर उसका फल बतलाते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है॥ ५०॥

प्रश्न—'समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्य-कर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें सञ्चित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है—अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते। क्योंकि निःस्वार्थ-भावसे केवल लोकहितार्थ किये हुए कर्मोंसे उसके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं (४।२३)। इसी प्रकार उसके क्रियमाण पुण्य तथा पापकर्मका भी त्याग हो जाता है; क्योंकि पापकर्म तो उसके द्वारा स्वरूपसे ही छूट जाते हैं और शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें फलासक्तिका त्याग होनेसे वे कर्म 'अकर्म' बन जाते हैं (४।२०), अतएव उनका भी एक प्रकारसे त्याग ही हो गया।

प्रश्न—इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि समबुद्धिसे युक्त हुआ योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, इसलिये तुम्हें भी वैसा ही बनना चाहिये।

प्रश्न—यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि कर्म स्वाभाविक ही मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाले होते हैं और बिना कर्म किये कोई मनुष्य रह नहीं सकता, कुछ-न-कुछ उसे करना ही पड़ता है; ऐसी परिस्थितिमें कर्मोंसे छूटनेकी सबसे अच्छी युक्ति समत्वयोग है। इस समबुद्धिसे

युक्त होकर कर्म करनेवाला मनुष्य इसके प्रभावसे उनके बन्धनमें नहीं आता। इसलिये कर्मोंमें 'योग' ही कुशलता है। साधनकालमें समबुद्धिसे कर्म करनेकी चेष्टा की जाती है और सिद्धावस्थामें समत्वमें पूर्ण स्थिति होती है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं॥ ५१॥

प्रश्न—'हि' पदका क्या भाव है?

उत्तर—'हि' पद हेतुवाचक है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि समबुद्धिपूर्वक कर्मोंका करना किस कारणसे कुशलता है, वह बात इस श्लोकमें बतलायी जाती है।

प्रश्न—'बुद्धियुक्ताः' पद किनका वाचक है और उनको 'मनीषिणः' कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—जो पूर्वोक्त समबुद्धिसे युक्त हैं अर्थात् जिनमें समभावकी अटल स्थिति हो गयी है, ऐसे कर्मयोगियोंका वाचक यहाँ 'बुद्धियुक्ताः' पद है। उनको 'मनीषिणः' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो इस प्रकार समभावसे युक्त होकर अपने मनुष्य-जन्मको सफल कर लेते हैं, वे ही वास्तवमें बुद्धिमान् और ज्ञानी हैं; जो साक्षात् मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरको पाकर भी भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं (५। २२)।

प्रश्न—उन बुद्धियुक्त मनुष्योंका कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो जाना क्या है?

उत्तर—समतारूप योगके प्रभावसे उनका जो जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए समस्त कर्मोंके फलसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर बार-बार जन्मने और मरनेके चक्रसे सदाके लिये छूट जाना है, यही उनका कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्म-बन्धनसे मुक्त हो जाना है। क्योंकि तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति ही पुनर्जन्मका हेतु है (१३। २१), उसका उनमें सर्वथा अभाव हो जाता है; इस कारण उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—ऐसे पुरुषोंका निर्विकार (अनामय) परम पदको प्राप्त हो जाना क्या है?

उत्तर—जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न भगवान्‌का परम धाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परम धामका वाचक 'अनामय पद' है। अतः भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जाना, सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार या सगुण-साकार परमात्माको प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त हो जाना या अमृतत्वको प्राप्त हो जाना—यह सब एक ही बात है। वास्तवमें कोई भेद नहीं है, साधकोंकी मान्यताका ही भेद है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी; इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परम पदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे होगी? इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा॥ ५२॥

प्रश्न—'मोहकलिल' क्या है ? और बुद्धिका उसको भलीभाँति पार कर जाना किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्वजन-बान्धवोंके वधकी आशङ्कासे स्नेहवश अर्जुनके हृदयमें जो मोह उत्पन्न हो गया था, जिसे इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'कश्मल' बतलाया गया है, यहाँ 'मोहकलिल' से उसीका लक्ष्य है। और इसी 'मोहकलिल' के कारण अर्जुन 'धर्मसम्मूढचेताः' होकर अपना कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ हो गये थे। यह 'मोहकलिल' एक प्रकारका आवरणयुक्त 'मल' दोष है, जो बुद्धिको निश्चयभूमितक न पहुँचने देकर अपनेमें ही फँसाये रखता है।

सत्सङ्गसे उत्पन्न विवेकद्वारा नित्य-अनित्य और कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करके ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागपूर्वक भगवत्परायण होकर निष्कामभावसे कर्म करते रहनेसे इस आवरणयुक्त मलदोषका जो सर्वथा नाश हो जाना है, यही बुद्धिका मोहरूपी कलिलको पार कर जाना है।

प्रश्न—'श्रुत' और 'श्रोतव्य'—इन दोनों शब्दोंसे किनका लक्ष्य है ? और उनसे वैराग्यको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं। उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर उनमें जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है। भगवान् कहते हैं कि मोहके नाश होनेपर जब तुम्हारी बुद्धि सम्यक् प्रकारसे स्वाभाविक स्थितिमें पहुँच जायगी, तब तुम्हें इस लोक और परलोकके समस्त क्षणिक पदार्थोंसे यथार्थ वैराग्य हो जायगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

प्रश्न—'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

प्रश्न—उसका परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जाना क्या है ?

उत्तर—मोहरूप दलदलसे पार हो जानेके कारण इस लोक और परलोकके भोगोंसे सर्वथा विरक्त हुई बुद्धिका जो विक्षेपदोषसे सर्वथा रहित हो जाना और एकमात्र परमात्मामें ही स्थायीरूपसे निश्चल टिक जाना है, यही उसका परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जाना है।

प्रश्न—उस समय 'योग'का प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'योग' शब्द परमात्माके साथ नित्य और पूर्ण संयोगका वाचक है। क्योंकि यह मल, विक्षेप और आवरणदोषसे रहित विवेक-वैराग्यसम्पन्न और परमात्मामें निश्चलरूपसे स्थित बुद्धिका फल है तथा इसके बाद ही अर्जुनने परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके लक्षण पूछे हैं इससे भी यही सिद्ध होता है।

प्रश्न—पचासवें श्लोकमें तो योगका अर्थ समत्व किया गया है और यहाँ उसे परमात्माकी प्राप्तिका वाचक माना गया है; इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—वहाँ योगरूपी साधनके लिये चेष्टा करनेकी बात कही गयी है, और यहाँ 'स्थिरबुद्धि' होनेके बाद

फलरूपमें प्राप्त होनेवाले योगकी बात है। इसीसे यहाँ 'योग' शब्दको परमात्माकी प्राप्तिका वाचक माना गया है। गीतामें 'योग' और 'योगी' शब्द निम्नलिखित कुछ उदाहरणोंके अनुसार प्रसङ्गानुकूल विभिन्न अर्थोंमें आये हैं।

योग

(१) कर्मयोग—अ० ६। ३—यहाँ योगमें आरूढ होनेकी इच्छावालेके लिये कर्म कर्तव्य बताये गये हैं। इस कारण योग शब्द कर्मयोगका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६। १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरताका वर्णन होनेके कारण यहाँ 'योग' शब्द ध्यानयोगका वाचक है।

(३) समत्वयोग—अ० २। ४८—योगमें स्थित होकर, आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यहाँ 'योग' शब्द समत्वयोगका वाचक है।

(४) भगवत्प्रभावरूप योग—अ० ९।५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका वर्णन होनेसे यह शक्ति अथवा प्रभावका वाचक है।

(५) भक्तियोग—अ० १४। २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योग' शब्द भक्तियोगका वाचक है। यहाँ तो स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्दका उल्लेख ही हुआ है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ४। २८—यहाँ 'योग' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' अथवा 'कर्मयोग' नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ये दोनों शब्द व्यापक हैं। यहाँ यज्ञके नामसे जिन साधनोंका वर्णन है वे सभी इन दोनों योगोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये 'योग' शब्दका अर्थ 'अष्टाङ्गयोग' ही लेना ठीक मालूम होता है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३। २४—इसमें सांख्ययोगके विशेषणके रूपमें आनेसे यह सांख्ययोगका वाचक है। इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना चाहिये।

योगी

(१) ईश्वर—अ० १०। १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द ईश्वरका वाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६। ३२—अपने समान सबको देखनेका वर्णन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) सिद्ध भक्त—अ० १२। १४—परमात्मामें मन, बुद्धिको अर्पित बताये जानेके कारण तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द सिद्ध भक्तका वाचक है।

(४) कर्मयोगी—अ० ५। ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५। २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्तियोगी—अ० ८। १४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द भक्तियोगीका वाचक है।

(७) साधकयोगी—अ० ६। ४५—प्रयत्नसे परमगति मिलनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द साधकयोगीका वाचक है।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६। १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द ध्यानयोगीका वाचक है।

(९) सकामकर्मी—अ० ८।२५—वापस लौटनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द सकामकर्मीका वाचक है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलको सर्वथा पार कर जायगी तथा तुम इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे विरक्त हो जाओगे, तुम्हारी बुद्धि परमात्मामें निश्चल

प्रश्न—'मोहकलिल' क्या है ? और बुद्धिका उसको भलीभाँति पार कर जाना किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्वजन-बान्धवोंके वधकी आशङ्कासे स्नेहवश अर्जुनके हृदयमें जो मोह उत्पन्न हो गया था, जिसे इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'कश्मल' बतलाया गया है, यहाँ 'मोहकलिल' से उसीका लक्ष्य है। और इसी 'मोहकलिल' के कारण अर्जुन 'धर्मसम्मूढचेताः' होकर अपना कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ हो गये थे। यह 'मोहकलिल' एक प्रकारका आवरणयुक्त 'मल' दोष है, जो बुद्धिको निश्चयभूमितक न पहुँचने देकर अपनेमें ही फँसाये रखता है।

सत्सङ्गसे उत्पन्न विवेकद्वारा नित्य-अनित्य और कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करके ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागपूर्वक भगवत्परायण होकर निष्कामभावसे कर्म करते रहनेसे इस आवरणयुक्त मलदोषका जो सर्वथा नाश हो जाना है, यही बुद्धिका मोहरूपी कलिलको पार कर जाना है।

प्रश्न—'श्रुत' और 'श्रोतव्य'—इन दोनों शब्दोंसे किनका लक्ष्य है ? और उनसे वैराग्यको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं। उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर उनमें जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है। भगवान् कहते हैं कि मोहके नाश होनेपर जब तुम्हारी बुद्धि सम्यक् प्रकारसे स्वाभाविक स्थितिमें पहुँच जायगी, तब तुम्हें इस लोक और परलोकके समस्त क्षणिक पदार्थोंसे यथार्थ वैराग्य हो जायगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

प्रश्न—'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

प्रश्न—उसका परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जाना क्या है ?

उत्तर—मोहरूप दलदलसे पार हो जानेके कारण इस लोक और परलोकके भोगोंसे सर्वथा विरक्त हुई बुद्धिका जो विक्षेपदोषसे सर्वथा रहित हो जाना और एकमात्र परमात्मामें ही स्थायीरूपसे निश्चल टिक जाना है, यही उसका परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जाना है।

प्रश्न—उस समय 'योग'का प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'योग' शब्द परमात्माके साथ नित्य और पूर्ण संयोगका वाचक है। क्योंकि यह मल, विक्षेप और आवरणदोषसे रहित विवेक-वैराग्यसम्पन्न और परमात्मामें निश्चलरूपसे स्थित बुद्धिका फल है तथा इसके बाद ही अर्जुनने परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके लक्षण पूछे हैं इससे भी यही सिद्ध होता है।

प्रश्न—पचासवें श्लोकमें तो योगका अर्थ समत्व किया गया है और यहाँ उसे परमात्माकी प्राप्तिका वाचक माना गया है; इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—वहाँ योगरूपी साधनके लिये चेष्टा करनेकी बात कही गयी है, और यहाँ 'स्थिरबुद्धि' होनेके बाद

फलरूपमें प्राप्त होनेवाले योगकी बात है । इसीसे यहाँ 'योग' शब्दको परमात्माकी प्राप्तिका वाचक माना गया है। गीतामें 'योग' और 'योगी' शब्द निम्नलिखित कुछ उदाहरणोंके अनुसार प्रसङ्गानुकूल विभिन्न अर्थोंमें आये हैं।

योग

(१) कर्मयोग—अ० ६ । ३—यहाँ योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावालेके लिये कर्म कर्तव्य बताये गये हैं। इस कारण योग शब्द कर्मयोगका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६ । १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरताका वर्णन होनेके कारण यहाँ 'योग' शब्द ध्यानयोगका वाचक है ।

(३) समत्वयोग—अ० २ । ४८—योगमें स्थित होकर, आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यहाँ 'योग' शब्द समत्वयोगका वाचक है ।

(४) भगवत्प्रभावरूप योग—अ० ९।५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका वर्णन होनेसे यह शक्ति अथवा प्रभावका वाचक है ।

(५) भक्तियोग—अ० १४ । २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योग' शब्द भक्तियोगका वाचक है । यहाँ तो स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्दका उल्लेख ही हुआ है ।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ४ । २८—यहाँ 'योग' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' अथवा 'कर्मयोग' नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ये दोनों शब्द व्यापक हैं। यहाँ यज्ञके नामसे जिन साधनोंका वर्णन है वे सभी इन दोनों योगोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये 'योग' शब्दका अर्थ 'अष्टाङ्गयोग' ही लेना ठीक माळूम होता है ।

(७) सांख्ययोग—अ० १३ । २४—इसमें सांख्ययोगके विशेषणके रूपमें आनेसे यह सांख्ययोगका वाचक है।

इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना चाहिये ।

योगी

(१) ईश्वर—अ० १० । १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द ईश्वरका वाचक है ।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६ । ३२—अपने समान सबको देखनेका वर्णन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द आत्मज्ञानीका वाचक है ।

(३) सिद्ध भक्त—अ० १२ । १४—परमात्मामें मन, बुद्धिको अर्पित बताये जानेके कारण तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द सिद्ध भक्तका वाचक है ।

(४) कर्मयोगी—अ० ५ । ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द कर्मयोगीका वाचक है ।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५ । २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है ।

(६) भक्तियोगी—अ० ८ । १४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्के स्मरणका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द भक्तियोगीका वाचक है ।

(७) साधकयोगी—अ० ६ । ४५—प्रयत्नसे परमगति मिलनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द साधकयोगीका वाचक है ।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६ । १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द ध्यानयोगीका वाचक है ।

(९) सकामकर्मी—अ० ८।२५—वापस लौटनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द सकामकर्मीका वाचक है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलको [illegible] जायगी तथा तुम इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे विरक्त हो जाओगे, तुम्हारी बुद्धि

ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुन बोले—हे केशव! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?॥ ५४॥

प्रश्न—यहाँ 'केशव' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—क, अ, ईश और व—इन चारोंके मिलनेसे 'केशव' पद बनता है। अतः क—ब्रह्मा, अ—विष्णु, ईश—शिव, ये तीनों जिसके व—वपु अर्थात् स्वरूप हों, उसको केशव कहते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान्‌को 'केशव' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त जगत्‌के सृजन, संरक्षण और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान् साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर हैं; अतः आप ही मेरे प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दे सकते हैं।

प्रश्न—'स्थितप्रज्ञस्य' पदके साथ 'समाधिस्थस्य' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह बात कही थी कि जब तुम्हारी बुद्धि समाधिमें अर्थात् परमात्मामें अचल भावसे ठहर जायगी, तब तुम योगको प्राप्त होओगे। उसके अनुसार यहाँ अर्जुन भगवान्‌से उस सिद्ध पुरुषके लक्षण जानना चाहते हैं, जो परमात्माको प्राप्त हो चुका है और जिसकी बुद्धि परमात्मामें सदाके लिये अचल और स्थिर हो गयी है। यही भाव स्पष्ट करनेके लिये 'स्थितप्रज्ञस्य'के साथ 'समाधिस्थस्य' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त अवस्था परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषकी अक्रिय-अवस्था माननी चाहिये अथवा सक्रिय-अवस्था?

उत्तर—दोनों ही अवस्थाएँ माननी चाहिये; अर्जुनने भी यहाँ दोनोंकी ही बातें पूछी हैं—'किं प्रभाषेत' और 'किं व्रजेत' से सक्रियकी और 'किमासीत' से अक्रियकी।

प्रश्न—'भाषा' शब्दका अर्थ 'वाणी' न करके 'लक्षण' कैसे किया?

उत्तर—स्थिरबुद्धि पुरुषकी वाणीके विषयमें 'किं प्रभाषेत' अर्थात् वह कैसे बोलता है—इस प्रकार अलग प्रश्न किया गया है, इस कारण यहाँ 'भाषा' शब्दका अर्थ 'वाणी' न करके 'भाष्यते कथ्यते अनया इति भाषा'—जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप बतलाया जाय, उस लक्षणका नाम 'भाषा' है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'भाषा' का अर्थ 'लक्षण' किया गया है; प्रचलित भाषामें भी 'परिभाषा' शब्द लक्षणका ही पर्याय है। उसी अर्थमें यहाँ 'भाषा' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? कैसे चलता है? इन प्रश्नोंमें क्या साधारण बोलने, बैठने और चलनेकी बात है या और कुछ विशेषता है?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषकी सभी बातोंमें विशेषता होती है; अतएव उसका साधारण बोलना, बैठना और चलना भी विलक्षण ही होता है। किन्तु यहाँ साधारण बोलने, बैठने और चलनेकी बात नहीं है; यहाँ बोलनेसे तात्पर्य है—उसके वचन मनके किन भावोंसे भावित होते हैं? बैठनेसे तात्पर्य है—व्यवहाररहित कालमें उसकी कैसी अवस्था होती है? और चलनेसे तात्पर्य है—उसके आचरण कैसे होते हैं?

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्‌ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसङ्गवश दूसरी बातें भी कही हैं। इस अगले श्लोकमें अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

प्रश्न—'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद किनका वाचक है ? और उनका भलीभाँति त्याग कर देना क्या है ?

उत्तर—इस लोक या परलोकके किसी भी पदार्थके संयोग या वियोगकी जो किसी भी निमित्तसे किसी भी प्रकारकी मन्द या तीव्र कामनाएँ मनुष्यके अन्तःकरणमें हुआ करती हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद है। इनके वासना, स्पृहा, इच्छा और तृष्णा आदि अनेक भेद हैं। इन सबसे सदाके लिये सर्वथा रहित हो जाना ही उनका सर्वथा त्याग कर देना है।

प्रश्न—वासना, स्पृहा, इच्छा और तृष्णामें क्या अन्तर है ?

उत्तर—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जानेकी जो राग-द्वेपजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता उसे 'वासना' कहते हैं। किसी अनुकूल वस्तुके अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं चलेगा-इस अपेक्षारूप कामनाका नाम 'स्पृहा' है। यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है। जिस अनुकूल वस्तुका अभाव होता है उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम 'इच्छा' है; यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको 'तृष्णा' कहते हैं। यह कामनाका बहुत स्थूल रूप है।

प्रश्न—यहाँ 'कामान्' के साथ 'मनोगतान्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि कामनाका वासस्थान मन है (३ । ४०); अतएव बुद्धिके साथ-साथ जब मन परमात्मामें अटल स्थिर हो जाता है, तब इन सबका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिये यह समझना चाहिये कि जबतक साधकके मनमें रहनेवाली कामनाओंका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, तबतक उसकी बुद्धि स्थिर नहीं है।

प्रश्न—आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहना क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरणमें स्थित समस्त कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जानेके बाद समस्त दृश्य-जगत्से सर्वथा अतीत नित्य, शुद्ध, बुद्ध परमात्माके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्ष करके जो उसीमें नित्य तृप्त हो जाना है—यही आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहना है। तीसरे अध्यायके सतरहवें श्लोकमें भी महापुरुषके लक्षणोंमें आत्मामें ही तृप्ति और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि कर्मयोगका साधन करते-करते जब योगीकी उपर्युक्त स्थिति हो जाय, तब समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि परमात्मामें अटल स्थिर हो गयी है अर्थात् वह योगी परमात्माको प्राप्त हो चुका है।

सम्बन्ध—स्थितप्रज्ञके विषयमें अर्जुनने चार बातें पूछी हैं, उनमेंसे पहला प्रश्न इतना व्यापक है कि उसके बादके तीनों प्रश्नोंका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टिसे तो अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त उस एक ही प्रश्नका उत्तर है; पर अन्य तीन प्रश्नोंका भेद समझनेके लिये ऐसा समझना चाहिये कि अब दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेग-का सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६।२२)। शस्त्रोंद्वारा शरीर-का काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोग-जनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहा-रूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२।१३; १४।२४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहा-का भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धि-मान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिर-बुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त है; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०)। इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६।२२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२।१३; १४।२४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६। २२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२। १३; १४। २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्‌ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेग-का सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६ । २२)। शस्त्रोंद्वारा शरीर-का काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोग-जनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहा-रूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२ । १३; १४ । २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहा-का भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धि-मान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्‌ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिर-बुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस [illegible] करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका

करणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६ । २२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२ । १३; १४ । २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६ । २२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२ । १३; १४ । २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६।२२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२।१३; १४।२४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्‌ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेह:' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उसयोगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूलवस्तुके साथ संयोगहोनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६। २२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२। १३; १४। २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता । उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता । इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है । आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है । इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है । वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है । इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है ।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है ।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५ । २०) । इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता । ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है ।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६।२२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२।१३; १४।२४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्‌ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकरणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है॥ ५७॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता। उसका किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता। इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है। आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है। इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है। वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है। इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५। २०)। इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता। यदि उसके शरीर या वाणीद्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं है।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता। उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता। उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५। २०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता। ऐसे महापुरुषकी वाणीद्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है त[था] जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेग-का सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६ । २२) । शस्त्रोंद्वारा शरीर-का काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोग-जनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा शरीर या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है ।

प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहा-रूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२ । १३; १४ । २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका सर्वथा अभाव होता है। यदि [लोकसंग्रहके लिये ...] का भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाण[ीमें] आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया [है ।] अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटन[ामें] उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उ[त्पन्न] हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकत[ा है] और न क्रोध ही हो सकता है । इस कारण उसकी व[ाणी] भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित शान्त [और] सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके शरीर या वाण[ीकी] क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया [जा] सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरह[का] कोई विकार नहीं रहता । केवल वाणीको उपर्युक्त स[ब] विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बु[द्धि]मान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकर[णमें] विकार हुए बिना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवा[न्ने] 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें उ[सकी] वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भाव[ोंका] वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिर[-]बुद्धि योगीकी वाणी भी वास्तवमें उसके अन्तःकर[णके] अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है ।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—[इस] कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उप[र्युक्त] लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका [संयम] करनेवाला है और वही स्थिरबुद्धि है; जिसके अन्तः[करण] और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी हो

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'निराहारस्य' विशेषणके सहित 'देहिनः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—संसारमें जो भोजनका परित्याग कर देता है, उसे 'निराहार' कहते हैं; परन्तु यहाँ 'निराहारस्य' पदका प्रयोग इस अर्थमें नहीं है, क्योंकि यहाँ 'विषयाः' पदमें बहुवचनका प्रयोग करके समस्त विषयोंके निवृत्त हो जानेकी बात कही गयी है। भोजनके त्यागसे तो केवल जिह्वा-इन्द्रियके विषयकी ही निवृत्ति होती है; शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धकी निवृत्ति नहीं होती। अतः यह समझना चाहिये कि जिस इन्द्रियका जो विषय है, वही उसका आहार है—इस दृष्टिसे जो सभी इन्द्रियोंके द्वारा समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका ग्रहण करना छोड़ देता है, ऐसे देहाभिमानी मनुष्यका वाचक यहाँ 'निराहारस्य' विशेषणके सहित 'देहिनः' पद है ।

प्रश्न—ऐसे मनुष्यके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि विषयोंका परित्याग कर देनेवाला अज्ञानी भी ऊपरसे तो कछुएकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा सकता है; किन्तु उसकी उन विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, आसक्तिका नाश नहीं होता। इस कारण उसकी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती रहती हैं और उसके अन्तःकरणको स्थिर नहीं होने देतीं । निम्नलिखित उदाहरणोंसे यह बात ठीक समझमें आ सकती है ।

रोग या मृत्युके भयसे अथवा अन्य किसी हेतुसे विषयासक्त मनुष्य किसी एक विषयका या अधिक विषयोंका त्याग कर देता है। वह जैसे जब जिस विषयका परित्याग करता है तब उस विषयकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही समस्त विषयोंका त्याग करनेसे समस्त विषयोंकी निवृत्ति भी हो सकती है; परन्तु वह निवृत्ति हठ, भय या अन्य किसी कारणसे आसक्ति रहते ही होती है, ऐसी निवृत्तिसे वस्तुतः आसक्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

दम्भी मनुष्य लोगोंको दिखलानेके लिये किसी समय जब बाहरसे दसों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंका परित्याग कर देता है तब ऊपरसे तो विषयोंकी निवृत्ति हो जाती है, परन्तु आसक्ति रहनेके कारण मनके द्वारा वह इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है (३ । ६); अतः उसकी आसक्ति पूर्ववत् ही बनी रहती है ।

भौतिक सुखोंकी कामनावाला मनुष्य अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये या अन्य किसी प्रकारके विषय-सुखकी प्राप्तिके लिये ध्यानकालमें या समाधि-अवस्थामें दसों इन्द्रियोंके विषयोंका ऊपरसे भी त्याग कर देता है और मनसे भी उनका चिन्तन नहीं करता तो भी उन भोगोंमें उसकी आसक्ति बनी रहती है, आसक्तिका नाश नहीं होता ।

इस प्रकार स्वरूपसे विषयोंका परित्याग कर देनेपर विषय तो निवृत्त हो सकते हैं, पर उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती ।

प्रश्न—यहाँ 'रस' का अर्थ आस्वादन अथवा मनके द्वारा उपभोग मानकर 'उसका रस निवृत्त नहीं होता' इस वाक्यका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि ऐसा पुरुष स्वरूपसे विषयोंका त्यागी होकर भी मनसे उनके उपभोगका आनन्द लेता रहता है, तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—उपर्युक्त वाक्यका ऐसा अर्थ लिया तो जा सकता है; किन्तु इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका आस्वादन विषयोंमें आसक्ति होनेपर ही होता है, अतः 'रस' का अर्थ 'आसक्ति' लेनेसे यह बात उसके अन्तर्गत ही आ जाती है। दूसरी बात

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो महापुरुष उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न हों, जिनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें किसी भी वस्तु या प्राणीके संयोग-वियोगमें किसी भी घटनासे किसी प्रकारका तनिक भी विकार कभी न होता हो, उनको स्थिरबुद्धि योगी समझना चाहिये।

प्रश्न—इन दो श्लोकोंमें बोलनेकी बात तो स्पष्टरूपसे कहीं नहीं आयी है; फिर यह कैसे समझा जा सकता है कि इनमें 'वह कैसे बोलता है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है?

उत्तर—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि यहाँ साधारण बोलनेकी बात नहीं है। केवल वाणीकी बात हो, तब तो कोई भी दम्भी या पाखण्डी मनुष्य भी रटकर अच्छी-से-अच्छी वाणी बोल सकता है। यहाँ तो यथार्थमें मनके भावोंकी प्रधानता है। इन दो श्लोकोंमें बतलाये हुए मानसिक भावोंके अनुसार, इन भावोंसे भावित जो वाणी होती है, उसीसे भगवान्‌का तात्पर्य है। इसीलिये इनमें वाणीकी स्पष्ट बात न कहकर मानसिक भावोंकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—'स्थिरबुद्धिवाला योगी कैसे बोलता है?' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर समाप्त करके अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि स्थितप्रज्ञ पुरुषकी इन्द्रियोंका सर्वथा उसके वशमें हो जाना और आसक्तिसे रहित होकर अपने-अपने विषयोंसे उपरत हो जाना ही स्थितप्रज्ञ पुरुषका बैठना है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

और कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥५८॥

प्रश्न—कछुएकी भाँति इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेना क्या है?

उत्तर—जिस प्रकार कछुआ अपने समस्त अङ्गोंको सब ओरसे सङ्कुचित करके स्थिर हो जाता है, उसीप्रकार समाधिकालमें जो वशमें की हुई समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको इन्द्रियोंके समस्त भोगोंसे हटा लेना है, किसी भी इन्द्रियको किसी भी भोगकी ओर आकर्षित न होने देना तथा उन इन्द्रियोंमें मन और बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना है—यही कछुएकी भाँति इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेना है। ऊपरसे इन्द्रियोंके स्थानोंको बंद करके स्थूल विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा लेनेपर भी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती रहती हैं, इसी कारण साधारण मनुष्य स्वप्नमें और मनोराज्यमें इन्द्रियोंद्वारा सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करता रहता है; यहाँ 'सर्वशः' पदका प्रयोग करके इस प्रकारके विषयोपभोगसे भी इन्द्रियोंको सर्वथा हटा लेनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकारसे ऐसी वशमें की हुई हैं कि उनमें मन और बुद्धिको विषयोंकी ओर आकर्षित करनेकी जरा भी शक्ति नहीं रह गयी है और इस प्रकारसे वशमें की हुई अपनी इन्द्रियोंको जो सर्वथा विषयोंसे हटा लेता है, उसीकी बुद्धि स्थिर रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती; क्योंकि इन्द्रियाँ मन और बुद्धिको बलात्कारसे विषय-सेवनमें लगा देती हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शङ्काओंका समाधान करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'निराहारस्य' विशेषणके सहित 'देहिनः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—संसारमें जो भोजनका परित्याग कर देता है, उसे 'निराहार' कहते हैं; परन्तु यहाँ 'निराहारस्य' पदका प्रयोग इस अर्थमें नहीं है, क्योंकि यहाँ 'विषयाः' पदमें बहुवचनका प्रयोग करके समस्त विषयोंके निवृत्त हो जानेकी बात कही गयी है। भोजनके त्यागसे तो केवल जिह्वा-इन्द्रियके विषयकी ही निवृत्ति होती है; शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धकी निवृत्ति नहीं होती। अतः यह समझना चाहिये कि जिस इन्द्रियका जो विषय है, वही उसका आहार है—इस दृष्टिसे जो सभी इन्द्रियोंके द्वारा समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका ग्रहण करना छोड़ देता है, ऐसे देहाभिमानी मनुष्यका वाचक यहाँ 'निराहारस्य' विशेषणके सहित 'देहिनः' पद है ।

प्रश्न—ऐसे मनुष्यके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि विषयोंका परित्याग कर देनेवाला अज्ञानी भी ऊपरसे तो कछुएकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा सकता है; किन्तु उसकी उन विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, आसक्तिका नाश नहीं होता। इस कारण उसकी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती रहती हैं और उसके अन्तःकरणको स्थिर नहीं होने देतीं। निम्नलिखित उदाहरणोंसे यह बात ठीक समझमें आ सकती है ।

रोग या मृत्युके भयसे अथवा अन्य किसी हेतुसे विषयासक्त मनुष्य किसी एक विषयका या अधिक विषयोंका त्याग कर देता है। वह जैसे जब जिस विषयका परित्याग करता है तब उस विषयकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही समस्त विषयोंका त्याग करनेसे समस्त विषयोंकी निवृत्ति भी हो सकती है; परन्तु वह निवृत्ति हठ, भय या अन्य किसी कारणसे आसक्ति रहते ही होती है, ऐसी निवृत्तिसे वस्तुतः आसक्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

दम्भी मनुष्य लोगोंको दिखलानेके लिये किसी समय जब बाहरसे दसों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंका परित्याग कर देता है तब ऊपरसे तो विषयोंकी निवृत्ति हो जाती है, परन्तु आसक्ति रहनेके कारण मनके द्वारा वह इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है (३ । ६); अतः उसकी आसक्ति पूर्ववत् ही बनी रहती है ।

भौतिक सुखोंकी कामनावाला मनुष्य अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये या अन्य किसी प्रकारके विषय-सुखकी प्राप्तिके लिये ध्यानकालमें या समाधि-अवस्थामें दसों इन्द्रियोंके विषयोंका ऊपरसे भी त्याग कर देता है और मनसे भी उनका चिन्तन नहीं करता तो भी उन भोगोंमें उसकी आसक्ति बनी रहती है, आसक्तिका नाश नहीं होता ।

इस प्रकार स्वरूपसे विषयोंका परित्याग कर देनेपर विषय तो निवृत्त हो सकते हैं, पर उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती ।

प्रश्न—यहाँ 'रस' का अर्थ आस्वादन अथवा मनके द्वारा उपभोग मानकर 'उसका रस निवृत्त नहीं होता' इस वाक्यका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि ऐसा पुरुष स्वरूपसे विषयोंका त्यागी होकर भी मनसे उनके उपभोगका आनन्द लेता रहता है, तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—उपर्युक्त वाक्यका ऐसा अर्थ लिया तो जा सकता है; किन्तु इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका आस्वादन विषयोंमें आसक्ति होनेपर ही होता है, अतः 'रस' का अर्थ 'आसक्ति' लेनेसे यह बात उसके अन्तर्गत ही आ जाती है। दूसरी बात

यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्माके साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्दके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२।६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्तिका भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं॥ ६०॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है। पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता। इसपर यह जिज्ञासा हो

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २।३)

अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्········। (योग० २।४)

उपर्युक्त पाँचोंमें पिछले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है।

सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है। इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रमाथीनि' विशेषणका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषय-सुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं।

प्रश्न—यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियों-को हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषया-सक्तिका नाश नहीं हो सका है, इसी कारण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्य-के मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये।

प्रश्न—'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते। इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है। छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही

यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्माके साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्दके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२ । ६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्तिका भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है। पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता। इसपर यह जिज्ञासा हो

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २ । ३)

अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्······· । (योग० २ । ४)

उपर्युक्त पाँचोंमें पिछले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है।

सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है। इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रमाथीनि' विशेषणका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषय-सुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं।

प्रश्न—यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियोंको हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषयासक्तिका नाश नहीं हो सका है, इसी कारण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्यके मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—*इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं*—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये।

प्रश्न—'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते। इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है। छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही

यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्मा-के साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्द-के समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२। ६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्ति-का भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं॥ ६०॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है। पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता। इसपर यह जिज्ञासा हो

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २।३)
अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्········। (योग० २।४)
उपर्युक्त पाँचोंमें पिछले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है।

सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है। इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रमाथीनि' विशेषणका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषय-सुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं।

प्रश्न—यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियोंको हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषयासक्तिका नाश नहीं हो सका है, इसी कारण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्यके मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे। क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये।

प्रश्न—'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते। इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है। छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही

यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्माके साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्दके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२। ६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्तिका भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये **प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं॥ ६०॥**

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है। पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता। इसपर यह जिज्ञासा हो

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २। ३)
अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्········। (योग० २। ४)
उपर्युक्त पाँचोंमें पिछले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है।

सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है। इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक *मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है*, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें *भगवान्* कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके *प्रयोगका क्या भाव है ?*

उत्तर—'*प्रमाथीनि*' *विशेषणका प्रयोग करके यह* दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषय-सुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं।

प्रश्न—यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियोंको हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषयासक्तिका नाश नहीं हो सका है, इसी कारण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्यके *मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं*, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे। क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये।

प्रश्न—'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते। इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है। छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही

यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्माके साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्दके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२। ६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्तिका भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं॥ ६०॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है। पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता। इसपर यह जिज्ञासा हो

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २। ३)
अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्········। (योग० २। ४)
उपर्युक्त पाँचोंमें पिछले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है।

सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है। इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रमाथीनि' विशेषणका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषय-सुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं।

प्रश्न—यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियों-को हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषया-सक्तिका नाश नहीं हो सका है, इसी कारण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्य-के मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये।

प्रश्न—'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते। इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है। छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही

यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्माके साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्दके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२। ६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्तिका भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं॥ ६०॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है। पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता। इसपर यह जिज्ञासा हो

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २। ३)
अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्……… । (योग० २। ४)
उपर्युक्त पाँचोंमें पिछले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है।

सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है। इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रमाथीनि' विशेषणका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषय-सुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं।

प्रश्न—यहाँ 'यतत:' और 'विपश्चित:'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियोंको हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषयासक्तिका नाश नहीं हो सका है, इसी कारण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यतत:' और 'विपश्चित:'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्यके मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये।

प्रश्न—'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते। इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है। छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही

बात कही गयी है (६।१४)। इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माके ध्यानमें लगे हुए मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और उसको शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—श्लोकके पूर्वार्द्धमें इन्द्रियोंको वशमें करके तथा संयतचित्त और भगवत्परायण होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया, उसी कथनके हेतुरूपसे इस उत्तरार्द्धका प्रयोग हुआ है। अतः इसका यह भाव समझना चाहिये कि ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके मन और इन्द्रियोंको संयमित कर बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें स्थिर करना चाहिये, क्योंकि जिसके मनसहित इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, उसी साधककी बुद्धि स्थिर होती है; जिसके मनसहित इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। अतः मन और इन्द्रियोंको वशमें करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे क्या हानि है ? यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

प्रश्न—विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस मनुष्यकी भोगोंमें सुख और रमणीय बुद्धि है, जिसका मन वशमें नहीं है और जो परमात्माका चिन्तन नहीं करता, ऐसे मनुष्यका परमात्मामें प्रेम और उनका आश्रय न रहनेके कारण उसके मनद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन होता रहता है। इस प्रकार विषयोंका चिन्तन करते-करते उन विषयोंमें उसकी अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। तब फिर उसके हाथकी बात नहीं रहती, उसका मन विचलित हो जाता है।

प्रश्न—विषयोंके चिन्तनसे क्या सभी पुरुषोंके मनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है ?

उत्तर—जिन पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है उनके लिये तो विषयचिन्तनसे आसक्ति होनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' से भगवान् ऐसे पुरुषोंमें आसक्तिका अत्यन्ताभाव बतला चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभीके मनोंमें न्यूनाधिकरूपमें आसक्ति उत्पन्न हो सकती है।

प्रश्न—आसक्तिसे कामनाका उत्पन्न होना क्या है ? और कामनासे क्रोधका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—विषयोंका चिन्तन करते-करते जब मनुष्यकी उनमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, उस समय उसके मनमें नाना प्रकारके भोग प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा जाग्रत् हो उठती है; यही आसक्तिसे कामनाका उत्पन्न होना है तथा उस कामनामें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित होनेपर जो उस विघ्नके कारणमें द्वेषबुद्धि होकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है यही कामनासे क्रोधका उत्पन्न होना है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें

भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

प्रश्न—क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त मूढ़भावका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस समय मनुष्यके अन्तःकरणमें क्रोधकी वृत्ति जाग्रत् होती है, उस समय उसके अन्तःकरणमें विवेकशक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोच सकता; क्रोधके वश होकर जिस कार्यमें प्रवृत्त होता है, उसके परिणामका उसको कुछ भी खयाल नहीं रहता। यही क्रोधसे उत्पन्न सम्मोहका अर्थात् अत्यन्त मूढ़भावका स्वरूप है।

प्रश्न—सम्मोहसे उत्पन्न होनेवाले 'स्मृतिविभ्रम' का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जब क्रोधके कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें मूढ़भाव बढ़ जाता है तब उसकी स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, उसे यह ध्यान नहीं रहता कि किस मनुष्यके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? मुझे क्या करना चाहिये ? क्या न करना चाहिये ? मैंने अमुक कार्य किस प्रकार करनेका निश्चय किया था और अब क्या कर रहा हूँ ? इसलिये पहले सोची-विचारी हुई बातोंको वह काममें नहीं ला सकता, उसकी स्मृति छिन्न-भिन्न हो जाती है। यही सम्मोहसे उत्पन्न हुए स्मृति-विभ्रमका स्वरूप है।

प्रश्न—स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिका नष्ट हो जाना और उस बुद्धिनाशसे मनुष्यका अपनी स्थितिसे गिर जाना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे स्मृतिमें विभ्रम होनेसे अन्तःकरणमें किसी कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करनेकी शक्तिका न रहना ही बुद्धिका नष्ट हो जाना है। ऐसा होनेसे मनुष्य अपने कर्तव्यका त्याग कर अकर्तव्यमें प्रवृत्त हो जाता है—उसके व्यवहारमें कटुता, कठोरता, कायरता, हिंसा, प्रतिहिंसा, दीनता, जडता और मूढ़ता आदि दोष आ जाते हैं। अतएव उसका पतन हो जाता है, वह शीघ्र ही अपनी पहलेकी स्थितिसे नीचे गिर जाता है और मरनेके बाद नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें या नरकमें पड़ता है; यही बुद्धिनाशसे उसका अपनी स्थितिसे गिर जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थितप्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकोंमें जिसके मन, इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसे विषयी मनुष्यकी अवनतिका वर्णन किया गया और अब दो श्लोकोंमें उससे विलक्षण जिसके मन, इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं, ऐसे विरक्त साधककी उन्नतिका वर्णन किया जाता है। इस भेदका द्योतक यहाँ 'तु' पद है।

प्रश्न—'विधेयात्मा' पद कैसे साधकका वाचक है ?

उत्तर—जिसका अन्तःकरण भलीभाँति वशमें किया हुआ है, ऐसे साधकका वाचक यहाँ 'विधेयात्मा' पद है।

प्रश्न—ऐसे साधकका अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करना क्या है ?

उत्तर—साधारण मनुष्योंकी इन्द्रियाँ स्वतन्त्र होती हैं, उनके वशमें नहीं होतीं; उन इन्द्रियोंमें राग-द्वेष भरे रहते हैं। इस कारण उन इन्द्रियोंके वश होकर भोगोंको भोगनेवाला मनुष्य उचित-अनुचितका विचार न करके जिस किसी प्रकारसे भोग-सामग्रियोंके संग्रह करने और भोगने—

करता है और उन भोगोंमें राग-द्वेष करके सुखी-दुखी होता रहता है; उसे आध्यात्मिक सुखका अनुभव नहीं होता; किन्तु उपर्युक्त साधककी इन्द्रियाँ उसके वशमें होती हैं और उनमें राग-द्वेषका अभाव होता है—इस कारण वह अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार योग्यतासे प्राप्त हुए भोगोंमें विना राग-द्वेषके विचरण करता है; उसका देखना-सुनना, खाना-पीना, उठना-बैठना, बोलना-बतलाना, चलना-फिरना और सोना-जागना आदि समस्त इन्द्रियोंके व्यवहार नियमित और शास्त्रविहित होते हैं; उसकी सभी क्रियाओंमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ आदि विकारोंका अभाव होता है। यही उसका अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करना है।

प्रश्न—पहले उनसठवें श्लोकमें यह कहा जा चुका है कि परमात्माका साक्षात्कार हुए बिना रागका नाश नहीं होता और यहाँ राग-द्वेषरहित होकर विषयोंमें विचरण करनेसे प्रसादको प्राप्त होकर स्थिरबुद्धि होनेकी बात कही गयी है। यहाँके इस कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्माकी प्राप्तिसे पूर्व भी राग-द्वेषका नाश सम्भव है। अतएव इन दोनों कथनोंमें जो विरोध प्रतीत होता है, उसका समन्वय कैसे होता है?

उत्तर—दोनोंमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँ उनसठवें श्लोकमें तो राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव बताया गया है और यहाँ राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवनकी बात कहकर राग-द्वेषके सर्वथा अभावकी साधना बतायी गयी है। तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन तीनोंको ही कामका अधिष्ठान बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न रहनेपर भी मन या बुद्धिमें सूक्ष्मरूपसे राग-द्वेष रह सकते हैं। परन्तु उनसठवें श्लोकमें 'अस्य' पदका प्रयोग करके स्थिरबुद्धि पुरुषमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव बताया गया है। वहाँ केवल इन्द्रियोंमें ही राग-द्वेषके अभावकी बात नहीं है।

प्रश्न—इन्द्रियोंसे विषयोंका संयोग न होने देना यानी बाहरसे विषयोंका त्याग, इन्द्रियोंका संयम और इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित हो जाना—इन तीनोंमें श्रेष्ठ और भगवत्-प्राप्तिमें विशेष सहायक कौन है?

उत्तर—तीनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं, किन्तु इनमें बाह्य विषय-त्यागकी अपेक्षा इन्द्रियसंयम और इन्द्रिय-संयमकी अपेक्षा इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना विशेष उपयोगी और श्रेष्ठ है।

यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, परन्तु जबतक इन्द्रियोंका संयम और राग-द्वेषका त्याग न हो तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये बिना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता। क्योंकि भगवान्‌की पूजा सेवा, जप और विवेक-वैराग्य आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रियसंयम हो जाता है एवं इन्द्रियसंयम हो जानेपर अनायास ही विषयोंका त्याग किया जा सकता है। इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं, वह चाहे जब, चाहे जिस विषयका त्याग कर सकता है। इसलिये बाह्य विषयत्यागकी अपेक्षा इन्द्रिय-संयम श्रेष्ठ है।

इस प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परन्तु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए बिना केवल इन्द्रिय-संयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषय-त्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए बिना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो। सत्संग, स्वाध्याय और विचार-द्वारा सांसारिक भोगोंकी अनित्यताका भान होनेसे तथा ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे राग-द्वेषका नाश हो सकता है और जिसके इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप ही होता है। जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना विषयोंके त्याग और इन्द्रियसंयमसे भी श्रेष्ठ है।

प्रश्न—'प्रसादम्' पद यहाँ किसका वाचक है?

उत्तर—वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा बिना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका

अनुभव होता है (१८ । ३७); उस सुख और शान्तिका वाचक यहाँ 'प्रसादम्' पद है । इस सुख और शान्तिके हेतु-रूप अन्तःकरणकी पवित्रताको और भगवान्‌के अर्पण की हुई वस्तु अन्तःकरणको पवित्र करनेवाली होती है, इस कारण उसको भी प्रसाद कहते हैं; परन्तु अगले श्लोकमें उपर्युक्त पुरुषके लिये 'प्रसन्नचेतसः' पदका प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ 'प्रसादम्' पदका अर्थ अन्तःकरणकी आध्यात्मिक प्रसन्नता मानना ही ठीक मालूम होता है ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥६५॥

प्रश्न—अन्तःकरणकी प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका अभाव कैसे हो जाता है ?

उत्तर—पापोंके कारण ही मनुष्योंको दुःख होता है; और कर्मयोगके साधनसे पापोंका नाश होकर अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तथा शुद्ध अन्तःकरणमें ही उपर्युक्त सात्त्विक प्रसन्नता होती है। इसलिये सात्त्विक प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका अभाव बतलाना न्यायसङ्गत ही है (१८ । ३६-३७)।

प्रश्न—'सर्वदुःखानाम्' पद किनका वाचक है और उनका अभाव हो जाना क्या है ?

उत्तर—अनुकूल पदार्थोंके वियोग और प्रतिकूल पदार्थोंके संयोगसे जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नाना प्रकारके दुःख सांसारिक मनुष्योंको प्राप्त होते हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'दुःखानाम्' पद है। उपर्युक्त साधकको आध्यात्मिक सात्त्विक प्रसन्नताका अनुभव हो जानेके बाद उसे किसी भी वस्तुके संयोग-वियोगसे किञ्चिन्मात्र भी दुःख नहीं होता। वह सदा आनन्दमें मग्न रहता है । यही सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाना है ।

प्रश्न—प्रसन्नचित्तवाले योगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर भलीभाँति परमात्मामें स्थिर हो जाती है इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि अन्तःकरणके पवित्र हो जानेपर जब साधकको आध्यात्मिक प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तब उसका मन क्षणभर भी उस सुख और शान्तिका त्याग नहीं कर सकता। इस कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सब ओरसे हट जाती हैं और उसकी बुद्धि शीघ्र ही परमात्माके स्वरूपमें स्थिर हो जाती है। फिर उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती।

प्रश्न—अर्जुनका प्रश्न स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके विषयमें था। इस श्लोकमें साधकका वर्णन है, क्योंकि इसका फल प्रसादकी प्राप्तिके द्वारा शीघ्र ही बुद्धिका स्थिर होना बतलाया गया है। अतएव अर्जुनके चौथे प्रश्नका उत्तर इस श्लोकसे कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—यद्यपि अर्जुनका प्रश्न साधकके सम्बन्धमें नहीं है, परन्तु अर्जुन साधक हैं और भगवान् उन्हें सिद्ध बनाना चाहते हैं। अतएव सुगमताके साथ उन्हें समझानेके लिये भगवान्‌ने पहले साधककी बात कहकर अन्तमें इकहत्तरवें श्लोकमें उसका सिद्धमें उपसंहार कर दिया है। अर्जुनके प्रश्नका पूरा उत्तर तो उस उपसंहारमें ही है, उसकी भूमिकाका आरम्भ इन्हीं श्लोकोंसे हो जाता है। अतएव अर्जुनके चौथे प्रश्नका उत्तर यहींसे आरम्भ होता है, ऐसा ही मानना उचित है।

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके सङ्गसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥

प्रश्न—'अयुक्तस्य' पद यहाँ कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए नहीं हैं, एवं जिसकी इन्द्रियोंके भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति है, ऐसे विषयासक्त अविवेकी मनुष्यका वाचक यहाँ 'अयुक्तस्य' पद है ।

प्रश्न—अयुक्तमें बुद्धि नहीं होती—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इकतालीसवें श्लोकमें वर्णित 'निश्चयात्मिका बुद्धि' उसमें नहीं होती; नाना प्रकारके भोगोंकी आसक्ति और कामनाके कारण उसका मन विक्षिप्त रहता है, इस कारण वह अपने कर्तव्यका निश्चय करके परमात्माके स्वरूपमें बुद्धिको स्थिर नहीं कर सकता ।

प्रश्न—अयुक्तके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि मन और इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले विषयासक्त मनुष्यमें 'निश्चयात्मिका बुद्धि' नहीं होती, इसमें तो कहना ही क्या है; उसमें भावना भी नहीं होती । अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें बुद्धिका स्थिर होना तो दूर रहा, विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण वह परमात्मस्वरूपका चिन्तन भी नहीं कर सकता, उसका मन निरन्तर विषयोंमें ही रमण करता रहता है ।

प्रश्न—भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माका चिन्तन न होनेके कारण अयुक्त मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय जलन और व्याकुलता बनी रहती है । अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती ।

प्रश्न—शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ?—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि चित्तमें शान्तिका प्रादुर्भाव हुए बिना कहीं किसी भी अवस्थामें किसी भी उपायसे मनुष्यको सच्चा सुख नहीं मिल सकता । विषय और इन्द्रियोंके संयोगमें तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादमें भ्रमसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह वास्तवमें सुख नहीं है, वह तो दुःखका हेतु होनेसे वस्तुतः दुःख ही है ।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ॥ ६७ ॥

प्रश्न—'हि' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि अयुक्त मनुष्यमें निश्चल बुद्धि, भावना, शान्ति और सुख नहीं होते; उसी बातको स्पष्ट करनेके लिये उन सबके न होनेका कारण इस श्लोकमें बतलाया गया है—इसी भावका द्योतक हेतुवाचक 'हि' पद है ।

प्रश्न—जलमें चलनेवाली नौका और वायुका दृष्टान्त देकर यहाँ क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—दार्ष्टान्तमें नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके स्थानमें संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है। जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाती हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरङ्गोंमें भटकाती है या अगाध जलमें डुबो देती है; किन्तु यदि कोई चतुर मल्लाह उस वायुकी क्रियाको अपने अनुकूल बना लेता है तो फिर वह वायु उस नौकाको पथभ्रष्ट नहीं कर सकती, बल्कि उसे गन्तव्य स्थानपर पहुँचानेमें सहायता करती है। इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो प्रकारसे विचलित करती हैं। इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय सोचनेमें लगा देना, उसे भीषण तरङ्गोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है। परन्तु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करते हैं। चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें यही बात कही गयी है।

प्रश्न—सब इन्द्रियोंद्वारा बुद्धिके विचलित किये जानेकी बात न कहकर एक इन्द्रियके द्वारा ही बुद्धिका विचलित किया जाना कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे इन्द्रियोंकी प्रबलता दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि सब इन्द्रियाँ मिलकर मनुष्यकी बुद्धिको विचलित कर दें, इसमें तो कहना ही क्या है; जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय बुद्धिको विषयमें फँसाकर विचलित कर देती है। देखा भी जाता है कि एक कर्णेन्द्रियके वश होकर मृग, स्पर्शेन्द्रियके वश होकर हाथी, चक्षु-इन्द्रियके वश होकर पतङ्ग, रसना-इन्द्रियके वश होकर मछली और घ्राणेन्द्रियके वशमें होकर भ्रमर—इस प्रकार केवल एक-एक इन्द्रियके वशमें होनेके कारण ये सब अपने प्राण खो बैठते हैं। इसी तरह मनुष्यकी बुद्धि भी एक-एक इन्द्रियके द्वारा ही विचलित की जा सकती है।

प्रश्न—यहाँ 'यत्' और 'तत्' का सम्बन्ध 'मन' के साथ क्यों न माना जाय?

उत्तर—यहाँ 'इन्द्रियाणाम्' पदमें निर्धारणे षष्ठी है, अतः इन्द्रियोंमेंसे जिस एक इन्द्रियके साथ मन रहता है, उसीके साथ 'यत्' पदका सम्बन्ध मानना उचित है। और 'यत्'-'तत्'का नित्य सम्बन्ध है, अतः 'तत्'का सम्बन्ध भी इन्द्रियके साथ ही होगा। 'अनु विधीयते'में 'अनु' उपसर्ग नहीं, कर्मप्रवचनीयसंज्ञक अव्यय है, अतः उसके योगमें 'यत्' में द्वितीया विभक्ति हुई है और कर्म-कर्तृप्रक्रियाके अनुसार 'विधीयते' का कर्मभूत 'मनः' पद ही कर्ताके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अगले श्लोकमें 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके इन्द्रियोंको वशमें करनेवालेकी बुद्धि स्थिर बतलायी गयी है, इसलिये भी यहाँ 'यत्' और 'तत्' पदोंका इन्द्रियके साथ ही सम्बन्ध मानना अधिक युक्तिसङ्गत मालूम होता है।

प्रश्न—अकेला मन या अकेली इन्द्रिय बुद्धिके हरण करनेमें समर्थ है या नहीं?

उत्तर—मनके साथ हुए बिना अकेली इन्द्रिय बुद्धिको नहीं हर सकती; हाँ, मन इन्द्रियोंके बिना अकेला भी बुद्धिको हर सकता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अयुक्त पुरुषकी बुद्धिके विचलित होनेका प्रकार बतलाकर अब पुनः स्थितप्रज्ञ-अवस्थाकी प्राप्तिमें सब प्रकारसे इन्द्रियसंयमकी विशेष आवश्यकता सिद्ध करते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥

[illegible] मनुष्यका स्वप्नके जगत्‌से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; वैसे ही एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, वह ज्ञानी इस दृश्य जगत्‌के स्थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्द रात्रिके समान है।

सम्बन्ध—इस प्रकार रात्रिके रूपकसे ज्ञानी और अज्ञानियोंकी स्थितिका भेद दिखलाकर अब समुद्रकी उपमासे यह भाव दिखलाते हैं कि ज्ञानी परम शान्तिको प्राप्त होता है और भोगोंकी कामनावाला अज्ञानी मनुष्य शान्तिको प्राप्त नहीं होता—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले, समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥

प्रश्न—स्थितप्रज्ञ ज्ञानीके साथ समुद्रकी उपमा देकर यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है; तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः स[illegible]की उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार [illegible]'पूर्यमाणम्' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, [illegible] स्थतप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है; जैसे [illegible] [illegible]वश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ [illegible] सी

उत्तर—यहाँ 'सर्वे' विशेषणके सहित 'कामाः' पद 'काम्यन्त इति कामाः' अर्थात् जिनके लिये कामना की जाय उनका नाम काम होता है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंका वाचक है, इच्छाओंका वाचक नहीं। क्योंकि स्थितप्रज्ञ पुरुषमें कामनाओंका तो सर्वथा अभाव ही हो जाता है, फिर उनका उसमें प्रवेश कैसे बन स[illegible] है ? अतएव जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता न र[illegible] [illegible]क नद-नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रवेश करते रहते [illegible] नदी और सरोवरोंकी भाँति न तो समुद्रमें बाढ़ [illegible] न वह अपनी स्थितिसे विचलित होकर

मय स्वरूपमें तद्रूप होकर विलीन हो जाते हैं—यही उनका समुद्रमें जलोंकी भाँति स्थितप्रज्ञमें समा जाना है।

प्रश्न—वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं,—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि जो उपर्युक्त प्रकारसे आप्तकाम है, जिसको किसी भी भोगकी जरा भी आवश्यकता नहीं है, जिसमें समस्त भोग प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आ-आकर विलीन हो जाते हैं और जो स्वयं किसी भोगकी कामना नहीं करता, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला मनुष्य कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि उसका चित्त निरन्तर नाना प्रकारकी भोग-कामनाओंसे विक्षिप्त रहता है; और जहाँ विक्षेप है, वहाँ शान्ति कैसे रह सकती है? वहाँ तो पद-पदपर चिन्ता, जलन और शोक ही निवास करते हैं।

प्रश्न—अठावनवेंसे लेकर इस श्लोकतक अर्जुनके तीसरे प्रश्नका ही उत्तर माना जाय तो क्या आपत्ति है, क्योंकि इस श्लोकमें समुद्रकी भाँति अचल रहनेका उदाहरण दिया गया है?

उत्तर—तीसरे प्रश्नका उत्तर यहाँ नहीं माना जा सकता, तीसरे प्रश्नका उत्तर अठावनवें श्लोकसे आरम्भ करके इकसठवें श्लोकमें समाप्त कर दिया गया है; इसीलिये उसमें 'आसीत' पद आया है। इसके बाद प्रसङ्गवश बासठ और तिरसठवें श्लोकोंमें विषय-चिन्तनसे आसक्ति आदिके द्वारा अधःपतन दिखलाकर चौंसठवें श्लोकसे चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं। 'चरन्' पदसे यह भेद स्पष्ट हो जाता है। इसी सिलसिलेमें नौकाके दृष्टान्तसे विषयासक्त अयुक्त पुरुषकी विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे किसी एक इन्द्रियके द्वारा बुद्धिके हरण किये जानेकी बात आयी है। इसमें भी 'चरताम्' पद आया है। इसके अतिरिक्त इस श्लोकमें 'सर्वे कामाः प्रविशन्ति' पदोंसे यह कहा गया है कि सम्पूर्ण भोग उसमें प्रवेश करते हैं। अक्रिय-अवस्थामें तो प्रवेशके सब द्वार ही बंद हैं, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ विषयोंके संसर्गसे रहित हैं। यहाँ इन्द्रियोंका व्यवहार है, इसीलिये भोगोंका उसमें प्रवेश सम्भव है। उसकी परमात्माके स्वरूपमें 'अचल' स्थिति है, परन्तु व्यवहारमें वह अक्रिय नहीं है। अतएव यहाँ चौथे प्रश्नका उत्तर मानना ही युक्तियुक्त है।

सम्बन्ध—'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किन्तु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें श्लोक चौंसठवेंसे यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है, उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥

प्रश्न—'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद किनका वाचक है और उनका त्याग कर देना क्या है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंकी सब प्रकारकी कामनाओंका वाचक यहाँ 'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद है। इन सब प्रकारके भोगोंकी समस्त कामनाओंसे सदाके लिये सर्वथा रहित हो जाना ही इनका त्याग कर देना है।

यहाँ 'कामान्' पद शब्दादि विषयोंका वाचक नहीं है, क्योंकि इसमें अर्जुनके चौथे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है और स्थितप्रज्ञ पुरुष किस प्रकार आचरण करता है यह बात बतलायी जाती है; अतः यदि यहाँ 'कामान्' पदका अर्थ शब्दादि विषय मान लिया जाय तो उनका सर्वथा त्याग करके विचरना नहीं बन सकता।

प्रश्न—'निरहङ्कारः', 'निर्ममः' और

इन तीनों पदोंके अलग-अलग क्या भाव हैं तथा ऐसा होकर विचरना क्या है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, अतएव शरीरके सुख-दुःखसे ही सुखी-दुखी होते हैं, उस देहाभिमानका नाम अहङ्कार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना—यही 'निरहङ्कार' अर्थात् अहङ्काररहित हो जाना है ।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंमें तथा गृह, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थोंमें, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंमें साधारण मनुष्योंका ममत्व रहता है अर्थात् इन सबको वे अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'निर्मम' अर्थात् ममतारहित हो जाना है ।

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इस अपेक्षासे सर्वथा रहित हो जाना ही 'निःस्पृह' अर्थात् स्पृहारहित होना है । स्पृहा कामनाका सूक्ष्म स्वरूप है, इस कारण समस्त कामनाओंके त्यागसे इसके त्यागको अलग बतलाया है ।

इस प्रकार अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-जागना आदि समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर विचरण करना है ।

प्रश्न—यहाँ 'निःस्पृहः' पदका अर्थ आसक्तिरहित मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—स्पृहा आसक्तिका ही कार्य है, इसलिये यहाँ स्पृहाका अर्थ आसक्ति माननेमें कोई दोष तो नहीं है; परन्तु 'स्पृहा' शब्दका अर्थ वस्तुतः सूक्ष्म कामना है, आसक्ति नहीं । अतएव आसक्ति न मानकर इसे कामनाका ही सूक्ष्म स्वरूप मानना चाहिये ।

प्रश्न—कामना और स्पृहासे रहित बतलानेके बाद फिर 'निर्ममः' और 'निरहङ्कारः' कहनेसे क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यहाँ पूर्ण शान्तिको प्राप्त सिद्ध पुरुषका वर्णन है । इसीलिये उसे निष्काम और निःस्पृहके साथ ही निर्मम और निरहङ्कार भी बतलाया गया है । क्योंकि अधिकांशमें निष्काम और निःस्पृह होनेपर भी यदि किसी पुरुषमें ममता और अहङ्कार रहते हैं तो वह सिद्ध पुरुष नहीं है । और जो मनुष्य निष्काम, निःस्पृह एवं निर्मम होनेपर भी अहङ्काररहित नहीं है, वह भी सिद्ध नहीं है । अहङ्कारके नाशसे ही सबका नाश है । जबतक कारणरूप अहङ्कार बना है तबतक कामना, स्पृहा और ममता भी किसी-न-किसी रूपमें रह ही सकती है और जबतक किञ्चित् भी कामना, स्पृहा, ममता और अहङ्कार हैं तबतक पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती । यहाँ 'शान्तिम् अधिगच्छति' वाक्यसे भी पूर्ण शान्तिकी ही बात सिद्ध होती है । इस प्रकारकी पूर्ण और नित्य शान्ति ममता और अहङ्कारके रहते कभी प्राप्त नहीं होती । इसलिये निष्काम और निःस्पृह कहनेके बाद भी निर्मम और निरहङ्कार कहना उचित ही है ।

प्रश्न—ऐसा माननेसे तो एक 'निरहङ्कार' शब्द ही पर्याप्त था; फिर निष्काम, निःस्पृह और निर्मम कहनेकी क्यों आवश्यकता हुई ?

उत्तर—यह ठीक है कि निरहङ्कार होनेपर कामना, स्पृहा और ममता भी नहीं रहती, क्योंकि अहङ्कार ही सबका मूल कारण है । कारणके अभावमें कार्यका अभाव अपने-आप ही सिद्ध है । तथापि स्पष्टरूपसे समझानेके लिये इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—वह शान्तिको प्राप्त है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विचरनेकी विधि बतलाकर अर्जुनके स्थितप्रज्ञविषयक चौथे प्रश्नका उत्तर दिया गया है । अतः उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकारसे विषयोंमें विचरनेवाला पुरुष ही परम शान्तिस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥७२॥

प्रश्न—'एषा' और 'ब्राह्मी'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'स्थितिः' पद किस स्थितिका वाचक है और उसको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—जो ब्रह्मविषयक स्थिति हो, उसे 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं और जिसका प्रकरण चलता हो उसका द्योतक 'एषा' पद है; इसलिये यहाँ अर्जुनके पूछनेपर पचपनवें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया गया है, जो ब्रह्मको प्राप्त महापुरुषकी स्थिति है, उसीका वाचक 'एषा' और 'ब्राह्मी' विशेषणके सहित 'स्थितिः' पद है । तथा उपर्युक्त प्रकारसे अहङ्कार, ममता, आसक्ति, स्पृहा और कामनासे रहित होकर सर्वथा निर्विकार और निश्चलभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है ।

प्रश्न—इस स्थितिको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि ब्रह्म क्या है ? ईश्वर क्या है ? संसार क्या है ? माया क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और क्या कर रहा हूँ ?—आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है; यह मोह जीवको अनादिकालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है। पर जब अहंता, ममता, आसक्ति और कामनासे रहित होकर मनुष्य उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर लेता है, तब उसका यह अनादिसिद्ध मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

प्रश्न—अन्तकालमें भी इस स्थितिमें स्थित होकर योगी ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य जीवित अवस्थामें ही इस स्थितिको प्राप्त कर लेता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है, वह तो ब्रह्मानन्दको प्राप्त जीवन्मुक्त है ही; पर जो साधन करते-करते या अकस्मात् मरणकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित हो जाता है अर्थात् अहङ्कार, ममता, आसक्ति, स्पृहा और कामनासे रहित होकर अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है, वह भी ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—जो साधक कर्मयोगमें श्रद्धा रखनेवाला है और उसका मन यदि किसी कारणवश मृत्युकालमें समभावमें स्थिर नहीं रहा तो उसकी क्या गति होगी ?

उत्तर—मृत्युकालमें रहनेवाला समभाव तो साधकका उद्धार तत्काल ही कर देता है, परन्तु मृत्युकालमें यदि समतासे मन विचलित हो जाय तो भी उसका अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता; वह योगभ्रष्टकी गतिको प्राप्त होता है और समभावके संस्कार उसे बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं (६ । ४०—४४) और फिर वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

तृतीयोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें नाना प्रकारके हेतुओंसे विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध की गयी है तथा प्रत्येक मनुष्यको अपने-अपने वर्ण-आश्रमके लिये विहित कर्म किस प्रकार करने चाहिये, क्यों करने चाहिये, उनके न करनेमें क्या हानि है, करनेमें क्या लाभ है, कौन-से कर्म बन्धनकारक हैं और कौन-से मुक्तिमें सहायक हैं—इत्यादि बातें भलीभाँति समझायी गयी हैं। इस प्रकार इस अध्यायमें कर्मयोगका विषय अन्यान्य अध्यायोंकी अपेक्षा अधिक और विस्तारपूर्वक वर्णित है एवं दूसरे विषयोंका समावेश बहुत ही कम हुआ है, जो कुछ हुआ है, वह भी बहुत ही संक्षेपमें हुआ है; इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌के अभिप्रायको न समझनेके कारण अर्जुनने भगवान्‌को मानो उलाहना देते हुए उनसे अपना ऐकान्तिक श्रेयः-साधन बतलानेके लिये प्रार्थना की है और उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने तीसरेमें दो निष्ठाओंका वर्णन करके चौथेमें किसी भी निष्ठामें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग आवश्यक नहीं है, ऐसा सिद्ध किया है। पाँचवेंमें क्षणमात्रके लिये भी कर्मोंका सर्वथा त्याग असम्भव बतलाकर, छठेमें केवल ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रिया न करनेवाले विषयचिन्तक मनुष्यको मिथ्याचारी बतलाया है और सातवेंमें मनसे इन्द्रियोंका संयम करके इन्द्रियोंके द्वारा अनासक्तभावसे कर्म करनेवालेकी प्रशंसा की है। आठवें और नवेंमें कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्मोंका करना श्रेष्ठ बतलाया है तथा कर्मोंके बिना शरीरनिर्वाहको असम्भव बतलाकर निःस्वार्थ और अनासक्तभावसे विहित कर्म करनेकी आज्ञा दी है। दसवेंसे बारहवेंतक प्रजापतिकी आज्ञा होनेके कारण कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करते हुए तेरहवेंमें यज्ञशिष्ट अन्नसे सब पापोंका विनाश होना और यज्ञ न करनेवालोंको पापी बतलाया है। चौदहवें और पंद्रहवेंमें सृष्टि-चक्रका वर्णन करके सर्वव्यापी परमेश्वरको यज्ञरूप साधनमें नित्य प्रतिष्ठित बतलाया है। सोलहवेंमें उस सृष्टि-चक्रके अनुसार न बरतनेवालेकी निन्दा की है। सतरहवें और अठारहवेंमें आत्मनिष्ठ ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव बतलाकर कर्म करने और न करनेमें उसके प्रयोजनका अभाव बतलाया है और उन्नीसवेंमें उपर्युक्त हेतुओंसे कर्म करना आवश्यक सिद्ध करके एवं निष्काम कर्मका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाकर अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है। तदनन्तर बीसवेंमें जनकादिकोंको कर्मोंसे सिद्धि प्राप्त होनेका प्रमाण देकर एवं लोकसंग्रहके लिये भी कर्म करना आवश्यक बतलाकर लोकसंग्रहकी सार्थकता सिद्ध की है। इक्कीसवेंमें श्रेष्ठ पुरुषके आचरण और उपदेशके अनुसार लोग चलते हैं, ऐसा कहकर बाईसवेंसे चौबीसवेंतक भगवान्‌ने स्वयं अपना दृष्टान्त देते हुए कर्म करनेसे लाभ और न करनेसे हानि बतलायी है। पचीसवें और छब्बीसवेंमें ज्ञानी पुरुषके लिये भी लोकसंग्रहार्थ स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना उचित बतलाकर सत्ताईसवें और अट्ठाईसवेंमें कर्मासक्त जनसमुदायकी अपेक्षा सांख्ययोगीकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हुए उनतीसवेंमें ज्ञानीके लिये साधारण मनुष्योंको विचलित न करनेकी बात कही गयी है। तीसवेंमें अर्जुनको आशा, ममता और सन्तापका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे युद्ध करनेकी आज्ञा देकर इकतीसवेंमें उस सिद्धान्तके अनुसार चलनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंका मुक्त होना और बत्तीसवेंमें उसके अनुसार न चलनेवाले दोषदर्शियोंका पतन होना बतलाया है। उसके बाद तैंतीसवेंमें प्रकृतिके अनुसार स्वरूपसे क्रिया न करनेमें समस्त मनुष्योंकी असमर्थता सिद्ध करते हुए चौंतीसवेंमें राग-द्वेषके वशमें न होनेकी प्रेरणा की है और पैंतीसवेंमें परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्मको कल्याणकारक एवं परधर्मको भयावह बतलाया है। छत्तीसवेंमें अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'बलात्कारसे मनुष्यको पापमें प्रवृत्त कौन करता है', सैंतीसवेंमें कामरूप वैरीको समस्त पापाचरणका मूल कारण बतलाया है और अड़तीसवेंसे इकतालीसवेंतक उस कामको अग्निकी भाँति

दुष्पूर और ज्ञानका आवरण करनेवाला महान् शत्रु बतलाकर एवं उसके निवासस्थानोंका वर्णन करके इन्द्रिय-संयमपूर्वक उसका नाश करनेके लिये कहा है। फिर बियालीसवेंमें इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे आत्माको अतिशय श्रेष्ठ बतलाकर तैंतालीसवें-में बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके कामको मारनेकी आज्ञा देते हुए अध्यायकी समाप्ति की है।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२।११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (२।३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु' (२।३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया। इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया। वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्ने सैंतालीसवें ... अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उनचासवेंमें समबुद्धिरूप ... अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको ... करनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी। इस प्रसंगको ... का यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके। 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो ... उनमें 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी, एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी ... पड़ने लगे। अतएव भगवान्से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन ... ...

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

तृतीयोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें नाना प्रकारके हेतुओंसे विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध की गयी है तथा प्रत्येक मनुष्यको अपने-अपने वर्ण-आश्रमके लिये विहित कर्म किस प्रकार करने चाहिये, क्यों करने चाहिये, उनके न करनेमें क्या हानि है, करनेमें क्या लाभ है, कौन-से कर्म बन्धनकारक हैं और कौन-से मुक्तिमें सहायक हैं—इत्यादि बातें भलीभाँति समझायी गयी हैं। इस प्रकार इस अध्यायमें कर्मयोगका विषय अन्यान्य अध्यायोंकी अपेक्षा अधिक और विस्तारपूर्वक वर्णित है एवं दूसरे विषयोंका समावेश बहुत ही कम हुआ है, जो कुछ हुआ है, वह भी बहुत ही संक्षेपमें हुआ है; इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मयोग' रक्खा गया है ।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌के अभिप्रायको न समझनेके कारण अर्जुनने भगवान्‌को मानो उलाहना देते हुए उनसे अपना ऐकान्तिक श्रेयः-साधन बतलानेके लिये प्रार्थना की है और उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने तीसरेमें दो निष्ठाओंका वर्णन करके चौथेमें किसी भी निष्ठामें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग आवश्यक नहीं है, ऐसा सिद्ध किया है। पाँचवेंमें क्षणमात्रके लिये भी कर्मोंका सर्वथा त्याग असम्भव बतलाकर, छठेमें केवल ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रिया न करनेवाले विषयचिन्तक मनुष्यको मिथ्याचारी बतलाया है और सातवेंमें मनसे इन्द्रियोंका संयम करके इन्द्रियोंके द्वारा अनासक्तभावसे कर्म करनेवालेकी प्रशंसा की है। आठवें और नवेंमें कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्मोंका करना श्रेष्ठ बतलाया है तथा कर्मोंके बिना शरीरनिर्वाहको असम्भव बतलाकर निःस्वार्थ और अनासक्तभावसे विहित कर्म करनेकी आज्ञा दी है। दसवेंसे बारहवेंतक प्रजापतिकी आज्ञा होनेके कारण कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करते हुए तेरहवेंमें यज्ञशिष्ट अन्नसे सब पापोंका विनाश होना और यज्ञ न करनेवालोंको पापी बतलाया है। चौदहवें और पंद्रहवेंमें सृष्टि-चक्रका वर्णन करके सर्वव्यापी परमेश्वरको यज्ञरूप साधनमें नित्य प्रतिष्ठित बतलाया है। सोलहवेंमें उस सृष्टि-चक्रके अनुसार न बरतनेवालेकी निन्दा की है। सतरहवें और अठारहवेंमें आत्मनिष्ठ ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव बतलाकर कर्म करने और न करनेमें उसके प्रयोजनका अभाव बतलाया है और उन्नीसवेंमें उपर्युक्त हेतुओंसे कर्म करना आवश्यकसिद्ध करके एवं निष्काम कर्मका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाकर अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है। तदनन्तर बीसवेंमें जनकादिको कर्मोंसे सिद्धि प्राप्त होनेका प्रमाण देकर एवं लोकसंग्रहके लिये भी कर्म करना आवश्यक बतलाकर लोकसंग्रहकी सार्थकता सिद्ध की है। इक्कीसवेंमें श्रेष्ठ पुरुषके आचरण और उपदेशके अनुसार लोग चलते हैं, ऐसा कहकर बाईसवेंसे चौबीसवेंतक भगवान्‌ने स्वयं अपना दृष्टान्त देते हुए कर्म करनेसे लाभ और न करनेसे हानि बतलायी है। पचीसवें और छब्बीसवेंमें ज्ञानी पुरुषके लिये भी लोकसंग्रहार्थ स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना उचित बतलाकर सत्ताईसवें और अट्ठाईसवेंमें कर्मासक्त जनसमुदायकी अपेक्षा सांख्ययोगीकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हुए उनतीसवेंमें ज्ञानीके लिये साधारण मनुष्योंको विचलित न करनेकी बात कही गयी है। तीसवेंमें अर्जुनको आशा, ममता और सन्तापका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे युद्ध करनेकी आज्ञा देकर इकतीसवेंमें उस सिद्धान्तके अनुसार चलनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंका मुक्त होना और बत्तीसवेंमें उसके अनुसार न चलनेवाले दोषदर्शियोंका पतन होना बतलाया है। उसके बाद तैंतीसवेंमें प्रकृतिके अनुसार स्वरूपसे क्रिया न करनेमें समस्त मनुष्योंकी असमर्थता सिद्ध करते हुए चौंतीसवेंमें राग-द्वेषके वशमें न होनेकी प्रेरणा की है और पैंतीसवेंमें परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्मको कल्याणकारक एवं परधर्मको भयावह बतलाया है। छत्तीसवेंमें अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'बलात्कारसे मनुष्यको पापमें प्रवृत्त कौन करता है', सैंतीसवेंमें कामरूप वैरीको समस्त पापाचरणका मूल कारण बतलाया है और अड़तीसवेंसे इकतालीसवेंतक उस कामको अग्निकी भाँति

दुष्पूर और ज्ञानका आवरण करनेवाला महान् शत्रु बतलाकर एवं उसके निवासस्थानोंका वर्णन करके इन्द्रिय-संयमपूर्वक उसका नाश करनेके लिये कहा है। फिर बियालीसवेंमें इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे आत्माको अतिशय श्रेष्ठ बतलाकर तैंतालीसवें-में बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके कामको मारनेकी आज्ञा देते हुए अध्यायकी समाप्ति की है।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२।११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (२।३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु' (२।३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया। इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया। वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्‌ने सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उनचासवेंमें समबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी। इस प्रसङ्गको सुनकर अर्जुन उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके। 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया, भगवान्‌के वचनोंमें 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी, एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से जान पड़ने लगे। अतएव भगवान्‌से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयङ्कर कर्ममें क्यों लगाते हैं?॥ १॥

प्रश्न—कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ऐसा इससे पूर्व भगवान्‌ने कहाँ कहा है? यदि नहीं कहा, तो अर्जुनके प्रश्नका आधार क्या है?

उत्तर—भगवान्‌ने तो कहीं नहीं कहा, किन्तु अर्जुनने भगवान्‌के वचनोंका मर्म और तत्त्व न समझनेके कारण 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' से यह बात समझ ली कि भगवान् 'बुद्धियोग' से ज्ञानका लक्ष्य कराते हैं और उस ज्ञान-की अपेक्षा कर्मोंको अत्यन्त तुच्छ बतला रहे हैं। वस्तुतः वहाँ 'बुद्धियोग' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' नहीं है; 'बुद्धियोग' वहाँ समबुद्धिसे होनेवाले 'कर्मयोग' का वाचक है और 'कर्म' शब्द सकाम कर्मोंका। क्योंकि उसी श्लोकमें भगवान्‌ने फल चाहनेवालोंको 'कृपणाः फलहेतवः' कहकर अत्यन्त दीन बतलाया है और उन सकाम कर्मोंको तुच्छ बतलाकर 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' से समबुद्धिरूप कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करनेके लिये आदेश दिया है; परन्तु अर्जुनने इस तत्त्वको नहीं समझा, इसीसे उनके मनमें उपर्युक्त प्रश्नकी अवतारणा हुई।

प्रश्न—'बुद्धि' शब्दका अर्थ यहाँ भी पूर्वकी भाँति सम-बुद्धिरूप कर्मयोग क्यों न लिया जाय?

उत्तर—यहाँ तो अर्जुनका प्रश्न है। वे भगवान्‌के यथार्थ तात्पर्यको न समझकर 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' ही समझे हुए हैं और इसीलिये वे उपर्युक्त प्रश्न कर रहे हैं। यदि अर्जुन बुद्धिका अर्थ समबुद्धिरूप कर्मयोग समझ लेते तो इस प्रकारके प्रश्नका कोई आधार ही नहीं रहता। अर्जुनने 'बुद्धि' का अर्थ 'ज्ञान' मान रखा है, अतएव यहाँ अर्जुनकी मान्यताके अनुसार 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' ठीक ही किया गया है।

प्रश्न—मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌के अभिप्रायको न समझनेके कारण अर्जुन यह माने हुए हैं कि जिन कर्मोंको भगवान्‌ने अत्यन्त तुच्छ बतलाया है, उन्हीं कर्मोंमें ('तस्माद्युध्यस्व भारत'—इसलिये तू युद्ध कर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—तेरा कर्ममें ही अधिकार है, 'योगस्थः कुरु कर्माणि'—योगमें स्थित होकर कर्म कर—इत्यादि विधिवाक्योंसे) मुझे प्रवृत्त करते हैं। इसीलिये वे उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌को मानो उलाहना-सा देते हुए पूछ रहे हैं कि आप मुझे इस युद्धरूप भयानक पाप-कर्ममें क्यों लगा रहे हैं ?

प्रश्न—यहाँ 'जनार्दन' और 'केशव' नामसे भगवान्‌को अर्जुनने क्यों सम्बोधित किया ?

उत्तर—'सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धये इति जनार्दनः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सब लोग जिनसे अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये याचना करते हैं, उनका नाम 'जनार्दन' होता है तथा 'क'—ब्रह्मा, 'अ'—विष्णु और 'ईश'—महेश, ये तीनों जिनके 'व'—वपु अर्थात् स्वरूप हैं, उनको 'केशव' कहते हैं। भगवान्‌को इन नामोंसे सम्बोधित करके अर्जुन यह सूचित कर रहे हैं कि 'मैं आपके शरणागत हूँ—मेरा क्या कर्तव्य है, यह बतलानेके लिये मैं आपसे पहले भी याचना कर चुका हूँ (२ । ७) और अब भी कर रहा हूँ; क्योंकि आप साक्षात् परमेश्वर हैं। अतएव मुझ याचना करनेवाले शरणागत जनको अपना निश्चित सिद्धान्त अवश्य बतलानेकी कृपा कीजिये।'

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ॥ २॥

प्रश्न—आप मिले हुए-से वचनोंद्वारा मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं, इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिन वचनोंमें कोई साधन निश्चित करके स्पष्टरूपसे नहीं बतलाया गया हो, जिनमें कई तरहकी बातोंका सम्मिश्रण हो, उनका नाम 'व्यामिश्र'—'मिले हुए वचन' है। ऐसे वचनोंसे श्रोताकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर न पहुँचकर मोहित हो जाती है। भगवान्‌के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्‌के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (२ । ४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (२ । ५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं। इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (२ । ४७) 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (२ । ४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव' 'आत्मवान् भव' (२ । ४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद्युध्यस्व भारत' (२ । १८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (२ । ३८), 'तस्माद्योगाय युज्यस्व' (२ । ५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी। इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया। इसलिये उपर्युक्त वाक्यमें उन्होंने दो बार 'इव' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि वास्तवमें आप मुझे स्पष्ट और अलग-अलग ही साधन बतला रहे हैं, कोई बात मिलाकर नहीं कह रहे हैं तथा आप मेरे परम प्रिय और हितैषी हैं, अतएव मुझे मोहित भी नहीं कर रहे हैं वरं मेरे मोहका नाश करनेके लिये ही उपदेश दे रहे हैं; किन्तु अपनी अज्ञताके कारण मुझे ऐसा ही प्रतीत हो रहा है कि मानो आप मुझे परस्पर-विरुद्ध और मिले हुए-से वचन कहकर मेरी बुद्धिको मोहमें डाल रहे हैं।

प्रश्न—यदि अर्जुनको दूसरे अध्यायके उनचासवें और

पचासवें श्लोकोंको सुनते ही उपर्युक्त भ्रम हो गया था तो तिरपनवें श्लोकमें उस प्रकरणके समाप्त होते ही उन्होंने अपने भ्रमनिवारणके लिये भगवान्‌से पूछ क्यों नहीं लिया? बीचमें इतना व्यवधान क्यों पड़ने दिया?

उत्तर—यह ठीक है कि अर्जुनको वहीं शङ्का हो गयी थी, इसलिये चौवनवें श्लोकमें ही उन्हें इस विषयमें पूछ लेना चाहिये था; किन्तु तिरपनवें श्लोकमें जब भगवान्‌ने यह कहा कि 'जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे तर जायगी और परमात्माके स्वरूपमें स्थिर हो जायगी तब तुम परमात्मामें संयोग-रूप योगको प्राप्त होओगे', तब उसे सुनकर अर्जुनके मनमें परमात्माको प्राप्त स्थिरबुद्धियुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण जाननेकी प्रबल इच्छा जाग उठी। इस कारण उन्होंने अपनी इस पहली शङ्काको मनमें रखकर, पहले स्थितप्रज्ञके विषयमें प्रश्न कर दिये और उनका उत्तर मिलते ही इस शङ्काको भगवान्‌के सामने रख दिया। यदि वे पहले इस प्रसङ्गको छेड़ देते तो स्थितप्रज्ञसम्बन्धी बातोंमें इससे भी अधिक व्यवधान पड़ जाता।

प्रश्न—उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अबतक आपने मुझे जितना उपदेश दिया है, उसमें विरोध प्रतीत होनेसे मैं अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सका हूँ। मेरी समझमें यह बात नहीं आयी है कि आप मुझे युद्धके लिये आज्ञा दे रहे हैं या समस्त कर्मोंका त्याग कर देनेके लिये; यदि युद्ध करनेके लिये कहते हैं तो किस प्रकार करनेके लिये कहते हैं और यदि कर्मोंका त्याग करनेके लिये कहते हैं तो उनका त्याग करनेके बाद फिर क्या करनेको आज्ञा देते हैं। इसलिये आप सब प्रकारसे सोच-समझकर मेरे कर्तव्यका निश्चय करके मुझे एक ऐसा निश्चित साधन बतला दीजिये कि जिसका पालन करनेसे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ।

प्रश्न—यहाँ 'श्रेयः' पदका अर्थ 'कल्याण' करनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ श्रेयःप्राप्तिसे अर्जुनका तात्पर्य इस लोक या परलोकके भोगोंकी प्राप्ति नहीं है, क्योंकि 'भूमिका निष्कण्टक राज्य और देवोंका आधिपत्य मेरे शोकको दूर नहीं कर सकते' (२। ८) यह बात तो उन्होंने पहले ही कह दी थी। अतएव श्रेयःप्राप्तिसे उनका अभिप्राय शोक-मोहका सर्वथा नाश करके शाश्वती शान्ति और नित्यानन्द प्रदान करनेवाली नित्यवस्तुकी प्राप्तिसे है, इसीलिये यहाँ 'श्रेयः' पदका अर्थ 'कल्याण' किया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं, वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है॥ ३॥

प्रश्न—'अस्मिन् लोके' पद किस लोकका वाचक है?

उत्तर—'अस्मिन् लोके' पद इस मनुष्यलोकका वाचक है, क्योंकि ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंमें मनुष्योंका ही अधिकार है।

प्रश्न—'निष्ठा' पदका क्या अर्थ है और उसके साथ 'द्विविधा' विशेषण देनेका क्या भाव है?

उत्तर—'निष्ठा' पदका अर्थ 'स्थिति' है। उसके साथ 'द्विविधा' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रधानतासे साधनकी स्थितिके दो भेद होते हैं—एक स्थितिमें तो मनुष्य आत्मा और परमात्माका अभेद मानकर

अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझता है; और दूसरीमें परमेश्वर-को सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता, हर्ता, स्वामी तथा अपनेको उनका आज्ञाकारी सेवक समझता है।

प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किञ्चिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (५।२४; ६।२७)—यह पहली निष्ठा है। इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है। इस स्थितिको प्राप्त हो जानेपर योगी हर्ष, शोक और कामनासे अतीत हो जाता है, उसकी सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है (१८।५४); उस समय वह सम्पूर्ण जगत्को आत्मामें स्वप्नवत् कल्पित देखता है और आत्माको सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त देखता है (६।२९)। इस निष्ठा या स्थितिका फल परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है।

वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है—जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है—उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (२।४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त संकल्पोंका त्याग करके योगारूढ हो जाना (६।४)—यह कर्मयोगकी निष्ठा है। तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्के समर्पण करना (३।३०; ९।२७-२८), उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्के प्रत्येक विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (१०।९; १२।६; १८।५७)—यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है। उपर्युक्त कर्मयोगकी स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषमें राग-द्वेष और काम-क्रोधादि अवगुणोंका सर्वथा अभाव होकर उसकी सबमें समता हो जाती है, क्योंकि वह सबके हृदयमें अपने स्वामीको स्थित देखता है (१५।१५; १८।६१) और सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का ही स्वरूप समझता है (७।७–१२; ९।१६–१९)। इस स्थितिका फल भगवान्को प्राप्त हो जाना है।

प्रश्न—दो प्रकारकी निष्ठाएँ मेरेद्वारा पहले कही गयी हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि ये दो प्रकारकी निष्ठाएँ मैंने आज तुम्हें नयी नहीं बतलायी हैं, सृष्टिके आदिकालमें और उसके बाद भिन्न-भिन्न अवतारोंमें मैं इन दोनों निष्ठाओंका स्वरूप अलग-अलग बतला चुका हूँ। वैसे ही तुमको भी मैंने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे लेकर तीसवें श्लोकतक अद्वितीय आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए सांख्ययोगकी दृष्टिसे युद्ध करनेके लिये कहा है (२।१८) और उन्चालीसवें श्लोकमें योगविषयक बुद्धिका वर्णन करनेकी प्रस्तावना करके चालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक फलसहित कर्मयोगका वर्णन करते हुए योगमें स्थित होकर युद्धादि कर्तव्यकर्म करनेके लिये कहा है (२।४७–५०); तथा दोनोंका विभाग करनेके लिये उन्चालीसवें श्लोकमें स्पष्टरूपसे यह भी कह दिया है कि इसके पूर्व मैंने सांख्यविषयक उपदेश दिया है और अब योगविषयक उपदेश कहता हूँ। इसलिये मेरा कहना 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिला हुआ' नहीं है।

प्रश्न—'अनघ' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—जो पापरहित हो, उसे 'अनघ' कहते हैं। अर्जुनको 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जो पापयुक्त या पापपरायण मनुष्य है, वह तो इनमेंसे किसी भी निष्ठाको नहीं पा सकता; पर तुम पाप-

रहित हो, अतः तुम इनको सहज ही प्राप्त कर सकते हो, इसलिये मैंने तुमको यह विषय सुनाया है ।

प्रश्न—सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियों-की कर्मयोगसे होती है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उन दोनों प्रकारकी निष्ठाओंमेंसे जो सांख्ययोगियोंकी निष्ठा है, वह तो ज्ञानयोगका साधन करते-करते देहाभिमानका सर्वथा नाश होनेपर सिद्ध होती है और जो कर्मयोगियोंकी निष्ठा है, वह कर्मयोगका साधन करते-करते कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव होकर सिद्धि-असिद्धि-में समत्व होनेपर होती है । उपर्युक्त इन दोनों निष्ठाओंके अधिकारी पूर्वसंस्कार श्रद्धा और रुचिके अनुसार, अलग-अलग होते हैं और ये दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं ।

प्रश्न—यदि कोई मनुष्य ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंका एक साथ सम्पादन करे, तो उसकी कौन-सी निष्ठा होती है ?

उत्तर—ये दोनों साधन परस्पर भिन्न हैं, अतः एक ही मनुष्य एक कालमें दोनोंका साधन नहीं कर सकता; क्योंकि सांख्ययोगके साधनमें आत्मा और परमात्मामें अभेद समझकर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूपका चिन्तन किया जाता है और कर्मयोगमें फलासक्तिके त्यागपूर्वक कर्म करते हुए भगवान्‌को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका उपास्य-उपासकभावसे चिन्तन किया जाता है । इसलिये दोनोंका अनुष्ठान एक साथ एक कालमें एक ही मनुष्यके द्वारा नहीं किया जा सकता ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि सांख्यनिष्ठा ज्ञानयोगके साधनसे होती है और योगनिष्ठा कर्मयोगके साधनसे होती है, उसी बातको सिद्ध करनेके लिये अब यह दिखलाते हैं कि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपतः त्याग किसी भी निष्ठाका हेतु नहीं है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'नैष्कर्म्यम्' पद किसका वाचक है और मनुष्य कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त नहीं होता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्मयोगकी जो परिपक्व स्थिति है—जिसका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें योगनिष्ठाके नामसे किया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'नैष्कर्म्यम्' पद है । इस स्थितिको प्राप्त पुरुष समस्त कर्म करते हुए भी उनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, उसके कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते (४।२२,४१); इस कारण उस स्थितिको 'नैष्कर्म्य' अर्थात् 'निष्कर्मता' कहते हैं । यह स्थिति मनुष्यको निष्कामभावसे कर्तव्यकर्मों-का आचरण करनेसे ही मिलती है, बिना कर्म किये नहीं मिल सकती । इसलिये कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देना नहीं है, बल्कि उनको निष्कामभाव-से करते रहना ही है—यही भाव दिखलानेके लिये कहा गया है कि 'मनुष्य कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको नहीं प्राप्त होता ।'

प्रश्न—कर्मयोगका स्वरूप तो कर्म करना ही है, उसमें कर्मोंका आरम्भ न करनेकी शङ्का नहीं होती; फिर कर्मोंका आरम्भ किये बिना 'निष्कर्मता' नहीं मिलती, यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—भगवान् अर्जुनको कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग करनेके लिये कहते हैं और उसका फल कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना बतलाते हैं (२।५१); इस कारण वह यह समझ सकता है कि यदि मैं कर्म न करूँ तो अपने-आप ही उनके बन्धनसे मुक्त हो जाऊँगा, फिर कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है । इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये पहले कर्मयोगका

प्रकरण आरम्भ करते समय भी भगवान्‌ने कहा है कि 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' अर्थात् तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तथा छठे अध्यायमें भी कहा है कि 'आरुरुक्षु मुनिके लिये कर्म करना ही योगारूढ होनेका उपाय है' (६।३) इसलिये शारीरिक परिश्रमके भयसे या अन्य किसी प्रकारकी आसक्तिसे मनुष्यमें जो अप्रवृत्तिका दोष आ जाता है, उसे कर्मयोगमें बाधक बतलानेके लिये ही भगवान्‌ने ऐसा कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'सिद्धिम्' पद किसका वाचक है और कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो ज्ञानयोगकी सिद्धि यानी परिपक्व स्थिति है, जिसका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें 'ज्ञाननिष्ठा' के नामसे किया गया है तथा जिसका फल तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'सिद्धिम्' पद है। इस स्थितिपर पहुँचकर साधक ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें आत्मा और परमात्माका किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, वह स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है; इसलिये इस स्थितिको 'सिद्धि' कहते हैं। यह ज्ञानयोगरूप सिद्धि अपने वर्णाश्रमके अनुसार करनेयोग्य कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्यागकर तथा समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनासे रहित होकर निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करनेसे ही सिद्ध होती है, कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेमात्रसे नहीं मिलती; क्योंकि अहंता, ममता और आसक्तिका नाश हुए बिना मनुष्यकी अभिन्नभावसे परमात्मामें स्थिर स्थिति नहीं हो सकती। बल्कि मन, बुद्धि और शरीरद्वारा होनेवाली किसी भी क्रियाका अपनेको कर्ता न समझकर उनका द्रष्टा—साक्षी रहनेसे (१४।१९) उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिये सांख्ययोगीको भी वर्णाश्रमोचित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी चेष्टा न करके उनमें कर्तापन, ममता, आसक्ति और कामनासे रहित हो जाना चाहिये—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'केवल कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती।'

प्रश्न—'अनारम्भात्' और 'संन्यसनात्'—इन दोनों पदोंका एक ही अभिप्राय है या भिन्न-भिन्न ? यदि भिन्न-भिन्न है तो दोनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—यहाँ भगवान्‌ने दोनों पदोंका प्रयोग भिन्न-भिन्न अभिप्रायसे किया है। क्योंकि 'अनारम्भात्' पदसे तो कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंके न करनेको योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक बतलाया है; किन्तु 'संन्यसनात्' पदसे सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं बतलाया गया, केवल यही बात कही गयी है कि उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती, सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है। अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है—यही दोनों पदोंके भावोंमें भेद है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगीके लिये कर्तव्यकर्मोंके न करनेको योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक और सांख्ययोगीके लिये सिद्धिकी प्राप्तिमें केवल स्वरूपसे बाहरी कर्मोंके त्यागको गौण बतलाकर, अब अर्जुनको कर्तव्यकर्मोंमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे भिन्न-भिन्न हेतुओंसे कर्म करनेकी आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये पहले कर्मोंके सर्वथा त्यागको अशक्य बतलाते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा पर[illegible] करनेके लि[illegible] या जाता है ॥ ५ ॥

प्रश्न—कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्ष[illegible] बिना कर्म किये नहीं रहता, इस वाक्यका क्या [illegible]

उत्तर—इस[illegible] भाव दिखलाया है कि [illegible] बैठना, [illegible], सोचना, मनन

करना, स्वप्न देखना, ध्यान करना और समाधिस्थ होना—ये सब-के-सब कर्मके अन्तर्गत हैं । इसलिये जबतक शरीर रहता है, तबतक मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ-न-कुछ कर्म करता ही रहता है । कोई भी मनुष्य क्षणभर भी कभी स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता । अतः उनमें कर्तापनका त्याग कर देना या ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग कर देना ही उनका सर्वथा त्याग कर देना है ।

प्रश्न—यहाँ 'कश्चित्' पदमें गुणातीत ज्ञानी पुरुष भी सम्मिलित है या नहीं ?

उत्तर—गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणोंके वशमें होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन सकता । इसलिये गुणातीत ज्ञानी पुरुष 'कश्चित्' पदके अन्तर्गत नहीं आता । तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका सङ्घातरूप जो उसका शरीर लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार नाममात्रके कर्म तो होते ही हैं; किन्तु कर्तापनका अभाव होनेके कारण वे कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं । हाँ, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके सङ्घातको 'कश्चित्'के अन्तर्गत मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि वह गुणोंका कार्य होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही ज्ञानीका गुणातीत हो जाना है ।

प्रश्न—'सर्वः' पद किनका वाचक है; और उनका गुणोंके वशमें होकर कर्म करनेके लिये बाध्य होना क्या है ?

उत्तर—'सर्वः' पद समस्त प्राणियोंका वाचक होते हुए भी यहाँ उसे खास तौरपर मनुष्यसमुदायका वाचक समझना चाहिये; क्योंकि कर्मोंमें मनुष्यका ही अधिकार है । और पूर्वजन्मोंके किये हुए कर्मोंके संस्कारजनित स्वभावके परवश होकर जो कर्मोंमें प्रवृत्त होना है, यही गुणोंके वश होकर कर्म करनेके लिये बाध्य होना है ।

प्रश्न—'गुणैः' पदके साथ 'प्रकृतिजैः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सांख्यशास्त्रमें गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति माना गया है, परन्तु भगवान्‌के मतमें तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ 'गुणैः' पदके साथ 'प्रकृतिजैः' विशेषण दिया है । इसी तरह कहीं 'प्रकृतिसम्भवान्' (१३ । १९), कहीं 'प्रकृतिजान्' (१३ । २१), कहीं 'प्रकृतिसम्भवाः' (१४ । ५) और कहीं 'प्रकृतिजैः' (१८ । ४०) विशेषण देकर अन्यत्र भी जगह-जगह गुणोंको प्रकृतिका कार्य बतलाया है ।

प्रश्न—यहाँ 'प्रकृति' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—समस्त गुणों और विकारोंके समुदायरूप इस जड दृश्य-जगत्‌की कारणभूता जो भगवान्‌की अनादिसिद्ध मूल प्रकृति है—जिसको अव्यक्त, अव्याकृत और महद्ब्रह्म भी कहते हैं—उसीका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शङ्का होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोंका त्याग कर सकता है । अतः ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देना कर्मोंका त्याग नहीं है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पद किन इन्द्रियोंका वाचक है और उनका हठपूर्वक रोकना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता

है अर्थात् शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियोंको रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि इन्द्रियोंको रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है। किन्तु भगवान्‌ने वैसी कोई बात नहीं कही है; एवं अगले श्लोकमें भी कर्मेन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करनेके लिये कहा है, परन्तु केवल वाणी आदि कर्मेन्द्रियों-द्वारा कर्मयोगका आचरण नहीं हो सकता। उसमें सभी इन्द्रियोंकी आवश्यकता है। इसीलिये यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदको जिनके द्वारा कर्म किये जायँ ऐसी सभी इन्द्रियोंका वाचक मानना ठीक है और हठसे सुनना, देखना आदि क्रियाओंको रोक देना ही उनको हठपूर्वक रोकना है।

प्रश्न—यदि कोई साधक भगवान्‌का ध्यान करनेके लिये या इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये हठसे इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेकी चेष्टा करता है और उस समय उसका मन वशमें न होनेके कारण उसके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, तो क्या वह भी मिथ्याचारी है?

उत्तर—वह मिथ्याचारी नहीं है, वह तो साधक है; क्योंकि मिथ्याचारीकी भाँति मनसे विषयोंका चिन्तन करना उसका उद्देश्य नहीं है। वह तो मनको भी रोकना ही चाहता है; पर आदत, आसक्ति और संस्कारवश उसका मन जबरदस्ती विषयोंकी ओर चला जाता है। अतः उसमें उसका कोई दोष नहीं है, आरम्भकालमें ऐसा होना स्वाभाविक है।

प्रश्न—यहाँ 'संयम्य' पदका अर्थ 'वशमें कर लेना' मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेवाला मिथ्याचारी नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तो योगका अङ्ग है। इसलिये यहाँ 'संयम्य' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'इन्द्रियार्थान्' पद किनका वाचक है?

उत्तर—दसों इन्द्रियोंके शब्दादि समस्त विषयोंका वाचक यहाँ 'इन्द्रियार्थान्' पद है। अध्याय पाँच श्लोक नवेंमें भी इसी अर्थमें 'इन्द्रियार्थेषु' पदका प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—वह मिथ्याचारी कहलाता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकार-से इन्द्रियोंको रोकनेवाला मनुष्य मछलियोंको धोखा देनेके लिये स्थिरभावसे खड़े रहनेवाले कपटी बगुलेकी भाँति बाहरसे दूसरा ही भाव दिखलाता है और मनमें दूसरा ही भाव रखता है; अतः उसका आचरण मिथ्या होनेसे वह मिथ्याचारी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार केवल ऊपरसे इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेनेको मिथ्याचार बतलाकर, अब आसक्तिका त्याग करके इन्द्रियोंद्वारा निष्कामभावसे कर्तव्यकर्म करनेवाले योगीकी प्रशंसा करते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदका क्या भाव है?

उत्तर—ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवालेकी अपेक्षा स्वरूपसे कर्म करते रहकर इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले योगीकी विलक्षणता बतलानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'इन्द्रियाणि' और 'कर्मेन्द्रियैः'—

इन दोनों पदोंसे कौन-सी इन्द्रियोंका ग्रहण है ?

उत्तर—यहाँ दोनों ही पद समस्त इन्द्रियोंके वाचक हैं। क्योंकि न तो केवल पाँच इन्द्रियोंको वशमें करनेसे इन्द्रियोंका वशमें करना ही सिद्ध होता है और न केवल पाँच इन्द्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान ही हो सकता है; क्योंकि देखना, सुनना आदिके बिना कर्मयोगका अनुष्ठान सम्भव नहीं। इसलिये उपर्युक्त दोनों पदोंसे सभी इन्द्रियोंका ग्रहण है। इस अध्याय-के इकतालीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने 'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'नियम्य' पदका प्रयोग करके सभी इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात कही है।

प्रश्न—यहाँ 'नियम्य' पदका अर्थ 'वशमें करना' न लेकर 'रोकना' लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—'रोकना' अर्थ यहाँ नहीं बन सकता; क्योंकि इन्द्रियोंको रोक लेनेपर फिर उनसे कर्मयोगका आचरण नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करना क्या है ?

उत्तर—समस्त विहित कर्मोंमें तथा उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें राग-द्वेषका त्याग करके एवं सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर, वशमें की हुई इन्द्रियोंकेद्वारा शब्दादि विषयोंका ग्रहण करते हुए जो यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, अध्यापन, प्रजापालन, लेन-देनरूप व्यापार और सेवा एवं खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि समस्त इन्द्रियोंके कर्म शास्त्रविधिके अनुसार करते रहना है, यही समस्त इन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करना है। दूसरे अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें इसीका फल प्रसादकी प्राप्ति और समस्त दुःखोंका नाश बतलाया गया है।

प्रश्न—'स विशिष्यते' का क्या भाव है ? क्या यहाँ कर्मयोगीको पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है ?

उत्तर—'स विशिष्यते' से यहाँ कर्मयोगीको समस्त साधारण मनुष्योंसे श्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है। यहाँ इसका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्या-चारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ बतलाना नहीं है, क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरी सम्पदावाला दम्भी है। उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे विहित कर्म करनेवाला मनुष्य भी बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवी सम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारी-की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो किसी वेश्याकी अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है। अतः यहाँ यही मानना ठीक है कि 'स विशिष्यते' से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८ ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। [illegible] करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

प्रश्न—'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किस कर्म-का वाचक है और उसे करनेके लिये आज्ञा देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षा-से जिस मनुष्यके लिये जो कर्म शास्त्रमें कर्तव्य बतलाये [illegible] हैं, उन सभी शास्त्रविहित स्वधर्मरूप कर्तव्य[illegible] यहाँ 'नियतम्' विशेषण[illegible] लिये आज्ञा देक[illegible] निसर्गे[illegible]

प्रकार भी तुम्हारे लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना हितकर नहीं है, अतः तुम्हें शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मरूप स्वधर्मका अवश्यमेव पालन करना चाहिये। युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म है; इसलिये वह देखनेमें हिंसात्मक और क्रूरतापूर्ण होनेपर भी वास्तवमें तुम्हारे लिये घोर कर्म नहीं है, बल्कि निष्काम-भावसे किये जानेपर वह कल्याणका ही हेतु है। इसलिये तुम संशय छोड़कर युद्ध करनेके लिये खड़े हो जाओ।

प्रश्न—कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि भगवान्‌के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसके पापोंका प्रायश्चित्त होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (१४ । १८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है। सकामभावसे या प्रायश्चित्तरूपसे भी कर्तव्यकर्मोंका करना न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है; फिर उनका निष्कामभावसे करना श्रेष्ठ है, इसमें तो कहना ही क्या है ?

प्रश्न—कर्म न करनेसे तेरा शरीरनिर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सर्वथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके तो मनुष्य जीवित भी नहीं रह सकता, शरीरनिर्वाहके लिये उसे कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है; ऐसी स्थितिमें विहित कर्मका त्याग करनेसे मनुष्यका पतन होना स्वाभाविक है। इसलिये कर्म न करनेकी अपेक्षा सब प्रकारसे कर्म करना ही उत्तम है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके हेतु माने गये हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे है ? इसपर कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर॥९॥

प्रश्न—यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंद्वारा बँधता है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो कर्म मनुष्यके कर्तव्यरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही अनासक्तभावसे किये जाते हैं, किसी फलकी कामनासे नहीं किये जाते, वे शास्त्रविहित कर्म बन्धनकारक नहीं होते; बल्कि उन कर्मोंसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है। किन्तु ऐसे लोकोपकारक कर्मोंके अतिरिक्त जितने भी पुण्य-पापरूप कर्म हैं, वे सब पुनर्जन्मके हेतु होनेसे बाँधनेवाले हैं। मनुष्य स्वार्थबुद्धिसे जो कुछ भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल भोगनेके लिये उसे कर्मानुसार नाना योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है; और बार-बार जन्मना-मरना ही बन्धन है, इसलिये सकाम कर्मोंमें या पाप कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य उन कर्मोंद्वारा बँधता है। अतएव मनुष्यको कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये निष्कामभावसे केवल कर्तव्यपालनकी बुद्धिसे ही शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये।

प्रश्न—'अयं लोकः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्योंका ही कर्म करनेमें अधिकार है तथा मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही दूसरी योनियाँ मिलती हैं, उनमें पुण्य-पापरूप नये कर्म नहीं बनते। इस कारण अन्य योनियोंमें किये हुए कर्म बाँधनेवाले नहीं होते, केवल मनुष्ययोनिमें किये हुए ही कर्म बन्धनके हेतु

होते हैं—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'अयं लोकः' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—तू आसक्तिसे रहित होकर यज्ञके निमित्त भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि अनासक्त भावसे यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्म मनुष्यको बाँधनेवाले नहीं होते, बल्कि ऐसे कर्म करनेवाले मनुष्यके पूर्वसञ्चित समस्त पाप-पुण्य भी विलीन हो जाते हैं (४। २३); इसलिये तुम ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके केवल शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंकी परम्परा सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे निष्कामभावसे समस्त कर्मोंका उत्साहपूर्वक भलीभाँति आचरण करो।

प्रश्न—उपर्युक्त वाक्यमें 'मुक्तसङ्गः' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'मुक्तसङ्गः' विशेषणसे कर्मोंमें और उनके फलमें ममता और आसक्तिका त्याग करके कर्म करनेके लिये कहा गया है। अभिप्राय यह है कि कर्मफलका त्याग करनेके साथ-साथ कर्मोंमें और उनके फलमें ममता और आसक्तिका भी त्याग करना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही कि यज्ञके निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं, उसे क्यों करना चाहिये और उसके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य कैसे नहीं बँधता। अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान् ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

प्रश्न—'सहयज्ञाः' विशेषणके सहित 'प्रजाः' पद यहाँ किनका वाचक है और 'अनेन' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जिनका यज्ञमें अर्थात् वर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप और सेवा आदि कर्मोंसे सिद्ध होनेवाले स्वधर्मके पालनमें अधिकार है; पूर्वश्लोकमें 'अयम्' विशेषणके सहित 'लोकः' पदसे जिनका वर्णन किया गया है—उन समस्त मनुष्योंका वाचक यहाँ 'सहयज्ञाः' विशेषणके सहित 'प्रजाः' पद है और उनके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रिय-संयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्मरूप यज्ञ है—उसका वाचक यहाँ 'अनेन' पद है।

प्रश्न—तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान् प्रजापतिने मनुष्योंको आशीर्वाद दिया है। उनका अभिप्राय यह है कि तुमलोगोंके लिये मैंने इस स्वधर्मरूप यज्ञकी रचना कर दी है; इसका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेसे तुम्हारी उन्नति होती रहेगी, तुम्हारा पतन नहीं होगा और तुमलोग वर्तमान स्थितिसे ऊपर उठ जाओगे और यह यज्ञ इस लोकमें भी तुम्हारी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति करता रहेगा।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता ...
इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको

प्रश्न—'अनेन' पद यहाँ किसका वाचक है और उसके द्वारा देवताओंको उन्नत करना क्या है ?

उत्तर—'अनेन' पद जिसका प्रकरण चल रहा है, उस स्वधर्मरूप यज्ञका ही वाचक है; किन्तु यहाँ जिस यज्ञमें वेद-मन्त्रोंद्वारा देवताओंको हविष्य दिया जाता है, उसको उपलक्षण बनाकर स्वधर्मपालनरूप यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन किया गया है; इसलिये उपलक्षणरूपसे इसे हवनरूप यज्ञका वाचक समझना चाहिये और उस हवनरूप यज्ञके द्वारा देवताओंको हवि पहुँचाकर पुष्ट करना एवं उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना ही उनको उन्नत करना है, ऐसा समझना चाहिये। एवं यह वर्णन उपलक्षणके रूपमें होनेके कारण यज्ञका अर्थ स्वधर्म समझकर अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्तव्यपालनके द्वारा प्रत्येक ऋषि, पितर, भूत-प्रेत, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियोंको सुख पहुँचाना, उनकी उन्नति करना भी इसीके अन्तर्गत समझना चाहिये।

प्रश्न—वे देवतालोग तुमलोगोंकी उन्नति करें, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार यज्ञके द्वारा देवताओंको पुष्ट करना तुम्हारा कर्तव्य है, उसी प्रकार तुमलोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करके तुमलोगोंको उन्नत करना देवताओंका भी कर्तव्य है। इसलिये उनको भी मेरा यही उपदेश है कि वे अपने कर्तव्यका पालन करते रहें।

प्रश्न—निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेकी उन्नति करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुमलोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परमकल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुमलोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओंकी उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थत्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको विना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको विना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है॥१२॥

प्रश्न—यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे, इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि तुम लोगोंको अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये; फिर तुमलोगोंसे यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवतालोग तुमको सदा-सर्वदा सुखभोग और जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक पदार्थ देते रहेंगे, इसमें सन्देहकी बात नहीं है; क्योंकि वे लोग अपना कर्तव्यपालन करनेके लिये बाध्य हैं।

प्रश्न—उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो मनुष्य उनको बिना दिये ही भोगता है, वह चोर ही है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँतक प्रजापतिके वचनोंका अनुवाद कर अब भगवान् उपर्युक्त वाक्यसे यह भाव दिखलाते हैं कि इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशानुसार वे देवतालोग सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके

सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये बिना—उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये बिना स्वयं अपने काममें लाता है, वह वैसे ही कृतघ्न और चोर होता है, जैसे कोई स्नेहशील माता-पितादिसे पाला-पोसा हुआ पुत्र उनकी सेवा न करनेसे एवं उनके मरनेके बाद श्राद्ध-तर्पण आदि न करनेसे, किसीके द्वारा उपकार पाया हुआ मनुष्य यथासाध्य प्रत्युपकार न करनेसे अथवा कोई दत्तक पुत्र पिताके द्वारा प्राप्त सम्पत्तिका उपभोग करके माता-पिताकी सेवा न करनेसे कृतघ्न और चोर होता है।

प्रश्न—जब कि देवतालोग मनुष्योंद्वारा सन्तुष्ट किये जानेपर उनको आवश्यक भोग प्रदान करते हैं तो फिर उनसे पाये हुए भोगोंको यदि मनुष्य उन्हें वापस न भी दे तो वह चोर कैसे है?

उत्तर—सृष्टिके आरम्भकालसे ही मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको बढ़ाते आये हैं और देवतालोग मनुष्योंको इष्ट भोग प्रदान करते आये हैं। यह परम्परा सृष्टिके आरम्भसे ही चली आती है। इस परम्परागत आदान-प्रदानमें जिन मनुष्योंने पहले यज्ञादिके द्वारा देवताओंको बढ़ाया है और जो बढ़ा रहे हैं, वे तो चोर नहीं हैं; परन्तु दूसरे मनुष्योंके द्वारा बढ़ाये हुए देवताओंसे इष्ट भोग प्राप्त करके जो उनके लिये यज्ञादि नहीं करता, उसको चोर बतलाना तो उचित ही है। जैसे किसी दूसरे मनुष्यके द्वारा पुष्ट की हुई गौका दूध यदि कोई दूसरा ही मनुष्य यह कहकर पीता है कि गौओंकी सेवा मनुष्य ही करते हैं और मैं भी मनुष्य हूँ तो वह चोर समझा जाता है—वैसे ही दूसरे मनुष्योंके द्वारा बढ़ाये हुए देवताओंसे भोग प्राप्त करके उनको बिना दिये भोगनेवाला मनुष्य भी चोर माना जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर भगवान्‌ने यज्ञादि कर्मोंकी कर्तव्यताका प्रतिपादन किया और साथ ही उनका पालन न करनेवालेको चोर बतलाकर उसकी निन्दा की; अब उन कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवाले पुरुषोंकी प्रशंसा करते हुए उनसे विपरीत केवल शरीरपोषणके लिये ही कर्म करनेवाले पापियोंकी निन्दा करते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ॥ १३ ॥

प्रश्न—'यज्ञशिष्टाशिनः' पद किन मनुष्योंका वाचक है?

उत्तर—यहाँ 'यज्ञ' शब्दके द्वारा प्रधानरूपसे पञ्चमहायज्ञका लक्ष्य कराते हुए भगवान् उन सभी शास्त्रीय सत्कर्मोंकी बात कहते हैं जो क्रियाओंसे सम्पादित होते हैं। सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे सञ्चालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग सन्तानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधन-सम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पञ्चमहायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित हैं।* मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें

* पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः। अमी पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥
सत्-शास्त्रोंका पाठ (ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ), हवन (देवयज्ञ), अतिथियोंकी सेवा (मनुष्ययज्ञ), श्राद्ध और [illegible]

इन सबका भाग समझो; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है । इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं । जो ऐसा नहीं करता, दूसरोंका स्वत्व मारकर केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह पाप खाता है । विभिन्न क्रियाओंसे उपार्जित अन्नका भोजन उसके पकनेपर ही होता है और उस अन्नकी अग्निमें आहुति दिये बिना देवयज्ञ और बलिवैश्वदेव सिद्ध नहीं होते, इसलिये यहाँ हवन और बलिवैश्वदेवको प्रधानता दी गयी है । परन्तु केवल हवन बलिवैश्वदेवरूप कर्मसे ही पञ्च-महायज्ञोंकी पूर्ति नहीं हो जाती । यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाला वास्तवमें वही है, जो सबको अपनी कमाईका हिस्सा यथायोग्य देकर फिर बचे हुएको स्वयं काममें लाता है । ऐसे स्वार्थत्यागी कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'यज्ञशिष्टाशिनः' पद है ।

प्रश्न—'सन्तः' पद यहाँ साधकोंका वाचक है या सिद्धोंका ?

उत्तर—साधकोंका वाचक है; क्योंकि सिद्ध पुरुषोंमें पाप नहीं होते और यहाँ पापोंसे छूटनेकी बात कही गयी है ?

प्रश्न—क्या 'सन्तः' पदका प्रयोग सिद्ध पुरुषोंके लिये नहीं हो सकता ? और क्या सिद्ध पुरुष यज्ञ नहीं करते ?

उत्तर—सिद्ध पुरुष तो संत हैं ही, परन्तु इस प्रकरणमें संत पदका अर्थ 'निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाले साधक' है । और सिद्ध पुरुष भी यज्ञ करते हैं; परन्तु वे पापोंसे छूटनेके लिये नहीं, वरं स्वाभाविक ही लोकसंग्रहार्थ करते हैं ।

प्रश्न—यहाँ सब पापोंसे मुक्त होनेका क्या भाव लेना चाहिये ?

उत्तर—मनुष्यके पूर्व पापोंका समुदाय है, वर्तमानमें जीवननिर्वाहके लिये किये जानेवाले वैध अर्थोपार्जनमें भी मनुष्यसे आनुषङ्गिक पाप बनते हैं । 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८ । ४८) के न्यायसे हवन, प्रजा-पालन, युद्ध, खेती, व्यापार और शिल्प आदि प्रत्येक जीवन-धारणके कार्यमें कुछ-न-कुछ हिंसा होती ही है । गृहस्थके घरमें भी प्रतिदिन चूल्हे, चक्की, झाड़ू, ओखली और जल रखनेके स्थानमें हिंसा होती है।* इसके सिवा प्रमाद आदिके कारण अन्यान्य प्रकारसे भी अनेकों पाप बनते रहते हैं । जो पुरुष निःस्वार्थभावसे केवल लोकसेवाकी दृष्टिको सामने रखकर सब जीवोंको सुख पहुँचानेके लिये ही पञ्चमहायज्ञादि करता है और इसीमें जीवनधारणकी उपयोगिता मानकर अपने न्यायोपार्जित धनसे यथाशक्ति यथायोग्य सबकी सेवा-रूप यज्ञ करके उससे बचे-खुचे अन्नको केवल उनके सेवार्थ जीवनधारण करनेके लिये ही प्रसादरूपसे ग्रहण करता है, वह सत्पुरुष भूत और वर्तमानके सब पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है (४ । ३१); इसीलिये ऐसे साधकको संत कहा गया है । अतः यहाँ सब पापोंसे मुक्त होनेका यही भाव समझना चाहिये ।

घरमें होनेवाले नित्यके पाँच पापोंसे तो वह सकाम पुरुष भी छूट जाता है जो अपने सुखोपभोगकी प्राप्तिके लिये शास्त्र-विधिके अनुसार कर्म करता है और प्रायश्चित्तरूप नित्य हवन, बलिवैश्वदेव आदि कर्म करके सबका स्वत्व उन्हें दे देता है; पर यहाँ कर्ताके लिये 'सन्तः' पद और 'किल्बिषैः' के साथ 'सर्व' विशेषण आनेसे यही समझना चाहिये कि इस प्रकार निष्कामभावसे पञ्चमहायज्ञादिका अनुष्ठान करनेवाला संत पुरुष तो भूत एवं वर्तमानके सभी पापोंसे छूट जाता है ।

प्रश्न—जो अपने शरीरपोषणके लिये ही पकाते-खाते हैं, उन्हें पापी और उनके भोजनको पाप क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—यहाँ पकाने-खानेके उपलक्षणसे इन्द्रियोंके द्वारा भोगे जानेवाले समस्त भोगोंकी बात कही गयी है । जो पुरुष इन भोगोंका उपार्जन और इनका यज्ञावशिष्ट उपभोग निष्कामभावसे केवल लोकसेवाके लिये करता है, वह तो उपर्युक्त प्रकारसे पापोंसे छूट जाता है; और जो केवल सकाम-भावसे सबका न्यायोचित भाग देकर उपार्जित भोगोंका उपभोग करता है, वह भी पापी नहीं है । परन्तु जो पुरुष केवल अपने ही सुखके लिये—अपने ही शरीर और इन्द्रियों-

यज्ञ), प्राणिमात्रके लिये आहार देकर उनकी सेवा करना (भूतयज्ञ) । ये पाँच महायज्ञ ब्रह्मयज्ञ आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं ।

* कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी । पञ्च सूना गृहस्थस्य वर्तन्तेऽहरहः सदा ॥

के पोषणके लिये भोगोंका उपार्जन करता है और अपने ही लिये उन्हें भोगता है, वह पुरुष पापसे पाप उपार्जन करता है और पापका ही उपभोग करता है; क्योंकि न तो उसकी क्रियाएँ यज्ञार्थ होती हैं और न वह अपने उपार्जनमेंसे सबको उनका यथायोग्य न्याय्य भाग ही देता है। इसलिये उसका उपार्जन और उपभोग दोनों ही पापमय होनेके कारण उसे पापी और उसके भोगोंको पाप कहा गया है (मनु० ३। ११८)।*

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है? इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है॥ १४-१५॥

प्रश्न—'अन्न' शब्दका क्या अर्थ है और समस्त प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ 'अन्न' शब्द व्यापक अर्थमें है। इसलिये इसका अर्थ केवल गेहूँ, चना आदि अनाजमात्र ही नहीं है; किन्तु जिन भिन्न-भिन्न आहार करनेयोग्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंसे भिन्न-भिन्न प्राणियोंके शरीर आदिकी पुष्टि होती है उन समस्त खाद्य पदार्थोंका वाचक यहाँ 'अन्न' शब्द है। अतः समस्त प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं—इस वाक्यका यह भाव है कि खाद्य पदार्थोंसे ही समस्त प्राणियोंके शरीरमें रज और वीर्य आदि बनते हैं, उस रज-वीर्य आदिके संयोगसे ही भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है तथा उत्पत्तिके बाद उनका पोषण भी खाद्य पदार्थोंसे ही होता है; इसलिये सब प्रकारसे प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि और पोषणका हेतु अन्न ही है। श्रुतिमें भी कहा है—'अन्नाद्ध्येव [illegible] भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० [illegible] २) अर्थात् ये सब प्राणी अन्नसे ही [illegible] उत्पन्न होकर अन्नसे ही जीते हैं।

प्रश्न—अन्नकी उत्पत्ति वृ[illegible] क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि संसारमें स्थूल और सूक्ष्म जितने भी खाद्य पदार्थ हैं, उन सबकी उत्पत्तिमें जल ही प्रधान कारण है; क्योंकि स्थूल या सूक्ष्मरूपसे जल-का सम्बन्ध सभी जगह रहता है और जलका आधार वृष्टि ही है।

प्रश्न—वृष्टि यज्ञसे होती है, यह कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—सृष्टिमें जितने भी जीव हैं, उन सबमें मनुष्य ही ऐसा है जिसपर सब जीवोंके भरण-पोषण और संरक्षणका [illegible] दायित्व है। मनुष्य अपने इस दायित्वको [illegible] वाणी, शरीरसे समस्त जीवोंके [illegible] लिये जो क्रियाएँ करता है, [illegible] दान, तप और सत्कर्मोंका [illegible] समावेश हो जाता है। [illegible] शास्त्रोंमें ऐसा [illegible] वृष्टि होती है और [illegible] उत्पन्न होती है; [illegible] है [illegible] नहीं है; [illegible] सम्पादित सत्कर्म [illegible] होते हैं इस [illegible]

चाहिये कि मनुष्योंके द्वारा किये हुए कर्तव्य-पालनरूप यज्ञसे ही वृष्टि होती है। हम कह सकते हैं कि अमुक देशमें यज्ञ नहीं होते, वहाँ वर्षा क्यों होती है। इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी किसी-न-किसी रूपमें लोकोपकारार्थ सत्कर्म होते ही हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है कि सृष्टिके आरम्भसे ही यज्ञ होते रहे हैं। उन यज्ञोंके फलस्वरूप वहाँ वृष्टि होती है और जबतक पूर्वार्जित यज्ञसमूह सञ्चित रहेगा—उसकी समाप्ति नहीं होगी—तबतक वृष्टि होती रहेगी; परन्तु मनुष्य यदि यज्ञ करना बंद कर देगा तो यह सञ्चय धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा और उसके बाद वृष्टि नहीं होगी, जिसके फलस्वरूप सृष्टिके जीवोंका शरीरधारण और भरण-पोषण कठिन हो जायगा, इसलिये कर्तव्यपालनरूप यज्ञ मनुष्यको अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—यज्ञ विहित कर्मसे उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि भिन्न-भिन्न मनुष्योंके लिये उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे जो नाना प्रकारके यज्ञ शास्त्रमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय या शरीरकी क्रियाद्वारा ही सम्पादित होते हैं। बिना शास्त्रविहित क्रियाके किसी भी यज्ञकी सिद्धि नहीं होती। चौथे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें इसी भावको स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न—'ब्रह्मोद्भवम्' पदमें 'ब्रह्म' शब्दका क्या अर्थ है और कर्मको उससे उत्पन्न होनेवाला बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—गीतामें 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग प्रकरणानुसार 'परमात्मा', (८।३, २४) 'प्रकृति' (१४।३, ४), 'ब्रह्मा' (८।१७; ११।३७), 'वेद' (४।३२; १७।२४) और 'ब्राह्मण' (१८।४२)—इन सबके अर्थमें हुआ है। यहाँ कर्मोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है और विहित कर्मोंका ज्ञान मनुष्यको वेद या वेदानुकूल शास्त्रोंसे ही होता है। इसलिये यहाँ 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद समझना चाहिये। इसके सिवा इस ब्रह्मको अक्षरसे उत्पन्न बतलाया गया है, इसलिये भी ब्रह्मका अर्थ वेद मानना ही ठीक है; क्योंकि परमात्मा तो स्वयं अक्षर हैं और प्रकृति अनादि है, अतः उनको अक्षरसे उत्पन्न कहना नहीं बनता और ब्रह्मा तथा ब्राह्मणका यहाँ प्रकरण नहीं है। कर्मोंको वेदसे उत्पन्न बतलाकर यहाँ यह भाव दिखलाया है कि किस मनुष्यके लिये कौन-सा कर्म किस प्रकार करना कर्तव्य है—यह बात वेद और शास्त्रोंद्वारा समझकर जो विधिवत् क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हींसे यज्ञ सम्पादित होता है और ऐसी क्रियाएँ वेदसे या वेदानुकूल शास्त्रोंसे ही जानी जाती हैं। अतः यज्ञ सम्पादन करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्रश्न—'वेदको अक्षरसे उत्पन्न होनेवाला' कहनेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि वेद तो अनादि माने जाते हैं?

उत्तर—परब्रह्म परमेश्वर नित्य हैं, इस कारण उनका विधानरूप वेद भी नित्य है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अतः यहाँ वेदको परमेश्वरसे उत्पन्न बतलानेका यह अभिप्राय नहीं है कि वेद पहले नहीं था और पीछेसे उत्पन्न हुआ है, किन्तु यह अभिप्राय है कि सृष्टिके आदिकालमें परमेश्वरसे वेद प्रकट होता है और प्रलयकालमें उन्हींमें विलीन हो जाता है। वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी पुरुषका बनाया हुआ शास्त्र नहीं है। यह भाव दिखलानेके लिये ही यहाँ वेदको अक्षरसे यानी अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है। अतएव इस कथनसे वेदकी अनादिता ही सिद्ध की गयी है। इसी भावसे सतरहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी वेदको परमात्मासे उत्पन्न बतलाया गया है।

प्रश्न—'सर्वगतम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद यहाँ किसका वाचक है और हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके उसे यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'सर्वगतम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद यहाँ सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक है और 'तस्मात्' पदके प्रयोगपूर्वक उस परमेश्वरको यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि समस्त यज्ञोंकी विधि जिस वेदमें बतलायी गयी है, वह वेद भगवान्की वाणी है। अतएव उसमें बतलायी हुई विधिसे किये जानेवाले यज्ञमें समस्त यज्ञोंके अधिष्ठाता सर्वव्यापी परमेश्वर सदा ही स्वयं विराजमान रहते हैं, अर्थात् यज्ञ साक्षात् परमेश्वरकी 'मूर्ति' है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्के आज्ञानुसार अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सृष्टिचक्रकी स्थिति यज्ञपर निर्भर बतलाकर और परमात्माको यज्ञमें प्रतिष्ठित कहकर; अब उस यज्ञरूप स्वधर्मके पालनकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करनेके लिये उस सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलनेवालेकी यानी अपना कर्तव्य-पालन न करनेवालेकी निन्दा करते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'चक्रम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'एवं प्रवर्तितम्' विशेषण देनेका क्या भाव है तथा उसके अनुकूल बरतना क्या है ?

उत्तर—चौदहवें श्लोकके वर्णनानुसार 'चक्रम्' पद यहाँ सृष्टि-परम्पराका वाचक है; क्योंकि मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है । इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है । यही भाव दिखलानेके लिये 'चक्रम्' पदके साथ 'एवं प्रवर्तितम्' विशेषण दिया गया है । अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो स्वधर्म है, जिसके पालन करनेका उसपर दायित्व है, उसके अनुसार अपने कर्तव्यका सावधानीके साथ पालन करना ही उस चक्रके अनुसार चलना है । अतएव आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल इस सृष्टि-चक्रकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये ही जो योगी अपने कर्तव्यका अनुष्ठान करता है, जिसमें किंचिन्मात्र भी अपने स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, वह उस स्वधर्मरूप यज्ञमें प्रतिष्ठित परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—इस सृष्टिचक्रके अनुकूल न बरतनेवाले मनुष्यको 'इन्द्रियाराम' और 'अघायु' कहनेका तथा उसके जीवनको व्यर्थ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अपने कर्तव्यका पालन न करना ही उपर्युक्त सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलना है । अपने कर्तव्यको भूलकर जो मनुष्य विषयोंमें आसक्त होकर निरन्तर इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें ही रमण करता है, जिस किसी प्रकारसे भोगोंके द्वारा इन्द्रियोंको तृप्त करना ही जिसका लक्ष्य बन जाता है; उसे 'इन्द्रियाराम' कहा गया है ।

इस प्रकार अपने कर्तव्यका त्याग कर देनेवाला मनुष्य भोगोंकी कामनासे प्रेरित होकर इच्छाचारी हो जाता है, अपने स्वार्थमें रत रहनेके कारण वह दूसरेके हित-अहितकी कुछ भी परवा नहीं करता—जिससे दूसरोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है और सृष्टिकी व्यवस्थामें विघ्न उपस्थित हो जाता है । ऐसा होनेसे समस्त प्रजाको दुःख पहुँचता है । अतएव अपने कर्तव्यका पालन न करके सृष्टिमें दुर्व्यवस्था उत्पन्न करनेवाला मनुष्य बड़े भारी दोषका भागी होता है तथा वह अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये जीवनभर अन्यायपूर्वक धन और ऐश्वर्यका संग्रह करता रहता है, इसलिये उसे 'अघायु' कहा गया है ।

वह मनुष्यजीवनके प्रधान लक्ष्यसे—संसारमें अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा सब जीवोंको सुख पहुँचाते हुए परम कल्याणस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेना इस उद्देश्यसे—सर्वथा वञ्चित रह जाता है और अपने अमूल्य मनुष्यजीवनको विषयभोगोंमें रत रहकर व्यर्थ खोता रहता है; इसलिये उसके जीवनको व्यर्थ बतलाया गया है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे सृष्टि-चक्रके अनुसार चलनेका दायित्व किस श्रेणीके मनुष्योंपर है ? इसपर परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषके सिवा इस सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मनुष्योंपर अपने-अपने कर्तव्यपालनका दायित्व है—यह भाव दिखलानेके लिये दो श्लोकोंमें ज्ञानी महापुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव और उसका हेतु बतलाते हैं—

चाहिये कि मनुष्योंके द्वारा किये हुए कर्तव्य-पालनरूप यज्ञसे ही वृष्टि होती है। हम कह सकते हैं कि अमुक देशमें यज्ञ नहीं होते, वहाँ वर्षा क्यों होती है। इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी किसी-न-किसी रूपमें लोकोपकारार्थ सत्कर्म होते ही हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है कि सृष्टिके आरम्भसे ही यज्ञ होते रहे हैं। उन यज्ञोंके फलस्वरूप वहाँ वृष्टि होती है और जबतक पूर्वार्जित यज्ञसमूह सञ्चित रहेगा—उसकी समाप्ति नहीं होगी—तबतक वृष्टि होती रहेगी; परन्तु मनुष्य यदि यज्ञ करना बंद कर देगा तो यह सञ्चय धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा और उसके बाद वृष्टि नहीं होगी, जिसके फलस्वरूप सृष्टिके जीवोंका शरीरधारण और भरण-पोषण कठिन हो जायगा, इसलिये कर्तव्यपालनरूप यज्ञ मनुष्यको अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—यज्ञ विहित कर्मसे उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि भिन्न-भिन्न मनुष्योंके लिये उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे जो नाना प्रकारके यज्ञ शास्त्रमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय या शरीरकी क्रियाद्वारा ही सम्पादित होते हैं। बिना शास्त्रविहित क्रियाके किसी भी यज्ञकी सिद्धि नहीं होती। चौथे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें इसी भावको स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न—'ब्रह्मोद्भवम्' पदमें 'ब्रह्म' शब्दका क्या अर्थ है और कर्मको उससे उत्पन्न होनेवाला बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—गीतामें 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग प्रकरणानुसार 'परमात्मा', (८।३, २४) 'प्रकृति' (१४।३, ४), 'ब्रह्मा' (८।१७; ११।३७), 'वेद' (४।३२; १७।२४) और 'ब्राह्मण' (१८।४२)—इन सबके अर्थमें हुआ है। यहाँ कर्मोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है और विहित कर्मोंका ज्ञान मनुष्यको वेद या वेदानुकूल शास्त्रोंसे ही होता है। इसलिये यहाँ 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद समझना चाहिये। इसके सिवा इस ब्रह्मको अक्षरसे उत्पन्न बतलाया गया है, इसलिये भी ब्रह्मका अर्थ वेद मानना ही ठीक है; क्योंकि परमात्मा तो स्वयं अक्षर है और प्रकृति अनादि है, अतः उनको अक्षरसे उत्पन्न कहना नहीं बनता और ब्रह्मा तथा ब्राह्मणका यहाँ प्रकरण नहीं है। कर्मोंको वेदसे उत्पन्न बतलाकर यहाँ यह भाव दिखलाया है कि किस मनुष्यके लिये कौन-सा कर्म किस प्रकार करना कर्तव्य है—यह बात वेद और शास्त्रोंद्वारा समझकर जो विधिवत् क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हींसे यज्ञ सम्पादित होता है और ऐसी क्रियाएँ वेदसे या वेदानुकूल शास्त्रोंसे ही जानी जाती हैं। अतः यज्ञ सम्पादन करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्रश्न—'वेदको अक्षरसे उत्पन्न होनेवाला' कहनेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि वेद तो अनादि माने जाते हैं ?

उत्तर—परब्रह्म परमेश्वर नित्य हैं, इस कारण उनका विधानरूप वेद भी नित्य है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अतः यहाँ वेदको परमेश्वरसे उत्पन्न बतलानेका यह अभिप्राय नहीं है कि वेद पहले नहीं था और पीछेसे उत्पन्न हुआ है, किन्तु यह अभिप्राय है कि सृष्टिके आदिकालमें परमेश्वरसे वेद प्रकट होता है और प्रलयकालमें उन्हींमें विलीन हो जाता है। वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी पुरुषका बनाया हुआ शास्त्र नहीं है। यह भाव दिखलानेके लिये ही यहाँ वेदको अक्षरसे यानी अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है। अतएव इस कथनसे वेदकी अनादिता ही सिद्ध की गयी है। इसी भावसे सतरहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी वेदको परमात्मासे उत्पन्न बतलाया गया है।

प्रश्न—'सर्वगतम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद यहाँ किसका वाचक है और हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके उसे यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सर्वगतम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद यहाँ सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक है और 'तस्मात्' पदके प्रयोगपूर्वक उस परमेश्वरको यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि समस्त यज्ञोंकी विधि जिस वेदमें बतलायी गयी है, वह वेद भगवान्की वाणी है। अतएव उसमें बतलायी हुई विधिसे किये जानेवाले यज्ञमें समस्त यज्ञोंके अधिष्ठाता सर्वव्यापी परमेश्वर सदा ही स्वयं विराजमान रहते हैं, अर्थात् यज्ञ साक्षात् परमेश्वरकी 'मूर्ति' है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्के आज्ञानुसार अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सृष्टिचक्रकी स्थिति यज्ञपर निर्भर बतलाकर और परमात्माको यज्ञमें प्रतिष्ठित कहकर; अब उस यज्ञरूप स्वधर्मके पालनकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करनेके लिये उस सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलनेवालेकी यानी अपना कर्तव्य-पालन न करनेवालेकी निन्दा करते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'चक्रम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'एवं प्रवर्तितम्' विशेषण देनेका क्या भाव है तथा उसके अनुकूल बरतना क्या है ?

उत्तर—चौदहवें श्लोकके वर्णनानुसार 'चक्रम्' पद यहाँ सृष्टि-परम्पराका वाचक है; क्योंकि मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है। यही भाव दिखलानेके लिये 'चक्रम्' पदके साथ 'एवं प्रवर्तितम्' विशेषण दिया गया है। अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो स्वधर्म है, जिसके पालन करनेका उसपर दायित्व है, उसके अनुसार अपने कर्तव्यका सावधानीके साथ पालन करना ही उस चक्रके अनुसार चलना है। अतएव आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल इस सृष्टि-चक्रकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये ही जो योगी अपने कर्तव्यका अनुष्ठान करता है, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी अपने स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, वह उस स्वधर्मरूप यज्ञमें प्रतिष्ठित परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—इस सृष्टिचक्रके अनुकूल न बरतनेवाले मनुष्यको 'इन्द्रियाराम' और 'अघायु' कहनेका तथा उसके जीवनको व्यर्थ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अपने कर्तव्यका पालन न करना ही उपर्युक्त सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलना है। अपने कर्तव्यको भूलकर जो मनुष्य विषयोंमें आसक्त होकर निरन्तर इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें ही रमण करता है, जिस किसी प्रकारसे भोगोंके द्वारा इन्द्रियोंको तृप्त करना ही जिसका लक्ष्य बन जाता है; उसे 'इन्द्रियाराम' कहा गया है।

इस प्रकार अपने कर्तव्यका त्याग कर देनेवाला मनुष्य भोगोंकी कामनासे प्रेरित होकर इच्छाचारी हो जाता है, अपने स्वार्थमें रत रहनेके कारण वह दूसरेके हित-अहितकी कुछ भी परवा नहीं करता—जिससे दूसरोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है और सृष्टिकी व्यवस्थामें विघ्न उपस्थित हो जाता है। ऐसा होनेसे समस्त प्रजाको दुःख पहुँचता है। अतएव अपने कर्तव्यका पालन न करके सृष्टिमें दुर्व्यवस्था उत्पन्न करनेवाला मनुष्य बड़े भारी दोषका भागी होता है तथा वह अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये जीवनभर अन्यायपूर्वक धन और ऐश्वर्यका संग्रह करता रहता है, इसलिये उसे 'अघायु' कहा गया है।

वह मनुष्यजीवनके प्रधानलक्ष्यसे—संसारमें अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा सब जीवोंको सुख पहुँचाते हुए परम कल्याणस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेना इस उद्देश्यसे—सर्वथा वञ्चित रह जाता है और अपने अमूल्य मनुष्यजीवनको विषयभोगोंमें रत रहकर व्यर्थ खोता रहता है; इसलिये उसके जीवनको व्यर्थ बतलाया गया है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे सृष्टि-चक्रके अनुसार चलनेका दायित्व किस श्रेणीके मनुष्योंपर है ? इसपर परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषके सिवा इस सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मनुष्योंपर अपने-अपने कर्तव्यपालनका दायित्व है—यह भाव दिखलानेके लिये दो श्लोकोंमें ज्ञानी महापुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव और उसका हेतु बतलाते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकोंमें जिनके लिये स्वधर्मपालन अवश्य-कर्तव्य बतलाया गया है एवं स्वधर्मपालन न करनेसे जिनको 'अघायु' कहकर जिनके जीवनको व्यर्थ बतलाया गया है, उन सभी मनुष्योंसे विलक्षण शास्त्रके शासनसे ऊपर उठे हुए ज्ञानी महापुरुषोंको अलग करके उनकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'आत्मरतिः', 'आत्मतृप्तः' और 'आत्मनि एव संतुष्टः'—इन तीनों विशेषणोंके सहित 'यः' पद किस मनुष्यका वाचक है तथा उसे 'मानवः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणोंकेसहित 'यः' पद यहाँ सच्चिदा-नन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्मा पुरुषका वाचक है और उसे 'मानवः' कहकर यह भाव दिखलाया है कि हरेक मनुष्य ही साधन करके ऐसा बन सकता है, क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है ।

प्रश्न—'एव' अव्ययके सहित 'आत्मरतिः' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इस विशेषणसे यह भाव दिखलाया है कि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषकी दृष्टिमें यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न-से जगे हुए मनुष्यके लिये स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति हो जाता है । अतः उसकी किसी भी सांसारिक वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रीति नहीं होती और वह किसी भी वस्तुमें रमण नहीं करता, केवलमात्र एक परमात्मामें ही अभिन्नभावसे उसकी अटल स्थिति हो जाती है । इस कारण उसके मन-बुद्धि संसारमें रमण नहीं करते । उनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका ही निश्चय और चिन्तन स्वाभाविकरूपसे होता रहता है । यही उसका आत्मामें रमण करना है ।

प्रश्न—'आत्मतृप्तः' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि परमात्माको प्राप्त पुरुष पूर्णकाम हो जाता है, उसके लिये कोई भी वस्तु प्राप्त करनेयोग्य नहीं रहती तथा किसी भी सांसारिक वस्तुकी उसे किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे स्थित होकर सदाके लिये तृप्त हो जाता है ।

प्रश्न—'आत्मनि एव संतुष्टः' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि परमात्माको प्राप्त पुरुष नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, संसारका कोई बड़े-से-बड़ा प्रलोभन भी उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता, उसे किसी भी हेतुसे या किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी असन्तोष नहीं हो सकता, संसारकी किसी भी वस्तुसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वह सदाके लिये हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा अतीत होकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें निरन्तर सन्तुष्ट रहता है ।

प्रश्न—उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके हैं, वह कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य केवलमात्र एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है; अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है ।

प्रश्न—तो क्या ज्ञानी पुरुष कोई भी कर्म नहीं करता ?

उत्तर—ज्ञानीका मन-इन्द्रियोंसहित शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इस कारण वह वास्तवमें कुछ भी नहीं

करता; तथापि लोकदृष्टिमें उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा पूर्वके अभ्याससे प्रारब्धके अनुसार शास्त्रानुकूल कर्म होते रहते हैं। ऐसे कर्म ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होनेके कारण परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं, ऐसा होते हुए भी यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ऐसे पुरुषपर शास्त्रका कोई शासन नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता॥ १८॥

प्रश्न—उस महापुरुषका कर्म करनेसे या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, यह कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें जो यह बात कही गयी है कि ज्ञानी पुरुषको कोई कर्तव्य नहीं रहता, उसी बातको पुष्ट करनेके लिये इस वाक्यमें उसके लिये कर्तव्यके अभावका हेतु बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि वह महापुरुष निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें सन्तुष्ट रहता है, इस कारण न तो उसे किसी भी कर्मके द्वारा कोई लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध करना शेष रहता है और न इसी प्रकार कर्मोंके त्यागद्वारा ही कोई प्रयोजन सिद्ध करना शेष रहता है; क्योंकि उसकी समस्त आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं, अब उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा है। इसकारण उसके लिये न तो कर्मोंका करना विधेय है और न उनका न करना ही विधेय है, वह शास्त्रके शासनसे सर्वथा मुक्त है। यदि उसके मन, इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरद्वारा कर्म किये जाते हैं तो उसे शास्त्र उन कर्मोंका त्याग करनेके लिये बाध्य नहीं करता और यदि नहीं किये जाते तो उसे शास्त्र कर्म करनेके लिये भी बाध्य नहीं करता।

अतएव ज्ञानीके लिये यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि ज्ञान होनेके बाद भी जीवन्मुक्तिका सुख भोगनेके लिये ज्ञानीको कर्मोंके त्याग या अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि ज्ञान होनेके अनन्तर मन और इन्द्रियोंके आरामरूप तुच्छ सुखसे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता, वह सदाके लिये नित्यानन्दमें मग्न हो जाता है एवं स्वयं आनन्दरूप बन जाता है। अत: जो किसी सुख-विशेषकी प्राप्तिके लिये अपना 'ग्रहण' या 'त्याग' रूप कर्तव्य शेष मानता है, वह वास्तवमें ज्ञानी नहीं है, किन्तु किसी स्थितिविशेषको ही ज्ञानकी प्राप्ति समझकर अपनेको ज्ञानी माननेवाला है। सतरहवें श्लोकमें बतलाये हुए लक्षणोंसे युक्त ज्ञानीमें ऐसी मान्यताके लिये स्थान नहीं है। इसी बातको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌ने उत्तर गीतामें भी कहा है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥
(१। २२)

अर्थात् जो योगी ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त और कृतकृत्य हो गया है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि कुछ कर्तव्य है तो वह तत्त्वज्ञानी नहीं है।

प्रश्न—सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि ज्ञानीका जैसे कर्म करने और न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही उसका स्थावर-जङ्गम किसी प्राणीसे भी किञ्चिन्मात्र भी कोई प्रयोजन नहीं रहता। अभिप्राय यह है कि जिसका देहाभिमान सर्वथा नष्ट नहीं हो गया है एवं जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन कर रहा है, ऐसा साधक यद्यपि अपने सुख-भोगके लिये कुछ भी नहीं चाहता तो भी शरीरनिर्वाहके लिये किसी-न-किसी रूपमें उसका अन्य प्राणियोंसे कुछ-न-कुछ स्वार्थका सम्बन्ध रहता है। अतएव उसके लिये शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोंका ग्रहण-त्याग करना कर्तव्य है। किन्तु सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त ज्ञानीका शरीरमें अभिमान न रहनेके कारण उसे जीवनकी भी परवा नहीं रहती; ऐसी स्थितिमें उसके शरीरका निर्वाह प्रारब्धानुसार अपने-आप होता रहता है। अतएव उसका किसी भी

प्राणीसे किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता; और इसीलिये उसका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है।

प्रश्न—ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा कर्म क्यों किये जाते हैं?

उत्तर—कर्म किये नहीं जाते, प्रारब्धानुसार लोकदृष्टिसे उसकेद्वारा लोकसंग्रहके लिये कर्म होते हैं; वास्तवमें उसका उन कर्मोंसे कुछभी सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये उन कर्मोंको 'कर्म' ही नहीं माना गया है।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने बहुत-से हेतु बतलाकर यह बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसके लिये स्वधर्मका पालन करना अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थभावसे करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। अब उपर्युक्त वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्तव्य-कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है॥ १९॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदका क्या भाव है?

उत्तर—'तस्मात्' पद यहाँ पिछले श्लोकोंसे सम्बन्ध बतलाता है; इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यहाँतकके वर्णनमें मैंने जिन-जिन कारणोंसे स्वधर्मपालन करनेकी परमावश्यकता सिद्ध की है उन सब बातोंपर विचार करनेसे यह बात प्रकट होती है कि सब प्रकारसे स्वधर्मका पालन करनेमें ही तुम्हारा हित है। इसलिये तुम्हें अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्म करना ही चाहिये।

प्रश्न—'असक्तः' पदका क्या भाव है?

उत्तर—'असक्तः' पदसे भगवान् अर्जुनको समस्त कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्म करनेके लिये कहते हैं। आसक्तिका त्याग कहनेसे कामनाका त्याग उसके अन्तर्गत ही आ गया, क्योंकि आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है (२। ६२)। इसलिये यहाँ फलेच्छाका त्याग अलग नहीं बतलाया गया।

प्रश्न—'सततम्' पदका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् पहले यह बात कह आये हैं कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (३। ५); इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य निरन्तर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। इसलिये यहाँ 'सततम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम सदा-सर्वदा जितने भी कर्म करो, उन समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिसे रहित होकर उनको करो, किसी समय कोई भी कर्म आसक्तिपूर्वक न करो।

प्रश्न—'कर्म' पदके साथ 'कार्यम्' विशेषण देनेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जो कर्म कर्तव्य हैं, वे ही कर्म तुम्हें करने चाहिये; परधर्मके कर्म, निषिद्ध कर्म और व्यर्थ या काम्यकर्म नहीं करने चाहिये।

प्रश्न—'समाचर' क्रियाका क्या भाव है?

उत्तर—'आचर' क्रियाके साथ 'सम्' उपसर्गका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उन कर्मोंका तुम सावधानीके साथ विधिपूर्वक यथायोग्य आचरण करो। ऐसा न करके असावधानी रखनेसे उन कर्मोंमें त्रुटि रह सकती है और उसके कारण तुम्हें परम श्रेयकी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है।

प्रश्न—आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने उपर्युक्त कर्मयोगका फल बतलाया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवाला मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमपुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है, इस कर्मयोगका इतना महत्त्व है। इसलिये तुम्हें समस्त कर्म उपर्युक्त प्रकारसे ही करने चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही कि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसी बातको पुष्ट करनेके लिये जनकादिका प्रमाण देकर पुनः अर्जुनके लिये कर्म करना उचित बतलाते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ॥ २० ॥

प्रश्न—'जनकादयः' पदसे किन पुरुषोंका सङ्केत किया गया है और वे लोग भी 'कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे,' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌के उपदेशकालतक राजा जनककी भाँति ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करनेवाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी महापुरुष हो चुके थे, उन सबका सङ्केत 'जनकादयः' पदसे किया गया है। पूर्वश्लोकमें जो यह बात कही गयी कि आसक्तिसे रहित मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसीको प्रमाणद्वारा सिद्ध करनेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि पूर्वकालमें जनकादि प्रधान-प्रधान महापुरुष भी आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। अभिप्राय यह है कि आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

प्रश्न—परमात्माकी प्राप्ति तो तत्त्वज्ञानसे होती है, फिर यहाँ आसक्तिरहित कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें द्वार बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आसक्तिरहित कर्मोंद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप मिल जाता है (४। ३८), तथा कर्मयोगयुक्त मुनि तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (५। ६)। इसलिये यहाँ आसक्तिरहित कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें द्वार बतलाया गया है।

प्रश्न—'लोकसंग्रह' किसे कहते हैं तथा यहाँ लोकसंग्रहको देखते हुए कर्म करना उचित बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सृष्टि-सञ्चालनको सुरक्षित बनाये रखना, उसकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना लोकसंग्रह कहलाता है। अर्थात् समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है, अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर सत्कर्मों लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है।

यहाँ अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए भी कर्म करना उचित बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है; इसलिये तुम्हें लोकसंग्रहको देखकर अर्थात् यदि मैं कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करके दूसरे लोग भी अपने कर्तव्यका त्याग कर देंगे, जिससे सृष्टिमें विप्लव हो जायगा और इसकी व्यवस्था बिगड़ जायगी

अतः सृष्टिकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये मुझे अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये, यह सोचकर भी कर्म करना ही उचित है, उसका त्याग करना तुम्हारे लिये किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

प्रश्न—लोकसंग्रहार्थ कर्म, परमात्माको प्राप्त ज्ञानी पुरुष-द्वारा ही हो सकते हैं या साधक भी कर सकता है?

उत्तर—ज्ञानीके लिये अपना कोई कर्तव्य नहीं होता, इससे उसके तो सभी कर्म लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं; परन्तु ज्ञानीको आदर्श मानकर साधक भी लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है। अवश्य ही वह पूर्णरूपसे नहीं कर सकता; क्योंकि जबतक अज्ञानकी पूर्णतया निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक किसी-न-किसी अंशमें स्वार्थ बना ही रहता है। और जबतक स्वार्थका तनिक भी सम्बन्ध है, तबतक पूर्णरूपसे केवल लोकसंग्रहार्थ कर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है और उसकी दृष्टिमें कर्मका कोई महत्त्व ही नहीं है, तब उसका लोकसंग्रहार्थ कर्म करना केवल लोगोंको दिखलानेके लिये ही होता होगा?

उत्तर—ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी वह जो कुछ कर्म करता है, केवल लोगोंको दिखलानेके लिये नहीं करता। मनमें कर्मका कोई महत्त्व न हो और केवल ऊपरसे लोगोंको दिखलानेभरके लिये किया जाय, वह तो एक प्रकारका दम्भ है। ज्ञानीमें दम्भ रह नहीं सकता। अतएव वह जो कुछ करता है, लोकसंग्रहार्थ आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझकर ही करता है; उसमें न दिखाऊपन है, न आसक्ति है, न कामना है और न अहङ्कार ही है। ज्ञानीके कर्म किस भावसे होते हैं, इसको कोई दूसरा नहीं जान पाता; इसीसे उसके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता मानी जाती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है? अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है॥ २१॥

प्रश्न—यहाँ 'श्रेष्ठः' पद किस मनुष्यका वाचक है?

उत्तर—जो संसारमें अच्छे गुण और आचरणोंके कारण धर्मात्मा विख्यात हो गया है, जगत्‌के अधिकांश लोग जिसपर श्रद्धा और विश्वास करते हैं—ऐसे प्रसिद्ध माननीय महात्मा ज्ञानीका वाचक यहाँ 'श्रेष्ठः' पद है।

प्रश्न—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करता है, दूसरे मनुष्य भी उन-उन कर्मोंको ही किया करते हैं, इस वाक्य का क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त महात्मा यदि अपने वर्ण-आश्रमके धर्मोंका भलीभाँति अनुष्ठान करता है तो दूसरे लोग भी उसकी देखा-देखी अपने-अपने वर्णाश्रमके धर्मोंका पालन करनेमें श्रद्धापूर्वक लगे रहते हैं; इससे सृष्टिकी व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती रहती है, किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। किन्तु यदि कोई धर्मात्मा ज्ञानी महात्मा पुरुष अपने वर्णाश्रमके धर्मोंका त्याग कर देता है तो लोगोंपर भी यही प्रभाव पड़ता है कि वास्तवमें कर्मोंमें कुछ नहीं रक्खा है; यदि कर्मोंमें ही कुछ सार होता तो अमुक महापुरुष उन सबको क्यों छोड़ते—ऐसा समझकर वे उस श्रेष्ठ पुरुषकी देखा-देखी अपने वर्ण-आश्रमके लिये विहित नियम और धर्मोंका त्याग कर बैठते हैं। ऐसा होनेसे संसारमें बड़ी गड़बड़ मच जाती है और सारी व्यवस्था टूट जाती है। अतएव महात्मा पुरुषको लोकसंग्रहकी ओर ध्यान रखते हुए अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सावधानीके साथ यथायोग्य समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये, कर्मोंकी अवहेलना या त्याग नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये और अमुक कर्म इस प्रकार नहीं करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं। इसलिये माननीय श्रेष्ठ ज्ञानी महापुरुषको सृष्टिकी व्यवस्था ठीक रखनेके उद्देश्यसे बड़ी सावधानीके साथ स्वयं कर्म करते हुए लोगोंको शिक्षा देकर उनको अपने-अपने कर्तव्यमें नियुक्त करना चाहिये और इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि उसके उपदेश या आचरणोंसे संसारकी व्यवस्था सुरक्षित रखनेवाले किसी भी वर्ण-आश्रमके धर्मकी या मानवधर्मकी परम्पराको किञ्चिन्मात्र भी धक्का न पहुँचे अर्थात् उन कर्मोंमें लोगोंकी श्रद्धा और रुचि कम न हो जाय।

प्रश्न—जब श्रेष्ठ महापुरुषके आचरणोंका सब लोग अनुकरण करते हैं, तब यह कहनेकी आवश्यकता क्यों हुई कि वह जो कुछ 'प्रमाण' कर देता है, लोग उसीके अनुसार बरतते हैं?

उत्तर—संसारमें सब लोगोंके कर्तव्य एक-से नहीं होते। देश, समाज और अपने-अपने वर्णाश्रम, समय एवं स्थितिके अनुसार सबके विभिन्न कर्तव्य होते हैं। श्रेष्ठ महापुरुषके लिये यह सम्भव नहीं कि वह सबके योग्य कर्मोंको अलग-अलग स्वयं आचरण करके बतलावे। इसलिये श्रेष्ठ महापुरुष जिन-जिन वैदिक और लौकिक क्रियाओंको वचनोंसे भी प्रमाणित कर देता है, उसीके अनुसार लोग बरतने लगते हैं। इसीसे वैसा कहा गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रेष्ठ महापुरुषोंके आचरणोंको लोकसंग्रहमें हेतु बतलाकर अब भगवान् तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देकर वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंके करनेकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

प्रश्न—अर्जुनको 'पार्थ' शब्दसे सम्बोधित करनेका क्या भाव है?

उत्तर—कुन्तीके दो नाम थे—'पृथा' और 'कुन्ती'। बाल्यावस्थामें जबतक वे अपने पिता शूरसेनके यहाँ रहीं तबतक उनका नाम 'पृथा' था और जब वे राजा कुन्तिभोजके यहाँ गोद चली गयीं तबसे उनका नाम 'कुन्ती' पड़ा। माताके इन नामोंके सम्बन्धसे ही अर्जुनको पार्थ और कौन्तेय कहा जाता है। यहाँ भगवान् अर्जुनको कर्ममें प्रवृत्त करते हुए परम स्नेह और आत्मीयताके सूचक 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करके मानो यह कह रहे हैं कि 'मेरे प्यारे भैया! मैं तुम्हें कोई ऐसी बात नहीं बतला रहा हूँ जो किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीकी हो; तुम मेरे अपने भाई हो, मैं तुमसे वही कहता हूँ जो मैं स्वयं करता हूँ और जो तुम्हारे लिये परम श्रेयस्कर है।'

प्रश्न—तीनों लोकोंमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि मनुष्यका सम्बन्ध तो केवल इसी लोकसे है। अतः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये उसके कर्तव्यका विधान इस लोकमें होता है; किन्तु मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ, स्वयं ही सबके कर्तव्यका विधान करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ। अतः स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल इन तीनों ही लोकोंमें सदा स्थित हूँ। मेरे लिये किसी लोकमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है।

प्रश्न—मुझे इन तीनों लोकोंमें कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है

कि इस लोककी तो बात ही क्या है, तीनों लोकोंमें कहीं भी ऐसी कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु नहीं है, जो मुझे प्राप्त न हो; क्योंकि मैं सर्वेश्वर, पूर्णकाम और सबकी रचना करनेवाला हूँ।

प्रश्न—तो भी मैं कर्मोंमें ही बरतता हूँ इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मुझे किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है और मेरे लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है तो भी लोकसंग्रहकी ओर देखकर मैं सब लोगोंपर दया करके कर्मोंमें ही लगा हुआ हूँ, कर्मोंका त्याग नहीं करता। इसलिये किसी मनुष्यको ऐसा समझकर कर्मोंका त्याग नहीं कर देना चाहिये कि यदि मेरी भोगोंमें आसक्ति नहीं है और मुझे कर्मोंके फलरूपमें किसी वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं है तो मैं कर्म किसलिये करूँ, या मुझे परमपदकी प्राप्ति हो चुकी है तब फिर कर्म करनेकी क्या जरूरत है। क्योंकि अन्य किसी कारणसे कर्म करनेकी आवश्यकता न रहनेपर भी मनुष्यको लोकसंग्रहकी दृष्टिसे कर्म करना चाहिये।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं॥ २३॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही कि मेरे लिये सर्वथा कर्तव्यका अभाव होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ, इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि आपके लिये कर्तव्य ही नहीं है तो फिर आप किसलिये कर्म करते हैं। अतः दो श्लोकोंमें भगवान् अपने कर्मका हेतु बतलाते हैं इसी बातका द्योतक यहाँ 'हि' पद है।

प्रश्न—'यदि' और 'जातु'—इन दोनों पदोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरा अवतार धर्मकी स्थापनाके लिये होता है, इस कारण मैं कभी किसी भी कालमें सावधानीके साथ साङ्गोपाङ्ग समस्त कर्मोंका अनुष्ठान न करूँ यानी उनकी अवहेलना कर दूँ—यह सम्भव नहीं है; तो भी अपने कर्मोंका हेतु समझानेके लिये यह बात कही जाती है कि 'यदि मैं कदाचित् सावधानीके साथ कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी भारी हानि हो जाय; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और सञ्चालक एवं मर्यादापुरुषोत्तम होकर भी यदि मैं असावधानी करने लगूँ तो सृष्टिचक्रमें बड़ी भारी गड़बड़ी मच जाय।'

प्रश्न—मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते है अर्थात् मेरी नकल करते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वञ्चित रह जायँ। अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं सङ्करताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'यदि मैं कर्म न करूँ' यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि पूर्वश्लोकमें यह बात कह ही दी गयी थी कि 'यदि मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ' इसलिये इस पुनरुक्तिका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'यदि मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ' इस वाक्यांशसे तो सावधानीके साथ विधिपूर्वक कर्म न करनेसे होनेवाली हानिका निरूपण किया गया है और इस श्लोकमें 'यदि मैं कर्म न करूँ' इस वाक्यांशसे कर्मोंके न करनेसे यानी उनका त्याग कर देनेसे होनेवाली हानि बतलायी गयी है । इसलिये यह पुनरुक्ति नहीं है । दोनों श्लोकोंमें अलग-अलग दो बातें कही गयी हैं ।

प्रश्न—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो उन शास्त्रविहित कर्मोंको व्यर्थ समझकर दूसरे लोग भी मेरा देखा-देखी उनका परित्याग कर देंगे और राग-द्वेषके वश होकर एवं प्रकृतिके प्रवाहमें पड़कर मनमाने नीच कर्म करने लगेंगे तथा एक-दूसरेका अनुकरण करके सब-के-सब स्वार्थपरायण, भ्रष्टाचारी और उच्छृङ्खल हो जायँगे । ऐसा होनेसे वे सांसारिक भोगोंमें आसक्त होकर अपने-अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये एक-दूसरेकी हानिकी परवा न करके अन्यायपूर्वक शास्त्रविरुद्ध लोकनाशक पापकर्म करने लगेंगे । इसके फलस्वरूप उनका मनुष्य-जन्म भ्रष्ट हो जायगा और मरनेके बाद उनको नीच योनियोंमें या नरकोंमें गिरना पड़ेगा ।

प्रश्न—मैं सङ्करताका करनेवाला होऊँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'सङ्करस्य' पदसे सभी प्रकारकी सङ्करता विवक्षित है । वर्ण, आश्रम, जाति, समाज, स्वभाव, देश, काल, राष्ट्र और परिस्थितिकी अपेक्षासे सब मनुष्योंके अपने-अपने पृथक्-पृथक् पालनीय धर्म होते हैं; शास्त्र-विधिका त्याग करके नियमपूर्वक अपने-अपने धर्मका पालन न करनेसे सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है और सबके धर्मोंमें सङ्करता आ जाती है अर्थात् उनका मिश्रण हो जाता है । इस कारण सब अपने-अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर बुरी स्थितिमें पहुँच जाते हैं—जिससे उनके धर्म, कर्म और जातिका नाश होकर प्रायः मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है । अतः यहाँ भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दूँ तो फलतः अपने आदर्शके द्वारा इन लोगोंसे शास्त्रीय कर्मोंका त्याग करवाकर इनमें धर्म-नाशक सङ्करता उत्पन्न करनेमें मुझको कारण बनना पड़े ।

प्रश्न—इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी सङ्करता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोग-परायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते । इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं—जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं । इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है । अतः भगवान्‌ने 'मैं समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृङ्खल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े ।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें कर्मोंको सावधानीके साथ न करने और उनका त्याग करनेके कारण होनेवाले परिणामका अपने उदाहरणसे वर्णन करके, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे सबके लिये विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करनेके अनन्तर अब भगवान् उपर्युक्त लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानीको कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ॥ २५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मणि' पद किन कर्मोंका वाचक है ?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है; क्योंकि भगवान् अज्ञानियोंको उन कर्मोंमें लगाये रखनेका आदेश देते हैं एवं ज्ञानीको भी उन्हींकी भाँति कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं, अतएव इनमें निषिद्ध कर्म या व्यर्थ कर्म सम्मिलित नहीं हैं ।

प्रश्न—'कर्मणि सक्ताः' विशेषणके सहित 'अविद्वांसः' पद यहाँ किस श्रेणीके अज्ञानियोंका वाचक है ?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणके सहित 'अविद्वांसः' पद यहाँ शास्त्रोंमें, शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें श्रद्धा, प्रेम और आसक्ति रखनेवाले तथा शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक अपने-अपने अधिकारके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले सकाम कर्मठ मनुष्योंका वाचक है । इनमें कर्मविषयक आसक्ति रहनेके कारण ये न तो कल्याणके साधक शुद्ध सात्त्विक कर्मयोगी पुरुषोंकी श्रेणीमें आ सकते हैं और न श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करनेवाले होनेके कारण आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिवाले पापाचारी तामसी ही माने जा सकते हैं । अतएव इन लोगोंको उन सत्त्वगुणमिश्रित राजस स्वभाववाले मनुष्योंकी श्रेणीमें ही समझना चाहिये, जिनका वर्णन दूसरे अध्यायमें बियालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक 'अविपश्चितः' पदसे, सातवें अध्यायमें बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक 'अल्पमेधसाम्' पदसे और नवें अध्यायमें बीस, इक्कीस, तेईस और चौबीसवें श्लोकोंमें 'अन्यदेवता भक्ताः' पदसे किया गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'यथा' और 'तथा'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके भगवान्ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते । अतएव यहाँ 'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ 'विद्वान्' का अर्थ तत्त्वज्ञानी न मानकर शास्त्रज्ञानी मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—'विद्वान्' के साथ 'असक्तः' विशेषणका प्रयोग है, इस कारण इसका अर्थ केवल शास्त्रज्ञानी ही नहीं माना जा सकता; क्योंकि शास्त्रज्ञानमात्रसे कोई मनुष्य आसक्तिरहित नहीं हो जाता ।

प्रश्न—'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' पदसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीमें भी इच्छा रहती है; क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—हाँ, रहती है; परन्तु यह अत्यन्त ही विलक्षण होती है । सर्वथा इच्छारहित पुरुषमें होनेवाली इच्छाका क्या स्वरूप होता है, यह समझाया नहीं जा सकता; इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी यह इच्छा साधारण मनुष्योंको कर्मतत्पर बनाये रखनेके लिये कहनेमात्रकी ही होती है । ऐसी इच्छा तो भगवान्में भी रहती है । वास्तवमें तो यह इच्छा इच्छा

ही नहीं है, अतएव यहाँ 'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' से यह भाव समझना चाहिये कि कहीं उसकी देखा-देखी दूसरे लोग अपने कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके नष्ट-भ्रष्ट न हो जायँ, इस दृष्टिसे ज्ञानीके द्वारा केवल लोकहितार्थ उचित चेष्टा होती है; सिद्धान्ततः इसके अतिरिक्त उसके कर्मोंका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहता।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे॥ २६॥

प्रश्न—'युक्तः' विशेषणके सहित 'विद्वान्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें वर्णित परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित आसक्तिरहित तत्त्वज्ञानीका वाचक यहाँ 'युक्तः' विशेषणके सहित 'विद्वान्' पद है।

प्रश्न—शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है? क्या ऐसे मनुष्यको तत्त्वज्ञानका या कर्मयोगका उपदेश नहीं देना चाहिये?

उत्तर—किसीकी बुद्धिमें संशय या दुविधा उत्पन्न कर देना ही बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना कहलाता है। अतएव कर्मासक्त मनुष्योंकी जो उन कर्मोंमें, कर्मविधायक शास्त्रोंमें और अदृष्ट भोगोंमें आस्तिकबुद्धि है, उस बुद्धिको विचलित करके उनके मनमें कर्मोंके और शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देना ही उनकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना है। अतः यहाँ भगवान् ज्ञानीको कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करनेके लिये कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि उन मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्काम भावके नामपर परित्याग कर देंगे। इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थितिसे भी पतन हो जायगा। अतएव भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये; उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है। बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावोंको हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये।

प्रश्न—कर्मासक्त अज्ञानी तो पहलेसे कर्मोंमें लगे हुए रहते ही हैं; फिर यहाँ इस कथनका क्या अभिप्राय है कि विद्वान् स्वयं कर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे?

उत्तर—अज्ञानी लोग श्रद्धापूर्वक कर्मोंमें लगे रहते हैं, यह ठीक है; परन्तु जब उनको तत्त्वज्ञानकी या फलासक्तिके त्यागकी बात कही जाती है, तब उन बातोंका भाव ठीक-ठीक न समझनेके कारण वे भ्रमसे समझ लेते हैं कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या फलासक्ति न रहनेपर कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कर्मोंका दर्जा नीचा है। इस कारण कर्मोंके त्यागमें उनकी रुचि बढ़ने लगती है और अन्तमें वे मोहवश

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ॥ २५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मणि' पद किन कर्मोंका वाचक है ?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है; क्योंकि भगवान् अज्ञानियोंको उन कर्मोंमें लगाये रखनेका आदेश देते हैं एवं ज्ञानीको भी उन्हींकी भाँति कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं, अतएव इनमें निषिद्ध कर्म या व्यर्थ कर्म सम्मिलित नहीं हैं।

प्रश्न—'कर्मणि सक्ताः' विशेषणके सहित 'अविद्वांसः' पद यहाँ किस श्रेणीके अज्ञानियोंका वाचक है ?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणके सहित 'अविद्वांसः' पद यहाँ शास्त्रोंमें, शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें श्रद्धा, प्रेम और आसक्ति रखनेवाले तथा शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक अपने-अपने अधिकारके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले सकाम कर्मठ मनुष्योंका वाचक है। इनमें कर्मविषयक आसक्ति रहनेके कारण ये न तो कल्याणके साधक शुद्ध सात्त्विक कर्मयोगी पुरुषोंकी श्रेणीमें आ सकते हैं और न श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करनेवाले होनेके कारण आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिवाले पापाचारी तामसी ही माने जा सकते हैं। अतएव इन लोगोंको उन सत्त्वगुणमिश्रित राजस स्वभाववाले मनुष्योंकी श्रेणीमें ही समझना चाहिये, जिनका वर्णन दूसरे अध्यायमें बियालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक 'अविपश्चितः' पदसे, सातवें अध्यायमें बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक 'अल्पमेधसाम्' पदसे और नवें अध्यायमें बीस, इक्कीस, तेईस और चौबीसवें श्लोकोंमें 'अन्यदेवता भक्ताः' पदसे किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'यथा' और 'तथा'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके भगवान्ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते। अतएव यहाँ 'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'विद्वान्' का अर्थ तत्त्वज्ञानी न मानकर शास्त्रज्ञानी मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—'विद्वान्' के साथ 'असक्तः' विशेषणका प्रयोग है, इस कारण इसका अर्थ केवल शास्त्रज्ञानी ही नहीं माना जा सकता; क्योंकि शास्त्रज्ञानमात्रसे कोई मनुष्य आसक्तिरहित नहीं हो जाता।

प्रश्न—'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' पदसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीमें भी इच्छा रहती है; क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—हाँ, रहती है; परन्तु यह अत्यन्त ही विलक्षण होती है। सर्वथा इच्छारहित पुरुषमें होनेवाली इच्छाका क्या स्वरूप होता है, यह समझाया नहीं जा सकता; इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी यह इच्छा साधारण मनुष्योंको कर्मतत्पर बनाये रखनेके लिये कहनेमात्रकी ही होती है। ऐसी इच्छा तो भगवान्में भी रहती है। वास्तवमें तो यह इच्छा इच्छा

ही नहीं है, अतएव यहाँ 'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' से यह भाव समझना चाहिये कि कहीं उसकी देखा-देखी दूसरे लोग अपने कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके नष्ट-भ्रष्ट न हो जायँ, इस दृष्टिसे ज्ञानीके द्वारा केवल लोकहितार्थ उचित चेष्टा होती है; सिद्धान्ततः इसके अतिरिक्त उसके कर्मोंका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहता।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे॥ २६॥

प्रश्न—'युक्तः' विशेषणके सहित 'विद्वान्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें वर्णित परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित आसक्तिरहित तत्त्वज्ञानीका वाचक यहाँ 'युक्तः' विशेषणके सहित 'विद्वान्' पद है।

प्रश्न—शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है? क्या ऐसे मनुष्यको तत्त्वज्ञानका या कर्मयोगका उपदेश नहीं देना चाहिये?

उत्तर—किसीकी बुद्धिमें संशय या दुविधा उत्पन्न कर देना ही बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना कहलाता है। अतएव कर्मासक्त मनुष्योंकी जो उन कर्मोंमें, कर्मविधायक शास्त्रोंमें और अदृष्ट भोगोंमें आस्तिक्यबुद्धि है, उस बुद्धिको विचलित करके उनके मनमें कर्मोंके और शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देना ही उनकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना है। अतः यहाँ भगवान् ज्ञानीको कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करनेके लिये कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि उन मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्काम भावके नामपर परित्याग कर देंगे। इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थितिसे भी पतन हो जायगा। अतएव भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये; उनका तो यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है। बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावोंको हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये।

प्रश्न—कर्मासक्त अज्ञानी तो पहलेसे कर्मोंमें लगे हुए रहते ही हैं; फिर यहाँ इस कथनका क्या अभिप्राय है कि विद्वान् स्वयं कर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे?

उत्तर—अज्ञानी लोग श्रद्धापूर्वक कर्मोंमें लगे रहते हैं, यह ठीक है; परन्तु जब उनको तत्त्वज्ञानकी या फलासक्तिके त्यागकी बात कही जाती है, तब उन बातोंका भाव ठीक-ठीक न समझनेके कारण वे भ्रमसे समझ लेते हैं कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या फलासक्ति न रहनेपर कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कर्मोंका दर्जा नीचा है। इस कारण कर्मोंके त्यागमें उनकी रुचि बढ़ने लगती है और अन्तमें वे मोहवश

विहित कर्मोंका त्याग करके आलस्य और प्रमादके वश हो जाते हैं। इसलिये भगवान् उपर्युक्त वाक्यसे ज्ञानीके लिये यह बात कहते हैं कि उसको स्वयं अनासक्त भावसे कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग आचरण करके सबके सामने ऐसा आदर्श रख देना चाहिये, जिससे किसीकी विहित कर्मोंमें कभी अश्रद्धा और अरुचि न हो सके और वे निष्कामभावसे या कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्मोंका विधिपूर्वक आचरण करते हुए ही अपने मनुष्य-जन्मको सफल बना सकें।

सम्बन्ध—इस प्रकार दो श्लोकोंमें ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहको लक्ष्यमें रखते हुए शास्त्रविहित कर्म करनेकी प्रेरणा करके, अब दो श्लोकोंमें कर्मासक्त जनसमुदायकी अपेक्षा सांख्ययोगीकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण ही बुद्धि, अहंकार, मन, आकाशादि पाँच सूक्ष्म महाभूत, श्रोत्रादि दस इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होते हैं। ये सब-के-सब प्रकृतिके गुण हैं, तथा इनमेंसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंका विषयोंको ग्रहण करना—अर्थात् बुद्धिका किसी विषयमें निश्चय करना, मनका किसी विषयको मनन करना, कानका शब्द सुनना, त्वचाका किसी वस्तुको स्पर्श करना, आँखोंका किसी रूपको देखना, जिह्वाका किसी रसको आस्वादन करना, घ्राणका किसी गन्धको सूँघना, वाणीका शब्द उच्चारण करना, हाथका किसी वस्तुको ग्रहण करना, पैरोंका गमन करना, गुदा और उपस्थका मल-मूत्रत्याग करना—कर्म हैं। इसलिये उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि संसारमें जिस प्रकारसे और जो कुछ भी क्रिया होती है, वह सब प्रकारसे उपर्युक्त गुणोंके द्वारा ही की जाती है, निर्गुण-निराकार आत्माका उनसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—'अहंकारविमूढात्मा' कैसे मनुष्यका वाचक है?

उत्तर—प्रकृतिके कार्यरूप उपर्युक्त बुद्धि, अहंकार, मन, महाभूत, इन्द्रियाँ और विषय—इन तेईस तत्त्वोंके संघातरूप शरीरमें जो अहंता है—उसमें जो दृढ़ आत्मभाव है, उसका नाम अहंकार है। इस अनादिसिद्ध अहंकारके सम्बन्धसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त मोहित हो रहा है, जिसकी विवेकशक्ति लुप्त हो रही है एवं इसी कारण जो आत्म-अनात्म वस्तुका यथार्थ विवेचन करके अपनेको शरीरसे भिन्न शुद्ध आत्मा या परमात्माका सनातन अंश नहीं समझता—ऐसे अज्ञानी मनुष्यका वाचक यहाँ 'अहंकारविमूढात्मा' पद है। इसलिये यह ध्यान रहे कि आसक्तिरहित विवेकशील कर्मयोगका साधन करनेवाले साधकका वाचक 'अहंकारविमूढात्मा' पद नहीं है; क्योंकि उसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित नहीं है, बल्कि वह तो अहंकारका नाश करनेकी चेष्टामें लगा हुआ है।

प्रश्न—उपर्युक्त अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस संघातमें आत्माभिमान करके उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् मैं निश्चय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ इत्यादि प्रकारसे हरेक क्रियाको अपनेद्वारा की हुई समझता है। इसी कारण उसका कर्मोंसे बन्धन होता है और उसको उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमना पड़ता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रश्न—'तु' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित अज्ञानीकी स्थितिसे ज्ञानयोगीकी स्थितिका अत्यन्त भेद है, यह दिखलानेके लिये 'तु' पदका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—गुणविभाग और कर्मविभाग क्या है तथा उन दोनोंके तत्त्वको जानना क्या है ?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप जो तेईस तत्त्व हैं, जिनका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें किया गया है, उन तेईस तत्त्वोंका समुदाय ही गुणविभाग है। ध्यान रहे कि अन्तःकरणके जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, जिनके सम्बन्धसे कर्मोंके सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन भेद माने जाते हैं और जिनके सम्बन्धसे अमुक मनुष्य सात्त्विक है, अमुक राजस और तामस है—ऐसा कहा जाता है, वे गुणवृत्तियाँ भी गुणविभागके ही अन्तर्गत हैं।

उपर्युक्त गुणविभागसे जो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ की जाती हैं, जिनका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें किया जा चुका है, जिन क्रियाओंमें कर्तृत्वाभिमान एवं आसक्ति होनेसे मनुष्यका बन्धन होता है, उन समस्त क्रियाओंका समूह ही कर्मविभाग है । उपर्युक्त गुणविभाग और कर्मविभाग सब प्रकृतिका ही विस्तार है । अतएव ये सभी जड, क्षणिक, नाशवान् और विकारशील हैं, मायामय हैं, स्वप्नकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं । इस गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्मा सर्वथा अलग है, आत्माका इनसे जरा भी सम्बन्ध नहीं है; वह सर्वथा निर्गुण निराकार, निर्विकार, नित्य शुद्ध, मुक्त और ज्ञानस्वरूप है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'के तत्त्वको जानना है ।

प्रश्न—'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली हरेक क्रियामें यही समझता है कि गुणोंके कार्यरूप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करण ही गुणोंके कार्यरूप अपने-अपने विषयोंमें बरत रहे हैं, मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस कारण वह किसी भी कर्ममें या कर्मफलरूप भोगोंमें आसक्त नहीं होता अर्थात् किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। उनको अनित्य, जड, विकारी और नाशवान् तथा अपनेको सदा-सर्वदा नित्य शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, अकर्ता और सर्वथा असङ्ग समझता है । पाँचवें अध्यायके आठवें और नवें श्लोकोंमें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मासक्त मनुष्योंकी और सांख्ययोगीकी स्थितिका भेद बतलाकर अब आत्मतत्त्वको पूर्णतया समझानेवाले महापुरुषके लिये यह प्रेरणा की जाती है कि वह कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्योंको विचलित न करे—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे ॥ २९ ॥

प्रश्न—'प्रकृतेः गुणसम्मूढाः' यह विशेषण किस श्रेणीके मनुष्योंका लक्ष्य कराता है तथा वे गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—पचीसवें और छब्बीसवें श्लोकोंमें जिन कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बात कही गयी है, यहाँ 'प्रकृतेः गुणसम्मूढाः' पद उन्हीं इस लोक और परलोकके भोगोंकी कामनासे श्रद्धा और आसक्तिपूर्वक कर्मोंमें लगे हुए सत्त्वमिश्रित रजोगुणी सकामी कर्मठ मनुष्योंका लक्ष्य करानेवाला है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले जो शुद्ध सात्त्विक मनुष्य हैं, वे प्रकृतिके गुणोंसे मोहित नहीं हैं और जो निषिद्ध कर्म करनेवाले तामसी मनुष्य हैं, उनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा न रहनेके कारण उनका न तो विहित कर्मोंमें प्रेम है और न वे विहित कर्म करते ही हैं। इसलिये उन तामसी मनुष्योंको कर्मोंसे विचलित न करनेके लिये कहना नहीं बनता, बल्कि उनसे तो शास्त्रोंमें श्रद्धा करवाकर निषिद्ध कर्म छुड़वाने और विहित कर्म करवानेकी आवश्यकता होती है।

तथा वे सकाम मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि गुणोंसे मोहित रहनेके कारण उन लोगोंको प्रकृतिसे अतीत सुखका कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे सांसारिक भोगोंको ही सबसे बढ़कर

उत्तर—इन तीनों पदोंसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त श्रेणीके सकाम मनुष्य यथार्थ तत्त्वके न समझनेपर भी शास्त्रोक्त कर्मोंमें और उनके फलमें श्रद्धा रखनेवाले होनेके कारण किसी अंशमें तो समझते ही हैं; इसलिये अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानकर मनमाना आचरण करनेवाले तामसी पुरुषोंसे वे बहुत अच्छे हैं। वे सर्वथा बुद्धिहीन नहीं हैं, अल्पबुद्धिवाले हैं; इसीलिये उनके कर्मोंका फल परमात्माकी प्राप्ति न होकर नाशवान् भोगोंकी प्राप्ति ही होता है।

प्रश्न—'कृत्स्नवित्' पद किसका वाचक है और वह उन अज्ञानियोंको विचलित न करे, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वोक्त प्रकारसे गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको पूर्णतया समझकर परमात्माके स्वरूपको पूर्णतया यथार्थ जान लेनेवाले ज्ञानी महापुरुषका वाचक यहाँ 'कृत्स्नवित्' पद है। और वह उन अज्ञानियोंको विचलित न करे- इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रक्खा ही क्या है, यह जगत् मिथ्या है, कर्म-मा[illegible] नके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित [illegible] उनमें उनकी [illegible] और रुचि कम कर देना [illegible] ोंकि [illegible] से उनके पतनकी [illegible] उनका विधान

४–बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (३ । ६)।
५–मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (३ । ७)।
६–कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (३ । ८)।
७–बिना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (३ । ८)।
८–यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (३ । ९)।
९–कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है, और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (३ । १०, ११)।
१०–कर्तव्यका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (३ । १२)।
११–कर्तव्य-पालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (३ । १३)।
१२–जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (३ । १३)।
१३–कर्तव्य-कर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (३ । १६)।
१४–अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (३ । १९)।
१५–पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (३ । २०)।
१६–दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (३ । २१)।
१७–भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते है (३ । २२)।
१८–ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (३ । २५)।
१९–ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्यकर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (३ । २६)।
२०–ज्ञानी महापुरुषको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (३ । २९)।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

प्रश्न—'अध्यात्मचेतसा' पदमें 'चेतस्' शब्द किस चित्तका वाचक है और 'उसके द्वारा समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना' क्या है ?

उत्तर—सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तका वाचक यहाँ 'चेतस्' शब्द है। इस प्रकारके चित्तसे जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और

आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है। इसी प्रकार भगवान्‌में समस्त कर्मोंका त्याग करनेकी बात बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके सतावनवें और छाछठवें श्लोकोंमें भी कही गयी है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌में अर्पण कर देनेपर आशा, ममता और सन्तापका तो अपने-आप ही नाश हो जाता है; फिर यहाँ आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करनेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌में अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्म समर्पण कर देनेपर आशा, ममता और सन्ताप नहीं रहते—इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करनेके लिये कहा है। अभिप्राय यह है कि तुम समस्त कर्मोंका भार मुझपर छोड़कर सब प्रकारसे आशा-ममता, राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित हो जाओ और ऐसे होकर मेरी आज्ञाके अनुसार युद्ध करो। इसलिये यह समझना चाहिये कि कर्म करते समय या उनका फल भोगते समय जबतक साधककी उन कर्मोंमें या भोगोंमें ममता, आसक्ति या कामना है अथवा उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं, तबतक उसके समस्त कर्म भगवान्‌के समर्पित नहीं हुए हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको उनके कल्याणका निश्चित साधन बतलाते हुए भगवान् उन्हें युद्ध करनेकी आज्ञा देकर अब उसका अनुष्ठान करनेके फलका वर्णन करते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं॥ ३१॥

प्रश्न—यहाँ 'ये' के सहित 'मानवाः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह साधन किसी एक जातिविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये ही सीमित नहीं है। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति या समाजका मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें समर्पण करके इस साधनका अनुष्ठान कर सकता है।

प्रश्न—'श्रद्धावन्तः' और 'अनसूयन्तः'—इन दोनों पदोंका क्या भाव है?

उत्तर—इन पदोंके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन मनुष्योंकी मुझमें दोषदृष्टि है, जो मुझे साक्षात् परमेश्वर न समझकर साधारण मनुष्य मानते हैं और जिनका मुझपर विश्वास नहीं है, वे इस साधनके अधिकारी नहीं हैं। इस साधनका अनुष्ठान वे ही मनुष्य कर सकते हैं जो मुझमें कभी किसी प्रकारकी दोषदृष्टि नहीं करते और सदा श्रद्धा-भक्ति रखते हैं। अतएव इस साधनका अनुष्ठान करनेकी इच्छावालेको उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न हो जाना चाहिये। इनके बिना इस साधनका अनुष्ठान करना तो दूर रहा, इसे समझना भी कठिन है।

प्रश्न—'नित्यम्' पद 'मतम्'का विशेषण है या 'अनुतिष्ठन्ति'का?

उत्तर—भगवान्‌का मत तो नित्य है ही, अतः उसका

विशेषण मान लेनेमें भी कोई हानिकी बात नहीं है; पर यहाँ उसे 'अनुतिष्ठन्ति' क्रियाका विशेषण मानना अधिक उपयोगी मालूम होता है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त साधकको समस्त कर्म सदाके लिये भगवान्में समर्पित करके अपनी सारी क्रियाएँ उसी भावसे करनी चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्ने अर्जुनको यह भाव दिखलाया है कि जब इस साधनके द्वारा दूसरे मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणरूप कर्मबन्धनसे सदाके लिये मुक्त होकर परम कल्याणस्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, तब तुम्हारे लिये तो कहना ही क्या है?

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अपने उपर्युक्त मतका अनुष्ठान करनेका फल बतलाकर अब उसके अनुसार न चलनेमें हानि बतलाते हैं—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें वर्णित साधकोंसे अत्यन्त विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी गति इस श्लोकमें बतलायी जाती है, इसी भावका द्योतक यहाँ 'तु' पद है।

प्रश्न—भगवान्में दोषारोपण करते हुए भगवान्के मतके अनुसार न बरतना क्या है?

उत्तर—भगवान्को साधारण मनुष्य समझकर उनमें ऐसी भावना करना या दूसरोंसे ऐसा कहना कि 'ये अपनी पूजा करानेके लिये इस प्रकारका उपदेश देते हैं; समस्त कर्म इनके अर्पण कर देनेसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता' आदि-आदि—यह भगवान्में दोषारोपण करना है। और ऐसा समझकर भगवान्के कथनानुसार ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग न करना, कर्मोंको परमेश्वरके अर्पण न करके अपनी इच्छाके अनुसार कर्मोंमें बरतना और शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देना—यही भगवान्में दोषारोपण करते हुए उनके मतके अनुसार न चलना है।

प्रश्न—'अचेतसः' पद किस श्रेणीके मनुष्योंका वाचक है और उनको सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित तथा नष्ट हुए समझनेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—जिनके मन दोषोंसे भरे हैं, जिनमें विवेकका अभाव है और जिनका चित्त वशमें नहीं है, ऐसे मूर्ख, तामसी मनुष्योंका वाचक 'अचेतसः' पद है। उनको सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए समझनेके लिये कहनेका यह भाव है कि ऐसे मनुष्योंकी बुद्धि विपरीत हो जाती है, वे लौकिक और पारलौकिक सब प्रकारके सुख-साधनोंको विपरीत ही समझने लगते हैं; इसी कारण वे विपरीत आचरणोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनका इस लोक और परलोकमें पतन हो जाता है, वे अपनी वर्तमान स्थितिसे भी भ्रष्ट हो जाते हैं और मरनेके बाद उनको अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये सूकर-कूकरादि नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है या घोर नरकोंमें पड़कर भयानक यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ॥ ३३ ॥

प्रश्न—सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है।

प्रश्न—'प्रकृति' शब्दका यहाँ क्या अर्थ है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो स्वभावके रूपमें प्रकट होते हैं, उस स्वभावका नाम 'प्रकृति' है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले भगवत्-प्राप्त महापुरुषका वाचक यहाँ 'ज्ञानवान्' पद है।

प्रश्न—'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अपि' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि जब समस्त गुणोंसे अतीत ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, तब जो अज्ञानी मनुष्य प्रकृतिके अधीन हो रहे हैं, वे प्रकृतिके प्रवाहको हठपूर्वक कैसे रोक सकते हैं ?

प्रश्न—क्या परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं ?

उत्तर—अवश्य ही सबके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, पूर्व साधन और प्रारब्धके भेदसे स्वभावमें भेद होना अनिवार्य है।

प्रश्न—क्या ज्ञानीका भी पूर्वार्जित कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे कोई सम्बन्ध रहता है ? यदि नहीं रहता तो इस कथनका क्या अभिप्राय है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है ?

उत्तर—ज्ञानीका वस्तुतः न तो कर्म-संस्कारोंसे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध रहता है और न वह किसी प्रकारकी कोई क्रिया ही करता है। किन्तु उसके अन्तःकरणमें पूर्वार्जित प्रारब्धके संस्कार रहते हैं और उसीके अनुसार उसके बुद्धि, मन और इन्द्रियोंद्वारा प्रारब्ध-भोग और लोक-संग्रहके लिये बिना ही कर्ताके क्रियाएँ हुआ करती हैं; उन्हीं क्रियाओंका लोकदृष्टिसे ज्ञानीमें अध्यारोप करके कहा जाता है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। ज्ञानीकी क्रियाएँ बिना कर्तापनके होनेसे राग-द्वेष और अहंता-ममतासे सर्वथा शून्य होती हैं; अतएव वे चेष्टामात्र हैं, उनकी संज्ञा 'कर्म' नहीं है—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'चेष्टते' क्रियाका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानीके अन्तःकरणमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकार होते ही नहीं या उनसे उसका सम्बन्ध नहीं रहता ? यदि उसका अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध न रहनेके कारण उस अन्तःकरणमें विकार नहीं होते तो शम, दम, तितिक्षा, दया, सन्तोष आदि सद्गुण भी उसमें नहीं होने चाहिये ?

उत्तर—ज्ञानीका जब अन्तःकरणसे ही सम्बन्ध नहीं रहता तब उसमें होनेवाले विकारोंसे या सद्गुणोंसे सम्बन्ध कैसे रह सकता है ? किन्तु उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र हो जाता है; निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते-करते जब अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तभी साधकको परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस कारण उस अन्तःकरणमें अविद्यामूलक अहंता, ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, दम्भ-कपट, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार नहीं रह सकते; इनका उसमें सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव ज्ञानी महात्मा पुरुषके उस अत्यन्त निर्मल और परम पवित्र अन्तःकरणमें केवल समता, सन्तोष, दया, क्षमा, निःस्पृहता, शान्ति आदि सद्गुणोंकी स्वाभाविक स्फुरणा होती है और उन्हींके

अनुसार लोकसंग्रहके लिये उनके मन, इन्द्रिय और शरीर-द्वारा शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं। दुर्गुण और दुराचारोंका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है।

प्रश्न—इतिहास और पुराणोंकी कथाओंमें ऐसे बहुत-से प्रसङ्ग आते हैं, जिनसे ज्ञानी सिद्ध महापुरुषोंके अन्तःकरणमें भी काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका प्रादुर्भाव और इन्द्रियोंद्वारा उनके अनुसार क्रियाओंका होना सिद्ध होता है; उस विषयमें क्या समझना चाहिये?

उत्तर—उदाहरणकी अपेक्षा विधि-वाक्य बलवान् है और विधि-वाक्यसे भी निषेधपरक वाक्य अधिक बलवान् है, इसके सिवा इतिहास-पुराणोंकी कथाओंमें जो उदाहरण मिलते हैं उनका रहस्य ठीक-ठीक समझमें आना कठिन भी है। इसलिये यही मानना उचित है कि यदि किसीके अन्तःकरणमें सचमुच काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका प्रादुर्भाव हुआ हो और उनके अनुसार क्रिया हुई हो तब तो वह भगवत्प्राप्त ज्ञानी महात्मा ही नहीं है; क्योंकि शास्त्रोंमें कहीं भी ऐसे विधिवाक्य नहीं मिलते जिनके बलपर ज्ञानी महात्मामें काम-क्रोधादि अवगुणोंका होना सिद्ध होता है, बल्कि उनके निषेधकी बात जगह-जगह आयी है। गीतामें भी जहाँ-जहाँ महापुरुषोंके लक्षण बतलाये गये हैं, उनमें राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि दुर्गुण और दुराचारोंका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है (५। २६, २८; १२। १७)। हाँ, यदि लोक-संग्रहके लिये आवश्यक होनेपर उन्होंने स्वाँगकी भाँति ऐसी चेष्टा की हो तो उसकी गणना अवश्य ही दोषोंमें नहीं है।

प्रश्न—फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा? इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यही भाव दिखलाया है कि कोई भी मनुष्य हठपूर्वक क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३। ५), प्रकृति उससे जबरन् कर्म करा लेगी (१८। ५९, ६०); अतः मनुष्यको विहित कर्मका त्याग करके कर्मबन्धनसे छूटनेका आग्रह न रखकर स्वभावनियत कर्म करते हुए ही कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय करना चाहिये। उसीमें मनुष्य सफल हो सकता है, विहित कर्मोंके त्यागसे तो वह स्वेच्छाचारी होकर उलटा पहलेसे भी अधिक कर्मबन्धनमें जकड़ा जाता है और उसका पतन हो जाता है।

प्रश्न—यदि सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने ही पड़ते हैं, मनुष्यकी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं है तो फिर विधि-निषेधात्मक शास्त्रका क्या उपयोग है? स्वभावके अनुसार मनुष्यको शुभाशुभ कर्म करने ही पड़ेंगे और उन्हींके अनुसार उसकी प्रकृति बनती जायगी, ऐसी अवस्थामें मनुष्यका उत्थान कैसे हो सकता है?

उत्तर—शास्त्रविरुद्ध असत् कर्म होते हैं राग-द्वेषादिके कारण और शास्त्रविहित सत्कर्मोंके आचरणमें श्रद्धा, भक्ति आदि सद्गुण प्रधान कारण हैं। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका त्याग करनेमें और श्रद्धा, भक्ति आदि सद्गुणोंको जाग्रत् करके उन्हें बढ़ानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। अतएव दुर्गुणोंका त्याग करके भगवान्में और शास्त्रोंमें श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्मोंका आचरण करना चाहिये। इस आदर्शको सामने रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यके द्वारा निषिद्ध कर्म तो होते ही नहीं, शुभ कर्म होते हैं, वे भी मुक्तिप्रद ही होते हैं, बन्धनकारक नहीं। अभिप्राय यह है कि कर्मोंको रोकनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, उसे कर्म तो करने ही पड़ेंगे; परन्तु सद्गुणोंका आश्रय लेकर अपनी प्रकृतिका सुधार करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं। ज्यों-ज्यों प्रकृतिमें सुधार होगा त्यों-ही-त्यों क्रियाएँ अपने-आप ही विशुद्ध होती चली जायँगी। अतएव भगवान्की शरण होकर अपने स्वभावका सुधार करना चाहिये। इसीसे उत्थान हो सकता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको, उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अर्थे' पदसे सम्बन्ध रखनेवाले 'इन्द्रियस्य' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण—इन सबका ग्रहण करनेके लिये एवं उनमेंसे प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें अलग-अलग राग-द्वेषकी स्थिति दिखलानेके लिये यहाँ 'अर्थे' पदसे सम्बन्ध रखनेवाले 'इन्द्रियस्य' पदका दो बार प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरणके सहित समस्त इन्द्रियोंके जितने भी भिन्न-भिन्न विषय हैं, जिनके साथ इन्द्रियोंका संयोग-वियोग होता रहता है, उन सभी विषयोंमें राग और द्वेष दोनों ही अलग-अलग छिपे रहते हैं।

प्रश्न—यहाँ यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'इन्द्रियके अर्थमें इन्द्रियके राग-द्वेष छिपे रहते हैं', तो क्या हानि है?

उत्तर—ऐसी क्लिष्ट कल्पना कर लेनेपर भी इस अर्थसे भाव ठीक नहीं निकलता। क्योंकि इन्द्रियाँ भी अनेक हैं और उनके विषय भी अनेक हैं; फिर एक ही इन्द्रियके विषयमें एक ही इन्द्रियके राग-द्वेष स्थित हैं, यह कहना कैसे सार्थक हो सकता है? इसलिये 'इन्द्रियस्य-इन्द्रियस्य' अर्थात् 'सर्वेन्द्रियाणाम्'—इस प्रकार प्रयोग मानकर ऊपर बतलाया हुआ अर्थ मानना ही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष दोनों कैसे छिपे हुए हैं और उनके वशमें न होना क्या है?

उत्तर—जिस वस्तु, प्राणी या घटनामें मनुष्यको सुखकी प्रतीति होती है, जो उसके अनुकूल होता है, उसमें उसकी आसक्ति हो जाती है—इसीको 'राग' कहते हैं और जिसमें उसे दुःखकी प्रतीति होती है, जो उसके प्रतिकूल होता है, उसमें उसका द्वेष हो जाता है। वास्तवमें किसी भी वस्तुमें सुख और दुःख नहीं हैं, मनुष्यकी भावनाके अनुसार एक ही वस्तु किसीको सुखप्रद प्रतीत होती है और किसीको दुःखप्रद। तथा एक ही मनुष्यको जो वस्तु एक समय सुखप्रद प्रतीत होती है, वही दूसरे समय दुःखप्रद प्रतीत होने लग जाती है। अतएव प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष छिपे हुए हैं यानी सभी वस्तुओंमें राग और द्वेष दोनों ही रहा करते हैं; क्योंकि जब-जब मनुष्यका उनके साथ संयोग-वियोग होता है तब-तब राग-द्वेषका प्रादुर्भाव होता देखा जाता है।

अतएव शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए मन और इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग-वियोग होते समय किसी भी वस्तु, प्राणी, क्रिया या घटनामें प्रिय और अप्रियकी भावना न करके, सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय और लाभ-हानि आदिमें समभावसे युक्त रहना, तनिक भी हर्ष-शोक न करना—यही राग-द्वेषके वशमें न होना है। क्योंकि राग-द्वेषके वशमें होनेसे ही मनुष्यकी सबमें विषमबुद्धि होकर अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार हुआ करते हैं। अतः मनुष्यको परमेश्वरकी शरण ग्रहण करके इन राग-द्वेषोंसे सर्वथा अतीत हो जाना चाहिये।

प्रश्न—राग और द्वेष—ये दोनों मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु कैसे हैं?

उत्तर—मनुष्य अज्ञानवश राग-द्वेष—इन दोनोंके वश होकर विनाशशील भोगोंको सुखके हेतु समझकर कल्याण-मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। राग-द्वेष साधकको धोखा देकर विषयोंमें फँसा लेते हैं और उसके कल्याणमार्गमें विघ्न उपस्थित करके मनुष्यजीवनरूप अमूल्य धनको लूट लेते हैं। इस कारण वह मनुष्यजन्मके परम फलसे वञ्चित रह जाता है और राग-द्वेषके वश होकर विषयभोगोंके लिये स्वधर्मका त्याग, परधर्मका ग्रहण या नाना प्रकारके निषिद्ध कर्मोंका आचरण करता है; इसके फलस्वरूप मरनेके बाद भी उसकी दुर्गति होती है। इसीलिये इनको परिपन्थी यानी सत्-मार्गमें विघ्न करनेवाले शत्रु बतलाया गया है।

प्रश्न—ये राग-द्वेष साधकके कल्याणमार्गमें किस प्रकार बाधा डालते हैं?

उत्तर—जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर

और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषयभोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधनक्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकोंमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है।

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ, फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं? इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥ ३५॥

प्रश्न—'सु-अनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद किस धर्मका वाचक है और उसकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्मको अति उत्तम बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यमें परधर्म और स्वधर्मकी तुलना करते समय परधर्मके साथ तो 'सु-अनुष्ठित' विशेषण दिया गया है और स्वधर्मके साथ 'विगुण' विशेषण दिया गया है। अतः प्रत्येक विशेषणका विरोधीभाव उनके साथ अधिक समझ लेना चाहिये अर्थात् परधर्मको तो सद्गुण-सम्पन्न और 'सु-अनुष्ठित' समझना चाहिये तथा स्वधर्मको विगुण और अनुष्ठानकी कमीरूप दोषयुक्त समझ लेना चाहिये। साथमें यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं। अतः ऐसा समझनेसे यहाँ यह भाव निकलता है कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किन्तु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों वैसे कर्मोंका वाचक यहाँ 'स्वनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद है। उस परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्मको अतिउत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने पतिका सेवन करना ही कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है!

प्रश्न—'स्वधर्मः' पद किस धर्मका वाचक है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म शास्त्रने नियत कर दिये हैं उसके लिये वही स्वधर्म है। अभिप्राय यह है कि झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्य कर्तव्य नहीं हैं, इस कारण उनकी गणना भी यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है। इनके सिवा जिस वर्ण या आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकके सिवा दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है, वे उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके पृथक्-पृथक् स्वधर्म हैं; जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं और जिनमें सभी वर्ण-आश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका

अधिकार है, वे ईश्वरकी भक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, मन-इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन, अहिंसा, अस्तेय, सन्तोष, दया, दान, क्षमा, पवित्रता और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं।

प्रश्न—जिस मनुष्यसमुदायमें वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं है और जो वैदिक सनातनधर्मको नहीं मानते, उनके लिये स्वधर्म और परधर्मकी व्यवस्था कैसे हो सकती है ?

उत्तर—वास्तवमें तो वर्णाश्रमकी व्यवस्था समस्त मनुष्य-समुदायमें होनी चाहिये और वैदिक सनातनधर्म भी सभी मनुष्योंके लिये मान्य होना चाहिये। अतः जिस मनुष्यसमुदायमें वर्ण-आश्रमकी व्यवस्था नहीं है, उनके लिये स्वधर्म और परधर्मका निर्णय करना कठिन है; तथापि इस समय धर्म-सङ्कट उपस्थित हो रहा है और गीतामें मनुष्यमात्रके लिये उद्धारका मार्ग बतलाया गया है, इस आशयसे ऐसा माना जा सकता है कि जिस मनुष्यका जिस जाति या समुदायमें जन्म होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर कर्तव्य समझनेकी योग्यता आनेतक जैसे संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है तथा पूर्वजन्मके जैसे कर्म-संस्कार होते हैं, उसीके अनुकूल उसका स्वभाव बनता है और उस स्वभावके अनुसार ही जीविकाके कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः जिस मनुष्य-समुदायमें वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं है, उसमें उनके स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो विहित कर्म है अर्थात् उनकी इस लोक और परलोककी उन्नतिके लिये किसी महापुरुषके द्वारा जो कर्म उपयुक्त माने गये हैं, अच्छी नीयतसे कर्तव्य समझकर जिनका आचरण किया जाता है, जो किसी भी दूसरेके धर्म और हितमें बाधक नहीं हैं तथा मनुष्यमात्रके लिये जो सामान्यधर्म माने गये हैं, वही उसका स्वधर्म है और उससे विपरीत जो दूसरोंके लिये विहित है और उसके लिये विहित नहीं है, वह परधर्म है।

प्रश्न—'स्वधर्मः' पदके साथ 'विगुणः' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'विगुणः' पद गुणोंकी कमीका द्योतक है। क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना, दुष्टोंको दण्ड देना आदि है, उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है। इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्नश्रेणीके हैं। इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना अनुष्ठानकी कमी है। उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी और अनुष्ठानकी कमी रहनेपर भी वह परधर्मकी अपेक्षा कल्याणप्रद है, यही भाव दिखलानेके लिये 'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि यदि स्वधर्म-पालनमें किसी तरहकी आपत्ति न आवे और जीवनभर मनुष्य उसका पालन कर ले तो उसे अपने भावानुसार स्वर्गकी या मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, इसमें तो कहना ही क्या है; किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर वह अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है। इतिहासों और पुराणोंमें ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं, जिनमें स्वधर्मपालनके लिये मरनेवालोंका एवं मरणपर्यन्त कष्ट स्वीकार करनेवालोंका कल्याण होनेकी बात कही गयी है।

राजा दिलीपने क्षात्रधर्मका पालन करते हुए एक गौके बदले अपना शरीर सिंहको समर्पित करके अभीष्ट प्राप्त किया; राजा शिबिने शरणागतरक्षारूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये एक कबूतरके बदलेमें अपने शरीरका मांस बाजको देकर मरना स्वीकार किया और उससे उनके अभीष्टकी सिद्धि हुई; प्रह्लादने भगवद्भक्तिरूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये अनेकों प्रकारके मृत्युके साधनोंको सहर्ष स्वीकार किया और इससे उनका परम कल्याण हो गया। इसी प्रकारके और भी बहुतसे उदाहरण मिलते हैं। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं, तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये मरण-सङ्कट उपस्थित होनेपर भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युको वरण कर ले पर स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें उसका सब प्रकारसे कल्याण है।

प्रश्न—दूसरेका धर्म भय देनेवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया है कि दूसरेके धर्मका पालन यदि सुखपूर्वक होता हो तो भी वह भय देनेवाला है। उदाहरणार्थ—शूद्र और वैश्य यदि अपनेसे उच्च वर्णवालोंके धर्मका पालन करने लगें तो उच्च वर्णोंसे अपनी पूजा करानेके कारण और उनकी वृत्तिच्छेद करनेके दोषके कारण वे पापके भागी बन जाते हैं और फलतः उनको नरक भोगना पड़ता है, इसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय यदि अपनेसे हीन वर्णवालोंके धर्मका अवलम्बन कर लें तो उनका उस वर्णसे पतन हो जाता है एवं बिना आपत्तिकालके दूसरोंकी वृत्तिसे निर्वाह करनेपर दूसरोंकी वृत्तिच्छेदके पापका भी फल उन्हें भोगना पड़ता है। इसी तरह आश्रम-धर्म तथा अन्य सब धर्मोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। अतएव किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणके लिये परधर्मके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरेका धर्म देखनेमें चाहे कितना ही गुणसम्पन्न क्यों न हो, वह जिसका धर्म है, उसीके लिये है; दूसरेके लिये तो वह भय देनेवाला ही है, कल्याणकारक नहीं।*

सम्बन्ध—मनुष्यका स्वधर्म पालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्धकर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं—इस बातके जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है॥ ३६॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्ने पहले यह बात कही थी कि यत्न करनेवाले बुद्धिमान् मनुष्यके मनको भी इन्द्रियाँ बलात्कारसे विचलित कर देती हैं (२। ६०)। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि बुद्धिमान्, विवेकशील मनुष्य प्रत्यक्षमें और अनुमानसे पापोंका बुरा परिणाम देखकर विचारद्वारा उनमें प्रवृत्त होना ठीक नहीं समझता, अतः वह इच्छापूर्वक पापकर्म नहीं करता; तथापि बलात्कारसे उसके द्वारा रोगीसे कुपथ्य-सेवनकी भाँति पाप-कर्म बन जाते हैं। इसलिये उपर्युक्त प्रश्नके द्वारा अर्जुन भगवान्से इस बातका निर्णय कराना चाहते हैं कि इस मनुष्यको बलात्कारसे पापोंमें लगानेवाला कौन है! क्या स्वयं परमेश्वर ही लोगोंको पापोंमें नियुक्त करते हैं, जिसके कारण वे उनसे हट नहीं सकते, अथवा प्रारब्धके कारण बाध्य होकर उन्हें पाप करने पड़ते हैं, अथवा इसका कोई दूसरा ही कारण है?

* मनुस्मृतिमें भी यही बात कही है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥ (१०। ९७)

गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, परन्तु भलीभाँति पालन किया हुआ पर-धर्म श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि दूसरेके धर्मसे जीवन धारण करनेवाला मनुष्य जातिसे तुरंत ही पतित हो जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान॥ ३७॥

प्रश्न—'कामः' और 'क्रोधः'—इन दोनों पदोंके साथ-साथ दो बार 'एषः' पदके प्रयोगका क्या भाव है तथा 'रजोगुणसमुद्भवः' विशेषणका सम्बन्ध किस पदके साथ है?

उत्तर—चौंतीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी थी कि प्रत्येक इन्द्रियोंके विषयोंमें रहनेवाले राग और द्वेष ही इस मनुष्यको लूटनेवाले डाकू हैं; उन्हीं दोनोंके स्थूल रूप काम-क्रोध हैं—यह भाव दिखलानेके लिये तथा इन दोनोंमें भी 'काम' प्रधान है, क्योंकि यह रागका स्थूलरूप है और इसीसे 'क्रोध' की उत्पत्ति होती है (२। ६२)—यह दिखलानेके लिये 'कामः' और 'क्रोधः', इन दोनों पदोंके साथ 'एषः' पदका प्रयोग किया गया है। कामकी उत्पत्ति रागसे होती है, इस कारण 'रजोगुणसमुद्भवः' विशेषण 'कामः' पदसे ही सम्बन्ध रखता है।

प्रश्न—यदि 'काम' और 'क्रोध' दोनों ही मनुष्यके शत्रु हैं तो फिर भगवान्‌ने पहले दोनोंके नाम लेकर फिर अकेले कामको ही शत्रु समझनेके लिये कैसे कहा?

उत्तर—पहले बतलाया जा चुका है कि कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है। अतः कामके नाशके साथ ही उसका नाश अपने-आप ही हो जाता है। इसलिये भगवान्‌ने इस प्रकरणमें इसके बाद केवल 'काम' का ही नाम लिया है। परन्तु कोई यह न समझ ले कि पापोंका हेतु केवल काम ही है, क्रोधका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिये प्रकरणके आरम्भमें कामके साथ क्रोधको भी गिना दिया है।

प्रश्न—कामकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है या रागसे?

उत्तर—रजोगुणसे रागकी वृद्धि होती है और रागसे रजोगुणकी। अतः इन दोनोंका एक ही स्वरूप माना गया है (१४। ७)। इसलिये कामकी उत्पत्तिके दोनों ही कारण हैं।

प्रश्न—कामको 'महाशनः' यानी बहुत खानेवाला कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया है कि यह काम भोगोंको भोगते-भोगते कभी तृप्त नहीं होता। जैसे घृत और ईंधनसे अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार मनुष्य जितने ही अधिक भोग भोगता है, उतनी ही अधिक उसकी भोग-तृष्णा बढ़ती जाती है। इसलिये मनुष्यको यह कभी न समझना चाहिये कि भोगोंका प्रलोभन देकर मैं साम और दाननीतिसे कामरूप वैरीपर विजय प्राप्त कर लूँगा, इसके लिये तो दण्डनीतिका ही प्रयोग करना चाहिये।

प्रश्न—कामको 'महापाप्मा' यानी बड़ा पापी कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि सारे अनर्थोंका कारण यह काम ही है। मनुष्यको बिना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात्कारसे पापोंमें प्रवृत्त कराता है; इसलिये यह महान् पापी है।

प्रश्न—इसीको तू इस विषयमें वैरी जान, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो हमें जबरदस्ती ऐसी स्थितिमें ले जाय कि जिसका परिणाम महान् दुःख या मृत्यु हो, उसको अपना शत्रु समझना चाहिये और यथासम्भव शीघ्र-से-शीघ्र उसका नाश कर डालना चाहिये। यह 'काम' मनुष्यको उसकी इच्छाके बिना ही जबरदस्ती पापोंमें लगाकर उसे जन्म-मरणरूप और नरक-भोगरूप महान्

दुःखोंका भागी बनाता है। अतः कल्याण-मार्गमें इसीको अपना महान् शत्रु समझना चाहिये। ईश्वर तो परम दयालु और प्राणियोंके सुहृद् हैं, वे किसीको पापोंमें कैसे नियुक्त कर सकते हैं और प्रारब्ध पूर्वकृत कर्मोंके भोगका नाम है, उसमें किसीको पापोंमें प्रवृत्त करनेकी शक्ति नहीं है। अतः पापोंमें प्रवृत्त करनेवाला वैरी दूसरा कोई नहीं है, यह 'काम' ही है।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें समस्त अनर्थोंका मूल और इस मनुष्यको बिना इच्छाके पापोंमें लगानेवाला वैरी कामको बतलाया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है। अतः अब तीन श्लोकों-द्वारा यह समझाते हैं कि यह मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करके उसे अंधा बनाकर पापोंके गड्ढेमें ढकेल देता है—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है॥ ३८॥

प्रश्न—धुआँ, मल और जेर—इन तीनोंके दृष्टान्तसे कामके द्वारा ज्ञानको आवृत बतलाकर यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है। यहाँ धूएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये। जिस प्रकार धुआँ चञ्चल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चञ्चल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है। मैलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये। जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता। एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये। जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है। जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता।

यह काम ही मनुष्यके अन्तःकरणमें नाना प्रकारके भोगोंकी तृष्णा बढ़ाकर उसे विक्षिप्त बनाता है, यही मनुष्यसे नाना प्रकारके पाप करवाकर अन्तःकरणमें मलदोषकी वृद्धि करता है और यही उसकी निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यतामें सुख-बुद्धि करवाकर उसे सर्वथा विवेकशून्य बना देता है। इसीलिये यहाँ इसको तीनों प्रकारसे ज्ञानका आच्छादन करनेवाला बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'तेन' पदका अर्थ काम और 'इदम्' पदका अर्थ ज्ञान किस आधारपर किया गया है?

उत्तर—इसके पहले श्लोकमें कामको वैरी समझनेके लिये कहा है और अगले श्लोकमें भगवान्‌ने स्वयं कामसे ज्ञानको आवृत बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस श्लोकमें 'तेन' सर्वनाम 'काम' का और 'इदम्' सर्वनाम 'ज्ञान' का वाचक है। इसी आधारपर दोनों पदोंका उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'तेन' पद 'काम' का और 'इदम्' पद 'ज्ञान' का वाचक है—इस बातको स्पष्ट करते हुए उस कामको अग्निकी भाँति कभी पूर्ण न होनेवाला बतलाते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

प्रश्न—'अनलेन' और 'दुष्पूरेण' विशेषणोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'बस, और कुछ भी नहीं चाहिये' ऐसे तृप्तिके भावका वाचक 'अलम्' अव्यय है; इसका जिसमें अभाव हो, उसे 'अनल' कहते हैं। अग्निमें चाहे जितना घृत और ईंधन क्यों न डाला जाय, उसकी तृप्ति कभी नहीं होती; इसीलिये अग्निका नाम 'अनल' है। जो किसी प्रकार पूर्ण न हो, उसे 'दुष्पूर' कहते हैं। अतः यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि यह 'काम' भी अग्निकी भाँति 'अनल' और 'दुष्पूर' है। मनुष्य जैसे-जैसे विषयोंको भोगता है, वैसे-ही-वैसे अग्निकी भाँति उसका 'काम' बढ़ता रहता है, उसकी तृप्ति नहीं होती। राजा ययातिने बहुत-से भोगोंको भोगनेके बाद अन्तमें कहा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १४)

'विषयोंके उपभोगसे 'काम' कभी शान्त नहीं होता, बल्कि घृतसे अग्निकी भाँति और अधिक ही बढ़ता जाता है।'

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानिनः' पद किन ज्ञानियोंका वाचक है और कामको उनका 'नित्य वैरी' बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानिनः' पद यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है। यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है। इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है। वास्तवमें तो यह काम सभीको अधोगतिमें ले जानेवाला होनेके कारण सभीका वैरी है; परन्तु अविवेकी मनुष्य विषयोंको भोगते समय भोगोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण भ्रमसे इसे मित्रके सदृश समझते हैं और इसके तत्त्वको जाननेवाले विवेकियोंको यह प्रत्यक्ष ही हानिकर दीखता है। इसीलिये इसको अविवेकियोंका नित्य वैरी न बतलाकर ज्ञानियोंका नित्य वैरी बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'कामरूपेण' पद किस कामका वाचक है ?

उत्तर—जो काम दुर्गुणोंकी श्रेणीमें गिना जाता है, जिसका त्याग करनेके लिये गीतामें जगह-जगह कहा गया है (२ । ७१; ६ । २४), सोलहवें अध्यायमें जिसको नरकका द्वार बतलाया गया है (१६ । २१), उस सांसारिक विषय-भोगोंकी कामनारूप कामका वाचक यहाँ 'कामरूपेण' पद है। भगवान्‌से मिलनेकी, उनका भजन-ध्यान करनेकी अथवा सात्त्विक कर्मोंके अनुष्ठान करनेकी जो शुभ इच्छा है, उसका नाम काम नहीं है; वह तो मनुष्यके कल्याणमें हेतु है और इस विषय-भोगोंकी कामनारूप कामका नाश करनेवाली है, वह साधककी शत्रु कैसे हो सकती है ? इसलिये गीतामें 'काम' शब्दका अर्थ सांसारिक इष्टानिष्ट भोगोंके संयोग-वियोगकी कामना या भोग्य पदार्थ ही समझना चाहिये। इसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि चौंतीसवें श्लोकमें या अन्यत्र कहीं जो 'राग,' या 'सङ्ग' शब्द आये हैं, वे भी भगवद्विषयक अनुरागके वाचक नहीं हैं, कामोत्पादक भोगासक्तिके ही वाचक हैं।

प्रश्न—'ज्ञानम्' पद किस ज्ञानका वाचक है और इसको कामके द्वारा ढका हुआ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानम्' पद परमात्माके यथार्थ ज्ञानका वाचक है और उसको कामके द्वारा ढका हुआ बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि जैसे जेरसे आवृत रहनेपर भी बालक उस जेरको चीरकर उसके बाहर निकलनेमें समर्थ होता है और अग्नि जैसे प्रज्वलित होकर अपना आवरण करनेवाले धूएँका नाश कर देता है, उसी प्रकार जिस समय किसी संत महापुरुषके या शास्त्रोंके उपदेशसे परमात्माके तत्त्वका ज्ञान जाग्रत हो जाता है, उस समय वह कामसे आवृत होनेपर भी कामका नाश करके स्वयं प्रकाशित हो उठता है। अतः काम उसको आवृत करनेवाला होनेपर भी वस्तुतः उसकी अपेक्षा सर्वथा बलहीन ही है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कामके द्वारा ज्ञानको आवृत बतलाकर अब उसे मारनेका उपाय बतलानेके उद्देश्यसे उसके वासस्थान और उसके द्वारा जीवात्माके मोहित किये जानेका प्रकार बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं । यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

प्रश्न—'इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब इस 'काम'के वासस्थान कहे जाते हैं' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि मन,बुद्धि और इन्द्रिय मनुष्यके वशमें न रहनेके कारण उनपर यह 'काम' अपना अधिकार जमाये रखता है। अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमेंसे इस कामरूप वैरीको शीघ्र ही निकाल देना या वहीं रोककर उसे नष्ट कर देना चाहिये;नहीं तो यह घरमें घुसे हुए शत्रुकी भाँति मनुष्यजीवनरूप अमूल्य धनको नष्ट कर देगा।

प्रश्न—यह 'काम' मन,बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यह 'काम' मनुष्यके मन,बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है। इसलिये शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये।

यह बात एक कल्पित दृष्टान्तके द्वारा समझायी जाती है।

चेतनसिंह नामके एक राजा थे। उनके प्रधान मन्त्रीका नाम था ज्ञानसागर। प्रधान मन्त्रीके अधीनस्थ एक सहकारी मन्त्री था, उसका नाम था चञ्चलसिंह। राजा अपने मन्त्री और सहकारी मन्त्रीसहित अपनी राजधानी मध्यपुरीमें रहते थे। राज्य दस जिलोंमें बँटा हुआ था और प्रत्येक जिलेमें एक जिलाधीश अधिकारी नियुक्त था। राजा बहुत ही विचारशील,कर्मप्रवण और सुशील थे। उनके राज्यमें सभी सुखी थे। राज्य दिनोंदिन उन्नत हो रहा था। एक समय उनके राज्यमें जगमोहन नामक एक ठगोंका सरदार आया। वह बड़ा ही कुचक्री और जालसाज था, अंदर कपटरूप जहरसे भरा होनेपर भी उसकी बोली बहुत मीठी थी। वह जिससे बात करता, उसीको मोह लेता। वह आया एक व्यापारीके वेषमें और उसने जिलाधीशोंसे मिलकर उनसे राज्यभरमें अपना व्यापार चलानेकी अनुमति माँगी। जिलाधीशोंको काफी लालच दिया। वे लालचमें तो आ गये, परन्तु अपने अफसरोंकी अनुमति बिना कुछ कर नहीं सकते थे। जालसाज व्यापारी जगमोहनकी सलाहसे वे सब मिलकर उसे अपने अफसर सहकारी मन्त्री चञ्चलसिंहके पास ले गये;ठग व्यापारीने उसको खूब प्रलोभन दिया, फलतः चञ्चलसिंह भी जगमोहनकी मीठी-मीठी बातोंमें फँस गया। चञ्चलसिंह उसे अपने उच्च अधिकारी ज्ञानसागरके पास ले गया। ज्ञानसागर था तो बुद्धिमान्; परन्तु वह कुछ दुर्बल हृदयका था,ठीक मीमांसा करके किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता था। इसीसे वह अपने सहकारी चञ्चलसिंह और दसों जिलाधीशोंकी बातोंमें आ जाया करता था। वे इससे अनुचित लाभ भी उठाते थे। आज चञ्चलसिंह और जिलाधीशोंकी बातोंपर विश्वास करके वह भी ठग व्यापारीके जालमें फँस गया। उसने लाइसेंस देना स्वीकार कर लिया, पर कहा कि महाराजा चेतनसिंहजीकी मंजूरी बिना सारे राज्यके लिये लाइसेंस नहीं दिया जा सकता। आखिर ठग व्यापारीकी [illegible] इससे वह उसे राजाके पास ले गया। ठग बड़ा चतुर था [illegible] राजाको बड़े-बड़े प्रलोभन दिये। राजा भी [illegible] और उन्होंने [illegible] इनको अपने राज्यमें सर्वत्र [illegible] से चलने और कोठियाँ खोलनेकी अनुमति दे दी [illegible] कि जिला-अफसरों तथा दोनों मन्त्रियोंको कुछ [illegible] देता कर दिया और सारे राज्यमें [illegible] ही सर्वत्र उसका प्रभाव फैल गया, [illegible] रहने लगा। [illegible]

थे ही, राजाको भी लूटका हिस्सा देकर उसने अपने वशमें कर लिया। और छल-कौशल और मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें राजाको तथा विषयलोलुप सब अफसरोंको कुमार्गगामी बनाकर उसने सबको शक्तिहीन, अकर्मण्य और दुर्व्यसनप्रिय बना दिया और चुपके-चुपके तेजीके साथ अपना बल बढ़ाकर उसने सारे राज्यपर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार राजाका सर्वस्व लूटकर अन्तमें उन्हें पकड़कर नजरकैद कर दिया।

यह दृष्टान्त है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये। राजा चेतनसिंह 'जीवात्मा' है, प्रधान मन्त्री ज्ञानसागर 'बुद्धि' है, सहकारी मन्त्री चञ्चलसिंह 'मन' है, मध्यपुरी राजधानी 'हृदय' है। दसों जिलाधीश 'दस इन्द्रियाँ' हैं, दस जिले इन्द्रियोंके 'दस स्थान' हैं, ठगोंका सरदार जगमोहन 'काम' है। विषय-भोगोंके सुखका प्रलोभन ही सबको लालच देना है। विषय-भोगोंमें फँसाकर जीवात्माको सच्चे सुखके मार्गसे भ्रष्ट कर देना ही उसे लूटना है और उसके ज्ञानको आवृत करके सर्वथा मोहित कर देना और मनुष्यजीवनके परम लाभसे वञ्चित रहनेको बाध्य कर डालना ही नजर-कैद करना है।

अभिप्राय यह है कि यह कल्याणविरोधी दुर्जय शत्रु काम इन्द्रिय, मन और बुद्धिको विषयभोगरूप मिथ्या सुखका प्रलोभन देकर उन सबपर अपना अधिकार जमाकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा विषयसुखरूप लोभसे जीवात्माके ज्ञानको ढककर उसे मोहमय संसाररूप कैदखानेमें डाल देता है। और परमात्माकी प्राप्तिरूप वास्तविक धनसे वञ्चित करके उसके अमूल्य मनुष्यजीवनका नाश कर डालता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कामरूप वैरीके अत्याचारका और वह जहाँ छिपा रहकर अत्याचार करता है, उन वासस्थानोंका परिचय कराकर, अब भगवान् उस कामरूप वैरीको मारनेकी युक्ति बतलाते हुए उसे मार डालनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

इसलिये हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल॥ ४१॥

प्रश्न—'तस्मात्' और 'आदौ'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—'तस्मात्' पद हेतुवाचक है. इसके सहित 'आदौ' पदका प्रयोग करके इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'काम' ही समस्त अनर्थोंका मूल है और यह पहले इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा मन-बुद्धिको मोहित करके जीवात्माको मोहित करता है; इसके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ हैं; इसलिये पहले इन्द्रियोंपर अपना अधिकार करके इस कामरूप शत्रुको अवश्य मार डालना चाहिये। इसके वासस्थानोंको रोक लेनेसे ही इस कामरूप शत्रुको मारनेमें सुगमता होगी। अतएव पहले इन्द्रियोंको और फिर मनको रोकना चाहिये।

प्रश्न—इन्द्रियोंको किस उपायसे वशमें करना चाहिये?

उत्तर—अभ्यास और वैराग्य इन दो उपायोंसे इन्द्रियाँ वशमें हो सकती हैं—ये ही दो उपाय मनको वशमें करनेके लिये बतलाये गये हैं (६। ३५)। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले राजस सुखको (१८। ३८) तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादजनित तामस सुखको (१८। ३९) वास्तवमें क्षणिक, नाशवान् और दुःखरूप समझकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे विरक्त रहना वैराग्य है। और परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र आदिके श्रवण, कीर्तन, मनन आदिमें और निःस्वार्थ भावसे लोकसेवाके कार्योंमें इन्द्रियोंको लगाना एवं धारण-शक्तिके द्वारा उनकी क्रियाओंको शास्त्रके अनुकूल बनाना तथा उनमें स्वेच्छाचारिताका दोष पैदा न होने देनेकी चेष्टा करना

अभ्यास है। इन दोनों ही उपायोंसे इन्द्रियोंको और मनको वशमें किया जा सकता है।

प्रश्न—ज्ञान और विज्ञान—इन दोनों शब्दोंका यहाँ क्या अर्थ है और कामको इनका नाश करनेवाला बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदय-में जो आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकाङ्क्षाकी जागृतिसे उत्पन्न ज्ञान-विज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है। 'नाश' शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक तो अप्रकट कर देना और दूसरा वस्तुका अभाव कर देना; यहाँ अप्रकट कर देनेके अर्थमें ही 'नाश' शब्दका प्रयोग हुआ है, क्योंकि पूर्वश्लोकोंमें भी ज्ञानको कामसे आवृत (दबा हुआ) बतलाया गया है। ज्ञान और विज्ञानको समूल नष्ट करनेकी तो काममें शक्ति नहीं है, क्योंकि कामकी उत्पत्ति अज्ञानसे हुई है अतः ज्ञान-विज्ञानके एक बार प्रकट हो जानेपर तो अज्ञानका ही समूल नाश हो जाता है, फिर तो ज्ञान-विज्ञानके नाशका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया। इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रक्खा है तो ऐसी स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान् आत्माके यथार्थ स्वरूपका लक्ष्य कराते हुए आत्मबलकी स्मृति कराते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मन-से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है॥ ४२॥

प्रश्न—इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर कहते हैं, यह बात किस आधारपर मानी जा सकती है?

उत्तर—कठोपनिषद्‌में शरीरको रथ और इन्द्रियोंको घोड़े बतलाया है (१।३।३, ४); रथकी अपेक्षा घोड़े श्रेष्ठ और चेतन हैं एवं रथको अपनी इच्छानुसार ले जा सकते हैं। इसी तरह इन्द्रियाँ ही स्थूल देहको चाहे जहाँ ले जाती हैं, अतः उससे बलवान् और चेतन हैं। स्थूल शरीर देखनेमें आता है, इन्द्रियाँ देखनेमें नहीं आतीं; इसलिये वे इससे सूक्ष्म भी हैं।

इसके सिवा स्थूल शरीरकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी श्रेष्ठता, सूक्ष्मता और बलवत्ता प्रत्यक्ष भी देखनेमें आती है।

प्रश्न—कठोपनिषद् (१।३।१०-११) में कहा है कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा अर्थ पर हैं, अर्थोंकी अपेक्षा मन पर है, मनसे बुद्धि पर है, बुद्धिसे महत्तत्त्व पर है, समष्टिबुद्धिरूप महत्तत्त्वसे अव्यक्त पर है और अव्यक्तसे पुरुष पर है; इस पुरुषसे पर अर्थात् श्रेष्ठ और सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। यही सबकी अन्तिम सीमा है और यही परम गति है। परन्तु यहाँ भगवान्‌ने अर्थ, महत्तत्त्व और अव्यक्तको छोड़कर कहा है, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌ने यहाँ इस प्रकरणका वर्णन साररूपसे किया है, इसलिये उन तीनोंका नाम नहीं लिया; क्योंकि कामको मारनेके लिये अर्थ, महत्तत्त्व और अव्यक्तकी श्रेष्ठता बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं, केवल आत्माका ही महत्त्व दिखलाना है।

प्रश्न—कठोपनिषद्में इन्द्रियोंकी अपेक्षा अर्थोंको परयानी श्रेष्ठ कैसे बतलाया ?

उत्तर—वहाँ 'अर्थ' शब्दका अभिप्राय पञ्चतन्मात्राएँ हैं। तन्मात्राएँ इन्द्रियोंसे सूक्ष्म हैं, इसलिये उनको पर कहना उचित ही है।

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌ने इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनको और मनकी अपेक्षा बुद्धिको पर अर्थात् श्रेष्ठ, सूक्ष्म और बलवान् बतलाया है, किन्तु दूसरे अध्यायमें कहा है कि 'यत्न करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं' (२।६०) तथा यह भी कहा है कि 'विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे जिसके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय मनुष्यकी बुद्धिको हर लेती है' (२।६७)। इन वचनोंसे मनकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी प्रबलता सिद्ध होती है और बुद्धिकी अपेक्षा भी मनकी सहायतासे इन्द्रियोंकी प्रबलता सिद्ध होती है। इस प्रकार पूर्वापरमें विरोध-सा प्रतीत होता है, इसका समाधान करना चाहिये ?

उत्तर—कठोपनिषद्में रथके दृष्टान्तसे यह विषय भलीभाँति समझाया गया है; वहाँ कहा है कि आत्मा रथी है, बुद्धि उसका सारथी है, शरीर रथ है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और शब्दादि विषय ही मार्ग हैं।* यद्यपि वास्तवमें रथीके अधीन सारथी, सारथीके अधीन लगाम और लगामके अधीन घोड़ोंका होना ठीक ही है; तथापि जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकज्ञानसे सर्वथा शून्य है, मनरूप लगाम जिसकी नियमानुसार पकड़ी हुई नहीं है, ऐसे जीवात्मारूप रथीके इन्द्रियरूप घोड़े उच्छृङ्खल होकर उसे दुष्ट घोड़ोंकी भाँति बलात्कारसे उलटे (विषय) मार्गमें ले जाकर गड्ढेमें डाल देते हैं।† इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक बुद्धि, मन और इन्द्रियोंपर जीवात्माका आधिपत्य नहीं होता, वह अपने सामर्थ्यको भूलकर उनके अधीन हुआ रहता है, तभीतक इन्द्रियाँ मन और बुद्धिको धोखा देकर सबको बलात्कारसे उलटे मार्गमें घसीटती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ पहले मनको विषयसुखका प्रलोभन देकर उसे अपने अनुकूल बना लेती हैं, मन और इन्द्रियाँ मिलकर बुद्धिको अपने अनुकूल बना लेते हैं और ये सब मिलकर आत्माको भी अपने अधीन कर लेते हैं; परन्तु वास्तवमें तो इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन, मनकी अपेक्षा बुद्धि और सबकी अपेक्षा आत्मा ही बलवान् है; इसलिये वहाँ (कठोपनिषद्में) कहा है कि जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकशील है, मनरूप लगाम जिसकी नियमानुसार अपने अधीन है, उसके इन्द्रियरूप घोड़े भी श्रेष्ठ घोड़ोंकी भाँति वशमें होते हैं तथा ऐसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंवाला पवित्रात्मा मनुष्य उस परमपदको पाता है, जहाँ जाकर वह वापस नहीं

---

* आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठोपनिषद् १।३।३-४)

'तू आत्माको रथी और शरीरको रथ जान तथा बुद्धिको सारथी और मनको लगाम समझ। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं और विषयोंको उनके मार्ग कहते हैं तथा शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको 'भोक्ता' कहते हैं।'

† यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
(कठोपनिषद् १।३।५,७)

'किन्तु जो बुद्धिरूप सारथी सर्वदा अविवेकी और असंयत चित्तसे युक्त होता है, उसके अधीन इन्द्रियाँ वैसे ही नहीं रहतीं, जैसे सारथीके अधीन दुष्ट घोड़े।' और जो (बुद्धिरूप सारथी) विज्ञानवान् नहीं है, जिसका मन निगृहीत नहीं है और जो सदा अपवित्र है, वह उस पदको प्राप्त नहीं कर सकता वरं वह संसारको ही प्राप्त होता है।'

लोप्ता* । गीतामें भी जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त अपने आत्माको मित्र और बिना जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंवालेको अपने शत्रुके समान बतलाया है (६ । ६)। अतः बिना जीती हुई इन्द्रियाँ वास्तवमें मन-बुद्धिकी अपेक्षा निर्बल होती हुई भी प्रबल हुई रहती हैं, इस आशयसे दूसरे अध्यायका कथन है और यहाँ उनकी वास्तविक स्थिति बतलायी गयी है । अतएव पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं है ।

प्रश्न—यहाँ 'परतः' पदका अर्थ 'अत्यन्त पर' किया गया है; इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कठोपनिषद्में जहाँ यह विषय आया है, वहाँ बुद्धिसे पर महत्तत्त्वको, उससे पर अव्यक्तको और अव्यक्तसे भी पर पुरुषको बतलाया गया है तथा यह भी कहा गया है कि यही पराकाष्ठा है—परत्वकी अन्तिम अवधि है, इससे पर कुछ भी नहीं है । † उसी श्रुतिके भावको स्पष्ट दिखलानेके लिये यहाँ 'परतः' का 'अत्यन्त पर' अर्थ किया गया है । आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ और बलवान् होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहना उचित ही है ।

प्रश्न—यहाँ 'काम' का प्रकरण चल रहा है । अगले श्लोकमें भी कामको मारनेके लिये भगवान् कहते हैं । अतः इस श्लोकमें आया हुआ 'सः' कामका वाचक मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—यहाँ कामको मारनेका प्रकरण अवश्य है, परन्तु उसे श्रेष्ठ बतलानेका प्रकरण नहीं है । उसे मारनेकी शक्ति आत्मामें मौजूद है । मनुष्य यदि अपने आत्मबलको समझ जाय तो वह बुद्धि, मन और इन्द्रियोंपर सहज ही अपना पूर्ण अधिकार स्थापन करके कामको मार सकता है, इस बातको समझानेके लिये इस श्लोककी प्रवृत्ति हुई है । यदि इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे 'काम' को अत्यन्त श्रेष्ठ माना जायगा तो उनके द्वारा कामको मारनेके लिये कहना ही असङ्गत होगा । इसके सिवा 'सः' पदका अर्थ काम मानना कठोपनिषद्के वर्णनसे भी विरुद्ध पड़ेगा । अतः यहाँ 'सः' पद कामका वाचक नहीं है, किन्तु दूसरे अध्यायमें जिसका लक्ष्य करके कहा है कि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (२ । ५९) उस परतत्त्वका अर्थात् नित्य शुद्ध-बुद्धस्वरूप परमात्माका ही वाचक है ।

सम्बन्ध—अब भगवान् पूर्वश्लोकके वर्णनानुसार आत्माको सर्वश्रेष्ठ समझकर कामरूप वैरीको मारनेके लिये आज्ञा देते हैं—

---

* यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
(कठोपनिषद् १ । ३ । ६, ८)

परन्तु जो बुद्धिरूपी सारथी विवेकशील (कुशल) तथा सदा समाहितचित्त है उसके अधीन इन्द्रियाँ वैसे ही रहती हैं, जैसे सारथीके अधीन उत्तम शिक्षित घोड़े ।'

'तथा जो विज्ञानवान् है, निगृहीत मनवाला है और सदा पवित्र रहता है, वह उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर वह उत्पन्न नहीं होता यानी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता ।'

† इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
(कठोपनिषद् १ । ३ । १०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्राएँ) पर (श्रेष्ठ) है, अर्थोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व समष्टि-बुद्धि) पर है । महत्तत्त्वसे अव्यक्त पर है और अव्यक्तसे पुरुष पर है । पुरुषसे पर और कुछ नहीं है, वही पराकाष्ठा (अन्तिम अवधि

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

प्रश्न—यहाँ बुद्धिसे पर आत्माको समझकर कामको मारनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्योंका ज्ञान अनादिकालसे अज्ञानद्वारा आवृत हो रहा है; इस कारण वे अपने आत्मस्वरूपको भूले हुए हैं, स्वयं सबसे श्रेष्ठ होते हुए भी अपनी शक्तिको भूलकर कामरूप वैरीके वशमें हो रहे हैं। लोकप्रसिद्धिसे और शास्त्रोंद्वारा सुनकर भी लोग आत्माको वास्तवमें सबसे श्रेष्ठ नहीं मानते; यदि आत्मस्वरूपको भलीभाँति समझ लें तो रागरूप कामका सहज ही नाश हो जाय। अतएव आत्मस्वरूपको समझना ही इसे मारनेका प्रधान उपाय है। इसीलिये भगवान्ने आत्माको बुद्धिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ समझकर कामको मारनेके लिये कहा है। आत्मतत्त्व बहुत ही गूढ़ है। महापुरुषोंद्वारा समझाये जानेपर कोई सूक्ष्मदर्शी मनुष्य ही इसे समझ सकता है। कठोपनिषद्में कहा है कि 'सब भूतोंके अंदर छिपा हुआ यह आत्मा उनके प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शी पुरुष ही अत्यन्त तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिद्वारा इसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं।'*

प्रश्न—यहाँ 'आत्मानम्'का अर्थ मन और 'आत्मना'का अर्थ 'बुद्धि' किस कारणसे किया गया है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये इकतालीसवें श्लोकमें कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्'का अर्थ 'मन' और 'आत्मना'का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

प्रश्न—बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करनेकी क्या रीति है?

उत्तर—भगवान्ने छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (६। ३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचार कर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना वैराग्य है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बार-बार नियुक्त करना अभ्यास है।

प्रश्न—जब कि आत्मा स्वयं सबसे प्रबल है तब बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारनेके लिये भगवान्ने कैसे कहा ? आत्मा स्वयं ही कामरूप महान् वैरीको मार सकता है।

उत्तर—अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परन्तु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-

---

* एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठोपनिषद् १ । ३ । १२)

चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँ-में-हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृङ्खलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अन्दर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। यदि आत्मा अपने स्वरूपको समझकर, अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको रोक ले, उन्हें मनमाना कार्य करनेकी अनुमति न दे और चोरकी तरह बसे हुए कामको निकाल बाहर करनेके लिये बलपूर्वक आज्ञा दे दे, तो न बुद्धि, मन और इन्द्रियोंकी शक्ति है कि वे कुछ कर सकें और न काममें ही सामर्थ्य है कि वह क्षणभरके लिये भी वहाँ टिक सके। सचमुच यह आश्चर्य ही है कि आत्मासे ही सत्ता, स्फूर्ति और शक्ति पाकर, उसीके बलसे बलवान् होकर ये सब उसीको दबाये हुए हैं और मनमानी कर रहे हैं। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको वशमें करे। काम इन्हींमें बसता है और ये उच्छृङ्खल हो रहे हैं। इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अक्रिय आत्माके लिये यही तरीका है। इसीलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारनेके लिये कहा गया है।

प्रश्न—कामरूप वैरीको दुर्जय बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वस्तुतः काममें कोई बल नहीं है। यह आत्माके बलसे बलवान् हुए बुद्धि, मन और इन्द्रियोंमें रहनेके लिये जगह पा जानेके कारण ही उनके बलसे बलवान् हो गया है तथा जबतक बुद्धि, मन और इन्द्रिय अपने वशमें नहीं हो जाते, तबतक उनके द्वारा आत्माका बल कामको प्राप्त होता रहता है। इसीलिये काम अत्यन्त प्रबल माना जाता है और इसीलिये उसे 'दुर्जय' कहा गया है; परन्तु कामका यह दुर्जयत्व तभीतक है जबतक आत्मा अपने स्वरूपको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियको अपने वशमें न कर ले।

प्रश्न—यहाँ 'महाबाहो' सम्बोधन किस अभिप्रायसे दिया गया है ?

उत्तर—'महाबाहु' शब्द बड़ी भुजावाले बलवान्का वाचक है और यह शौर्यसूचक शब्द है। भगवान् श्रीकृष्ण कामको 'दुर्जय' बतलाकर उसे मारनेकी आज्ञा देते हुए अर्जुनको 'महाबाहो' नामसे सम्बोधित कर आत्माके अनन्त बलकी याद दिला रहे हैं और साथ ही यह भी सूचित कर रहे हैं कि 'समस्त अनन्ताचिन्त्य-दिव्यशक्तियोंका अनन्त भाण्डार मैं,—जिसकी शक्तिका क्षुद्र-सा अंश पाकर देवता और लोकपाल समस्त विश्वका सञ्चालन करते हैं और जिसकी शक्तिके करोड़वें कलांश-भागको पाकर जीव अनन्त शक्तिवाला बन सकता है—वह स्वयं मैं जब तुम्हें कामको मारनेमें समर्थ शक्तिसम्पन्न मानकर आज्ञा दे रहा हूँ, तब काम कितना ही दुर्जय और दुर्धर्ष वैरी क्यों न हो, तुम बड़ी आसानीसे उसे मारकर उसपर विजय प्राप्त कर सकते हो।' इसी अभिप्रायसे यह सम्बोधन दिया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



श्रीपरमात्मने नमः

चतुर्थोऽध्यायः

अध्यायका नाम

यहाँ 'ज्ञान' शब्द परमार्थ-ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञानका, 'कर्म' शब्द कर्मयोग अर्थात् योगमार्गका और 'संन्यास' शब्द सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानमार्गका वाचक है; विवेकज्ञान और शास्त्रज्ञान भी 'ज्ञान' शब्दके अन्तर्गत हैं। इस चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने अपने अवतरित होनेके रहस्य और तत्त्वके सहित कर्मयोग तथा संन्यास-योगका और इन सबके फलस्वरूप जो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान है, उसका वर्णन किया है; इसलिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर तीसरेमें उसकी प्रशंसा की गयी है। चौथेमें अर्जुनने भगवान्‌से जन्मविषयक प्रश्न किया है, इसपर भगवान्‌ने पाँचवेंमें अपने और अर्जुनके बहुत जन्म होनेकी बात और उन सबको मैं जानता हूँ तू नहीं जानता यह बात कहकर छठे, सातवें और आठवेंमें अपने अवतारके तत्त्व, रहस्य, समय और निमित्तोंका वर्णन किया है। नवें और दसवेंमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका और भगवान्‌के आश्रित होनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। ग्यारहवेंमें भगवान्‌ने अपना भजन करनेवालेको उसी प्रकार भजनेकी बात कही है। बारहवेंमें अन्य देवताओंकी उपासनाका लौकिक फल शीघ्र प्राप्त होनेका वर्णन किया है। तेरहवें और चौदहवेंमें भगवान्‌ने अपनेको समस्त जगत्‌का कर्ता होते हुए भी अकर्ता समझनेके लिये कहकर अपने कर्मोंकी दिव्यता और उसके जाननेका फल कर्मोंसे न बँधना बतलाते हुए पंद्रहवेंमें भूतकालीन मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर अर्जुनको निष्कामभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है। सोलहवेंसे अठारहवेंतक कर्मोंका रहस्य बतलानेकी प्रतिज्ञा करके कर्मोंके तत्त्वको दुर्विज्ञेय और उसे जानना आवश्यक बतलाकर कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवालेकी प्रशंसा की है और उन्नीसवेंसे तेईसवेंतक कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म दर्शन करनेवाले महापुरुषोंके और साधकोंके भिन्न-भिन्न लक्षण और आचरणोंका वर्णन करते हुए उनकी प्रशंसा की है। चौबीसवेंसे तीसवेंतक ब्रह्मयज्ञ, दैवयज्ञ और अभेददर्शनरूप यज्ञ आदि यज्ञोंका वर्णन करके सभी यज्ञकर्ताओंको यज्ञवेत्ता और निष्पाप बतलाया है तथा इकतीसवेंमें उन यज्ञोंसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवालेको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति होनेकी और यज्ञ न करनेवालेके लिये दोनों लोकोंमें सुख न होनेकी बात कही गयी है। बत्तीसवेंमें उपर्युक्त प्रकारके सभी यज्ञोंको क्रियाद्वारा सम्पादित होनेयोग्य बतलाकर तैंतीसवेंमें द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान-उत्तम बतलाया है। चौंतीसवें और पैंतीसवेंमें अर्जुनको ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर तत्त्वज्ञान सीखनेकी बात तत्त्वज्ञानकी प्रशंसा की है। छत्तीसवेंमें ज्ञाननौकाद्वारा पापसमुद्रसे पार होना बतलाया है। सैंतीसवेंमें ज्ञानको अग्निकी भाँति कर्मोंको भस्म करनेवाला बतलाकर, अड़तीसवेंमें ज्ञानकी महान् पवित्रताका वर्णन करते हुए शुद्धान्तःकरण कर्मयोगीको अपने-आप तत्त्वज्ञानके मिलनेकी बात कही है। उन्‌चालीसवेंमें श्रद्धादि गुणोंसे युक्त पुरुषको ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी और ज्ञानका फल परम शान्ति बतलाकर चालीसवेंमें अज्ञ और अश्रद्धालु संशयात्मा पुरुषकी निन्दा करते हुए इकतालीसवेंमें संशयरहित कर्मयोगीके कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी बात कही है और बयालीसवेंमें अर्जुनको ज्ञानखड्गद्वारा अज्ञानजनित संशयका सर्वथा नाश करके कर्मयोगमें डटे रहनेके लिये आज्ञा देते हुए युद्ध करनेकी प्रेरणा करके इस अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे लेकर उन्तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद इकतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक

उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर सैंतीसवेंसे अध्यायसमाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परन्तु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

प्रश्न—यहाँ 'इमम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद किस योगका वाचक है—कर्मयोगका या सांख्ययोगका?

उत्तर—दूसरे अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया। इसके बाद तीसरे अध्यायमें अर्जुनके पूछनेपर कर्म करनेकी आवश्यकतामें बहुत-सी युक्तियाँ बतलाकर तीसवें श्लोकमें उन्हें भक्तिसहित कर्मयोगके अनुसार युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी और इस कर्मयोगमें मनको वशमें करना बहुत आवश्यक समझकर अध्यायके अन्तमें भी बुद्धिद्वारा मनको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा।

इससे मालूम होता है कि तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायः कर्मयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित प्रतिपादन किया गया है और 'इमम्' पद जिसका प्रकरण चल रहा हो, उसीका वाचक होना चाहिये। अतएव यह समझना चाहिये कि यहाँ 'इमम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद 'कर्मयोग' का ही वाचक है।

इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सब गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं तथा आगे इस अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भूतकालीन मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर भी भगवान्ने अर्जुनको कर्म करनेके लिये आज्ञा दी है, इससे भी यहाँ 'इमम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके अन्तमें भगवान्ने 'आत्मानम् आत्मना संस्तभ्य'—आत्माके द्वारा आत्माको निरुद्ध करके—इस कथनसे मानो समाधिस्थ होनेके लिये कहा है और 'युज समाधौ' के अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ भी समाधि होता ही है; अतः यहाँ योगका अर्थ मन-इन्द्रियोंका संयम करके समाधिस्थ हो जाना मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—वहाँ भगवान्ने आत्माके द्वारा आत्माको निरुद्ध करके अर्थात् बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामरूप दुर्जय शत्रुका नाश करनेके लिये आज्ञा दी है। कर्मयोगमें निष्काम भाव ही मुख्य है, वह कामका नाश करनेसे ही सिद्ध हो सकता है तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें करना कर्मयोगीके लिये परमावश्यक माना गया है (२। ६४)। अतएव बुद्धिके द्वारा मन इन्द्रियोंको वशमें करना और कामको मारना—ये सब कर्मयोगके ही अङ्ग हैं और उपर्युक्त प्रथम प्रश्नके उत्तरके अनुसार वहाँ भगवान्का कहना कर्मयोगका साधन करनेके लिये ही है, इसलिये यहाँ योगका अर्थ हठयोग या समाधियोग न मानकर कर्मयोग ही मानना चाहिये।

प्रश्न—इस योगको मैंने सूर्यसे कहा था, सूर्यने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा—यहाँ इस बातके कहनेका क्या उद्देश्य है?

उत्तर—मालूम होता है कि इस योगकी परम्परा बतलानेके लिये एवं यह योग सबसे प्रथम इस लोकमें क्षत्रियोंको प्राप्त हुआ था —यह दिखलाने तथा कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये ही भगवान्‌ने ऐसा कहा है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

हे परन्तप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किन्तु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया ॥ २ ॥

प्रश्न—इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि एक दूसरेसे शिक्षा पाकर कई पीढ़ियोंतक श्रेष्ठ राजालोग इस कर्मयोगका आचरण करते रहे; उस समय इसका रहस्य समझनेमें बहुत ही सुगमता थी, परन्तु अब वह बात नहीं रही।

प्रश्न—'राजर्षि' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो राजा भी हो और ऋषि भी हो अर्थात् जो राजा होकर वेदग्रन्थोंके अर्थका तत्त्व जाननेवाला हो, उसे 'राजर्षि' कहते हैं।

प्रश्न—इस योगको राजर्षियोंने जाना, इस कथनका क्या यह अभिप्राय है कि दूसरोंने उसे नहीं जाना ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसमें दूसरोंके जाननेका निषेध नहीं किया गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि कर्मयोगका तत्त्व समझनेमें राजर्षियोंकी प्रधानता मानी गयी है; इसीसे इतिहासोंमें यह बात मिलती है कि दूसरे लोग भी कर्मयोगका तत्त्व राजर्षियोंसे सीखा करते थे। अतएव यहाँ भगवान्‌के कहनेका यही अभिप्राय मालूम होता है कि राजालोग पहलेहीसे इस कर्मयोगका अनुष्ठान करते आये हैं और तुम भी राजवंशमें उत्पन्न हो, इसलिये तुम्हारा भी इसीमें अधिकार है और यही तुम्हारे लिये सुगम भी होगा।

प्रश्न—बहुत कालसे वह योग इस लोकमें प्रायः नष्ट हो गया, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जबतक वह परम्परा चलती रही तबतक तो कर्मयोगका इस पृथ्वीलोकमें प्रचार रहा। उसके बाद ज्यों-ज्यों लोगोंमें भोगोंकी आसक्ति बढ़ने लगी त्यों-ही-त्यों कर्मयोगके अधिकारियोंकी संख्या घटती गयी; इस प्रकार ह्रास होते-होते अन्तमें कर्मयोगकी वह कल्याणमयी परम्परा नष्ट हो गयी; इसलिये उसके तत्त्वको समझनेवाले और धारण करनेवाले लोगोंका इस लोकमें बहुत काल पहलेसे ही प्रायः अभाव-सा हो गया है।

प्रश्न—पहले श्लोकमें तो 'योगम्' के साथ 'अव्ययम्' विशेषण देकर इस योगको अविनाशी बतलाया और यहाँ कहते हैं कि वह नष्ट हो गया; इस परस्परविरोधी कथनका क्या अर्थ है ? यदि वह अविनाशी है, तो उसका नाश नहीं होना चाहिये और यदि नाश होता है, तो वह अविनाशी कैसे ?

उत्तर—परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परन्तु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है, यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है, क्योंकि सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता; सृष्टिके आदिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार

भगवान्‌से इसका प्रादुर्भाव होता है; फिर बीचमें विभिन्न कारणोंसे कभी उसका अप्रकाश होता है तथा कभी प्रकाश और विकास। यों होते-होते प्रलयके समय वह अखिल जगत्‌के सहित भगवान्‌में ही विलीन हो जाता है। इसीको नष्ट या अदृश्य होना कहते हैं; वास्तवमें वह अविनाशी है, अतएव उसका कभी अभाव नहीं होता।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है॥ ३॥

प्रश्न—तू मेरा भक्त और सखा है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे चिरकालके अनुगत भक्त और प्रिय सखा हो; अतएव तुम्हारे सामने अत्यन्त रहस्यकी बात भी प्रकट कर दी जाती है, हरेक मनुष्यके सामने रहस्यकी बात प्रकट नहीं की जाती।

प्रश्न—वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यमें 'सः एव' और 'पुरातनः'—इन पदोंके प्रयोगसे इस योगकी अनादिता सिद्ध की गयी है; 'ते' पदसे अर्जुनके अधिकारका निरूपण किया गया है और 'अद्य' पदसे इस योगके उपदेशका अवसर बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस योगको मैंने पहले सूर्यसे कहा था और जिसकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है, उसी पुरातन योगको आज इस युद्धक्षेत्रमें तुम्हें अत्यन्त व्याकुल और शरणागत जानकर शोककी निवृत्तिपूर्वक कल्याणकी प्राप्ति करानेके लिये मैंने तुमसे कहा है। शरणागतिके साथ अन्तस्तलकी व्याकुलताभरी जिज्ञासा ही एक ऐसी साधना है जो मनुष्यको परम अधिकारी बना देती है। तुमने आज अपने इस अधिकारको सचमुच सिद्ध कर दिया (२। ७); ऐसा पहले कभी नहीं किया था। इसीसे मैंने इस समय तुम्हारे सामने यह रहस्य खोला है।

प्रश्न—यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्द-स्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उत्तम और बहुत ही गोपनीय है; इसके सिवा इसका यह भाव भी है कि अपनेको सूर्यादिके प्रति इस योगका उपदेश करनेवाला बतलाकर और वही योग मैंने तुझसे कहा है, तू मेरा भक्त है—यह कहकर मैंने जो अपना ईश्वरभाव प्रकट किया है, यह बड़ी रहस्यकी बात है। अतः अनधिकारीके सामने यह कदापि प्रकट नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनसे मनुष्यको स्वाभाविक ही यह शङ्का हो सकती है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो अभी द्वापर-युगमें प्रकट हुए हैं और सूर्यदेव, मनु एवं इक्ष्वाकु बहुत पहले हो चुके हैं; तब इन्होंने इस योगका उपदेश सूर्यके प्रति कैसे दिया? अतएव इसके समाधानके साथ ही भगवान्‌के अवतार-तत्त्वको भली प्रकार समझनेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था?

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यद्यपि अर्जुन इस बातको पहलेहीसे जानते थे कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं बल्कि दिव्य मानव-रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं, क्योंकि उन्होंने राजसूय यज्ञके समय भीष्मजीसे भगवान्की महिमा सुनी थी (महा० सभा० ३८ । २३, २९) और अन्य ऋषियोंसे भी इस विषयकी बहुत बातें सुन रक्खी थीं । इसीसे वनमें उन्होंने स्वयं भगवान्से उनके महत्त्वकी चर्चा की थी (महा० वन०१२ । ११—४३) । इसके सिवा शिशुपाल आदिके वध करनेमें और अन्यान्य घटनाओंमें भगवान्का अद्भुत प्रभाव भी उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था । तथापि भगवान्के मुखसे उनके अवतारका रहस्य सुननेकी और सर्व-साधारणके मनमें होनेवाली शङ्काओंको दूर करानेकी इच्छासे यहाँ अर्जुनका प्रश्न है । अर्जुनके पूछनेका भाव यह है कि आपका जन्म हालमें कुछ ही वर्षों पूर्व श्री वसुदेवजीके घर हुआ है, इस बातको प्रायः सभी जानते हैं और सूर्यकी उत्पत्ति सृष्टिके आदिमें अदितिके गर्भसे हुई थी; ऐसी स्थितिमें इसका रहस्य समझे बिना यह असम्भव-सी बात कैसे मानी जा सकती है कि आपने यह योग सृष्टिके आदिमें सूर्यसे कहा था । जिससे सूर्यके द्वारा इसकी परम्परा चली; अतएव कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाकर कृतार्थ कीजिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर अपने अवतार-तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये अपनी सर्वज्ञता प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं । उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ ॥ ५ ॥

प्रश्न—मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है । हमलोग अनादि और नित्य हैं । मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह और वामन आदि अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ । मेरा यह वसुदेवके घरमें होनेवाला प्राकट्य अर्वाचीन होनेपर भी इसके पहले होनेवाले अपने विविध रूपोंमें मैंने असंख्य पुरुषोंको अनेक प्रकारके उपदेश दिये हैं । इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसमें तुम्हें कोई आश्चर्य और असम्भावना नहीं माननी चाहिये; इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था ।

प्रश्न—उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनमें भगवान्ने अपनी सर्वज्ञताका और जीवोंकी अल्पज्ञताका दिग्दर्शन कराया है । भाव यह है कि मैंने किन-किन कारणोंसे किन-किन रूपोंमें प्रकट होकर किस-किस समय क्या-क्या लीलाएँ की हैं, उन सबको तुम सर्वज्ञ न होनेके कारण नहीं जानते; तुम्हें मेरे और अपने पूर्व-जन्मोंकी स्मृति नहीं है, इसी कारण तुम इस प्रकार प्रश्न कर रहे हो । किन्तु मुझसे जगत्की कोई भी घटना छिपी नहीं है; भूत, वर्तमान और भविष्य सभी मेरे लिये वर्तमान हैं । मैं सभी जीवोंको और उनकी सब बातोंको भलीभाँति जानता हूँ (७ । २६), क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ; अतः जो यह कह रहा हूँ कि मैंने ही कल्पके आदिमें इस योगका उपदेश सूर्यको दिया था, इस विषयमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये ।

सम्बन्ध—भगवान्‌के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥

प्रश्न—'अजः,' 'अव्ययात्मा' और 'भूतानामीश्वरः'—इन पदोंके साथ 'अपि' और 'सन्' का प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (९।११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्‌का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (७।२५)।

प्रश्न—यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका तथा 'आत्ममायया' किसका वाचक है और इन दोनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—भगवान्‌की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते तथा सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें जिसको योगमायाके नामसे कहा है—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है। 'मूलप्रकृति' को अपने अधीन करके अपनी योगशक्तिके द्वारा ही भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

मूलप्रकृति संसारको उत्पन्न करनेवाली है, और भगवान्‌की यह योगमाया उनकी अत्यन्त प्रभावशालिनी, ऐश्वर्यमयी शक्ति है। यही इन दोनोंका भेद है।

प्रश्न—मैं अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने साधारण जीवोंसे अपने जन्मकी विलक्षणता दिखलायी है। अभिप्राय यह है कि जैसे जीव प्रकृतिके वशमें होकर अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करते हैं और सुख-दुःख भोगते हैं, उस प्रकारका मेरा जन्म नहीं है। मैं अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर स्वयं ही अपनी योगमायासे समय-समयपर दिव्य लीला करनेके लिये यथावश्यक रूप धारण किया करता हूँ; मेरा वह जन्म स्वतन्त्र और दिव्य होता है, जीवोंकी भाँति कर्मवश नहीं होता।

प्रश्न—साधारण जीवोंके जन्मने-मरनेमें और भगवान्‌के प्रकट और अन्तर्धान होनेमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—साधारण जीवोंके जन्म और मृत्यु उनके कर्मोंके

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यद्यपि अर्जुन इस बातको पहलेहीसे जानते थे कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं बल्कि दिव्य मानव-रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं, क्योंकि उन्होंने राजसूय यज्ञके समय भीष्मजीसे भगवान्‌की महिमा सुनी थी (महा० सभा० ३८ । २३, २९) और अन्य ऋषियोंसे भी इस विषयकी बहुत बातें सुन रक्खी थीं । इसीसे वनमें उन्होंने स्वयं भगवान्‌से उनके महत्त्वकी चर्चा की थी (महा० वन० १२ । ११—४३) । इसके सिवा शिशुपाल आदिके वध करनेमें और अन्यान्य घटनाओंमें भगवान्‌का अद्भुत प्रभाव भी उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था । तथापि भगवान्‌के मुखसे उनके अवतारका रहस्य सुननेकी और सर्व-साधारणके मनमें होनेवाली शङ्काओंको दूर करानेकी इच्छासे यहाँ अर्जुनका प्रश्न है । अर्जुनके पूछनेका भाव यह है कि आपका जन्म हालमें कुछ ही वर्षों पूर्व श्री वसुदेवजीके घर हुआ है, इस बातको प्रायः सभी जानते हैं और सूर्यकी उत्पत्ति सृष्टिके आदिमें अदितिके गर्भसे हुई थी; ऐसी स्थितिमें इसका रहस्य समझे बिना यह असम्भव-सी बात कैसे मानी जा सकती है कि आपने यह योग सृष्टिके आदिमें सूर्यसे कहा था । जिससे सूर्यके द्वारा इसकी परम्परा चली; अतएव कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाकर कृतार्थ कीजिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर अपने अवतार-तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये अपनी सर्वज्ञता प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं । उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ ॥ ५ ॥

प्रश्न—मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है । हमलोग अनादि और नित्य हैं । मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह और वामन आदि अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ । मेरा यह वसुदेवके घरमें होनेवाला प्राकट्य अर्वाचीन होनेपर भी इसके पहले होनेवाले अपने विविध रूपोंमें मैंने असंख्य पुरुषोंको अनेक प्रकारके उपदेश दिये हैं । इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसमें तुम्हें कोई आश्चर्य और असम्भावना नहीं माननी चाहिये; इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था ।

प्रश्न—उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनमें भगवान्‌ने अपनी सर्वज्ञताका और जीवोंकी अल्पज्ञताका दिग्दर्शन कराया है । भाव यह है कि मैंने किन-किन कारणोंसे किन-किन रूपोंमें प्रकट होकर किस-किस समय क्या-क्या लीलाएँ की हैं, उन सबको तुम सर्वज्ञ न होनेके कारण नहीं जानते; तुम्हें मेरे और अपने पूर्व-जन्मोंकी स्मृति नहीं है, इसी कारण तुम इस प्रकार प्रश्न कर रहे हो । किन्तु मुझसे जगत्‌की कोई भी घटना छिपी नहीं है; भूत, वर्तमान और भविष्य सभी मेरे लिये वर्तमान हैं । मैं सभी जीवोंको और उनकी सब बातोंको भलीभाँति जानता हूँ (७ । २६), क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ; अतः जो यह कह रहा हूँ कि मैंने ही कल्पके आदिमें इस योगका उपदेश सूर्यको दिया था, इस विषयमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये ।

सम्बन्ध—भगवान्‌के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥

प्रश्न—'अजः,' 'अव्ययात्मा' और 'भूतानामीश्वरः'—इन पदोंके साथ 'अपि' और 'सन्' का प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (९। ११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्‌का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (७। २५)।

प्रश्न—यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका तथा 'आत्ममायया' किसका वाचक है और इन दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—भगवान्‌की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते तथा सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें जिसको योगमायाके नामसे कहा है—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है। 'मूलप्रकृति'को अपने अधीन करके अपनी योगशक्तिके द्वारा ही भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

मूलप्रकृति संसारको उत्पन्न करनेवाली है, और भगवान्‌की यह योगमाया उनकी अत्यन्त प्रभावशालिनी, ऐश्वर्यमयी शक्ति है। यही इन दोनोंका भेद है।

प्रश्न—मैं अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने साधारण जीवोंसे अपने जन्मकी विलक्षणता दिखलायी है। अभिप्राय यह है कि जैसे जीव प्रकृतिके वशमें होकर अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करते हैं और सुख-दुःख भोग करते हैं, उस प्रकारका मेरा जन्म नहीं है। मैं अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर स्वयं ही अपनी योगमायासे समय-समयपर दिव्य लीला करनेके लिये यथावश्यक रूप धारण किया करता हूँ; मेरा वह जन्म स्वतन्त्र और दिव्य होता है, जीवोंकी भाँति कर्मवश नहीं होता।

प्रश्न—साधारण जीवोंके जन्मने-मरनेमें और भगवान्‌के प्रकट और अन्तर्धान होनेमें क्या अन्तर है?

उत्तर—साधारण जीवोंके जन्म और मृत्यु उनके कर्मोंके

अनुसार होते हैं, उनके इच्छानुसार नहीं होते। उनको माताके गर्भमें रहकर कष्ट भोगना पड़ता है। जन्मके समय वे माताकी योनिसे शरीरसहित निकलते हैं। उसके बाद शनैः-शनैः वृद्धिको प्राप्त होकर उस शरीरका नाश होनेपर मर जाते हैं। पुनः कर्मानुसार दूसरी योनिमें जन्म धारण करते हैं। किन्तु भगवान्‌का प्रकट और अन्तर्धान होना इससे अत्यन्त विलक्षण है और वह उनकी इच्छापर निर्भर है; वे चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट और अन्तर्धान हो सकते हैं; एक क्षणमें छोटेसे बड़े बन जाते हैं और बड़ेसे छोटे बन जाते हैं एवं इच्छानुसार रूपका परिवर्तन कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि वे प्रकृतिसे बँधे नहीं हैं, प्रकृति ही उनकी इच्छाका अनुगमन करती है। इसलिये जैसे ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने पहले विश्वरूप धारण कर लिया, फिर उसे छिपाकर वे चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो गये, उसके बाद मनुष्यरूप हो गये—इसमें जैसे एक रूपसे प्रकट होना और दूसरे रूपको छिपा लेना, जन्मना-मरना नहीं है—उसी प्रकार भगवान्‌का किसी भी रूपमें प्रकट होना और उसे छिपा लेना जन्मना-मरना नहीं है, केवल लीलामात्र है।

प्रश्न—भगवान् श्रीकृष्णका जन्म तो माता देवकीके गर्भसे साधारण मनुष्योंकी भाँति ही हुआ होगा, फिर लोगोंके जन्ममें और भगवान्‌के प्रकट होनेमें क्या भेद रहा ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। श्रीमद्भागवतका वह प्रकरण देखनेसे इस शङ्काका अपने-आप ही समाधान हो जायगा। वहाँ बतलाया गया है कि उस समय माता देवकीने अपने सम्मुख शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए चतुर्भुज दिव्य देवरूपसे प्रकट भगवान्‌को देखा और उनकी स्तुति की। फिर माता देवकीकी प्रार्थनासे भगवान्‌ने शिशुरूप धारण किया।* अतः उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति माता देवकीके गर्भसे नहीं हुआ, वे अपने-आप ही प्रकट हुए थे। जन्मधारणकी लीला करनेके लिये ऐसा भाव दिखलाया गया था मानो साधारण मनुष्योंकी भाँति भगवान् दस महीनों-तक माता देवकीके गर्भमें रहे और समयपर उनका जन्म हुआ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ ॥ ७ ॥

प्रश्न—'यदा' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—भगवान्‌के अवतारका कोई निश्चित समय नहीं होता कि अमुक युगमें, अमुक वर्षमें, अमुक महीनेमें और

*उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्। शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥
इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया। पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ३०,४७)

'हे विश्वात्मन्! शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त इस चार भुजाओंवाले अपने अलौकिक—दिव्यरूपको अब छिपा लीजिये।'

'ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि चुप हो गये और माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये।'

अमुक दिन भगवान् प्रकट होंगे; तथा यह भी नियम नहीं है कि एक युगमें कितनी बार किस रूपमें भगवान् प्रकट होंगे। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'यदा' पदका दो बार प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिके कारण जब जिस समय भगवान् अपना प्रकट होना आवश्यक समझते हैं, तभी प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न—वह धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि किस प्रकारकी होती है, जिसके होनेपर भगवान् अवतार धारण करते हैं?

उत्तर—किस प्रकारकी धर्म-हानि और पाप-वृद्धि होनेपर भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, उसका स्वरूप वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं; मनुष्य इसका पूर्ण निर्णय नहीं कर सकता। पर अनुमानसे ऐसा माना जा सकता है कि ऋषि-कल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्गुण और सदाचार-का अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है। सत्य-युगमें हिरण्यकशिपुके शासनमें जब दुर्गुण और दुराचारोंकी वृद्धि हो गयी, निरपराधी लोग सताये जाने लगे, लोगोंके ध्यान, जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, दानादि शुभ कर्म एवं उपासना बलात्कारसे बंद कर दिये गये, देवताओंको मार-पीटकर उनके स्थानोंसे निकाल दिया, प्रह्लाद-जैसे भक्तको बिना अपराध नाना प्रकारके कष्ट दिये गये, उसी समय भगवान्‌ने नृसिंह-रूप धारण किया था और भक्त प्रह्लादका उद्धार करके धर्मकी स्थापना की थी। इसी प्रकार दूसरे अवतारोंमें भी पाया जाता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ ॥ ८ ॥

प्रश्न—'साधु' शब्द यहाँ कैसे मनुष्योंका वाचक है और उनका परित्राण या उद्धार करना क्या है?

उत्तर—जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेम-पूर्वक भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है। ऐसे पुरुषोंपर जो दुष्ट-दुराचारियोंके द्वारा भीषण अत्याचार किये जाते हैं—उन अत्याचारोंसे उन्हें सर्वथा मुक्त कर देना, उनको उत्तम गति प्रदान करना, अपने दर्शन आदिसे उनके समस्त सञ्चित पापोंका समूल विनाश करके उनका परम कल्याण कर देना, अपनी दिव्य लीलाका विस्तार करके उनके श्रवण, मनन, चिन्तन और कीर्तन आदि-के द्वारा सुगमतासे लोगोंके उद्धारका मार्ग खोल देना आदि सभी बातें साधु पुरुषोंका परित्राण अर्थात् उद्धार करनेके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—यहाँ 'दुष्कृताम्' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और उनका विनाश करना क्या है?

उत्तर—जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्‌के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं; जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं, जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक हैं; भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक यहाँ 'दुष्कृताम्' पद है। ऐसे दुष्ट प्रकृतिके दुराचारी मनुष्योंकी बुरी आदत छुड़ानेके लिये या उन्हें पापों-से मुक्त करनेके लिये उनको किसी प्रकारका दण्ड देना, युद्ध-के द्वारा या अन्य किसी प्रकारसे उनका इस शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करना या करा देना आदि सभी बातें उनका विनाश करनेके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—भगवान् तो परम दयालु हैं; वे उन दुष्टोंको समझा-बुझाकर उनके स्वभावका सुधार क्यों नहीं कर देते, उनको इस प्रकारका दण्ड क्यों देते हैं?

उत्तर—उनको दण्ड देने और मार डालनेमें (आसुर शरीरसे उनका सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें) भी भगवान्‌की दया भरी है, क्योंकि उस दण्ड और मृत्युद्वारा भी भगवान् उनके पापोंका नाश ही करते हैं। भगवान्‌के दण्ड-विधानके सम्बन्धमें यह कभी न समझना चाहिये कि उससे भगवान्‌की दयालुतामें किसी प्रकारकी जरा-सी भी त्रुटि आती है। जैसे—अपने बच्चेके हाथ, पैर आदि किसी अङ्गमें फोड़ा हो जानेपर माता-पिता पहले औषधका प्रयोग करते हैं; पर जब यह मालूम हो जाता है कि अब औषधसे इसका सुधार न होगा, देर करनेसे इसका जहर दूसरे अङ्गोंमें भी फैल जायगा, तब वे तुरंत ही अन्य अङ्गोंको बचानेके लिये उस दूषित हाथ-पैर आदिका आपरेशन करवाते हैं और आवश्यकता होनेपर उसे कटवा भी देते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी दुष्टोंकी दुष्टता दूर करनेके लिये पहले उनको नीतिके अनुसार दुर्योधनको समझानेकी भाँति समझानेकी चेष्टा करते हैं, दण्डका भय भी दिखलाते हैं; पर जब इससे काम नहीं चलता, उनकी दुष्टता बढ़ती ही जाती है, तब उनको दण्ड देकर या मरवाकर उनके पापोंका फल भुगताते हैं अथवा जिनके पूर्वसञ्चित कर्म अच्छे होते हैं, किन्तु किसी विशेष निमित्तसे या कुसङ्गके कारण जो इस जन्ममें दुराचारी हो जाते हैं, उनको अपने ही हाथों मारकर भी मुक्त कर देते हैं। इन सभी क्रियाओंमें भगवान्‌की दया भरी रहती है।

प्रश्न—धर्मकी स्थापना करना क्या है?

उत्तर—स्वयं शास्त्रानुकूल आचरणकर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली अप्रतिम प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और भगवान्‌पर श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—साधुओंका परित्राण, दुष्टोंका संहार और धर्मकी स्थापना—इन तीनोंकी एक साथ आवश्यकता होनेपर ही भगवान्‌का अवतार होता है या किसी एक या दो निमित्तोंसे भी हो सकता है?

उत्तर—ऐसा नियम नहीं है कि तीनों ही कारण एक साथ उपस्थित होनेपर ही भगवान् अवतार धारण करें; किसी भी एक या दो उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये भी भगवान् अवतार धारण कर सकते हैं।

प्रश्न—भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे बिना अवतार लिये भी तो ये सब काम कर सकते हैं; फिर अवतारकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह बात सर्वथा ठीक है कि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किन्तु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंको अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं। यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता।

प्रश्न—मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मैं प्रत्येक युगमें जब-जब युगधर्मकी अपेक्षा धर्मकी हानि अधिक हो जाती है तब-तब आवश्यकता-अनुसार बार-बार प्रकट होता हूँ; एक युगमें एक बार ही होता हूँ—ऐसा कोई नियम नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अपने दिव्य जन्मोंके अवसर, हेतु और उद्देश्यका वर्णन करके अब उन जन्मोंकी और उनमें किये जानेवाले कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेका फल बतलाते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

प्रश्न—भगवान्‌का जन्म दिव्य है, इस बातको तत्त्वसे समझना क्या है ?

उत्तर—सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं। उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है, वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्‌में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं। उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है, जगत्‌का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म धारण नहीं करते, किन्तु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगशक्तिसे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना अर्थात् इसमें किञ्चिन्मात्र भी असम्भावना और विपरीत भावना न रखकर पूर्ण विश्वास करना और साकाररूपमें प्रकट भगवान्‌को साधारण मनुष्य न समझकर सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी साक्षात् सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना भगवान्‌के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है। इस अध्यायके छठे श्लोकमें यही बात समझायी गयी है। सातवें अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें और नवें अध्यायके ग्यारहवें तथा बारहवें श्लोकोंमें इस तत्त्वको न समझकर भगवान्‌को साधारण मनुष्य समझनेवालोंकी निन्दा की गयी है एवं दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इस तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌के जन्मकी दिव्यताको तत्त्वसे समझ लेता है, उसके लिये भगवान्‌का एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य-प्रेम होनेके कारण उसके द्वारा भगवान्‌का अनन्यचिन्तन होता रहता है।

प्रश्न—भगवान्‌के कर्म दिव्य हैं, इस बातको तत्त्वसे समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (३। २२-२३)। भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्‌की उन कर्मोंके फलमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (४। १३-१४)। भगवान्‌के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (४। ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है। वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (९। २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (४। ११); अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (९। २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (१०। १०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (१२। ७)। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामना-

दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और भक्ति आदिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किञ्चिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्‌के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है।

इस प्रकार जान लेनेपर उस जाननेवालेके कर्म भी शुद्ध और अलौकिक हो जाते हैं—अर्थात् फिर वह भी सबके साथ दया, समता, धर्म, नीति, विनय और निष्काम प्रेमभावका बर्ताव करता है।

प्रश्न—भगवान्‌के जन्म और कर्म दोनोंकी दिव्यताको समझ लेनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या इनमेंसे किसी एककी दिव्यताके ज्ञानसे भी हो जाती है?

उत्तर—दोनोंमेंसे किसी एककी दिव्यता जान लेनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है (४। १४; १०। ३); फिर दोनोंकी दिव्यता समझ लेनेसे हो जाती है; इसमें तो कहना ही क्या है।

प्रश्न—इस प्रकार जाननेवाला पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, मुझे ही प्राप्त होता है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—वह पुनर्जन्मको न प्राप्त होकर किस भावको प्राप्त होता है; उसकी कैसी स्थिति होती है—इस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये भगवान्‌ने यह कहा है कि वह मुझको (भगवान्‌को) ही प्राप्त होता है। और जो भगवान्‌को प्राप्त हो गया उसका पुनर्जन्म नहीं होता, यह सिद्धान्त ही है (८। १६)।

प्रश्न—यहाँ जन्म-कर्मोंकी दिव्यता जाननेवालेको शरीर-त्यागके बाद भगवान्‌की प्राप्ति होनेकी बात कही गयी; तो क्या उसे इसी जन्ममें भगवान् नहीं मिलते?

उत्तर—इस जन्ममें नहीं मिलते, ऐसी बात नहीं है। वह भगवान्‌के जन्म-कर्मोंकी दिव्यताको जिस समय पूर्णतया समझ लेता है, वस्तुतः उसी समय उसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल जाते हैं; पर मरनेके बाद उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह भगवान्‌के परम धामको चला जाता है—यह विशेष भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि वह शरीर-त्यागके बाद मुझे-ही प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के जन्म और कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझ लेनेका जो फल बतलाया गया है, वह अनादिपरम्परासे चला आ रहा है—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं॥ १०॥

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधाः' पद कैसे पुरुषोंका वाचक है और यहाँ इस विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—आसक्तिका नाम राग है; किसी प्रकारके दुःखकी सम्भावनासे जो अन्तःकरणमें घबड़ाहट होती है, उस विकारका नाम 'भय' है; और अपना अपकार करनेवालेपर तथा नीतिविरुद्ध या अपने मनके विरुद्ध बर्ताव करनेवालेपर होनेवाले उत्तेजनापूर्ण भावका नाम 'क्रोध' है; इन तीनों विकारोंका जिन पुरुषोंमें सर्वथा अभाव हो गया हो, उनका वाचक 'वीतरागभयक्रोधाः' पद है। भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मोंका तत्त्व समझ लेनेवाले मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, इसलिये भगवान्‌को छोड़कर उनकी किसी भी पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती; भगवान्‌का तत्त्व समझ लेनेसे उनको सर्वत्र भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि हो जानेके कारण वे सदाके लिये सर्वथा निर्भय हो जाते हैं; उनके साथ कोई कैसा भी बर्ताव क्यों न करे, उसे वे भगवान्‌की इच्छासे ही हुआ समझते

हैं और संसारकी समस्त घटनाओंको भगवान्‌की लीला समझते हैं—अतएव किसी भी निमित्तसे उनके अन्तःकरणमें क्रोधका विकार नहीं होता। इस प्रकार भगवान्‌के जन्म और कर्मोंका तत्त्व जाननेवाले भक्तोंमें भगवान्‌की दयासे सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव होता है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'वीतरागभयक्रोधाः' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'मन्मयाः' का क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं, उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है। इस विशेषणका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जो भगवान्‌के जन्म और कर्मोंको दिव्य समझकर भगवान्‌को पहचान लेते हैं उन ज्ञानी भक्तोंका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है; अतः वे निरन्तर भगवान्‌में तन्मय हो जाते हैं और सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते हैं।

प्रश्न—'मामुपाश्रिताः' का क्या भाव है?

उत्तर—जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, जिनका अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है। इस विशेषणका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान्‌के ज्ञानी भक्त सब प्रकारसे उनके शरणापन्न होते हैं, वे सर्वथा उन्हींपर निर्भर रहते हैं, शरणागतिके समस्त भावोंका उनमें पूर्ण विकास होता है।

प्रश्न—'ज्ञानतपसा' पदका अर्थ आत्मज्ञानरूप तप न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंका ज्ञान माननेका क्या अभिप्राय है और उस ज्ञानतपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना क्या है?

उत्तर—यहाँ सांख्ययोगका प्रसङ्ग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है। इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेनारूप ज्ञान ही माना गया है। इस ज्ञानरूप तपके प्रभावसे मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्‌के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं, तथा वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता, उसको भगवान् सदा ही प्रत्यक्ष रहते हैं—यही उन भक्तोंका ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने यह बात कही कि मेरे जन्म और कर्मोंको जो दिव्य समझ लेते हैं, उन अनन्यप्रेमी भक्तोंको मेरी प्राप्ति हो जाती है; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उनको आप किस प्रकार और किस रूपमें मिलते हैं? इसपर कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं॥ ११॥

प्रश्न—जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् [illegible] मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा [illegible] हैं, अतएव मैं भी [illegible]को उनकी भावनाके [illegible] रूपोंमें ही द[illegible]

वालोंको श्रीविष्णुरूपमें, श्रीरामरूपकी उपासना करनेवालों-को श्रीरामरूपमें, श्रीकृष्णरूपकी उपासना करनेवालोंको श्रीकृष्णरूपमें, श्रीशिवरूपकी उपासना करनेवालोंको श्रीशिवरूपमें, देवीरूपकी उपासना करनेवालोंको देवीरूपमें और निराकार सर्वव्यापी रूपकी उपासना करनेवालोंको निराकार सर्वव्यापी रूपमें मिलता हूँ; इसी प्रकार जो मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वामन आदि अन्यान्य रूपोंकी उपासना करते हैं—उनको उन-उन रूपोंमें दर्शन देकर उनका उद्धार कर देता हूँ। इसके अतिरिक्त वे जिस प्रकार जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस प्रकार और उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ। जो मेरा चिन्तन करता है उसका मैं चिन्तन करता हूँ, जो मेरे लिये व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी व्याकुल हो जाता हूँ, जो मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता मैं भी उसका वियोग नहीं सहन कर सकता। जो मुझे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है मैं भी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता हूँ। जो ग्वाल-बालों-की भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ। जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ। इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालोंके साथ पति-जैसा, हनुमान्‌की भाँति स्वामी समझकर भजने-वालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ।

प्रश्न—मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावसे एक दूसरोंके साथ यथायोग्य प्रेम और सुहृदताका बर्ताव करेंगे। अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि जगत्‌में धर्मकी स्थापना करनेके लिये ही मैंने अवतार धारण किया है (४।८)।

सम्बन्ध—यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है॥ १२॥

प्रश्न—'इह मानुषे लोके' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यज्ञादि कर्मोंद्वारा इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है, अन्य योनियोंमें नहीं—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'इह' और 'मानुषे' के सहित 'लोके' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—कर्मोंका फल चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं, क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिनकी सांसारिक भोगोंमें आसक्ति है; जो अपने किये हुए कर्मोंका फल स्त्री, पुत्र, धन, मकान या मान-बड़ाईके रूपमें प्राप्त करना चाहते हैं—उनका विवेक-ज्ञान नाना प्रकारकी भोग-वासनाओंसे ढका रहनेके कारण वे मेरी उपासना न करके, कामना-पूर्तिके लिये इन्द्रादि देवताओंकी ही उपासना किया करते हैं (७।२०,२१,२२; ९।२३,२४); क्योंकि उन देवताओंका पूजन करनेवालोंको उनके कर्मोंका फल तुरंत मिल जाता है। देवताओंका यह स्वभाव है कि वे

प्रायः इस बातको नहीं सोचते कि उपासकको अमुक वस्तु देनेमें उसका वास्तविक हित है या नहीं; वे देखते हैं कर्मानुष्ठानकी विधिवत् पूर्णता। साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान सिद्ध होनेपर वे उसका फल, जो उनके अधिकारमें होता है और जो उस कर्मानुष्ठानके फलरूपमें विहित है, दे ही देते हैं। किन्तु मैं ऐसा नहीं करता, मैं अपने भक्तोंका वास्तविक हित-अहित सोचकर उनकी भक्तिके फलकी व्यवस्था करता हूँ। मेरे भक्त यदि सकामभावसे भी मेरा भजन करते हैं तो भी मैं उनकी उसी कामनाको पूर्ण करता हूँ जिसकी पूर्तिसे उनका विषयोंसे वैराग्य होकर मुझमें प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतएव सांसारिक मनुष्योंको मेरी भक्तिका फल शीघ्र मिलता हुआ नहीं दीखता; और इसीलिये वे मन्दबुद्धि मनुष्य कर्मोंका फल शीघ्र प्राप्त करनेकी इच्छासे अन्य देवताओंका ही पूजन किया करते हैं।

सम्बन्ध—नवें श्लोकमें भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मोंको तत्त्वसे जाननेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया। उसके पूर्व भगवान्‌के जन्मकी दिव्यताका विषय तो भलीभाँति समझाया गया, किन्तु भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका विषय स्पष्ट नहीं हुआ; इसलिये अब भगवान् दो श्लोकोंमें अपने सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें कर्तापन, विषमता और स्पृहाका अभाव दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका विषय समझाते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान॥ १३॥

प्रश्न—गुणकर्म क्या है और उसके विभागपूर्वक भगवान्‌द्वारा चारों वर्णोंके समूहकी रचना की गयी है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अनादि कालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है। भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है उन्हें ब्राह्मण बनाते हैं, जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी अधिकता होती है उन्हें क्षत्रिय, जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रिततमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं। इस प्रकार रचे हुए वर्णोंके लिये उनके स्वभावके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवान् ही कर देते हैं—अर्थात् ब्राह्मण शम-दमादि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रियमें शौर्य-तेज आदि हों, वैश्य कृषि-गोरक्षामें लगें और शूद्र सेवापरायण हों ऐसा कहा गया है (१८। ४१—४४)। इस प्रकार गुणकर्मविभागपूर्वक भगवान्‌के द्वारा चतुर्वर्णकी रचना होती है। यही व्यवस्था जगत्‌में बराबर चलती है। जबतक वर्णशुद्धि बनी रहती है, एक ही वर्णके स्त्री-पुरुषोंके संयोगसे सन्तान उत्पन्न होती है, विभिन्न वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंके संयोगसे वर्णमें सङ्करता नहीं आती, तबतक इस व्यवस्थामें कोई गड़बड़ी नहीं होती। गड़बड़ी होनेपर भी वर्णव्यवस्था न्यूनाधिकरूपमें रहती ही है।

यहाँ कर्म और उपासनाका प्रकरण है। उसमें केवल मनुष्योंका ही अधिकार है इसीलिये यहाँ मनुष्योंको उपलक्षण बनाकर कहा गया है। अतएव यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं। इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किञ्चिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरेद्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक की गयी है।

प्रश्न—ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ?

उत्तर—यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है परन्तु प्रधानता जन्मकी है इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी ही है। यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें सङ्करता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्राय:सङ्करता नहीं आती। परन्तु सङ्गदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है। तथापि कर्म-शुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अत: जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये तो जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका पालन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पाप-का भागी होता है।

प्रश्न—इस समय जब कि वर्णव्यवस्था नष्ट हो गयी है, तब जन्मसे वर्ण न मानकर मनुष्योंके आचरणोंके अनुसार ही उनके वर्ण मान लिये जायँ तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि प्रथम तो वर्णव्यवस्थामें कुछ शिथिलता आनेपर भी वह नष्ट नहीं हुई है, दूसरे जीवोंका कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर ही उनके पूर्व-कर्मानुसार उन्हें विभिन्न वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। ईश्वरके विधानको बदलनेका मनुष्यमें अधिकार नहीं है। तीसरे आचरण देखकर वर्णकी कल्पना करना भी असम्भव ही है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न बालकोंके आचरणोंमें बड़ी विभिन्नता देखी जाती है, एक ही मनुष्य दिनभरमें कभी ब्राह्मणका-सा तो कभी शूद्रका-सा कर्म करता है, ऐसी अवस्थामें वर्णका निश्चय कैसे हो सकेगा ? फिर ऐसा होनेपर नीचा कौन बनना चाहेगा ? खान-पान और विवाहादिमें अड़चनें पैदा होंगी, फलत: वर्णविप्लव हो जायगा और वर्ण-व्यवस्थाकी स्थितिमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जायगी। अतएव केवल कर्मसे वर्ण नहीं मानना चाहिये।

प्रश्न—चौदहवें अध्यायमें भगवान्ने सत्त्वगुणमें स्थित या सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको देवलोककी, राजस-स्वभाव या रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको मनुष्ययोनिकी एवं तमोगुणी स्वभाववालों या तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेवालों-को तिर्यक्-योनिकी प्राप्ति बतलायी है; अत: यहाँ सत्त्वप्रधान-को ब्राह्मण, रज:प्रधानको क्षत्रिय आदि—इस प्रकार विभाग मान लेनेसे उस कथनके साथ विरोध आता है ?

उत्तर—वास्तवमें कोई विरोध नहीं है। राजस-स्वभाव-वालों और रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है यह सत्य है। इससे मनुष्ययोनिकी रजोगुण-प्रधानता सूचित होती है परन्तु रजोगुणप्रधान मनुष्ययोनिमें सभी मनुष्य समान गुणवाले नहीं होते। उनमें गुणोंके अवान्तर भेद होते ही हैं और उसीके अनुसार जो सत्त्वगुण-प्रधान होता है उसका ब्राह्मणवर्णमें, सत्त्वमिश्रित रज:प्रधान-का क्षत्रियवर्णमें, तमोमिश्रित रज:प्रधानका वैश्यवर्णमें, रजो-मिश्रित तम:प्रधानका शूद्रवर्णमें और सत्त्व-रजके विकाससे रहित केवल तम:प्रधानका उससे भी निम्नकोटिकी योनियों-में जन्म होता है।

प्रश्न—नवें अध्यायके दसवें श्लोकमें तो भगवान्ने अपनी प्रकृतिको समस्त जगत्की रचनेवाली बतलाया है और यहाँ स्वयं अपनेको सृष्टिका रचयिता बतलाते हैं—इसमें जो विरोध प्रतीत होता है, उसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इसमें कोई विरोध नहीं है। उस श्लोकमें भी केवल प्रकृतिको जगत्की रचना करनेवाली नहीं बतलाया है, अपितु भगवान्की अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्की रचना करती है—ऐसा कहा गया है। क्योंकि प्रकृति जड़ होनेके कारण उसमें भगवान्की सहायताके बिना गुणकर्मोंका विभाग करने और सृष्टिके रचनेका सामर्थ्य ही नहीं है। अतएव गीतामें जहाँ प्रकृतिको रचनेवाली बतलाया है, वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि भगवान्के सकाशसे उनकी अध्यक्षतामें ही प्रकृति जगत्की रचना करती है। और जहाँ भगवान्को

सृष्टिका रचयिता बतलाया गया है, वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि भगवान् स्वयं नहीं रचते, अपनी प्रकृतिके द्वारा ही वे रचना करते हैं।

प्रश्न—जगत्‌के रचनादि कर्मोंका कर्ता होनेपर भी 'तू मुझे अकर्ता ही जान' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्तापन नहीं होता। वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है। इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (९। ९-१०)—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने यह बात कही है। जब फलासक्ति और कर्तापनसे रहित होकर कर्म करनेवाले ज्ञानी भी कर्मोंके कर्ता नहीं समझे जाते और उन कर्मोंके फलसे उनका सम्बन्ध नहीं होता, तब फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है; उनके कर्म तो सर्वथा अलौकिक ही होते हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ॥ १४ ॥

प्रश्न—कर्मोंसे लिप्त होना क्या है ? तथा कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस कथनसे भगवान्‌ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—कर्म करनेवाले मनुष्यमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कार रहनेके कारण उसके द्वारा किये हुए कर्म संस्काररूपसे उसके अन्तःकरणमें सञ्चित हो जाते हैं तथा उनके अनुसार उसे पुनर्जन्मकी और सुख-दुःखोंकी प्राप्ति होती है—यही उसका उन कर्मोंसे लिप्त होना है। यहाँ भगवान् उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाते हैं कि कर्मोंके फलरूप किसी भी भोगमें मेरी जरा भी स्पृहा नहीं है—अर्थात् मुझे किसी भी वस्तुकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है (३। २२)। मेरेद्वारा जो कुछ भी कर्म होते हैं—सब ममता, आसक्ति, फलेच्छा और कर्तापनके बिना केवल लोकहितार्थ ही होते हैं (४। ८); मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण मेरे समस्त कर्म दिव्य हैं और इसीलिये वे मुझे लिप्त नहीं करते अर्थात् बन्धनमें नहीं डालते।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को तत्त्वसे जानना क्या है और इस प्रकारसे जाननेवाला मनुष्य कर्मोंसे क्यों नहीं बँधता ?

उत्तर—उपर्युक्त वर्णनके अनुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; उनके कर्मोंमें विषमता लेशमात्र भी नहीं है; कर्मफलमें उनकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्मबन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है। और इस प्रकार भगवान्‌के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्‌की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता। अतएव यह समझना चाहिये कि जिन मनुष्योंकी कर्मोंमें और उनके फलोंमें कामना, ममता तथा आसक्ति है, वे वस्तुतः भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताको जानते ही नहीं।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यता और उनका तत्त्व जाननेका महत्त्व बतलाकर, अब मुमुक्षु पुरुषोंके उदाहरणपूर्वक उसी प्रकार निष्कामभावसे कर्म करनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥

प्रश्न—'मुमुक्षु' किसको कहते हैं तथा पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर इस श्लोकमें क्या बात समझायी गयी है?

उत्तर—जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दु:खमय और क्षणभङ्गुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्‌ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेमात्रसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है। अतएव तुम भी यदि कर्मबन्धनसे मुक्त होना चाहते हो तो तुम्हें भी पूर्वज मुमुक्षुओंकी भाँति निष्कामभावसे स्वधर्मरूप कर्तव्य-कर्मका पालन करना ही उचित है, उसका त्याग करना उचित नहीं।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनको भगवान्‌ने निष्कामभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। किन्तु कर्म-अकर्मका तत्त्व समझे विना मनुष्य निष्कामभावसे कर्म नहीं कर सकता; इसलिये अब भगवान् ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारके बिना किये जानेवाले दिव्य कर्मोंका तत्त्व भलीभाँति समझानेके लिये कर्मतत्त्वकी दुर्विज्ञेयता और उसके जाननेका महत्त्व प्रकट करते हुए उसे कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—*

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कवयः' पद किन पुरुषोंका वाचक है और उनका कर्म-अकर्मके निर्णयमें मोहित हो जाना क्या है? तथा इस वाक्यमें 'अपि' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'कवयः' पद शास्त्रोंके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंका वाचक है। शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओंसे कर्मका तत्त्व समझाया गया है, उसे देख-सुनकर भी बुद्धिका इस प्रकार ठीक-ठीक निर्णय न कर पाना कि अमुक भावसे की हुई अमुक क्रिया अथवा क्रियाका त्याग तो कर्म है तथा अमुक भावसे की हुई अमुक क्रिया या उसका त्याग अकर्म है—यही उनका कर्म-अकर्मके निर्णयमें मोहित हो जाना है। इस वाक्यमें 'अपि' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जब बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी इस विषयमें मोहित हो जाते हैं—ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते, तब साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? अतः कर्मोंका तत्त्व बड़ा ही दुर्विज्ञेय है।

प्रश्न—यहाँ जिस कर्मतत्त्वका वर्णन करनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ किया गया है? उसको तत्त्वसे जानना क्या है? और उसे जानकर कर्म-बन्धनसे मुक्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर—उपर्युक्त कर्मतत्त्वका वर्णन इस अध्यायमें अठारहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक किया गया है; उस वर्णनसे इस बातको ठीक-ठीक समझ लेना कि किस भावसे किया हुआ कौन-सा कर्म या कर्मका त्याग मनुष्यके पुनर्जन्म-रूप बन्धनका हेतु बनता है और किस भावसे किया हुआ कौन-सा कर्म या कर्मका त्याग मनुष्यके पुनर्जन्मरूप बन्धन-का हेतु न बनकर मुक्तिका हेतु बनता है—यही उसे तत्त्वसे

जानना है । इस तत्त्वको समझ लेनेवाले मनुष्यद्वारा कोई भी ऐसा कर्म या कर्मका त्याग नहीं किया जा सकता जो कि बन्धनका हेतु बन सके; उसके सभी कर्तव्य-कर्म ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके बिना केवल भगवदर्थ या लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं । इस कारण उपर्युक्त कर्मतत्त्वको जानकर मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

सम्बन्ध—यहाँ स्वभावतः मनुष्य मान सकता है कि शास्त्रविहित करने योग्य कर्मोंका नाम कर्म है और क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म है—इसमें मोहित होनेकी कौन-सी बात है और इन्हें जानना क्या है ? किन्तु इतना जान लेनेमात्रसे ही वास्तविक कर्म-अकर्मका निर्णय नहीं हो सकता, कर्मोंके तत्त्वको भलीभाँति समझनेकी आवश्यकता है । इस भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥

प्रश्न—कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका नाम कर्म है; किन्तु इतना जान लेनेमात्रसे कर्मका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है । अतः किस भावसे, किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रियाका नाम कर्म है ? एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको कौन-सा शास्त्र-विहित कर्म किस प्रकार करना चाहिये—इस बातको शास्त्रके ज्ञाता तत्त्वज्ञ महापुरुष ही ठीक-ठीक जानते हैं । अतएव अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंद्वारा उन कर्मोंको समझना चाहिये और उनकी प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार उनका आचरण करना चाहिये ।

प्रश्न—अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीर-द्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किन्तु इतना समझ लेने-मात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है और जिसको लोग कर्म समझते हैं, वह भी अकर्म या विकर्म हो जाता है । अतः किस भावसे किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उसका आचरण करना चाहिये, इस बातको तत्त्वज्ञानी महापुरुष ही ठीक-ठीक जान सकते हैं । अतएव कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा-वाले मनुष्योंको उन महापुरुषोंसे इस अकर्मका स्वरूप भी भली-भाँति समझकर उनके कथनानुसार साधन करना चाहिये ।

प्रश्न—विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, इस कथन-का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पाप-कर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको भी पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं । वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहित होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किन्तु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर

और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किन्तु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किन्तु संन्यासीके लिये काञ्चन और कामिनीका दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है। अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये। इसका स्वरूप भी तत्त्ववेत्ता महापुरुष ही ठीक-ठीक बतला सकते हैं।

प्रश्न—कर्मकी गति गहन है, इस कथनका तथा **'हि'** अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'हि' अव्यय यहाँ हेतुवाचक है। इसका प्रयोग करके उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है। कर्म क्या है? अकर्म क्या है? विकर्म क्या है?—इसका निर्णय हरेक मनुष्य नहीं कर सकता; जो विद्या-बुद्धिकी दृष्टिसे पण्डित और बुद्धिमान् हैं, वे भी कभी-कभी इसके निर्णय करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। अतः कर्मके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषोंसे इसका तत्त्व समझना आवश्यक है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है॥ १८॥

प्रश्न—कर्ममें अकर्म देखना क्या है? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके व्यापारमात्रका नाम कर्म है, उनमेंसे जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं उनको कर्म कहते हैं और शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंको विकर्म कहते हैं। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिये उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी।

अतः यहाँ जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं, उनमें अकर्म देखना क्या है—इसी बातपर विचार करना है। यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहङ्कारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं-इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही विहित कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वह परमात्माको प्राप्त है इसलिये योगी है और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो गया है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

प्रश्न—अकर्ममें कर्म देखना क्या है? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहङ्कारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनासे या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है। इस रहस्यको समझने-

वाला मनुष्य किसी भी वर्णाश्रमोचित कर्मका त्याग न तो शारीरिक कष्टके भयसे करता है, न राग-द्वेष अथवा मोहवश और न मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा या अन्य किसी फलकी प्राप्तिके लिये ही करता है। इसलिये वह न तो कभी अपने कर्तव्यसे गिरता है और न किसी प्रकारके त्यागमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा या अहङ्कारका सम्बन्ध जोड़कर पुनर्जन्मका ही भागी बनता है; इसीलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है। उसका परम पुरुष परमेश्वरसे संयोग हो चुका है, इसलिये वह योगी है और उसके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, इसलिये वह समस्त कर्म करनेवाला है।

प्रश्न—कर्मसे क्रियमाण, विकर्मसे विविध प्रकारके सञ्चित कर्म और अकर्मसे प्रारब्ध कर्म लेकर कर्ममें अकर्म देखनेका यदि यह अर्थ किया जाय कि क्रियमाण कर्म करते समय यह देखे कि भविष्यमें यही कर्म प्रारब्ध कर्म (अकर्म) बनकर फलभोगके रूपमें उपस्थित होंगे और अकर्ममें कर्म देखनेका यह अर्थ किया जाय कि प्रारब्धरूप फलभोगके समय उन दुःखादि भोगोंको अपने पूर्वकृत क्रियमाण कर्मोंका ही फल समझे और इस प्रकार समझकर पापकर्मोंका त्याग करके शास्त्रविहित कर्मोंको करता रहे, तो क्या आपत्ति है? क्योंकि सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मोंके ये भेद भी प्रसिद्ध हैं?

उत्तर—ठीक है, ऐसा मानना बहुत अच्छा है और बड़ी बुद्धिमानी है; किन्तु ऐसा अर्थ मान लेनेसे 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः', 'गहना कर्मणो गतिः', 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्', 'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्', 'तमाहुः पण्डितं बुधाः', 'नैव किञ्चित्करोति सः' आदि वचनोंकी सङ्गति नहीं बैठती। अतएव यह अर्थ किसी अंशमें मान्य होनेपर भी प्रकरण-विरुद्ध है।

प्रश्न—कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाला साधक भी मुक्त हो जाता है या सिद्ध पुरुष ही इस प्रकार देख सकता है?

उत्तर—मुक्त पुरुषके जो स्वाभाविक लक्षण होते हैं, वे ही साधकके लिये साध्य होते हैं। अतएव मुक्त पुरुष तो स्वभावसे ही इस तत्त्वको जानता है और साधक उसके उपदेशद्वारा जानकर उस प्रकार साधन करनेसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान्ने कहा है कि 'मैं तुझे वह कर्म-तत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू कर्मबन्धनसे छूट जायगा।'

सम्बन्ध—*इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनपूर्वक कर्म करनेवाले सिद्ध और साधक पुरुषोंकी असङ्गताका वर्णन करके उस विषयको स्पष्ट करते हैं*—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं॥ १९॥

प्रश्न—'समारम्भाः' पदका क्या अर्थ है और इसके साथ 'सर्वे' विशेषण जोड़नेका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अपने-अपने [illegible] जिसके लिये जो यज्ञ, दान, तप, उपासना और शरीर-निर्वाहके योग्य शास्त्रसम्मत कर्तव्य कर्म हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'समारम्भाः' पद है। क्रियामात्रको आरम्भ कहते हैं; ज्ञानीके कर्म शास्त्रनिषिद्ध या व्यर्थ नहीं होते—यह भाव दिखलानेके लिये 'आरम्भ' के साथ 'सम्' उपसर्गका प्रयोग किया गया है तथा 'सर्वे' विशेषणसे यह भाव दिखलाया गया है कि साधनकालमें मनुष्यके समस्त कर्म बिना कामना और सङ्कल्पके नहीं होते, किसी-किसी कर्ममें कामना और सङ्कल्पका संयोग भी हो जाता है; पर साधन करते-करते जो सिद्ध हो गया है, उस महापुरुषके तो सभी कर्म कामना और सङ्कल्पसे रहित ही होते हैं; उसका कोई भी कर्म कामना और सङ्कल्पसे युक्त या शास्त्रविरुद्ध नहीं होता।

प्रश्न—'कामसङ्कल्पवर्जिताः' इस पदमें आये हुए 'काम' और 'सङ्कल्प' शब्दोंका क्या अर्थ है तथा इनसे रहित कर्म कौन-से हैं ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी विषय (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'काम' है तथा किसी विषयकी ममता, अहंकार राग-द्वेष एवं रमणीय-बुद्धिसे स्मरण करनेका नाम 'सङ्कल्प' है। कामना सङ्कल्पका कार्य है और सङ्कल्प उसका कारण है। विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (२ । ६२) । जिन कर्मोंमें किसी वस्तुके संयोग-वियोगकी किञ्चिन्मात्र भी कामना नहीं है, जिनमें ममता, अहङ्कार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोक-संग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म काम और सङ्कल्पसे रहित हैं।

प्रश्न—उपर्युक्त पदमें आये हुए 'सङ्कल्प' शब्दका अर्थ यदि स्फुरणामात्र मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—कोई भी कर्म बिना स्फुरणाके नहीं हो सकता; पहले स्फुरणा होकर ही मन, वाणी और शरीरद्वारा कर्म किये जाते हैं। अन्य कर्मोंकी तो बात ही क्या है, बिना स्फुरणाके तो खाना-पीना और चलना-फिरना आदि शरीरनिर्वाहके कर्म भी नहीं हो सकते; फिर इस श्लोकमें 'समारम्भाः' पदसे बतलाये हुए शास्त्रविहित कर्म कैसे हो सकते हैं ? इस कारण यहाँ 'सङ्कल्प' का अर्थ स्फुरणामात्र मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' पदमें 'ज्ञानाग्नि' शब्द किसका वाचक है ? और उसके द्वारा कर्मोंका दग्ध हो जाना क्या है ?

उत्तर—किसी भी साधनके अनुष्ठानसे उत्पन्न परमात्माके यथार्थ ज्ञानका वाचक यहाँ 'ज्ञानाग्नि' शब्द है। जैसे अग्नि ईंधनको भस्म कर डालता है, वैसे ही ज्ञान भी समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है (४ । ३७)—इस प्रकार अग्निकी उपमा देनेके लिये उसे यहाँ 'ज्ञानाग्नि' नाम दिया गया है। जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अङ्कुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है।

प्रश्न—यहाँ 'बुधाः' पद किनका वाचक है और उपर्युक्त प्रकारसे जो 'ज्ञानाग्निदग्धकर्मा' हो गया है, उसे वे 'पण्डित' कहते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है।

उत्तर—'बुधाः' पद यहाँ तत्त्वज्ञानी महात्माओंका वाचक है और उपर्युक्त पुरुषको वे पण्डित कहते हैं—इस कथनसे उपर्युक्त सिद्ध योगीकी विशेष प्रशंसा की गयी है। अभिप्राय यह है कि कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अहङ्कार और उनसे अपना किसी प्रकारका कोई प्रयोजन न रहनेपर भी उनका स्वरूपतः त्याग न करके लोकसंग्रहके लिये समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको विधिपूर्वक भलीभाँति करते रहना बहुत ही धीरता, वीरता, गम्भीरता और बुद्धिमत्ताका काम है; इसलिये ज्ञानीलोग भी उसे पण्डित (तत्त्वज्ञानी महात्मा) कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

प्रश्न—समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ, दान और तप तथा जीविका और शरीर-निर्वाहके जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उनमें जो मनुष्यकी स्वाभाविक आसक्ति होती है—जिसके कारण वह उन कर्मोंको किये बिना नहीं रह सकता और कर्म करते समय उनमें इतना संलग्न हो जाता है कि ईश्वरकी स्मृति या अन्य किसी प्रकारका ज्ञानतक नहीं रहता—ऐसी आसक्तिसे सर्वथा रहित हो

जाना, किसी भी कर्ममें मनका तनिक भी आसक्त न होना—कर्मोंमें आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना है। और उन कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले इस लोक या परलोकके जितने भी भोग हैं—उन सबमें जरा भी ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना कर्मोंके फलमें आसक्तिका त्याग कर देना है।

प्रश्न—इस प्रकार आसक्तिका त्याग करके 'निराश्रय' और 'नित्यतृप्त' हो जाना क्या है?

उत्तर—आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहङ्कार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तुके या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है। ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है।

प्रश्न—'कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव किञ्चित्करोति सः' इस वाक्यमें 'अभि' उपसर्गके तथा 'अपि' और 'एव' अव्ययोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अभि' उपसर्गसे यह बात दिखलायी गयी है कि ऐसा मनुष्य भी अपने वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित सब प्रकारके कर्म भलीभाँति सावधानी और विवेकके सहित विस्तारपूर्वक कर सकता है। 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहङ्कार और फलासक्तियुक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता। तथा 'एव' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि उन कर्मोंसे उसका जरा भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः वह समस्त कर्म करता हुआ भी वास्तवमें अकर्ता ही बना रहता है।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाले मुक्त पुरुषके लिये उसके पूर्णकाम हो जानेके कारण कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता (३।१७); उसे किसी भी वस्तुकी, किसी रूपमें भी आवश्यकता नहीं रहती। अतएव वह जो कुछ कर्म करता है या किसी क्रियासे उपरत हो जाता है, सब शास्त्रसम्मत और बिना आसक्तिके केवल लोकसंग्रहार्थ ही करता है; इसलिये उसके कर्म वास्तवमें 'कर्म' नहीं होते।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें यह बात कही गयी कि ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये शास्त्रसम्मत यज्ञ, दान और तप आदि समस्त कर्म करता हुआ भी ज्ञानी पुरुष वास्तवमें कुछ भी नहीं करता। इसलिये वह कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता। इसपर यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानीको आदर्श मानकर [illegible] कर्म करनेवाले साधक तो नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मोंका त्याग नहीं करते, निष्कामभावसे [illegible] कर्मोंका अनुष्ठान करते रहते हैं—इस कारण वे किसी पापके भागी नहीं बनते; किन्तु जो [illegible] कर्मोंका अनुष्ठान न करके केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये आवश्यक शौच-स्नान और [illegible] तो पापका भागी होता होगा। ऐसी शङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान् कहते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् [illegible]

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त [illegible] परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी [illegible]

प्रश्न—'निराशीः', 'यतचित्तात्मा' और [illegible] ग्रहः'—इन तीन विशेषणोंके प्रयोगका [illegible]

किसी प्रकारके भोग-प्राप्तिकी किञ्चिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर वशमें है—अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके सङ्गका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी 'यतचित्तात्मा' है और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोगसामग्रियोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग कर दिया है, वह संन्यासी तो सर्वथा 'त्यक्त-सर्वपरिग्रह' है ही। इसके सिवा जो कोई दूसरे आश्रमवाला भी यदि उपर्युक्त प्रकारसे परिग्रहका त्याग कर देनेवाला है तो वह भी 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है।

इन तीनों विशेषणोंका प्रयोग करके इस श्लोकमें यह भाव दिखलाया गया है कि जो इस प्रकार बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध न रखकर निरन्तर अन्तरात्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, वह सांख्ययोगी यदि यज्ञ-दानादि कर्मोंका अनुष्ठान न करके केवल शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्म ही करता है, तो भी वह पापका भागी नहीं होता। क्योंकि उसका वह त्याग आसक्ति या फलकी इच्छासे अथवा अहङ्कारपूर्वक मोहसे किया हुआ नहीं है; वह तो आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारसे रहित सर्वथा शास्त्रसम्मत त्याग है, अतएव सब प्रकारसे संसारका हित करनेवाला है।

प्रश्न—यहाँ 'शारीरम्' और 'केवलम्' विशेषणोंके सहित 'कर्म' पद कौन-से कर्मोंका वाचक है और 'किल्बिषम्' पद किसका वाचक है तथा उसको प्राप्त न होना क्या है?

उत्तर—'शारीरम्' और 'केवलम्' विशेषणोंके सहित 'कर्म' पद यहाँ शौच-स्नान, खान-पान और शयन आदि केवल शरीरनिर्वाहसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंका वाचक है तथा 'किल्बिषम्' पद यहाँ यज्ञदानादि विहित कर्मोंके त्यागसे होनेवाले प्रत्यवाय—पापका तथा शरीरनिर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले अनिवार्य 'हिंसा' आदि पापोंका वाचक है। उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीर-निर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही उसका 'किल्बिष' को प्राप्त न होना है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें यह बात सिद्ध की गयी कि परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंका तो कर्म करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, तथा ज्ञानयोगके साधकका ग्रहण और त्याग शास्त्रसम्मत, आसक्तिरहित और ममता-रहित होता है; अतः वे कर्म करते हुए या उनका त्याग करते हुए—सभी अवस्थाओंमें कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हैं। अब भगवान् यह बात दिखलाते हैं कि कर्ममें अकर्मदर्शनपूर्वक कर्म करनेवाला कर्मयोगी भी कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता॥ २२॥

प्रश्न—'यदृच्छालाभ' क्या है और उसमें सन्तुष्ट रहना क्या है?

उत्तर—अनिच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है; इस 'यदृच्छालाभ' में सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहने या बढ़नेकी इच्छा करना; और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—और दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्‌का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा सन्तुष्ट रहना है।

प्रश्न—'विमत्सरः' का क्या भाव है और इसका प्रयोग यहाँ किसलिये किया गया है ?

उत्तर—विद्या, बुद्धि, धन, मान, बड़ाई या अन्य किसी भी वस्तु या गुणके सम्बन्धसे दूसरोंकी उन्नति देखकर जो ईर्ष्या (डाह) का भाव होता है—इस विकारका नाम 'मत्सरता' है; उसका जिसमें सर्वथा अभाव हो गया हो, वह 'विमत्सर' है। अपनेको विद्वान् और बुद्धिमान् समझनेवालोंमें भी ईर्ष्याका दोष छिपा रहता है; जिनमें मनुष्यका प्रेम होता है, ऐसे अपने मित्र और कुटुम्बियोंके साथ भी ईर्ष्याका भाव हो जाता है। इसलिये 'विमत्सरः' विशेषणका प्रयोग करके यहाँ कर्मयोगीमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे अलग ईर्ष्याके दोषका भी अभाव दिखलाया गया है।

प्रश्न—द्वन्द्वोंसे अतीत होना क्या है ?

उत्तर—हर्ष-शोक और राग-द्वेष आदि युग्म विकारोंका नाम द्वन्द्व है; उनसे सम्बन्ध न रहना अर्थात् इस प्रकारके विकारोंका अन्तःकरणमें न रहना ही उनसे अतीत हो जाना है।

प्रश्न—सिद्धि और असिद्धिका यहाँ क्या अर्थ है और उसमें सम रहना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्यकर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है; और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है।

प्रश्न—ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है (२ । ४७), क्योंकि यज्ञ (कर्म) सहित प्रजाकी रचना करके प्रजापतिने मनुष्योंको कर्म करनेकी आज्ञा दी है (३ । १०); अतएव उसके अनुसार कर्म न करनेसे मनुष्य पापका भागी होता है (३ । १६)। इसके सिवा मनुष्य कर्मोंका सर्वथा त्याग कर भी नहीं सकता (३ । ५), अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ-न-कुछ कर्म सभीको करने पड़ते हैं। अतएव इसका यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित सांख्ययोगी अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रकारसे किये हुए कर्म बन्धनके हेतु नहीं बनते, इतनी ही बात है या उनका और भी कुछ महत्त्व है। इसपर कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

प्रश्न—आसक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना क्या है, और 'गतसङ्गस्य' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें तनिक भी आसक्ति या कामनाका न रहना, आसक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है। इस प्रकार जिसकी आसक्तिका अभाव हो गया है उस कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'गतसङ्गस्य' पद है। यही भाव कर्ममें और फलमें आसक्तिके त्यागसे तथा सिद्धि और असिद्धिके समत्वसे पूर्वश्लोकमें दिखलाया गया है।

प्रश्न—'मुक्तस्य' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके [illegible]

शरीरमें जरा भी आत्माभिमान या ममत्व नहीं रहा है, जो देहाभिमानसे सर्वथा मुक्त हो गया है—उस ज्ञानयोगीका वाचक यहाँ 'मुक्तस्य' पद है।

प्रश्न—'ज्ञानावस्थितचेतसः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'ज्ञानावस्थितचेतसः' पद भी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण प्रत्येक क्रिया करते समय जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें लगा रहता है, ऐसे ज्ञानयोगीका ही वाचक है।

प्रश्न—'यज्ञाय आचरतः' इस पदमें 'यज्ञ' शब्द किसका वाचक है और उसके लिये कर्मोंका आचरण करना क्या है ?

उत्तर—अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो शास्त्रदृष्टिसे विहित कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है। उस शास्त्रविहित यज्ञका सम्पादन करनेके उद्देश्यसे ही जो कर्मोंका करना है—अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है। तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें आया हुआ 'यज्ञार्थात्' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद भी ऐसे ही कर्मोंका वाचक है।

प्रश्न—'समग्रम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनका विलीन हो जाना क्या है ?

उत्तर—इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए जितने भी कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें सञ्चित रहते हैं और जो उसके द्वारा उपर्युक्त प्रकारसे नवीन कर्म किये जाते हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'समग्रम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; उन सबका अभाव हो जाना अर्थात् उनमें किसी प्रकारका बन्धन करनेकी शक्तिका न रहना ही उनका विलीन हो जाना है। इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किन्तु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी जलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है—वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमानके त्यागरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसञ्चित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसके सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिसका जो कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है और उसका पालन करनेके लिये आवश्यक क्रियाओंका निःस्वार्थबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ करना ही उस यज्ञके लिये कर्म करना है—इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न योगियोंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥२४॥

प्रश्न—इस श्लोकमें यज्ञके रूपकसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इस श्लोकमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य उ० ३।१४।१) के अनुसार सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप साधनको यज्ञका रूप दिया गया है। अभिप्राय यह है कि कर्ता, कर्म और करण आदिके भेदसे भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होनेवाले

समस्त पदार्थोंको ब्रह्मरूपसे देखनेका जो अभ्यास है—यह अभ्यासरूप कर्म भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेके कारण यज्ञ ही है।

इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; उसकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है। क्योंकि ऐसा यज्ञ करनेवाला योगी जिन मन, बुद्धि आदिके द्वारा समस्त जगत्‌को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, वह उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती।

प्रश्न—इस रूपकमें 'अर्पणम्' पदका अर्थ यदि हवन करनेकी क्रिया मान ली जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—'हुतम्' पद हवन करनेकी क्रियाका वाचक है। अतः 'अर्पणम्' पदका अर्थ भी क्रिया मान लेनेसे पुनरुक्तिका दोष आता है। नवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भी 'हुतम्' पदका ही अर्थ 'हवनकी क्रिया' माना गया है। अतः जिसके द्वारा कोई वस्तु अर्पित की जाय, अर्प्यते अनेन—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'अर्पणम्' पदका अर्थ जिसके द्वारा घृत आदि द्रव्य अग्निमें छोड़े जाते हैं, ऐसे स्रुवा आदि पात्र मानना ही उचित मालूम पड़ता है।

प्रश्न—ब्रह्मकर्ममें स्थित होना क्या है और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—निरन्तर सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करते रहना, किसीको भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझना—यही ब्रह्मकर्ममें स्थित होना है तथा इस प्रकारके साधनका फल निःसन्देह परब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति होती है, उपर्युक्त साधन करनेवाला योगी दूसरे फलका भागी नहीं होता—यही भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है कि उसके द्वारा प्राप्त किया जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्रह्मकर्मरूप यज्ञका वर्णन करके अब अगले श्लोकमें देवपूजनरूप यज्ञका और आत्मा-परमात्माके अभेददर्शनरूप यज्ञका वर्णन करते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं॥ २५॥

प्रश्न—यहाँ 'योगिनः' पद किन योगियोंका वाचक है और उसके साथ 'अपरे' विशेषणका प्रयोग किस लिये किया गया है?

उत्तर—यहाँ 'योगिनः' पद ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म करनेवाले साधकोंका वाचक है तथा इन साधकोंको पूर्वश्लोकमें वर्णित ब्रह्मकर्म करनेवालोंसे अलग करनेके लिये यानी इनका साधन पूर्वोक्त साधनसे भिन्न है और दोनों साधनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न होते हैं, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगिनः' पदके साथ 'अपरे' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'दैवम्' विशेषणके सहित 'यज्ञम्' पद किस कर्मका वाचक है और उसका भलीभाँति अनुष्ठान करना क्या है तथा इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्तसे दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'दैवम्' [illegible] पद है और अपना कर्तव्य [illegible] और फलेच्छाके केवल [illegible] का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक

करना ही दैवयज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है। इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो इस प्रकारसे देवोपासना करते हैं, उनकी क्रिया भी यज्ञके लिये ही कर्म करनेके अन्तर्गत है।

प्रश्न—ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना क्या है?

उत्तर—अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है; इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानाभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानका निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्य विज्ञानानन्दघन, गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है। इस प्रकारका यज्ञ करनेवाले ज्ञानयोगियोंकी दृष्टिमें एक निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अपनी या अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती, इस त्रिगुणमय संसारसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। उनके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें वर्णित ब्रह्मकर्मसे इस अभेददर्शनरूप यज्ञका क्या भेद है?

उत्तर—दोनों ही साधन सांख्ययोगियोंद्वारा किये जाते हैं और दोनोंमें ही अग्निस्थानीय परब्रह्म परमात्मा है, इस कारण दोनोंकी एकता-सी प्रतीत होती है तथा दोनोंका फल अभिन्नभावसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके कारण वास्तवमें कोई भेद भी नहीं है केवल साधनकी प्रणालीका भेद है; उसीको स्पष्ट करनेके लिये दोनोंका वर्णन अलग-अलग किया गया है। पूर्वश्लोकमें वर्णित साधनमें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्यउ० ३। १४। १) इस श्रुतिवाक्यके अनुसार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करनेका वर्णन है और उपर्युक्त साधनमें समस्त जगत्‌के सम्बन्धका अभाव करके आत्मा और परमात्मामें अभेददर्शनकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार दैवयज्ञ और अभेददर्शनरूप यज्ञका वर्णन करनेके अनन्तर अब इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका और विषयहवनरूप यज्ञका वर्णन करते हैं—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं॥ २६॥

प्रश्न—संयमको अग्नि बतलानेका क्या भाव है और उसमें बहुवचनका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—इन्द्रियसंयमरूप साधनको यज्ञका रूप देनेके लिये यहाँ संयमको अग्नि बताया गया है और प्रत्येक इन्द्रियका संयम अलग-अलग होता है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—संयमरूप अग्नियोंमें श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको हवन करना क्या है?

उत्तर—दूसरे अध्यायमें कहा गया है कि इन्द्रियाँ बड़ी प्रमथनशील हैं, ये बलात्कारसे साधकके मनको डिगा देती हैं (२। ६०); इसलिये समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेना—उनकी स्वतन्त्रताको मिटा देना, उनमें मनको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना तथा उन्हें सांसारिक भोगोंमें प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। तात्पर्य यह है कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। इसका सुस्पष्ट भाव दूसरे अध्यायके अठावनवें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें जिस इन्द्रियसंयमको मिथ्याचार बतलाया गया है, उसमें और यहाँके इन्द्रियसंयममें क्या भेद है ?

उत्तर—वहाँ केवल इन्द्रियोंको देखने-सुनने तथा खाने-पीने आदि बाह्य विषयोंसे रोक लेनेको ही संयम कहा गया है, इन्द्रियोंको वशमें करनेको नहीं; क्योंकि वहाँ मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते रहनेकी बात स्पष्ट है। किन्तु यहाँ वैसी बात नहीं है, यहाँ इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेका नाम 'संयम' है। वशमें की हुई इन्द्रियोंमें मनको विषयोंमें प्रवृत्त करनेकी शक्ति नहीं रहती। इसलिये जो इन्द्रियोंको वशमें किये बिना ही केवल दम्भाचारसे इन्द्रियोंको विषयोंसे रोक रखता है, परन्तु मनसे विषयोंका चिन्तन करता रहता है और जो परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है उसके मनसे विषयोंका चिन्तन नहीं होता; निरन्तर परमात्माका ही चिन्तन होता है। यही मिथ्याचारीके संयमका और यथार्थ संयमका भेद है।

प्रश्न—श्लोकके उत्तरार्धमें 'इन्द्रिय' शब्दके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किसलिये किया गया है ? और 'इन्द्रियाग्निषु' पदमें बहुवचनके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आसक्तिरहित इन्द्रियोंद्वारा निष्कामभावसे विषय-सेवनरूप साधनको यज्ञका रूप देनेके लिये यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किया गया है और प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा अनासक्तभावसे अलग-अलग विषयोंका सेवन किया जाता है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना क्या है ?

उत्तर—वशमें की हुई और राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार योग्यतासे प्राप्त विषयोंका ग्रहण करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन कर देना (२।६४) अर्थात् उनका सेवन करते समय या दूसरे समय अन्तःकरणमें या इन्द्रियोंमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न करनेकी शक्ति न रहने देना ही शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है। अभिप्राय यह है कि कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका अनासक्तभावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियोंको विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है। क्योंकि विषयोंमें आसक्ति, सुख और रमणीय बुद्धि न रहनेके कारण वे विषयभोग साधकपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, वे स्वयं अग्निमें घासकी भाँति भस्म हो जाते हैं।

सम्बन्ध—अब आत्मसंयमयोगरूप यज्ञका वर्णन करते हैं—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्म-संयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं ॥ २७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'आत्मसंयमयोग' किस योगका वाचक है और उसके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किसलिये किया गया है तथा 'ज्ञानदीपिते' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'आत्मसंयमयोग' समाधियोगका वाचक है। उस समाधियोगको यज्ञका रूप देनेके लिये उसके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किया गया है तथा सुषुप्तिसे समाधिकी भिन्नता दिखलानेके लिये—अर्थात् समाधि-अवस्थामें विवेक-विज्ञानकी जागृति रहती है, शून्यताका

है—यह भाव दिखलाने और यज्ञके रूपकमें उस समाधि-योगको प्रज्वलित अग्निकी भाँति ज्ञानसे प्रकाशित बतलानेके लिये 'ज्ञानदीपिते' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त समाधियोगका स्वरूप क्या है? तथा उसमें इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी सम्पूर्ण क्रियाओं-को हवन करना क्या है?

उत्तर—ध्यानयोग अर्थात् ध्येयमें मनका निरोध दो प्रकारसे होता है—एकमें तो प्राणोंका और इन्द्रियोंका निरोध करके उसके बाद मनका ध्येय वस्तुमें निरोध किया जाता है और दूसरेमें, पहले मनके द्वारा ध्येयका चिन्तन करते-करते ध्येयमें मनकी एकाग्रतारूप ध्यानावस्था होती है। तदनन्तर ध्यानकी गाढ़ स्थिति होकर ध्येयमें मनका निरोध हो जाता है; यही समाधि-अवस्था है। उस समय प्राणोंकी और इन्द्रियों-की सम्पूर्ण क्रिया अपने आप रुक जाती है। यहाँ इस दूसरे प्रकारसे किये जानेवाले ध्यानयोगका वर्णन है। इसलिये परमात्माके सगुण-साकार या निर्गुण-निराकार—किसी भी रूपमें अपनी-अपनी मान्यता और भावनाके अनुसार विधि-पूर्वक मनका निरोध कर देना ही समाधियोगका स्वरूप है।

इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयम-योगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार समाधियोगके साधनको यज्ञका रूप देकर अब अगले श्लोकमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ योगयज्ञ और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही [illegible] यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ [illegible] हैं॥ २८॥

प्रश्न—द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ किस क्रियाका वाचक है? इसे करनेका अधिकार किनको है तथा यहाँ 'द्रव्ययज्ञाः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथा-योग्य लोकसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियों-को सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है। इस यज्ञके करनेका अधिकार केवल गृहस्थों-को ही है; क्योंकि द्रव्यका संग्रह करके परोपकारमें उसके व्यय करनेका अधिकार संन्यास आदि अन्य आश्रमोंमें नहीं है। यहाँ भगवान्‌ने 'द्रव्ययज्ञ' शब्दका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेके लिये निःस्वार्थभावसे कर्म करना भी यज्ञार्थ कर्म करनेके अन्तर्गत है।

प्रश्न—'तपोयज्ञ' किस कर्मको कहते हैं? और इसमें किसका अधिकार है?

उत्तर—परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छा के त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको

तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल फल या दूध खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है। इसमें वानप्रस्थआश्रमवालोंका तो पूर्ण अधिकार है ही, दूसरे आश्रमवाले मनुष्य भी शास्त्रविधिके अनुसार इसका पालन कर सकते हैं। अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सभी आश्रमवाले इसके अधिकारी हैं।

प्रश्न—यहाँ 'योगयज्ञ' शब्द किस कर्मका वाचक है तथा यहाँ 'योगयज्ञाः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ वास्तवमें 'योगयज्ञ' किस कर्मका वाचक है, यह तो भगवान् ही जानते हैं; क्योंकि इसके विशेष लक्षण यहाँ नहीं बतलाये गये हैं। किन्तु अनुमानसे यह प्रतीत होता है कि चित्तवृत्ति-निरोधरूप जो अष्टाङ्गयोग है सम्भवतः उसीका वाचक यहाँ 'योगयज्ञ' शब्द है। अतएव यहाँ 'योगयज्ञाः' पदके प्रयोगका यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके इस अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं। उनका वह योगसाधनारूप कर्म भी यज्ञार्थ कर्मके अन्तर्गत है, अतएव उन लोगोंके भी समस्त कर्म विलीन होकर उनको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—उपर्युक्त अष्टाङ्गयोगके आठ अङ्ग कौन-कौन-से हैं?

उत्तर—पातञ्जलयोगदर्शनमें इनका वर्णन इस प्रकार आता है—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।' (२। २९)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।

इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—ये पाँच बहिरङ्ग और धारणा, ध्यान, समाधि—ये तीन अन्तरङ्ग साधन हैं।

'त्रयमेकत्र संयमः।' (योग० ३। ४)

इन तीनोंके समुदायको 'संयम' कहते हैं।

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' (योग० २। ३०)

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व—हकको न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य); और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्यसामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम यम है।

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' (योग० २। ३२)

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहना (सन्तोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)—इन पाँचोंका नाम नियम है।

'स्थिरसुखमासनम्।' (योग० २। ४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम आसन* है।

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।' (योग० २। ४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके रोकनेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश

* आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो; परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, उसके लिये वही आसन उत्तम है।

करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंके रोकनेका नाम प्राणायाम है।

'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।' (योग० २ । ५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति प्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम है।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।

इनके और भी बहुत-से भेद हैं; जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी ही संख्या और उतना ही काल रेचक और कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुके लिये नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर देश' है और नासा-पुटसे बाहर सोलह अङ्गुलतक 'बाहरी देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अङ्गुलतक बाहर फेंके; जो हृदयतक अंदर खींचता है, वह बारह अङ्गुलतक बाहर फेंके; जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अङ्गुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अंदर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अङ्गुल बाहरतक श्वास फेंके। इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकण्ड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकण्ड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकण्ड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बतलाये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।' (योग० २ । ५१)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और सङ्कल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।' (योग० २ । ५४)

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना प्रत्याहार है।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।' (योग० ३ । १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर—किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना धारणा कहलाता है।

यहाँ विषय परमेश्वरका है; इसलिये धारणा, ध्यान और *समाधि परमेश्वरमें ही करने चाहिये ।*

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।' (योग० ३ । २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना ध्यान कहलाता है।

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।' (योग० ३ । ३)

जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका ही भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है, उस समय वह ध्यान ही समाधि हो जाता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है—उस स्थितिका नाम समाधि है।

ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु—ध्येय वस्तु ही रहती है अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनोंकी एकता हो जाती है।

प्रश्न—सत्ताईसवें श्लोकमें बतलाये हुए आत्मसंयमयोगरूप यज्ञमें और इसमें क्या अन्तर है?

उत्तर—यहाँ धारणा-ध्यान-समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनकी प्रधानता है; यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारकी नहीं। ये सब अपने-आप ही उनमें आ जाते हैं। और यहाँ सभी साधनोंको क्रमसे करनेके लिये कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'योग' शब्दसे कर्मयोग और ज्ञानयोग न लेकर *अष्टाङ्गयोग क्यों लिया गया ?*

उत्तर—भगवत्प्राप्तिमें साधन होनेके कारण यहाँ सभी यज्ञ कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दो निष्ठाओंके अन्तर्गत ही आ जाते हैं। इसलिये यहाँ 'योग' शब्दसे मुख्यतासे केवल ज्ञानयोग या कर्मयोग नहीं लिया जा सकता।

प्रश्न—'यतयः' पदका अर्थ चतुर्थाश्रमी संन्यासी न करके प्रयत्नशील पुरुष करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान सभी आश्रमवाले कर सकते हैं, इसलिये यहाँ 'यतयः' पदका अर्थ प्रयत्नशील किया गया है। यह बात अवश्य है कि संन्यास-आश्रममें गृहस्थकी भाँति नित्य-नैमित्तिक और जीविका आदिके कर्म करना कर्तव्य नहीं है, इस कारण वे इसका अनुष्ठान अधिकतासे कर सकते हैं। पर उनमें भी जो यत्नशील होते हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं; अतः 'यतयः' पदका यहाँ 'प्रयत्नशील' अर्थ लेना ही ठीक मालूम होता है। इसके सिवा ब्रह्मचर्याश्रममें भी स्वाध्यायकी प्रधानता है और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवालोंके लिये ही 'यतयः' पदका प्रयोग हुआ है; इसलिये भी उसका अर्थ यहाँ संन्यासी नहीं किया गया।

प्रश्न—'संशितव्रताः' पदका क्या अर्थ है और इसको 'यतयः' पदका विशेषण न मानकर श्लोकके पूर्वार्द्धमें उल्लिखित तपोयज्ञ करनेवालोंसे भिन्न प्रकारके व्रत करनेवाले पुरुषोंका वाचक माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सदाचारका पालन करनेके नियम भलीभाँति धारण कर रक्खे हों तथा जो रागद्वेष और अभिमानादि दोषोंसे रहित हों ऐसे पुरुषोंको 'संशितव्रताः' कहते हैं। 'संशितव्रताः' पदमें 'यज्ञ' शब्द नहीं है, इसलिये उसे भिन्न प्रकारका व्रतयज्ञ करनेवालोंका वाचक न मानकर 'यतयः' का विशेषण मानना ही उचित मालूम होता है।

प्रश्न—'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' किस कर्मका वाचक है और उसे 'स्वाध्याययज्ञ' न कहकर 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिन शास्त्रोंमें भगवान्‌के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, *भगवान्‌की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गु*[illegible] कीर्तन करना तथा वेद और वेदाङ्गोंका अध्य[illegible] स्वाध्याय है। ऐसा स्वाध्याय [illegible] ममता, आसक्ति और फलेच्छाके [illegible]

लाभप्रद होता है। यहाँ सभी साधनोंको यज्ञका रूप दिया गया है और बिना मन्त्रके यज्ञको तामस माना गया है (१७। १३); इसलिये भी मन्त्रस्थानीय भगवन्नामका प्रयोग परमावश्यक है। उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञोंमें एक, दो, तीन आदि संख्याके प्रयोगसे या चुटकीके प्रयोगसे मात्रा आदिका ज्ञान रक्खा जानेसे मन्त्रकी कमी रह जाती है; इसलिये वह सात्त्विक यज्ञ नहीं होता। अतः यही समझना चाहिये कि प्राणायामरूप यज्ञमें नामका जप परमावश्यक है। साथ-साथ इष्टदेवताका ध्यान भी करते रहना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—तेईसवें श्लोकमें जो यह बात कही गयी थी कि यज्ञके लिये कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषके समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं, वही बात इस कथनसे स्पष्ट की गयी है। अभिप्राय यह है कि चौबीसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर यज्ञार्थ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं। जो मनुष्य उपर्युक्त साधनोंमेंसे कितने ही साधनोंको सकामभावसे किसी सांसारिक फलकी प्राप्तिके लिये करते हैं, वे यद्यपि न करनेवालोंसे बहुत अच्छे हैं, परन्तु यज्ञके तत्त्वको समझकर यज्ञार्थ कर्म करनेवाले नहीं हैं, अतएव वे कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं होते।

सम्बन्ध—इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंके करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है? ॥ ३१ ॥

प्रश्न—यहाँ यज्ञसे बचा हुआ अमृत क्या है और उसका अनुभव करना क्या है?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें देवताओंके निमित्त अग्निमें घृतादि पदार्थोंका हवन करना यज्ञ है और उससे बचा हुआ हविष्यान्न ही यज्ञशिष्ट अमृत है। इसी तरह स्मृतिकारोंने जिन पञ्चमहायज्ञादिका वर्णन किया है उनमें देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणिमात्रके लिये यथाशक्ति विधिपूर्वक अन्नका विभाग कर देनेके बाद बचे हुए अन्नको यज्ञशिष्ट अमृत कहा है; किन्तु यहाँ भगवान्‌ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि ऐसे साधनोंका भी वर्णन किया है जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (२। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है, क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्यतृप्त रहना ही यहाँ उस अमृतका अनुभव करना है।

प्रश्न—उपर्युक्त परमात्मप्राप्तिके साधनरूप यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको सनातन परब्रह्मकी प्राप्ति इसी जन्ममें हो जाती है या जन्मान्तरमें होती है?

उत्तर—यह उनके साधनकी स्थितिपर निर्भर है। जिसके साधनमें भावकी कमी नहीं होती, उसको तो इसी जन्ममें और बहुत ही शीघ्र सनातन परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; जिसके साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह जाती है, उसको उस कमीकी पूर्ति होनेपर होती है, परन्तु उपर्युक्त साधन व्यर्थ

कभी नहीं होते, इनके साधकोंको परमात्माकी प्राप्तिरूप फल अवश्य मिलता है (६।४०)--यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह सामान्य बात कही है कि वे लोग सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

प्रश्न--सनातन परब्रह्मकी प्राप्तिसे सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति मानी जाय या निर्गुणकी?

उत्तर--सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दो नहीं हैं, सच्चिदानन्दघन परमेश्वर ही सगुण ब्रह्म हैं और वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं। अपनी भावना और मान्यताके अनुसार साधकोंकी दृष्टिमें ही सगुण और निर्गुणका भेद है, वास्तवमें नहीं। सनातन परब्रह्मकी प्राप्ति होनेके बाद कोई भेद नहीं रहता।

प्रश्न--यहाँ 'अयज्ञस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और उसके लिये यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है--इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर--जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ--किसी प्रकार भी नहीं करता, उस मनुष्यजीवनके कर्तव्यका पालन न करनेवाले पुरुषका वाचक यहाँ 'अयज्ञस्य' पद है। उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है--इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं, स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि परमार्थ-साधनहीन मनुष्य नित्य-निरन्तर नाना प्रकारकी चिन्ताओंकी ज्वालासे जला करता है; फिर उसे दूसरी योनियोंमें तो, जो केवल भोगयोनिमात्र हैं और जिनमें सच्चे सुखकी प्राप्तिका कोई साधन ही नहीं है, शान्ति मिल ही कैसे सकती है! मनुष्यशरीरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका ही फल दूसरी योनियोंमें भोगा जाता है। अतएव जो इस मनुष्यशरीरमें अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसे किसी भी योनिमें सुख नहीं मिल सकता।

प्रश्न--इस लोकमें शास्त्रविहित उत्तम कर्म न करनेवालोंको और शास्त्रविपरीत कर्म करनेवालोंको भी स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिरूप सुखका मिलना तो देखा जाता है; फिर यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि यज्ञ न करनेवालेको यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है?

उत्तर--उपर्युक्त इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिरूप सुखका मिलना भी पूर्वकृत शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका ही फल है, पापकर्मोंका नहीं। इस सुखको वर्तमान जन्ममें किये हुए पापकर्मोंका या शुभ कर्मोंके त्यागका फल कदापि नहीं समझना चाहिये। इसके सिवा, उपर्युक्त सुख वास्तवमें सुख भी नहीं है। अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यही अभिप्राय है कि साधनरहित मनुष्यको इस मनुष्यशरीरमें भी (जो कि परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिका द्वार है) उसकी मूर्खताके कारण सात्त्विक सुख या सच्चा सुख नहीं मिलता, वरं नाना प्रकारकी भोग-वासनाके कारण निरन्तर शोक और चिन्ताओंके सागरमें ही डूबे रहना पड़ता है।

प्रश्न--पुत्रका माता-पितादिकी सेवा करना, स्त्रीका पतिकी सेवा करना, शिष्यका गुरुकी सेवा करना और इसी प्रकार शास्त्रविहित अन्यान्य शुभ कर्मोंका करना यज्ञार्थ कर्म करनेके अन्तर्गत है या नहीं और उनको करनेवाला सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है या नहीं?

उत्तर--उपर्युक्त सभी कर्म स्वधर्मपालनके अन्तर्गत हैं, अतएव जब स्वधर्मपालनरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये परमेश्वरकी आज्ञा मानकर निःस्वार्थभावसे किये जानेवाले युद्ध और कृषि-वाणिज्यादिरूप कर्म भी यज्ञके अन्तर्गत हैं और उनको करनेवाला मनुष्य भी सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब माता-पितादि गुरुजनोंको, गुरुको और पतिको परमेश्वरकी मूर्ति समझकर या उनमें परमात्माको व्याप्त समझकर अथवा उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझकर उन्हींको सुख पहुँचानेके लिये जो निःस्वार्थ[illegible] उनकी सेवा करना है, वह यज्ञके लिये कर्म करना है और [illegible] मनुष्यको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है--इ[illegible] ही क्या है?

प्रश्न--इस प्रकरणमें जो भिन्न-भिन्न

भिन्न प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, वे ज्ञानयोगीके द्वारा किये जाने योग्य हैं या कर्मयोगीके द्वारा ?

उत्तर—चौबीसवें श्लोकमें जो 'ब्रह्मयज्ञ' और पचीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें जो आत्मा-परमात्माका अभेददर्शनरूप यज्ञ बतलाया गया है, उन दोनोंका अनुष्ठान तो ज्ञानयोगी ही कर सकता है, कर्मयोगी नहीं कर सकता; क्योंकि उनमें साधक परमात्मासे भिन्न नहीं रहता। उनको छोड़कर शेष सभी यज्ञोंका अनुष्ठान ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों ही कर सकते हैं, उनमें दोनोंके लिये ही किसी प्रकारकी अड़चन नहीं है।

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा॥ ३२॥

प्रश्न—इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने जो तुमको ये साधनरूप यज्ञ बतलाये हैं, इतने ही यज्ञ नहीं हैं, किन्तु इनके सिवा और भी प्रतीकउपासनादि बहुत प्रकारके यज्ञ यानी परमात्माकी प्राप्तिके साधन वेदमें बतलाये गये हैं; उन सबका अनुष्ठान अभिमान, ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक करनेवाले सभी साधक यज्ञके लिये ही कर्म करनेवाले हैं। अतएव उपर्युक्त यज्ञोंको करनेवाले पुरुषोंकी भाँति वे भी कर्मबन्धनमें न पड़कर सनातन परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—यहाँ यदि 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ ब्रह्मा या परमेश्वर मान लिया जाय और उसके अनुसार यज्ञोंको वेदवाणीमें विस्तृत न मानकर ब्रह्माके मुखमें या परमेश्वरके मुखमें विस्तृत मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? क्योंकि 'प्रजापति ब्रह्माने यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न किया, यह बात तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें आयी है और 'परमेश्वरके द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंकी रचना की गयी है' यह बात सतरहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें कही गयी है ?

उत्तर—प्रजापति ब्रह्माकी उत्पत्ति भी परमेश्वरसे ही होती है; इस कारण ब्रह्मासे उत्पन्न होनेवाले वेद, ब्राह्मण और यज्ञादिको ब्रह्मासे उत्पन्न बतलाना अथवा परमेश्वरसे उत्पन्न बतलाना दोनों एक ही बात है। इसी तरह भिन्न-भिन्न यज्ञोंका विस्तारपूर्वक वर्णन वेदोंमें है और वेदोंका प्राकट्य ब्रह्मासे हुआ है तथा ब्रह्माकी उत्पत्ति परमेश्वरसे; इस कारण यज्ञोंको परमेश्वरसे या ब्रह्मासे उत्पन्न बतलाना अथवा वेदोंसे उत्पन्न बतलाना भी एक ही बात है। किन्तु अन्यत्र यज्ञोंको वेदसे उत्पन्न बतलाया गया है (३। १५) और उनका विस्तारपूर्वक वर्णन भी वेदोंमें है; इसलिये 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद मानकर जैसा अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने कर्मोंके सम्बन्धमें तीन बातें समझनेके लिये कही हैं—

(१) यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है,

जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या सङ्कल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फलकामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

(२) 'यज्ञ' नामसे कहे जानेवाले जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म और परमात्माकी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न साधन हैं, वे प्रकृतिके कार्यरूप मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होनेवाले हैं; आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये किसी भी कर्म या साधनमें ज्ञानयोगीको कर्तापनका अभिमान नहीं करना चाहिये।

(३) मन, इन्द्रिय और शरीरकी चेष्टारूप कर्मोंके बिना परमात्माकी प्राप्ति या कर्मबन्धनसे मुक्ति नहीं हो सकती (३ । ४); कर्मबन्धनसे छूटनेके जितने भी उपाय बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही सिद्ध होते हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति और कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मनुष्योंको ममता, अभिमान, फलेच्छा और आसक्तिके त्यागपूर्वक किसी-न-किसी साधनमें अवश्य ही तत्पर हो जाना चाहिये।

प्रश्न—इस प्रकार तत्त्वसे जानकर तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह बात कही है कि अठारहवें श्लोकसे यहाँतक मैंने जो तुमको कर्मोंका तत्त्व बतलाया है, उसके अनुसार समस्त यज्ञोंको उपर्युक्त प्रकारसे भलीभाँति तत्त्वसे जानकर तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे। क्योंकि इस तत्त्वको समझकर कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म बन्धनकारक नहीं होते, बल्कि पूर्वसञ्चित कर्मोंका भी नाश करके मुक्तिदायक हो जाते हैं।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकरणमें भगवान्‌ने कई प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया और यह बात भी कही कि इनके सिवा और भी बहुत-से यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है। इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

प्रश्न—यहाँ द्रव्यमय यज्ञ किस यज्ञका वाचक है और ज्ञानयज्ञ किस यज्ञका? तथा द्रव्यमययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं। अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप और सुगन्धयुक्त ओषधियों आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना, बलि-वैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं। उपर्युक्त साधनोंमें इसका वर्णन दैवयज्ञ, विषय-हवनरूप यज्ञ और द्रव्ययज्ञके नामसे हुआ है। इनसे भिन्न जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं। यहाँ द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि कोई साधक अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित अग्निहोत्र, ब्राह्मण-भोजन, दान आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान न करके केवल आत्मसंयम, शास्त्राध्ययन, तत्त्वविचार और योगसाधन आदि विवेक-विज्ञानसम्बन्धी शुभकर्मोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान करता है तो यह नहीं समझना चाहिये कि वह शुभ कर्मोंका त्यागी है, बल्कि यही समझना चाहिये कि वह

उनकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ कार्य कर रहा है; क्योंकि द्रव्ययज्ञ भी ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग कर ज्ञानपूर्वक किये जानेपर ही मुक्तिका हेतु होता है, नहीं तो उल्टा बन्धनका हेतु बन जाता है और उपर्युक्त साधनोंमें लगे हुए मनुष्य तो स्वरूपसे भी विषयोंका त्याग करते हैं। उनके कार्योंमें हिंसादि दोष स्वरूपसे भी नहीं है—इससे भी वे उत्तम हैं। यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) की प्राप्तिमें भावकी प्रधानता है, सांसारिक वस्तुओंके विस्तारकी नहीं। इसीलिये यहाँ द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'अखिलम्' और 'सर्वम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है और 'यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधनरूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभ कर्मरूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं (४ । ३२) उन सबका वाचक यहाँ 'अखिलम्' और 'सर्वम्' विशेषणोंके सहित 'कर्म' पद है। अतः यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इन समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना है। जिसको यथार्थ ज्ञानद्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसे कुछ भी प्राप्त होना शेष नहीं रहता।

प्रश्न—इस श्लोकमें आये हुए 'ज्ञानयज्ञ' और 'ज्ञान' इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है या अलग-अलग?

उत्तर—दोनोंका एक अर्थ नहीं है; 'ज्ञानयज्ञ' शब्द तो यथार्थ ज्ञानप्राप्तिके लिये किये जानेवाले विवेक, विचार और संयम-प्रधान साधनोंका वाचक है और 'ज्ञान' शब्द समस्त साधनोंके फलरूप परमात्माके यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) का वाचक है। इस प्रकार दोनोंके अर्थमें भेद है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानयज्ञकी और उसके फलरूप ज्ञानकी प्रशंसा करके अब भगवान् दो श्लोकोंमें ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए उसकी प्राप्तिका मार्ग और उसका फल बतलाते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे॥ ३४॥

प्रश्न—यहाँ 'तत्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—समस्त साधनोंके फलरूप जिस तत्त्वज्ञानकी पूर्व-श्लोकमें प्रशंसा की गयी है और जो परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है, उसका वाचक यहाँ 'तत्' पद है।

प्रश्न—उस ज्ञानको जाननेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि परमात्माके यथार्थ तत्त्वको बिना जाने मनुष्य जन्ममरणरूप कर्मबन्धनसे नहीं छूट सकता, अतः उसे अवश्य जान लेना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे ज्ञानको जाननेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌के द्वारा बार-बार परमात्मतत्त्वकी बात कही जानेपर भी उसे न समझनेसे अर्जुनमें श्रद्धाकी कुछ कमी सिद्ध होती है। अतएव उनकी श्रद्धा बढ़ानेके लिये अन्य ज्ञानियोंसे ज्ञान सीखनेके लिये कहकर उन्हें चेतावनी दी गयी है।

प्रश्न—'प्रणिपात' किसको कहते हैं?

उत्तर—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सरलतासे दण्डवत् प्रणाम करना 'प्रणिपात' कहलाता है।

प्रश्न—'सेवा' किसको कहते हैं?

उत्तर—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावों-

को समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—'परिप्रश्न' किसको कहते हैं।

उत्तर—परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावसे किसी बातको पूछना 'परिप्रश्न' है। अर्थात् मैं कौन हूँ? माया क्या है? परमात्माका क्या स्वरूप है? मेरा और परमात्माका क्या सम्बन्ध है? बन्धन क्या है? मुक्ति क्या है? और किस प्रकार साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है?—इत्यादि अध्यात्मविषयक समस्त बातोंको श्रद्धा, भक्ति और सरलतापूर्वक पूछना ही 'परिप्रश्न' है; तर्क और वितण्डासे प्रश्न करना 'परिप्रश्न' नहीं है।

प्रश्न—प्रणाम करनेसे, सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे, तत्त्वज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे—इस कथनका क्या अभिप्राय है? क्या ज्ञानीजन इन सबके बिना ज्ञानका उपदेश नहीं करते?

उत्तर—उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌ने ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा, भक्ति और सरलभावकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि श्रद्धा-भक्तिरहित मनुष्यको दिया हुआ उपदेश उसके द्वारा ग्रहण नहीं होता; इसी कारण महापुरुषोंको प्रणाम, सेवा और आदर-सत्कारकी कोई आवश्यकता न होनेपर भी, अभिमानपूर्वक, उद्दण्डतासे, परीक्षाबुद्धिसे या कपटभावसे प्रश्न करनेवालेके सामने तत्त्वज्ञानसम्बन्धी बातें कहनेमें उनकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। अतएव जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास जाकर उनको आत्मसमर्पण करे, उनकी भलीभाँति सेवा करे और अवकाश देखकर उनसे परमात्माके तत्त्वकी बातें पूछे। ऐसा करनेसे जैसे बछड़ेको देखकर वात्सल्यभावसे गौके स्तनोंमें और बच्चेके लिये माके स्तनोंमें दूधका स्रोत बहने लग जाता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुषोंके अन्तःकरणमें उस अधिकारीको उपदेश करनेके लिये ज्ञानका समुद्र उमड़ आता है। इसलिये श्रुतिमें भी कहा है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' (मुण्डकोपनिषद् १।२।१२)

अर्थात् उस तत्त्वज्ञानको जाननेके लिये वह (जिज्ञासु-साधक) समिधा—यथाशक्ति भेंट हाथमें लिये हुए निरभिमान होकर वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषके पास जावे।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानिनः' के साथ 'तत्त्वदर्शिनः' विशेषण देनेका और उसमें बहुवचनके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'ज्ञानिनः' के साथ 'तत्त्वदर्शिनः' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि परमात्माके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वेदवेत्ता ज्ञानी महापुरुष ही उस तत्त्वज्ञानका उपदेश दे सकते हैं, केवल शास्त्रके ज्ञाता या साधारण मनुष्य नहीं। तथा यहाँ बहुवचनका प्रयोग ज्ञानी महापुरुषको आदर देनेके लिये किया गया है, यह कहनेके लिये नहीं कि तुम्हें बहुत-से तत्त्वज्ञानी मिलकर ज्ञानका उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा॥ ३५॥

प्रश्न—यहाँ 'यत्' पद किसका वाचक है? उसको जानना क्या है? तथा 'फिर इस प्रकारसे मोहको नहीं प्राप्त होगा' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'यत्' पद पूर्वश्लोकमें वर्णित ज्ञानी महापुरुषोंद्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानका वाचक है और उस उपदेशके अनुसार परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेना ही उस ज्ञानको जानना है। तथा 'फिर इस प्रकारसे मोहको नहीं प्राप्त होगा' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस समय तुम जिस प्रकार मोहके वश होकर शोकमें निमग्न हो रहे हो (१।२८–४७; २।६,८) महापुरुषोंद्वारा उपदिष्ट ज्ञानके अनुसार परमात्माका साक्षात् कर लेनेके बाद पुनः तुम इस प्रकारके मोहको नहीं प्राप्त होओगे। क्,

जैसे रात्रिके समय सब जगह फैला हुआ अन्धकार सूर्योदय होनेके बाद नहीं रह सकता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूप-का यथार्थ ज्ञान हो जानेके बाद 'मैं कौन हूँ? संसार क्या है? माया क्या है? ब्रह्म क्या है?' इत्यादि कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। फलतः शरीरको आत्मा समझकर उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियोंमें और पदार्थोंमें ममता करना, शरीरकी उत्पत्ति-विनाशसे आत्माका जन्म-मरण समझकर उन सबके संयोग-वियोगमें सुखी-दुखी होना तथा अन्य किसी भी निमित्तसे राग-द्वेष और हर्ष-शोक करना आदि मोहजनित विकार जरा भी नहीं हो सकते। लौकिक सूर्य तो उदय होकर अस्त भी होता है और उसके अस्त होनेपर फिर अन्धकार हो जाता है; परन्तु यह ज्ञानसूर्य एक बार उदय होनेपर फिर कभी अस्त होता ही नहीं। परमात्माका यह तत्त्वज्ञान नित्य और अचल है, इसका कभी अभाव नहीं होता; इस कारण परमात्माका तत्त्वज्ञान होनेके बाद फिर मोहकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। श्रुति कहती है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशावास्योपनिषद् ७)

अर्थात् जिस समय तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुए पुरुषके लिये समस्त प्राणी आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं, उस समय उस एकत्वदर्शी पुरुषको कौन-सा शोक और कौन-सा मोह हो सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता।

प्रश्न—ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे आत्माके अन्तर्गत देखना क्या है?

उत्तर—महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा समस्त प्राणियोंमें भेद-बुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्-को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्-को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (६।२९)। इस प्रकार आत्मज्ञान होनेके साथ ही मनुष्यके शोक और मोहका सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न—इस प्रकार आत्मदर्शन हो जानेके बाद सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना क्या है?

उत्तर—सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं। इस स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषका अहंभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है; उस समय उस योगीकी परमात्मासे पृथक् सत्ता नहीं रहती, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही रह जाता है। उसका समस्त भूतोंको परमात्मामें स्थित देखना भी शास्त्रदृष्टिसे कहनेमात्रको ही है; क्योंकि उसके लिये द्रष्टा और दृश्यका भेद ही नहीं रहता, तब कौन देखता है और किसको देखता है? यह स्थिति वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये वाणी-से इसका केवल सङ्केतमात्र किया जाता है, लोकदृष्टिमें उस ज्ञानीके जो मन, बुद्धि और शरीर आदि रहते हैं, उनके भावों-को लेकर ही ऐसा कहा जाता है कि वह समस्त प्राणियोंको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें देखता है; क्योंकि वस्तुतः उसकी बुद्धिमें सम्पूर्ण जगत् जलमें बरफ, आकाशमें बादल और स्वर्णमें आभूषणोंकी भाँति ब्रह्मरूप ही हो जाता है, कोई भी पदार्थ या प्राणी ब्रह्मसे भिन्न नहीं रह जाता। छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें जो योगीका 'ब्रह्मभूत' हो जाना तथा उन्तीसवें श्लोकमें योगयुक्तात्मा और सर्वत्र समदर्शी योगीका जो सब भूतोंको आत्मामें स्थित देखना और सब भूतोंमें आत्माको स्थित देखना बतलाया गया है, वह तो यहाँ 'द्रक्ष्यसि आत्मनि' से बतलायी हुई पहली स्थिति है और उस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें जो ब्रह्मसंस्पर्शरूप अत्यन्त सुखकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह यहाँ 'अथो मयि' से बतलायी हुई उस पहली स्थितिकी फलरूपा दूसरी स्थिति है। अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्‌ने ज्ञानयोगके वर्णनमें चौवनवें श्लोकमें योगीका ब्रह्मभूत होना बतलाया है और पचपनवेंमें ज्ञानरूप पराभक्तिके द्वारा उसका परमात्मामें प्रविष्ट होना बतलाया है। वही बात यहाँ दिखलायी गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार गुरुजनोंसे तत्त्वज्ञान सीखनेकी विधि और उसका फल बतलाकर-अब उसका माहात्म्य बतलाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ॥ ३६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'चेत्' और 'अपि' पदोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इन पदोंके प्रयोगसे भगवान्‌ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो, तुम तो दैवी-सम्पदाके लक्षणोंसे युक्त (१६ । ५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (४ । ३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं । परन्तु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मा होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा उन समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो । बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते ।

प्रश्न—जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, ऐसा अत्यन्त पापात्मा मनुष्य तो ज्ञानका अधिकारी भी नहीं माना जा सकता; तब फिर वह ज्ञाननौकाद्वारा पापोंसे कैसे तर जाता है ?

उत्तर—'चेत्' और 'अपि'—पदोंका प्रयोग होनेसे यहाँ इस शङ्काकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव है कि पापी ज्ञानका अधिकारी नहीं होता, इस कारण उसे ज्ञानरूप नौकाका मिलना कठिन है; पर मेरी कृपासे या महापुरुषोंकी दयासे—किसी भी कारणसे यदि उसे ज्ञान प्राप्त हो जाय तो फिर वह चाहे कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, उसका तत्काल ही पापोंसे उद्धार हो जाता है ।

प्रश्न—यहाँ पापोंसे तरनेकी बात कहनेका क्या भाव है, क्योंकि सकामभावसे किये हुए पुण्य कर्म भी तो मनुष्यको बाँधनेवाले हैं ?

उत्तर—पुण्यकर्म भी सकामभावसे किये जानेपर बन्धनके हेतु होते हैं; अतः समस्त कर्मबन्धनोंसे सर्वथा छूटनेपर ही समस्त पापोंसे तरा जाता है, यह ठीक ही है । किन्तु पुण्यकर्मोंका त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है ही, उनके फलका त्याग तो वह जब चाहे तभी कर सकता है; परन्तु ज्ञानके बिना पापोंसे तर जाना उसके हाथकी बात नहीं है । इसलिये पापोंसे तरना कह देनेसे पुण्यकर्मोंके बन्धनसे मुक्त होनेकी बात उसके अन्तर्गत ही आ जाती है ।

प्रश्न—ज्ञानरूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पापसमुद्रसे भलीभाँति तर जाना क्या है ?

उत्तर—जिस प्रकार नौकामें बैठकर मनुष्य अगाध जलराशिपर तैरता हुआ उसके पार चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञानमें स्थित होकर (ज्ञानके द्वारा) अपनेको सर्वथा संसारसे असङ्ग, निर्विकार, नित्य और अनन्त समझकर पहलेके अनेक जन्मोंमें तथा इस जन्ममें किये हुए समस्त पापसमुदायको जो अतिक्रमण कर जाना है—अर्थात् समस्त कर्मबन्धनोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाना है, यही ज्ञानरूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पापसमुदायसे भलीभाँति तर जाना है ।

प्रश्न—इस श्लोकमें 'एव' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' पद यहाँ निश्चयके अर्थमें है । उसका भाव यह है कि काठकी नौकामें बैठकर जलराशिपर तैरनेवाला मनुष्य तो कदाचित् उस नौकाके टूट जानेसे या उसमें छेद हो जाने अथवा तूफान आनेसे नौकाके साथ-ही-साथ स्वयं भी जलमें डूब सकता है । पर यह ज्ञानरूप नौका स्थिर है; इसका अवलम्बन करनेवाला मनुष्य निःसन्देह पापोंसे तर जाता है, उसके पतनकी जरा भी आशङ्का नहीं रहती ।

सम्बन्ध—कोई भी दृष्टान्त परमार्थविषयको पूर्णरूपसे नहीं समझा सकता, उसके एक अंशको ही समझानेके लिये उपयोगी होता है; अतएव पूर्वश्लोकमें बतलाये हुए ज्ञानके महत्त्वको अग्निके दृष्टान्तसे पुनः स्पष्ट करते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अग्निकी उपमा देते हुए ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका भस्ममय किया जाना बतलाकर क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—इससे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि समस्त काष्ठादि ईंधनके समुदायको भस्मरूप बनाकर उसे नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानरूप अग्नि जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, उन सबको—अर्थात् उनके फलरूप सुख-दुःख-भोगोंके तथा उनके कारणरूप अविद्या और अहंता-ममता, राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंके सहित समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है । श्रुतिमें भी कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
(मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ८)

अर्थात् उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इस ज्ञानीके जड-चेतनकी एकतारूप हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है; जड देहादिमें जो अज्ञानसे आत्माभिमान हो रहा है, उसका तथा समस्त संशयोंका नाश हो जाता है; फिर परमात्माके स्वरूपज्ञानके विषयमें किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी संशय या भ्रम नहीं रहता और समस्त कर्म फलसहित नष्ट हो जाते हैं ।

इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' विशेषणसे भी यही बात कही गयी है ।

इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम 'सञ्चित' कर्म है । उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम 'प्रारब्ध' कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको 'क्रियमाण' कहते हैं । उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसञ्चित संस्कारोंका अभाव हो जाता है । मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असङ्ग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्धभोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी उन भोगोंके कारण उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं हो सकते । इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं।

इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है और जब कर्म ही नष्ट हो जाते हैं, तब उनका फल तो हो ही कैसे सकता है ? और बिना सञ्चित संस्कारोंके उसमें राग-द्वेष तथा हर्ष-शोक आदि विकारोंकी वृत्तियाँ भी कैसे हो सकती हैं ? अतएव उसके समस्त विकार और समस्त कर्मफल भी कर्मोंके साथ ही नष्ट हो जाते हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार चौंतीसवें श्लोकसे यहाँतक तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा आदि करके तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिये कहकर भगवान्‌ने उसके फलका वर्णन करते हुए उसका माहात्म्य बतलाया । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यह तत्त्वज्ञान ज्ञानी महापुरुषोंसे श्रवण करके विधिपूर्वक मनन और निदिध्यासनादि ज्ञानयोगके साधनोंद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है या इसकी प्राप्तिका कोई दूसरा मार्ग भी है; इसपर अगले श्लोकमें पुनः उस ज्ञानकी महिमा प्रकट करते हुए भगवान् कर्मयोगके द्वारा भी वही ज्ञान अपने-आप प्राप्त होनेकी बात कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है॥ ३८॥

प्रश्न—इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि इस जगत्‌में यज्ञ, दान, तप, सेवा-पूजा, व्रत-उपवास, प्राणायाम, शम-दम, संयम और जप-ध्यान आदि जितने भी साधन तथा गङ्गा, यमुना, त्रिवेणी आदि जितने भी तीर्थ मनुष्यके पापोंका नाश करके उसे पवित्र करनेवाले हैं, उनमेंसे कोई भी इस यथार्थ ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकता; क्योंकि वे सब इस तत्त्वज्ञानके साधन हैं और यह ज्ञान उन सबका फल (साध्य) है; वे सब इस ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक होनेके कारण ही पवित्र माने गये हैं। इससे मनुष्य परमात्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति जान लेता है; उसमें झूठ, कपट, चोरी, जारी आदि पापोंका, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, अहंता-ममता आदि समस्त विकारोंका और अज्ञानका सर्वथा अभाव हो जानेसे वह परम पवित्र बन जाता है। उसके मन, इन्द्रिय और शरीर भी अत्यन्त पवित्र हो जाते हैं; इस कारण श्रद्धापूर्वक उस महापुरुषका दर्शन, स्पर्श, वन्दन, चिन्तन आदि करनेवाले तथा उसके साथ वार्तालाप करनेवाले दूसरे मनुष्य भी पवित्र हो जाते हैं। इसलिये संसारमें परमात्माके तत्त्वज्ञानके समान पवित्र वस्तु दूसरी कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—'इह' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'इह' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया गया है कि प्रकृतिके कार्यरूप इस जगत्‌में ज्ञानके समान कुछ भी नहीं है, सबसे बढ़कर पवित्र करनेवाला ज्ञान ही है। किन्तु जो इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोक-महेश्वर, गुणोंके समुद्र, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार-स्वरूप परमेश्वर इस प्रकृतिके अध्यक्ष हैं, जिनके स्वरूपका साक्षात् करनेवाला होनेसे ही ज्ञानकी पवित्रता है, वे सबके सुहृद्, सर्वाधार परमात्मा तो परम पवित्र हैं; उनसे बढ़कर यहाँ ज्ञानको पवित्र नहीं बतलाया गया है। क्योंकि परमात्माके समान ही दूसरा कोई नहीं है, तब उनसे बढ़कर कोई कैसे हो सकता है? इसीलिये अर्जुनने कहा भी है—'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।' (१०।१२) अर्थात् आप परब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं तथा भीष्मजीने भी कहा है—'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।' अर्थात् वे परमेश्वर पवित्र करनेवालोंमें अतिशय पवित्र और कल्याणोंमें भी परम कल्याणस्वरूप हैं (महा० अनु० १४९।१०)।

प्रश्न—'योगसंसिद्धः' पद किसका वाचक है और 'वह उस ज्ञानको अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कितने ही कालतक कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है, जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये होते हैं—उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धः' पद है। अतएव इस प्रकार योग-संसिद्ध पुरुष उस ज्ञानको अपने-आप आत्मामें पा लेता है—इस वाक्यसे यह भाव समझना चाहिये कि जिस समय उसका साधन अपनी सीमातक पहुँच जाता है, उसी क्षण परमेश्वरके अनुग्रहसे उसके अन्तःकरणमें अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उसे न तो कोई दूसरा साधन करना पड़ता है और न ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञानियोंके पास निवास ही करना पड़ता है; बिना किसी दूसरे प्रकारके साधन और सहायताके केवल कर्मयोगके साधनसे ही उसे यह ज्ञान भगवान्‌की कृपासे अपने-आप ही मिल जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानकी महिमा कहते हुए उसकी प्राप्तिके सांख्ययोग और कर्मयोग—दो उपाय बतलाकर, अब भगवान् उस ज्ञानकी प्राप्तिके पात्रका निरूपण करते हुए उस ज्ञानका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

प्रश्न—'श्रद्धावान्' पद कैसे मनुष्यका वाचक है और वह ज्ञानको प्राप्त होता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना है—उसका नाम श्रद्धा है; और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसका वाचक 'श्रद्धावान्' पद है। अतः उपर्युक्त कथनका यहाँ यह भाव है कि ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ही ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर प्रणाम, सेवा और विनययुक्त प्रश्न आदिके द्वारा उनसे उपदेश प्राप्त करके ज्ञानयोगके साधनसे या कर्मयोगके साधनसे उस तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर सकता है; श्रद्धारहित मनुष्य उस ज्ञानकी प्राप्तिका पात्र नहीं होता।

प्रश्न—बिना श्रद्धाके भी मनुष्य महापुरुषोंके पास जाकर प्रणाम, सेवा और प्रश्न कर सकता है; फिर ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धाको प्रधानता देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बिना श्रद्धाके उनकी परीक्षाके लिये, अपनी विद्वत्ता दिखलानेके लिये और मान-प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे या दम्भाचरणके लिये भी मनुष्य महात्माओंके पास जाकर प्रणाम, सेवा और प्रश्न तो कर सकता है, पर इससे उसको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि सभी साधनोंको व्यर्थ बतलाया गया है (१७ । २८) । इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है। जितनी अधिक श्रद्धासे ज्ञानके साधनका अनुष्ठान किया जाता है, उतना ही अधिक शीघ्र वह साधन ज्ञान प्रकट करनेमें समर्थ होता है।

प्रश्न—ज्ञान-प्राप्तिमें यदि श्रद्धाकी प्रधानता है, तब फिर यहाँ श्रद्धावान्के साथ 'तत्परः' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—साधनकी तत्परतामें भी श्रद्धा ही कारण है और तत्परता श्रद्धाकी कसौटी है। श्रद्धाकी कमीके कारण साधनमें अकर्मण्यता और आलस्य आदि दोष आ जाते हैं। इससे अभ्यास तत्परताके साथ नहीं होता। श्रद्धाके तत्त्वको न जाननेवाले साधक लोग अपनी थोड़ी-सी श्रद्धाको भी बहुत मान लेते हैं; पर उससे कार्यकी सिद्धि नहीं होती, तब वे अपने साधनमें तत्परताकी त्रुटिकी ओर ध्यान न देकर यह समझ लेते हैं कि श्रद्धा होनेपर भी भगवत्प्राप्ति नहीं होती। किन्तु ऐसा समझना उनकी भूल है। वास्तवमें बात यह है कि साधनमें जितनी श्रद्धा होती है, उतनी ही तत्परता होती है। जैसे एक मनुष्यका धनमें प्रेम है, वह कोई व्यापार करता है। यदि उसको यह विश्वास होता है कि इस व्यापारसे मुझे धन मिलेगा, तो वह उस व्यापारमें इतना तत्पर हो जाता है कि खाना-पीना, सोना, आराम करना आदिके व्यतिक्रम होनेपर तथा शारीरिक क्लेश होनेपर भी उसे उसमें कष्ट नहीं मालूम होता; बल्कि धनकी वृद्धिसे उत्तरोत्तर उसके चित्तमें प्रसन्नता ही होती है। इसी प्रकार अन्य सभी बातोंमें विश्वाससे ही तत्परता होती है। इसलिये परम शान्ति और परम आनन्ददायक, नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिका साक्षात् द्वार जो परमात्माके तत्त्वका ज्ञान है, उसमें और उसके साधनमें श्रद्धा होनेके बाद साधनमें अतिशय तत्परताका होना स्वाभाविक ही है। यदि साधनमें तत्परताकी कमी है तो समझना चाहिये कि श्रद्धाकी अवश्य कमी है। इसी बातको जनानेके लिये 'श्रद्धावान्' के साथ 'तत्परः' विशेषण दिया गया।

प्रश्न—श्रद्धा और तत्परता दोनों होनेपर तो ज्ञानकी प्राप्ति होनेमें कोई शङ्का ही नहीं रहती, फिर श्रद्धावान्के साथ दूसरा विशेषण 'संयतेन्द्रियः' देनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे पापोंका नाश एवं संसारके विषयभोगोंमें वैराग्य होकर मनसहित इन्द्रियोंका संयम हो जाता है और फिर परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है; किन्तु इस बातके रहस्यको न जाननेवाला साधक थोड़े-से अभ्यासको ही तीव्र अभ्यास मान लेता है; उससे कार्यकी सिद्धि होती नहीं इसलिये वह निराश होकर उसको छोड़ बैठता है। अतएव साधकको सावधान करनेके लिये 'संयतेन्द्रियः'

विशेषण देकर यह बात बतलायी गयी है कि जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है। जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है। अतएव इन्द्रिय-संयमकी जितनी कमी है, उतनी ही साधनमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये—इसी बातको जनानेके लिये 'संयतेन्द्रियः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे सूर्योदय होनेके साथ ही उसी क्षण अन्धकारका नाश होकर सब पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेपर उसी क्षण अज्ञानका नाश होकर परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है (५। १६)। अभिप्राय यह है कि अज्ञान और उसके कार्यरूप वासनाओंके सहित राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका तथा शुभाशुभ कर्मोंका अत्यन्त अभाव, परमात्माके तत्त्वका ज्ञान एवं परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति—ये सब एक ही कालमें होते हैं और विज्ञानानन्दघन परमात्माकी साक्षात् प्राप्तिको ही यहाँ परम शान्तिके नामसे कहा गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धावान्‌को ज्ञानकी प्राप्ति और उस ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाकर अब श्रद्धा और विवेकहीन संशयात्माकी निन्दा करते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है॥ ४०॥

प्रश्न—'अज्ञः' और 'अश्रद्दधानः' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'संशयात्मा' पद कैसे मनुष्यका वाचक है और वह परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—जिसमें सत्य-असत्य और आत्म-अनात्मपदार्थोंका विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है इस कारण जो कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका निर्णय नहीं कर सकता, ऐसे विवेक-ज्ञान-रहित मनुष्यका वाचक यहाँ 'अज्ञः' पद है; जिसकी ईश्वर और परलोकमें, उनकी प्राप्तिके उपाय बतलानेवाले शास्त्रोंमें, महापुरुषोंमें और उनके द्वारा बतलाये हुए साधनोंमें एवं उनके फलमें श्रद्धा नहीं है—उसका वाचक 'अश्रद्दधानः' पद है तथा ईश्वर और परलोकके विषयमें या अन्य किसी भी विषयमें जो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता, प्रत्येक विषयमें संशययुक्त रहता है—उसका वाचक 'संशयात्मा' पद है। जिस संशयात्मा मनुष्यमें उपर्युक्त अज्ञता और अश्रद्धालुता ये दोनों दोष हों उसका वाचक यहाँ 'अज्ञः' और 'अश्रद्दधानः' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'संशयात्मा' पद है। 'वह परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है।' इस कथनसे यह भाव दिखाया गया है कि वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण तथा जो कुछ समझमें आवे उसपर भी विश्वास न होनेके कारण जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है जो किसी प्रकार भी अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाता, हर हालतमें संशययुक्त रहता है वह मनुष्य अपने मनुष्य जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है, उससे हो सकनेवाले परम लाभसे सर्वथा वञ्चित रह जाता है। किन्तु जिसमें हरेक विषयको स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति है और जिसकी वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें श्रद्धा है वह इस प्रकार नष्ट नहीं होता, वह उनकी सहायतासे अर्जुनकी भाँति.

संशयका सर्वथा नाश करके कर्तव्यपरायण हो सकता है और कृतकृत्य होकर मनुष्य जन्मको सफल बना सकता है। तथा जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है ऐसा अज्ञ मनुष्य भी यदि श्रद्धालु हो तो श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधनपरायण हो सकता है और उनकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है, (१३। २५) परन्तु जिस संशययुक्त पुरुषमें न विवेकशक्ति है और न श्रद्धा ही है उसके संशयके नाशका कोई उपाय नहीं रह जाता इसलिये जबतक उसमें श्रद्धा या विवेक नहीं आ जाता उसका अवश्य पतन हो जाता है।

प्रश्न—'संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है न परलोक है और न सुख ही है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखाया है कि संशययुक्त मनुष्य केवल परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है इतनी ही बात नहीं है, जबतक मनुष्यमें संशय विद्यमान रहता है, वह उसका नाश नहीं कर लेता, तबतक वह न तो इस लोकमें यानी मनुष्यशरीरमें रहते हुए धन, ऐश्वर्य या यशकी प्राप्ति कर सकता है, न परलोकमें यानी मरनेके बाद स्वर्गादिकी प्राप्ति कर सकता है और न किसी प्रकारके सांसारिक सुखोंको ही भोग सकता है; क्योंकि जबतक मनुष्य किसी भी विषयमें संशययुक्त रहता है, कोई निश्चय नहीं कर लेता, तबतक वह उस विषयमें सफलता नहीं पा सकता। अतः मनुष्यको श्रद्धा और विवेकद्वारा इस संशयका अवश्य ही नाश कर डालना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अविवेक और अश्रद्धाके सहित संशयको ज्ञानप्राप्तिमें बाधक बतलाकर, अब विवेकद्वारा संशयका नाश करके कर्मयोगका अनुष्ठान करनेमें अर्जुनका उत्साह उत्पन्न करनेके लिये संशयरहित तथा वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले कर्मयोगीकी प्रशंसा करते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

हे धनंजय ! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥

प्रश्न—'योगसंन्यस्तकर्माणम्' इस पदमें 'योग' शब्दका अर्थ ज्ञानयोग मानकर इस पदका अर्थ ज्ञानयोगके द्वारा शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—यहाँ स्वरूपसे कर्मोंके त्यागका प्रकरण नहीं है। इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी है कि 'योगद्वारा कर्मोंका संन्यास करनेवाले मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते', इसी बातको अगले श्लोकमें 'तस्मात्' पदसे आदर्श बतलाते हुए भगवान्ने अर्जुनको योगमें स्थित होकर युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी है। यदि इस श्लोकमें 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' पदका स्वरूपसे कर्मोंका त्याग अर्थ भगवान्‌को अभिप्रेत होता तो भगवान् ऐसा नहीं कहते। इसलिये यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्'का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला त्यागी (३।३०; ५।१०) मानना ही उचित है; क्योंकि उक्त पदका अर्थ प्रकरणके अनुसार ऐसा ही जान पड़ता है।

प्रश्न—'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' पदमें 'ज्ञान' शब्दका क्या अर्थ है ? गीतामें 'ज्ञान' शब्द किन-किन श्लोकोंमें किन-किन अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है ?

उत्तर—उपर्युक्त पदमें 'ज्ञान' शब्द किसी भी वस्तुके स्वरूपका विवेचन करके तद्विषयक संशयका नाश कर देनेवाली विवेकशक्तिका वाचक है। 'ज्ञा अवबोधने' इस

धात्वर्थके अनुसार ज्ञानका अर्थ 'जानना' है। अतः गीतामें प्रकरणके अनुसार 'ज्ञान' शब्द निम्नलिखित प्रकारसे भिन्न-भिन्न अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।

(क) बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानको और उससे भी कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है। इस कारण वहाँ ज्ञानका अर्थ शास्त्र और श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा होनेवाला विवेकज्ञान है।

(ख) तेरहवें अध्यायके सतरहवें श्लोकमें ज्ञेयके वर्णनमें विशेषणके रूपमें 'ज्ञान' शब्द आया है। इस कारण वहाँ ज्ञानका अर्थ परमेश्वरका नित्यविज्ञानानन्दघन स्वरूप ही है।

(ग) अठारहवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंकी गणनामें 'ज्ञान' शब्द आया है, उसका अर्थ शास्त्रोंका अध्ययनाध्यापन माना गया है।

(घ) इस अध्यायके छत्तीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक आये हुए सभी 'ज्ञान' शब्दोंका अर्थ परमात्माका तत्त्वज्ञान है; क्योंकि उसको समस्त कर्मकलापको भस्म कर डालनेवाला, समस्त पापोंसे तार देनेवाला, सबसे बढ़कर पवित्र, योगसिद्धिका फल और परमा शान्तिका कारण बतलाया है। इसी तरह पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें परमात्माके स्वरूपको साक्षात् करानेवाला और चौदहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें समस्त ज्ञानोंमें उत्तम बतलाया जानेके कारण 'ज्ञान' का अर्थ तत्त्वज्ञान है। दूसरी जगह भी प्रसङ्गसे ऐसा ही समझ लेना चाहिये।

(ङ) अठारहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें नाना वस्तुओंको और जीवोंको भिन्न-भिन्न जाननेका द्वार होनेसे 'ज्ञान' शब्दका अर्थ 'राजस ज्ञान' है।

(च) तेरहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें तत्त्वज्ञानके साधनसमुदायका नाम 'ज्ञान' है।

(छ) तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'योग' शब्दके साथ रहनेसे 'ज्ञान' शब्दका अर्थ ज्ञानयोग यानी सांख्ययोग है। इसी तरह दूसरी जगह भी प्रसङ्गानुसार 'ज्ञान' शब्द सांख्ययोगके अर्थमें आया है। और भी बहुत-से स्थलोंपर प्रसङ्गानुसार 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है, उसे वहाँ देखना चाहिये।

प्रश्न—'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' पदमें 'ज्ञान' शब्दका अर्थ यदि 'तत्त्वज्ञान' मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेपर समस्त संशयोंका समूल नाश होकर तत्काल ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, फिर परमात्माकी प्राप्तिके लिये किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यहाँ ज्ञानका अर्थ तत्त्वज्ञान मानना ठीक नहीं है; क्योंकि तत्त्वज्ञान कर्मयोगका फल है और इसके अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनको ज्ञानके द्वारा अज्ञानजनित संशयका नाश करके कर्मयोगमें स्थित होनेके लिये कहते हैं। इसलिये यहाँ जैसा अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना क्या है?

उत्तर—ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है, परलोक है या नहीं, यदि है तो कैसे है और कहाँ है, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड़ हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या प्रकृति, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी शङ्काएँ तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, उन्हींका नाम संशय है।

इन समस्त शङ्काओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है।

प्रश्न—'आत्मवन्तम्' पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—आत्मशब्दवाच्य इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण-पर जिसका पूर्ण अधिकार है, अर्थात् जिनके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस मनुष्यके लिये यहाँ 'आत्मवन्तम्' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त पुरुषको कर्म नहीं बाँधते, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर युद्ध करनेकी आज्ञा देकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके भगवान्ने अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होनेके लिये उत्साहित किया है। अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकमें वर्णित कर्मयोगमें स्थित मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, इसलिये तुम्हें वैसा ही बनना चाहिये।

प्रश्न—'भारत' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—'भारत' सम्बोधनसे सम्बोधित करके भगवान् राजर्षि भरतका चरित्र याद दिलाते हुए यह भाव दिखलाते हैं कि राजर्षि भरत बड़े भारी कर्मठ, साधनपरायण, उत्साही पुरुष थे। तुम भी उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुए हो; अतः तुम्हें भी उन्हींकी भाँति वीरता, धीरता और गम्भीरतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करनेमें तत्पर रहना चाहिये।

प्रश्न—'एनम्' पदके सहित 'संशयम्' पद यहाँ किस संशयका वाचक है और उसके साथ 'अज्ञानसम्भूतम्' और 'हृत्स्थम्' इन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इकतालीसवें श्लोकमें 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' पद-में जिस संशयका उल्लेख हुआ है; तथा जिसका स्वरूप उसी श्लोककी व्याख्यामें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है—उसीका वाचक यहाँ 'एनम्' पदके सहित 'संशयम्' पद है। उसके साथ 'अज्ञानसम्भूतम्' विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। 'हृत्स्थम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि इसका स्थान हृदय यानी अन्तः-करण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

प्रश्न—अर्जुनको उस संशयका छेदन करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ? क्या अर्जुनके अन्तःकरणमें भी ऐसा संशय था ?

उत्तर—पहले युद्धको उचित समझकर ही अर्जुन लड़ने-के लिये तैयार होकर रणभूमिमें आये थे और उन्होंने भगवान्-से दोनों सेनाओंके बीचमें अपना रथ खड़ा करनेको कहा था; फिर जब उन्होंने दोनों सेनाओंमें उपस्थित अपने बन्धु-बान्धवोंको मरनेके लिये तैयार देखा तो मोहके कारण वे चिन्तामग्न हो गये और युद्धको पापकर्म समझने लगे (१। २८—४७)। इसपर भगवान्के द्वारा युद्ध करनेके लिये कहे जानेपर भी (२।३) वे अपना कर्तव्य निश्चय न कर सके

और किङ्कर्तव्यविमूढ़ होकर कहने लगे कि 'मैं गुरुजनोंके साथ कैसे युद्ध कर सकूँगा (२ । ४); मेरे लिये क्या करना श्रेष्ठ है और इस युद्धमें किसकी विजय होगी, इसका कुछ भी पता नहीं है (२ । ६) तथा मेरे लिये जो कल्याणका साधन हो, वही आप मुझे बतलाइये, मेरा चित्त मोहित हो रहा है (२ । ७)।' इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे। इसके सिवा छठे अध्यायमें अर्जुनने कहा है कि मेरे इस संशयका छेदन करनेमें आप ही समर्थ हैं (६ । ३९) और गीताका उपदेश सुन चुकनेके बाद कहा है कि अब मैं सन्देहरहित हो गया हूँ (१८ । ७३) एवं भगवान्‌ने भी जगह-जगह (८ । ७; १२ । ८) अर्जुनसे कहा है कि मैं जो कुछ तुम्हें कहता हूँ, उसमें संशय नहीं है; इसमें तुम शङ्का न करो । इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय था और उसीके कारण वे अपने स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे । इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका छेदन करनेके लिये कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि मैं तुम्हें जो आज्ञा दे रहा हूँ, उसमें किसी प्रकारकी शङ्का न करके उसका पालन करनेके लिये तुम्हें तैयार हो जाना चाहिये ।

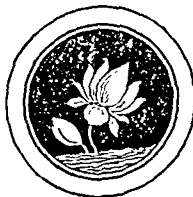
प्रश्न—यहाँ अर्जुनको अपने आत्माका संशय छेदन करनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे भक्त और सखा हो, अतः तुम्हें उचित तो यह है कि दूसरोंके अन्तःकरणमें भी यदि कोई शङ्का हो तो उनको समझाकर उसका छेदन कर डालो; पर ऐसा न कर सको तो तुम्हें कम-से-कम अपने संशयका छेदन तो कर ही डालना चाहिये ।

प्रश्न—योगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अध्यायका उपसंहार करते हुए यह भाव दिखलाया है कि मैं तुम्हें जो कुछ भी कहता हूँ, तुम्हारे हितके लिये ही कहता हूँ, अतः उसमें शङ्कारहित होकर तुम मेरे कथनानुसार कर्मयोगमें स्थित होकर फिर युद्धके लिये तैयार हो जाओ । ऐसा करनेसे तुम्हारा सब प्रकारसे कल्याण होगा ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पञ्चमोऽध्यायः

अध्यायका नाम — इस पञ्चम अध्यायमें कर्मयोग-निष्ठा और सांख्ययोग-निष्ठाका वर्णन है, सांख्ययोगका ही पर्याय-वाची शब्द 'संन्यास' है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्म-संन्यासयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप — इस अध्यायके पहले श्लोकमें 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताके सम्बन्धमें अर्जुनका प्रश्न है। दूसरेमें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने सांख्ययोग और कर्मयोग दोनोंको ही कल्याणकारक बतलाकर 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग'को श्रेष्ठ बतलाया है, तीसरेमें कर्मयोगीका महत्त्व बतलाकर चौथे और पाँचवेंमें 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग'—दोनोंका फल एकही होनेके कारण, दोनोंकी एकताका प्रतिपादन किया है। छठेमें कर्मयोग-के बिना सांख्ययोगका सम्पादन कठिन बतलाकर कर्मयोगका फल अविलम्ब ही ब्रह्मकी प्राप्ति होना कहा है। सातवेंमें कर्मयोगी-की निर्लिप्तताका प्रतिपादन करके आठवें और नवेंमें सांख्ययोगीके अकर्तापनका निर्देश किया है। तदनन्तर दसवें और ग्यारहवेंमें भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेवालेकी और कर्म-प्रधान कर्मयोगीकी प्रशंसा करके कर्मयोगियोंके कर्मोंको आत्म-शुद्धिमें हेतु बतलाया है और बारहवेंमें कर्मयोगियोंको नैष्ठिकी शान्तिकी एवं सकामभावसे कर्म करनेवालोंको बन्धनकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। तेरहवेंमें सांख्ययोगीकी स्थिति बतलाकर चौदहवें और पंद्रहवेंमें परमेश्वरको कर्म, कर्तापन और कर्मोंके फल-संयोगका न रचनेवाला तथा किसीके भी पुण्य-पापको ग्रहण न करनेवाला कहकर यह बतलाया है कि अज्ञानके द्वारा ज्ञानके ढके जानेसे ही सब जीव मोहित हो रहे हैं। सोलहवेंमें ज्ञानका महत्त्व बतलाकर सतरहवेंमें ज्ञानयोगके एकान्त साधनका वर्णन किया है, फिर अठारहवेंसे बीसवेंतक परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले महापुरुषोंकी समदृष्टि और स्थितिका वर्णन करके उनको परमगतिका प्राप्त होना बतलाया है। इक्कीसवेंमें अक्षय आनन्दकी प्राप्तिका साधन और उसकी प्राप्ति बतलायी गयी है। बाईसवेंमें भोगोंको दुःखके कारण और विनाशशील बतलाकर तथा विवेकी मनुष्यके लिये उनमें आसक्त न होनेकी बात कहकर तेईसवेंमें काम-क्रोधके वेगको सहन कर सकनेवाले पुरुषको योगी और सुखी बतलाया है। चौबीसवेंसे छब्बीसवेंतक सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थिति और निर्वाणब्रह्मको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके लक्षण बतलाकर सत्ताईसवें और अट्ठाईस-वेंमें फलसहित ध्यानयोगका संक्षिप्त वर्णन किया गया है और अन्तमें उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌को समस्त यज्ञोंके भोक्ता, सर्व-लोकमहेश्वर और प्राणिमात्रके परमसुहृद् जान लेनेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (४। ३८); चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्‌के द्वारा कर्म-योगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परन्तु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्‌के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये ॥ १ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'कृष्' धातुका अर्थ है आकर्षण करना, खींचना और 'ण' आनन्दका वाचक है। भगवान् नित्यानन्द-स्वरूप हैं, इसलिये वे सबको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसीसे उनका नाम 'कृष्ण' है। यहाँ भगवान्‌को 'कृष्ण' नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, अतः मेरे इस प्रश्नका उत्तर देनेमें आप ही पूर्ण समर्थ हैं।

प्रश्न—क्या यहाँ 'कर्म-संन्यास' का अर्थ कर्मोंका स्वरूपतः त्याग है?

उत्तर—चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहीं भी कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी प्रशंसा नहीं की और न अर्जुनको ऐसा करनेके लिये कहीं आज्ञा ही दी; बल्कि इसके विपरीत स्थान-स्थानपर निष्कामभावसे कर्म करनेके लिये कहा है (४।१५, ४२), अतएव यहाँ कर्मसंन्यासका अर्थ कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं है। कर्म-संन्यासका अर्थ है—'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, (३। २८) तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (४।२४)' यहाँ यही ज्ञानयोग है—यही कर्म-संन्यास है। चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए 'संन्यास' और 'कर्मयोग' दोनोंको ही कल्याणकारक बतलाया है और चौथे तथा पाँचवें श्लोकोंमें इसी 'संन्यास' को 'सांख्य' एवं पुनः छठे श्लोकमें इसीको 'संन्यास' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ 'कर्म-संन्यास' का अर्थ सांख्ययोग या ज्ञानयोग है, कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं है। इसके अतिरिक्त भगवान्‌के मतसे कर्मोंके स्वरूपतः त्यागमात्रसे ही कल्याण भी नहीं होता (३।४) और कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग होना सम्भव भी नहीं है (३।५; १८।११)। इसलिये यहाँ कर्मसंन्यासका अर्थ ज्ञानयोग ही मानना चाहिये, कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं।

प्रश्न—अर्जुनने तीसरे अध्यायके आरम्भमें यह पूछा ही था कि 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे मुझको एक साधन बतलाइये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त कर सकूँ। फिर यहाँ उन्होंने दुबारा वही प्रश्न किस अभिप्रायसे किया?

उत्तर—वहाँ अर्जुनने 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' के विषयमें नहीं पूछा था, वहाँ तो अर्जुनके प्रश्नका यह भाव था कि 'यदि आपके मतमें कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों लगा रहे हैं? आपके वचनोंको मैं स्पष्ट समझ नहीं रहा हूँ, वे मुझे मिश्रित-से प्रतीत होते हैं अतएव मुझको एक बात बतलाइये।' परन्तु यहाँ तो अर्जुनका प्रश्न ही दूसरा है। यहाँ अर्जुन न तो कर्मकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ समझ रहे हैं और न भगवान्‌के वचनोंको वे मिश्रित-से ही मान रहे हैं। वरं वे स्वयं इस बातको स्वीकार करते हुए ही पूछ रहे हैं—'आप 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' दोनोंकी प्रशंसा कर रहे हैं और दोनोंको पृथक्-पृथक् बतला रहे हैं (३। ३) परन्तु अब यह बतलाइये कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेयस्कर है?' इससे सिद्ध है कि अर्जुनने यहाँ तीसरे अध्यायवाला प्रश्न दुबारा नहीं किया है।

प्रश्न—भगवान्‌ने जब तीसरे अध्यायके उन्नीसवें और तीसवें श्लोकोंमें तथा चौथे अध्यायके पंद्रहवें और बयालीसवें श्लोकोंमें अर्जुनको कर्मयोगके अनुष्ठानकी स्पष्टरूपसे आज्ञा दे दी थी, तब फिर वे यहाँ यह बात किस प्रयोजनसे पूछ रहे हैं?

उत्तर—यह तो ठीक है। परन्तु भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही निष्ठाओंके अनुसार कई प्रकारके विभिन्न साधनोंका यज्ञके नामसे वर्णन किया और वहाँ द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी प्रशंसा की (४। ३३), और तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे ज्ञानका उपदेश प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा और प्रशंसा की

(४ । ३४, ३५) फिर यह भी स्पष्ट कहा कि 'कर्मयोगसे पूर्णतया सिद्ध हुआ मनुष्य तत्त्वज्ञानको स्वयं ही प्राप्त कर लेता है (४ । ३८) । इस प्रकार दोनों ही साधनोंकी प्रशंसा सुनकर अर्जुन अपने लिये किसी एक कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सके। इसलिये यहाँ वे यदि भगवान्‌का निश्चित मत जाननेके लिये ऐसा प्रश्न करते हैं तो उचित ही करते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान्‌से स्पष्टतया यह पूछना चाहते हैं कि 'आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ! आप ही बतलाइये, मुझे यथार्थ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञानियोंद्वारा श्रवण-मनन आदि साधनपूर्वक 'ज्ञानयोग'की विधिसे करनी चाहिये या आसक्तिरहित होकर निष्कामभावसे भगवदर्पित कर्मोंका सम्पादन करके 'कर्मयोग'की विधिसे ?

सम्बन्ध—अब भगवान् अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं —

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले-कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

प्रश्न—यहाँ 'संन्यास' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'सम्' उपसर्गका अर्थ है 'सम्यक् प्रकारसे' और 'न्यास' का अर्थ है 'त्याग' । ऐसा पूर्ण त्याग ही संन्यास है। यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें, कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। गीतामें 'संन्यास' और 'संन्यासी' शब्दोंका प्रसङ्गानुसार विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। कहीं कर्मोंके भगवदर्पण करनेको 'संन्यास कहा है (३ । ३०; १२ । ६; १८।५७)तो कहीं काम्यकर्मोंके त्यागको (१८ । २); कहीं मनसे कर्मोंके त्यागको (५ । १३), तो कहीं कर्मयोगको (६ । २); कहीं कर्मोंके स्वरूपतः त्यागको (३ । ४; १८ । ७); तो कहीं सांख्ययोग अर्थात् ज्ञाननिष्ठाको (५ । ६; १८ । ४९) 'संन्यास' कहा है। इसी प्रकार कहीं कर्मयोगीको 'संन्यासी' (६ । १, १८ । १२) और 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' (९ । २८) कहा गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें 'संन्यास' शब्द सभी जगह एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है। प्रकरणके अनुसार उसके पृथक्-पृथक् अर्थ होते हैं।यहाँ 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' का तुलनात्मक विवेचन है। भगवान्‌ने चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास'को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

प्रश्न—भगवान्‌के द्वारा संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोग—दोनोंको कल्याणकारक बतलाये जानेका यहाँ यदि यह अभिप्राय मान लिया जाय कि ये दोनों सम्मिलित होकर ही कल्याणरूप फल प्रदान करते हैं, तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंका सम्पादन एक कालमें एक ही पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्मयोगी साधनकालमें कर्मको, कर्मफलको, परमात्माको और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्तिका त्याग करके ईश्वरार्पण-बुद्धिसे समस्त कर्म करता है (३ । ३०; ५ । १०; ९ । २७-२८; १२ । १० और १८ । ५६-५७) । और सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३ । २८) अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं (५ । ८-९) ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहता है। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता (५ । ८-९)।कर्मयोगी अपने कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है (९ । २७-२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली अहंतारहित

क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७)। कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे पृथक् मानता है (१२।६-७), सांख्य-योगी सदा अभेद मानता है (१८।२०)। कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है(१८।६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी भी सत्ता नहीं मानता (१३।३०)। कर्मयोगी कर्मफल और कर्मकी सत्ता मानता है; सांख्ययोगी न तो ब्रह्मसे भिन्न कर्म और उनके फलकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है।इस प्रकार दोनोंकी साधनप्रणाली और मान्यता-में पूर्व और पश्चिमकी भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्थामें दोनों निष्ठाओंका साधन एक पुरुष एक कालमें नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, यदि दोनों साधन मिलकर ही कल्याणकारक होते तो, न तो अर्जुनका यह पूछना ही बनता कि इनमेंसे जो एक सुनिश्चित कल्याणकारक साधन हो, वही मुझे बतलाइये और न भगवान्‌का यह उत्तर देना ही बनता कि कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है और जो स्थान सांख्ययोगियोंको मिलता है वही कर्मयोगियोंको भी मिलता है। अतएव यही मानना उचित है कि दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं। यद्यपि दोनोंका एक ही फल यथार्थ तत्त्वज्ञानद्वारा परम कल्याणस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है, तथापि अधिकारीभेदसे साधनमें सुगम होनेके कारण अर्जुनके लिये सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न—जब संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोग—दोनों ही अलग-अलग स्वतन्त्ररूपसे परम कल्याण करनेवाले हैं तो फिर भगवान्‌ने यहाँ सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ क्यों बतलाया ?

उत्तर—कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (५।३)। उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (५।६)। प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (९।२२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मरणरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (२।४०)। किन्तु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (१२।५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (५।६)। इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

सम्बन्ध—सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया। अब उसी बातको सिद्ध करनेके लिये अगले श्लोकमें कर्मयोगीकी प्रशंसा करते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मयोगी'को 'नित्यसंन्यासी' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है, वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है। वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है। जो राग-द्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है। क्योंकि उसे न तो संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता है और न सांख्ययोगकी ही। अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही कर्मबन्धनसे छूट जाता है।

प्रश्न—कर्मयोगी कर्मबन्धनसे सुखपूर्वक कैसे छूट जाता है ?

उत्तर—मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले अत्यन्त प्रबल शत्रु राग-द्वेष ही हैं। इन्हींके कारण मनुष्य कर्मबन्धनमें फँसता है। कर्मयोगी इनसे रहित होकर भगवदर्थ कर्म करता

है, अतएव वह भगवान्‌की दयाके प्रभावसे अनायास ही कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—बन्धनसे छूटना किसे कहते हैं ?

उत्तर—अज्ञानमूलक शुभाशुभ कर्म और उनके फल ही बन्धन हैं। इनसे बँधा होनेके कारण ही जीव अनवरत जन्म और मृत्युके चक्रमें भटकता रहता है। इस जन्म-मरणरूप संसारसे सदाके लिये सम्बन्ध छूट जाना ही बन्धनसे छूटना है।

सम्बन्ध—साधनमें सुगम होनेके कारण सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ सिद्ध करके अब भगवान् दूसरे श्लोकमें दोनों निष्ठाओंका जो एक ही फल निःश्रेयस—परम कल्याण बतला चुके हैं, उसीके अनुसार दो श्लोकोंमें दोनों निष्ठाओंकी फलमें एकताका प्रतिपादन करते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है ॥४॥

प्रश्न—'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग'को भिन्न बतलानेवाले बालक—मूर्ख हैं—इस कथनसे भगवान्‌का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थ-तत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं। इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा; वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं। क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है।

प्रश्न—कर्मयोगका तो परमार्थज्ञानके द्वारा परमपदकी प्राप्तिरूप फल बतलाना उचित ही है, क्योंकि 'मैं उनको वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं (१०।१०); उनपर दया करनेके लिये ही मैं ज्ञानरूप दीपकके द्वारा उनका अन्धकार दूर कर देता हूँ (१०।११); कर्मयोगसे शुद्धान्तःकरण होकर अपने-आप ही उस ज्ञानको प्राप्त कर लेता है (४।३८), इत्यादि भगवान्‌के वचनोंसे यह सिद्ध ही है। परन्तु सांख्ययोग तो स्वयं ही तत्त्वज्ञान है। उसका फल तत्त्व-ज्ञानके द्वारा मोक्षका प्राप्त होना कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—'सांख्ययोग' परमार्थतत्त्वज्ञानका नाम नहीं है, तत्त्वज्ञानियोंसे सुने हुए उपदेशके अनुसार किये जानेवाले उसके साधनका नाम है। क्योंकि तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग ये तीनों आत्म-दर्शनके अलग-अलग स्वतन्त्र साधन बताये गये हैं। इसलिये सांख्ययोगका फल परमार्थज्ञानके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है। भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें उनचासवें श्लोकसे पचपनवेंतक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन करते हुए ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थितिरूप सांख्ययोगको प्राप्त होनेके बाद उसका फल तत्त्वज्ञानरूप पराभक्ति और उससे परमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर उसमें प्रविष्ट हो जाना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्ययोगके साधनसे यथार्थ तत्त्वज्ञान होता है, तब मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—'पण्डित' शब्दका क्या अर्थ होता है ?

उत्तर—परमार्थ-तत्त्वज्ञानरूप बुद्धिका नाम पण्डा है और वह जिसमें हो, उसे 'पण्डित' कहते हैं। अतएव यथार्थ तत्त्वज्ञानी सिद्ध महापुरुषका नाम 'पण्डित' है।

प्रश्न—एक ही निष्ठामें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको कैसे प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर—दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है और वह है परमार्थज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति। अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। यदि कर्मयोगका फल सांख्ययोग होता और सांख्ययोगका फल परमात्म-साक्षात्काररूप मोक्षकी प्राप्ति होती तो दोनोंमें फलभेद होनेके कारण ऐसा कहना नहीं बनता। क्योंकि ऐसा माननेसे सांख्ययोगमें पूर्णरूपसे

स्थित पुरुष कर्मयोगके फलस्वरूप सांख्ययोगमें तो पहलेसे ही स्थित है, फिर वह कर्मयोगका फल क्या प्राप्त करेगा ? और कर्मयोगमें भलीभाँति स्थित पुरुष यदि सांख्ययोगमें स्थित होकर ही परमात्माको पाता है तो वह सांख्ययोगका फल सांख्ययोगके द्वारा ही पाता है, फिर यह कहना कैसे सार्थक होगा कि एक ही निष्ठामें भलीभाँति स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। इसलिये यही प्रतीत होता है कि दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं और दोनोंका एक ही फल है। इस प्रकार माननेसे ही भगवान्‌का यह कथन सार्थक होता है कि दोनोंमेंसे किसी एक निष्ठामें भलीभाँति स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है।

प्रश्न—पहले श्लोकमें अर्जुनने कर्मसंन्यास और कर्मयोगके नामसे प्रश्न किया और दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने भी उन्हीं शब्दोंसे दोनोंको कल्याणकारक बतलाते हुए उत्तर दिया, फिर उसी प्रकरणमें यहाँ 'सांख्य' और 'योग' के नामसे दोनोंके फलकी एकता बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'कर्मसंन्यास' का अर्थ 'कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना' और कर्मयोगका अर्थ 'जैसे-तैसे कर्म करते रहना' मानकर लोग भ्रममें न पड़ जायँ इसलिये उन दोनोंका शब्दान्तरसे वर्णन करके भगवान् यह स्पष्ट कर देते हैं कि कर्मसंन्यासका अर्थ है—'सांख्य' और कर्मयोगका अर्थ है—सिद्धि और असिद्धिमें समत्वरूप 'योग' (२ । ४८)। अतएव दूसरे शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यहाँ कोई नयी बात नहीं कही है।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' से क्या भाव निकलता है ?

उत्तर—भलीभाँति किये जानेपर दोनों ही साधन अपना फल देनेमें सर्वथा स्वतन्त्र और समर्थ हैं, यहाँ 'अपि' इसी बातका द्योतक है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

प्रश्न—जब सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग हैं और दोनोंकी साधनप्रणालीमें भी पूर्व और पश्चिम जानेवालोंके मार्गकी भाँति परस्पर भेद है, (जैसा कि दूसरे श्लोककी व्याख्यामें बतलाया गया है) तब दोनों प्रकारके साधकोंको एक ही फल कैसे मिल सकता है ?

उत्तर—जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिकाको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा। वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है।

सम्बन्ध—सांख्ययोग और कर्मयोगके फलकी एकता बतलाकर अब कर्मयोगकी साधनविषयक विशेषताको स्पष्ट करते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परन्तु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—'तु' का यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'तु' इस विलक्षणताका द्योतक है कि संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोगका फल एक होनेपर भी साधनमें कर्मयोगकी अपेक्षा सांख्ययोग कठिन है।

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनके लिये 'महाबाहो' सम्बोधन देकर कौन-सा भाव व्यक्त किया है ?

उत्तर—जिसके 'बाहु' महान् हों, उसे 'महाबाहु' कहते हैं। भाई और मित्रको भी 'बाहु' कहते हैं। अतएव भगवान् इस सम्बोधनसे यह भाव दिखलाते हुए अर्जुनको उत्साहित करते हैं कि तुम्हारे भाई महान् धर्मात्मा युधिष्ठिर हैं और मित्र साक्षात् परमेश्वर मैं हूँ, फिर तुम्हें किस बातकी चिन्ता है ? तुम्हारे लिये तो सभी प्रकारसे अतिशय सुगमता है।

प्रश्न—जब सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही स्वतन्त्र मार्ग हैं तब फिर यहाँ यह बात कैसे कही गयी कि कर्मयोगके बिना संन्यासका प्राप्त होना कठिन है ?

उत्तर—स्वतन्त्र साधन होनेपर भी दोनोंमें जो सुगमता और कठिनताका भेद है, उसीको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है। मान लीजिये, एक मुमुक्षु पुरुष है; और वह यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। यह सारा प्रपञ्च मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है। वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं परन्तु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं। वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कोई चेष्टा न करके केवल अपनी मान्यताके भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवेंतकमें और अठारहवें अध्यायके उनचासवें श्लोकसे पचपनवेंतकमें बतलायी हुई 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी। क्योंकि जबतक शरीरमें अहंभाव है, भोगोंमें ममता है और अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष वर्तमान हैं तबतक ज्ञाननिष्ठाका साधन होना—अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर निरन्तर सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना—तो दूर रहा, इसका समझमें आना भी कठिन है। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण अशुद्ध होनेके कारण मोहवश जगत्‌के नियन्त्रणकर्ता और कर्मफलदाता भगवान्‌में और स्वर्ग-नरकादि कर्मफलोंमें विश्वास न रहनेसे उसका परिश्रमसाध्य शुभकर्मोंको त्याग देना और विषयासक्ति आदि दोषोंके कारण पापमय भोगोंमें फँसकर कल्याणमार्गसे भ्रष्ट हो जाना भी बहुत सम्भव है। अतएव इस प्रकारकी धारणावाले मनुष्यके लिये, जो सांख्ययोगको ही परमात्म-साक्षात्कारका उपाय मानता है, वह परम आवश्यक है कि वह सांख्ययोगके साधनमें लगनेसे पूर्व निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्मोंका आचरण करके अपने अन्तःकरणको राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित—परिशुद्ध कर ले, तभी उसका सांख्ययोगका साधन निर्विघ्नतासे सम्पादित हो सकता है और तभी उसे सुगमताके साथ सफलता भी मिल सकती है। यहाँ इसी अभिप्रायसे कर्मयोगके बिना संन्यासका प्राप्त होना कठिन बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनिः' विशेषणके साथ 'योगयुक्तः' का प्रयोग किसके लिये किया गया है और वह परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर—जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, नाम-गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करता है, उस भक्तियुक्त कर्मयोगीके लिये 'मुनिः' विशेषणके साथ 'योगयुक्तः' का प्रयोग हुआ है। ऐसा कर्मयोगी भगवान्‌की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनिः' पदका अर्थ वाक्संयमी या जितेन्द्रिय साधक मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करनेवाला कर्मयोगी वाक्संयमी और जितेन्द्रिय तो होता ही है, इसमें आपत्तिकी कौन-सी बात है ?

प्रश्न—'ब्रह्म' शब्दका अर्थ सगुण परमेश्वर है या निर्गुण परमात्मा ?

उत्तर—सगुण और निर्गुण परमात्मा वस्तुतः विभिन्न वस्तु नहीं हैं। एक ही परमपुरुषके दो स्वरूप हैं। अतएव यही समझना चाहिये कि 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ सगुण परमेश्वर भी है और निर्गुण परमात्मा भी।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त कर्मयोगीके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उसके कर्मोंमें लिप्त न होनेकी बात कहते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता॥ ७॥

प्रश्न—'योगयुक्तः' के साथ 'विजितात्मा', 'जितेन्द्रियः' और 'विशुद्धात्मा' ये विशेषण किस अभिप्रायसे दिये गये हैं?

उत्तर—मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है। अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यहाँ उपर्युक्त विशेषण देकर यह समझाया गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—'सर्वभूतात्मभूतात्मा' इस पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमेश्वर ही जिसका आत्मा यानी अन्तर्यामी है, जो उसीकी प्रेरणाके अनुसार सम्पूर्ण कर्म करता है तथा भगवान्‌को छोड़कर शरीर, मन, बुद्धि और अन्य किसी भी वस्तुमें जिसका ममत्व नहीं है, वह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' का प्रयोग किस हेतुसे किया गया है?

उत्तर—सांख्ययोगी अपनेको किसी भी कर्मका कर्ता नहीं मानता; उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा सब क्रियाओंके होते रहनेपर भी वह यही समझता है कि 'मैं कुछ भी नहीं करता, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।' इसलिये उसका तो कर्मसे लिप्त न होना ठीक ही है, परन्तु अपनेको कर्ता समझनेवाला कर्मयोगी भी भगवान्‌के आज्ञानुसार और भगवान्‌के लिये सब कर्मोंको करता हुआ भी कर्मोंमें फलेच्छा और आसक्ति न रहनेके कारण उनसे नहीं बँधता। यह उसकी विशेषता है। इसी अभिप्रायसे 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

सम्बन्ध—दूसरे श्लोकमें कर्मयोग और सांख्ययोगकी सूत्ररूपसे फलमें एकता बतलाकर सांख्ययोगकी अपेक्षा सुगमताके कारण कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया। फिर तीसरे श्लोकमें कर्मयोगीकी प्रशंसा करके, चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें दोनोंके फलकी एकताका और स्वतन्त्रताका भलीभाँति प्रतिपादन किया। तदनन्तर छठे श्लोकके पूर्वार्धमें कर्मयोगके बिना सांख्ययोगका सम्पादन कठिन बतलाकर उत्तरार्धमें कर्मयोगकी सुगमताका प्रतिपादन करते हुए सातवें श्लोकमें कर्मयोगीके लक्षण बतलाये। इससे यह बात सिद्ध हुई कि दोनों साधनोंका फल एक होनेपर भी दोनों साधन परस्पर भिन्न हैं। अतः दोनोंका स्वरूप जाननेकी इच्छा होनेसे भगवान् पहले आठवें और नवें श्लोकोंमें सांख्ययोगीके व्यवहारकालके साधनका स्वरूप बतलाते हैं—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८-९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तत्त्ववित्' और 'युक्तः' इन दोनों विशेषण-पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है। उसीमें यह सारा प्रपञ्च मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्यवस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वही 'तत्त्ववित्' और 'युक्त' है। सांख्ययोगके साधकको ऐसा ही होना चाहिये। यही समझानेके लिये ये दोनों विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—यहाँ देखने-सुनने आदिकी सब क्रियाएँ करते रहनेपर भी मैं कुछ भी नहीं करता, इसका क्या भाव है?

उत्तर—जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियोंद्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंके करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं। वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है।

प्रश्न—तब तो जो मनुष्य राग-द्वेष और काम-क्रोधादि दोषोंके रहनेपर भी अपनी मान्यताके अनुसार सांख्ययोगी बने हुए हैं, वे भी कह सकते हैं कि हमारे मन-इन्द्रियके द्वारा जो कुछ भी भली-बुरी क्रियाएँ होती हैं, उनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्थामें यथार्थ सांख्ययोगीकी पहचान कैसे होगी?

उत्तर—कथनमात्रसे न तो कोई सांख्ययोगी ही हो सकता है और न उसका कर्मोंसे सम्बन्ध ही छूट सकता है। सच्चे और वास्तविक सांख्ययोगीके ज्ञानमें तो सम्पूर्ण प्रपञ्च स्वप्नकी भाँति मायामय होता है, इसलिये उसकी किसी भी वस्तुमें किञ्चित् भी आसक्ति नहीं रहती। उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दोष उसमें जरा भी नहीं रहते। ऐसी अवस्थामें निषिद्धाचरणका कोई भी हेतु न रहनेके कारण उसके विशुद्ध मन और इन्द्रियोंद्वारा जो भी चेष्टाएँ होती हैं, सब शास्त्रानुकूल और लोकहितके लिये ही होती हैं। वास्तविक सांख्ययोगीकी यही पहचान है। जबतक अपने अंदर राग-द्वेष और काम-क्रोधादिका कुछ भी अस्तित्व जान पड़े तबतक सांख्ययोगके साधकको अपने साधनमें त्रुटि ही समझनी चाहिये।

प्रश्न—सांख्ययोगी शरीरनिर्वाहमात्रके लिये केवल खान-पान आदि आवश्यक क्रिया ही करता है या वर्णाश्रमानुसार शास्त्रानुकूल सभी कर्म करता है?

उत्तर—कोई खास नियम नहीं है। वर्ण, आश्रम, प्रकृति, प्रारब्ध, संग और अभ्यासका भेद होनेके कारण सभी सांख्ययोगियोंके कर्म एक-से नहीं होते। यहाँ 'पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्' और 'अश्नन्' इन पाँच पदोंसे आँख, कान, त्वचा, घ्राण और रसना—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी समस्त क्रियाएँ क्रमसे बतलायी गयी हैं। 'गच्छन्', 'गृह्णन्' और 'प्रलपन्' से पैर, हाथ और वाणीकी एवं 'विसृजन्' से उपस्थ और गुदाकी, इस प्रकार पाँचों कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाएँ बतलायी

गयी हैं। 'श्वसन्' पद प्राण-अपानादि पाँचों प्राणोंकी क्रियाओंका बोधक है। वैसे ही 'उन्मिषन्, निमिषन्' पद कूर्म आदि पाँचों वायुभेदोंकी क्रियाओंके बोधक हैं और 'स्वपन्' पद अन्तःकरणकी क्रियाओंका बोधक है। इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणकी क्रियाओंका उल्लेख होनेके कारण सांख्ययोगीके द्वारा उसके वर्ण, आश्रम, प्रकृति, प्रारब्ध और संगके अनुसार शरीरनिर्वाह तथा लोकोपकारार्थ, शास्त्रानुकूल खान-पान, व्यापार, उपदेश लिखना, पढ़ना, सुनना, सोचना आदि सभी क्रियाएँ हो सकती हैं।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें कहा गया है कि *'गुण ही गुणोंमें बरतते हैं'* तथा तेरहवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें *'समस्त कर्म प्रकृतिद्वारा किये हुए'* बतलाये गये हैं और यहाँ कहा गया है कि *'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरतती हैं'*—इस तीन प्रकारके वर्णनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इन्द्रिय और उनके समस्त विषय सत्त्वादि तीनों गुणोंके कार्य हैं और तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं। अतएव, चाहे सब कर्मोंको प्रकृतिके द्वारा किये हुए बतलाया जाय, अथवा गुणोंका गुणोंमें या इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरतना कहा जाय, बात एक ही है। सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये ही प्रसङ्गानुसार एक ही बात तीन प्रकारसे कही गयी है।

प्रश्न—इन्द्रियोंके साथ-साथ प्राण और मन-सम्बन्धी क्रियाओंका वर्णन करके भी केवल ऐसा ही माननेके लिये क्यों कहा कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरतती हैं?'

उत्तर—क्रियाओंमें इन्द्रियोंकी ही प्रधानता है। प्राणको भी इन्द्रियोंके नामसे वर्णन किया गया है। और मन भी आभ्यन्तर करण होनेसे इन्द्रिय ही है। इस प्रकार 'इन्द्रिय' शब्दमें सबका समावेश हो जाता है, इसलिये ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का प्रयोग किस उद्देश्यसे किया गया है?

उत्तर—कर्मोंमें कर्तापनका सर्वथा अभाव बतलानेके लिये यहाँ 'एव' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि सांख्ययोगी किसी भी अंशमें कभी अपनेको कर्मोंका कर्ता नहीं माने।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं—*

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

प्रश्न—सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करना क्या है?

उत्तर—ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, उन्हींके लिये, उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करना; परमात्मामें सब कर्मोंका अर्पण करना है।

प्रश्न—आसक्तिको छोड़कर कर्म करना क्या है?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि भोगोंकी समस्त सामग्रियोंमें, स्वर्गादि लोकोंमें, शरीरमें, समस्त क्रियाओंमें एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिमें सब प्रकारसे आसक्तिका त्याग करके उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करना ही आसक्ति छोड़कर कर्म करना है।

प्रश्न—कर्मयोगी तो शास्त्रविहित सत्कर्म ही करता है, वह पाप-कर्म तो करता ही नहीं और बिना पाप-कर्म किये पापसे लिप्त होनेकी आशङ्का नहीं होती, फिर यह कैसे कहा गया कि वह पापोंसे लिप्त नहीं होता?

उत्तर—विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं होते, आरम्भमात्रमें ही हिंसादिके सम्बन्धसे कुछ-न-कुछ पाप हो ही जाते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) कहकर कर्मोंके आरम्भ-को सदोष बतलाया है। अतएव जो मनुष्य फल-कामना और आसक्तिके वश होकर भोग और आरामके लिये कर्म करता है, वह पापोंसे कभी बच नहीं सकता। कामना और आसक्ति ही मनुष्यके बन्धनमें हेतु हैं, इसलिये जिसमें कामना और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, वह पुरुष कर्म करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता—यह कहना ठीक ही है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्याग कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं॥ ११॥

प्रश्न—यहाँ 'केवलैः' इस विशेषणका क्या अभिप्राय है? इसका सम्बन्ध केवल इन्द्रियोंसे ही है, या मन, बुद्धि और शरीरसे भी?

उत्तर—यहाँ 'केवलैः' यह विशेषण ममताके अभावका द्योतक है और यहाँ इन्द्रियोंके विशेषणके रूपमें दिया गया है। किन्तु मन, बुद्धि और शरीरसे भी इसका सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अभिप्राय यह है कि कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते; वे इन सबको भगवान्‌की ही वस्तु समझते हैं। और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे कराते हैं वैसे ही, समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं।

प्रश्न—सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके अनासक्तरूपसे उनका आचरण करनेके लिये तो दसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कह ही दिया था, फिर यहाँ दुबारा वही आसक्तिके त्यागकी बात किस प्रयोजनसे कही?

उत्तर—कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करने तथा आसक्तिका त्याग करनेकी बात तो भगवान्‌ने अवश्य ही कह दी थी; परन्तु वह भक्तिप्रधान कर्मयोगीका वर्णन है। जैसे इसी अध्यायके आठवें और नवें श्लोकमें सांख्ययोगीके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाएँ किस भाव और किस प्रकारसे होती हैं—यह बतलाया था, वैसे ही कर्मप्रधान कर्मयोगीकी क्रियाएँ किस भाव और किस प्रकारसे होती हैं, यह बात समझानेके लिये भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगी मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरादिमें एवं उनके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रियामें ममता और आसक्ति न रखकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं। इस प्रकार कर्मप्रधान कर्मयोगीके कर्मका भाव और प्रकार बतलानेके लिये ही यहाँ पुनः आसक्तिके त्यागकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकारसे कर्म करनेवाला भक्तिप्रधान कर्मयोगी पापोंसे लिप्त नहीं होता और कर्मप्रधान कर्मयोगीका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, यह सुननेपर इस बातकी जिज्ञासा होती है कि कर्मयोगका यह अन्तःकरण शुद्धिरूप इतना ही फल है, या इसके अतिरिक्त कुछ विशेष फल भी है, एवं इस प्रकार कर्म न करके सकामभावसे शुभ कर्म करनेमें क्या हानि है? अतएव अब इसी बातको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है॥ १२॥

प्रश्न—आठवें श्लोकमें 'युक्त' शब्दका अर्थ सांख्ययोगी किया गया है। फिर यहाँ उसी 'युक्त' शब्दका अर्थ कर्मयोगी कैसे किया गया ?

उत्तर—शब्दका अर्थ प्रकरणके अनुसार हुआ करता है। इसी न्यायसे गीतामें 'युक्त' शब्दका भी प्रयोग प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें हुआ है। 'युक्त' शब्द 'युज्' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ जुड़ना होता है। दूसरे अध्यायके इकसठवें श्लोकमें 'युक्त' शब्द 'संयमी' के अर्थमें आया है, छठे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवत्प्राप्त 'तत्त्वज्ञानी' के लिये, सतरहवें श्लोकमें आहार-विहारके साथ होनेसे 'औचित्य' के अर्थमें और अठारहवें श्लोकमें 'ध्यानयोगी' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, तथा सातवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें वही श्रद्धाके साथ होनेसे संयोगका वाचक माना गया है। इसी प्रकार इस अध्यायके आठवें श्लोकमें वह सांख्ययोगीके अर्थमें आया है। वहाँ समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, ऐसा समझकर अपनेको कर्तापनसे रहित माननेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषको 'युक्त' कहा गया है; इसलिये वहाँ उसका अर्थ 'सांख्ययोगी' मानना ही ठीक है। परन्तु यहाँ 'युक्त' शब्द सब कर्मोंके फलका त्याग करनेवालेके लिये आया है, अतएव यहाँ इसका अर्थ 'कर्मयोगी' ही मानना होगा।

प्रश्न—यहाँ 'नैष्ठिकी शान्ति' का अर्थ 'भगवत्प्राप्तिरूप शान्ति' कैसे किया गया ?

उत्तर—'नैष्ठिकी' शब्दका अर्थ 'निष्ठासे उत्पन्न होनेवाली' होता है। इसके अनुसार कर्मयोगनिष्ठासे सिद्ध होनेवाली भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको 'नैष्ठिकी शान्ति' कहना उचित ही है।

प्रश्न—यहाँ 'अयुक्त' शब्दका अर्थ प्रमादी, आलसी या कर्म नहीं करनेवाला न करके 'सकाम पुरुष' कैसे किया गया ?

उत्तर—कामनाके कारण फलमें आसक्त होनेवाले पुरुषका वाचक होनेसे यहाँ 'अयुक्त' शब्दका अर्थ सकाम पुरुष मानना ही ठीक है।

प्रश्न—यहाँ 'बन्धन' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है।

सम्बन्ध— यहाँ यह बात कही गयी कि 'कर्मयोगी' कर्मफलसे न बँधकर परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और 'सकाम पुरुष' फलमें आसक्त होकर जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ता है, किन्तु यह नहीं बतलाया कि सांख्ययोगीका क्या होता है ? अतएव अब सांख्ययोगीकी स्थिति बतलाते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्याग कर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

प्रश्न—जब सांख्ययोगी शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणको मायामय समझता है, इनसे उसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं रह जाता, तब उसे 'देही' और 'वशी' क्यों कहा गया ?

उत्तर—यद्यपि सांख्ययोगीका उसकी अपनी दृष्टिसे शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; वह सदा सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अभिन्नरूपसे स्थित रहता है; तथापि लोकदृष्टिमें तो वह शरीरधारी ही दीखता है। इसीलिये उसको 'देही' कहा गया है। इसी प्रकार चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें गुणातीतके वर्णनमें भी 'देही' शब्द आया है। तथा लोकदृष्टिसे उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी चेष्टाएँ नियमितरूपसे शास्त्रानुकूल और लोकसंग्रहके उपयुक्त होती हैं; इसलिये उसे 'वशी' कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' किस भावका द्योतक है ?

उत्तर—सांख्ययोगीका शरीर और इन्द्रियोंमें अहंभाव न रहनेके कारण उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंका वह कर्ता नहीं बनता; और ममत्व न रहनेके कारण वह करवानेवाला भी नहीं

बनता। अतः 'न कुर्वन्' और 'न कारयन्' के साथ 'एव' का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि सांख्ययोगीमें अहंता-ममताका सर्वथा अभाव होनेके कारण वह किसी प्रकार भी शरीर, इन्द्रिय और मन आदिके द्वारा होनेवाले कर्मोंका करनेवाला या करवानेवाला कभी नहीं बनता।

प्रश्न—यहाँ 'नवद्वारे पुरे आस्ते' अर्थात् 'नौ द्वारोंवाले शरीररूप पुरमें रहता है' ऐसा अन्वय न करके 'नवद्वारे पुरे सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' अर्थात् 'नौ द्वारवाले शरीररूप पुरमें सब कर्मोंको मनसे छोड़कर' इस प्रकार अन्वय क्यों किया गया?

उत्तर—नौ द्वारवाले शरीररूप पुरमें रहनेका प्रतिपादन करना सांख्ययोगीके लिये कोई महत्त्वकी बात नहीं है, बल्कि उसकी स्थितिके विरुद्ध है। शरीररूप पुरमें तो साधारण मनुष्यकी भी स्थिति है ही, इसमें महत्त्वकी कौन-सी बात है? इसके विरुद्ध शरीररूप पुरमें यानी इन्द्रियादि प्राकृतिक वस्तुओंमें कर्मोंके त्यागका प्रतिपादन करनेसे सांख्ययोगीका विशेष महत्त्व प्रकट होता है; क्योंकि सांख्ययोगी ही ऐसा कर सकता है, साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। अतएव जो अन्वय किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियादिके कर्मोंको इन्द्रियादिमें छोड़नेके लिये न कहकर नौ द्वारवाले शरीरमें छोड़नेके लिये क्यों कहा?

उत्तर—दो आँख, दो कान, दो नासिका और एक मुख, ये सात ऊपरके द्वार, तथा उपस्थ और गुदा, ये दो नीचेके द्वार—इन्द्रियोंके गोलकरूप इन नौ द्वारोंका सङ्केत किये जानेसे यहाँ वस्तुतः सब इन्द्रियोंके कर्मोंको इन्द्रियोंमें ही छोड़नेके लिये कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियादि समस्त कर्मकारकोंका शरीर ही आधार है, अतएव शरीरमें छोड़नेके लिये कहना कोई दूसरी बात नहीं है। जो बात आठवें और नवें श्लोकमें कही गयी है, वही यहाँ कही गयी है। केवल शब्दोंका अन्तर है। वहाँ इन्द्रियोंकी क्रियाओंका नाम बतलाकर कहा है, यहाँ उनके स्थानोंकी ओर सङ्केत करके कहा है। इतना ही भेद है। भावमें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—यहाँ मनसे कर्मोंको छोड़नेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती। इसलिये मनसे—विवेकबुद्धिके द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये मनसे त्याग करनेके लिये कहा है।

प्रश्न—श्लोकार्थमें कहा गया है—वह 'सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है', परन्तु मूल श्लोकमें ऐसी कोई बात नहीं आयी है; फिर अर्थमें यह वाक्य ऊपरसे क्यों जोड़ा गया?

उत्तर—'आस्ते'—स्थित रहता है, इस क्रियाको आधारकी आवश्यकता है। मूल श्लोकमें उसके उपयुक्त शब्द न रहनेपर भावसे अध्याहार कर लेना उचित ही है। यहाँ सांख्ययोगीका प्रकरण है और सांख्ययोगी वस्तुतः सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही सुखपूर्वक स्थित हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इसीलिये ऊपरसे यह वाक्य जोड़ा गया है।

सम्बन्ध—जब कि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है, और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भागी क्यों होते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बर्त रहा है ॥ १४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'प्रभु' पद किसका वाचक है? तथा मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलके संयोगकी रचना सृष्टिकर्ता परमेश्वर नहीं करते हैं। इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार

करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वरका वाचक यहाँ 'प्रभु' पद है। क्योंकि शास्त्रोंमें जहाँ कहीं भी परमेश्वरको सृष्टि-रचनादि कर्मोंका कर्ता बतलाया गया है, वहाँ सगुण परमेश्वरके प्रसङ्गमें ही बतलाया गया है।

परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापनकी रचना नहीं करते। इस कथनका यह भाव है कि मनुष्योंका जो कर्मोंमें कर्तापन है, वह भगवान्का बनाया हुआ नहीं है। अज्ञानी मनुष्य अहंकारके वशमें होकर अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (३।२७)। मनुष्योंके कर्मोंकी रचना भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि अमुक शुभ या अशुभ कर्म अमुक मनुष्यको करना पड़ेगा, ऐसी रचना भगवान् नहीं करते, क्योंकि ऐसी रचना यदि भगवान् कर दें तो विधिनिषेधशास्त्र ही व्यर्थ हो जाय तथा उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रहे। कर्मफलके संयोगकी रचना भी भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि कर्मोंके साथ सम्बन्ध मनुष्योंका ही अज्ञानवश जोड़ा हुआ है। कोई तो आसक्तिवश उनका कर्ता बनकर और कोई कर्मफलमें आसक्त होकर अपना सम्बन्ध कर्मोंके साथ जोड़ लेते हैं।

यदि इन तीनोंकी रचना भगवान्की की हुई होती तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट ही नहीं सकता, उसके उद्धारका कोई उपाय ही नहीं रह जाता। अतः साधक मनुष्यको चाहिये कि कर्मोंका कर्तापन पूर्वोक्त प्रकारसे प्रकृतिके अर्पण करके (५।८,९) या भगवान्के अर्पण करके (५।१०) अथवा कर्मोंके फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके (५।१२) कर्मोंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर लें (४।२०)। यही सब भाव दिखलानेके लिये यह कहा है कि परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलकी रचना नहीं करते।

प्रश्न—यहाँ स्वभाव ही वर्तता है इसका क्या प्रयोजन है?

उत्तर—आत्माका कर्तापन, कर्म और कर्मोंके फलसे वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं है और परमेश्वर भी किसीके कर्तृत्व आदिकी रचना नहीं करते तो फिर ये सब कैसे देखनेमें आ रहे हैं—इस जिज्ञासापर यह बात कही गयी है कि सत्, रज और तम तीनों गुण, राग-द्वेष आदि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही सब कुछ करता है। प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है। इसीसे उनमें कर्तृत्वभाव उत्पन्न हो रहा है अर्थात् अहंकारसे मोहित होकर वे अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (३।२७) तथा इसीसे कर्म और कर्मफलसे भी उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे उनके बन्धनमें पड़ जाते हैं। वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यही इसका अभिप्राय है।

सम्बन्ध—जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'विभुः' पद किसका वाचक है और वह किसीके पुण्य-पापको ग्रहण नहीं करता, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'विभु' पद सबके हृदयमें रहनेवाले (१३।१७; १५।१५; १८।६१) और संपूर्ण जगत्का अपने संकल्पद्वारा संचालन करनेवाले सर्वशक्तिमान् सगुण निराकार परमेश्वरका वाचक है। वह किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करते, इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि यद्यपि समस्त कर्म उन्हींकी शक्तिसे मनुष्योंद्वारा किये जाते हैं। सबको शक्ति, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उनके कर्मानुसार वे ही प्रदान करते हैं। तथापि वे उनके द्वारा किये हुए

ग्रहण नहीं करते। अर्थात् स्वयं उन कर्मोंके फलके भागी नहीं बनते।

प्रश्न—इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें और नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने स्वयं यह कहा है कि सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंका भोक्ता मैं हूँ। फिर यहाँ यह बात कैसे कही कि भगवान् किसीके शुभकर्म भी ग्रहण नहीं करते?

उत्तर—सारा विश्व सगुण परमेश्वरका स्वरूप है। इसलिये देवतादिके रूपमें भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं। किन्तु ऐसा होनेपर भी वास्तवमें भगवान् कर्म और कर्मफलसे सर्वथा सम्बन्धरहित हैं। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि भगवान् किसीके पुण्य-पापको ग्रहण नहीं करते। अभिप्राय यह है कि देव, मनुष्य आदिके रूपमें समस्त यज्ञोंके भोक्ता होनेपर भी तथा भक्तोंद्वारा अर्पण की हुई वस्तुएँ और क्रियाओंको स्वीकार करते हुए भी वास्तवमें उन सबसे उसी प्रकार सम्बन्धरहित हैं जैसे जन्म लेकर भी भगवान् अज हैं (४।६), सृष्टिकी रचनादि कर्म करते भी अकर्ता ही हैं (४।१३)। अतः यहाँ यह कहना उचित ही है कि भगवान् किसीके शुभ कर्मको ग्रहण नहीं करते।

प्रश्न—अज्ञानद्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि वास्तवमें मनुष्योंका या परमेश्वरका कर्मोंसे और उनके फलसे सम्बन्ध नहीं है तो फिर संसारमें जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है? इसी शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादिसिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है। इसीलिये वे अपने और परमेश्वरके स्वरूपको तथा कर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है॥ १६॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पंद्रहवें श्लोकमें यह बात कही कि अज्ञानद्वारा ज्ञानके आवृत हो जानेके कारण सब मनुष्य मोहित हो रहे हैं। यहाँ उन साधारण मनुष्योंसे आत्मतत्त्वके जाननेवाले ज्ञानियोंको पृथक् करनेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'अज्ञानम्' के साथ 'तत्' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पंद्रहवें श्लोकमें जिस अज्ञानका वर्णन है, जिस अज्ञानके द्वारा अनादिकालसे सब जीवोंका ज्ञान आवृत है, जिसके कारण मोहित हुए सब मनुष्य आत्मा और परमात्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, उसी अज्ञानकी बात यहाँ कही जाती है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अज्ञानके साथ 'तत्' विशेषण दिया गया है। अभिप्राय यह है कि जिन पुरुषोंका वह अनादिसिद्ध अज्ञान परमात्माके यथार्थ ज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, वे मोहित नहीं होते।

प्रश्न—यहाँ सूर्यका दृष्टान्त देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें मोहित नहीं होते।

सम्बन्ध—यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात संक्षेपमें कहकर अब छब्बीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

प्रश्न—मनका तद्रूप होना क्या है और सांख्ययोगके अनुसार किस तरह अभ्यास करते-करते मन तद्रूप होता है ?

उत्तर—सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चलस्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है—इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है।

प्रश्न—बुद्धिका तद्रूप होना क्या है और मन तद्रूप होनेके बाद किस तरहके अभ्याससे बुद्धि तद्रूप होती है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है।

प्रश्न—'तन्निष्ठा' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थिति किस अवस्थाका नाम है तथा मन और बुद्धि दोनोंके तद्रूप हो जानेके बाद वह कैसे होती है ?

उत्तर—जबतक मन और बुद्धि उपर्युक्त प्रकारसे परमात्मामें एकाकार नहीं हो जाते, तबतक सांख्ययोगीकी परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थिति नहीं होती; क्योंकि मन और बुद्धि आत्मा और परमात्माके भेदभ्रममें मुख्य कारण हैं। अतएव उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेद-भ्रमका नाश हो जाना एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना सांख्ययोगीका तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है।

प्रश्न—'तत्परायणाः' यह पद किनका वाचक है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेद-भ्रमका नाश हो जानेपर जब सांख्ययोगीकी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे निश्चल स्थिति हो जाती है, तब वस्तुतः परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता रहती ही नहीं। उसके मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेनेवाले पुरुषोंका वाचक यहाँ 'तत्परायणाः' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'तत्' शब्दका अर्थ सच्चिदानन्दघन परमात्मा कैसे किया गया ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'परम्' के साथ 'तत्' विशेषण आया है। वहाँ यथार्थ ज्ञानद्वारा जिस परमतत्त्वका साक्षात्कार होना बतलाया गया है, उसीसे इस श्लोकका 'तत्' शब्द सम्बन्ध रखता है। अतएव प्रकरणके अनुसार उसका अर्थ 'सच्चिदानन्दघन परमात्मा' करना ही उचित है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द किस ज्ञानका वाचक है ? 'कल्मष' 'निर्धूत' शब्दका क्या अर्थ है ?

उत्तर—सोलहवें श्लोकमें जिस ज्ञानको अज्ञानका नाशक और परमात्माको प्रकाशित करनेवाला बतलाया है, उस यथार्थ तत्त्वज्ञानका वाचक यहाँ 'ज्ञान' शब्द है। शुभाशुभ कर्म तथा राग-द्वेषादि अवगुण एवं विक्षेप और आवरण, इन सभीका वाचक 'कल्मष' शब्द है, क्योंकि ये सभी आत्माके बन्धनमें हेतु होनेके कारण 'कल्मष' अर्थात् पाप ही हैं। इन सबका भलीभाँति नष्ट हो जाना, 'निर्धूत' शब्दका अर्थ है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' हैं।

प्रश्न—यहाँ 'अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना' क्या है?

उत्तर—जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको सोलहवें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिसका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म,' कहीं 'उत्तम सुख,' कहीं 'परम गति,' कहीं 'परमधाम,' कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाकर अब परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके 'समभाव' का वर्णन करते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं॥ १८॥

प्रश्न—यहाँ 'पण्डिताः' पद किन पुरुषोंका वाचक है?

उत्तर—'पण्डिताः' यह पद तत्त्वज्ञानी महात्मा सिद्ध पुरुषोंका वाचक है।

प्रश्न—विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शनका क्या भाव है?

उत्तर—तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच कुत्तेका उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको करनी पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणका पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके लिये नहीं है। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

प्रश्न—क्या सर्वत्र समभाव हो जानेके कारण ज्ञानी पुरुष सबके साथ व्यवहार भी एक-सा ही करते हैं?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। सबके साथ एक-सा व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें बतलाये हुए न्याययुक्त व्यवहारका भेद तो सबके साथ रखना ही चाहिये। ज्ञानी पुरुषोंकी यह विशेषता है कि वे लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य आवश्यक भेद रखते हैं—ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोचित, चाण्डालके साथ चाण्डालोचित, इसी तरह गौ, हाथी और कुत्ते आदिके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करते हैं; परन्तु ऐसा करनेपर भी उनका प्रेम और परमात्मभाव सबमें समान ही रहता है।

जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अङ्गोंके

साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता। जो हाथ-पैरोंका काम है, वह सिरसे नहीं लेता और सब अङ्गोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव—अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अङ्गोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, प्रेम और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती। वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है। और इसीलिये, जैसे किसी भी अङ्गमें चोट लगनेपर या उसकी सम्भावना होनेपर मनुष्य उसके प्रतीकारकी चेष्टा करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष भी व्यवहारकालमें किसी भी जीव या जीवसमुदायपर विपत्ति पड़नेपर बिना भेदभावके उसके प्रतीकारकी यथायोग्य चेष्टा करता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानीके समभावका वर्णन करके अब समभावको ब्रह्मका स्वरूप बतलाते हुए उसमें स्थित महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं॥ १९॥

प्रश्न—जिनका मन समतामें स्थित है, उन्होंने यहीं संसारको जीत लिया—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिनका मन उपर्युक्त प्रकारसे समतामें स्थित हो गया है अर्थात् जिनकी सर्वत्र समबुद्धि हो गयी है, उन्होंने यहीं—इसी वर्तमान जीवनमें संसारको जीत लिया; वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये। लोकदृष्टिमें उनका शरीर रहते हुए भी वास्तवमें उस शरीरसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा।

प्रश्न—ब्रह्मको 'निर्दोष' और 'सम' बतलानेका क्या अभिप्राय है तथा 'हि' और 'तस्मात्' का प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंमें सब प्रकारके दोष भरे हैं और समस्त संसार तीनों गुणोंका कार्य होनेसे दोषमय है। इन गुणोंके सम्बन्धसे ही विषमभाव तथा राग, द्वेष, मोह आदि समस्त अवगुणोंका प्रादुर्भाव होता है। 'ब्रह्म' नामसे कहा जानेवाला सच्चिदानन्दघन परमात्मा इन तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत है। इसलिये वह 'निर्दोष' और 'सम' है। इसी तरह तत्त्वज्ञानी भी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त अवगुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। 'हि' और 'तस्मात्' इन हेतुवाचक शब्दोंके प्रयोगका यह अभिप्राय है कि समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं। यद्यपि लोगोंको वे त्रिगुणमय संसार और शरीरमें स्थित दीखते हैं, तथापि उनकी स्थिति समभावमें होनेके कारण वास्तवमें उनका इस त्रिगुणमय संसार और शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; उनकी स्थिति तो ब्रह्ममें ही है।

प्रश्न—तमोगुण और रजोगुणको तो समस्त दोषोंका भण्डार बतलाना उचित ही है, क्योंकि गीतामें स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने इन्हें समस्त अनर्थोंके हेतु बतलाकर इनका त्याग करनेके लिये कहा है; किन्तु सत्त्वगुण तो भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, उसकी गणना रज और तमके साथ करके उसे भी समस्त दोषोंका भण्डार कैसे कहा?

उत्तर—यद्यपि रज और तमकी अपेक्षासे सत्त्वगुण श्रेष्ठ है तथा मनुष्यकी उन्नतिमें सहायक भी है तथापि अहंकार-

युक्त सुख एवं ज्ञानके सम्बन्धसे भगवान्‌ने इसको भी बन्धनका हेतु बतलाया है (१४ । ६)। वस्तुतः तीनों गुणोंसे सम्बन्ध छूटे विना साधक सर्वथा निर्दोष नहीं होता और उसकी स्थिति पूर्णतया समभावमें नहीं होती। इसलिये यहाँ गुणातीतके प्रसङ्गमें सत्त्वगुणको भी सदोष बतलाना अनुचित नहीं है।

सम्बन्ध—अब निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त समदर्शी सिद्ध पुरुषके लक्षण बतलाते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है॥ २०॥

प्रश्न—प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्षित और उद्विग्न न होनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं। अज्ञानी पुरुषोंकी ऐसे अनुकूल पदार्थादिमें आसक्ति रहती है, इसलिये वे उनके प्राप्त होनेपर हर्षित होते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानीकी स्थिति समभावमें हो जानेके कारण उसकी किसी भी वस्तुमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं रहती; इसलिये जब उसे प्रारब्धके अनुसार किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, अर्थात् उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके साथ किसी प्रिय पदार्थका संयोग होता है तब वह हर्षित नहीं होता। क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीर आदिमें उसकी अहंता, ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं और अज्ञानी पुरुषोंका ऐसे पदार्थोंमें द्वेष होता है, इसलिये वे उनकी प्राप्तिमें घबड़ा उठते हैं और उन्हें बड़े भारी दुःखका अनुभव होता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषमें द्वेपका सर्वथा अभाव हो जाता है; इसलिये उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ अत्यन्त प्रतिकूल पदार्थका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुखी नहीं होता।

प्रश्न—यहाँ 'स्थिरबुद्धिः' इस विशेषणपदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भाव यह है कि तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषकी दृष्टिमें एक ब्रह्मके सिवा संसारमें और किसीकी सत्ता ही नहीं रहती। अतः उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है। लोकदृष्टिसे नाना प्रकारके मान-अपमान, सुख-दुःख आदिकी प्राप्ति होनेपर भी किसी भी कारणसे उसकी बुद्धि ब्रह्मकी स्थितिसे कदापि विचलित नहीं होती; वह प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें ही अचलभावसे स्थित रहती है।

प्रश्न—'असम्मूढः' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणमें संशय, भ्रम और मोहका लेश भी नहीं रहता। उसके संपूर्ण संशय अज्ञानसहित नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—'ब्रह्मवित्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको वह भलीभाँति जान लेता है। 'ब्रह्म' क्या है, 'जगत्' क्या है, 'ब्रह्म' और 'जगत्' का क्या सम्बन्ध है, 'आत्मा' और 'परमात्मा' क्या है, 'जीव' और 'ईश्वर' का क्या भेद है, इत्यादि ब्रह्मसम्बन्धी किसी भी बातका जानना उसके लिये बाकी नहीं रहता। ब्रह्मका स्वरूप उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीलिये उसे 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है।

प्रश्न—'ब्रह्मणि स्थितः' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ऐसा पुरुष जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें सदा ब्रह्ममें ही स्थित है। अभिप्राय यह है कि कभी किसी भी अवस्थामें उसकी स्थिति शरीरमें नहीं होती। ब्रह्मके साथ उसकी एकता हो जानेके कारण कभी किसी भी कारणसे उसका ब्रह्मसे वियोग नहीं होता। उसकी सदा एक-सी स्थिति बनी रहती है। इसीसे उसे 'ब्रह्मणि स्थितः' कहा गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्रह्ममें स्थित पुरुषके लक्षण बतलाये गये; अब ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके साधन और उसके फलकी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ॥ २१ ॥

प्रश्न—'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' किस पुरुषके लिये कहा गया है ?

उत्तर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेकके द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिल्कुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उन सबमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' अर्थात् बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला है।

प्रश्न—आत्मामें स्थित आनन्दको प्राप्त होनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'आत्मा' शब्द यहाँ अन्तःकरणका वाचक है। उस अन्तःकरणके अंदर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके नित्य और सतत ध्यानसे उत्पन्न सात्त्विक आनन्दका अनुभव करते रहना ही उस आनन्दको प्राप्त होना है।

इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं; सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्य-सुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है। परन्तु परमात्माके ध्यानमें अटलस्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित आनन्दको पाना है।

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' किसको कहा है और 'सः' का प्रयोग करके किसका संकेत किया गया है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' अर्थात् परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभेदभावसे स्थित कहा है। और पहले बतलाये हुए दोनों लक्षणोंके साथ इस 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'की एकताका संकेत करनेके लिये 'सः' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—अक्षय आनन्द क्या है और उसको अनुभव करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है। और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है।

इस 'सुख'की तुलनामें कोई-सा भी सुख नहीं ठहर सकता। सांसारिक भोगोंमें जो सुखकी प्रतीति होती है, वह तो सर्वथा नगण्य और क्षणिक है। उसकी अपेक्षा वैराग्य और उपरतिके सुख—ध्यानजनित सुखमें हेतु होनेके कारण—अधिक स्थायी हैं और 'ध्यानजनित सुख' परमात्माकी साक्षात् प्राप्तिका कारण होनेसे उनकी अपेक्षा भी अधिक स्थायी है; परन्तु साधनकालके इन सुखोंमेंसे किसीको भी अक्षय नहीं कहा जा सकता। 'अक्षय आनन्द' तो परमात्माका स्वरूप ही है।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिके त्यागको परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु

इन्द्रियोंके भोगोंको दुःखका कारण और अनित्य बतलाते हुए भगवान् उनमें आसक्तिरहित होनेके लिये संकेत करते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवकी पुरुष उनमें नहीं रमता॥ २२॥

प्रश्न—इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग केवल दुःखके ही हेतु हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जैसे पतंगे अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं। विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इसलोक और परलोकमें विविध प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसङ्गादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल,वीर्य,आयु तथा मन,बुद्धि,प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और शास्त्रविरुद्ध होनेपर तो परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोग-सामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है और वह उससे जलने लगता है।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं। इसीलिये उनको भगवान्ने 'केवल दुःखके हेतु' बतलाया है।

प्रश्न—भोगोंको 'आदि-अन्तवाले' बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इन्द्रियोंके भोगोंको स्वप्नकी या बिजलीकी चमककी भाँति अनित्य और क्षणभङ्गुर बतलानेके लिये ही उन्हें 'आदि-अन्तवाले' कहा गया है। वस्तुतः इनमें सुख है ही नहीं; परन्तु यदि अज्ञानवश सुखरूप प्रतीत होनेके कारण कोई इन्हें किसी अंशमें सुखके कारण मानें, तो वह सुख भी नित्य नहीं है, क्षणिक ही है। क्योंकि जो वस्तु स्वयं अनित्य होती है, उससे नित्य सुख नहीं मिल सकता। दूसरे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भी भगवान्ने इन्द्रियोंके विषयोंको उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको भगवान्ने 'कौन्तेय' सम्बोधन देकर क्या सूचित किया है?

उत्तर—अर्जुनकी माता कुन्तीदेवी बड़ी ही बुद्धिमती, संयमशील, विवेकवती और विषय-भोगोंसे विरक्त रहनेवाली थीं; नारी होनेपर भी उन्होंने अपना सारा जीवन वैराग्ययुक्त धर्माचरण और भगवान्की भक्तिमें ही बिताया। अतएव इस सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनको माता कुन्तीके महत्त्वकी याद दिलाते हुए यह सूचित करते हैं कि 'अर्जुन! तुम उन्हीं

धर्मशीला कुन्तीदेवीके पुत्र हो, तुम्हारे लिये तो इन विषयोंमें आसक्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है !'

प्रश्न—अज्ञानी मनुष्य विषय-भोगोंमें रमता है और विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता, इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं, परन्तु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान-मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है; परन्तु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरतापर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्तिके त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है इसलिये वह उनमें नहीं रमता।

सम्बन्ध—विषय-भोगोंको काम-क्रोधादिके निमित्तसे दुःखके हेतु बतलाकर अब मनुष्यशरीरका महत्त्व दिखलाते हुए भगवान् काम-क्रोधादि दुर्जय शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले पुरुषकी प्रशंसा करते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'इह' और 'एव' इन अव्ययोंका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है ?

उत्तर—इन दोनोंका प्रयोग मनुष्यशरीरका महत्त्व प्रकट करनेके लिये किया गया है। देवादि योनियोंमें विलासिता और भोगोंकी भरमार है तथा तिर्यगादि योनियोंमें जड़ताकी विशेषता है; अतएव उन सब योनियोंमें काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका साधन नहीं हो सकता। 'इह' और 'एव' का प्रयोग करके भगवान् मानो सावधान करते हुए कहते हैं कि शरीर-नाशके पहले-पहले इस मनुष्यशरीरमें ही साधन-में तत्पर होकर काम-क्रोधके वेगको शान्तिके साथ सहन करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये। असावधानी और लापरवाहीसे यदि यह दुर्लभ मनुष्यजीवन विषय-भोगोंके बटोरने और भोगनेमें ही बीत गया तो फिर सिर धुन-धुनकर पछताना पड़ेगा।

केनोपनिषद्में कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। (२।५)

अर्थात् 'यदि इस मनुष्यशरीरमें ही भगवान्‌को जान लिया तो अच्छी बात है, यदि इस शरीरमें न जाना तो बड़ी भारी हानि है।'

प्रश्न—'प्राक् शरीरविमोक्षणात्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये, साथ ही साधन करके ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये जिससे कि बार-बार घोर आक्रमण करनेवाले ये काम-क्रोधरूपी महान् शत्रु अपना वेग उत्पन्न करके जीवनमें कभी विचलित ही न कर सकें। जैसे समुद्रमें सब नदियोंके जल अपने-अपने वेगसहित विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ये काम-क्रोधादि शत्रु अपने वेगसहित विलीन होकर नष्ट ही हो जायँ—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न—काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेग क्या हैं ? [illegible] उन्हें सहन करनेमें समर्थ होना किसे कहते हैं ?

उत्तर—(पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये [illegible]) (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि [illegible] देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, [illegible] जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा [illegible] नाम 'काम' है और उनके कारण [illegible] नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका [illegible]

उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिकी इच्छा-पूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना'का भाव आता है, उसका नाम 'क्रोध' है; और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला वेग है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही, इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

प्रश्न—यहाँ 'युक्तः' विशेषण किसके लिये दिया गया है ?

उत्तर—बार-बार आक्रमण करके भी काम-क्रोधादि शत्रु जिसको विचलित नहीं कर सकते—इस प्रकार जो काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ है, उस मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले सांख्ययोगके साधक पुरुषके लिये ही 'युक्तः' विशेषण दिया गया है ?

प्रश्न—ऐसे पुरुषको 'सुखी' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं, परन्तु वास्तविक सुख क्या है और कैसे मिलता है, इस बातको न जाननेके कारण वे भ्रमसे भोगोंमें ही सुख समझ बैठते हैं, उन्हींकी कामना करते हैं और उन्हींको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उसमें बाधा आनेपर वे क्रोधके वश हो जाते हैं। परन्तु नियम यह है कि काम-क्रोधके वशमें रहनेवाला मनुष्य कदापि सुखी नहीं हो सकता। जो कामनाके वश है, वह स्त्री-पुत्र और धन-मानादिकी प्राप्तिके लिये और जो क्रोधके वश है वह दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये भाँति-भाँतिके अनर्थोंमें और पापोंमें प्रवृत्त होता है। परिणाममें वह इस लोकमें रोग, शोक, अपमान, अपयश, आकुलता, भय, अशान्ति, उद्वेग और नाना प्रकारके तापोंको तथा परलोकमें नरक और पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि योनियोंमें भाँति-भाँतिके क्लेशोंको प्राप्त होता है। (१६। १८, १९, २०) इस प्रकार वह सुख न पाकर सदा दुःख ही पाता है। परन्तु जिन पुरुषोंने भोगोंको दुःखके हेतु और क्षणभङ्गुर समझकर काम-क्रोधादि शत्रुओंपर भलीभाँति विजय प्राप्त कर ली है और जो उनके पंजेसे पूर्णरूपेण छूट गये हैं, वे सदा सुखी ही रहते हैं। इसी अभिप्रायसे ऐसे पुरुषको 'सुखी' कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'नरः' इस पदका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—सच्चा 'नर' वही है जो काम-क्रोधादि दुर्गुणोंको जीतकर भोगोंमें वैराग्यवान् और उपरत होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर ले। 'नर' शब्द वस्तुतः ऐसे ही मनुष्यका वाचक है, फिर आकारमें चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। अज्ञानविमोहित मनुष्य आसक्तिवश आपातरमणीय विषयोंके प्रलोभनमें फँसकर परमात्माको भूल जाता है और काम-क्रोधादिके परायण होकर नीच पशुओं और पिशाचोंकी भाँति आहार, निद्रा, मैथुन और कलहमें ही प्रवृत्त रहता है। वह 'नर' नहीं है, वह तो पशुसे भी गया-बीता बिना सींग-पूँछका अशोभन, निकम्मा और जगत्‌को दुःख देनेवाला जन्तुविशेष है। परमात्माको प्राप्त सच्चे 'नर'के गुण और आचरणको लक्ष्य बनाकर जो साधक काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुकते हैं वे भी 'नर' ही हैं, इसी भावसे यहाँ 'नर' शब्दका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—जिसने काम-क्रोधको जीत लिया है तथा जिसे 'युक्त' और 'सुखी' कहा गया है, उस पुरुषको साधक ही क्यों मानना चाहिये ? उसे सिद्ध मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—केवल काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनेमात्रसे ही कोई सिद्ध नहीं हो जाता (१६। २२)। सिद्धमें तो काम-क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं रहती। यह बात इसी अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कही है। फिर यहाँ उसे 'सुखी' ही बतलाया गया है, यदि वह 'अक्षय सुख'को प्राप्त करनेवाला सिद्ध पुरुष होता तो उसके लिये यहाँ 'परम सुखी' या अन्य कोई विलक्षण विशेषण दिया जाता। यहाँ वह उसी 'सात्त्विक' सुखका अनुभव करनेवाला पुरुष है जो इक्कीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धके अनुसार परमात्माके ध्यानमें प्राप्त होता है। इसलिये इस श्लोकमें वर्णित पुरुषको साधक ही समझना चाहिये।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयभोगोंको क्षणिक और दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थितिका फलसहित वर्णन किया जाता है—*

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

प्रश्न—'अन्तःसुखः' का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं मानता किन्तु इन सबके अन्तःस्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्तःसुखः' अर्थात् परमात्मामें ही सुखवाला है।

प्रश्न—'अन्तरारामः' कहनेका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, इन सबमें आसक्ति-रहित होकर केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्माका ही निरन्तर अभिन्नभावसे चिन्तन करता रहता है, वह 'अन्तराराम' कहलाता है।

प्रश्न—'अन्तर्ज्योतिः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (१३।१७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो पुरुष निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही 'अन्तर्ज्योति' है।

जिनकी दृष्टिमें यह सारा जगत् सत्य भासता है, निद्रा-वश स्वप्न देखनेवालोंकी भाँति जो अज्ञानके वश होकर दृश्य-जगत्का ही चिन्तन करते रहते हैं, वे 'अन्तर्ज्योति' नहीं हैं ; क्योंकि परम ज्ञानस्वरूप परमात्मा उनके लिये अदृश्य है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का क्या अर्थ है और उसका किस शब्दके साथ सम्बन्ध है ?

उत्तर—यहाँ 'एव' अन्यकी व्यावृत्ति करनेवाला है। तथा इसका सम्बन्ध 'अन्तःसुखः', 'अन्तरारामः' और 'अन्तर्ज्योतिः' इन तीनोंके साथ है। अभिप्राय यह है कि बाह्य दृश्यप्रपञ्चसे उस योगीका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ; क्योंकि वह परमात्मामें ही सुख, रति और ज्ञानका अनुभव करता है।

प्रश्न—'ब्रह्मभूतः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद सांख्ययोगीका विशेषण है। सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है, जब उसका ब्रह्मके साथ किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्य-योगी 'ब्रह्मभूत' कहलाता है।

प्रश्न—'ब्रह्मनिर्वाणम्' यह पद किसका वाचक है और उसकी प्राप्ति क्या है ?

उत्तर—'ब्रह्मनिर्वाणम्' पद सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है। सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया गया है, यह उसीका फल है। श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उ० ४।४।६) अर्थात् 'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी [illegible] मोक्षप्राप्ति और परमगतिकी प्राप्ति क[illegible]

सम्बन्ध—इस प्रकार जो परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, उन पुरुषोंके लक्षण ब[illegible]

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'क्षीणकल्मषाः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुञ्ज, जो मनुष्यके अन्तःकरणमें इकट्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं। परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन सबका नाश हो जाता है। फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता। इस प्रकार 'मल' दोषका अभाव दिखलानेके लिये 'क्षीणकल्मषाः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'छिन्नद्वैधाः' विशेषणका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'द्वैध' शब्द संशय या दुविधाका वाचक है, इसका कारण है—अज्ञान। परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर सम्पूर्ण संशय अपने कारण अज्ञानके सहित नष्ट हो जाते हैं। परमात्माको प्राप्त ऐसे पुरुषके निर्मल अन्तःकरणमें लेशमात्र भी विक्षेप और आवरणरूपी दोष नहीं रहते। इसी भावको दिखलानेके लिये 'छिन्नद्वैधाः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'यतात्मानः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका वशमें किया हुआ मन चञ्चलता आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माके स्वरूपमें तद्रूप हो जाता है उसको 'यतात्मा' कहते हैं।

प्रश्न—'सर्वभूतहिते रताः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्माका अपरोक्ष ज्ञान हो जानेके बाद अपने-परायेका भेद नहीं रहता, फिर उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मबुद्धि हो जाती है। इसलिये अज्ञानी मनुष्य जैसे अपने शरीरको आत्मा समझकर उसके हितमें रत रहता है, वैसे ही सबमें समभावसे आत्मबुद्धि होनेके कारण ज्ञानी महापुरुष स्वाभाविक ही सबके हितमें रत रहता है। इसी भावको दिखलानेके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' विशेषण दिया गया है।

यह कथन भी लोकदृष्टिसे केवल ज्ञानीके आदर्श व्यवहारका दिग्दर्शन करानेके लिये ही है। वस्तुतः ज्ञानीके निश्चयमें न तो एक ब्रह्मके अतिरिक्त सर्व भूतोंकी पृथक् सत्ता ही रहती है और न वह अपनेको सबके हितमें रत रहनेवाला ही समझता है।

प्रश्न—यहाँ 'ऋषयः' पदका अर्थ 'ब्रह्मवेत्ता' कैसे किया गया ?

उत्तर—गत्यर्थक 'ऋष्' धातुका भावार्थ ज्ञान या तत्त्वार्थ-दर्शन है। इसके अनुसार यथार्थ तत्त्वको भलीभाँति समझनेवालेका नाम 'ऋषि' होता है। अतएव यहाँ 'ऋषि' का अर्थ ब्रह्मवेत्ता ही मानना ठीक है। 'क्षीणकल्मषाः', 'छिन्नद्वैधाः' और 'यतात्मानः' विशेषण भी इसी अर्थका समर्थन करते हैं।

श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
(मुण्डक उ० २।२।८)

अर्थात् 'परावरस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इस ज्ञानी पुरुषके हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।'

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ॥ २६ ॥

प्रश्न—काम-क्रोधसे रहित बतलानेका क्या अभिप्राय है? क्या ज्ञानी महात्माके मन-इन्द्रियोंद्वारा काम-क्रोधकी कोई क्रिया ही नहीं होती?

उत्तर—ज्ञानी महापुरुषोंका अन्तःकरण सर्वथा परिशुद्ध हो जाता है, इसलिये उसमें काम-क्रोधादि विकार लेशमात्र भी नहीं रहते। ऐसे महात्माओंके मन और इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है, सब स्वाभाविक ही दूसरोंके हितके लिये ही होती है। व्यवहारकालमें आवश्यकतानुसार उनके मन और इन्द्रियोंद्वारा यदि शास्त्रानुकूल काम-क्रोधका बर्ताव किया जाय तो उसे नाटकमें स्वाँग धारण करके अभिनय करनेवालेके बर्तावके सदृश केवल लोकसंग्रहके लिये लीलामात्र ही समझना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'यति' शब्दका क्या अर्थ है?

उत्तर—मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष ज्ञानमें महान् प्रतिबन्धकरूप होते हैं। इन तीनों दोषोंका सर्वथा अभाव ज्ञानीमें ही होता है। यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरणदोषका सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है। इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी मानना उचित है।

प्रश्न—ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म ही परिपूर्ण हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

सम्बन्ध—कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये। उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २७-२८ ॥

प्रश्न—बाहरके विषयोंको बाहर निकालनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—बाह्य विषयोंके साथ जीवका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है और उसके अन्तःकरणमें उनके असंख्य चित्र भरे पड़े हैं। विषयोंमें सुखबुद्धि और रमणीयबुद्धि होनेके कारण मनुष्य अनवरत विषय-चिन्तन करता रहता है और पूर्वसञ्चित संस्कार जग-जगकर उसके मनमें आसक्ति और कामनाकी आग भड़काते रहते हैं। इसलिये

किसी भी समय उसका चित्त शान्त नहीं हो पाता। यहाँतक कि वह कभी, ऊपरसे विषयोंका त्याग करके एकान्त देशमें ध्यान करनेको बैठता है तो उस समय भी, विषयोंके संस्कार उसका पिण्ड नहीं छोड़ते। इसलिये वह परमात्माका ध्यान नहीं कर पाता। इसमें प्रधान कारण है—निरन्तर होनेवाला विषय-चिन्तन। और यह विषय-चिन्तन तबतक बंद नहीं होता, जबतक विषयोंमें सुखबुद्धि बनी है। इसलिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्य-विषयोंको क्षणभङ्गुर, अनित्य, दु:खमय और दु:खोंके कारण समझकर उनके संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्त:करणसे निकाल देना चाहिये—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये; तभी चित्त सुस्थिर और प्रशान्त होगा।

प्रश्न—नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें लगानेके लिये क्यों कहा?

उत्तर—नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न—विक्षेप होता है और उन्हें बंद कर लेनेसे आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है। इसीलिये ऐसा कहा गया है।

इसके सिवा योगशास्त्रसम्बन्धी कारण भी हैं। कहते हैं कि भृकुटीके मध्यमें द्विदल आज्ञाचक्र है। इसके समीप ही सप्त कोश हैं, उनमें अन्तिम कोशका नाम 'उन्मनी' है; वहाँ पहुँच जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इसीलिये योगीगण आज्ञाचक्रमें दृष्टि स्थिर किया करते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'प्राणापानौ' प्राण और अपानवायुके साथ 'नासाभ्यन्तरचारिणौ' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ प्राण और अपानकी गतिको सम करनेके लिये कहा गया है, न कि उनकी गतिको रोकनेके लिये। इसी कारण 'नासाभ्यन्तरचारिणौ' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—प्राण और अपानको सम करना क्या है और उनको किस प्रकार सम करना चाहिये?

उत्तर—प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिकामें। वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिङ्गलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चञ्चल रहता है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम करना है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाडीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मनकी चञ्चलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता है।

प्राण और अपानको सम करनेके लिये पहले वाम नासिकासे अपानवायुको भीतर ले जाकर प्राणवायुको दक्षिण नासिकासे बाहर निकालना चाहिये। फिर अपानवायुको दक्षिण नासिकासे भीतर ले जाकर प्राणवायुको वाम नासिकासे बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार प्राण और अपानके सम करनेका अभ्यास करते समय परमात्माके नामका जप करते रहना तथा वायुको बाहर निकालने और भीतर ले जानेमें ठीक बराबर समय लगाना चाहिये और उनकी गतिको समान और सूक्ष्म करते रहना चाहिये। इस प्रकार लगातार अभ्यास करते-करते जब दोनोंकी गति सम, शान्त और सूक्ष्म हो जाय, नासिकाके बाहर और भीतर कण्ठादि देशमें उनके स्पर्शका ज्ञान न हो, तब समझना चाहिये कि प्राण और अपान सम और सूक्ष्म हो गये हैं।

प्रश्न—इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जीतनेका क्या स्वरूप है? और उन्हें कैसे एवं क्यों जीतना चाहिये?

उत्तर—इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे-जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चञ्चल रहता है और अपनी आदतको छोड़ना ही नहीं चाहता, एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल हो जाना है। विवेक और वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा इन्हें सुश्रृङ्खल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना है। ऐसा कर लेनेपर इन्द्रियाँ स्वच्छन्दतासे विषयोंमें न रमकर हमारे इच्छानुसार जहाँ हम कहेंगे वहीं

रुकी रहेंगी, मन हमारे इच्छानुसार एकाग्र हो जायगा और बुद्धि एक इष्ट निश्चयपर अचल और अटल रह सकेगी। ऐसा माना जाता है और यह ठीक ही है कि इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेसे प्रत्याहार (इन्द्रियवृत्तियोंका संयत होना), मनको वशमें कर लेनेपर धारणा (चित्तका एक देशमें स्थिर करना) और बुद्धिको अपने अधीन बना लेनेपर ध्यान (बुद्धिको एक ही निश्चयपर अचल रखना) सहज हो जाता है। इसलिये ध्यानयोगमें इन तीनोंको वशमें कर लेना बहुत ही आवश्यक है।

प्रश्न—'मोक्षपरायणः' पद किसका वाचक है?

उत्तर—जिसे परमात्माकी प्राप्ति, परमगति, परमपदकी प्राप्ति या मुक्ति कहते हैं उसीका नाम मोक्ष है। यह अवस्था मन-वाणीसे परे है। इतना ही कहा जा सकता है कि इस स्थितिमें मनुष्य सदाके लिये समस्त कर्मबन्धनोंसे सर्वथा छूटकर अनन्त और अद्वितीय परम कल्याणस्वरूप और परमानन्दस्वरूप हो जाता है। इस मोक्ष या परमात्माकी प्राप्तिके लिये जिस मनुष्यने अपने इन्द्रिय, मन और बुद्धिको सब प्रकारसे तन्मय बना दिया है, जो नित्य-निरन्तर परमात्माकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही संलग्न है, जिसका एकमात्र उद्देश्य केवल परमात्माको ही प्राप्त करना है और जो परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य नहीं समझता, वही 'मोक्षपरायण' है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनिः' पद किसके लिये आया है?

उत्तर—'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यानकालकी भाँति व्यवहारकालमें भी—परमात्माकी सर्वव्यापकताका दृढ निश्चय होनेके कारण—सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

प्रश्न—'विगतेच्छाभयक्रोधः' इस विशेषणका अभिप्राय क्या है?

उत्तर—इच्छा होती है किसी भी अभावका अनुभव होनेपर; भय होता है अनिष्टकी आशंकासे तथा क्रोध होता है कामनामें विघ्न पड़नेपर अथवा मनके अनुकूल कार्य न होनेपर। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यानयोगका साधन करते-करते जो पुरुष सिद्ध हो जाता है, उसे सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परमात्माका अनुभव होता है, वह कहीं उनका अभाव देखता ही नहीं; फिर उसे इच्छा किस बातकी होती? जब एक परमात्माके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं और नित्य सत्य सनातन अनन्त अविनाशी परमात्माके स्वरूपमें कभी कोई च्युति होती ही नहीं, तब अनिष्टकी आशंकाजनित भय भी क्यों होने लगा? और परमात्माकी नित्य एवं पूर्ण प्राप्ति हो जानेके कारण जब कोई कामना या मनोरथ रहता ही नहीं, तब क्रोध भी किसपर और कैसे हो? अतएव इस स्थितिमें उसके अन्तःकरणमें न तो व्यवहारकालमें और न स्वप्नमें, कभी किसी अवस्थामें भी, किसी प्रकारकी इच्छा ही उत्पन्न होती है, न किसी भी घटनासे किसी प्रकारका भय ही होता है और न किसी भी अवस्थामें क्रोध ही उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का प्रयोग किस अर्थमें है और ऐसा पुरुष 'सदा मुक्त ही है' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'एव' यह अव्यय निश्चयका बोधक है। जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें या व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने कर्मयोग और सांख्ययोगके स्वरूपका प्रतिपादन करके उनके साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और सिद्ध पुरुषोंके लक्षण बतलाये। फिर दोनों निष्ठाओंके लिये उपयोगी होनेसे [illegible] का भी संक्षेपमें वर्णन किया। अब जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्य[illegible] योगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे पर[illegible] योगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रश्न—'यज्ञ' और 'तप' से क्या समझना चाहिये, भगवान् उनके भोक्ता कैसे हैं और उनको भोक्ता जाननेसे मनुष्यको शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपयुक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये । भगवान् सबके आत्मा हैं (१० । २०) अतएव देवता, ब्राह्मण-दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं । इसलिये वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (९ । २४) । भगवान्के तत्त्व और प्रभावको न जाननेके कारण ही मनुष्य जिनकी सेवा-पूजा करते हैं, उन देव-मनुष्यादिको ही यज्ञ और सेवा आदिके भोक्ता समझते हैं, इसीसे वे अल्प और विनाशी फलके भागी होते हैं (७ । २३) उनको यथार्थ शान्ति नहीं मिलती । परन्तु जो पुरुष भगवान्के तत्त्व और प्रभावको जानता है, वह सबके अंदर आत्मरूपसे विराजित भगवान्को ही देखता है । इस प्रकार प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण जब वह उनकी सेवा करता है, तब उसे यही अनुभव होता है कि मैं देव-ब्राह्मण या दीन-दुखी आदिके रूपमें अपने परम पूजनीय, परम प्रेमास्पद सर्वव्यापी श्रीभगवान्की ही सेवा कर रहा हूँ ।

मनुष्य जिसको कुछ भी श्रेष्ठ या सम्मान्य समझता है, जिसमें थोड़ी भी श्रद्धा-भक्ति होती है, जिसके प्रति कुछ भी आन्तरिक सच्चा प्रेम होता है, उसकी सेवामें उसको बड़ा भारी आनन्द और विलक्षण शान्ति मिलती है । क्या पितृभक्त पुत्र अपने पिताकी, स्नेहमयी माता पुत्रकी और प्रेमप्रतिमा पत्नी अपने पतिकी सेवा करनेमें कभी थकते हैं? क्या सच्चे शिष्य या अनुयायी मनुष्य अपने श्रद्धेय गुरु या पथदर्शक महात्माकी सेवासे किसी भी कारणसे हटना चाहते हैं? जो पुरुष या स्त्री जिनके लिये गौरव, प्रभाव या प्रेमके पात्र होते हैं, उनकी सेवाके लिये उनके अंदर क्षण-क्षणमें नयी-नयी उत्साह-लहरी उत्पन्न होती है; ऐसा मन होता है कि इनकी जितनी सेवा की जाय उतनी ही थोड़ी है । वे इस सेवासे यह नहीं समझते कि हम इनका उपकार कर रहे हैं; उनके मनमें इस सेवासे अभिमान नहीं उत्पन्न होता, वरं ऐसी सेवाका अवसर पाकर वे अपना सौभाग्य समझते हैं और जितनी ही सेवा बनती है, उनमें उतनी ही विनयशीलता और सच्ची नम्रता बढ़ती है । वे अहसान तो क्या करें, उन्हें पद-पदपर यह डर रहता है कि कहीं हम इस सौभाग्यसे वञ्चित न हो जायँ । वे ऐसा इसीलिये करते हैं कि इससे उन्हें अपने चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होता है; परन्तु यह शान्ति उन्हें सेवासे हटा नहीं देती क्योंकि उनका चित्त निरन्तर आनन्दातिरेकसे छलकता रहता है और वे इस आनन्दसे न अघाकर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सेवा ही करना चाहते हैं ।

जब सांसारिक गौरव, प्रभाव और प्रेममें सेवा इतनी सच्ची, इतनी लगनभरी और इतनी शान्तिप्रद होती है, तब भगवान्का जो भक्त सबके रूपमें अखिल जगत्के परमपूज्य, देवाधिदेव, सर्वशक्तिमान्, परम गौरव तथा अचिन्त्य प्रभावके नित्य धाम अपने परम प्रियतम भगवान्को पहचानकर अपनी विशुद्ध सेवावृत्तिको हृदयके सच्चे विश्वास और अविरल प्रेमकी निरन्तर उन्हींकी ओर बहनेवाली पवित्र और सुधामयी मधुर धारामें पूर्णतया डुबा-डुबाकर उनकी पूजा करता है, तब उसे

कितना और कैसा अलौकिक आनन्द तथा कितनी और कैसी अपूर्व दिव्य शान्ति मिलती होगी—इस बातको कोई नहीं बतला सकता। जिनको भगवत्कृपासे ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है, वे ही वस्तुतः इसका अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌को 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना क्या है, और ऐसा समझनेवालेको शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वेताश्वतर उ० ६।७)। अपनी अनिर्वचनीय मायाशक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना है।

इस प्रकार समझनेवाला भक्त भगवान्‌के महान् प्रभाव और रहस्यसे अभिज्ञ होनेके कारण क्षणभर भी उन्हें नहीं भूल सकता। वह सर्वथा निर्भय और निश्चिन्त होकर उनका अनन्य चिन्तन करता है। शान्तिमें विघ्न डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु उसके पास भी नहीं फटकते। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से बढ़कर कोई भी नहीं होता। इसलिये वह उनके चिन्तनमें संलग्न होकर नित्य-निरन्तर परम शान्ति और आनन्दके महान् समुद्र भगवान्‌के ध्यानमें ही डूबा रहता है।

प्रश्न—भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् किस प्रकार हैं और उनको सुहृद् जाननेसे शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्‌में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो भगवान्‌को न प्राप्त हो और जिसके लिये भगवान्‌का कहीं किसीसे कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध हो। भगवान् तो सदा-सर्वदा सभी प्रकारसे पूर्णकाम हैं (३।२२); तथापि दयामय-स्वरूप होनेके कारण वे स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं।

लोग इस रहस्यको नहीं समझते इसीसे वे लौकिक दृष्टिसे इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सुखी-दुःखी होते रहते हैं और इसीसे उन्हें शान्ति नहीं मिलती। जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मंगलके लिये ही करते हैं।' वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वर-का प्रेम और दयासे ओत-प्रोत मंगलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी भी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

संसारमें यदि किसी साधारण मनुष्यके प्रति, किसी शक्तिशाली उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजाका सुहृद्-भाव हो जाता है और वह मनुष्य यदि इस बातको जान लेता है कि अमुक श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न पुरुष मेरा यथार्थ हित चाहते हैं और मेरी रक्षा करनेको प्रस्तुत हैं तो—यद्यपि उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजा सर्वथा स्वार्थरहित भी नहीं होते, सर्वशक्तिमान् भी नहीं होते और सबके स्वामी भी नहीं होते तथापि—वह अपनेको बहुत भाग्यवान् समझकर एक प्रकारसे निर्भय और निश्चिन्त होकर आनन्दमें मग्न हो जाता है, फिर यदि सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्व-नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शी, अनन्त अचिन्त्य गुणोंके समुद्र, परमप्रेमी परमेश्वर अपनेको हमारा सुहृद् बतलावें और हम इस बातपर विश्वास करके उन्हें अपना सुहृद् मान लें तो हमें कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति मिलेगी! इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

प्रश्न—इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ-तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महेश्वर और समस्त प्राणियोंके सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है ?

उत्तर—भगवान्‌को इनमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है, फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त समझनेवालेकी तो बात ही क्या है ? क्योंकि जो किसी एक लक्षणको भी भलीभाँति समझ लेता है, वह अनन्यभावसे भजन किये बिना रह ही नहीं सकता। भजनके प्रभावसे उसपर भगवत्कृपा बरसने लगती है और भगवत्कृपासे वह अत्यन्त ही शीघ्र भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व तथा गुणोंको समझकर पूर्ण शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

अहा ! उस समय कितना आनन्द और कैसी शान्ति प्राप्त होती होगी, जब मनुष्य यह जानता होगा कि 'सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंसे पूजित भगवान्, जो समस्त यज्ञ-तपोंके एकमात्र भोक्ता हैं और सम्पूर्ण ईश्वरोंके तथा अखिल ब्रह्माण्डोंके परम महेश्वर हैं, मेरे परमप्रेमी मित्र हैं ! कहाँ क्षुद्रतम और नगण्य मैं, और कहाँ अपनी अनन्त अचिन्त्य महिमामें नित्यस्थित महान् महेश्वर भगवान् ! अहा ! मुझसे अधिक सौभाग्यवान् और कौन होगा !' और उस समय वह हृदयकी किस अपूर्व कृतज्ञताको लेकर, किस पवित्र भावधारासे सिक्त होकर, किस आनन्दार्णवमें डूबकर भगवान्‌के पावन चरणोंमें सदाके लिये लोट पड़ता होगा !

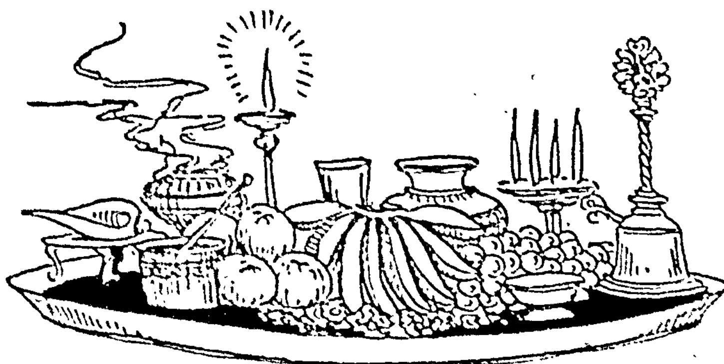
प्रश्न—भगवान् सब यज्ञ और तपोंके भोक्ता, सब लोकोंके महेश्वर और सब प्राणियोंके परम सुहृद् हैं—इस बातको समझनेका क्या उपाय है ? किस साधनसे मनुष्य इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको भलीभाँति समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है ?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमके साथ महापुरुषोंका संग, सत्-शास्त्रोंका श्रवण-मनन और भगवान्‌की शरण होकर अत्यन्त उत्सुकताके साथ उनसे प्रार्थना करनेपर उनकी दयासे मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पदसे भगवान्‌ने अपने किस स्वरूपका लक्ष्य कराया है ?

उत्तर—जो परमेश्वर अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वर होते हुए भी समय-समयपर अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके लीला करनेके लिये योगमायासे संसारमें अवतीर्ण होते हैं और जो श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण होकर अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं, उन्हीं निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार और अव्यक्त-व्यक्तस्वरूप, सर्वरूप, परब्रह्म परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वलोकमहेश्वर समग्र परमेश्वरको लक्ष्य करके 'माम्' पदका प्रयोग किया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

षष्ठोऽध्यायः

अध्यायका नाम 'कर्मयोग' और 'सांख्ययोग'—इन दोनों ही साधनोंमें उपयोगी होनेके कारण इस छठे अध्यायमें ध्यानयोगका भलीभाँति वर्णन किया गया है। ध्यानयोगमें शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका संयम करना परम आवश्यक है। तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन सबको 'आत्मा'के नामसे कहा जाता है और इस अध्यायमें इन्हींके संयमका विशेष वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'आत्मसंयमयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप इस अध्यायके पहले श्लोकमें कर्मयोगीकी प्रशंसा की गयी है। दूसरेमें 'संन्यास' और 'कर्मयोग' की एकताका प्रतिपादन करके, तीसरेमें कर्मयोगके साधनका वर्णन है। चौथेमें योगारूढ पुरुषके लक्षण बतलाकर, पाँचवेंमें पूर्वोक्त मनुष्यको योगारूढावस्था प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करके उसके कर्तव्यका निरूपण किया गया है। छठेमें 'आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है', इस पूर्वोक्त बातका रहस्य खोलकर, सातवेंमें शरीर, मन, इन्द्रियादिके जीतनेका फल बतलाया गया है। आठवें और नवेंमें परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षणोंका और महत्त्वका वर्णन है। दसवेंमें ध्यानयोगके लिये प्रेरणा करके फिर ग्यारहवेंसे चौदहवें तक क्रमशः स्थान, आसन तथा ध्यानयोगकी विधिका निरूपण किया गया है। पंद्रहवेंमें ध्यानयोगका फल बतलाकर, सोलहवें और सतरहवेंमें ध्यानयोगके उपयुक्त आहार-विहार तथा शयनादिके नियम और उनका फल बतलाया गया है। अठारहवेंमें ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण बतलाकर, उन्नीसवेंमें दीपकके दृष्टान्तसे योगीके चित्तकी स्थितिका वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् बीसवेंसे बाईसवें तक ध्यानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करके, तेईसवेंमें उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाकर उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा की गयी है। चौबीसवें और पचीसवेंमें अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगके साधनकी प्रणाली बतलाकर, छब्बीसवेंमें विषयोंमें विचरनेवाले मनको बार-बार खींच-खींचकर परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा की गयी है। सत्ताईसवें और अट्ठाईसवेंमें ध्यानयोगके फलस्वरूप 'आत्यन्तिक सुख' की प्राप्ति बतलायी गयी है। उन्तीसवेंमें सांख्ययोगीके व्यवहारकालकी स्थिति बतलाकर, तीसवेंमें भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्-दर्शनका वर्णन किया गया है। इकतीसवेंमें भक्तिद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए तथा बत्तीसवेंमें सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण और महत्त्वका निरूपण किया गया है। तैंतीसवेंमें अर्जुनने मनकी चञ्चलताके कारण समत्वयोगकी स्थिरताको कठिन बतलाकर चौंतीसवेंमें मनके निग्रहको भी अत्यन्त कठिन बतलाया है। पैंतीसवेंमें भगवान्‌ने अर्जुनकी उक्तिको स्वीकार करके मनके निग्रहका उपाय बतलाया है। छत्तीसवेंमें मनके वशमें न करनेपर योगकी दुष्प्राप्यता बतलाकर, वशमें करनेसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। इसके बाद सैंतीसवें और अड़तीसवेंमें योगभ्रष्टकी गतिके सम्बन्धमें अर्जुनके प्रश्न हैं और उनचालीसवेंमें अर्जुनने संशय-निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है। तदनन्तर चालीसवेंसे पैंतालीसवें तक अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्‌के द्वारा क्रमशः योगभ्रष्ट पुरुषोंकी दुर्गति न होनेका, स्वर्गादि लोकोंमें जाने तथा पवित्र धनवानोंके घर जन्म लेनेका, वैराग्यवान् योगभ्रष्टोंका ज्ञानवान् योगियोंके घरोंमें जन्मका और पूर्व देहके बुद्धिसंयोगको अनायास ही प्राप्त करनेका, पवित्र धनियोंके घर जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टोंका भी पूर्वाभ्यासके बलसे भगवान्‌की ओर आकर्षित किये जानेका, योगकी जिज्ञासाके महत्त्वका और अन्तमें योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टको परम गतिप्राप्त होनेका वर्णन किया गया है। इसके बाद छियालीसवेंमें योगीकी महिमा बतलाकर अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा दी गयी है और सैंता सब योगियोंमेंसे अनन्य प्रेमसे श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का भजन करनेवाले योगीकी प्रशंसा करके अध्यायका उपसंहार किया

सम्बन्ध—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग' इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है ?—यह बतलानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की थी। इसपर भगवान्‌ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपणकरके दोनोंकेलिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया। परन्तु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोगका अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेकेलिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए ही प्रकरणका आरम्भ करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है; और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है॥

प्रश्न—यहाँ कर्मफलके आश्रयका त्याग बतलाया गया, आसक्तिके त्यागकी कोई बात इसमें नहीं आयी, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिस पुरुषकी भोगोंमें या कर्मोंमें आसक्ति होती है, वह कर्मफलके आश्रयका सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकता। आसक्ति होनेपर स्वाभाविक ही कर्मफलकी कामना होती है। अतएव कर्मफलके आश्रयका जिसमें त्याग है, उसमें आसक्तिका त्याग भी समझ लेना चाहिये। प्रत्येक स्थानपर सभी शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ करता। ऐसे स्थलोंपर उसी विषयमें अन्यत्र कही हुई बातका अध्याहार कर लेना चाहिये। जहाँ फलका त्याग बतलाया जाय परन्तु आसक्तिके त्यागकी चर्चा न हो (२। ५१, १८। ११), वहाँ आसक्तिका भी त्याग समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ आसक्तिका त्याग कहा जाय पर फल-त्यागकी बात न हो (३। १९, ६। ४) वहाँ फलका त्याग भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—कर्मफलके आश्रयको त्यागनेका क्या भाव है ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सभीका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है। इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें गिरानेवाले होते हैं। अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखोंमें हेतु समझकर, समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफलके आश्रयका त्याग करना है।

प्रश्न—करनेयोग्य कर्म कौन-से हैं और उन्हें कैसे करना चाहिये ?

उत्तर—अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, सभी करनेयोग्य कर्म हैं। उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य आलस्यरहित होकर, अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त पुरुष संन्यासी भी है और योगी भी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस

यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है।

प्रश्न—'न निरग्निः' का क्या भाव है?

उत्तर—अग्निका त्याग करके संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेनेवाले पुरुषको 'निरग्नि' कहते हैं। यहाँ 'न निरग्निः' कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि जिसने अग्निको त्याग कर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है, परन्तु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है, क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग तथा ममता, आसक्ति और देहाभिमानका त्याग नहीं किया।

प्रश्न—'न च अक्रियः' का क्या भाव है?

उत्तर—समस्त क्रियाओंका सर्वथा त्याग करके 'ध्यानस्थ' हो जानेवाले पुरुषको 'अक्रिय' कहते हैं। यहाँ 'न च अक्रियः' से भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परन्तु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है। ममता, अभिमान, आसक्ति, कामना और क्रोध आदिका त्याग नहीं किया।

प्रश्न—जिस पुरुषने अग्निका सर्वथा त्याग करके संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लिया है और जिसमें ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के समस्त लक्षण (५।८, ९, १३, २४, २५ २६ के अनुसार) भलीभाँति प्रकट हैं, क्या वह संन्यासी नहीं है?

उत्तर—क्यों नहीं? ऐसे ही महापुरुष तो आदर्श संन्यासी हैं। इसी प्रकारके संन्यासी महात्माओंका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही तो ज्ञानयोगके लक्षणोंका जिनमें विकास होता है, उन अन्य आश्रमवालोंको भी संन्यासी कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें संन्यासी बतलानेका और स्वारस्य ही क्या हो सकता है?

प्रश्न—इसी प्रकार समस्त क्रियाओंका त्याग करके जो पुरुष निरन्तर ध्यानस्थ रहता है तथा जिनके अन्तःकरणमें ममता, राग, द्वेष और काम-क्रोधादिका सर्वथा अभाव हो गया है, वह सर्वसंकल्पोंका संन्यासी भी क्या योगी नहीं है?

उत्तर—ऐसे सर्वसंकल्पोंके त्यागी महात्मा ही तो आदर्श योगी हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शंका हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है? अतः इस शंकाका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान। क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता॥ २॥

प्रश्न—जिसको 'संन्यास' कहते हैं उसीको तू 'योग' जान, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ है—शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटाकर केवल परमात्मामें ही अभिन्न-भावसे स्थित हो जाना। यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है। तथा 'योग' शब्दका अर्थ है—ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग' की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि। दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'संकल्प'का क्या अर्थ है और उसका 'सन्यास' क्या है ?

उत्तर—ममता और राग-द्वेषसे संयुक्त सांसारिक पदार्थोंका चिन्तन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, उसको 'संकल्प' कहते हैं ? इस प्रकारकी वृत्तिका सर्वथा अभाव कर देना ही उसका 'संन्यास' है।

प्रश्न—संकल्पका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संकल्पका पूर्णरूपसे त्याग हुए बिना चित्तका परमात्मासे पूर्ण संयोग नहीं होता, इसलिये संकल्पोंका त्याग सभीके लिये आवश्यक है। कोई एक साधक एकान्तदेशमें आसन-प्राणायामादिके द्वारा परमात्माके ध्यानका अभ्यास करते हैं, दूसरे निष्कामभावसे सदा-सर्वदा केवल भगवान्‌के लिये ही भगवदाज्ञानुसार कर्म करनेकी चेष्टा करते हैं, तीसरे समय-समयपर ध्यानका भी अभ्यास करते हैं और निष्काम-भावसे कर्म भी करते हैं। इनमेंसे किन्हीं भी साधकको, जब-तक वे सङ्कल्पोंका सर्वथा त्याग नहीं कर देते, योगारूढ या योगी नहीं कहा जा सकता। साधक तभी योगारूढ होता है, जब वह समस्त कर्मोंमें और विषयोंमें आसक्तिरहित होकर सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्याग कर चुकता है।

सांख्ययोगी भी वस्तुतः तभी सच्चा संन्यासी होगा, जब उसके चित्तमें सङ्कल्पमात्रका अभाव हो जायगा। इसीलिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें दोनोंको एक समझनेके लिये कहा गया है।

सम्बन्ध—*कर्मयोगकी प्रशंसा करके अब उसका साधन बतलाते हैं*—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसङ्कल्पोंका अभाव है वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'मुनेः' इस पदसे किस पुरुषका ग्रहण करना चाहिये ?

उत्तर—'मुनेः' यह पद यहाँ उस पुरुषके लिये विशेषण-रूपमें आया है जो परमात्माकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है। अतएव इससे स्वभावसे ही परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करनेवाले मननशील साधकका ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें कौन-से कर्म हेतु हैं ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम और अपनी स्थितिके अनुकूल जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, फल और आसक्तिका त्याग करके किये जानेपर वे सभी योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु हो सकते हैं।

प्रश्न—योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें कर्मोंको हेतु क्यों बतलाया ? कर्मोंका त्याग करके एकान्तमें ध्यानका अभ्यास करनेसे भी तो योगारूढावस्था प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—एकान्तमें परमात्माके ध्यानका अभ्यास करना भी तो एक प्रकार कर्म ही है। और इस प्रकार ध्यानका अभ्यास करनेवाले साधकको भी शौच, स्नान तथा खान-पानादि शरीर-निर्वाहके योग्य क्रिया तो करनी ही पड़ती है। इसलिये अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—यह कहना ठीक ही है। इसीलिये तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रश्न—यहाँ 'शमः' इस पदका अर्थ स्वरूपतः क्रियाओंका त्याग न मानकर सर्व-संकल्पोंका अभाव क्यों माना गया ?

उत्तर—दूसरे और चौथे श्लोकमें संकल्पोंके त्यागका

प्रकरण है। 'शमः' पदका अर्थ भी मनको वशमें करके शान्त करना होता है। अठारहवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें भी 'शम' शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग हुआ है। और मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है। इसके अतिरिक्त, कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता। अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव मानना ही ठीक है।

प्रश्न—योगारूढ पुरुषके 'शम' को कर्मोंका कारण माना जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—'शम' शब्द सर्वसंकल्पोंके अभावरूप शान्तिका वाचक है। इसलिये वह कर्मका कारण नहीं बन सकता। योगारूढ पुरुषद्वारा जो कुछ चेष्टा होती है, उनमें तो उनके और लोगोंके प्रारब्ध ही हेतु हैं। अतः 'शम' को कर्मका हेतु मानना युक्तिसंगत नहीं है। उसे तो परमात्माकी प्राप्तिका हेतु मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'योगारूढ' शब्द आया। उसका लक्षण जाननेकी आकांक्षा होनेपर योगारूढ पुरुषके लक्षण बतलाते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है॥ ४॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके विषयमें और कर्मोंमें केवल आसक्तिका त्याग बतलाया, कामनाका त्याग नहीं बतलाया। इसका क्या कारण है?

उत्तर—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है (२।६२)। यदि विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न रहे तो कामनाका अभाव तो अपने-आप ही हो जायगा। कारणके बिना कार्य हो ही नहीं सकता। अतएव आसक्तिके अभावमें कामनाका अभाव भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—'सर्वसंकल्पसंन्यास' का क्या अर्थ है? और समस्त संकल्पोंका त्याग हो जानेके बाद किसी भी विषयका ग्रहण या कर्मका सम्पादन कैसे सम्भव है?

उत्तर—यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय। जिसे यह अवस्था प्राप्त नहीं है, वह तो उसका तत्त्व नहीं जानता; और जिसे प्राप्त है, वह बोल नहीं सकता। फिर उसका वर्णन ही कौन करे? इसके अतिरिक्त, चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं।' और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते। इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है। ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं। ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है। ऐसा त्याग कर्मोंके सुचारुरूपसे सम्पादन होनेमें कोई बाधा नहीं देता। जिनकी बुद्धिमें भगवान्‌के सिवा किसीकी स्थिति ही नहीं रह गयी है, उनके द्वारा भगवद्बुद्धिसे जो विषयोंका ग्रहण या त्याग होता है, उसे संकल्पजनित नहीं कहा जा सकता। ऐसे त्याग और ग्रहणरूप कर्म तो ज्ञानी महात्माओंके द्वारा भी हो सकते हैं। ऐसे ही महात्माके लिये भगवान्‌ने कहा है कि 'वह सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है' (६।३१)।

प्रश्न—मनुष्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करता है और उनमें आसक्त होता है। अतएव शब्दादि विषयोंमें आसक्तिका अभाव बता देना ही यथेष्ट था, कर्मोंमें आसक्तिका अभाव बतलानेकी क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—भोगोंमें आसक्तिका त्याग होनेपर भी कर्मोंमें

प्रश्न—यहाँ 'संकल्प'का क्या अर्थ है और उसका 'संन्यास' क्या है ?

उत्तर—ममता और राग-द्वेषसे संयुक्त सांसारिक पदार्थोंका चिन्तन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, उसको 'संकल्प' कहते हैं ? इस प्रकारकी वृत्तिका सर्वथा अभाव कर देना ही उसका 'संन्यास' है।

प्रश्न—संकल्पका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संकल्पका पूर्णरूपसे त्याग हुए बिना चित्तका परमात्मासे पूर्ण संयोग नहीं होता, इसलिये संकल्पोंका त्याग सभीके लिये आवश्यक है। कोई एक साधक एकान्तदेशमें आसन-प्राणायामादिके द्वारा परमात्माके ध्यानका अभ्यास करते हैं, दूसरे निष्कामभावसे सदा-सर्वदा केवल भगवान्‌के लिये ही भगवदाज्ञानुसार कर्म करनेकी चेष्टा करते हैं, तीसरे समय-समयपर ध्यानका भी अभ्यास करते हैं और निष्कामभावसे कर्म भी करते हैं। इनमेंसे किन्हीं भी साधकको, जबतक वे सङ्कल्पोंका सर्वथा त्याग नहीं कर देते, योगारूढ या योगी नहीं कहा जा सकता। साधक तभी योगारूढ होता है, जब वह समस्त कर्मोंमें और विषयोंमें आसक्तिरहित होकर सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्याग कर चुकता है।

सांख्ययोगी भी वस्तुतः तभी सच्चा संन्यासी होगा, जब उसके चित्तमें सङ्कल्पमात्रका अभाव हो जायगा। इसीलिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें दोनोंको एक समझनेके लिये कहा गया है।

सम्बन्ध—कर्मयोगकी प्रशंसा करके अब उसका साधन बतलाते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसङ्कल्पोंका अभाव है वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'मुनेः' इस पदसे किस पुरुषका ग्रहण करना चाहिये ?

उत्तर—'मुनेः' यह पद यहाँ उस पुरुषके लिये विशेषणरूपमें आया है जो परमात्माकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है। अतएव इससे स्वभावसे ही परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करनेवाले मननशील साधकका ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें कौन-से कर्म हेतु हैं ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम और अपनी स्थितिके अनुकूल जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, फल और आसक्तिका त्याग करके किये जानेपर वे सभी योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु हो सकते हैं।

प्रश्न—योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें कर्मोंको हेतु क्यों बतलाया ? कर्मोंका त्याग करके एकान्तमें ध्यानका अभ्यास करनेसे भी तो योगारूढावस्था प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—एकान्तमें परमात्माके ध्यानका अभ्यास करना भी तो एक प्रकार कर्म ही है। और इस प्रकार ध्यानका अभ्यास करनेवाले साधकको भी शौच, स्नान तथा खानपानादि शरीर-निर्वाहके योग्य क्रिया तो करनी ही पड़ती है। इसलिये अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—यह कहना ठीक ही है। इसीलिये तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रश्न—यहाँ 'शमः' इस पदका अर्थ स्वरूपतः क्रियाओंका त्याग न मानकर सर्व-संकल्पोंका अभाव क्यों माना गया?

उत्तर—दूसरे और चौथे श्लोकमें संकल्पोंके त्यागका

प्रकरण है। 'शमः' पदका अर्थ भी मनको वशमें करके शान्त करना होता है। अठारहवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें भी 'शम' शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग हुआ है। और मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है। इसके अतिरिक्त, कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता। अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव मानना ही ठीक है।

प्रश्न—योगारूढ पुरुषके 'शम' को कर्मोंका कारण माना जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—'शम' शब्द सर्वसंकल्पोंके अभावरूप शान्तिका वाचक है। इसलिये वह कर्मका कारण नहीं बन सकता। योगारूढ पुरुषद्वारा जो कुछ चेष्टा होती है, उनमें तो उनके और लोगोंके प्रारब्ध ही हेतु हैं। अतः 'शम' को कर्मका हेतु मानना युक्तिसंगत नहीं है। उसे तो परमात्माकी प्राप्तिका हेतु मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'योगारूढ' शब्द आया। उसका लक्षण जाननेकी आकांक्षा होनेपर योगारूढ पुरुषके लक्षण बतलाते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके विषयमें और कर्मोंमें केवल आसक्तिका त्याग बतलाया, कामनाका त्याग नहीं बतलाया। इसका क्या कारण है?

उत्तर—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है (२।६२)। यदि विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न रहे तो कामनाका अभाव तो अपने-आप ही हो जायगा। कारणके बिना कार्य हो ही नहीं सकता। अतएव आसक्तिके अभावमें कामनाका अभाव भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—'सर्वसंकल्पसंन्यास' का क्या अर्थ है? और समस्त संकल्पोंका त्याग हो जानेके बाद किसी भी विषयका ग्रहण या कर्मका सम्पादन कैसे सम्भव है?

उत्तर—यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय। जिसे वह अवस्था प्राप्त नहीं है, वह तो उसका तत्त्व नहीं जानता; और जिसे प्राप्त है, वह बोल नहीं सकता। फिर उसका वर्णन ही कौन करे? इसके अतिरिक्त, चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं।' और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते। इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है। ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं। ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है। ऐसा त्याग कर्मोंके सुचारुरूपसे सम्पादन होनेमें कोई बाधा नहीं देता। जिनकी बुद्धिमें भगवान्‌के सिवा किसीकी स्थिति ही नहीं रह गयी है, उनके द्वारा भगवद्बुद्धिसे जो विषयोंका ग्रहण या त्याग होता है, उसे संकल्पजनित नहीं कहा जा सकता। ऐसे त्याग और ग्रहणरूप कर्म तो ज्ञानी महात्माओंके द्वारा भी हो सकते हैं। ऐसे ही महात्माके लिये भगवान्‌ने कहा है कि 'वह सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है' (६।३१)।

प्रश्न—मनुष्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करता है और उनमें आसक्त होता है। अतएव शब्दादि विषयोंमें आसक्तिका अभाव बना देना ही यथेष्ट था, कर्मोंमें आसक्तिका अभाव बतलानेकी क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—भोगोंमें आसक्तिका त्याग होनेपर [illegible]

आसक्ति रहना सम्भव है, क्योंकि जिनका कोई फल नहीं है, ऐसे व्यर्थ कर्मोंमें भी प्रमादी मनुष्योंकी आसक्ति देखी जाती है। अतएव आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलानेके लिये ऐसा कहना ही चाहिये।

सम्बन्ध—परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाका वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भगवान् मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले, क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है॥ ५॥

प्रश्न—अपनेद्वारा अपना उद्धार करना क्या है? और अपनेको अधोगतिमें डालना क्या है?

उत्तर—जीव अज्ञानके वश होकर अनादिकालसे इस दुःखमय-संसार-सागरमें गोते लगाता है और नाना प्रकारकी भली-बुरी योनियोंमें भटकता हुआ भाँति-भाँतिके भयानक कष्ट सहता रहता है। जीवकी इस दीन-दशाको देखकर दयामय भगवान् उसे साधनोपयोगी देव-दुर्लभ मनुष्य शरीर प्रदान करके एक बहुत सुन्दर अवसर देते हैं, जिसमें वह चाहे तो साधनाके द्वारा एक ही जन्ममें संसार-समुद्रसे निकलकर सहज ही परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर ले। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न जाने दे और कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना ले। यही अपनेद्वारा अपना उद्धार करना है।

इसके विपरीत राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें ले जाना है। उपनिषद्में ऐसे मनुष्योंको आत्महत्यारा कहकर उनकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है।*

यहाँ भगवान्ने अपनेद्वारा ही अपना उद्धार करनेकी बात कहकर जीवको यह आश्वासन दिया है कि 'तुम यह न समझो कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये तुम्हारी उन्नति होगी ही नहीं। तुम्हारा उत्थान-पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, तुम्हारे ही हाथमें है। साधना करो और अपनेको अवनतिके गड्ढेसे निकालकर उन्नतिके शिखरपर ले जाओ।' अतएव मनुष्यको बड़ी ही सावधानी तथा तत्परताके साथ सदा-सर्वदा अपने उत्थानकी, अभी जिस स्थितिमें है उससे ऊपर उठनेकी, राग-द्वेष, काम-क्रोध, भोग, आलस्य, प्रमाद और पापाचारका सर्वथा त्याग करके शम, दम, तितिक्षा, विवेक और वैराग्यादि सद्गुणोंका संग्रह करनेकी, विषयचिन्तन छोड़कर श्रद्धा और प्रेमके साथ भगवच्चिन्तन करनेकी और भजन-ध्यान तथा सेवा-सत्सङ्गादिके द्वारा भगवान्को प्राप्त करनेकी साधना करनी चाहिये। और जबतक भगवत्प्राप्ति न हो जाय तबतक एक क्षणके लिये भी, जरा भी पीछे हटना तथा रुकना नहीं चाहिये। भगवत्कृपाके बलपर धीरता, वीरता और दृढ़निश्चयके साथ अपनेको जरा भी न डिगने देकर उत्तरोत्तर उन्नतिके पथपर ही अग्रसर होते रहना चाहिये।

मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है। स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है; तथा इसके विपरीत

* असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईशोपनिषद् ३)

'वे कूकर-शूकरादि योनि तथा नरकरूप असुरसम्बन्धी लोक अज्ञानरूप अन्धकारसे ढके हुए हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेपर उन असुर-लोकोंको प्राप्त होते हैं।'

स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है।

प्रश्न—यह मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य सांसारिक सम्बन्धके कारण आसक्तिवश जिन लोगोंको अपना मित्र मानता है, वे तो बन्धनमें हेतु होनेसे वस्तुतः मित्र ही नहीं हैं। संत, महात्मा और निःस्वार्थ साधक, जो बन्धनसे छुड़ानेमें सहायक होते हैं, वे अवश्य ही सच्चे मित्र हैं, परन्तु उनकी यह मैत्री भी मनुष्यको तभी प्राप्त होती है, जब पहले वह स्वयं अपने मनसे उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम करता है, तथा उन्हें सच्चा मित्र मानता है और उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि यह आप ही अपना मित्र है। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि मनुष्य अपने मनमें किसीको शत्रु मानता है, तभी उसकी हानि होती है। नहीं तो कोई भी मनुष्य किसी-की कुछ भी पारमार्थिक हानि नहीं कर सकता। इसलिये शत्रु भी वस्तुतः वह स्वयं ही है। वास्तवमें जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है; और जो इसके विपरीत करता है, वही अपना शत्रु है। इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना मित्र या शत्रु नहीं है।

सम्बन्ध—यह बात कही गयी कि मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। अब उसीको स्पष्ट करनेके लिये यह बतलाते हैं कि किन लक्षणोंसे युक्त मनुष्य आप ही अपना मित्र है और किन लक्षणोंसे युक्त आप ही अपना शत्रु है—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है; और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीतना क्या है ? ये किस प्रकार जीते जा सकते हैं ? जीते हुए शरीर, इन्द्रिय और मनके क्या लक्षण हैं? एवं इनको जीतनेवाला मनुष्य आप ही अपना मित्र कैसे है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और मनको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनको जीतना है। विवेकपूर्वक अभ्यास और वैराग्यके द्वारा ये वशमें हो सकते हैं। परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उसके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं। जिस मनुष्यके शरीर, इन्द्रिय और मन वशमें हो जाते हैं, वह अनायास ही संसार-समुद्रसे अपना उद्धार कर लेता है एवं परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है; इसीलिये वह स्वयं अपना मित्र है।

प्रश्न—जिसके शरीर, इन्द्रिय और मन जीते हुए नहीं हैं, उसको 'अनात्मा' कहनेका क्या अभिप्राय है ? एवं उसका शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण क्या है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबका नाम आत्मा है। ये सब जिसके अपने नहीं हैं, उच्छृङ्खल हैं और यथेच्छ विषयोंमें लगे रहते हैं; जो इन सबको अपने लक्ष्यके अनुकूल इच्छानुसार कल्याणके साधनमें नहीं लगा सकता, वह 'अनात्मा' है—आत्मवान् नहीं है।

ऐसा मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याणसाधनके विपरीत आचरण करता है। वह अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषय-भोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है। जैसे शत्रु किसीको सुखके साधनसे वञ्चित करके दुःख भोगनेको बाध्य करता है, वैसे ही वह अपने शरीर, इन्द्रिय और

कल्याणके साधनमें न लगाकर भोगोंमें लगाता है तथा अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर अनन्त कालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है। यद्यपि अपने-आपमें किसीका द्वेष न होनेके कारण वास्तवमें कोई भी अपना बुरा नहीं चाहता, तथापि अज्ञानविमोहित मनुष्यआसक्तिके वश होकर दुःखको सुख और अहितको हित समझकर अपने यथार्थ कल्याणके विपरीत आचरण करने लगता है—इसी बातको दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है कि वह शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करता है।

सम्बन्ध—जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं॥ ७॥

प्रश्न—शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मानापमानमें चित्तकी वृत्तियोंका शान्त रहना क्या है?

उत्तर—यहाँ शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान शब्द उपलक्षणरूपसे हैं। अतएव इस प्रसंगमें शरीर, इन्द्रिय और मनसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी सांसारिक पदार्थोंका, भावोंका और घटनाओंका समावेश समझ लेना चाहिये। किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ, भाव, व्यक्ति या घटनाका संयोग या वियोग होनेपर अन्तःकरणमें राग, द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छा, भय, ईर्ष्या, असूया, काम, क्रोध और विक्षेपादि किसी प्रकारका कोई विकार न हो; हर हालतमें सदा ही चित्त सम और शान्त रहे; इसीको 'शीतोष्ण, सुख-दुःख और मानापमानमें चित्तकी वृत्तियोंका भलीभाँति शान्त रहना' कहते हैं।

प्रश्न—'जितात्मनः' पदका क्या अर्थ है और इसका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और मनको जिसने पूर्णरूपसे अपने वशमें कर लिया है, उसका नाम 'जितात्मा' है; ऐसा पुरुष सदा-सर्वदा सभी अवस्थाओंमें प्रशान्त या निर्विकार रह सकता है और संसार-समुद्रसे अपना उद्धार करके परमात्माको प्राप्त कर सकता है, इसलिये वह स्वयं अपना मित्र है। यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'जितात्मनः' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'परमात्मा' पद किसका वाचक है और 'समाहितः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'परमात्मा' पद सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका वाचक है और 'समाहितः' पदसे यह दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले पुरुषके लिये परमात्मा सदा-सर्वदा और सर्वत्र प्रत्यक्ष परिपूर्ण है।

सम्बन्ध—मन-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें करनेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया। अतः परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब दो श्लोकोंद्वारा उसके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति

जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' पदसे किस पुरुषका लक्ष्य है?

उत्तर—परमात्माके निर्गुण निराकार तत्त्वके प्रभाव तथा माहात्म्य आदिके रहस्यसहित यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' और सगुण निराकार एवं साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, महत्त्व, गुण और प्रभाव आदिके यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। जिस पुरुषको परमात्माके निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, जिसका अन्तःकरण उपर्युक्त दोनों तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानसे भलीभाँति तृप्त हो गया है, जिसमें अब कुछ भी जाननेकी इच्छा शेष नहीं रह गयी है, वह 'ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा' है।

प्रश्न—यहाँ 'कूटस्थः' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सुनारों या लोहारोंके यहाँ रहनेवाले लोहेके 'अहरन' या 'निहाई' को 'कूट' कहते हैं; उसपर सोना, चाँदी, लोहा आदि रखकर हथौड़ेसे कूटा जाता है। कूटते समय उसपर बार-बार गहरी चोट पड़ती है; फिर भी वह हिलता-डुलता नहीं, बराबर अचल रहता है। इसी प्रकार जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दुःखोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्तःकरणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सुख-दुःखमें सदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

प्रश्न—'विजितेन्द्रियः' का क्या भाव है?

उत्तर—भोगोंमें सम्पूर्णतया वैराग्य और इन्द्रिय-संयम होनेके कारण जिसकी किसी भी विषयमें राग भी आसक्ति नहीं रह गयी है और इसलिये जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंमें कोई रस न पाकर उनसे निवृत्त हो गयी हैं तथा लोकसंग्रहके लिये वह अपने इच्छानुसार उन्हें यथायोग्य जहाँ लगाता है वहीं लगती हैं, न तो स्वच्छन्दतासे कहीं जाती हैं और न उसके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ ही उत्पन्न करती हैं—इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन हैं, वह पुरुष 'विजितेन्द्रिय' है।

प्रश्न—'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' का क्या भाव है?

उत्तर—मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदि समस्त पदार्थोंमें परमात्मबुद्धि हो जानेके कारण जिसके लिये तीनों ही सम हो गये हैं; जो अज्ञानियोंकी भाँति सुवर्णमें आसक्ति नहीं करता और मिट्टी, पत्थर आदिसे द्वेष नहीं करता, सबको एक ही समान समझता है, वह 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

उत्तर—सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ और साधु-सदाचारी पुरुषोंमें एवं अपने कुटुम्बियोंमें मनुष्यका प्रेम होना स्वाभाविक है। ऐसे ही वैरी, द्वेष्य और पापियोंके प्रति द्वेष और घृणाका होना स्वाभाविक है। विवेकशील पुरुषोंमें भी इन लोगोंके प्रति स्वाभाविक राग-द्वेष-सा देखा जाता है। ऐसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले मनुष्योंके प्रति राग-द्वेष और भेद-बुद्धिका न होना बहुत ही कठिन बात है, उनमें भी जिसका समभाव रहता है उसका अन्यत्र समभाव रहता है इसमें तो कहना ही क्या है। यह भाव दिखलानेके लिये 'अपि' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'समबुद्धिः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सर्वत्र परमात्म-बुद्धि हो जानेके कारण उन उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे भेदभाव नहीं आता उसे 'समबुद्धि' समझना चाहिये।

सम्बन्ध—छठे श्लोकमें यह बात कही गयी कि जिसने शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र है। फिर सातवें श्लोकमें उस 'जितात्मा' पुरुषके लिये परमात्माको प्राप्त होना तथा आठवें और नवें श्लोकोंमें परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है, इसलिये ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे॥ १०॥

प्रश्न—'निराशीः' का क्या भाव है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोग्यपदार्थोंकी जो किसी भी अवस्थामें, किसी प्रकार भी, किञ्चिन्मात्र भी इच्छा। अपेक्षा नहीं करता, वह 'निराशीः' है।

प्रश्न—'अपरिग्रहः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रक्खे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रमवाले हों 'अपरिग्रह' ही हैं।

प्रश्न—यहाँ 'योगी' पद किसका वाचक है?

उत्तर—यहाँ भगवान् ध्यानयोगमें लगनेके लिये कह रहे हैं; अतः 'योगी' ध्यानयोगके अधिकारीका वाचक है, न कि सिद्ध योगीका।

प्रश्न—यहाँ 'एकाकी' विशेषण किसलिये दिया गया है?

उत्तर—बहुत-से मनुष्योंके समूहमें तो ध्यानका अभ्यास अत्यन्त कठिन है ही, एक भी दूसरे पुरुषका रहना बातचीत आदिके निमित्तसे ध्यानमें बाधक हो जाता है। अतएव अकेले रहकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये 'एकाकी' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—एकान्तस्थानमें स्थित होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वन, पर्वतगुफा आदि एकान्त देश ही ध्यानके लिये उपयुक्त है। जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना हो, वैसे स्थानमें ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसीलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'आत्मा' शब्द किसका वाचक है और उसको परमात्मामें लगाना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'आत्मा' शब्द मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण-

का वाचक है और मन-बुद्धिको परमात्मामें तन्मय कर देना ही—उसको परमात्मामें लगाना है ।

प्रश्न—'सततम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सततम्' पद 'युञ्जीत' क्रियाका विशेषण है और निरन्तरताका वाचक है । इसका अभिप्राय यह है कि ध्यान करते समय जरा भी अन्तराय न आने देना चाहिये । इस प्रकार निरन्तर परमात्माका ध्यान करते रहना चाहिये, जिसमें ध्यानका तार टूटने ही न पावे ।

सम्बन्ध—जितात्मा पुरुषको ध्यानयोगका साधन करनेके लिये कहा गया । अब उस ध्यानयोगका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए पहले स्थान और आसनका वर्णन करते हैं ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके—॥ ११ ॥

प्रश्न—'शुचौ देशे' का क्या भाव है ?

उत्तर—ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो । गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तीर, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि पवित्रवायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ 'आसनम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'नात्युच्छ्रितम्, 'नातिनीचम्' और 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' इस प्रकार तीन विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—काठ या पत्थरके बने हुए पाटे या चौकीको—जिसपर मनुष्य स्थिर भावसे बैठ सकता हो—यहाँ आसन कहा गया है । वह आसन यदि बहुत ऊँचा हो तो ध्यानके समय विघ्नरूपमें आलस्य या निद्रा आ जानेपर उससे गिरकर चोट लगनेका डर रहता है; और यदि अत्यन्त नीचा हो तो जमीनकी सरदी-गरमीसे एवं चींटी आदि सूक्ष्म जीवोंसे विघ्न होनेका डर रहता है । इसलिये 'नात्युच्छ्रितम्' और 'नातिनीचम्' विशेषण देकर यह बात कही गयी है कि वह आसन न बहुत ऊँचा होना चाहिये और न बहुत नीचा ही । काठ या पत्थरका आसन कड़ा रहता है, उसपर बैठनेसे पैरोंमें पीड़ा होनेकी सम्भावना है; इसलिये 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' विशेषण देकर यह बात समझायी गयी है कि उसपर पहले कुशा, फिर मृगचर्म और उसपर कपड़ा बिछाकर उसे कोमल बना लेना चाहिये । मृगचर्मके* नीचे कुशा रहनेसे वह शीघ्र खराब नहीं होगा और ऊपर कपड़ा रहनेसे उसके रोम शरीरमें नहीं लगेंगे । इसीलिये तीनोंके बिछानेका विधान किया गया है ।

प्रश्न—'आत्मनः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त आसन अपना ही होना चाहिये । ध्यानयोगका साधन करनेके लिये किसी दूसरेके आसनपर नहीं बैठना चाहिये ।

प्रश्न—'स्थिरं प्रतिष्ठाप्य' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—काठ या पत्थरके बने हुए उपर्युक्त आसनको पृथ्वीपर भलीभाँति जमाकर टिका देना चाहिये, जिससे वह हिलने-डुलने न पावे; क्योंकि आसनके हिलने-डुलनेसे या खिसक जानेसे साधनमें विघ्न उपस्थित होनेकी सम्भावना है ।

सम्बन्ध—पवित्र स्थानमें आसन स्थापन करनेके बाद ध्यानयोगके साधकको क्या करना चाहिये, उसे बतलाते हैं—

---

*मृगचर्म अपनी मौतसे मरे हुए मृगका होना चाहिये, जान-बूझकर मारे हुए मृगका नहीं । हिंसासे प्राप्त चर्म साधनमें सहायक नहीं हो सकता ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

प्रश्न—यहाँ आसनपर बैठनेका कोई खास प्रकार न बतलाकर सामान्यभावसे ही बैठनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ध्यानयोग' के साधनके लिये बैठनेमें जिन नियमोंकी आवश्यकता है, उनका स्पष्टीकरण अगले श्लोकमें किया गया है। उनका पालन करते हुए, जो साधक स्वस्तिक, सिद्ध या पद्म आदि आसनोंमेंसे जिस आसनसे सुखपूर्वक अधिक समयतक स्थिर बैठ सकता हो, उसके लिये वही उपयुक्त है। इसीलिये यहाँ किसीआसन-विशेषका वर्णन न करके सामान्यभावसे बैठनेके लिये ही कहा गया है।

प्रश्न—'यतचित्तेन्द्रियक्रियः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—चित्त शब्द अन्तःकरणका बोधक है। मन और बुद्धिसे जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन और निश्चय किया जाता है, उसका सर्वथा त्याग करके उनसे उपरत हो जाना ही अन्तःकरणकी क्रियाको वशमें कर लेना है। तथा 'इन्द्रिय' श्रोत्र आदि दसों इन्द्रियोंका बोधक है। इन सबको सुनने, देखने आदिसे रोक लेना ही उनकी क्रियाओं-को वशमें कर लेना है।

प्रश्न—मनको एकाग्र करना क्या है ?

उत्तर—ध्येय वस्तुमें मनकी वृत्तियोंको भलीभाँति लगा देना ही उसको एकाग्र करना है। यहाँ प्रकरणके अनुसार परमात्मा ही ध्येय वस्तु हैं। अतएव यहाँ उन्हींमें मन लगानेके लिये कहा गया है। इसीलिये चौदहवें श्लोकमें 'मच्चित्तः' विशेषण देकर भगवान्‌ने इसी बातको स्पष्ट किया है।

प्रश्न—अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि ध्यानयोगके अभ्यास-का उद्देश्य किसी प्रकारकी सांसारिक सिद्धि या ऐश्वर्यको प्राप्त करना नहीं होना चाहिये। एकमात्र परमात्माको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही अन्तःकरणमें स्थित राग-द्वेष आदि अवगुणों और पापोंका, तथा विक्षेप एवं अज्ञानका नाश करनेके लिये ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न—योगका अभ्यास करना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए और मनको परमेश्वरमें लगाकर निरन्तर अविच्छिन्नभावसे परमात्माका ही चिन्तन करते रहना—यही 'योग'का अभ्यास करना है।

सम्बन्ध—ऊपरके श्लोकमें आसनपर बैठकर ध्यानयोगका साधन करनेके लिये कहा गया। अब उसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये आसनपर कैसे बैठना चाहिये, साधकका भाव कैसा होना चाहिये, उसे किन-किन नियमोंका पालन करना चाहिये और किस प्रकार किसका ध्यान करना चाहिये, इत्यादि बातें दो श्लोकोंमें बतलायी जाती हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर* होकर, अपनी नासिकाके अग्र-भागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ—॥ १३ ॥

* 'स्थिरसुखमासनम्' (योग० २ । ४६) 'अधिक कालतक सुखपूर्वक स्थिर बैठा जाय उसे आसन कहते हैं।'

प्रश्न—काया, सिर और गलेको 'सम' और 'अचल' धारण करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ जङ्घासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम 'काया' है, गलेका नाम 'ग्रीवा' है और उससे ऊपरके अङ्गका नाम 'सिर' है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना, अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधी रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए जरा भी न हिलने-डुलने देना, यही इन सबको 'सम' और 'अचल' धारण करना है।

प्रश्न—काया आदिके अचल धारण करनेके लिये कह देनेके बाद फिर स्थिर होनेके लिये क्यों कहा गया ? क्या इसमें कोई नयी बात है ?

उत्तर—काया, सिर और गलेको सम और अचल रखनेपर भी हाथ-पैर आदि दूसरे अङ्ग तो हिल ही सकते हैं। इसीलिये स्थिर होनेको कहा गया है। अभिप्राय यह है कि ध्यानके समय हाथ-पैरोंको किसी भी आसनके नियमानुसार रक्खा जा सकता है, पर उन्हें 'स्थिर' अवश्य रखना चाहिये। किसी भी अङ्गका हिलना ध्यानके लिये उपयुक्त नहीं है अतः सब अङ्गोंको अचल रखते हुए सब प्रकारसे स्थिर रहना चाहिये।

प्रश्न—'नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दृष्टिको अपने नाककी नोकपर जमाये रखना चाहिये। न तो नेत्रोंको बंद करना चाहिये और न इधर-उधर अन्य किसी अङ्गको या वस्तुको ही देखना चाहिये। नासिकाके अग्रभागको भी मन लगाकर 'देखना' विधेय नहीं है। विक्षेप और निद्रा न हो इसलिये केवल दृष्टिमात्रको ही यहाँ लगाना है। मनको तो परमेश्वरमें लगाना है, न कि नाककी नोकपर।

प्रश्न—इस प्रकार आसन लगाकर बैठनेके लिये भगवान्ने क्यों कहा ?

उत्तर—ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता। इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है। इसीलिये भगवान्ने ऐसा कहा है।

प्रश्न—इन तीनों श्लोकोंमें जो आसनकी विधि बतलायी गयी है, वह सगुण परमेश्वरके ध्यानके लिये है या निर्गुण ब्रह्मके ?

उत्तर—ध्यान सगुणका हो या निर्गुण ब्रह्मका, वह तो रुचि और अधिकार-भेदकी बात है। आसनकी यह विधि तो सभीके लिये आवश्यक है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे॥ १४॥

प्रश्न—यहाँ ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित रहना क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी, वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है; और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसङ्गानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न टिक ही होता है। इसीलिये आर्यसंस्कृतिके

में ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है, जो तीनों आश्रमोंकी नींव है। ब्रह्मचर्य-आश्रममें ब्रह्मचारीके लिये बहुत-से नियम होते हैं, जिनके पालनसे वीर्यधारणमें बड़ी भारी सहायता मिलती है। ब्रह्मचर्यके पालनसे यदि वास्तवमें वीर्य भलीभाँति धारण हो जाय तो उस वीर्यसे शरीरके अंदर एक विलक्षण विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है और उसका तेज इतना शक्तिशाली होता है कि उस तेजके कारण अपने-आप ही प्राण और मनकी गति स्थिर हो जाती है और चित्तका एकतान प्रवाह ध्येय वस्तुकी ओर स्वाभाविक ही होने लगता है। इस एकतानताका नाम ही ध्यान है।

आजकल चेष्टा करनेपर भी लोग जो ध्यान नहीं कर पाते, उनका चित्त ध्येय वस्तुमें नहीं लगता, इसका एक मुख्यतम कारण यह भी है कि उन्होंने वीर्यधारण नहीं किया है। यद्यपि विवाह होनेपर अपनी पत्नीके साथ संयमपूर्ण नियमित जीवन बिताना भी ब्रह्मचर्य ही है और उससे भी ध्यानमें बड़ी सहायता मिलती है; परन्तु जिसने पहलेसे ही ब्रह्मचारीके नियमोंका सुचारुरूपसे पालन किया है और ध्यानयोगकी साधनाके समयतक जिसके शुक्रका बाह्यरूपमें किसी प्रकार भी क्षरण नहीं हुआ है, उसको ध्यानयोगमें बहुत शीघ्र और बड़ी सुविधाके साथ सफलता मिल सकती है।

मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें ब्रह्मचारीके लिये पालनीय व्रतोंका बड़ा सुन्दर विधान किया गया है, उनमें प्रधान ये हैं—'ब्रह्मचारी नित्य स्नान करे, उबटन न लगावे, सुरमा न डाले, तेल न लगावे, इत्र-फुलेल आदि सुगन्धित वस्तुओंका व्यवहार न करे, फूलोंके हार और गहने न पहने, नाचना-गाना-बजाना न करे, जूते न पहने, छाता न लगावे, पलंगपर न सोवे, जूआ न खेले, स्त्रियोंको न देखे, स्त्रीसम्बन्धी चर्चातक कभी न करे, नियमित सादा भोजन करे, कोमल वस्त्र न पहने, देवता, ऋषि और गुरुका पूजन-सेवन करे, किसीसे विवाद न करे, किसीकी निन्दा न करे, सत्य बोले, किसीका तिरस्कार न करे, अहिंसाव्रतका पूर्ण पालन करे, काम, क्रोध और लोभका सर्वथा त्याग कर दे, अकेला सोवे, वीर्यपात कभी न होने दे और इन सब व्रतोंका भलीभाँति पालन करे।' ये ब्रह्मचारीके व्रत हैं। भगवान्ने यहाँ 'ब्रह्मचारिव्रत'की बात कहकर आश्रमधर्मकी ओर भी संकेत किया है। जो अन्य आश्रमी लोग ध्यानयोगका साधन करते हैं उनके लिये भी वीर्यधारण या वीर्यसंरक्षण बहुत ही आवश्यक है और वीर्यधारणमें उपर्युक्त नियम बड़े सहायक हैं। यही ब्रह्मचारीका व्रत है और दृढ़तापूर्वक इसका पालन करना ही उसमें स्थित होना है।

प्रश्न—'विगतभीः'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्मा सर्वत्र हैं और ध्यानयोगी परमात्माका ध्यान करके उन्हें देखना चाहता है, फिर वह डरे क्यों ? अतएव ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये। मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा। इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारण कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है। यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय, तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा। सच्चा ध्यानयोगी इस विचारपर दृढ़ रहता है, इसीसे उसे 'विगतभीः' कहा गया है।

प्रश्न—'प्रशान्तात्मा'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना चाहिये। वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त करके ध्यानयोगका साधन करना चाहिये। यही भाव दिखलानेके लिये 'प्रशान्तात्मा' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'युक्तः' विशेषणका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये 'युक्तः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—मनको रोकना क्या है ?

उत्तर—एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात्कारसे विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है। इस मनको

भलीभाँति रोके बिना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसलिये ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर उसे अपने लक्ष्यमें पूर्ण रूपसे निरुद्ध कर देना यानी भगवान्‌में तन्मय कर देना ही यहाँ मनको रोकना है।

प्रश्न—'मच्चित्तः' का क्या भाव है?

उत्तर—ध्येय वस्तुमें चित्तके एकतान प्रवाहका नाम ध्यान है; वह ध्येय वस्तु क्या होनी चाहिये, यही बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं कि तुम अपने चित्तको मुझमें लगाओ। चित्त सहज ही उस वस्तुमें लगता है, जिसमें यथार्थ प्रेम होता है; इसलिये ध्यानयोगीको चाहिये कि वह परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, सम्पूर्ण जगत्‌से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है?

उत्तर—जो परमेश्वरको अपना ध्येय बनाकर उनके ध्यानमें चित्त लगाना चाहते हैं, वे उन्हींके परायण भी होंगे ही। अतएव 'मत्परः' पदसे भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि ध्यानयोगके साधकको यह चाहिये कि वह मुझको (भगवान्‌को) ही परमगति, परम ध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहे और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहे। इसीका नाम 'भगवान्‌के परायण होना' है।

प्रश्न—इस श्लोकमें बतलाया हुआ ध्यान सगुण परमेश्वरका है या निर्गुण ब्रह्मका? और उस ध्यानको भेदभावसे करनेके लिये कहा गया है या अभेदभावसे?

उत्तर—इस श्लोकमें 'मच्चित्तः' और 'मत्परः' पदोंका प्रयोग हुआ है। अतएव यहाँ निर्गुण ब्रह्मके तथा अभेदभावके ध्यानकी बात नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि यहाँ उपास्य और उपासकका भेद रखते हुए सगुण परमेश्वरके ध्यानकी ही रीति बतलायी गयी है।

प्रश्न—यहाँ सगुणके ध्यानकी रीति बतलायी गयी है, यह तो ठीक है; परन्तु यह सगुण-ध्यान सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरके निराकार रूपका है, या भगवान् श्रीशंकर, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण-प्रभृति साकार रूपोंमेंसे किसी एकका है?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य* को समझकर मनुष्य अपनी रुचि, स्वभाव और अधिकारके अनुसार जिस रूपमें सुगमतासे मन लग सके, वह उसी रूपका ध्यान कर सकता है। क्योंकि भगवान् एक हैं और सभी रूप उनके हैं। अतएव ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यहाँ अमुक रूपविशेषके ध्यानके लिये ही कहा गया है।

अब यहाँ साधकोंकी जानकारीके लिये ध्यानके कुछ स्वरूपोंका वर्णन किया जाता है।

---

* वस्तुतः भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यके लिये यह कहना तो बन ही नहीं सकता कि ये यही और इतने ही हैं। इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब सूर्यको दीपक दिखलानेके समान ही है। तथापि उनके गुणादिका किञ्चित्-मात्र स्मरण, श्रवण और कीर्तन मनुष्यको पवित्रतम बनानेवाला है, इसीसे उनके गुणादिका शास्त्रकारगण वर्णन करते हैं। उन्हीं शास्त्रोंके आधारपर उनके गुणादिको इस प्रकार समझना चाहिये—

अनन्त और असीम तथा अत्यन्त ही विलक्षण समता, शान्ति, दया, प्रेम, क्षमा, माधुर्य, वात्सल्य, गम्भीरता, उदारता, सुहृदतादि भगवान्‌के 'गुण' हैं। सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य और असम्भवको भी सम्भव कर देना आदि भगवान्‌के 'प्रभाव' हैं। जैसे परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत् आदि जो कुछ भी है तथा जो इससे भी परे है, वह सब भगवान् ही है। यह 'तत्त्व' है। भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, कीर्तन, अर्चन, वन्दन और स्तवन आदिसे पापी भी परमपवित्र हो जाते हैं; अज, अविनाशी, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र समभावसे स्थित भगवान् ही दिव्य अवतार धारण करके प्रकट होते हैं और उनके दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व आदि वस्तुतः इतने अचिन्त्य, असीम और दिव्य हैं कि उनके अपने सिवा उन्हें अन्य कोई जान ही नहीं सकता। यह उनका 'रहस्य' है।

ध्यानस्थ भगवान् श्रीशङ्करका ध्यान

हिमालयके गौरीशंकर शिखरपर सर्वथा एकान्त देशमें भगवान् शिव ध्यान लगाये पद्मासनसे विराजित हैं; उनका शरीर अत्यन्त गौरवर्ण है, उसपर हल्की-सी लालिमा छायी है। उनके शरीरका ऊपरका भाग निश्चल, सीधा और समुन्नत है। विशाल भालपर भस्मका सुन्दर त्रिपुण्ड् शोभित हो रहा है, पिङ्गलवर्णका जटाजूट चूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है। दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है। ओढ़ी हुई रीछकी काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्रोंकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर सुस्थिर है और उन नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और निस्पन्द नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। दोनों हाथ गोदमें रक्खे हुए हैं, ऐसा जान पड़ता है मानो कमल खिल गया हो। उन्होंने समाधि अवस्थामें देहके अंदर रहनेवाले वायुसमूहको निरुद्ध कर रक्खा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बररहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरङ्गहीन प्रशान्त महासागर हैं, या निर्वात देशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं।

भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान

अपने हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक रक्तवर्णके सहस्रदल कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। नीलमेघके समान मनोहर नीलवर्ण है, सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअङ्गसे दिव्य गन्ध निकल रही है। अति शान्त और महान् सुन्दर मुखारविन्द है। विशाल और मनोहर चार लंबी भुजाएँ हैं। अत्यन्त सुन्दर और रमणीय ग्रीवा है, परम सुन्दर गोल-कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है, लाल-लाल होंठ और अति सुन्दर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं। मनोहर चिबुक है। कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित नेत्र हैं और उनसे स्वाभाविक ही दया प्रेम, शान्ति, समता, ज्ञान, आनन्द और प्रकाशकी अजस्र धारा बह रही है। उन्नत कंधे हैं। मेघश्याम नील-पद्मवर्ण शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान है। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। दाहिने ऊपरके हाथमें सुन्दर अत्यन्त उज्ज्वल किरणोंसे युक्त चक्र है, नीचेके हाथमें कौमोदकी गदा है, बायें ऊपरके हाथमें सुन्दर श्वेत विशाल और विजयी पाञ्चजन्य शंख है और नीचेके हाथमें सुन्दर रक्तवर्ण कमल सुशोभित है। गलेमें रत्नोंका हार है, हृदयपर तुलसीयुक्त वनमाला, वैजयन्ती माला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजटित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर देदीप्यमान किरीट है। विशाल, उन्नत और प्रकाशमान ललाटपर मनोहर ऊर्ध्वपुण्ड् तिलक है, हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्नोंकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं। काले-घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर करोड़ों सूर्योंका-सा परन्तु शीतल प्रकाश छा रहा है तथा उसमेंसे प्रेम और आनन्दका अपार सागर उमड़ा चला आ रहा है।

भगवान् श्रीरामका ध्यान

अत्यन्त सुन्दर मणिरत्नमय राज्यसिंहासन है, उसपर भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीसीताजीसहित विराजित हैं। नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण है, कमलदलके समान विशाल नेत्र हैं, बड़ा ही सुन्दर मुखमण्डल है, विशाल भालपर ऊर्ध्वपुण्ड् तिलक है। घुँघराले काले केश हैं। मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशयुक्त मुकुट सुशोभित है, मुनिमनमोहन महान् लावण्य है, दिव्य अंगपर पीताम्बर विराजित हैं। गलेमें रत्नोंके हार और दिव्य पुष्पोंकी माला है। देहपर चन्दन लगा है। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हैं, लाल होंठ हैं, उनपर मीठी मुसकानकी छवि छा रही है। बायीं ओर श्रीसीताजी विराजिता हैं। इनका उज्ज्वल स्वर्णवर्ण है, नीली साड़ी पहने हुए हैं, करकमलमें रक्त कमल धारण किये हैं। दिव्य आभूषणोंसे सब अंग विभूषित हैं। बड़ी ही अपूर्व और मनोरम झाँकी है।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(१)

वृन्दावनमें श्रीयमुनाजीका तीर है, अशोक वृक्षोंके नये-नये पत्तोंसे सुशोभित कालिन्दीकुञ्जमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ विराजमान हैं, नवीन मेघके समान

श्याम आभायुक्त नीलवर्ण है। श्यामशरीरपर सुवर्णवर्ण पीत वस्त्र ऐसा जान पड़ता है मानो श्याम घनघटामें इन्द्रधनुष शोभित हो। गलेमें सुन्दर वनमाला है, उससे सुन्दर पुष्पोंकी और तुलसीजीकी सुगन्ध आ रही है। हृदयपर वैजयन्ती माला सुशोभित है। सुन्दर काली घुँघराली अलकें हैं, जो कपोलोंतक लटकी हुई हैं। अत्यन्त रमणीय और त्रिभुवन-मोहन मुखारविन्द है। बड़ी ही मधुर हँसी हँस रहे हैं। मस्तकपर मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने हैं। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं, सुन्दर गोल कपोल कुण्डलोंके प्रकाशसे चमक रहे हैं। अंग-अंगसे सुन्दरता निखर रही है। कानोंमें कनेरके फूल धारण किये हुए हैं। अद्भुत धातुओंसे और चित्र-विचित्र नवीन पल्लवोंसे शरीरको सजा रक्खा है। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि है। भौंहें खिंची हुई हैं, लाल-लाल होंठ बड़े ही कोमल और सुन्दर हैं। बाँके और विशाल कमल-से नेत्र हैं, उनमेंसे आनन्द और प्रेमकी विद्युत्धारा निकल-निकलकर सबको अपनी ओर आकर्षित कर रही है, जिसके कारण सबके हृदयोंमें आनन्द और प्रेमका समुद्र-सा उमड़ रहा है। मनोहर त्रिभंगरूपसे खड़े हैं तथा अपनी चञ्चल और कोमल अंगुलियोंको वंशीके छिद्रोंपर फिराते हुए बड़े ही मधुर स्वरसे उसे बजा रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान
(२)

कुरुक्षेत्रका रणाङ्गण है, चारों ओर वीरोंके समूह युद्धके लिये यथायोग्य खड़े हैं। वहाँ अर्जुनका परम तेजोमय विशाल रथ है। रथकी विशाल ध्वजामें चन्द्रमा और तारे चमक रहे हैं। ध्वजापर महावीर श्रीहनुमान्‌जी विराजमान हैं, अनेकों पताकाएँ फहरा रही हैं। रथपर आगेके भागपर भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं, नील श्यामवर्ण है। सुन्दरताकी सीमा हैं, वीरवेष है, कवच पहने हुए हैं, देहपर पीताम्बर शोभा पा रहा है। मुखमण्डल अत्यन्त शान्त है। ज्ञानकी परम दीप्तिसे सब अंग जगमगा रहे हैं। विशाल और रक्ताभ नेत्रोंसे ज्ञानकी ज्योति निकल रही है। एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। बड़ी ही शान्ति और धीरताके साथ अर्जुनको गीताका महान् उपदेश दे रहे हैं। होठोंपर मधुर मुसकान छिटक रही है। नेत्रोंसे संकेत कर-करके अर्जुनकी शङ्काओंका समाधान कर रहे हैं।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे किये हुए ध्यानयोगके साधनका फल बतलाते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'योगी' के साथ 'नियतमानसः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसका मन—अन्तःकरण भलीभाँति वशमें किया हुआ है, उसे 'नियतमानस' कहते हैं। ऐसा साधक ही उपर्युक्त प्रकारसे ध्यानयोगका साधन कर सकता है, यही बात दिखलानेके लिये 'योगी' के साथ 'नियतमानसः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना क्या है?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है।

प्रश्न—'मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होना है' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यह उसी शान्तिका वर्णन है जिसे 'नैष्ठिकी शान्ति' (५।१२), 'शाश्वती शान्ति' (९।३१) और 'परा शान्ति' (१८।६२) कहते हैं और

प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति; परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है। यह शान्ति अद्वितीय अनन्त आनन्दकी अवधि है और यह परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्‌में नित्य-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है। ध्यानयोगका साधक इसी शान्तिको प्राप्त करता है।

सम्बन्ध—ध्यानयोगका प्रकार और फल बतलाया गया; अब ध्यानयोगके लिये उपयोगी आहार, विहार और शयनादिके नियम किस प्रकारके होने चाहिये यह जाननेकी आकांक्षापर भगवान् उसे दो श्लोकोंमें कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'योग' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी उपाय हैं, सभीका नाम 'योग' है। किन्तु यहाँ 'ध्यानयोग' का प्रसङ्ग है, इसलिये यहाँ 'योग' शब्दको उस 'ध्यानयोग' का वाचक समझना चाहिये, जो सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक नाश करके परमानन्द और परम शान्तिके समुद्र परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाला है।

प्रश्न—बहुत खानेवालेका और बिल्कुल ही न खानेवालेका ध्यानयोग क्यों नहीं सिद्ध होता ?

उत्तर—ठूँस-ठूँसकर खा लेनेसे नींद और आलस्य बढ़ जाते हैं; साथ ही पचानेकी शक्तिसे अधिक, पेटमें पहुँचा हुआ अन्न भाँति-भाँतिके रोग उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जो अन्नका सर्वथा त्याग करके कोरे उपवास करने लगता है, उसकी इन्द्रिय, प्राण और मनकी शक्तिका बुरी तरह ह्रास हो जाता है; ऐसा होनेपर न तो आसनपर ही स्थिररूपसे बैठा जा सकता है और न परमेश्वरके स्वरूपमें मन ही लगाया जा सकता है। इस प्रकार ध्यानके साधनमें विघ्न उपस्थित हो जाता है। इसलिये ध्यानयोगीको न तो आवश्यकतासे और पचानेकी शक्तिसे अधिक खाना ही चाहिये और न कोरा उपवास ही करना चाहिये।

प्रश्न—बहुत सोनेवाले और सदा जागनेवालेका ध्यानयोग सिद्ध नहीं होता, इसमें क्या हेतु है ?

उत्तर—उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परन्तु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है। इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय तो नष्ट होता ही है। इसी प्रकार सदा जागते रहनेसे थकावट बनी रहती है। कभी ताजगी नहीं आती। शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं और सब समय नींद तथा आलस्य सताया करते हैं। इस प्रकार बहुत सोना और सदा जागते रहना दोनों ही ध्यानयोगके साधनमें विघ्न करनेवाले होते हैं। अतएव ध्यानयोगीको, शरीर स्वस्थ रहे और ध्यानयोगके साधनमें विघ्न उपस्थित न हो—इस उद्देश्यसे अपने शरीरकी स्थिति, प्रकृति, स्वास्थ्य और अवस्थाका ख्याल रखते हुए न तो आवश्यकतासे अधिक सोना ही चाहिये, और न सदा जागते ही रहना चाहिये।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

प्रश्न—युक्त आहार-विहार करनेवाला किसे कहते हैं?

उत्तर—खान-पानकी वस्तुओंका नाम आहार है और चलने-फिरनेकी क्रियाका नाम विहार है। ये दोनों जिसके उचित स्वरूपमें और उचित परिमाणमें हों, उसे युक्त आहार-विहार करनेवाला कहा करते हैं। खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, शास्त्रानुकूल, सात्त्विक हों (१७।८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों। उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो। इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो।

ऐसे नियमित और उचित आहार-विहारसे शरीर, इन्द्रिय और मनमें सत्त्वगुण बढ़ता है, तथा उनमें निर्मलता, प्रसन्नता और चेतनताकी वृद्धि हो जाती है, जिससे ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है।

प्रश्न—कर्मोंमें 'युक्त चेष्टा' करनेका क्या भाव है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है। उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है। जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप तथा जीविकासम्बन्धी कर्म यानी शिक्षा, पठन-पाठन-व्यापार आदि कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्रविहित हों, साधुसम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय। ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है।

प्रश्न—युक्त सोना और जागना क्या है?

उत्तर—दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरोंमें सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है। तथापि यह नियम नहीं है कि सबको बीचके छः घंटे सोना ही चाहिये। ध्यानयोगीको अपनी प्रकृति और शरीरकी स्थितिके अनुकूल व्यवस्था कर लेनी चाहिये। रातको पाँच या चार ही घंटे सोनेसे काम चल जाय, ध्यानके समय नींद या आलस्य न आवे और स्वास्थ्यमें किसी प्रकार गड़बड़ी न हो तो छः घंटे न सोकर पाँच या चार ही घंटे सोना चाहिये।

'युक्त' शब्दका यही भाव समझना चाहिये कि आहार, विहार, कर्म, सोना और जागना शास्त्रसे प्रतिकूल न हो और उतनी ही मात्रामें हो जितना जिसकी प्रकृति, स्वास्थ्य और रुचिके खयालसे उपयुक्त और आवश्यक हो।

प्रश्न—'योग' के साथ 'दुःखहा' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'ध्यानयोग' सिद्ध हो जानेपर ध्यानयोगीको परमानन्द और परमशान्तिके अनन्त सागर परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसके सम्पूर्ण दुःख अपने कारणसहित सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। फिर न तो उसे कभी भूलकर भी जन्म-मरणरूप संसार-दुःखका सामना करना पड़ता है और न उसे कभी स्वप्नमें भी चिन्ता, शोक, भय और उद्वेग आदि ही होते हैं। वह सर्वथा और सर्वदा आनन्दके महान् प्रशान्तसागरमें निमग्न रहता है। दुःखका आत्यन्तिक नाश करनेवाले इस फलका निर्देश करनेके लिये ही 'योग' के साथ 'दुःखहा' विशेषण दिया गया है।

सम्बन्ध—ध्यानयोगमें उपयोगी आहार-विहार आदि नियमोंका वर्णन करनेके बाद, अब निर्गुण निराकारके ध्यानयोगीकी अन्तिम स्थितिका लक्षण बतलाते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

प्रश्न—'चित्तम्' के साथ 'विनियतम्' विशेषण देनेका क्या प्रयोजन है? और उसका परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित होना क्या है?

उत्तर—भलीभाँति वशमें किया हुआ चित्त ही परमात्मामें अटलरूपसे स्थित हो सकता है, यही बात दिखलानेके लिये 'विनियतम्' विशेषण दिया गया है। ऐसे चित्तका प्रमाद, आलस्य और विक्षेपसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र परमात्मामें ही निश्चलभावसे स्थित हो जाना—एक परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुकी जरा भी स्मृति न रहना—यही उसका परमात्मामें भलीभाँति स्थित होना है।

प्रश्न—सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित होना क्या है?

उत्तर—परमशान्ति और परमानन्दके महान् समुद्र एकमात्र परमात्मामें ही अनन्य स्थिति हो जानेके कारण; एवं इस लोक और परलोकके अनित्य, क्षणिक और नाशवान् सम्पूर्ण भोगोंमें सर्वथा वैराग्य हो जानेके कारण किसी भी सांसारिक वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता या आकांक्षाका न रहना ही—सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित होना है।

प्रश्न—'युक्तः' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'युक्तः' पद ध्यानयोगकी पूर्ण स्थितिका बोधक है। अभिप्राय यह है कि साधन करते-करते जब योगीमें उपर्युक्त दोनों लक्षण भलीभाँति प्रकट हो जायँ, तब समझना चाहिये कि वह ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हो चुका है।

सम्बन्ध—वशमें किया हुआ चित्त ध्यानकालमें जब एकमात्र परमात्मामें ही अचल स्थित हो जाता है, उस समय उस चित्तकी कैसी अवस्था हो जाती है, यह जाननेकी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'दीप' शब्द किसका वाचक है और निश्चलताका भाव दिखलानेके लिये पर्वत आदि अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर जीते हुए चित्तके साथ दीपककी उपमा देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है। पर्वत आदि पदार्थ प्रकाशहीन हैं एवं स्वभावसे ही अचल हैं, इसलिये उनके साथ चित्तकी समानता नहीं है। परन्तु दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चञ्चल है, इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है। जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चित्त भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है। इसीलिये पर्वत आदि प्रकाशरहित अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर दीपककी उपमा दी गयी है।

प्रश्न—चित्तके साथ 'यत' शब्द न जोड़कर केवल 'चित्तस्य' कह देनेसे भी वही अर्थ हो सकता था, फिर 'यतचित्तस्य' के प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जीता हुआ चित्त ही इस प्रकार परमात्माके स्वरूपमें अचल ठहर सकता है, वशमें न किया हुआ नहीं ठहर सकता—इसी बातको दिखलानेके लिये 'यत' शब्द दिया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद, अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है, और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट रहता है; ॥ २० ॥

प्रश्न—'योगसेवा' शब्द किसका वाचक है और 'योगसेवा'से होनेवाले 'निरुद्ध चित्त'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ध्यानयोगके अभ्यासका नाम 'योगसेवा' है। उस ध्यानयोगका अभ्यास करते-करते जब चित्त एकमात्र परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, तब वह 'निरुद्ध' कहलाता है।

प्रश्न—इस प्रकार परमात्माके स्वरूपमें निरुद्ध हुए चित्तका उपरत होना क्या है ?

उत्तर—जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्तःकरणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उसका चित्त समाधिके समय संसारसे उपरत और व्यवहारकालमें संसारका चिन्तन करता हुआ-सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तवमें उसका संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता—यही उसके चित्तका सदाके लिये संसारसे उपरत हो जाना है।

प्रश्न—यहाँ 'यत्र' किसका वाचक है ?

उत्तर—जिस अवस्थामें ध्यानयोगके साधकका परमात्मासे संयोग हो जाता है अर्थात् उसे परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाता है और संसारसे उसका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जाता है, तथा तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिसका नाम 'योग' बतलाया है, उसी अवस्थाविशेषका वाचक यहाँ 'यत्र' है।

प्रश्न—यहाँ 'एव'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एव' का प्रयोग यहाँ परमात्मदर्शनजनित आनन्दसे अतिरिक्त अन्य सांसारिक सन्तोषके हेतुओंका निराकरण करनेके लिये किया गया है। अभिप्राय यह है कि परमानन्द और परमशान्तिके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर योगी सदा-सर्वदा उसी आनन्दमें सन्तुष्ट रहता है, उसे किसी प्रकारके भी सांसारिक सुखकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न—जिस ध्यानसे परमात्माका साक्षात्कार होता है, उस ध्यानका अभ्यास कैसे करना चाहिये ?

उत्तर—एकान्त स्थानमें पहले बतलाये हुए प्रकारसे आसनपर बैठकर मनके समस्त संकल्पोंका त्याग करके इस प्रकार धारणा करनी चाहिये—

एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है। उसका यह ज्ञान भी उसीको है, क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं और वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है। उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। वह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है, और शान्त है। इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार बार ऐसी दृढ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही [illegible] यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी [illegible] हुआ, आनन्दमय ही समझकर आन[illegible] दे। इस प्रकार धारणा करते

आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ॥ २१ ॥

प्रश्न—यहाँ सुखके साथ 'आत्यन्तिकम्', 'अतीन्द्रियम्' और 'बुद्धिग्राह्यम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अठारहवें अध्यायमें छत्तीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक जिन सात्त्विक, राजस और तामस, तीन प्रकारके सुखोंका वर्णन है, उनसे इस परमात्मस्वरूप सुखकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलानेके लिये ही उपर्युक्त विशेषण दिये गये हैं। परमात्मस्वरूप सुख सांसारिक सुखोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान्, दुःखोंका हेतु और दुःखमिश्रित नहीं होता। वह सात्त्विक सुखकी अपेक्षा भी महान् और विलक्षण, सदा एकरस रहनेवाला और नित्य है; क्योंकि वह परमात्माका स्वरूप ही है, उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। यही भाव दिखलानेके लिये 'आत्यन्तिकम्' विशेषण दिया गया है। वह सुख विषयजनित राजस सुखकी भाँति इन्द्रियोंद्वारा भोगा जानेवाला नहीं है, वह इन्द्रियातीत परब्रह्म ही यहाँ सुखके नामसे कहे गये हैं—यही भाव दिखलानेके लिये 'अतीन्द्रियम्' विशेषण दिया गया है। वह सुख स्वयं ही नित्य ज्ञानस्वरूप है। मायाकी सीमासे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि वहाँतक नहीं पहुँच सकती, तथापि जैसे मलरहित स्वच्छ दर्पणमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही भजन-ध्यान और विवेक-वैराग्यादिके अभ्याससे अचल, सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिमें उस सुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसीलिये उसे 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है।

परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी, इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। किन्तु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता; और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है। इस प्रकार तीन विशेषण देकर यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि सात्त्विक सुखकी भाँति यह सुख अनुभवमें आनेवाला नहीं है। यह तो ध्याता, ध्यान और ध्येयकी एकता हो जानेपर अपने आप प्रकट होनेवाले परमात्माका स्वरूप ही है।

प्रश्न—'तत्त्वसे विचलित न होने'का क्या तात्पर्य है और यहाँ 'एव' का प्रयोग किस अभिप्रायसे हुआ है?

उत्तर—'तत्त्व' शब्द परमात्माके स्वरूपका वाचक है और उससे कभी अलग न होना ही—विचलित नहीं होना है। 'एव' से यह भाव निकलता है कि परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर योगीकी उनमें सदाके लिये अटल स्थिति हो जाती है, फिर वह कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी कारणसे, परमात्मासे अलग नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता; ॥ २२ ॥

प्रश्न—यहाँ 'यम्' पद किसका वाचक है और उसे प्राप्त कर लेनेके बाद दूसरे लाभको उससे अधिक नहीं मानता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अगले श्लोकमें जिसे दुःखोंके संयोगका वियोग कहा है, उस योगके नामसे कही जानेवाली परमात्मसाक्षात्काररूप अवस्थाविशेषका ही वाचक यहाँ 'यम्' पद है। इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है।

प्रश्न—बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त योगीको जैसे बड़े-से-बड़े भोग और ऐश्वर्य रसहीन एवं तुच्छ प्रतीत होते हैं और जैसे वह उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता तथा न प्राप्त होने या नष्ट हो जानेपर लापरवाह रहता है, अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार महान् दुःखोंकी प्राप्तिमें भी अविचलित रहता है। यहाँ 'दुःखेन' के साथ 'गुरुणा' विशेषण देकर तथा 'अपि' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारण दुःखोंकी तो कोई बात ही नहीं, उन्हें तो धैर्यवान् और तितिक्षु पुरुष भी सहन कर सकता है; इस स्थितिको प्राप्त योगी तो अत्यन्त भयानक और असहनीय दुःखोंमें भी अपनी स्थितिपर सर्वथा अटल, अचल रहता है। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते। इसका कारण यह है कि परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद वास्तवमें उस योगीका इस शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता; वह शरीर केवल लोकदृष्टिमें उसका समझा जाता है। प्रारब्धके अनुसार उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके साथ सांसारिक वस्तुओंका संयोग-वियोग होता है—शीत-उष्ण, मानापमान, स्तुति-निन्दा आदि अनुकूल और प्रतिकूल भोगपदार्थोंकी प्राप्ति और विनाश हो सकता है; परन्तु सुख-दुःखका कोई भोक्ता न रह जानेके कारण उसके अन्तःकरणमें कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी निमित्तवश, किसी भी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं हो सकता। उसकी परमात्मामें नित्य अटल स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जान[illegible]ये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्त[illegible]

प्रश्न—दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित स्थिति क्या है? क्या उस स्थितिको प्राप्त योगी सदा ध्यानावस्थामें ही स्थित रहता है ? उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा संसारका कार्य नहीं होता ?

उत्तर—दुःखरूप [illegible]
हो जाना ही उसके सं[illegible]
में योगीके शरीर, इ[illegible]
देखना, सुनना या मन[illegible]

आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं॥ २१॥

प्रश्न—यहाँ सुखके साथ 'आत्यन्तिकम्', 'अतीन्द्रियम्' और 'बुद्धिग्राह्यम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अठारहवें अध्यायमें छत्तीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक जिन सात्त्विक, राजस और तामस, तीन प्रकारके सुखोंका वर्णन है, उनसे इस परमात्मस्वरूप सुखकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलानेके लिये ही उपर्युक्त विशेषण दिये गये हैं। परमात्मस्वरूप सुख सांसारिक सुखोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान्, दुःखोंका हेतु और दुःखमिश्रित नहीं होता। वह सात्त्विक सुखकी अपेक्षा भी महान् और विलक्षण, सदा एकरस रहनेवाला और नित्य है; क्योंकि वह परमात्माका स्वरूप ही है, उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। यही भाव दिखलानेके लिये 'आत्यन्तिकम्' विशेषण दिया गया है। वह सुख विषयजनित राजस सुखकी भाँति इन्द्रियोंद्वारा भोगा जानेवाला नहीं है, वह इन्द्रियातीत परब्रह्म परमात्मा ही यहाँ सुखके नामसे कहे गये हैं—यही भाव दिखलानेके लिये 'अतीन्द्रियम्' विशेषण दिया गया है। वह सुख स्वयं ही नित्य ज्ञानस्वरूप है। मायाकी सीमासे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि वहाँतक नहीं पहुँच सकती, तथापि जैसे मलरहित स्वच्छ दर्पणमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही भजन-ध्यान और विवेक-वैराग्यादिके अभ्याससे अचल, सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिमें उस सुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसीलिये उसे 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है।

परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी, इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। किन्तु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता; और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है। इस प्रकार तीन विशेषण देकर यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि सात्त्विक सुखकी भाँति यह सुख अनुभवमें आनेवाला नहीं है। यह तो ध्याता, ध्यान और ध्येयकी एकता हो जानेपर अपने आप प्रकट होनेवाले परमात्माका स्वरूप ही है।

प्रश्न—'तत्त्वसे विचलित न होने'का क्या तात्पर्य है और यहाँ 'एव' का प्रयोग किस अभिप्रायसे हुआ है?

उत्तर—'तत्त्व' शब्द परमात्माके स्वरूपका वाचक है और उससे कभी अलग न होना ही—विचलित नहीं होना है। 'एव'से यह भाव निकलता है कि परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर योगीकी उनमें सदाके लिये अटल स्थिति हो जाती है, फिर वह कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी कारणसे, परमात्मासे अलग नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता; ॥ २२॥

प्रश्न—यहाँ 'यम्' पद किसका वाचक है और उसे प्राप्त कर लेनेके बाद दूसरे लाभको उससे अधिक नहीं मानना, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अगले श्लोकमें जिसे दुःखोंके संयोगका वियोग कहा है, उस योगके नामसे कही जानेवाली परमात्मसाक्षात्काररूप अवस्थाविशेषका ही वाचक यहाँ 'यम्' पद है। इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है।

प्रश्न—बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त योगीको जैसे बड़े-से-बड़े भोग और ऐश्वर्य रसहीन एवं तुच्छ प्रतीत होते हैं और जैसे वह उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता तथा न प्राप्त होने या नष्ट हो जानेपर लापरवाह रहता है, अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार महान् दुःखोंकी प्राप्तिमें भी अविचलित रहता है। यहाँ 'दुःखेन' के साथ 'गुरुणा' विशेषण देकर तथा 'अपि' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारण दुःखोंकी तो कोई बात ही नहीं, उन्हें तो धैर्यवान् और तितिक्षु पुरुष भी सहन कर सकता है; इस स्थितिको प्राप्त योगी तो अत्यन्त भयानक और असहनीय दुःखोंमें भी अपनी स्थितिपर सर्वथा अटल, अचल रहता है। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते। इसका कारण यह है कि परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद वास्तवमें उस योगीका इस शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता; वह शरीर केवल लोकदृष्टिमें उसका समझा जाता है। प्रारब्धके अनुसार उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके साथ सांसारिक वस्तुओंका संयोग-वियोग होता है—शीत-उष्ण, मानापमान, स्तुति-निन्दा आदि अनुकूल और प्रतिकूल भोगपदार्थोंकी प्राप्ति और विनाश हो सकता है; परन्तु सुख-दुःखका कोई मौका न रह जानेके कारण उसके अन्तःकरणमें कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी निमित्तवश, किसी भी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं हो सकता। उसकी परमात्मामें नित्य अटल स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग *न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ॥ २३ ॥*

प्रश्न—दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित स्थिति क्या है? क्या उस स्थितिको प्राप्त योगी सदा ध्यानावस्थामें ही स्थित रहता है ? उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा संसारका कार्य नहीं होता ?

उत्तर—दुःखरूप संसारसे सदाके लिये सम्बन्धविच्छेद हो जाना ही उसके संयोगसे रहित हो जाना है। उस स्थितिमें योगीके शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा चलना, देखना, सुनना या मनन और निश्चय करना आदि

ही नहीं हों—ऐसी बात नहीं है। उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभीसे प्रारब्धानुसार समस्त कर्म होते हैं; परन्तु उसके ज्ञानमें एकमात्र परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी न रह जानेके कारण उसका उन कर्मोंसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसकी यह स्थिति ध्यानकालमें और व्युत्थान-कालमें सदा एक-सी ही रहती है।

प्रश्न—यहाँ केवल 'दुःखवियोगम्' कह देनेसे ही काम चल सकता था, फिर 'दुःखसंयोगवियोगम्' कहकर 'संयोग' शब्द अधिक देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है। उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है—यही बात दिखानेके लिये 'संयोग' शब्दका प्रयोग किया गया है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—'हेयं दुःखमनागतम्' (२।१६) 'भविष्यमें प्राप्त होनेवाले जन्म-मरणरूप महान् दुःखका नाम 'हेय' है।' 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' (२।१७)। 'द्रष्टा और दृश्यका संयोग ही हेयका कारण है।' 'तस्य हेतुरविद्या' (२।२४)। 'उस संयोगका कारण अज्ञान है।' 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्' (२।२५) 'उस (अविद्या) के अभाव (विनाश) द्रष्टा और दृश्यके संयोगका भी अभाव (विनाश) हो जाता है; उसीका नाम 'हान' (हेयका त्याग) है और यही द्रष्टाकी कैवल्यरूप स्थिति है।'

प्रश्न—यहाँ 'तम्' के साथ 'योगसंज्ञितम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ऊपरके तीन श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस अवस्थाके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया है, उसका नाम 'योग' है—यही भाव दिखलानेके लिये 'तम्' के साथ 'योगसंज्ञितम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'विद्यात्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'विद्यात्' का यह अभिप्राय है कि 'यत्रोपरमते चित्तम्' (६।२०) सेलेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये।

प्रश्न—'अनिर्विण्णचेतसा' का क्या भाव है?

उत्तर—साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'अनिर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है। ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं। अतः इसका यह भाव है कि साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये। योगसाधनमें अरुचि उत्पन्न करनेवाले और धैर्य तथा उत्साहमें कमी करनेवाले भावोंको अपने चित्तमें उठने ही न देना चाहिये और फिर ऐसे चित्तसे योगका साधन करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ निश्चयपूर्वक योगसाधन करना कर्तव्य है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है। अभिप्राय यह है कि योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये, एवं योगसाधनको ही अपने जीवनका मुख्य कर्तव्य मानकर और परमात्माकी प्राप्तिरूप योगसिद्धिको ही ध्येय बनाकर दृढ़तापूर्वक तत्परताके साथ उसके साधनमें संलग्न हो जाना चाहिये।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका नाम 'योग' है, यह कहकर उसे प्राप्त करना निश्चित कर्तव्य बतलाया गया; अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर—॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ कामनाओंको संकल्पसे उत्पन्न बतलाया गया है और दूसरे अध्यायके बासठवें श्लोकमें कामनाकी उत्पत्ति आसक्तिसे बतलायी है। इस भेदका क्या कारण है?

उत्तर—वहाँ संकल्पसे आसक्तिकी और आसक्तिसे कामनाकी उत्पत्ति बतलायी है। इससे वहाँ भी मूल कारण संकल्प ही है। अतएव वहाँके और यहाँके कथनमें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—सब कामनाएँ कौन-सी हैं? और उनका निःशेषतः त्याग क्या है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोगोंकी जितनी और जैसी—तीव्र, मध्य या मन्द कामनाएँ हैं, यहाँ 'सर्वान् कामान्' वाक्य उन सभीका बोधक है। इसमें स्पृहा, इच्छा, तृष्णा, आशा और वासना आदि कामनाके सभी भेद आ जाते हैं और इस कामनाकी उत्पत्ति संकल्पसे बतलायी गयी है, इसलिये 'आसक्ति' भी इसीके अन्तर्गत आ जाती है।

सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना। बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उनकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना—कामनाका निःशेषतः त्याग है।

प्रश्न—मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायको भलीभाँति रोकनेका क्या अर्थ है?

उत्तर—इन्द्रियोंका स्वभाव ही विषयोंमें विचरण करना है। परन्तु ये किसी विषयको ग्रहण करनेमें तभी समर्थ होती हैं जब मन इनके साथ रहता है। मन यदि दुर्बल होता है तो ये उसे जबरदस्ती अपने साथ खींचे रखती हैं। परन्तु निर्मल और निश्चयात्मिका बुद्धिकी सहायतासे जब मनको एकाग्र कर लिया जाता है, तब मनका सहयोग न मिलनेसे ये विषय-विचरणमें असमर्थ हो जाती हैं। इसीलिये ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे। यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

प्रश्न—शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करना क्या है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें मनके द्वारा इन्द्रियोंको बाह्यविषयोंसे सर्वथा हटा लेनेकी बात कही गयी है। परन्तु जबतक मन विषयोंका चिन्तन करता है, तबतक न तो वह परमात्मामें अच्छी तरह एकाग्र हो सकता है और न वह इन्द्रियोंको भलीभाँति विषयोंसे खींच ही सकता है। विषयचिन्तन करना मनका अनादिकालका अभ्यास है, उसे [illegible] विषयचिन्तनसे हटाकर परमात्मामें लगाना है। मनका यह स्वभाव है कि उसका जिस वस्तुमें अधिक अभ्यास हो जाता है, उसमें वह तल्लीन हो जाता है, [illegible] नहीं रहता। इसका [illegible] उपाय है—[illegible] अभ्याससे [illegible] करना और [illegible]

ही नहीं हों—ऐसी बात नहीं है। उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभीसे प्रारब्धानुसार समस्त कर्म होते हैं; परन्तु उसके ज्ञानमें एकमात्र परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी न रह जानेके कारण उसका उन कर्मोंसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसकी यह स्थिति ध्यानकालमें और व्युत्थान-कालमें सदा एक-सी ही रहती है।

प्रश्न—यहाँ केवल 'दुःखवियोगम्' कह देनेसे ही काम चल सकता था, फिर 'दुःखसंयोगवियोगम्' कहकर 'संयोग' शब्द अधिक देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है। उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है—यही बात दिखानेके लिये 'संयोग' शब्दका प्रयोग किया गया है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—'हेयं दुःखमनागतम्' (२।१६) 'भविष्यमें प्राप्त होनेवाले जन्म-मरण-रूप महान् दुःखका नाम 'हेय' है।' 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' (२।१७)। 'द्रष्टा और दृश्यका संयोग ही हेयका कारण है।' 'तस्य हेतुरविद्या' (२।२४)। 'उस संयोगका कारण अज्ञान है।' 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्' (२।२५) 'उस (अविद्या) के अभाव (विनाश) से द्रष्टा और दृश्यके संयोगका भी अभाव (विनाश) हो जाता है; उसीका नाम 'हान' (हेयका त्याग) है और यही द्रष्टाकी कैवल्यरूप स्थिति है।'

प्रश्न—यहाँ 'तम्' के साथ 'योगसंज्ञितम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ऊपरके तीन श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस अवस्थाके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया है, उसका नाम 'योग' है—यही भाव दिखलानेके लिये 'तम्' के साथ 'योगसंज्ञितम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'विद्यात्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'विद्यात्' का यह अभिप्राय है कि 'यत्रोपरमते चित्तम्' (६।२०) सेलेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये।

प्रश्न—'अनिर्विण्णचेतसा' का क्या भाव है?

उत्तर—साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'अनिर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है। ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं। अतः इसका यह भाव है कि साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये। योगसाधनमें अरुचि उत्पन्न करनेवाले और धैर्य तथा उत्साहमें कमी करनेवाले भावोंको अपने चित्त-में उठने ही न देना चाहिये और फिर ऐसे चित्तसे योग-का साधन करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ निश्चयपूर्वक योगसाधन करना कर्तव्य है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है। अभिप्राय यह है कि योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्ण-रूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये, एवं योगसाधनको ही अपने जीवनका मुख्य कर्तव्य मानकर और परमात्माकी प्राप्तिरूप योगसिद्धिको ही ध्येय बनाकर दृढ़तापूर्वक तत्परता-के साथ उसके साधनमें संलग्न हो जाना चाहिये।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका नाम 'योग' है, यह कहकर उसे प्राप्त करना निश्चित कर्तव्य बतलाया गया; अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर—॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ कामनाओंको संकल्पसे उत्पन्न बतलाया गया है और दूसरे अध्यायके बासठवें श्लोकमें कामनाकी उत्पत्ति आसक्तिसे बतलायी है। इस भेदका क्या कारण है?

उत्तर—वहाँ संकल्पसे आसक्तिकी और आसक्तिसे कामनाकी उत्पत्ति बतलायी है। इससे वहाँ भी मूल कारण संकल्प ही है। अतएव वहाँके और यहाँके कथनमें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—सब कामनाएँ कौन-सी हैं? और उनका निःशेषतः त्याग क्या है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोगोंकी जितनी और जैसी—तीव्र, मध्य या मन्द कामनाएँ हैं, यहाँ 'सर्वान् कामान्' वाक्य उन सभीका बोधक है। इसमें स्पृहा, इच्छा, तृष्णा, आशा और वासना आदि कामनाके सभी भेद आ जाते हैं और इस कामनाकी उत्पत्ति संकल्पसे बतलायी गयी है, इसलिये 'आसक्ति' भी इसीके अन्तर्गत आ जाती है?

सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना। बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उनकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना—कामनाका निःशेषतः त्याग है।

प्रश्न—मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायको भलीभाँति रोकनेका क्या अर्थ है?

उत्तर—इन्द्रियोंका स्वभाव ही विषयोंमें विचरण करना है। परन्तु ये किसी विषयको ग्रहण करनेमें तभी समर्थ होती हैं जब मन इनके साथ रहता है। मन यदि दुर्बल होता है तो ये उसे जबरदस्ती अपने साथ खींचे रखती हैं। परन्तु निर्मल और निश्चयात्मिका बुद्धिकी सहायतासे जब मनको एकाग्र कर लिया जाता है, तब मनका सहयोग न मिलनेसे ये विषय-विचरणमें असमर्थ हो जाती हैं। इसीलिये ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे। यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे॥ २५॥

प्रश्न—शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करना क्या है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें मनके द्वारा इन्द्रियोंको बाह्यविषयोंसे सर्वथा हटा लेनेकी बात कही गयी है। परन्तु जबतक मन विषयोंका चिन्तन करता है, तबतक न तो वह परमात्मामें अच्छी तरह एकाग्र हो सकता है और न वह इन्द्रियोंको भलीभाँति विषयोंसे खींच ही सकता है। विषय-चिन्तन करना मनका अनादिकालका अभ्यास है, उसे [illegible] विषयचिन्तनसे हटाकर परमात्मामें लगाना है। [illegible] स्वभाव है कि उसका जिस वस्तुमें [illegible] है, उसमें वह तदाकार हो जा[illegible] नहीं चाहता। उसको [illegible] अभ्याससे विरुद्ध नया [illegible] उठनेवाली, लक्ष्यके [illegible]

मरी बुद्धिके द्वारा उसे फुसलाकर, डाँटकर, रोककर और समझाकर नये अभ्यासमें लगाना। धीरज छोड़ देनेसे या जल्दी करनेसे काम नहीं चलता। बुद्धि दृढ़ रही और अभ्यास जारी रहा, तो कुछ ही समयमें मन पहले विषयसे सर्वथा हटकर नये विषयमें तदाकार हो जायगा; फिर इससे यह वैसे ही नहीं हटेगा, जैसे अभी उससे नहीं हटता है। इसीलिये भगवान् शनैः-शनैः उपरत होने तथा धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थित करनेके लिये कहकर यही भाव दिखला रहे हैं कि जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता जैसे समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और भोगोंमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये। यही शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना है।

जबतक मन विषयचिन्तनका सर्वथा त्याग न कर दे तबतक साधकको चाहिये कि प्रतिदिन आसनपर बैठकर पहले इन्द्रियोंको बाह्यविषयोंसे रोके, पीछे बुद्धिके द्वारा शनैः-शनैः मनको विषयचिन्तनसे रहित करनेकी चेष्टा करे और इसीके साथ-साथ धैर्यवती बुद्धिके द्वारा उसे परमात्मामें स्थित करता रहे। परमात्माके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण जिस बुद्धिमें स्वाभाविक ही आसक्ति, संशय और भ्रम रहते हैं, वह बुद्धि न स्थिर होती है और न धैर्यवती ही होती है। और ऐसी बुद्धि अपना प्रभाव डालकर मनको परमात्माके ध्यानमें स्थिर भी नहीं कर सकती। किन्तु सत्संगद्वारा परमात्माके तत्त्व और रहस्यको समझकर जब बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब वह दृश्यवर्गको विषय न करके परमात्मामें ही रमण करती है। उस समय उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। तब वह मनको भलीभाँति विषयोंसे हटाकर उसे परमात्माके चिन्तनमें नियुक्त करके क्रमशः उसे तदाकार कर देती है। यही धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनका परमात्मामें स्थित कर देना है।

प्रश्न—परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे—इसका क्या भाव है ?

उत्तर—मन जबतक परमात्मामें निरुद्ध होकर सर्वथा तद्रूप नहीं होता अर्थात् जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक मनका ध्येय वस्तुमें (परमात्मामें) ही निरन्तर लगे रहना निश्चित नहीं है। इसीलिये तीव्र अभ्यासकी आवश्यकता होती है। अतएव भगवान्का यहाँ यह भाव प्रतीत होता है कि साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके। साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है। प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रक्खे।

प्रश्न—ध्यानके समय मनको परमात्माके स्वरूपमें कैसे लगाना चाहिये ?

उत्तर—पहले बतलाये हुए प्रकारसे अभ्यास करता हुआ साधक एकान्तमें बैठकर ध्यानके समय मनको सर्वथा निर्विषय करके एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लगानेकी चेष्टा करे। मनमें जिस किसी वस्तुकी प्रतीति हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरंत ही त्याग दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे। सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रह जायगी। यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परन्तु दृढ़ धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये या समस्त दृश्य-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है। वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है। उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन। अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपञ्च और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कारका अभाव करके, अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य तत्त्वमें स्थित होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सम्बन्ध—मनको परमात्मामें स्थिर करके परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी चिन्तन न करनेकी बात कही गयी; परन्तु यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात्कारसे विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे॥ २६॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मन बड़ा ही अस्थिर और चञ्चल है, यह सहजमें कहीं भी स्थिर नहीं होना चाहता। फिर नये अभ्याससे तो यह बार-बार भागता है। साधक बड़े प्रयत्नसे मनको परमात्मामें लगाता है, वह सोचता है *मन परमात्मामें लगा है;* परन्तु क्षण भरके बाद ही देखता है तो पता चलता है, न मालूम वह कहाँ—कितनी दूर चला गया। इसलिये पिछले श्लोकमें कहा है कि साधक सावधान रहे और परमात्माको छोड़कर इसे दूसरा चिन्तन करने ही न दे; परन्तु सावधान रहते-रहते भी जरा-सा मौका पाते ही यह चटसे निकल जायगा और ऐसा निकलकर भागेगा कि कुछ देरतक तो पता ही न चलेगा कि यह कब और कहाँ गया। परमात्माको छोड़कर विषयोंकी ओर भागकर जानेमें अज्ञान तो असली कारण है ही, जिससे मोहित होकर यह आनन्द और शान्तिके अनन्त समुद्र, सच्चिदानन्दघन परमात्माको छोड़कर अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखजनक विषयोंमें दौड़-दौड़कर जाता है और उनमें रमता है; परन्तु उसकी अपेक्षा अत्यन्त गौण होनेपर भी साधनकी दृष्टिसे प्रधान कारण है—'*विषय-चिन्तनका* चिरकालीन अभ्यास'। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ बिना किसी मुलाहिजेके तुरंत उसे पकड़कर लावे और परमात्मामें लगावे। यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे। मन चाहे हजार अनुनय-विनय करे, चाहे जैसी खुशामद करे और चाहे जितना लोभ, प्रेम या डर दिखावे, उसकी एक भी न सुने। उसे कुछ भी ढिलाई मिली कि उसकी उच्छृङ्खलता बढ़ी। इस अवस्थामें मनकी बात सुनकर उसे जरा भी कहीं रुकने देना, रोगीको मोहवश कुपथ्य देकर या बच्चेको पैनी छुरी सौंपकर उसे हाथसे खो देनेके समान ही होता है। सावधानी ही साधना है। साधक यदि इस अवस्थामें असावधान और अशक्त हो रहेगा तो उसका ध्यानयोग सफल नहीं होगा। अतएव उसे खूब सावधान रहना चाहिये और मनको पुनः-पुनः विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।

प्रश्न—पिछले श्लोकमें और इसमें दोनोंमें ही 'आत्मा' शब्दका अर्थ 'परमात्मा' किया गया है। इसका क्या कारण है?

उत्तर—यहाँ आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रकरण है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आत्मा' शब्दका अर्थ 'परमात्मा' किया गया है।

सम्बन्ध—चित्तको सब ओरसे हटाकर एक परमात्मामें ही स्थिर करनेसे क्या होगा, इसपर कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

क्योंकि जिसका मन भलीभाँति शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है॥ २७॥

प्रश्न—'प्रशान्तमनसम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चञ्चलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है तथा इसके फल-स्वरूप जिसकी परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिति हो गयी है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं।

प्रश्न—'अकल्मषम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाले जो तमोगुण और तमोगुणके कार्यरूप प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मोह, दुर्गुण, दुराचार आदि जितने भी 'मल' रूपी दोष हैं, सभी-का समावेश 'कल्मष' शब्दमें कर लेना चाहिये। इस कल्मष अर्थात् पापसे जो सर्वथा रहित है, वही 'अकल्मष' है।

प्रश्न—यहाँ 'अकल्मषम्' पदका अर्थ यदि 'पापकर्म और सकाम पुण्यकर्म' दोनोंसे रहित मानें तो कोई हानि है ?

उत्तर—सकाम पुण्यकर्मोंका अभाव 'शान्तरजसम्' पदमें आ जाता है, इसलिये 'अकल्मषम्' पदसे केवल पाप-कर्मका अभाव मानना चाहिये।

प्रश्न—'शान्तरजसम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (१४ । ७, १२), और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं। अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है। चञ्चलतारूप विक्षेप भी रजोगुणका ही कार्य है, परन्तु उसका वर्णन 'प्रशान्तमनसम्' में आ गया है। इससे यहाँ पुनः नहीं बतलाया गया।

प्रश्न—'ब्रह्मभूतम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधनकी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है। इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं।

प्रश्न—यह 'ब्रह्मभूतम्' पद साधकका वाचक है या सिद्ध पुरुषका ?

उत्तर—'ब्रह्मभूतम्' पद उच्चश्रेणीके अभेदमार्गीय साधकका वाचक है। ऐसे साधकके रजोगुण और तमोगुण तो शान्त हो गये हैं, परन्तु वह गुणोंसे सर्वथा अतीत नहीं हो गया है। वह अपनी दृष्टिसे तो ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थित है, परन्तु वस्तुतः ब्रह्मको प्राप्त नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर शीघ्र ही तत्त्वज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण अगले श्लोकमें इस स्थितिका फल 'आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति' बतलाया गया है। यह 'आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति' ही ब्रह्मकी प्राप्ति है। पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी इसी अर्थमें 'ब्रह्मभूतः' पद आया है और वहाँ उसका फल 'निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति' बतलाया गया है। अठारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें भी 'ब्रह्मभूत' पुरुषको पराभक्ति (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति बतलाकर उसके अनन्तर परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है (१८ । ५५) अतएव यहाँ 'ब्रह्मभूतम्' पद सिद्ध पुरुषका वाचक नहीं है।

प्रश्न—'उत्तम सुखकी प्राप्ति' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—तमोगुण और रजोगुणसे अतीत शुद्ध सत्त्वमें स्थित साधकके नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानमें अभिन्नभावसे स्थित हो जानेपर उसे जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द मिलता है, उसीको यहाँ 'उत्तम सुख' कहा गया है। पाँचवें अध्यायके इक्कीसवेंके पूर्वार्द्धमें जिसे 'सुख' कहा गया है तथा चौबीसवें श्लोकमें जिसे 'अन्तःसुख' कहा गया है, उसीका पर्यायवाची शब्द यहाँ 'उत्तम सुख' है।

सम्बन्ध—परमात्माका अभेदरूपसे ध्यान करनेवाले ब्रह्मभूत योगीकी स्थिति बतलाकर, अब उसका फल बतलाते हैं—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा-की प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है ॥ २८ ॥

प्रश्न—'विगतकल्मषः' विशेषणके साथ यहाँ 'योगी' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें 'अकल्मषम्' का जो अर्थ किया गया है, वही अर्थ 'विगतकल्मषः' का है। ऐसा पापरहित उच्चश्रेणीका साधक, जो अभेद भावसे परमात्माके स्वरूपका ध्यान करता है, उसीको यहाँ 'योगी' बतलाया गया है।

प्रश्न—इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगानेका क्या भाव है ?

उत्तर—पहले पचीसवें श्लोकमें बतायी हुई रीतिसे दृश्यके चिन्तनसे रहित होकर दृढनिश्चयके साथ साधकका निरन्तर अभेदरूपसे परमात्मामें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मरूप बना रहना ही उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको परमात्मामें लगाना है।

प्रश्न—बारहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें तो परमात्माकी प्राप्तिरूप निर्गुणविषयक गतिका दुःखपूर्वक प्राप्त होना बतलाया गया है और यहाँ ऐसा कहा गया है कि 'अव्यक्त परब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक हो जाती है' इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—जिसको 'मैं देह हूँ' ऐसा देहाभिमान है, उसको अव्यक्तविषयक गतिका प्राप्त होना सचमुच अत्यन्त कठिन है, बारहवें अध्यायमें 'देहवद्भिः' शब्दसे देहाभिमानीको लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है। परन्तु यहाँके साधकके लिये पूर्वश्लोकमें 'ब्रह्मभूत' होनेकी बात कहकर भगवान्‌ने स्पष्ट कर दिया है कि जब सांख्ययोगका साधक देहाभिमानसे रहित होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है, जब साधकमें देहाभिमान नहीं रहता, उसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है। अतएव अधिकारिभेदसे दोनों ही स्थलोंका कथन सर्वथा उचित है।

प्रश्न—परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जगत्‌में जितने भी बड़े-से-बड़े सुख माने जाते हैं, वास्तवमें उनमें सच्चा सुख कोई है ही नहीं। क्योंकि उनमें एक भी ऐसा नहीं है, जो सबसे बढ़कर महान् हो और नित्य एक-सा बना रहे। इसीसे श्रुति कहती है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य उ० ७।२३।१)

'जो भूमा (महान् निरतिशय) है, वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, और भूमाको ही विशेष रूपसे जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये।'

'अल्प' और 'भूमा' क्या है, इसको बतलाती हुई श्रुति फिर कहती है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। (छान्दोग्य उ० ७।२४।१)

'जहाँ अन्यको नहीं देखता, अन्यको नहीं सुनता, अन्यको नहीं जानता, वह भूमा है और जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है। और जो अल्प है, वह मरणशील (नश्वर) है।'

जो आज है और कल नष्ट हो जायगा, वह तो यथार्थमें सुख ही नहीं है। परन्तु यदि उसको किसी अंशमें सुख मानें भी तो वह अत्यन्त ही तुच्छ और नगण्य है। महर्षि याज्ञवल्क्य सुखोंका तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहते हैं—समस्त भूमण्डलका साम्राज्य, मनुष्यलोकका पूर्ण ऐश्वर्य और स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, स्वास्थ्य, सम्मान, कीर्ति आदि समस्त भोग्यपदार्थ जिसको प्राप्त हैं, वह मनुष्योंमें सबसे बढ़कर सुखी है; क्योंकि मनुष्योंका यही परम आनन्द है। उससे सौगुना पितृलोकका आनन्द है, उससे सौगुना गन्धर्वलोकका आनन्द है, उससे सौगुना अपने कर्मफलसे देवता बने हुए लोगोंका आनन्द है, उससे सौगुना आजान देवताओंका आनन्द है, उससे सौगुना प्रजापतिलोकका आनन्द है, और उससे सौगुना ब्रह्मलोकका आनन्द है। यही पापरहित अकाम श्रोत्रियका परम आनन्द है, क्योंकि तृष्णारहित श्रोत्रिय प्रत्यक्ष ब्रह्मलोक ही है। (बृहदारण्यक उ० ४।३।३३)। जो ब्रह्मको साक्षात् प्राप्त है, उसको तो वह अनन्त असीम अचिन्त्य आनन्द प्राप्त है, जिसकी किसीके साथ तुलना ही

नहीं हो सकती। ऐसा वह निरतिशय आनन्द परब्रह्म परमात्माको प्राप्त पुरुषका अपना स्वरूप ही होता है। यही इस कथनका अभिप्राय है।

इसी अनन्त आनन्दमय आनन्दको इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है ॥ २९ ॥*

प्रश्न—'योगयुक्तात्मा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है। इसीका वर्णन पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे तथा पाँचवेंके चौबीसवें, छठेके सत्ताईसवें और अठारहवेंके चौवनवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है।

प्रश्न—ऐसे योगीका सबमें समभावसे देखना क्या है ?

उत्तर—पाँचवें अध्यायके अठारहवें और इसी अध्यायके बत्तीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है। यही ... सबमें समभावसे देखना है।

प्रश्न—आत्माको सब भूतोंमें स्थित और सब भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना क्या है ?

उत्तर—एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सत्य तत्त्व है, उनसे भिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कुछ भी नहीं है। इस रहस्यको भलीभाँति समझकर उनमें अभिन्नभावसे स्थित होकर जो स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति चराचर सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपमें परिपूर्ण देखना है अर्थात् 'एक अद्वितीय आत्मा ही इन सबके रूपमें दीख रहा है, वास्तवमें उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।' इस बातको जो भलीभाँति अनुभव करना है यही सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखना है। इसी तरह जो समस्त चराचर प्राणियोंको आत्मामें कल्पित देखना है, यानी जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को या नाना प्रकारकी कल्पना करनेवाला मनुष्य कल्पित दृश्योंको अपने ही संकल्पके आधारपर अपनेमें देखता है वैसे ही देखना, सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने आत्माके साथ 'सर्वभूतस्थम्' विशेषण देकर आत्माको भूतोंमें स्थित देखनेकी बात कही, किन्तु भूतोंको आत्मामें स्थित देखनेकी बात न कहकर केवल देखनेके लिये ही कहा।

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगीका और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—

---

*इसी आशयका ईशोपनिषद्‌का यह मन्त्र है—

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥' (मन्त्र ६)

'परन्तु जो सब प्राणियोंको आत्मामें और सब प्राणियोंमें आत्माको ही देखता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता।'

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥३०॥

प्रश्न—सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना क्या है ?

उत्तर—जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना ही ऐसा देखना है।

प्रश्न—ऐसा देखना कार्य-कारणकी दृष्टिसे है या व्याप्य-व्यापककी अथवा आधेय-आधारकी दृष्टिसे ?

उत्तर—सभी दृष्टियोंसे ऐसा देखा जा सकता है; क्योंकि बादलोंमें आकाशकी भाँति भगवान् वासुदेव ही इस सम्पूर्ण चराचर संसारके महाकारण हैं, वही सबमें व्याप्त हैं और वही सबके एकमात्र आधार हैं ।

प्रश्न—वे परमेश्वर आकाशकी भाँति सम्पूर्ण चराचर संसारके महाकारण कैसे हैं और सर्वव्यापी तथा सर्वाधार किस प्रकार हैं ?

उत्तर—'आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः' (तैत्तिरीय उ० २ । १) इस श्रुतिके अनुसार आकाशसे वायु, वायुसे तेज और तेजसे जलरूप बादलकी उत्पत्ति हुई । आकाश पञ्चमहाभूतोंमें पहला और इन सबका कारण है । इसकी उत्पत्तिका मूलकारण परम्परासे प्रकृति है, प्रकृति ही परमेश्वरकी अध्यक्षतामें सबकी रचना करती है; और वह प्रकृति परमेश्वरकी एक शक्तिविशेष है इसलिये यह परमेश्वरसे भिन्न नहीं है । इस दृष्टिसे सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है । अतएव वे ही इसके महाकारण हैं । भगवान्ने स्वयं भी कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । (१० । ८)

'मैं सबको उत्पन्न करनेवाला हूँ और मेरे सकाशसे ही सब चेष्टा करते हैं ।'

इसी प्रकार जैसे आकाश बादलोंके सभी अंशोंमें सर्वथा परिपूर्ण—व्याप्त है, वैसे ही परमेश्वर समस्त चराचर संसारमें व्याप्त हैं । 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९ । ४) 'मुझ अव्यक्तमूर्ति परमात्मासे यह सारा जगत् व्याप्त है ।'

और जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता । वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं (१० । ४२) ।

प्रश्न—समस्त जगत्में भगवान्के साकाररूपको और भगवान्के साकाररूपमें समस्त जगत्को कैसे देखा जा सकता है ?

उत्तर—जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेष धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्में जितने भी रूप हैं, सब श्रीभगवान्के ही वेष हैं । हम उन्हें पहचानते नहीं हैं, इसीसे उनको भगवान्से भिन्न समझकर उनसे डरते-सकुचाते हैं, तथा उनकी सेवा नहीं करना चाहते; जो समस्त जगत्के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेष-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रक्खें परन्तु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं । हमारे पिता या प्रियतम बन्धु किसी भी रूपमें आवें, यदि हम उन्हें पहचान लेते हैं तो फिर क्या उनके सेवा-सत्कारमें कुछ त्रुटि रखते हैं ? इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—'सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

जैसे श्रीबलदेवजीने व्रजमें बछड़ों, गोपबालकों और उनकी सब सामग्रियोंमें श्रीकृष्णके दर्शन किये थे,* और

* व्रजकी बात है । एक दिन यमुनाजीके तीरपर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ भोजन करते-करते बालक्रीडा करने लगे । कमरके कपड़ेमें बाँसुरी खोंस ली, बायीं बगलमें सींग और बेंत दबा ली, अङ्गुलियोंकी सन्धियोंमें निम्बु आदिके

जैसे व्रजगोपियाँ अपनी प्रेमकी आँखोंसे सर्वदा और सर्वत्र श्रीकृष्णको देखा करती थीं,* वैसे ही भक्तको सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्ण, राम, विष्णु, शङ्कर, शक्ति आदि, जो स्वरूप जिसका इष्ट हो, उसी भगवान्के साकार स्वरूपके दर्शन करने चाहिये। यही भगवान्के साकाररूपको समस्त जगत्में देखना है।

इसी प्रकार, जैसे अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य शरीरमें†, यशोदा मैयाने बालकरूप भगवान् श्रीकृष्णके मुखमें‡ और भक्त काकभुशुण्डिजीने भगवान् श्रीरामके उदर-में§ समस्त विश्वको देखा था वैसे ही भगवान्के किसी भी स्वरूपके अन्तर्गत समस्त विश्वको देखना चाहिये। यही भगवान्के सगुणरूपमें समस्त जगत्को देखना है।

अचार दबा लिये, हाथमें माखन-भातका कौर ले लिया और सबके बीच खड़े होकर और हँसीकी बातें कहकर स्वयं हँसने तथा सब सखाओंको हँसाने लगे। ग्वालबाल सब-के-सब इस प्रेम-भोजमें तन्मय हो गये। इधर बछड़े दूर निकल गये। तब भगवान् उन्हें खोजनेके लिये वैसे ही हाथमें भोजनका कौर लिये दौड़े। ब्रह्माजी इस दृश्यको देखकर मोहित हो गये। उन्होंने बछड़े और बालकों-को हर लिया। ब्रह्माजीका काम जानकर, ग्वालबालों और बछड़ोंकी माताओंको सन्तुष्ट रखने तथा ब्रह्माजीको छकानेके लिये भगवान् स्वयं वैसे-के-वैसे बछड़े और बालक बन गये। जिस बछड़े और बालकका जैसा शरीर, जैसे हाथ-पैर, जैसी लकड़ी, जैसा सींग, बाँसुरी या छींका था, जैसे गहने-कपड़े थे, जैसे स्वभाव, गुण, आकार, अवस्था और नाम आदि थे और जिसका जैसा आहार-विहार था, वैसे ही बनकर सब जगत् 'हरिमय' है—इस बातको सार्थक कर दिया। श्रीबलदेवजीने पहले कुछ नहीं समझा फिर जब उन्होंने देखा कि ग्वालबालोंकी माताओंका अपने बच्चोंपर पहलेसे बहुत अधिक स्नेह बढ़ गया है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है, उन बछड़ोंपर भी गायें बहुत अधिक स्नेह करती हैं, तब उन्हें सन्देह हुआ। और उन्होंने पहचाननेकी नजरसे सबकी ओर देखा। तब उन्हें सभी बछड़े, उनके रक्षा करनेवाले गोपबालक तथा उनकी सब सामग्रियाँ प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप दीख पड़ीं और वे चकित हो गये।

आगे चलकर ब्रह्माजीने भी सबको श्रीकृष्णरूप ही देखा, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करके उनसे क्षमा माँगी। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय १३)

* जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
हौं बौरी, कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद सार काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीप सीखा पर स्यामतई है।
नर देवनकी कौन कथा है ! अलख ब्रह्मछबि स्याममई है॥

† गीता एकादश अध्याय देखिये।

‡ भगवान् श्रीकृष्ण छोटे-से थे और अपनी विचित्र बाललीलासे माता यशोदा और व्रजवासी नर-नारियोंको अनुपम सुख दे रहे थे। एक दिन आपने मिट्टी खा ली। मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे ढीठ ! तूने छिपकर मिट्टी क्यों खायी ?' भगवान्ने मुख फैलाकर कहा—'मैया ! तुझे विश्वास नहीं होता तो तू मेरा मुख देख ले।' यशोदा तो देखकर चकित हो गयीं। भगवान्के छोटे-से मुखड़ेमें माताने समस्त चराचर जीव, आकाश, दसों दिशाएँ, पर्वत, द्वीप, समुद्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, चन्द्रमा, तारे, इन्द्रियोंके देवता, इन्द्रियाँ, मन, शब्दादि सब विषय, मायाके तीनों गुण, जीव, उनके विचित्र शरीर और समस्त व्रजमण्डलको देखा ! उन्होंने सोचा—मैं सपना तो नहीं देख रही हूँ ? आखिर घबराकर प्रणाम करके उनके शरणागत हुईं। तब श्रीकृष्णचन्द्रने पुनः अपनी मोहिनी माया फैला दी, माताका दुलार उमड़ उठा और अपने श्यामललाको गोदमें उठाकर वे उनसे प्यार करने लगीं। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय ८)

§ काकभुशुण्डिजी भगवान् श्रीरामजीकी बाललीलाका आनन्द लूट रहे थे। एक दिन बालरूप श्रीरामजी घुटने और हाथोंके बलसे काकभुशुण्डिजीको पकड़ने दौड़े। वे उड़ चले, भगवान्ने उन्हें पकड़नेको भुजा फैलायी। काकभुशुण्डिजी उड़ते-

प्रश्न—उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पहले प्रश्नके उत्तरके अनुसार जो समस्त जगत्‌में भगवान्‌को और भगवान्‌में सब जगत्‌को देखता है उसकी

उड़ते ब्रह्मलोकतक गये, वहाँ भी उन्होंने श्रीरामजीकी भुजाको अपने पीछे देखा। उनमें और श्रीरामजीकी भुजामें दो अंगुलका बीच था। जहाँतक उनकी गति थी, वे गये, परन्तु रामजीकी भुजा पीछे ही रही। तब भुशुण्डिजीने व्याकुल होकर आँखें मूँद लीं, फिर आँखें खोलकर देखा तो अपनेको अवधपुरीमें पाया। श्रीरामजी हँसे और उनके हँसते ही वे तुरंत उनके मुखमें प्रवेश कर गये। इसके आगेका वर्णन उन्हींकी वाणीमें सुनिये:—

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवन बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥
नर गंधर्ब भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना॥
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखउँ बालबिनोद अपारा॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरउँ प्रेरित मोह समीर॥
भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गवाँयउँ॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥
देखउँ जन्म महोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥
राम उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥
करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥
देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

दृष्टिसे भगवान् कभी ओझल नहीं होते और वह भगवान्की दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होता। अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्के देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्के सगुण साकार स्वरूपके दर्शनका साधन आरम्भमें किस प्रकार करना चाहिये और उस साधनकी अन्तिम स्थिति कैसी होती है?

उत्तर—सबसे पहली बात है—सगुण साकार स्वरूपमें श्रद्धा होना। सगुण साकार स्वरूपके उपासकको यह निश्चय करना होगा कि 'मेरे इष्टदेव सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं; वे ही निर्गुण-सगुण सब कुछ हैं।' यदि साधक अपने इष्टकी अपेक्षा अन्य किसी भी स्वरूपको ऊँचा मानता है तो उसको अपने इष्टकी उपासनासे सर्वोच्च फल नहीं मिल सकता। इसके बाद, भगवान्के जिस स्वरूपमें अपनी इष्टबुद्धि दृढ़ हो उसकी किसी अपने मनके अनुकूल मूर्ति या चित्रपटको सम्मुख रखकर और उसमें प्रत्यक्ष और चेतन-बुद्धि करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ उसकी विधिवत् पूजा करनी चाहिये और स्तवन-प्रार्थना तथा ध्यान आदिके द्वारा उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ाते रहना चाहिये। पूजाके समय दृढ़ श्रद्धाके द्वारा साधकको ऐसी प्रतीति करनी चाहिये कि भगवान्की मूर्ति जड़-मूर्ति नहीं है, वरं ये साक्षात् चलते-फिरते, हँसते-बोलते और खाते-पीते चेतन भगवान् हैं। यदि साधककी श्रद्धा सच्ची होगी, तो उस विग्रहमें ही उसके लिये भगवान्का चेतन अर्चावतार हो जायगा और नाना प्रकारसे अपनी भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय देकर साधकके जीवनको सफल और आनन्दमय बना देगा।* इसके बाद भगवत्कृपासे उसको अपने इष्टके प्रत्यक्ष दर्शन भी हो सकते हैं। दर्शनके लिये कोई निश्चित समयकी अवधि नहीं है। साधककी उत्कण्ठा और भगवत्कृपापर निर्भरता, जैसी और जिस परिमाणमें होती है, उसीके अनुसार शीघ्र या विलम्बसे उसे दर्शन हो सकते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन होनेके बाद भगवत्कृपासे चाहे जब और चाहे जहाँ—सर्वदा और सर्वत्र दर्शन भी हो सकते हैं। साक्षात् भगवद्दर्शन होनेपर साधककी कैसी स्थिति होती है, इसको तो वही जानता है, जिसे दर्शन हुए हों, दूसरा कुछ भी नहीं बता सकता।

साकार भगवान्के दर्शन सर्वत्र हों–इसके लिये जो साधन किये जाते हैं, उसकी एक प्रणाली यह भी है कि जिस स्वरूपमें अपना इष्टभाव हो, उसके विग्रहकी या चित्रपटकी उपर्युक्त प्रकारसे पूजा तो करनी ही चाहिये। साथ ही एकान्तमें प्रतिदिन नियमपूर्वक उसके ध्यानका अभ्यास करके चित्तमें उस स्वरूपकी दृढ़ धारणा कर लेनी चाहिये। कुछ धारणा हो जानेपर एकान्त स्थानमें बैठकर और आँखें खुली रखकर आकाशमें मानसिक मूर्तिकी रचनाकरके उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिये। भगवत्कृपाका आश्रय करके विश्वास, श्रद्धा और निश्चयके साथ बार-बार ऐसा अभ्यास किया जायगा तो कुछ ही समयके बाद आकाशमें इष्टकी सर्वाङ्गपूर्ण हँसती-बोलती हुई-सी मूर्ति दीखने लगेगी। यह अभ्यास-साध्य बात है। चित्तकी वृत्तियोंको अपने इष्टस्वरूपके आकारवाली बना देनेका अभ्यास सिद्ध हो जानेपर जब कभी भी उक्त स्वरूपका अनन्य चिन्तन होगा, तभी साधक जहाँ चाहेगा वहीं आँखोंके सामने इष्टका स्वरूप प्रकट हो सकता है। इस अभ्यासके दृढ़ हो जानेपर चलते-फिरते वृक्ष, वेल, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो भी पदार्थ दीखें, मनके द्वारा उनके स्वरूपको हटाकर उनकी जगह इष्टमूर्तिकी दृढ़ धारणा करनी चाहिये। ऐसा करते-करते यहाँतक हो सकता है कि साधक प्रत्येक वस्तुमें, उस वस्तुके स्थानमें अपने इष्टकी मानसिक मूर्तिके दर्शन अनायास ही कर सकता है। इसके बाद भगवत्कृपासे उसे भगवान्के वास्तविक दर्शन भी हो सकते हैं। और फिर वह प्रत्यक्ष और यथार्थरूपमें सर्वत्र भगवान्को देख सकता है।

सम्बन्ध—*सर्वत्र भगवद्दर्शनसे भगवान्के साक्षात्कारकी बात कहकर उस भगवत्-प्राप्त पुरुषके लक्षण और महत्त्वका निरूपण करते हैं—*

* मीराबाई आदि मध्यकालीन भक्तोंके जीवनमें ऐसे अर्चावतार हुए हैं।

सब कार्योंमें भगवत्-दृष्टि



सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ (६ । ३१)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—एकीभावमें स्थित होना क्या है ?

उत्तर—सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्‌का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्‌के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। भगवत्प्राप्तिरूप ऐसी स्थितिको भगवान्‌में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं।

प्रश्न—सब भूतोंमें स्थित भगवान्‌को भजना क्या है ?

उत्तर—जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्‌को भजना है। इस प्रकार भजन करनेवाले पुरुषको भगवान्‌ने सर्वोत्तम महात्मा कहा है (७। १९)।

प्रश्न—वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है। ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्‌के ही साथ होती हैं। वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है, तो वह भगवान्‌की ही सेवा करता है, किसीको मधुर वाणीसे सुख पहुँचाता है तो वह भगवान्‌को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्‌को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्‌के साथ भगवान्‌की ओर ही जाता है। इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्‌में ही और भगवान्‌के ही साथ करता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्‌में ही बरतता है।

प्रश्न—सब भगवान् ही हैं, इस प्रकारका अनुभव हो जानेपर उसके द्वारा लोकोचित यथायोग्य व्यवहार कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—छुरी, कैंची, कड़ाई, तार, सींकचे, हथौड़े, तलवार और बाण आदिमें एक लोहेका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी जैसे उन सबका यथायोग्य व्यवहार किया जाता है, वैसे ही भगवत्प्राप्त भक्तके द्वारा सर्वत्र और सबमें भगवान्‌को देखते हुए ही सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य व्यवहार हो सकता है। अवश्य ही साधारण मनुष्योंके और उसके व्यवहारमें बहुत बड़े महत्त्वका अन्तर हो जाता है। साधारण मनुष्यके द्वारा दूसरोंके साथ बड़ी सावधानीसे बहुत अच्छा व्यवहार किये जानेपर भी उनमें भगवद्बुद्धि न होकर परबुद्धि होनेसे तथा छोटा या बड़ा अपना कुछ-न-कुछ स्वार्थ होनेसे उसके द्वारा ऐसा व्यवहार होना सम्भव है, जिससे उनका अहित हो जाय; परन्तु सर्वत्र सबमें भगवद्दर्शन होते रहनेके कारण उस भक्तके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबका हित ही होता है। उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य किसी भी अवस्थामें नहीं बन सकता, जिससे वस्तुतः किसीका किंचित् भी अहित होता हो।*

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌के सब प्रकारसे बरतता हुआ आदि वाक्यका यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'वह अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, सब कुछ करता हुआ भी मुझमें ही बरतता है' तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवत्प्राप्त ऐसे महात्मा पुरुषके द्वारा पापकर्म तो होते ही नहीं सकते। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'समस्त अनर्थोंका मूल कारण

* उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

महापापी 'काम' है' (३ । ३७) और 'इस कामनाकी उत्पत्ति आसक्तिसे होती है' (२ । ६२), एवं 'परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद इस रसरूपी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाता है' (२ । ५९) । ऐसी अवस्थामें भगवत्प्राप्त पुरुषके द्वारा निषिद्ध कर्मों (पापों) का होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा, भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार कि श्रेष्ठ पुरुष (ज्ञानी) जैसा आचरण करता है, अन्यान्य लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं' (३ । २१), ज्ञानीपर स्वाभाविक ही एक दायित्व आ जाता है, इस कारणसे भी उसके द्वारा पापकर्मोंका बनना सम्भव नहीं है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके महत्त्वका प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनका और महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी **सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥**

प्रश्न—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना क्या है ?

उत्तर—जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने-आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है ।

प्रश्न—चराचरसम्पूर्णसंसारमेंसुख-दुःखकोअपनी भाँति सम देखना क्या है ?

उत्तर—जिस प्रकार अपने सारे अङ्गोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण मनुष्य उनमें होनेवाले सुख-दुःखोंको समान भावसे देखता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर संसारमें आत्म-भाव समान हो जानेके कारण जो उनमें प्रतीत होनेवाले सुख-दुःखको समानभावसे देखना है, वही अपनी भाँति सबके सुख-दुःखको सम देखना है । अभिप्राय यह है कि सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उसका स्वरूप बन जाता है । जगत्‌में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं । इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपनेको 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये बिना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किञ्चित् भी दुःख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है ।

[पाश्चात्त्य जगत्‌में, 'समस्त संसारके लोग अपनेको परस्पर भाई समझने लगें' यह 'विश्व-बन्धुत्व'का सिद्धान्त बहुत ऊँचा माना जाता है और वस्तुतः यह ऊँचा है भी। किन्तु भाई-भाईमें, स्वार्थकी भिन्नतासे किसी-न-किसी अंशमें कलह होनेकी सम्भावना रहती ही है; पर जहाँ आत्मभाव है—यह भाव है कि 'वह मैं ही हूँ' वहाँ स्वार्थभेद नहीं रह सकता और स्वार्थभेदके नाशसे परस्पर कलहकी कोई आशंका नहीं रह सकती । गीताकी शिक्षाको आज पाश्चात्त्य जगत्‌के विद्वान् भी इन्हीं सब सिद्धान्तोंके कारण सबसे ऊँची मानने लगे हैं ।]

प्रश्न—ऐसे परमात्मप्राप्त योगी महापुरुषको समस्त चराचर जगत्‌के सुख-दुःखका वास्तवमें अनुभव होता है अथवा केवल प्रतीतिमात्र होती है ?

उत्तर—न अनुभव ही कह सकते हैं और न प्रतीति ही। जब उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रह गया, तब दूसरा अनुभव तो किस बातका होता ? और केवल प्रतीतिमात्र

ही होती तो उसके द्वारा दुःख न पहुँचाने और सुख पहुँचानेकी चेष्टा ही कैसे बनती? अतएव उस समय उसका वस्तुतः क्या भाव और कैसी दृष्टि होती है? इसको वही जानता है। वाणीके द्वारा उसके भाव और दृष्टिकोणको व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि उसको परमात्मासे भिन्न किसी वस्तुका कभी अनुभव नहीं होता, लोकदृष्टिमें केवल प्रतीतिमात्र होती है; तथापि उसके कार्य बड़े ही उत्तम, सुशृङ्खल और सुव्यवस्थित होते हैं।

प्रश्न—यदि वास्तवमें अनुभव नहीं होता तो फिर लोकदृष्टिमें प्रतीत होनेवाले दुःखोंकी निवृत्तिके लिये उसके द्वारा चेष्टा कैसे होती है?

उत्तर—यही तो उसकी विशेषता है। कार्यका सम्पादन उत्तम-से-उत्तम रूपमें हो परन्तु न तो उसके लिये यथार्थमें उन कार्योंकी सत्ता ही हो और न उसका उनमें कुछ प्रयोजन ही रहे। तथापि स्थूलरूपमें समझनेके लिये ऐसा कहा जा सकता है कि जैसे बहुत-से छोटे बच्चे खेलते-खेलते तुच्छ और नगण्य कंकड़-पत्थरों, मिट्टीके ढेलों अथवा तिनकोंके लिये आपसमें लड़ने लगें और अज्ञानवश एक-दूसरेको चोट पहुँचाकर दुखी हो जायँ तथा जैसे उसके इस झगड़ेको सर्वथा व्यर्थ और तुच्छ समझनेपर भी बुद्धिमान् पुरुष उनके बीचमें आकर उन्हें अच्छी तरह समझावें-बुझावें, उनकी अलग-अलग बातें सुनें और उनकी दुःखनिवृत्तिके लिये बड़ी ही बुद्धिमानीके साथ चेष्टा करें, वैसे ही परमात्मप्राप्त योगी पुरुष भी दुःखमें पड़े हुए विश्वकी दुःखनिवृत्तिके लिये चेष्टा करते हैं। जिन महापुरुषोंका जगत्‌के धन, मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि किसी भी वस्तुसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा, जिनकी दृष्टिमें कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा और वस्तुतः जिनके लिये एक परमात्माको छोड़कर अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं रह गयी, उनकी अकथनीय स्थितिको, किसी भी दृष्टान्तके द्वारा समझना असम्भव है; उनके लिये कोई भी लौकिक दृष्टान्त पूर्णांशमें लागू पड़ता ही नहीं। दृष्टान्त तो किसी एक अंश-विशेषको लक्ष्य करानेके लिये ही दिये जाते हैं।

प्रश्न—'योगी' के साथ 'परमः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'परमः' विशेषण देकर भगवान् यह सूचित करते हैं कि यहाँ जिस 'योगी' का वर्णन है, वह साधक नहीं है, 'सिद्ध' योगी है। यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्माको प्राप्त पुरुषमें—चाहे वह किसी भी मार्गसे प्राप्त हुआ हो—'समता' अत्यन्त आवश्यक है। भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ परमात्माको प्राप्त पुरुषका वर्णन किया है, वहाँ 'समता' को ही प्रधान स्थान दिया है। किसी पुरुषमें अन्यान्य बहुत-से सद्गुण हों, परन्तु यदि 'समता' न हो, तो यही समझना चाहिये कि उसे परमात्माकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है; क्योंकि समताके बिना रागद्वेषका आत्यन्तिक अभाव और सम्पूर्ण प्राणियोंमें सहज सुहृदताका भाव नहीं हो सकता। जिनको 'समता' प्राप्त है, वे ही परमात्माको प्राप्त श्रेष्ठ योगी हैं।

सम्बन्ध—भगवान्‌के समतासम्बन्धी उपदेशको सुनकर अर्जुन मनकी चञ्चलताके कारण उसमें अपनी अचल स्थिति होना बहुत कठिन समझकर कह रहे हैं—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ॥ ३३॥

प्रश्न—'अयं योगः' से कौन-सा 'योग' कहा गया है?

उत्तर—कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंकी पराकाष्ठारूप समताको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

प्रश्न—इस 'योग' से यहाँ 'ध्यानयोग' क्यों नहीं माना जा सकता, क्योंकि मनकी चञ्चलता तो ध्यानयोगमें ही बाधक है ?

उत्तर—अट्ठाईसवें श्लोकतकके प्रकरणको देखते हुए तो ध्यानयोग मानना ही ठीक है, परन्तु इकतीसवें और बत्तीसवें श्लोकोंका वर्णन भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी व्यवहारदशाका है। और अर्जुनका प्रश्न 'समत्व' के लक्ष्यसे किया हुआ है, इससे यहाँ योगका अर्थ 'समत्वयोग' माना गया है।

प्रश्न—इस 'समता' की स्थिर स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक क्यों माना गया है ?

उत्तर—'चञ्चलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं, विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष; और जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ 'समता' नहीं रह सकती। क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता' का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता' की स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक माना गया है।

सम्बन्ध—समत्वयोगमें मनकी चञ्चलताको बाधक बतलाकर अब अर्जुन मनके निग्रहको अत्यन्त कठिन बतलाते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ॥ ३४॥

प्रश्न—चञ्चलताकी बात तो अर्जुन पिछले श्लोकमें कह ही चुके हैं, यहाँ उसीको फिरसे कहनेका क्या कारण है ?

उत्तर—वहाँ अर्जुनने 'समत्व' योगकी स्थिर स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक बतलाया था, इससे स्वाभाविक ही उनसे कहा जा सकता था कि 'मनको वशमें कर लो, चञ्चलता दूर हो जायगी'; परन्तु अर्जुन मनको वशमें करना अत्यन्त कठिन समझते हैं, इसीलिये उन्होंने यहाँ पुनः मनको चञ्चल बतलाया है।

प्रश्न—'मन' के साथ 'प्रमाथि' विशेषण देनेका क्या कारण है ?

उत्तर—इससे अर्जुन कहते हैं कि मन दीपशिखाकी भाँति चञ्चल तो है ही, परन्तु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिल्कुल क्षुब्ध कर देता है।

प्रश्न—दूसरे अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको प्रमथनशील बतलाया है, यहाँ मनको बतलाते हैं। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—विषयोंके सङ्गसे दोनों ही एक-दूसरेको क्षुब्ध करनेवाले हैं और दोनों मिलकर तो बुद्धिको भी क्षुब्ध कर डालते हैं (२। ६७)। इसीलिये दोनोंको 'प्रमाथी' कहा गया है।

प्रश्न—मनको 'बलवत्' क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—इसीलिये बतलाया गया है कि यह स्थिर न रहकर सदा इधर-उधर भटकनेवाला और शरीर तथा इन्द्रियोंको बिलो डालनेवाला तो है ही, साथ ही यह उन्मत्त गजराजकी भाँति बड़ा बलवान् भी है। जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अङ्कुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अङ्कुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता।

प्रश्न—मनको दृढ़ बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यह चञ्चल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह) के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

प्रश्न—मनको वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ—अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुन यह कहते हैं कि जो इतना चञ्चल और दुर्धर्ष है, उस मनको रोकना मेरे लिये अत्यन्त ही कठिन है। इसी कठिनताको सिद्ध करनेके लिये वे वायुका उदाहरण देकर बतलाते हैं कि जैसे शरीरमें निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मैं इस विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन समझता हूँ।

प्रश्न—'कृष्ण' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भक्तोंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेके कारण भी भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' है। अर्जुन इस सम्बोधनके द्वारा मानो यह प्रार्थना कर रहे हैं कि 'हे भगवन्! मेरा यह मन बड़ा ही चञ्चल है, मैं अपनी शक्तिसे इसको वशमें करना अत्यन्त कठिन समझता हूँ। और आपका तो स्वाभाविक गुण ही है मनको बरबस अपनी ओर खींच लेना। आपके लिये यह आसान काम है। अतएव कृपा करके मेरे मनको भी आप अपनी ओर आकृष्ट कर लीजिये।'

सम्बन्ध—मनोनिग्रहके सम्बन्धमें अर्जुनकी उक्तिको स्वीकार करते हुए भगवान् मनको वशमें करनेके उपाय बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥*

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है। परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है ॥ ३५ ॥

प्रश्न—निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है—भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान् अर्जुनकी उक्तिका समर्थन करके मनकी चञ्चलता और उसके निग्रहकी कठिनताको स्वीकार करते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या भाव है ?

उत्तर—यद्यपि मनका वशमें होना बड़ा कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह सहज ही वशमें हो सकता है। यही दिखलाने और आश्वासन देनेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—अभ्यास क्या है ?

उत्तर—मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है। †

प्रश्न—चित्तवृत्तियोंको परमात्माकी ओर लगानेका अभ्यास कैसे करना चाहिये ?

उत्तर—परमात्मा ही सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर और सबसे बढ़कर एकमात्र परमतत्त्व हैं तथा उन्हींको प्राप्त करना जीवनका परम लक्ष्य है—इस बातकी दृढ़ धारणा करके अभ्यास करना चाहिये। अभ्यासके अनेकों प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) श्रद्धा और भक्तिके साथ धैर्ययुक्त बुद्धिकी सहायतासे मनको बार-बार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें लगानेका अभ्यास करना (६ । २६)।

* ठीक इसी आशयके सूत्र पातञ्जलयोगदर्शनमें हैं—
'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१ । १२) 'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

† 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (१ । १३)। 'उनमेंसे स्थितिके लिये प्रयत्न करनेका नाम अभ्यास है।'

(२) जहाँ मन जाय, वहीं सर्वशक्तिमान् अपने इष्टदेव परमेश्वरके स्वरूपका चिन्तन करना ।

(३) भगवान्‌की मानसपूजाका अभ्यास करना ।

(४) वाणी, श्वास, नाडी, कण्ठ और मन आदिमेंसे किसीके भी द्वारा श्रीराम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदिके किसी भी अपने परम इष्टके नामको परम प्रेम और श्रद्धाके साथ परब्रह्म परमात्माका ही नाम समझकर निष्काम-भावसे उसका निरन्तर जप करना ।

(५) शास्त्रोंके भगवत्-सम्बन्धी उपदेशोंका श्रद्धा और भक्तिके साथ बार-बार मनन करना और उनके अनुसार प्रयत्न करना ।

(६) भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका सङ्ग करके उनके अमृतमय वचनोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सुनना और तदनुसार चलनेकी चेष्टा करना । (१३ । २५)

(७) मनकी चञ्चलताका नाश होकर वह भगवान्‌में ही लग जाय, इसके लिये हृदयके सच्चे कातरभावसे बार-बार भगवान्‌से प्रार्थना करना ।

इनके अतिरिक्त और भी अनेकों प्रकार हैं । परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि अभ्यास तभी सफल होगा, जब वह अत्यन्त आदर-बुद्धिसे, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक विना विरामके लगातार और लंबे समयतक किया जायगा ।* आज एक साधनमें मन लगानेकी चेष्टा की, कल दूसरा किया, कुछ दिन बाद और कुछ करने लगे, कहीं भी विश्वास नहीं जमाया; आज किया, कल नहीं, दो-चार दिन बाद फिर किया, फिर छोड़ दिया; अथवा कुछ समय करनेके बाद जी ऊब गया, धीरज जाता रहा और उसे त्याग दिया । इस प्रकारके अभ्याससे सफलता नहीं मिलती ।

प्रश्न—वैराग्यका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं ।† वैराग्यवान् पुरुषके चित्तमें सुख या दुःख दोनोंहीसे कोई विशेष विकार नहीं होता । वह उस अचल और अटल आभ्यन्तरिक अनासक्ति या पूर्ण वैराग्यको प्राप्त होता है, जो किसी भी हालतमें उसके चित्तको किसी ओर नहीं खिंचने देता ।

प्रश्न—'वैराग्य' कैसे हो सकता है ?

उत्तर—वैराग्यके अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना ।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःख, दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना ।

(३) संसारके और भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना ।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करना, सङ्गके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण-मनन करना ।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखकर जगत्‌को क्षणभङ्गुर समझना ।

---

* 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।' (योगदर्शन १ । १४)
'किन्तु वह अभ्यास लंबे समयतक, निरन्तर तथा सत्कारपूर्वक सेवन करनेसे दृढ़भूमि होता है ।'

† वैराग्यकी प्रायः इसीसे मिलती-जुलती व्याख्या महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें की है—
'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।' (१ । १५)
'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है ।'
'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।' (१ । १६)
'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अभाव हो जाना है, वह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है ।'

(६) एकमात्र मनकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ताका बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव समझना।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के अकथनीय गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनकी लीला-चरित्रोंका एवं दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर पूर्ण श्रद्धा करके मुग्ध होना।

इसी प्रकारके और भी अनेकों साधन हैं।

प्रश्न—मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य दोनों ही साधनोंकी आवश्यकता है या एकसे भी मन वशमें हो सकता है?

उत्तर—दोनोंकी आवश्यकता है। 'अभ्यास' चित्तनदीकी धाराको भगवान्‌की ओर ले जानेवाला सुन्दर मार्ग है और 'वैराग्य' उसकी विषयाभिमुखी गतिको रोकनेवाला बाँध है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों एक-दूसरेके सहायक हैं। अभ्याससे वैराग्य बढ़ता है और वैराग्यसे अभ्यासकी वृद्धि होती है। अतएव एकका भी अच्छी तरह आश्रय लेनेसे मन वशमें हो सकता है।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको 'महाबाहो' सम्बोधन किसलिये दिया गया है?

उत्तर—अर्जुन विश्वविख्यात वीर थे। देव, दानव और मनुष्य—सभी श्रेणियोंके महान् योद्धाओंको अर्जुनने अपने बाहुबलसे परास्त किया था। यहाँ भगवान् उनको इस वीरताका स्मरण कराकर मानो उत्साहित कर रहे हैं कि 'तुम्हारे-जैसे अतुल पराक्रमी वीरके लिये मनको इतना बलवान् मानकर उससे डरना और उत्साह छोड़ना उचित नहीं है। साहस करो, तुम उसे जीत सकते हो।'

सम्बन्ध—*भगवान्‌ने मनको वशमें करनेके उपाय बतलाये। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय तो क्या हानि है? इसपर भगवान् कहते हैं*—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है॥ ३६॥

प्रश्न—मनको वशमें न करनेवाले पुरुषके द्वारा इस समत्वयोगका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन क्यों है?

उत्तर—जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है। जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (२। ४१—४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसीलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—वशमें हो जानेपर मनके क्या लक्षण होते हैं?

उत्तर—वशमें हो जानेपर इसकी चञ्चलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है। सीधे, सरल, शान्त और अनुगत शिष्यकी भाँति यह इतना आज्ञाकारी हो जाता है कि फिर जब, जहाँ और जितनी देरतक इसे लगाया जाय, यह चुपचाप लग जाता है। न यहाँ लगनेमें जरा भी आनाकानी करता है, न इन्द्रियोंकी बात सुनकर कहीं जाना चाहता है, न अपनी इच्छासे हटता है, न ऊबता है और न उपद्रव ही मचाता है। बड़ी शान्तिके साथ इष्ट वस्तुमें इतना घुल-मिल जाता है कि फिर सहजमें यह भी पता नहीं लगता कि इसका अलग अस्तित्व भी है या नहीं। यही मनका वास्तवमें वशमें होना है।

प्रश्न—'तु' के प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—मनको वशमें न करनेवाले पुरुषसे, वशमें करनेवालेकी विलक्षणता दिखलानेके लिये ही उसका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—मनको वशमें कर चुकनेवाले पुरुषको 'प्रयत्नशील' होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय—उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय; तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती। अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—मनके वशमें हो जानेपर समत्वरूप योगकी प्राप्तिके साधन क्या हैं ?

उत्तर—अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) कामना और सम्पूर्ण विषयोंको त्यागकर विवेक और वैराग्यसे युक्त, पवित्र, स्थिर और परमात्ममुखी बुद्धिके द्वारा मनको नित्य-निरन्तर विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें लगाकर उसके सिवा और किसीका भी चिन्तन न करना (६। २५)।

(२) सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सब ओर एकमात्र सर्वव्यापक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही परिपूर्ण देखना, अपने सहित समस्त दृश्य-प्रपञ्चको भी परमात्माका ही स्वरूप समझना और जैसे आकाशमें स्थित बादलोंके ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर एकमात्र आकाश ही परिपूर्ण हो रहा है तथा वह आकाश ही उसका उपादान कारण भी है वैसे ही अपने सहित इस सारे ब्रह्माण्डको सब ओरसे परमात्माके द्वारा ओतप्रोत और परमात्माका ही स्वरूप समझना (१३। १५)।

(३) शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा संसारमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, वह गुणोंके द्वारा ही हो रही है, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, ऐसा समझकर अपनेको उन सब क्रियाओंसे सर्वथा पृथक् द्रष्टा—साक्षी समझना। और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित होकर समष्टिबुद्धिके द्वारा अपने उस निराकार अनन्त चेतनस्वरूपके अन्तर्गत संकल्पके आधारपर स्थित दृश्यवर्गको क्षणभङ्गुर देखना (५। ८-९; १४। १९)।

(४) भगवान्‌के श्रीराम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु, प्रेमास्पद परमात्माका ही स्वरूप समझकर अपनी रुचिके अनुसार उनके चित्रपट या प्रतिमाकी स्थापना करके अथवा मनके द्वारा अपने हृदयमें या बाहर, भगवान्‌को प्रत्यक्षके सदृश निश्चय करके, अतिशय श्रद्धा और भक्तिके साथ निरन्तर उनमें मन लगाना तथा पत्र-पुष्प-फलादिके द्वारा अथवा अन्यान्य उचित प्रकारोंसे उनकी सेवा-पूजा करना, एवं उनके नामका जप करना।

(५) सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति एवं फलेच्छाका त्याग करके शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करना (२। ४८)।

(६) श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सब कुछ भगवान्‌का समझकर केवल भगवान्‌के लिये ही यज्ञ, दान तप और सेवा आदि शास्त्रोक्त कर्मोंका आचरण करना (१२। १०)।

(७) सम्पूर्ण कर्मोंको एवं अपने आपको भगवान्‌में अर्पण करके, ममता और आसक्तिसे रहित होकर निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए, कठपुतलीकी भाँति; भगवान् जैसे भी, जो कुछ भी करावें, प्रसन्नताके साथ करते रहना (१८। ५७)।

इनके सिवा और भी बहुत-से साधन हैं तथा जो साधन मनको वशमें करनेके बतलाये गये हैं, मनके वशमें होनेके बाद, श्रद्धा और प्रेमके साथ परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करते रहनेपर उनके द्वारा भी समत्वयोगकी प्राप्ति हो सकती है।

सम्बन्ध—योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किन्तु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है ? इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अयतिः' का अर्थ 'प्रयत्नरहित' न करके 'असंयमी' क्यों किया गया ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है। वही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है। इसके सिवा, श्रद्धालु पुरुषद्वारा प्रयत्न न होनेकी शङ्का भी नहीं होती; इसी प्रकार, वशमें किये हुए मनके विचलित होनेकी भी शङ्का नहीं की जा सकती। इन्हीं सब कारणोंसे 'प्रयत्न न करनेवाला' अर्थ न करके 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'असंयमी' अर्थ किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'योग' शब्द किसका वाचक है, उससे मनका विचलित हो जाना क्या है ? एवं श्रद्धायुक्त मनुष्यके मनका उस योगसे विचलित हो जानेमें क्या कारण है ?

उत्तर—यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंसे होनेवाले समभावका वाचक है। शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय जो समभावसे या परमात्माके स्वरूपसे मनका विचलित हो जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चञ्चलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं।

प्रश्न—'योगसंसिद्धिम्' पद किस सिद्धिका वाचक है और उसे न प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—सब प्रकारके योगोंके परिणामरूप समभावका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धिम्' पद है तथा मरणकालमें समभावरूप योगसे या भगवान्‌के स्वरूपसे मनके विचलित हो जानेके कारण परमात्माका साक्षात् न होना ही उसे प्राप्त न होना है।

प्रश्न—यहाँ 'योगसे विचलित होने' का अर्थ मृत्युके समय समतासे विचलित हो जाना न मानकर यदि अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय मान लिया जाय कि 'जो साधक कर्मयोग, ध्यानयोग आदिका साधन करते-करते उस साधनको छोड़कर विषय-भोगोंमें लग जाता है, उसकी क्या गति होती है ?' तो क्या हानि है ?

उत्तर—अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते समय भगवान्‌ने मरनेके बादकी गतिका वर्णन किया है और उस साधकके दूसरे जन्मकी ही बात कही है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अर्जुनका प्रश्न मृत्युकालके सम्बन्धमें ही है। इसके सिवा 'गति' शब्द भी प्रायः मरनेके बाद होनेवाले परिणामका ही सूचक है, इससे भी यहाँ अन्तकालका प्रकरण मानना उचित जान पड़ता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित होना एवं आश्रय-रहित होना क्या है ?

उत्तर—मनकी चञ्चलता तथा विवेक और वैराग्यकी कमीके कारण भगवत्प्राप्तिके साधनसे मनका विचलित हो जाना और फलतः परमात्माकी प्राप्ति न होना तथा फलकी कामनाका त्याग कर देनेके कारण शुभकर्मके फलरूप स्वर्गादि लोकोंका न मिलना ही पुरुषका भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित एवं आश्रयरहित होना है।

प्रश्न—छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट हो जानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिलते नहीं और अन्त समयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता यानी उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती?

सम्बन्ध—*इस प्रकार शङ्का उपस्थित करके, अब अर्जुन उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं*—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है॥ ३९॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका स्पष्टीकरण कीजिये ?

उत्तर—यहाँ अर्जुन मृत्युके बादकी गति जानना चाहते हैं। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसका उद्घाटन बुद्धि और तर्कके बलपर कोई नहीं कर सकता। इसको वही जान सकते हैं जो कर्मके समस्त परिणाम, सृष्टिके सम्पूर्ण नियम और समस्त लोकोंके रहस्योंसे पूर्ण परिचित हों। लोक-लोकान्तरोंके देवता, सर्वत्र विचरण करनेकी सामर्थ्यवाले ऋषि-मुनि और तपस्वी तथा विभिन्न लोकोंकी घटनावलियों-को देख और जान सकनेकी सामर्थ्यवाले योगी किसी अंशतक इन बातोंको जानते हैं; परन्तु उनका ज्ञान भी सीमित ही होता है। इसका पूर्ण रहस्य तो सबके एकमात्र स्वामी श्रीभगवान् ही जानते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव-को अर्जुन पहलेसे ही जानते थे। फिर भगवान्‌ने अभी-अभी जो चौथे अध्यायमें अपनेको 'जन्मोंके जाननेवाले' (४।५), 'अजन्मा, अविनाशी तथा सब प्राणियोंके ईश्वर' (४।६), 'गुणकर्मानुसार सबके रचयिता' (४।१३) और पाँचवें अध्यायके अन्तमें 'सब लोकोंके महान् ईश्वर' बतलाया, इससे भगवान् श्रीकृष्णके परमेश्वरत्व-में अर्जुनका विश्वास और भी बढ़ गया। इसीसे वे यह कहकर कि—'आपके सिवा मुझे दूसरा कोई नहीं मिल सकता जो मेरे इस संशयको पूर्णरूपसे नष्ट कर सके, इस सन्देहके समूल नाश करनेके लिये तो आप ही योग्य हैं'— भगवान्-में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं। ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है। जब आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं तो मैं और किससे पूछूँ, और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है? अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये।

सम्बन्ध—अर्जुनने यह बात पूछी थी कि यह योगसे विचलित हुआ साधक उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? भगवान् अब उसका उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे ! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥

प्रश्न—योगसे विचलित हुए साधकका इस लोक या परलोकमें कहीं भी नाश नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वर्तमान स्थितिसे पतन हो जाना ही नष्ट होना है। अतः मरनेके बाद यदि उसका जन्म इस मनुष्यलोकमें होता है तो यहाँ भी उसका पहलेकी स्थितिसे पतन नहीं होता। उत्थान ही होता है। और यदि स्वर्गादि अन्य लोकोंमें जन्म होता है तो वहाँ भी पतन नहीं होता, उत्थान ही होता है। इस कारण उसका इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी विनाश नहीं होता है। वह जहाँ रहता है वहीं परमात्माके मार्गमें आगे ही बढ़ता रहता है। इससे भगवान्ने अर्जुनके उभयभ्रष्टविषयक शङ्काका संक्षेपमें उत्तर दिया है। अभिप्राय यह है कि वह न तो इस लोक या परलोकके भोगोंसे वञ्चित रहता है। और न योगसिद्धिरूप परमात्मप्राप्तिसे ही वञ्चित रहता है।

प्रश्न—'हि' अव्यय यहाँ किस अर्थमें है और उसके साथ यह कहनेका कि 'कल्याणके लिये साधन करनेवाले किसी भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती' क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' अव्यय यहाँ हेतुवाचक है। और इसके सहित उपर्युक्त कथनसे भगवान्ने साधकोंको यह आश्वासन दिया है कि जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि नीच योनियोंकी प्राप्तिरूप या कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप दुर्गति नहीं हो सकती।

प्रश्न—भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता—ऐसा कहा गया है किन्तु यह क्योंकर सम्भव है; क्योंकि मनुष्योंके पूर्वकृत पाप तो रहते ही हैं। उसके फलस्वरूप मृत्युके अनन्तर उनकी दुर्गति भी हो सकती है ?

उत्तर—पूर्वकृत पाप रहते हुए भी भगवत्प्राप्तिके लिये अर्थात् आत्मोद्धारके लिये कर्म करनेवाले किसीकी भी दुर्गति नहीं होती यह ठीक ही है। मान लीजिये एक पुरुष ऋणी है उसको किसीके रुपये देने हैं परन्तु वह बेईमान नहीं है। उसके पास जो कुछ था उसने सर्वस्व अपने महाजनको दे दिया है और जो कुछ भी कमाता है उसे भी शुद्ध नीयतसे देता आ रहा है और देना चाहता है ऐसी अवस्थामें दयालु महाजन उसे कैद नहीं करवाता। जबतक उसकी नीयत ठीक रहती है उसे अवकाश देता है। इसी प्रकार भगवान् भी भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले पुरुषकी शुद्ध भावना देखकर उसके पापोंके फलको रोककर उसे साधन करके सब बन्धनोंसे छूटनेका मौका देते हैं। जब साधारण महाजन ही ऋणीको ऋण चुकानेके लिये अवसर देते हैं तब परमदयालु भगवान् साधकको ऐसा अवसर दें—इसमें आश्चर्य ही क्या है।

प्रश्न—राजा भरत तो आत्मोद्धारके लिये ही साधन करते थे तो भी उनको मरणके अनन्तर हरिणकी योनि प्राप्त हुई—ऐसी बात पुराणोंमें सुनी जाती है अतः यदि ऐसा नियम है कि कल्याणके लिये साधन करनेवालोंकी मरणके अनन्तर दुर्गति नहीं होती तो भरतकी कैसे हुई ?

उत्तर—भरत बहुत अच्छे साधक थे इसमें स*

परन्तु दयाके कारण मोहवश एक हरिणके बच्चेमें उनकी आसक्ति और ममता हो गयी। अतः अन्तकालमें उनका लक्ष्य छूट गया और हरिणके बच्चेका चिन्तन बना रहा, इसलिये उन्हें हरिणकी योनि प्राप्त हुई; क्योंकि अन्तकालमें जिसका चिन्तन रहता हैं उसे मनुष्य अवश्य प्राप्त होता है यह प्रबल नियम है (८। ६)। उसका परिणाम भी होना ही चाहिये परन्तु भरतको पशु-योनि प्राप्त होनेपर भी वह दुर्गति नहीं समझी जाती; क्योंकि पशु-योनिमें भी उन्हें पूर्वजन्मका स्मरण बना रहा और वे मोह, आसक्ति छोड़कर अच्छे-अच्छे साधकोंके समान परम विवेकसे युक्त रहे और सूखे पत्ते खाते हुए संयमपूर्ण पवित्र जीवन बिताकर दूसरे ही जन्ममें ब्राह्मणका शरीर प्राप्त करके पूर्वाभ्यासके बल-से (६। ४४) शीघ्र ही परम गतिको प्राप्त हो गये। इससे उपर्युक्त सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। इस इतिहाससे तो यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवत्प्राप्तिका लक्ष्य कभी न छूटने पावे।

प्रश्न—संसारमें ऐसे बहुत-से मनुष्य देखे जाते हैं जो कल्याणके लिये सत्सङ्ग और भजन-ध्यानादि साधन भी करते हैं और उनके द्वारा पापकर्म भी होते रहते हैं, उनकी क्या गति होती है?

उत्तर—उनकी भी दुर्गति नहीं होती; क्योंकि जिनकी शास्त्रोंमें और महापुरुषोंमें श्रद्धा होती है, उन्हें इस बातपर पूर्ण विश्वास हो जाता है कि पापोंके फलस्वरूप भयानक दुःखोंकी और घोर नरकयन्त्रणाओंकी प्राप्ति होगी। इसलिये वे स्वभावदोषसे होनेवाले पापोंसे भी बचनेकी चेष्टा करते रहते हैं। साथ-ही-साथ भजन-ध्यानका अभ्यास चालू रहनेसे उनके अन्तःकरणकी भी शुद्धि होती चली जाती है। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारा जान-बूझकर पाप किये जानेका कोई खास कारण नहीं रह जाता। अतएव स्वभाववश यदि कोई पापाचारी होते हैं तो सत्सङ्ग और भजन-ध्यानके प्रभावसे वे भी पापाचरणसे छूटकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाते हैं। उनका क्रमशः उत्थान ही होता है, पतन नहीं हो सकता (९। ३०-३१)।

प्रश्न—'तात' सम्बोधनका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तात' सम्बोधन देकर भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनको यह आश्वासन दिया है कि 'तुम मेरे परम प्रिय सखा और भक्त हो, फिर तुम्हें किस बातका डर है? जब मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेकी भी दुर्गति नहीं होती, उसे उत्तम गति ही प्राप्त होती है, तब तुम्हारे लिये तो कहना ही क्या है?'

सम्बन्ध—योगभ्रष्ट पुरुषकी दुर्गति तो नहीं होती, फिर उसकी क्या गति होती है। यह जाननेकी इच्छा होनेपर भगवान् कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है॥ ४१॥

प्रश्न—'योगभ्रष्ट' किसे कहते हैं?

उत्तर—ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोषोंसे या विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ कहा गया है कि योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको प्राप्त होता और श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वह नरकादि लोकोंको और नीच योनियोंको तो नहीं प्राप्त होता, परन्तु पुण्यवानोंके स्वर्गादि लोकोंमें तथा धनियोंके घरोंमें भोगोंकी अधिकता होती है, इस कारण भोगोंमें आसक्त होकर भोगोंकी प्राप्तिके लिये आगे चलकर उसका पापकर्मोंमें प्रवृत्त होना तो सम्भव ही है। और यदि ऐसा हो सकता है तो ये दोनों गतियाँ परिणाममें उसके पतनमें ही हेतु होती हैं, इसलिये प्रकारान्तरसे यह भी दुर्गति ही है?

उत्तर—मृत्युलोकसे ऊपर ब्रह्मलोकतक जितने भी लोक

, सभी पुण्यवानोंके लोक हैं। उनमेंसे योगभ्रष्ट पुरुष योग-रूपी महान् पुण्यके प्रभावसे ऐसे लोकोंमें नहीं जाते, जहाँ वे भोगोंमें फँसकर दुर्गतिको प्राप्त हो जायँ, और न ऐसे अपवित्र (हीन गुण और हीन आचरणवाले) धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं जो उनकी दुर्गतिमें हेतु हों। इसीलिये 'श्रीमताम्'के साथ 'शुचीनाम्' विशेषण लगाकर पवित्र शुद्ध श्रेष्ठ गुण और विशुद्ध आचरणवाले धनियोंके घर जन्म लेनेकी बात कही गयी है। अतः यह प्रकारान्तरसे भी दुर्गति नहीं है।

प्रश्न—बहुत वर्षोंतक पुण्यवानोंके लोकोंमें रहनेमें क्या हेतु है?

उत्तर—भोगोंमें आसक्ति ही उन लोकोंमें बहुत वर्षोंतक रहनेका कारण है; क्योंकि कर्म और उनके फलमें ममता और आसक्ति रखना ही कर्मफलका हेतु बनना है (२।४७) अतः जिस साधकके अन्तःकरणमें जितनी-सी आसक्ति छिपी रहती है उतने ही समयतक उसे अपने शुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये वहाँ रहना पड़ता है—जिनमें आसक्ति अधिक होती है, वे अपेक्षाकृत अधिक समयतक वहाँ रहते हैं; और जिनमें कम होती है, वे कम समयतक। जिनमें भोगासक्ति नहीं होती, वे वैराग्यवान् योगभ्रष्ट तो वहाँ न जाकर सीधे योगियोंके कुलमें ही जन्म लेते हैं।

सम्बन्ध—साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंकी विशेष गतिका वर्णन करते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है। परन्तु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है॥ ४२॥

प्रश्न—'अथवा' का प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परन्तु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेना पड़ता है। वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं। पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा'का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति तो सब योगभ्रष्टोंको होनी ही चाहिये। वहाँके सुखोंको भोगनेके बाद उनमेंसे कुछ तो पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं और कुछ योगियोंके घरोंमें। 'अथवा' से यदि यह भाव मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि जिन पुरुषोंका भोगोंमें यथार्थ वैराग्य है, उनके लिये स्वर्गादि लोकोंमें जाकर बहुत वर्षोंतक वहाँ निवास करना और भोग भोगना तो दण्डके सदृश ही है। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब होना वैराग्यका फल नहीं हो सकता। इसलिये उपर्युक्त अर्थ मानना ही ठीक है।

प्रश्न—योगियोंके कुलमें ऐसे वैराग्यवान् पुरुष जन्म लेते हैं, इससे सिद्ध है कि वे योगी अवश्य ही गृहस्थ होते हैं; क्योंकि जन्म गृहस्थाश्रममें ही हो सकता है। और 'धीमताम्' का अर्थ करते हुए ऐसे योगियोंको ज्ञानी बतलाया गया है, तो क्या गृहस्थ भी ज्ञानी हो सकते हैं?

उत्तर—भगवत्तत्त्वका यथार्थ ज्ञान सभी आश्रमोंमें हो सकता है। गीतामें यह बात भलीभाँति प्रमाणित है (३।२०; ४।१९; १८।५६) अन्यान्य शास्त्रोंमें भी इसके अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं। महर्षि वशिष्ट, याज्ञवल्क्य, व्यास, जनक, अश्वपति और रैक आदि महापुरुषोंने गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त किया था।

प्रश्न—'योगिनाम्' पदमें आये हुए योगी शब्दका अर्थ 'ज्ञानवान् योगी न मानकर 'साधक योगी' मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—ऐसा माननेसे 'धीमताम्' शब्दका

इसके अतिरिक्त भगवान्‌ने 'दुर्लभतरम्' पदसे भी यह सूचित किया है कि ऐसा जन्म पवित्र श्रीमानोंके घरोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव यहाँ 'धीमताम्' विशेषणसे युक्त 'योगिनाम्' पदमें आये हुए 'योगी' शब्दका अर्थ 'ज्ञानवान् सिद्ध योगी' मानना ही ठीक है।

प्रश्न—योगियोंके कुलमें होनेवाले जन्मको अत्यन्त दुर्लभ क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—परमार्थसाधन (योगसाधन) की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गमें, श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती। योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है, दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त श्रुतियोंमे भी प्रमाणित है।* यदि महात्मा पुरुषोंकी महिमा और प्रभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो महात्माओंके कुलमें जन्म होनेपर तो कहना ही क्या है, महात्माओंका संग ही दुर्लभ, अगम्य एवं अमोघ माना गया है†। इसीलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाना उचित ही है।

सम्बन्ध—योगिकुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी उस जन्ममें जैसी परिस्थिति होती है, अब उसे बतलाते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तत्र' पद केवल योगियोंके कुलमें जन्मका ही निर्देश करता है, अथवा पवित्र श्रीमान् एवं ज्ञानवान् योगी—दोनोंके घरोंमें जन्मका ?

उत्तर—पिछले ही श्लोकमें योगिकुलका वर्णन आ चुका है तथा उस कुलमें जन्म लेनेमें देवादि शरीरोंका व्यवधान भी नहीं है। अतएव यहाँ 'तत्र' से योगिकुलका निर्देश मानना ही उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न—तो क्या पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेनेवाले साधक 'बुद्धिसंयोग' को प्राप्त नहीं होते ?

उत्तर—वे भी पूर्वाभ्यासके प्रभावद्वारा विषयभोगोंसे हटाये जाकर भगवान्‌की ओर खींचे जाते हैं—यह बात अगले श्लोकमें स्पष्ट की गयी है।

प्रश्न—पहले शरीरमें संग्रह किये हुए 'बुद्धिके संयोग' को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंमेंसे किसी भी साधनद्वारा जितना 'समभाव' पूर्वजन्ममें प्राप्त हो चुका है, उसका इस जन्ममें अनायास ही जाग्रत् हो जाना 'बुद्धिके संयोग' को प्राप्त करना है।

प्रश्न—'ततः' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ततः' पदके प्रयोगसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि योगिकुलमें जन्म होने और वहाँ पूर्वसंस्कारोंसे सम्बन्ध हो जानेके कारण वह योगभ्रष्ट पुरुष पुनः अनायास ही योगसाधनमें लग जाता है।

* नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। (मुण्डक उ० ३।२।९) 'इसके (महाज्ञानीके) कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, वह शोक एवं पापसे तर जाता है। हृदयग्रन्थिसे विमुक्त होकर अमर हो जाता है अर्थात् सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूट जाता है।

† 'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।' (नारदभक्तिसूत्र ३९)-'परन्तु महात्माओंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

सम्बन्ध—अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगको जाननेकी इच्छाका महत्त्व बतलाते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्सन्देह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है, तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'सः' का अभिप्राय श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट क्यों माना गया ?

उत्तर—योगिकुलमें जन्म लेनेवाले वैराग्यवान् पुरुषके लिये भोगोंके वश होनेकी शङ्का नहीं हो सकती, अतएव उसके लिये 'अवशः अपि' इन पदोंका प्रयोग अनुकूल नहीं जान पड़ता। इसके सिवा योगिकुलमें अनायास सत्संग लाभ होनेके कारण, उसके लिये एकमात्र पूर्वाभ्यासको ही भगवान्‌की ओर आकर्षित होनेमें हेतु बतलाना उपयुक्त भी नहीं है। अतएव यह वर्णन श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषके सम्बन्धमें ही मानना उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न—यहाँ 'अवशः' के साथ 'अपि' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यद्यपि पवित्र सदाचारी धनवानोंका घर साधारण धनियोंके घरकी भाँति भोगोंमें फँसानेवाला नहीं है, किन्तु वहाँ भी यदि किसी कारणसे योगभ्रष्ट पुरुष स्त्री, पुत्र, धन और मान-बड़ाई आदि भोगोंके वशमें हो जाय, तो भी पूर्वजन्मके अभ्यासके बलसे वह भगवत्प्राप्तिके साधनकी ओर लग जाता है।

प्रश्न—'पूर्वाभ्यासेन' पदके साथ 'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भोगोंके वश हुए पुरुषको विषयजालसे छुड़ाकर भगवान्‌की ओर आकर्षित करनेमें पूर्वजन्मके अभ्यासके संस्कार ही प्रधान हेतु हैं, इसी अभिप्रायसे 'पूर्वाभ्यासेन' पदके साथ 'एव' का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—'जिज्ञासुः' के साथ 'अपि' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'समबुद्धिरूप योग' की प्रशंसा करनेके लिये यहाँ 'अपि' का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन करके तथा योगके जिज्ञासुकी महिमा बतलाकर अब योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी गतिका पुनः प्रतिपादन करते हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालोंकी और योगके जिज्ञासुकी अपेक्षा योगिकुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिकी विलक्षणता

ही 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'योगी' के साथ 'प्रयत्नाद् यतमानः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है। इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' के साथ 'प्रयत्नाद् यतमानः' विशेषण दिया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है।

प्रश्न—'अनेकजन्मसंसिद्धः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगिकुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पूर्वजन्मोंमें किये हुए योगाभ्यासके संस्कारोंको प्राप्त हो जाता है, यहाँ उसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'अनेकजन्मसंसिद्धः' विशेषण दिया गया है। अभिप्राय यह है कि पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्वसंस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें साधनका अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है।

प्रश्न—'संशुद्धकिल्बिषः' का क्या भाव है ?

उत्तर—जिसके समस्त पाप सर्वथा धुल गये हैं, उसे 'संशुद्धकिल्बिष' कहते हैं। इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार अभ्यास करनेवाले योगीमें पापका लेश भी नहीं रहता।

प्रश्न—'ततः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'ततः' पद यहाँ तत्पश्चात्के अर्थमें आया है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि साधनकी पराकाष्ठारूप संसिद्धिको प्राप्त होनेके पश्चात् तत्काल ही परमगतिकी प्राप्ति हो जाती है, फिर जरा भी विलम्ब नहीं होता।

प्रश्न—'परमंगति' की प्राप्ति क्या है ?

उत्तर—परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होना ही परमगतिकी प्राप्ति है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति और नैष्ठिकी शान्तिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

सम्बन्ध—योगभ्रष्टकी गतिका विषय समाप्त करके, अब भगवान् योगीकी महिमा कहते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा देते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तपस्वी' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—सकामभावसे धर्मपालनके लिये इन्द्रियसंयमपूर्वक क्रियाओंका या विषयभोगोंका त्याग करके जो मन, इन्द्रिय और शरीरसम्बन्धी समस्त कष्टोंको सहन किया जाता है, वही 'तप' है और उसे करनेवालेको यहाँ तपस्वी कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानी' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानी' न तो भगवत्प्राप्त तत्त्वज्ञानी पुरुषका वाचक है और न परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगका साधन करनेवाले ज्ञानयोगीका ही वाचक है। यहाँ तो 'ज्ञानी' केवल शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार विवेकबुद्धिद्वारा समस्त पदार्थोंको समझनेवाले शास्त्रज्ञ पुरुषका वाचक है।

प्रश्न—यहाँ 'कर्मी' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, पूजा, सेवा आदि शास्त्रविहित शुभ कर्मोंको स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये सकामभावसे करनेवालेका नाम 'कर्मी' है।

प्रश्न—जब तपस्या करनेवाले और शास्त्रज्ञान-सम्पादन करनेवाले भी सकामभावसे युक्त ही हैं; तब उन्हें भी कर्मियोंके अन्तर्गत ही मानना उचित था; परन्तु ऐसा न मानकर उन्हें अलग क्यों बतलाया गया?

उत्तर—यहाँ 'कर्मी' का प्रयोग इतने व्यापक अर्थमें नहीं हुआ है। सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही कर्मी है। इसमें क्रियाकी बहुलता है। तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है। और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है। भगवान्‌ने इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर ही कर्मियोंमें तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अन्तर्भाव न करके उनका अलग निर्देश किया है।

प्रश्न—इस श्लोकमें 'योगी' शब्दका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि किसी भी साधनसे साधनकी पराकाष्ठारूप 'समत्वयोग' को प्राप्त हुए पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है।

प्रश्न—ज्ञानयोग और कर्मयोग—ये दो ही निष्ठाएँ मानी गयी हैं; फिर भक्तियोग, ध्यानयोग क्या इनसे पृथक् हैं?

उत्तर—भक्तियोग कर्मयोगके ही अन्तर्गत है। जहाँ भक्तिप्रधान कर्म होता है, वहाँ उसका नाम भक्तियोग है और जहाँ कर्मप्रधान है, वहाँ उसे कर्मयोग कहते हैं। ध्यानयोग दोनों ही निष्ठाओंमें सहायक साधन है। वह अभेद-बुद्धिसे किया जानेपर ज्ञानयोगमें और भेद-बुद्धिसे किया जानेपर कर्मयोगमें सहायक होता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा। किन्तु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये? इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया। अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है॥ ४७॥

प्रश्न—यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' के प्रयोगका और 'सर्वेषाम्' यह विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं। उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'श्रद्धावान्' पुरुषके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—जो भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा नाम और लीलामें एवं उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

प्रश्न—'मद्गतेन' विशेषणके साथ 'अन्तरात्मा' पद किसका वाचक है?

उत्तर—इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जान लेनेसे जिसका मुझमें अनन्य प्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल [illegible] अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उस अन्तः[illegible] 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्त[illegible]

प्रश्न—यहाँ अनन्य प्रेमसे भगवा[illegible]

बुद्धिको ही 'मद्गत अन्तरात्मा' क्यों कहा गया है? भय और द्वेष आदि कारणोंसे भी तो मन-बुद्धि भगवान्‌में लग सकते हैं?

उत्तर—लग सकते हैं, और किसी भी कारणसे मन-बुद्धिके परमात्मामें लग जानेका फल परम कल्याण ही है। परन्तु यहाँका प्रसंग प्रेमपूर्वक भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेका है; भय और द्वेषपूर्वक नहीं। क्योंकि भय और द्वेषसे जिसके मन-बुद्धि भगवान्‌में लग जाते हैं, उसको न तो श्रद्धावान् ही कहा जा सकता है और न परम योगी ही माना जा सकता है। इसके बाद सातवें अध्यायके आरम्भमें ही भगवान्‌ने 'मय्यासक्तमनाः' कहकर अनन्य प्रेमका ही सङ्केत किया है। इसके अतिरिक्त गीतामें स्थान-स्थानपर (७।१७;९।१४;१०।१०) प्रेमपूर्वक ही भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेकी प्रशंसा की गयी है। अतएव यहाँ ऐसा ही मानना उचित है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद भगवान्‌के सगुणरूपका वाचक है या निर्गुणका?

उत्तर—यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, माधुर्य और औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालङ्कृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित चित्र-विचित्र लीलाकारी, लीलामात्रसे प्रकृतिद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, आनन्दकन्द, सगुण-निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है।

प्रश्न—यहाँ 'भजते' इस क्रियापदका क्या भाव है?

उत्तर—सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है।

प्रश्न—वह मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है—भगवान्‌के इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी आदि सभी प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, परन्तु जो मेरे समग्ररूपको जानकर मुझसे अनन्य-प्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, किसी बातकी अपेक्षा, आकांक्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, मातृपरायण शिशुकी भाँति जो मुझको छोड़कर और किसीको जानता ही नहीं, वह तो मेरे हृदयका परम धन है। अपत्य-स्नेहसे जिसका हृदय परिपूर्ण है, जिसको दिन-रात अपने प्यारे बच्चेकी ओर देखते रहनेमें ही नित्य नया आनन्द मिलता है, ऐसी वात्सल्यस्नेहमयी अनन्त माताओंके हृदय मेरे जिस अचिन्त्यानन्त प्रेममय हृदयसागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं हैं, उसी अपने हृदयसे मैं उसकी ओर देखता रहता हूँ, और उसकी प्रत्येक चेष्टा मुझको अपार सुख पहुँचानेवाली होती है। सारे जगत्‌को अनादिकालसे जितने प्रकारके जो-जो आनन्द मिलते आ रहे हैं, वे सब तो मुझ आनन्दसागरकी एक बूँदकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। ऐसा अनन्त आनन्दका अपार अम्बुधि होकर भी मैं अपने उस 'मद्गतान्तरात्मा' भक्तकी चेष्टा देख-देखकर परम आनन्दको प्राप्त होता रहता हूँ। उसकी क्या बड़ाई करूँ? वह मेरा अपना है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है? जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें वही सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

सप्तमोऽध्यायः

षट्कका स्पष्टीकरण श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्यायोंमें यद्यपि कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके क्रमसे छः-छः अध्यायोंके तीन षट्क माने जाते हैं, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन षट्कोंमें केवल एक ही योगका वर्णन हो और दूसरेकी चर्चा ही न आयी हो। जिस षट्कमें जिस योगका प्रधानतासे वर्णन होता है, उसीके अनुसार उसका नाम रख लिया जाता है।

पहले षट्कका प्रथम अध्याय तो प्रस्तावनारूपमें है, उसमें तो इनमेंसे किसी भी योगका विषय नहीं है। दूसरेमें ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का विषय है, इसके बाद उन्तालीसवें श्लोकसे लेकर तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायःकर्मयोगका विस्तृत वर्णन है। चौथे और पाँचवें अध्यायोंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका मिला हुआ वर्णन है, तथा छठे अध्यायमें प्रधानरूपसे ध्यानयोगका वर्णन है; साथ ही प्रसङ्गानुसार कर्मयोग आदिका भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार यद्यपि इस षट्कमें सभी विषयोंका मिश्रण है, तथापि दूसरे दोनों षट्कोंकी अपेक्षा इसमें कर्मयोगका वर्णन अधिक है। इसी दृष्टिसे इसको कर्मयोगप्रधान षट्क माना जाता है।

सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतकके बीचके षट्कमें प्रसङ्गवश कहीं-कहीं दूसरे विषयोंकी चर्चा होनेपर भी सभी अध्यायोंमें प्रधानतासे भक्तियोगका ही विशद वर्णन है; इसलिये इस षट्कको तो भक्तिप्रधान मानना उचित ही है।

अन्तिम षट्कमें तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें स्पष्ट ही ज्ञानयोगका प्रकरण है। पंद्रहवेंमें भक्तियोगका वर्णन है; सोलहवेंमें दैवी और आसुरी संपत्की व्याख्या है; सतरहवेंमें श्रद्धा, आहार और यज्ञ, दान, तप आदिका निरूपण है और अठारहवें अध्यायमें गीताका उपसंहार होनेसे उसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों ही योगोंका वर्णन है तथा अन्तमें शरणागति-प्रधान भक्तियोगमें उपदेशका पर्यवसान किया गया है। इतना होनेपर भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि ज्ञानयोगका जितना वर्णन इस अन्तिम षट्कमें किया गया है, उतना पहले और दूसरेमें नहीं है। इसीलिये इसको ज्ञानयोगप्रधान कहा जा सकता है।

अध्यायका नाम परमात्माके निर्गुण निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य आदिके रहस्यसहित पूर्णरूपसे जान लेनेका नाम 'ज्ञान' और सगुण निराकार एवं साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, महत्त्व, गुण और प्रभाव आदिके पूर्ण ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है। इन ज्ञान और विज्ञानके सहित भगवान्‌के स्वरूपको जानना ही समग्र भगवान्‌को जानना है। इस अध्यायमें इसी समग्र भगवान्‌के स्वरूपका, उसके जाननेवाले अधिकारियोंका और साधनोंका वर्णन है—इसीलिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको समग्र रूपका वर्णन सुननेके लिये आज्ञा दी है; तथा दूसरेमें विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसकी प्रशंसा करके तीसरेमें भगवत्स्वरूपको तत्त्वसे जाननेकी दुर्लभताका प्रतिपादन किया गया है। चौथे और पाँचवेंमें अपनी अपरा और परा प्रकृतिका स्वरूप बतलाकर, छठेमें उक्त दोनों प्रकृतियोंको सम्पूर्ण भूतोंका कारण और अपनेको सबका महाकारण बतलाया है। सातवेंमें समस्त जगत्‌को अपना ही स्वरूप बतलाकर मालाका दृष्टान्त देते हुए [illegible] अपनी व्यापकता बतलायी है, फिर आठवेंसे बारहवेंतक अपनी सर्वव्यापकताका विस्तारके साथ वर्णन किया है [illegible] नेको

(भगवान्‌को) तत्त्वसे न जाननेके कारणका निरूपण करके चौदहवेंमें अपनी मायाकी अत्यन्त दुस्तरताका वर्णन करते हुए उससे तरनेका उपाय बतलाया है। पंद्रहवेंमें पापात्मा मूढ़ मनुष्योंद्वारा भजन न होनेकी बात कहकर सोलहवेंमें अपने चार प्रकारके पुण्यात्मा भक्तोंकी बात कही है। सतरहवेंमें ज्ञानी भक्तकी श्रेष्ठताका निरूपण करके, अठारहवेंमें सभी भक्तोंको उदार और ज्ञानीको अपना आत्मा बतलाया है। उन्नीसवेंमें ज्ञानी भक्तकी दुर्लभताका वर्णन किया है। बीसवेंमें अन्य देवोपासकोंकी बात कहकर इक्कीसवेंमें अन्य देवताओंमें श्रद्धा स्थिर करनेका और बाईसवेंमें उनकी उपासनाके फलका निरूपण किया गया है। तेईसवेंमें अन्य देवताओंकी उपासनाके फलको नाशवान् बतलाकर अपनी उपासनाका अपनी प्राप्तिरूप महान् फल बतलाया है। चौबीसवें और पचीसवेंमें अपने गुण, प्रभाव और स्वरूपको न जाननेके हेतुका वर्णन करके छब्बीसवेंमें यह कहा है कि मैं सबको जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई नहीं जानता। सत्ताईसवेंमें न जाननेका कारण बतलाते हुए अट्ठाईसवेंमें अपनेको भजनेवाले दृढ़व्रती श्रेष्ठ भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन किया है। तदनन्तर उन्तीसवेंमें भगवान्‌का आश्रय लेकर यत्न करनेवालेको ब्रह्मप्राप्ति होनेकी बात कहकर तथा तीसवें श्लोकमें अपने समग्र स्वरूपको जाननेकी महिमाका निरूपण करके अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंमें उत्तम योगी है।' परन्तु भगवान्‌के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है। इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा विविध प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले दो श्लोकोंमें अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा करके ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन॥१॥

प्रश्न—'मय्यासक्तमनाः' किसको कहते हैं?

उत्तर—इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिनके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, तथा जिसका मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके जरा-से वियोगमें परम व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्‌के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं कर सकता, उसे भगवान् 'मय्यासक्तमनाः' कहते हैं।

प्रश्न—'मदाश्रयः' किसको कहते हैं?

उत्तर—जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग करके समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसेपर सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, उसे भगवान् 'मदाश्रयः' कहते हैं।

प्रश्न—'योगं युञ्जन्' से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ भक्तियोगका प्रकरण है। अतएव मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्‌में स्थिर करके नित्य-निरन्तर

श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना ही 'योगं युञ्जन्' का अभिप्राय है।

प्रश्न—समग्र भगवान्‌को संशयरहित जाननेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान् इतने और उतने ही नहीं हैं; अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड सब उन्हींमें ओतप्रोत हैं, सब उनके ही स्वरूप हैं। इन ब्रह्माण्डोंमें और इनके परे जो कुछ भी है, सब उन्हींमें है। वे नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वरूप हैं तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, व्यक्त-अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्‌के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असन्दिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्‌को संशयरहित जानना है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता॥ २॥

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञान' और 'विज्ञान' किसके वाचक हैं?

उत्तर—भगवान्‌के निर्गुण निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं। इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

प्रश्न—इस ज्ञान-विज्ञानका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ किया गया है?

उत्तर—इस अध्यायमें जो कुछ भी उपदेश दिया गया है, सारा-का-सारा ही ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूप है। इसलिये, जैसे तेरहवें अध्यायमें सातवें श्लोकसे ग्यारहवेंतक ज्ञानके साधनोंको 'ज्ञान' कहा गया है, उसी प्रकार इस समस्त अध्यायको ही ज्ञान-विज्ञानके उपदेशसे पूर्ण होनेके कारण ज्ञान-विज्ञानरूप ही समझना चाहिये।

प्रश्न—आगे कहे जानेवाले विज्ञानसहित ज्ञानको जान लेनेके बाद संसारमें कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता, यह बात कैसे कही?

उत्तर—ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्‌के समग्र स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्वब्रह्माण्ड तो समग्ररूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, तब स्वाभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता। भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तमें स्वयं कहा है कि 'हे अर्जुन! तुझे बहुत जाननेसे क्या प्रयोजन है, मैं अपने तेजके एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करके स्थित हूँ।' इसलिये यहाँ यह कहना उचित ही है।

सम्बन्ध—अपने समग्ररूपके ज्ञान-विज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा करके अब भगवान् अपने उस स्वरूपको तत्त्वसे जाननेकी दुर्लभताका प्रतिपादन करते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है॥ ३॥

प्रश्न—यहाँ 'मनुष्य' शब्दके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'मनुष्य' शब्दके प्रयोगसे एक तो यह भाव है कि मनुष्ययोनि बड़ी ही दुर्लभ है, भगवान्‌की बड़ी भारी कृपासे इसकी प्राप्ति होती है; क्योंकि इसमें सभीको भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। जाति, वर्ण, आश्रम और देशकी विभिन्नताका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। इसके सिवा एक भाव यह भी है कि मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं, उनमें नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है; अतएव उनमें प्राणी भगवत्प्राप्तिके लिये साधन नहीं कर सकता। पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियोंमें तो साधन करनेकी शक्ति और योग्यता ही नहीं है। देवादि योनियोंमें शक्ति होनेपर भी वे भोगोंकी अधिकता और खास करके अधिकार न होनेसे साधन नहीं कर पाते। तिर्यक् या देवादि योनियोंमें किसीको यदि परमात्माका ज्ञान हो जाता है तो उसमें भगवान्‌की या महापुरुषोंकी विशेष दयाका ही प्रभाव और महत्त्व समझना चाहिये।

प्रश्न—हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई विरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है।

प्रश्न—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले मनुष्योंमें कोई एक ही भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है, इसका क्या कारण है ? सभी क्यों नहीं जानते ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि पूर्वसंस्कार, श्रद्धा, प्रीति सत्सङ्ग और चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और सङ्गदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्‌का साक्षात्कार कर पाते हैं।

प्रश्न—यत्न करनेवालोंके साथ 'सिद्ध' विशेषण किस अभिप्रायसे दिया गया है ?

उत्तर—इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि भोगोंमें पड़े हुए विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षासे परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिके लिये जो प्रयत्न करता है वह भी सिद्ध ही है।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने अपने समग्र स्वरूपके ज्ञान-विज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा और उसकी प्रशंसा की, अब ज्ञान-विज्ञानके प्रकरणका आरम्भ करते हुए पहले अपनी 'अपरा' और 'परा' प्रकृतियोंका स्वरूप बतलाते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान ॥ ४-५ ॥

प्रश्न—यहाँ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे क्या समझना चाहिये?

उत्तर—स्थूल भूतोंके और शब्दादि पाँचों विषयोंके कारणरूप जो सूक्ष्म पञ्च महाभूत हैं, सांख्य और योगशास्त्रमें जिन्हें पञ्चतन्मात्रा कहा है, उन्हीं पाँचोंका यहाँ 'पृथिवी' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

प्रश्न—यहाँ मन, बुद्धि और अहंकारसे क्या लेना चाहिये?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहंकार—तीनों अन्तःकरणके ही भेद हैं; अतएव इनसे 'समष्टि अन्तःकरण' समझना चाहिये।

प्रश्न—तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अव्यक्त प्रकृतिके कार्य (भेद) तेईस बतलाये गये हैं, उसके अनुसार प्रकृतिको तेईस भेदोंमें विभक्त कहना चाहिये था; फिर यहाँ उसे केवल आठ भेदोंमें विभक्त कैसे कहा?

उत्तर—शब्दादि पाँच विषय सूक्ष्म पञ्च महाभूतोंके और दस इन्द्रियाँ अन्तःकरणके कार्य हैं। इसलिये उन पंद्रह भेदोंका इन आठ भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। उस प्रकार उसे तेईस भेदोंमें और इस प्रकार आठ भेदोंमें विभक्त कहना एक ही बात है।

प्रश्न—इस प्रकृतिका नाम 'अपरा' किसलिये रक्खा गया है?

उत्तर—तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा' है।

प्रश्न—जीवरूप चेतन तत्त्व तो पुँल्लिङ्ग है, यहाँ 'प्रकृति' नामसे कहकर उसे स्त्रीलिङ्ग क्यों बतलाया गया?

उत्तर—जीवात्मामें वस्तुतः स्त्रीत्व, पुंस्त्व या नपुंसकत्वका भेद नहीं है—इसी बातको दिखलानेके लिये उस एक ही चेतन तत्त्वको कहीं पुँल्लिङ्ग 'पुरुष' (१५ । १६) और 'क्षेत्रज्ञ' (१३ । १) तथा कहीं नपुंसक 'अध्यात्म' (७ । २९, ८ । ३) कहा गया है। उसीको यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'परा प्रकृति' कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'जगत्' शब्द किसका वाचक है? और यह जीवरूपा परा प्रकृतिके द्वारा धारण किया जाता है, ऐसा क्यों कहा गया?

उत्तर—समस्त जीवोंके शरीर इन्द्रियाँ प्राण तथा भोग्य-वस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगत्‌रूप जड तत्त्व चेतन तत्त्वसे व्याप्त है अतः उसीने इसे धारण कर रक्खा है, क्योंकि यह इसकी अपेक्षा सब प्रकारसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। बिना चेतनके संयोगके इस जगत्‌का उत्पन्न, विकास और धारित होना सम्भव नहीं है। इसीलिये ऐसा कहा गया है।

सम्बन्ध—परा और अपरा प्रकृतियोंका स्वरूप बतलाकर अब भगवान् यह बतलाते हैं कि ये दोनों प्रकृतियाँ ही चराचर सम्पूर्ण भूतोंका कारण हैं और मैं इन दोनों प्रकृतियोंसहित समस्त जगत्‌का महाकारण हूँ—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्‌का मूलकारण हूँ ॥ ६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद किसका वाचक है? तथा अपरा और परा—ये दोनों प्रकृतियाँ उसकी योनि कैसे हैं?

उत्तर—स्थावर और जङ्गम यानी अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, यहाँ 'भूतानि' पद उन सबका वाचक है। समस्त सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' (जड) और 'परा' (चेतन) प्रकृतियोंके संयोगसे ही होती है। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों

प्रश्न—यहाँ 'मनुष्य' शब्दके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'मनुष्य' शब्दके प्रयोगसे एक तो यह भाव है कि मनुष्ययोनि बड़ी ही दुर्लभ है, भगवान्‌की बड़ी भारी कृपासे इसकी प्राप्ति होती है; क्योंकि इसमें सभीको भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। जाति, वर्ण, आश्रम और देशकी विभिन्नताका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। इसके सिवा एक भाव यह भी है कि मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं, उनमें नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है; अतएव उनमें प्राणी भगवत्प्राप्तिके लिये साधन नहीं कर सकता। पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियोंमें तो साधन करनेकी शक्ति और योग्यता ही नहीं है। देवादि योनियोंमें शक्ति होनेपर भी वे भोगोंकी अधिकता और खास करके अधिकार न होनेसे साधन नहीं कर पाते। तिर्यक् या देवादि योनियोंमें किसीको यदि परमात्माका ज्ञान हो जाता है तो उसमें भगवान्‌की या महापुरुषोंकी विशेष दयाका ही प्रभाव और महत्त्व समझना चाहिये।

प्रश्न—हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई विरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है।

प्रश्न—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले मनुष्योंमें कोई एक ही भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है, इसका क्या कारण है ? सभी क्यों नहीं जानते ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि पूर्वसंस्कार, श्रद्धा, प्रीति सत्सङ्ग और चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और सङ्गदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्‌का साक्षात्कार कर पाते हैं।

प्रश्न—यत्न करनेवालोंके साथ 'सिद्ध' विशेषण किस अभिप्रायसे दिया गया है ?

उत्तर—इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि भोगोंमें पड़े हुए विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षासे परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिके लिये जो प्रयत्न करता है वह भी सिद्ध ही है।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने अपने समग्र स्वरूपके ज्ञान-विज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा और उसकी प्रशंसा की, अब ज्ञान-विज्ञानके प्रकरणका आरम्भ करते हुए पहले अपनी 'अपरा' और 'परा' प्रकृतियोंका स्वरूप बतलाते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान॥ ४-५॥

प्रश्न—यहाँ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे क्या समझना चाहिये?

उत्तर—स्थूल भूतोंके और शब्दादि पाँचों विषयोंके कारणरूप जो सूक्ष्म पञ्च महाभूत हैं, सांख्य और योगशास्त्रमें जिन्हें पञ्चतन्मात्रा कहा है, उन्हीं पाँचोंका यहाँ 'पृथिवी' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

प्रश्न—यहाँ मन, बुद्धि और अहंकारसे क्या लेना चाहिये?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहंकार—तीनों अन्तःकरणके ही भेद हैं; अतएव इनसे 'समष्टि अन्तःकरण' समझना चाहिये।

प्रश्न—तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अव्यक्त प्रकृतिके कार्य (भेद) तेईस बतलाये गये हैं, उसके अनुसार प्रकृतिको तेईस भेदोंमें विभक्त कहना चाहिये था; फिर यहाँ उसे केवल आठ भेदोंमें विभक्त कैसे कहा?

उत्तर—शब्दादि पाँच विषय सूक्ष्म पञ्च महाभूतोंके और दस इन्द्रियाँ अन्तःकरणके कार्य हैं। इसलिये उन पंद्रह भेदोंका इन आठ भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। उस प्रकार उसे तेईस भेदोंमें और इस प्रकार आठ भेदोंमें विभक्त कहना एक ही बात है।

प्रश्न—इस प्रकृतिका नाम 'अपरा' किसलिये रक्खा गया है?

उत्तर—तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा' है।

प्रश्न—जीवरूप चेतन तत्त्व तो पुँल्लिङ्ग है, यहाँ 'प्रकृति' नामसे कहकर उसे स्त्रीलिङ्ग क्यों बतलाया गया?

उत्तर—जीवात्मामें वस्तुतः स्त्री, पुरुष या नपुंसकका भेद नहीं है—इसी बातको दिखलानेके लिये उस एक ही चेतन तत्त्वको कहीं पुँल्लिङ्ग 'पुरुष' (१५।१६) और 'क्षेत्रज्ञ' (१३।१) तथा कहीं नपुंसक 'अध्यात्म' (७।२९, ८।३) कहा गया है। उसीको यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'परा प्रकृति' कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'जगत्' शब्द किसका वाचक है? और यह जीवरूपा परा प्रकृतिके द्वारा धारण किया जाता है, ऐसा क्यों कहा गया?

उत्तर—समस्त जीवोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्य-वस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगद्रूप जड तत्त्व चेतन तत्त्वसे व्याप्त है अतः उसीने इसे धारण कर रखा है, क्योंकि वह इसकी अपेक्षा सब प्रकारसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। बिना चेतनके संयोगके इस जगत्का उत्पन्न, विकसित और धारित होना सम्भव नहीं है। इसीलिये ऐसा कहा गया है।

सम्बन्ध—परा और अपरा प्रकृतियोंका स्वरूप बतलाकर अब भगवान् यह बतलाते हैं कि ये दोनों प्रकृतियाँ ही चराचर सम्पूर्ण भूतोंका कारण हैं और मैं इन दोनों प्रकृतियोंसहित समस्त जगत्का महाकारण हूँ—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ॥ ६॥

प्रश्न—यहाँ 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद किसका वाचक है? तथा अपरा और परा—ये दोनों प्रकृतियाँ उसकी योनि कैसे हैं?

उत्तर—स्थावर और जङ्गम यानी अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े शरीरधारी प्राणी हैं, यहाँ 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद [illegible]

कारण हैं। यही बात तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

प्रश्न—'सम्पूर्ण जगत्' किसका वाचक है? तथा भगवान्‌ने जो अपनेको उसका प्रभव और प्रलय बतलाया है, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस जड-चेतन और चराचर समस्त विश्वका वाचक 'जगत्' शब्द है; इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भगवान्‌से ही और भगवान्‌में ही होते हैं। जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न होता है, भगवान्‌में ही स्थित है और भगवान्‌में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं। इसी बातको नवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भी स्पष्ट किया गया है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि भगवान् आकाशकी भाँति जड या विकारी नहीं हैं। दृष्टान्त तो केवल समझानेके लिये हुआ करते हैं। वस्तुतः भगवान्‌का इस जगत्‌के रूपमें प्रकट होना उनकी लीलामात्र है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् ही समस्त विश्वके परम कारण और परमाधार हैं, तब स्वभावतः ही यह भगवान्‌का स्वरूप है और उन्हींसे व्याप्त है। अब इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

हे धनञ्जय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ॥ ७ ॥

प्रश्न—मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखाया गया है कि जैसे महाकाश बादलका कारण और आधार है और उसका कार्य बादल उसी महाकाशका स्वरूप है, वास्तवमें वह अपने कारणसे कुछ भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही परमात्मा इस जगत्‌के और आधार होनेसे यह जगत् भी उन्हींका स्वरूप है, उनसे भिन्न दूसरी वस्तु नहीं है। अतः परा और अपरा प्रकृति सब भूतोंकी कारण होते हुए भी सबका परम कारण परमात्मा है दूसरा कोई नहीं है।

प्रश्न—सूत्रमें सूत्रके मनियोंकी भाँति यह जगत् भगवान्‌में कैसे गुँथा हुआ है?

उत्तर—जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्‌में गुँथा हुआ है। मतलब यह कि भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं।

सम्बन्ध—सूत और सूतके मनियोंके दृष्टान्तसे भगवान्‌ने अपनी सर्वरूपता और सर्वव्यापकता सिद्ध की। अब भगवान् अगले चार श्लोकोंद्वारा इसीको भलीभाँति स्पष्ट करनेके लिये उन प्रधान-प्रधान सभी वस्तुओंके नाम लेते हैं, जिनसे इस विश्वकी स्थिति है; और साररूपसे उन सभीको अपनेसे ही ओतप्रोत बतलाते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ ॥ ८ ॥

प्रश्न–इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये?

उत्तर–जो तत्त्व जिसका आधार है और जिसमें व्याप्त है वही उसका जीवन और स्वरूप है तथा उसीको उसका सार कहते हैं। इसीके अनुसार भगवान् कहते हैं–हे अर्जुन! जलका सार रस-तत्त्व मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्यका सार प्रकाश-तत्त्व मैं हूँ, समस्त वेदोंका सार प्रणव-तत्त्व 'ॐ' मैं हूँ, आकाशका सार शब्द-तत्त्व मैं हूँ और पुरुषोंका सार पौरुष-तत्त्व भी मैं हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

मैं पृथ्वीमें पवित्र गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ ९

प्रश्न–इस श्लोकका तात्पर्य क्या है?

उत्तर–पिछले श्लोकके अनुसार ही यहाँ भी भगवान् प्रत्येक वस्तुमें साररूपसे अपनी व्यापकता और आधारत्व दिखलाते हुए कहते हैं कि पृथ्वीका सार गन्ध-तत्त्व, अग्निका सार तेज-तत्त्व, समस्त भूतोंका सार जीवन-तत्त्व और तपस्वियोंका सार तप-तत्त्व भी मैं ही हूँ।

प्रश्न–यहाँ 'गन्धः' के साथ 'पुण्यः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–इससे यह बात दिखलायी गयी है कि यहाँ 'गन्ध' शब्दसे विषयरूप गन्धका लक्ष्य नहीं है, पृथ्वीकी कारणरूपा गन्ध तन्मात्राका लक्ष्य है। इसी प्रकार रस और शब्दमें भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न–'सर्वभूत' शब्द किसका वाचक है और 'जीवन' शब्दका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–'सर्वभूत' शब्द समस्त चराचर सजीव प्राणियोंका वाचक है और जीवन-तत्त्व उस प्राणशक्तिका नाम है जिससे समस्त सजीव प्राणी अनुप्राणित हैं तथा जिसके प्रभावसे वे निर्जीव पदार्थोंसे विलक्षणताको प्राप्त हैं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥

प्रश्न–यहाँ 'सनातन बीज' किसको कहा गया है? और भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप किस कारणसे बतलाया?

उत्तर–जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो, उसे 'सनातन' कहते हैं। भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं और इसीलिये ऐसा कहा है। नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें इसीको 'अविनाशी बीज' और दसवेंके उन्तालीसवेंमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है।

प्रश्न–बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका सञ्चालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें यह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं; यह बुद्धिशक्ति भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही अंश है, अतएव भगवान् कहते हैं कि बुद्धिमानोंका सार बुद्धि-तत्त्व मैं ही हूँ। और इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्तिविशेषका नाम तेजस् है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं। यह तेज भी भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है इसलिये भगवान्‌ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ ॥ ११ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये ?

उत्तर—जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, वह तो आसुर बल है। जिस बलका वर्णन आसुरी सम्पदामें किया गया है (१६।१८) और जिसके त्यागनेकी बात कही है (१८।५३)। इसी प्रकार धर्मविरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (३।३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (१६।२१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही उपादेय हैं। भगवान् 'भरतर्षभ' सम्बोधन देकर यह संकेत कर रहे हैं कि 'तू भरतवंशमें श्रेष्ठ है; तेरे अंदर न तो यह आसुर बल है और न वह अधर्ममूलक दूषित 'काम' ही है। तेरे अंदर तो कामना और आसक्तिसे रहित शुद्ध बल है। और धर्मसे अविरुद्ध विशुद्ध 'काम' है। बलवानोंका ऐसा शुद्ध बल-तत्त्व और भूतप्राणियोंका वह विशुद्ध काम-तत्त्व मैं ही हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें साररूपसे अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्‌ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्‌में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपनेको ही त्रिगुणमय जगत्‌का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं' ऐसा जान। परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—सात्त्विक, राजस और तामस भाव किसके वाचक हैं एवं उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना क्या है ?

उत्तर—मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' से होता है। और वह प्रकृति भगवान्‌की है, अतः भगवान्‌से भिन्न नहीं है, उन्हीं-के ईशारसंकेतसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना है।

प्रश्न—उपर्युक्त समस्त त्रिगुणमय भाव यदि भगवान्‌से ही होते हैं तो फिर वे मुझमें और मैं उनमें नहीं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका कारण और आधार आकाश है, परन्तु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे वह किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्‌में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि 'उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं।' इसका स्पष्टीकरण नवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें देखना चाहिये।

प्रश्न—मायाके साथ 'एषा', 'दैवी', 'गुणमयी' और 'दुरत्यया' विशेषण देनेका और इसे 'मम' (मेरी) कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एषा' यह पद प्रत्यक्ष वस्तुका निर्देशक है और प्रकृति कार्यरूपमें ही प्रत्यक्ष है। इससे यह समझना चाहिये कि जिस प्रकृतिका पिछले श्लोकमें त्रिगुणमय भावोंके नामसे कार्यरूपमें वर्णन किया गया है, उसीको यहाँ 'माया' नामसे बतलाया गया है। गुण और गुणोंका कार्यरूप यह सारा जड दृश्यप्रपञ्च इस मायामें ही है, इसीसे इसको 'गुणमयी' कहा गया है। यह माया बाजीगरों या दानवोंकी मायाकी तरह साधारण नहीं है, यह भगवान्‌की अपनी अनन्यसाधारण अत्यन्त विचित्र शक्ति है; इसीसे इसको 'दैवी' बतलाया गया है। और अन्तमें भगवान्‌ने इस दैवी मायाको मेरी (मम) कहकर तथा इसे दुरत्यया बताकर यह सूचित किया है कि मैं इसका स्वामी हूँ, मेरे शरण हुए बिना मनुष्य इस मायासे सहज ही पार नहीं पा सकता। इसलिये यह अत्यन्त ही दुस्तर है।

प्रश्न—जो केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्‌का या भगवान्‌के ही लिये है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममत्व और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्‌की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्‌के रचे हुए विधानमें सदा सन्तुष्ट रहकर, भगवान्‌की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्‌के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखते हैं, वे ही पुरुष निरन्तर भगवान्‌का भजन करनेवाले समझे जाते हैं। इसीका नाम अनन्य शरणागति है। इस प्रकारके शरणागत भक्त ही मायासे तरते हैं।

प्रश्न—मायासे तरना किसे कहते हैं ?

उत्तर—कार्य और कारणरूपा अपरा प्रकृतिका ही नाम माया है। मायापति परमेश्वरके शरणागत होकर उनकी कृपासे इस मायाके रहस्यको पूर्णरूपसे जानकर इसके सम्बन्धसे सर्वथा छूट जाना और मायातीत परमेश्वरको प्राप्त कर लेना ही मायासे तरना है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते ? इसपर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये ?

उत्तर—भगवान् कहते हैं कि जो जन्म-जन्मान्तरसे पाप करते आये हैं और इस जन्ममें भी जो जान-बूझकर पापोंमें ही प्रवृत्त हैं, ऐसे दुष्कृती—पापात्मालोग; तथा 'प्रकृति क्या है, पुरुष क्या है, भगवान् क्या है और भगवान्‌के साथ जीवका और जीवके साथ भगवान्‌का क्या सम्बन्ध है ? इन बातोंको जानना तो दूर रहा, जो यह भी नहीं जानते या नहीं जानना चाहते कि मनुष्य-जन्मका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है और भजन ही उसका प्रधान कर्तव्य है, ऐसे विवेकहीन मूढ मनुष्य; तथा जिनके विचार और कर्म नीच हैं—विषयासक्ति, प्रमाद तथा आलस्यकी अधिकतासे जो केवल विषयभोगोंमें जीवन नष्ट करते रहते हैं और उन्हींको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे निरन्तर निन्दित—नीच कर्मोंमें ही लगे रहते हैं, ऐसे 'नराधम' नीच व्यक्ति; तथा मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है—विपरीत भावना और अश्रद्धाकी अधिकतासे जिनका विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो गया है और इसलिये जो वेद, शास्त्र, गुरुपरम्पराके सदुपदेश,

ईश्वर, कर्मफल और पुनर्जन्ममें विश्वास न करके मिथ्या कुतर्क एवं नास्तिकवादमें ही उलझे रहकर दूसरोंका अनिष्ट करते हैं ऐसे अज्ञानी जन; और इन सब दुर्गुणोंके साथ ही जो दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुर भावोंका आश्रय लिये हुए हैं, ऐसी आसुरी प्रकृतिके मूढ़लोग मुझको कभी नहीं भजते।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें भगवान्‌ने यह बतलाया कि पापात्मा आसुरी प्रकृतिवाले मूढलोग मेरा भजन नहीं करते। इससे यह जिज्ञासा होती है कि फिर कैसे मनुष्य आपका भजन करते हैं, इसपर भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं॥ १६॥

प्रश्न—'सुकृतिनः' पदका क्या अर्थ है और यह किसका विशेषण है?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्व-संस्कारोंके बलसे, अथवा महत्सङ्गके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं—उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं। शुभकर्मोंसे भगवान्‌के प्रभाव और महत्त्वका ज्ञान होकर भगवान्‌में विश्वास बढ़ता है और विश्वास होनेपर भजन होता है। इससे यह सूचित होता है कि 'सुकृतिनः' विशेषणका सम्बन्ध चारों प्रकारके भक्तोंसे है अर्थात् भगवान्‌को विश्वासपूर्वक भजनेवाले सभी भक्त 'सुकृती' ही होते हैं, फिर चाहे वे किसी भी हेतुसे भजें।

प्रश्न—अर्थार्थी भक्तके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परन्तु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह अर्थार्थी भक्त है।

सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है।

स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके सुनीति और सुरुचि नामक दो रानियाँ थीं। सुनीतिसे ध्रुवका और सुरुचिसे उत्तमका जन्म हुआ था। राजा उत्तानपाद सुरुचिपर अधिक प्रेम करते थे। एक दिन बालक ध्रुव आकर पिताकी गोदमें बैठने लगा, तब सुरुचिने उसका तिरस्कार करके उसे उतार दिया और कहा कि 'तू अभागा है, जो तेरा जन्म सुनीतिके गर्भसे हुआ है, राजसिंहासनपर बैठना होता तो मेरे गर्भसे जन्म लेता। जा, श्रीहरिकी आराधना कर; तभी तेरा मनोरथ सफल होगा।' विमाताके भर्त्सनापूर्ण व्यवहारसे उसे बड़ा दुःख हुआ, वह रोता हुआ अपनी माँ सुनीतिके पास गया और उससे सब हाल उसने कह सुनाया। सुनीतिने कहा—'बेटा! तेरी माता सुरुचिने ठीक ही कहा है। भगवान्‌की आराधनाके बिना तेरा मनोरथ पूर्ण नहीं होगा।' माताकी बात सुनकर राज्यप्राप्तिके उद्देश्यसे बालक ध्रुव भगवान्‌का भजन करनेके लिये घरसे निकल पड़ा। रास्तेमें नारदजी मिले, उन्होंने उसे लौटानेकी चेष्टा की, राज्य दिलानेकी बात कही; परन्तु वह अपने निश्चयपर दृढ ही रहा। तब उन्होंने उसे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका और चतुर्भुज भगवान् विष्णुके ध्यानका उपदेश देकर आशीर्वाद दिया।

ध्रुव यमुनाजीके तटपर मधुवनमें जाकर तप करने लगे। उन्हें तपसे डिगानेके लिये नाना प्रकारके भय और लोभके कारण सामने आये [illegible] रहे। तब भगवान्‌ने [illegible] प्रकट होकर उन्हें दर्शन [illegible] उत्तानपाद [illegible] साथ उन्हें लिवाने [illegible] हुए मिले। राजाने [illegible]

हथिनीसे उतरकर उनको गले लगा लिया। तदनन्तर बड़े उत्सव तथा समारोहके साथ हथिनीपर चढ़ाकर उन्हें नगरमें लाया गया। अन्तमें राजाने ध्रुवको राज्य सौंपकर स्वयं वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया।

प्रश्न—आर्त भक्तके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—जो शारीरिक या मानसिक सन्ताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंस्र जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबड़ाकर उनसे छूटनेके लिये पूर्ण विश्वासके साथ हृदयकी अड़िग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह आर्त भक्त है।

आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासन्धके बन्दी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परन्तु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है।

द्रौपदी राजा द्रुपदकी पुत्री थीं; ये यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई थीं। इनके शरीरका रंग बड़ा ही सुन्दर श्यामवर्ण था, इससे इन्हें 'कृष्णा' कहते थे। द्रौपदी अनन्त गुणवती, बड़ी पतिव्रता, आदर्श गृहिणी और भगवान्‌की सच्ची भक्त थीं। द्रौपदी श्रीकृष्णको पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमेश्वर समझती थीं और भगवान् भी उनके सामने अपनी अन्तरङ्ग लीलाओंको भी छिपाकर नहीं रखते थे। जिस वृन्दावनके पवित्र गोपी-प्रेमकी दिव्य बातें गोप-रमणियोंके पति-पुत्रोंतकको मालूम नहीं थीं, उन लीलाओंका भी द्रौपदीको पता था; इसीलिये चीर-हरणके समय द्रौपदीने भगवान्‌को 'गोपीजन-प्रिय' कहकर पुकारा था।

जब दुष्ट दुःशासन दुर्योधनकी आज्ञासे एकवस्त्रा द्रौपदीको सभामें लाकर बलपूर्वक उनकी साड़ी खींचने लगा और किसीसे भी रक्षा पानेका कोई भी लक्षण न देख द्रौपदीने अपनेको सर्वथा असहाय समझकर अपने परम सहायक, परम बन्धु परमात्मा श्रीकृष्णका स्मरण किया। उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि मेरे स्मरण करते ही भगवान् अवश्य आवेंगे, मेरी कातर पुकार सुननेपर उनसे कभी नहीं रहा जायगा। द्रौपदीने भगवान्‌का स्मरण करके कहा—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
(महा० सभा० ६७)

'हे गोविन्द! हे द्वारिकावासिन्! हे श्रीकृष्ण! हे गोपीजनप्रिय! हे केशव! क्या तुम नहीं जान रहे हो कि कौरव मेरा तिरस्कार कर रहे हैं? हे नाथ! हे लक्ष्मीनाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशन! हे जनार्दन! कौरव-समुद्रमें डूबती हुई मुझको बचाओ! हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन्! हे विश्वभावन! हे गोविन्द! कौरवोंके हाथोंमें पड़ी हुई मुझ शरणागत दुःखिनीकी रक्षा करो।'

तब द्रौपदीकी पुकार सुनते ही जगदीश्वर भगवान्‌का हृदय द्रवीभूत हो गया और वे—

त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्।

'कृपालु भगवान् कृपापरवश हो शय्या छोड़कर पैदल ही दौड़ पड़े।' कौरवोंकी दानवी सभामें भगवान्‌का वस्त्रावतार हो गया! द्रौपदीके एक वस्त्रसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा—इस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगोंके वस्त्र निकलने लगे, वस्त्रोंका वहाँ ढेर लग गया। ठीक समयपर प्रिय बन्धुने पहुँचकर अपनी द्रौपदीकी लाज बचा ली, दुःशासन थककर जमीनपर बैठ गया।

प्रश्न—जिज्ञासु भक्तके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकनिष्ठ होकर भगवान्‌की भक्ति करता है (१४।२६), उस कल्याणकामी भक्तको जिज्ञासु कहते हैं।

जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकोंके नाम हैं, परन्तु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें अध्याय सातसे तीसतक भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको बड़ा ही दिव्यज्ञानका उपदेश दिया है, जो उद्धव-गीताके नामसे प्रसिद्ध है।

प्रश्न—ज्ञानी भक्तके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं; तथा ऐसी स्थितिमें जो सहज भावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे ज्ञानी हैं (१२।१३-१९)। नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें तथा दशवें अध्यायके तीसरे और पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिनका वर्णन है वे निष्काम अनन्य प्रेमी साधकभक्त भी ज्ञानी भक्तोंके अन्तर्गत हैं।

ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं। बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं, जिनको माताके गर्भमें ही देवर्षि नारदजीके द्वारा उपदेश प्राप्त हो गया था। ये दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पुत्र थे। हिरण्यकशिपु भगवान्‌से द्वेष रखता था और ये भगवान्‌के भक्त थे। इससे हिरण्यकशिपुने इन्हें बहुत ही सताया, साँपोंसे डँसाया, हाथियोंसे कुचलवाया, मकानसे गिरवाया, समुद्रमें फेंकवाया, आगमें डलवाया और गुरुओंने उन्हें मारनेकी चेष्टा की; परन्तु भगवान् इन्हें बचाते गये। इनके लिये भगवान्‌ने श्रीनृसिंहदेवके रूपमें प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका वध किया। किसी भी भयसे न डरना तो प्रह्लादकी ज्ञानस्थितिका सूचक है ही; पर गुरुगृहमें इन्होंने बालकपनमें ही अपने सहपाठियोंको जो दिव्य उपदेश दिया है, उससे भी इनका ज्ञानी होना सिद्ध हो जाता है। भागवत और विष्णुपुराणमें इनकी सुन्दर कथा पढ़नी चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'च' का प्रयोग करके क्या सूचित किया गया है?

उत्तर—'च' का प्रयोग करके भगवान्‌ने अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्तोंकी अपेक्षा ज्ञानीकी विलक्षणता और श्रेष्ठता सूचित की है। सत्रहवें, अठारहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें जो ज्ञानीकी महिमा कही गयी है, उसीका संकेत 'च' के द्वारा यहाँ सूत्ररूपमें किया गया है।

प्रश्न—चार प्रकारके भक्तोंमें एककी अपेक्षा दूसरे उत्तम कौन हैं और क्यों हैं?

उत्तर—भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके किसी भी प्रकारसे भगवान्‌का भजन करनेवाले सभी उत्तम हैं। इसीलिये भगवान्‌ने चारोंको ही इस श्लोकमें 'सुकृती' और अठारहवें श्लोकमें 'उदार' कहा है। परन्तु यहाँके वर्णनके अनुसार अपेक्षाकृत तारतम्यसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि 'अर्थार्थी' की अपेक्षा 'आर्त' उत्तम है, 'आर्त' की अपेक्षा 'जिज्ञासु' और 'जिज्ञासु' की अपेक्षा 'ज्ञानी' उत्तम है। क्योंकि 'अर्थार्थी' सांसारिक भोगोंको सुखमें हेतु समझकर उनकी कामनासे भगवान्‌को भजते हैं; वे भगवान्‌के प्रभावको पूर्णतया नहीं जानते, इसीसे भगवान्‌में उनका पूर्ण प्रेम नहीं होता और इसीसे वे भोगोंकी आकांक्षा करते हैं। आर्त भक्त सुखभोगके लिये तो भगवान्‌से कभी कुछ नहीं माँगते। इससे यद्यपि यह सिद्ध है कि अर्थार्थीकी अपेक्षा उनका भगवान्‌में अधिक प्रेम है तथापि उनका प्रेम शरीर-सुख और मान-बड़ाई आदिमें कुछ बँटा हुआ अवश्य है; इसीसे वे घोर संकट पड़नेपर या अपमानित होनेपर उससे बचनेके लिये भगवान्‌को पुकारते हैं। जिज्ञासु भक्त न भोग-सुख चाहते हैं और न लौकिक विपत्तियोंसे घबड़ाते हैं, वे केवल भगवान्‌के तत्त्वको ही जानना चाहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि सांसारिक भोगोंमें तो वे आसक्त नहीं हैं, परन्तु मुक्तिकी कामना उनमें भी बनी ही हुई है; अतएव उनका प्रेम भी 'अर्थार्थी' और 'आर्त' की अपेक्षा विलक्षण और अधिक होनेपर भी 'ज्ञानी' की अपेक्षा न्यून ही है। परन्तु 'समग्र भगवान्' के स्वरूपतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्त तो बिना किसी अपेक्षाके स्वाभाविक ही भगवान्‌को निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर भजते हैं, अतएव वे सर्वोत्तम हैं।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको भगवान्‌ने 'भरतर्षभ' नामसे सम्बोधित किया है, इसमें क्या हेतु है?

उत्तर—अर्जुनको 'भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ' कहकर भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम सुकृती हो; अतः तुम तो मेरा भजन कर ही रहे हो।

सम्बन्ध—चार प्रकारके भक्तोंकी बात कहकर अब उनमें ज्ञानी भक्तके प्रेमकी प्रशंसा और अन्यान्य [illegible] उसकी श्रेष्ठताका निरूपण करते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—ज्ञानीके साथ जो 'नित्ययुक्तः' और 'एकभक्तिः' विशेषण दिये गये हैं, इनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं; और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तमें ये दोनों बातें पूर्णरूपसे होती हैं, इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनको भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व और रहस्यकी सम्यक् उपलब्धि हो चुकी है, जिनको सर्वत्र, सब समय और सब कुछ भगवत्स्वरूप ही दीखता है, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं गया है भगवान्‌को ही एकमात्र परम श्रेष्ठ और परम प्रियतम जान लेनेके कारण जिनके मन-बुद्धि सम्पूर्ण आसक्ति और आकांक्षाओंसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र भगवान्‌में ही तल्लीन हो रहे हैं—इस प्रकार अनन्य प्रेमसे जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उनको भगवान् कितने प्रिय हैं यह कौन बतला सकता है ? जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'उनके लिये मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही। क्योंकि प्रथम तो भगवान् स्वाभाविक ही स्वयं प्रेमस्वरूप हैं—* यहाँतक कि उन्हीं प्रेम-रस-समुद्रसे प्रेमकी बूँद पाकर जगत्‌में सब लोग सुखी होते हैं। दूसरे, उनकी यह घोषणा है कि 'जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' तब भगवान् उनसे अत्यन्त प्रेम करें, इसमें क्या आश्चर्य है? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले भगवत्प्राप्त प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी तथा उच्चकोटिके साधक अनन्य प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी पराकाष्ठा दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं? इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

प्रश्न—ये सभी उदार हैं इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ जिन चार प्रकारके भक्तोंका प्रसंग है, उनमें ज्ञानीके लिये तो कोई बात ही नहीं है; अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्त भी सर्वथा एकनिष्ठ हैं, उनका भगवान्‌में दृढ़

* 'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) 'वह रस ही है, यह पुरुष इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है।'

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—ज्ञानीके साथ जो 'नित्ययुक्तः' और 'एकभक्तिः' विशेषण दिये गये हैं, इनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं; और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तमें ये दोनों बातें पूर्णरूपसे होती हैं, इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनको भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व और रहस्यकी सम्यक् उपलब्धि हो चुकी है, जिनको सर्वत्र, सब समय और सब कुछ भगवत्स्वरूप ही दीखता है, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं गया है भगवान्‌को ही एकमात्र परम श्रेष्ठ और परम प्रियतम जान लेनेके कारण जिनके मन-बुद्धि सम्पूर्ण आसक्ति और आकांक्षाओंसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र भगवान्‌में ही तल्लीन हो रहे हैं—इस प्रकार अनन्य प्रेमसे जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उनको भगवान् कितने प्रिय हैं यह कौन बतला सकता है ? जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'उनके लिये मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही। क्योंकि प्रथम तो भगवान् स्वाभाविक ही स्वयं प्रेमस्वरूप हैं—* यहाँतक कि उन्हीं प्रेम-रस-समुद्रसे प्रेमकी बूँद पाकर जगत्‌में सब लोग सुखी होते हैं। दूसरे, उनकी यह घोषणा है कि 'जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' तब भगवान् उनसे अत्यन्त प्रेम करें, इसमें क्या आश्चर्य है ? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले भगवत्प्राप्त प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी तथा उच्चकोटिके साधक अनन्य प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी पराकाष्ठा दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं ? इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

प्रश्न—ये सभी उदार हैं इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ जिन चार प्रकारके भक्तोंका प्रसंग है, उनमें ज्ञानीके लिये तो कोई बात ही नहीं है; अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्त भी सर्वथा एकनिष्ठ हैं, उनका भगवान्‌में दृढ

* 'रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७) 'वह रस ही है, यह पुरुष इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है।'

और परम विश्वास है। वे इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकांक्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है। ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं। उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो। उनकी कामनाएँ सर्वथा समाप्त नहीं हो गयी हैं, परन्तु वे उनकी पूर्ति कराना चाहते हैं एकमात्र भगवान्‌से ही। जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ चाहती तो है, परन्तु चाहती है एकमात्र अपने प्रियतम पतिसे ही; न वह दूसरेकी ओर ताकती है, न विश्वास करती है और न जानती ही है। इसी प्रकार वे भक्त भी एकमात्र भगवान्‌पर ही भरोसा रखते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं। इसीलिये तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—'मेरे भक्त चाहे जैसे भी मुझे भजते हों, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' नवम अध्यायमें भी भगवान्‌की भक्तिका ऐसा ही फल बतलाया गया है (९।२५)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चारों ही प्रकारके भक्त उत्तम और भगवान्‌को प्रिय हैं। परन्तु इनमें पहले तीनोंकी अपेक्षा ज्ञानीमें जो विलक्षणता है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। भक्त है सो मैं हूँ, और मैं हूँ सो भक्त है।

प्रश्न—'युक्तात्मा' शब्दका क्या अर्थ है और उसका अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी प्रकार स्थित होना क्या है?

उत्तर—जिनके मन-बुद्धि भलीभाँति भगवान्‌में तन्मय हो गये हैं, उन्हें 'युक्तात्मा' कहते हैं। और ऐसे पुरुषका एकमात्र भगवान्‌को ही सर्वोत्तम और परम गति समझकर नित्य-निरन्तर उनमें एकीभावसे अचल स्थित हो जाना अर्थात् उनको प्राप्त हो जाना ही अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी तरह स्थित होना है।

सम्बन्ध—अब उस ज्ञानी भक्तकी दुर्लभता बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'बहूनां जन्मनामन्ते' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है। क्योंकि भगवान्‌को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

प्रश्न—यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि बहुत जन्मोंतक सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करते-करते उसके बाद मनुष्य भगवान्‌का ऐकान्तिक ज्ञानी भक्त होता है, तो क्या हानि है?

उत्तर—ऐसा मान लेनेसे भगवान्‌के अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्तोंके बहुत-से जन्म अनिवार्य हो जाते हैं। परन्तु भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपने सभी प्रकारके भक्तोंको अपनी प्राप्तिका होना बतलाया है (७।२३; ९।२५) और वहाँ कहीं भी बहुत जन्मोंकी शर्त नहीं डाली है। अवश्य ही श्रद्धा और प्रेमकी कमीसे शिथिल साधन होनेपर अनेक जन्म भी हो सकते हैं, परन्तु यदि श्रद्धा और प्रेमकी मात्रा बढ़ी हुई हो और साधनमें तीव्रता हो तो एक ही जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसमें कालका नियम नहीं है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—ज्ञानीके साथ जो 'नित्ययुक्तः' और 'एकभक्तिः' विशेषण दिये गये हैं, इनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं; और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तमें ये दोनों बातें पूर्णरूपसे होती हैं, इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनको भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व और रहस्यकी सम्यक् उपलब्धि हो चुकी है, जिनको सर्वत्र, सब समय और सब कुछ भगवत्स्वरूप ही दीखता है, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं गया है भगवान्‌को ही एकमात्र परम श्रेष्ठ और परम प्रियतम जान लेनेके कारण जिनके मन-बुद्धि सम्पूर्ण आसक्ति और आकांक्षाओंसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र भगवान्‌में ही तल्लीन हो रहे हैं—इस प्रकार अनन्य प्रेमसे जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उनको भगवान् कितने प्रिय हैं यह कौन बतला सकता है ? जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'उनके लिये मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही। क्योंकि प्रथम तो भगवान् स्वाभाविक ही स्वयं प्रेमस्वरूप हैं—* यहाँतक कि उन्हीं प्रेम-रस-समुद्रसे प्रेमकी बूँद पाकर जगत्‌में सब लोग सुखी होते हैं। दूसरे, उनकी यह घोषणा है कि 'जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' तब भगवान् उनसे अत्यन्त प्रेम करें, इसमें क्या आश्चर्य है ? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले भगवत्प्राप्त प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी तथा उच्चकोटिके साधक अनन्य प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी पराकाष्ठा दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं ? इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

प्रश्न—ये सभी उदार हैं इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ जिन चार प्रकारके भक्तोंका प्रसंग है, उनमें ज्ञानीके लिये तो कोई बात ही नहीं है; अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्त भी सर्वथा एकनिष्ठ हैं, उनका भगवान्‌में दृढ

* 'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७) 'वह रस ही है, यह पुरुष इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है।'

और परम विश्वास है। वे इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकांक्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है। ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं। उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो। उनकी कामनाएँ सर्वथा समाप्त नहीं हो गयी हैं, परन्तु वे उनकी पूर्ति कराना चाहते हैं एकमात्र भगवान्‌से ही। जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ चाहती तो है, परन्तु चाहती है एकमात्र अपने प्रियतम पतिसे ही; न वह दूसरेकी ओर ताकती है, न विश्वास करती है और न जानती ही है। इसी प्रकार वे भक्त भी एकमात्र भगवान्‌पर ही भरोसा रखते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं। इसीलिये तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—'मेरे भक्त चाहे जैसे भी मुझे भजते हों, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' नवम अध्यायमें भी भगवान्‌की भक्तिका ऐसा ही फल बतलाया गया है (९।२५)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—चारों ही प्रकारके भक्त उत्तम और भगवान्‌को प्रिय हैं। परन्तु इनमें पहले तीनोंकी अपेक्षा ज्ञानीमें जो विलक्षणता है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। भक्त हैं सो मैं हूँ, और मैं हूँ सो भक्त है।

प्रश्न—'युक्तात्मा' शब्दका क्या अर्थ है और उसका अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी प्रकार स्थित होना क्या है ?

उत्तर—जिनके मन-बुद्धि भलीभाँति भगवान्‌में तन्मय हो गये हैं, उन्हें 'युक्तात्मा' कहते हैं। और ऐसे पुरुषका एकमात्र भगवान्‌को ही सर्वोत्तम और परम गति समझकर नित्य-निरन्तर उनमें एकीभावसे अचल स्थित हो जाना अर्थात् उनको प्राप्त हो जाना ही अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी तरह स्थित होना है।

सम्बन्ध—अब उस ज्ञानी भक्तकी दुर्लभता बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'बहूनां जन्मनामन्ते' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है। क्योंकि भगवान्‌को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

प्रश्न—यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि बहुत जन्मोंतक सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करते-करते उसके बाद मनुष्य भगवान्‌का ऐकान्तिक ज्ञानी भक्त होता है, तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा मान लेनेसे भगवान्‌के अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्तोंके बहुत-से जन्म अनिवार्य हो जाते हैं। परन्तु भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपने सभी प्रकारके भक्तोंको अपनी प्राप्तिका होना बतलाया है (७।२३; ९।२५) और वहाँ कहीं भी बहुत जन्मोंकी शर्त नहीं डाली है। अवश्य ही श्रद्धा और प्रेमकी कमीसे शिथिल साधन होनेपर अनेक जन्म भी हो सकते हैं, परन्तु यदि श्रद्धा और प्रेमकी मात्रा बढ़ी हुई हो और साधनमें तीव्रता हो तो एक ही जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसमें कालका नियम नहीं है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—ज्ञानीके साथ जो 'नित्ययुक्तः' और 'एकभक्तिः' विशेषण दिये गये हैं, इनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं; और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तमें ये दोनों बातें पूर्णरूपसे होती हैं, इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनको भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व और रहस्यकी सम्यक् उपलब्धि हो चुकी है, जिनको सर्वत्र, सब समय और सब कुछ भगवत्स्वरूप ही दीखता है, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं गया है भगवान्‌को ही एकमात्र परम श्रेष्ठ और परम प्रियतम जान लेनेके कारण जिनके मन-बुद्धि सम्पूर्ण आसक्ति और आकांक्षाओंसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र भगवान्‌में ही तल्लीन हो रहे हैं—इस प्रकार अनन्य प्रेमसे जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उनको भगवान् कितने प्रिय हैं यह कौन बतला सकता है ? जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'उनके लिये मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही। क्योंकि प्रथम तो भगवान् स्वाभाविक ही स्वयं प्रेमस्वरूप हैं—* यहाँतक कि उन्हीं प्रेम-रस-समुद्रसे प्रेमकी बूँद पाकर जगत्‌में सब लोग सुखी होते हैं। दूसरे, उनकी यह घोषणा है कि 'जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' तब भगवान् उनसे अत्यन्त प्रेम करें, इसमें क्या आश्चर्य है ? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले भगवत्प्राप्त प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी तथा उच्चकोटिके साधक अनन्य प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी पराकाष्ठा दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं ? इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

प्रश्न—ये सभी उदार हैं इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ जिन चार प्रकारके भक्तोंका प्रसंग है, उनमें ज्ञानीके लिये तो कोई बात ही नहीं है; अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्त भी सर्वथा एकनिष्ठ हैं, उनका भगवान्‌में दृढ

* 'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) 'वह रस ही है, यह पुरुष इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है।'

और परम विश्वास है। वे इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकांक्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है। ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं। उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो। उनकी कामनाएँ सर्वथा समाप्त नहीं हो गयी हैं, परन्तु वे उनकी पूर्ति कराना चाहते हैं एकमात्र भगवान्‌से ही! जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ चाहती तो है, परन्तु चाहती है एकमात्र अपने प्रियतम पतिसे ही; न वह दूसरेकी ओर ताकती है, न विश्वास करती है और न जानती ही है। इसी प्रकार वे भक्त भी एकमात्र भगवान्‌पर ही भरोसा रखते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं। इसीलिये तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—'मेरे भक्त चाहे जैसे भी मुझे भजते हों, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' नवम अध्यायमें भी भगवान्‌की भक्तिका ऐसा ही फल बतलाया गया है (९। २५)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चारों ही प्रकारके भक्त उत्तम और भगवान्‌को प्रिय हैं। परन्तु इनमें पहले तीनोंकी अपेक्षा ज्ञानीमें जो विलक्षणता है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। भक्त है सो मैं हूँ, और मैं हूँ सो भक्त है।

प्रश्न—'युक्तात्मा' शब्दका क्या अर्थ है और उसका अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी प्रकार स्थित होना क्या है?

उत्तर—जिनके मन-बुद्धि भलीभाँति भगवान्‌में तन्मय हो गये हैं, उन्हें 'युक्तात्मा' कहते हैं। और ऐसे पुरुषका एकमात्र भगवान्‌को ही सर्वोत्तम और परम गति समझकर नित्य-निरन्तर उनमें एकीभावसे अचल स्थित हो जाना अर्थात् उनको प्राप्त हो जाना ही अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी तरह स्थित होना है।

सम्बन्ध—अब उस ज्ञानी भक्तकी दुर्लभता बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥ १९॥

प्रश्न—यहाँ 'बहूनां जन्मनामन्ते' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है। क्योंकि भगवान्‌को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

प्रश्न—यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि बहुत जन्मोंतक सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करते-करते उसके बाद मनुष्य भगवान्‌का ऐकान्तिक ज्ञानी भक्त होता है, तो क्या हानि है?

उत्तर—ऐसा मान लेनेसे भगवान्‌के अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्तोंके बहुत-से जन्म अनिवार्य हो जाते हैं। परन्तु भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपने सभी प्रकारके भक्तोंको अपनी प्राप्तिका होना बतलाया है (७। २३; ९। २५) और वहाँ कहीं भी बहुत जन्मोंकी शर्त नहीं डाली है। अवश्य ही श्रद्धा और प्रेमकी कमीसे शिथिल साधन होनेपर अनेक जन्म भी हो सकते हैं, परन्तु यदि श्रद्धा और प्रेमकी मात्रा बढ़ी हुई हो और साधनमें तीव्रता हो तो एक ही जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसमें कालका नियम नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग किसके लिये हुआ है ?

उत्तर—भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञान-सहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार भगवान्‌का भजन करना क्या है ?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना—यही सब कुछ वासुदेव है, इस प्रकारसे भगवान्‌का भजन करना है।

प्रश्न—वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसका यह अभिप्राय है कि जगत्‌में प्रथम तो लोगोंकी भजनकी ओर रुचि ही नहीं होती, हजारोंमें किसीकी कुछ होती है तो वह अपने स्वभावके वश शिथिलप्रयत्न होकर भजन छोड़ बैठता है। कोई यदि कुछ विशेष प्रयत्न करता भी है तो वह श्रद्धा-भक्तिकी कमीके कारण कामनाओंके प्रवाहमें उसको बहाता रहता है, इस कारण वह भी भगवान्‌को तत्त्व-से जान ही नहीं पाता। इससे यह सिद्ध है कि जगत्‌में भगवान्‌को तत्त्वसे जाननेवाले महापुरुष कोई विरले ही होते हैं। अतएव यही समझना चाहिये कि इस प्रकारके महात्मा अत्यन्त ही दुर्लभ हैं।

ऐसे महात्मा यदि किसीको प्राप्त हो जायँ तो उसका बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिये। देवर्षि नारदजीने कहा है—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

(भक्तिसूत्र ३९)

'महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

सम्बन्ध—पंद्रहवें श्लोकमें आसुरी प्रकृतिके दुष्कृती लोगोंके भगवान्‌को न भजनेकी और सोलहवेंसे उन्नीसवेंतक सुकृती पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌को भजनेकी बात कही गयी। अब भगवान् उनकी बात कहते हैं जो सुकृती होनेपर भी कामनाके वश अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं॥ २०॥

प्रश्न—यहाँ 'उन' शब्दका दो बार प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ? और कामनाद्वारा ज्ञानका हरा जाना क्या है ?

उत्तर—'उन' शब्दका दो बार प्रयोग करके यही दिखलाया गया है कि इस प्रकार सबकी कामना एक-सी नहीं होती। उन भोगकामनाओंके मोहसे मनुष्यमें यह विवेक नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ' मेरा क्या कर्तव्य है, ईश्वर और जीवका क्या सम्बन्ध है, मनुष्यजन्मकी प्राप्ति किसलिये हुई है, अन्य शरीरोंसे इसमें क्या विशेषता है और भोगोंमें न भूलकर भजन करनेमें ही अपना कल्याण है।' इस प्रकार इस विवेकशक्तिका विमोहित हो जाना ही कामनाके द्वारा ज्ञानका हरा जाना है।

प्रश्न—पंद्रहवें श्लोकमें जिनको 'माययापहृतज्ञानाः' कहा गया है, उनमें और यहाँ जिनको 'तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः' कहा है, उनमें क्या भेद है ?

उत्तर—पंद्रहवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने पापात्मा, मूढ़, नराधम और आसुर स्वभाववाले बतलाया है; वे आसुरी प्रकृतिवाले होनेके कारण तमःप्रधान हैं और नरकके भागी हैं (१६।१६, १९)। तथा यहाँ भिन्न-भिन्न कामनाओंसे जिनका ज्ञान हरा गया बतलाया है, वे देवताओं-

की पूजा करनेवाले भक्त श्रद्धालु एवं देवलोकके भागी (७ । २३, ९ । २५), रजोमिश्रित सात्त्विक माने गये हैं; अतः दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है ।

प्रश्न—'अपना स्वभाव' किसका वाचक है और 'उससे प्रेरित होना' क्या है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका सञ्चय होता है और उस संस्कारसमूहसे जो प्रकृति बनती है उसे 'स्वभाव' कहा जाता है । स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है । उस स्वभावके अनुसार जो अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करनेकी भिन्न-भिन्न इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं ।

प्रश्न—उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंका भजना क्या है ?

उत्तर—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्‌से भिन्न समझकर जिस देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जो-जो भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना है । कामना और इष्टदेवकी भिन्नताके अनुसार पूजादिके नियमोंमें भेद होता है, इसीलिये 'उस' शब्दका प्रयोग दो बार किया गया है ।

साथ ही एक बात और भी है—भगवान्‌से अलग मानकर उनकी पूजा करनेसे ही वह अन्य देवताकी पूजा होती है । यदि देवताओंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर, भगवान्‌की आज्ञानुसार निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ उनकी पूजा की जाय तो वह अन्य देवताओंकी न होकर भगवान्‌की ही पूजा हो जाती है और उसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही होता है ।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें देवोपासकोंको उनकी उपासनाका फल कैसे और क्या फल मिलता है, इसका वर्णन करते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

प्रश्न—'भक्तः' पदके साथ 'यः' का और 'तनुम्' के साथ 'याम्' का दुबारा प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'यः' का दो बार प्रयोग करके भक्तोंकी और 'याम्' का दो बार प्रयोग करके देवताओंकी अनेकता दिखलायी है । अभिप्राय यह है कि सकाम भक्त भी बहुत प्रकारके होते हैं और उनकी अपनी-अपनी कामना और प्रकृतिके भेदसे उनके इष्ट देवता भी पृथक्-पृथक् ही होते हैं ।

प्रश्न—देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है—इसका क्या भाव है ?

उत्तर—देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धापूर्वक जिस देवताकी जैसी मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी विधिपूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जपपूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यहाँ 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है ।

प्रश्न—'ताम्' इस पदका 'श्रद्धाम्' के साथ सम्बन्ध न

करके उसे 'तनुम्' (देवताके स्वरूप) का बोधक क्यों माना गया ?

उत्तर—पूर्वार्धमें जिन 'यां याम्' पदोंका 'तनुम्' (देवताके स्वरूप) से सम्बन्ध है उन्हींके साथ एकान्वय करनेके लिये 'ताम्' को भी 'तनुम्' का ही बोधक मानना उचित जान पड़ता है। श्रद्धाके साथ उसका सम्बन्ध माननेपर भी भावमें कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वैसा माननेसे भी उस श्रद्धाको देवताविषयक मानना पड़ेगा ।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एव' का प्रयोगकरके भगवान् यह बात दिखलाते हैं कि जो भक्त जिस देवताका पूजन करना चाहता है उसकी श्रद्धाको मैं उसी इष्ट देवताके प्रति स्थिर कर देता हूँ ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि मेरी स्थापित की हुई उस श्रद्धासे युक्त होकर वह यथाविधि उस देवताका पूजन करता है, तब उस उपासनाके फलस्वरूप उक्त देवताके द्वारा उसे वही इच्छित भोग मिलते हैं जो मेरे द्वारा पहलेसे ही निर्धारित होते हैं। मेरे विधानसे अधिक या कम भोग प्रदान करनेकी सामर्थ्य देवताओंमें नहीं है । अभिप्राय यह है कि देवताओंकी कुछ वैसी ही स्थिति समझनी चाहिये जो किसी बड़े राज्यमें कानूनके अनुसार कार्य करनेवाले विभिन्न विभागोंके सरकारी अफसरोंकी होती है। वे किसीको उसके कार्यके बदलेमें कुछ देना चाहते हैं तो उतना ही दे सकते हैं जितना कानूनके अनुसार उसके कार्यके लिये उसको मिलनेका विधान है और जितना देनेका उन्हें अधिकार है ।

प्रश्न—इस श्लोकमें 'हितान्' पदको 'कामान्' का विशेषण मानकर यदि यह अर्थ किया जाय कि वे 'हितकर' भोगोंको देते हैं तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'काम' शब्दवाच्य भोगपदार्थ किसीके लिये यथार्थमें हितकर होते ही नहीं ।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त अन्य देवताओंकी उपासनाके फलको विनाशी बतलाकर भगवदुपासनाके फलकी महत्ताका प्रतिपादन करते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे [illegible] अन्तमें वे मुझको [illegible] हैं ॥ २३ ॥

प्रश्न—पंद्रहवें श्लोकमें जिनको मूढ क[illegible] और इन देवताओंकी उपासना करने[illegible] मनुष्योंमें क्या अन्तर है ? और इ[illegible] कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्की [illegible] पापाचरण [illegible] वाले नराधमोंको आसुर स्वभा[illegible] मूढ बत[illegible] ये पापाचरणसे रहित [illegible] विधिसे देवत[illegible] लोगोंकी अपेक्ष[illegible] या मूढ भी [illegible] देवताओंक[illegible] उप[illegible] और [illegible] करनेवाले होनेके कारण उन [illegible] आसुर भावको [illegible] तथा [illegible] के व[illegible]

देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त पूजाओंको और आहुतियोंको ग्रहण करते हैं तथा भगवान् ही सबके एकमात्र परम अधीश्वर हैं (५।२९; ९।२४)। इस बुद्धिकी अल्पताके कारण ही इतने महान् परिश्रमसे किये जानेवाले यज्ञादि विशाल कर्मोंका इन्हें बहुत ही क्षुद्र और विनाशी फल मिलता है। यदि ये बुद्धिमान् होते तो भगवान्के प्रभावको समझकर भगवान्की उपासनाके लिये ही इतना परिश्रम करते, अथवा समस्त देवताओंको भगवान्से अभिन्न समझकर भगवत्प्रीतिके लिये उनकी उपासना करते तो, इतने ही परिश्रमसे, ये उस महान् और दुर्लभ फलको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते। यही भाव दिखलानेके लिये इन्हें अल्पबुद्धि कहा गया है।

प्रश्न—देवताओंको प्राप्त होना क्या है ? क्या देवताओंका पूजन करनेवाले सभी भक्त उनको प्राप्त होते हैं ? और देवोपासनाके फलको अन्तवत् क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—जिन देवताओंकी उपासना की जाती है, उन देवताओंके लोकमें पहुँचकर देवताओंके सामीप्य, सारूप्य तथा वहाँके भोगोंको पा लेना ही देवताओंको प्राप्त होना है। देवोपासनाका बड़े-से-बड़ा फल यही है, परन्तु सभी देवोपासकोंको यह फल भी नहीं मिलता। बहुत-से लोग तो—जो स्त्री, पुत्र, धन और मान-प्रतिष्ठा आदि तुच्छ और क्षणिक भोगोंके लिये उपासना करते हैं—अपनी-अपनी कामनाके अनुसार उन भोगोंको पाकर ही रह जाते हैं। कुछ, जो देवतामें विशेष श्रद्धा बढ़ जानेसे भोगोंकी अपेक्षा देवतामें अधिक प्रीति करके उपासना करते हैं तथा मरणकालमें जिन्हें उन देवताओंकी स्मृति होती है, वे देवलोकमें जाते हैं। परन्तु यह ख्याल रखना चाहिये कि वे देवता, उनके द्वारा मिलनेवाले भोग तथा उनके लोक—सभी विनाशशील हैं। इसीलिये उस फलको 'अन्तवत्' कहा गया है।

प्रश्न—भगवान्को प्राप्त होना क्या है, भगवान्के आर्तादि सभी भक्त भगवान्को कैसे प्राप्त हो जाते हैं, एवं इस वाक्यमें 'अपि' के प्रयोगसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—भगवान्के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्में एकत्वको प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है। भगवान्के ज्ञानी भक्तोंकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण जगत् भगवान्का ही स्वरूप है, अतः उनको तो भगवान् नित्य प्राप्त हैं ही; उनके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। जिज्ञासु भक्त भगवान्को तत्त्वसे जानना चाहते हैं, अतः उन्हें भी भगवान्का तत्त्वज्ञान होते ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। रहे अर्थार्थी और आर्त, सो वे भी भगवान्की दयासे भगवान्को ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् परम दयालु और परम सुहृद् हैं। वे जिस बातमें भक्तका कल्याण होता है जिस प्रकार वह शीघ्र उनके समीप पहुँचता है, वही काम करते हैं। जिस कामनाकी पूर्तिसे या जिस संकटके निवारणसे भक्तका अनिष्ट होता हो, मोहवश भक्तके याचना करनेपर भी भगवान् उस कामनाकी पूर्ति अथवा संकटका निवारण नहीं करते; और जिसकी पूर्तिसे उनमें भक्तका विश्वास और प्रेम बढ़ता है उसीकी पूर्ति करते हैं। अतएव भगवान्के भक्त कामनाकी पूर्तिके साथ-साथ आगे चलकर भगवान्को भी प्राप्त कर लेते हैं। इसी भावसे इस श्लोकमें 'अपि' का प्रयोग किया गया है।

भगवान्का स्वभाव ही ऐसा है कि जो एक बार किसी भी उद्देश्यसे भक्तिके द्वारा भगवान्से सम्बन्ध जोड़ लेता है, फिर यदि वह उसे तोड़ना भी चाहता है तो भगवान् उसे नहीं तोड़ने देते। भगवान्की भक्तिकी यही महिमा है कि वह भक्तको उसकी इच्छित वस्तु प्रदान करके, अथवा उस वस्तुसे परिणाममें हानि होती हो तो उसे न प्रदान करके भी, नष्ट नहीं होती। वह उसके अंदर छिपी रह जाती है और अवकाश पाते ही उसे भगवान्की ओर खींच ले जाती है। एक बार किसी भी कारणसे मिली हुई भक्ति अनेक जन्म बीतनेपर भी तबतक उसका पिण्ड नहीं छोड़ती, जबतक कि उसे भगवान्की प्राप्ति नहीं करा देती। और भगवान्की प्राप्ति होनेके पश्चात् तो भक्तिके छूटनेका प्रश्न ही नहीं रहता; फिर तो भक्ति, भक्त और भगवान्की एकता ही हो जाती है।

सम्बन्ध—जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपनी स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

करके उसे 'तनुम्' (देवताके स्वरूप) का बोधक क्यों माना गया ?

उत्तर—पूर्वार्धमें जिन 'यां याम्' पदोंका 'तनुम्' (देवताके स्वरूप) से सम्बन्ध है उन्हींके साथ एकान्वय करनेके लिये 'ताम्' को भी 'तनुम्' का ही बोधक मानना उचित जान पड़ता है। श्रद्धाके साथ उसका सम्बन्ध माननेपर भी भावमें कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वैसा माननेसे भी उस श्रद्धाको देवताविषयक मानना पड़ेगा ।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एव' का प्रयोग करके भगवान् यह बात दिखलाते हैं कि जो भक्त जिस देवताका पूजन करना चाहता है उसकी श्रद्धाको मैं उसी इष्ट देवताके प्रति स्थिर कर देता हूँ ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि मेरी स्थापित की हुई उस श्रद्धासे युक्त होकर वह यथाविधि उस देवताका पूजन करता है, तब उस उपासनाके फलस्वरूप उक्त देवताके द्वारा उसे वही इच्छित भोग मिलते हैं जो मेरे द्वारा पहलेसे ही निर्धारित होते हैं। मेरे विधानसे अधिक या कम भोग प्रदान करनेकी सामर्थ्य देवताओंमें नहीं है । अभिप्राय यह है कि देवताओंकी कुछ वैसी ही स्थिति समझनी चाहिये जो किसी बड़े राज्यमें कानूनके अनुसार कार्य करनेवाले विभिन्न विभागोंके सरकारी अफसरोंकी होती है। वे किसीको उसके कार्यके बदलेमें कुछ देना चाहते हैं तो उतना ही दे सकते हैं जितना कानूनके अनुसार उसके कार्यके लिये उसको मिलनेका विधान है और जितना देनेका उन्हें अधिकार है ।

प्रश्न—इस श्लोकमें 'हितान्' पदको 'कामान्' का विशेषण मानकर यदि यह अर्थ किया जाय कि वे 'हितकर' भोगोंको देते हैं तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'काम' शब्दवाच्य भोगपदार्थ किसीके लिये यथार्थमें हितकर होते ही नहीं ।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त अन्य देवताओंकी उपासनाके फलको विनाशी बतलाकर भगवदुपासनाके फलकी महत्ताका प्रतिपादन करते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

प्रश्न—पंद्रहवें श्लोकमें जिनको मूढ बतलाया गया है, उनमें और इन देवताओंकी उपासना करनेवाले 'अल्पबुद्धि' मनुष्योंमें क्या अन्तर है ? और इन्हें 'अल्पबुद्धि' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्‌की भक्ति न करके पापाचरण करनेवाले नराधमोंको आसुर स्वभावसे युक्त और मूढ बतलाया गया है। यहाँ वे पापाचरणसे रहित और शास्त्रविधिसे देवताओंकी उपासना करनेवाले होनेके कारण उन लोगोंकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं और आसुर भावको प्राप्त तथा सर्वथा मूढ भी नहीं हैं; परन्तु कामनाओंके वशमें होकर अन्य देवताओंको भगवान्‌से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' तो हैं ही । यदि इनकी बुद्धि अल्प न होती तो ये इस बातको अवश्य समझते कि सब

लिये इस यथार्थ तत्त्वको समझनेवाला पुरुष बुद्धिहीन कैसे माना जा सकता है? भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि मुझ अव्यक्त (निराकार)-स्वरूपसे यह समस्त जगत् व्याप्त है (९।४)। अतएव जो अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार मनुष्यके रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको लोग साधारण मनुष्य क्यों समझते हैं? इसपर कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है॥ २५॥

प्रश्न—'योगमाया' शब्द किसका वाचक है? और भगवान्‌का उससे समावृत होना क्या है?

उत्तर—चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको 'आत्ममाया' कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् दिव्य गुणोंके सहित स्वयं मनुष्यादि रूपोंमें प्रकट होते हुए भी लोकदृष्टिमें जन्म धारण करनेवाले साधारण मनुष्य-से ही प्रतीत होते हैं, उसी मायाशक्तिका नाम 'योगमाया' है। भगवान् जब मनुष्यादिरूपमें अवतीर्ण होते हैं तब जैसे बहुरूपिया किसी दूसरे स्वाँगमें लोगोंके सामने आता है उस समय अपना असली रूप छिपा लेता है वैसे ही अपनी उस योगमायाको चारों ओर फैलाकर स्वयं उसमें छिपे रहते हैं; यही उनका योगमायासे आवृत होना है।

प्रश्न—'मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं, साधारण मनुष्योंकी दृष्टि उस मायाके परदेसे पार नहीं हो सकती। इस कारण अधिकांश मनुष्य उनको अपने-जैसा ही साधारण मनुष्य मानते हैं। अतएव भगवान् सबके प्रत्यक्ष नहीं होते। जो भगवान्‌के प्रेमी भक्त होते हैं तथा उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीलामें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हैं, जिनको भगवान् अपना परिचय देना चाहते हैं केवल उन्हींको वे प्रत्यक्ष होते हैं।

प्रश्न—जीवका तो मायासे आवृत होना ठीक है, परन्तु भगवान्‌का मायासे आवृत होना कैसे माना जा सकता है?

उत्तर—जैसे सूर्यका बादलोंसे ढक जाना कहा जाता है; परन्तु वास्तवमें सूर्य नहीं ढक जाता, लोगोंकी दृष्टिपर ही बादलोंका आवरण आता है। यदि सूर्य वास्तवमें ढक जाता तो उसका ब्रह्माण्डमें कहीं प्रकाश नहीं होता। वैसे ही भगवान् वस्तुतः मायासे आवृत नहीं होते, यदि वे आवृत होते तो किसी भी भक्तको उनके यथार्थ दर्शन नहीं होते। केवल मूढ़ोंके लिये ही उनका आवृत होना क्यों कहा जाता? यथार्थमें सूर्यका उदाहरण भी भगवान्‌के साथ नहीं घटता, क्योंकि अनन्तके साथ किसी भी सान्तकी तुलना हो ही नहीं सकती। लोगोंको समझानेके लिये ही ऐसा कहा जाता है।

प्रश्न—यहाँ 'अयम्' और 'मूढः' विशेषणोंके सहित जो 'लोकः' पद आया है, यह किसका वाचक है? यह पंद्रहवें श्लोकमें जिन आसुरी प्रकृतिवाले मूढ़ोंका वर्णन है, उनका वाचक है या बीसवें श्लोकमें जिनके ज्ञानको कामनाके द्वारा हरण किया हुआ बतलाया गया है, उन अन्य देवताओंके उपासकोंका?

उत्तर—यहाँ 'अयम्' विशेषण होनेसे यह प्रतीत होता है कि 'लोकः' पदका प्रयोग केवल भगवान्‌के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्य-समुदायके लिये किया गया है, किसी एक श्रेणीविशेषके अभिप्रायसे नहीं।

प्रश्न—'अज्ञानी जन-समुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि श्रद्धा और प्रेमके अभावके कारण भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप, लीला, रहस्य और महिमाको न जानकर साधारण अज्ञानी मनुष्य

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अबुद्धयः' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और भगवान्‌के 'अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, स्वरूप और लीला आदिमें जिनका विश्वास नहीं है तथा जिनकी मोहावृत और विषयविमोहित बुद्धि तर्कजालोंसे समाच्छन्न है, वे मनुष्य 'बुद्धिहीन' हैं। उन्हींके लिये 'अबुद्धयः' का प्रयोग किया गया है, ऐसे लोगोंकी बुद्धिमें यह बात आती ही नहीं कि समस्त जगत् भगवान्‌की ही द्विविध प्रकृतियोंका विस्तार है और उन दोनों प्रकृतियोंके परमाधार होनेसे भगवान् ही सबसे उत्तम हैं, उनसे उत्तम और कोई है ही नहीं। उनके अचिन्त्य और अकथनीय स्वरूप, स्वभाव, महत्त्व तथा अप्रतिमगुण मन एवं वाणीके द्वारा यथार्थरूपमें समझे और कहे नहीं जा सकते। अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्‌के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्‌के प्राणियोंको परमानन्दके महान् प्रशान्त महासागरमें निमग्न कर देते हैं। भगवान्‌का यही नित्य, अनुत्तम और परम भाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको नहीं समझना' है।

प्रश्न—मुझे अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानते हैं इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌के निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप नित्य और दिव्य हैं। वे अपने अचिन्त्य और अलौकिक दिव्य स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव और गुणोंको लिये हुए ही मनुष्य आदि रूपोंमें अवतार धारण करते हैं। मनुष्यादिके रूपमें उनका प्रादुर्भाव होना ही जन्म है और अन्तर्धान हो जाना ही परमधामगमन है। अन्य प्राणियोंकी भाँति शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण उनके नहीं होते। इस रहस्यको न समझनेके कारण बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि जैसे अन्य सब प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे अर्थात् उनकी कोई सत्ता नहीं थी, अब जन्म लेकर व्यक्त हुए हैं; इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण भी जन्मसे पहले नहीं था। अब वसुदेवके घरमें जन्म लेकर व्यक्त हुआ है। अन्य मनुष्योंमें और इसमें अन्तर ही क्या है ? अर्थात् कोई भेद नहीं है। यह भाव दिखानेके लिये ऐसा कहा है कि बुद्धिहीन मनुष्य मुझे अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानते हैं।

प्रश्न—यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'बुद्धिहीन' मनुष्य मुझ अव्यक्तको अर्थात् निर्गुण निराकार परमेश्वरको सगुण साकार मनुष्यरूपमें प्रकट होनेवाला मानते हैं तो क्या हानि है ?

उत्तर—यहाँ यह अर्थ मानना उपयुक्त नहीं जँचता, क्योंकि भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार सभी स्वरूप शास्त्रसम्मत हैं। स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि 'मैं अजन्मा अविनाशी परमेश्वर ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके साधुओंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्मसंस्थापनादिके लिये समय-समयपर प्रकट होता हूँ' (४।६-७-८)। अतः उनको बुद्धिहीन माननेपर भगवान्‌के इस कथनसे विरोध आता है और अवतारवादका खण्डन होता है, जो गीताको किसी प्रकार भी मान्य नहीं है।

प्रश्न—यदि यहाँ इसका यह अर्थ मान लिया जाय कि 'बुद्धिहीन मनुष्य' मुझ 'व्यक्तिमापन्नम्' अर्थात् मनुष्यरूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हुए सगुण साकार परमेश्वरको अव्यक्त अर्थात् निर्गुण-निराकार समझते हैं, तो क्या हानि है ?

उत्तर—यह अर्थ भी नहीं जँचता है; क्योंकि जो परमेश्वर सगुण-साकाररूपमें प्रकट हैं वे निर्गुण-निराकार भी हैं। इसी-

एवं जिससे समस्त भूतोंकी और सम्पूर्ण चेष्टाओंकी उत्पत्ति होती है, भगवान्‌के उस आदिसंकल्परूप 'विसर्ग' का नाम 'कर्म' है (इसका विशेष विवेचन आठवें अध्यायके तीसरे श्लोककी व्याख्यामें किया गया है) तथा भगवान्‌का संकल्प होनेसे यह कर्म भगवान्‌से अभिन्न ही है, इस प्रकार जानना ही 'अखिल कर्म' को जानना है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं॥ ३०॥

प्रश्न—'अधिभूत', 'अधिदैव' और 'अधियज्ञ' शब्द किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं और इन सबके सहित समग्र भगवान्‌को जानना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायमें जिसको भगवान्‌ने 'अपरा प्रकृति' और पंद्रहवें अध्यायमें जिसको 'क्षर पुरुष' कहा है, उस विनाशशील समस्त जडवर्गका नाम 'अधिभूत' है। आठवें अध्यायमें जिसे 'ब्रह्मा' कहा है, उस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भका नाम 'अधिदैव' है और नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें तथा छठे श्लोकोंमें जिसका वर्णन किया गया है, उस समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे व्याप्त रहनेवाले भगवान्‌के अव्यक्तस्वरूपका नाम 'अधियज्ञ' है।

उन्तीसवें श्लोकमें वर्णित 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदिसंकल्परूप 'कर्म' तथा उपर्युक्त जडवर्गरूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। यही भगवान्‌का समग्र रूप है। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्ररूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। फिर सातवें श्लोकमें 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है' बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है। इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है।

प्रश्न—'प्रयाणकाले' के साथ 'अपि' के प्रयोगका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो 'वासुदेवः सर्वमिति' के अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे मुझ समग्रको पहले जान लेते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है; जो अन्तकालमें भी मुझे समग्ररूपसे जान लेते हैं, वे भी मुझे यथार्थ ही जानते हैं, अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं। दूसरे अध्यायके अन्तमें ब्राह्मी स्थितिकी महिमा कहते हुए भी इसी प्रकार 'अपि' का प्रयोग किया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥



उत्तर—भगवान्‌को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर अपने बाहरी और भीतरी समस्त करणोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उन्हींकी सेवामें लगा देना अर्थात् बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुखी आदिके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे उनकेमन्दिर और तीर्थादिमें जाना, तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके सब प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही सब प्रकारसे उनको भजना है ।

सम्बन्ध—अब भगवान्‌का भजन करनेवालोंके भजनका प्रकार और फल बतलाते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको, सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ॥ २९ ॥

प्रश्न—जरा-मरणसे छूटनेके लिये भगवान्‌के शरण होकर 'यत्न करना' क्या है ?

उत्तर—जबतक जन्मसे छुटकारा नहीं मिलता, तबतक वृद्धावस्था और मृत्युसे छुटकारा मिलना असम्भव है और जन्मसे छुटकारा तभी मिलता है, जब जीव अज्ञानजनित कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है । भगवान्‌की प्राप्ति सब कामनाओंका त्याग करके दृढ निश्चयके साथ भगवान्‌का नित्य-निरन्तर भजन करनेसे ही होती है । और ऐसा भजन मनुष्यसे तभी होता है जब वह सत्सङ्गका आश्रय लेकर पापोंसे छूट जाता है तथा आसुर भावोंका सर्वथा त्याग कर देता है । भगवान्‌ने इसी अध्यायमें कहा है—'आसुर स्वभाववाले नीच और पापी मूढ मनुष्य मुझको नहीं भजते (७ । १५);' इसीलिये सत्ताईसवें श्लोकमें भी भगवान्‌को न जाननेका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि रागद्वेषजनित सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके मोहमें पड़े हुए जीव सर्वथा अज्ञानमें डूबे रहते हैं ।' ऐसे मनुष्योंके मन नाना प्रकारकी भोग-कामनाओंसे भरे रहते हैं, उनके मनमें अन्यान्य सब कामनाओंका नाश होकर जन्म-मरणसे छुटकारा पानेकी इच्छा ही नहीं जागती । इसीलिये अट्ठाईसवें श्लोकमें भगवान्‌को पूर्णरूपसे जाननेके अधिकारीका निर्णय करते हुए उसे 'पापरहित, पुण्यकर्मा, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त और दृढ-निश्चयी होकर भगवान्‌को भजनेवाला' बतलाया गया है । ऐसे निष्पापहृदय पुरुषके मनमें ही यह शुभ कामना जाग्रत् होती है कि मैं जन्म-मरणके चक्करसे छूटकर कैसे शीघ्र-से-शीघ्र परब्रह्म परमात्माको जान लूँ और प्राप्त कर लूँ । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं ।'

प्रश्न—'तत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद किसका वाचक है? 'कृत्स्न' विशेषणके सहित 'अध्यात्म' पद किसका वाचक है ? और 'अखिल' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है ? एवं इन सबको जानना क्या है ?

उत्तर—'तत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदसे निर्गुण, निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका निर्देश है । उक्त परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको भलीभाँति अनुभव करके उसे साक्षात् कर लेना ही उसको जानना है । इस अध्यायमें जिस तत्त्वका भगवान्‌ने 'परा प्रकृति' के नामसे वर्णन किया है एवं पंद्रहवें अध्यायमें जिसे 'अक्षर' कहा गया है, उस समस्त 'जीवसमुदाय' का वाचक 'कृत्स्न' विशेषणके सहित 'अध्यात्म' पद है । और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही जीवोंके रूपमें अनेकाकार दीख रहे हैं । वास्तवमें जीव-समुदायरूप सम्पूर्ण 'अध्यात्म' सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है, इस तत्त्वको जान लेना ही उसे जानना है;

एवं जिससे समस्त भूतोंकी और सम्पूर्ण चेष्टाओंकी उत्पत्ति होती है, भगवान्‌के उस आदिसंकल्परूप 'विसर्ग' का नाम 'कर्म' है (इसका विशेष विवेचन आठवें अध्यायके तीसरे श्लोककी व्याख्यामें किया गया है) तथा भगवान्‌का संकल्प होनेसे यह कर्म भगवान्‌से अभिन्न ही है, इस प्रकार जानना ही 'अखिल कर्म' को जानना है ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

प्रश्न–'अधिभूत', 'अधिदैव' और 'अधियज्ञ' शब्द किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं और इन सबके सहित समग्र भगवान्‌को जानना क्या है ?

उत्तर–इस अध्यायमें जिसको भगवान्‌ने 'अपरा प्रकृति' और पंद्रहवें अध्यायमें जिसको 'क्षर पुरुष' कहा है, उस विनाशशील समस्त जडवर्गका नाम 'अधिभूत' है। आठवें अध्यायमें जिसे 'ब्रह्मा' कहा है, उस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भका नाम 'अधिदैव' है और नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें तथा छठे श्लोकोंमें जिसका वर्णन किया गया है, उस समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे व्याप्त रहनेवाले भगवान्‌के अव्यक्तस्वरूपका नाम 'अधियज्ञ' है ।

उन्तीसवें श्लोकमें वर्णित 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदिसंकल्परूप 'कर्म' तथा उपर्युक्त जडवर्गरूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'–सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं । यही भगवान्‌का समग्र रूप है। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्ररूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। फिर सातवें श्लोकमें 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है' बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है। इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है ।

प्रश्न–'प्रयाणकाले' के साथ 'अपि' के प्रयोगका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर–इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो वासुदेवः सर्वमिति' के अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे मुझ समग्रको पहले जान लेते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है; जो अन्तकालमे भी मुझे समग्ररूपसे जान लेते हैं, वे भी मुझे यथार्थ ही जानते हैं, अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं। दूसरे अध्यायके अन्तमें ब्राह्मी स्थितिकी महिमा कहते हुए भी इसी प्रकार 'अपि' का प्रयोग किया गया है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अष्टमोऽध्यायः

अध्यायका नाम 'अक्षर' और 'ब्रह्म' दोनों शब्द भगवान्‌के सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपोंके वाचक हैं (८।३,११,२१,२४) तथा भगवान्‌का नाम जो 'ॐ' है, उसे भी 'अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं (८।१३)। इस अध्यायमें भगवान्‌के सगुण-निर्गुणरूपका और ओंकारका वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें ब्रह्म, अध्यात्म आदि विषयक अर्जुनके सात प्रश्न हैं; फिर तीसरेसे पाँचवेंतक भगवान् सातों प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर देकर छठेमें अन्तकालके चिन्तनका महत्त्व दिखलाते हुए सातवेंमें अर्जुनको निरन्तर अपना चिन्तन करनेकी आज्ञा देते हैं। आठवेंसे दसवेंतक योगकी विधिसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के सगुण-निराकार स्वरूपका चिन्तन करते हुए प्राण-त्याग करनेका प्रकार और उसके फलका वर्णन किया है। ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक परमात्माके निर्गुण स्वरूपकी प्रशंसा करते हुए अन्तकालमें योगधारणा-की विधिसे निर्गुण ब्रह्मके जप-ध्यानका प्रकार और उसके फलका वर्णन करके चौदहवेंमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिका सुगम उपाय अनन्यप्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना बतलाया है। पंद्रहवें और सोलहवेंमें भगवत्प्राप्तिसे पुनर्जन्मका अभाव और अन्य समस्त लोकोंको पुनरावृत्तिशील बतलाकर सतरहवेंसे उन्नीसवेंतक ब्रह्माके रात-दिनका परिमाण बतलाते हुए समस्त प्राणियों-की उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन किया है। बीसवेंमें एक अव्यक्तसे परे दूसरे सनातन अव्यक्तका प्रतिपादन करके, इक्कीसवें और बाईसवेंमें उसीका 'अक्षर', 'परमगति', 'परमधाम' एवं 'परम पुरुष'—इन नामोंसे प्रतिपादन करते हुए अनन्यभक्तिको उस परम पुरुषकी प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है। तदनन्तर तेईसवेंसे छब्बीसवेंतक शुक्ल और कृष्ण गतिका फलसहित वर्णन करके सत्ताईसवेंमें उन दोनों गतियोंको जाननेवाले योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा दी गयी है और अट्ठाईसवें श्लोकमें अध्यायमें वर्णित तत्त्वको जाननेका फल बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्‌ने अपने समग्ररूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए, उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की। फिर सत्ताईसवें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌के समग्र रूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया। उन्तीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंको समझनेके लिये भगवान्‌से सात प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं॥ १॥

प्रश्न—'वह ब्रह्म क्या है?' अर्जुनके इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'ब्रह्म' शब्द वेद, ब्रह्मा, निर्गुण परमात्मा, प्रकृति और ओङ्कार आदि अनेक तत्त्वोंके लिये व्यवहृत होता है;

अतः उनमेंसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द किस तत्त्वके लक्ष्यसे कहा गया है, यह जाननेके लिये अर्जुनका प्रश्न है।

प्रश्न—'अध्यात्म क्या है?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जीव और परमात्मा आदि अनेक तत्त्वोंको 'अध्यात्म' कहते हैं। उनमेंसे यहाँ 'अध्यात्म' नामसे भगवान् किस तत्त्वकी बात कहते हैं? यह जाननेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है।

प्रश्न—'कर्म क्या है?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'कर्म' शब्द यहाँ यज्ञ-दानादि शुभकर्मोंका वाचक है या क्रियामात्रका? अथवा प्रारब्ध आदि कर्मोंका वाचक है या ईश्वरकी सृष्टि-रचनारूप कर्मका? इसी बातको स्पष्ट जाननेके लिये यह प्रश्न किया गया है।

प्रश्न—'अधिभूत' नामसे क्या कहा गया है? इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अधिभूत' शब्दका अर्थ यहाँ पञ्चमहाभूत है या समस्त प्राणिमात्र है अथवा समस्त दृश्यवर्ग है या यह किसी अन्य तत्त्वका वाचक है? इसी बातको जाननेके लिये ऐसा प्रश्न किया गया है।

प्रश्न—'अधिदैव किसको कहते हैं?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अधिदैव' शब्दसे यहाँ किसी अधिष्ठातृदेवता-विशेषका लक्ष्य है या अदृष्ट, हिरण्यगर्भ, जीव अथवा अन्य किसीका? यही जाननेके लिये प्रश्न किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'पुरुषोत्तम' सम्बोधन किस अभिप्रायसे दिया गया है?

उत्तर—'पुरुषोत्तम' सम्बोधनसे अर्जुन यह सूचित करते हैं कि आप समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सबके अधिष्ठाता और सर्वाधार हैं। इसलिये मेरे इन प्रश्नोंका जैसा यथार्थ उत्तर आप दे सकते हैं, वैसा दूसरा कोई नहीं दे सकता।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं?॥ २॥

प्रश्न—यहाँ 'अधियज्ञ'के विषयमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अधियज्ञ' शब्द यज्ञके किसी अधिष्ठातृदेवता-विशेषका वाचक है या अन्तर्यामी परमेश्वरका अथवा अन्य किसीका? एवं वह 'अधियज्ञ' नामक तत्त्व मनुष्यादि समस्त प्राणियोंके शरीरमें किस प्रकार रहता है और उसका 'अधियज्ञ' नाम क्यों है? इन्हीं सब बातोंको जाननेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है।

प्रश्न—'नियतात्मभि.' का क्या अभिप्राय है तथा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'युक्तचेतसः' पदका प्रयोग करके जिन पुरुषोंको लक्ष्य किया था, उन्हींके लिये अर्जुन यहाँ 'नियतात्मभिः' पदका प्रयोग करके पूछ रहे हैं कि 'युक्तचेतसः' पदसे जिन पुरुषोंके लिये आप कह रहे हैं, वे पुरुष अन्तकालमें अपने चित्तको किस प्रकार आपमें लगाकर आपको जानते हैं? अर्थात् वे प्राणायाम, जप, चिन्तन, ध्यान या समाधि आदि किस साधनसे आपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं? इसी बातको जाननेके लिये अर्जुनने यह प्रश्न किया है।

सम्बन्ध—अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे भगवान् अब पहले ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मविषयक तीन प्रश्नोंका उत्तर अगले श्लोकमें क्रमशः संक्षेपसे देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान्ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

प्रश्न—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अक्षरके साथ 'परम' विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं। जो सबसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म होता है उसीको 'परम' कहा जाता है। 'ब्रह्म' और 'अक्षर'के नामसे जिन सब तत्त्वोंका निर्देश किया जाता है, उन सबमें सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ और पर एकमात्र सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है; अतएव 'परम अक्षर' से यहाँ उसी परब्रह्म परमात्माका लक्ष्य है। यह परम ब्रह्म परमात्मा और भगवान् वस्तुतः एक ही तत्त्व है।

प्रश्न—स्वभाव 'अध्यात्म' कहा जाता है—इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'स्वो भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है। जीवरूपा भगवान्की चेतन परा प्रकृतिरूप आत्मतत्त्व ही जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्ध्यादिरूप अपरा प्रकृतिका अधिष्ठाता हो जाता है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं। अतएव सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने 'कृत्स्न' विशेषणके साथ जो 'अध्यात्म' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ 'चेतन जीवसमुदाय' समझना चाहिये। भगवान्की अंशरूपा चेतन परा प्रकृति वस्तुतः भगवान्से अभिन्न होनेके कारण वह 'अध्यात्म' नामक सम्पूर्ण जीवसमुदाय भी यथार्थमें भगवान्से अभिन्न और उनका स्वरूप ही है।

प्रश्न—भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला विसर्ग—त्याग ही कर्मके नामसे कहा गया है, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'भूत' शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है। इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस 'त्याग' का नाम ही कर्म है। महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके साथ भगवान्में विलीन हो जाते हैं। फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह सङ्कल्प करते हैं कि मैं एक ही बहुत हो जाऊँ,' तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है। भगवान्का यह 'आदि संकल्प' ही अचेतन प्रकृतिरूप योनिमें चेतनरूप बीजकी स्थापना करना है। यही जड-चेतनका संयोग है। यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन या त्यागका नाम 'विसर्ग' है। इसीसे भूतोंके विभिन्न भावोंका उद्भव होता है। इसीलिये भगवान्ने कहा है—'संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।' (१४। ३) 'उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।' यही भूतोंके भावका उद्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान्के जिस आदि संकल्पसे समस्त भूतोंका उद्भव और अभ्युदय होता है, उसका नाम 'विसर्ग' है। और भगवान्के इस विसर्गरूप महान् कर्मसे ही जड अक्रिय प्रकृति स्पन्दित होकर क्रियाशील होती है तथा उससे महाप्रलयतक विश्वमें अनन्त कर्मोंकी अखण्ड धारा बह चलती है। इसलिये इस 'विसर्ग' का नाम ही 'कर्म' है। सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने इसीको 'अखिल कर्म' कहा है। भगवान्का यह भूतोंके भावका उद्भव करनेवाला महान् 'विसर्जन' ही एक महान् समष्टि-यज्ञ है। इसी महान् यज्ञसे विविध लौकिक यज्ञोंकी उद्भावना हुई है और उन यज्ञोंमें जो हवि आदिका उत्सर्ग किया जाता है, उसका नाम भी 'विसर्ग' ही रक्खा गया है। उन यज्ञोंसे भी प्रजाकी उत्पत्ति होती है। मनुस्मृतिमें कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(३। ७६)

अर्थात् 'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा होती है।'

यह 'कर्म' नामक विसर्ग वस्तुतः भगवान्का ही आदि संकल्प है, इसलिये यह भी भगवान्से अभिन्न ही है।

सम्बन्ध—अब भगवान् अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञविषयक प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः देते हैं—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

उत्पत्ति-विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्मय पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ ॥ ४ ॥

प्रश्न–'क्षरभाव' अधिभूत हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, उसका नाम 'क्षरभाव' है । इसीको तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' (शरीर) के नामसे और पंद्रहवें अध्यायमें 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है । यह 'क्षरभाव' शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, भूत तथा विषयोंके रूपमें प्रत्यक्ष हो रहा है और जीवोंके आश्रित है अर्थात् जीवरूपा चेतन परा प्रकृतिने इसे धारण कर रक्खा है; इसका नाम 'अधिभूत' है । सातवें अध्यायमें भगवान् अपरा प्रकृतिको भी अपनी ही प्रकृति बतला चुके हैं। इसलिये यह 'क्षरभाव' भी भगवान्‌का ही है। अतएव यह भी उनसे अभिन्न है । भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि 'सत्-असत् सब मैं ही हूँ ।' (९ । १९)

प्रश्न–'हिरण्मय पुरुष' किसको कहा गया है और वह अधिदैव कैसे है ?

उत्तर–'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं । जडचेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अंग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है। स्वयं भगवान् ही अधिदैवके रूपमें प्रकट होते हैं । इसलिये यह भी उनसे अभिन्न ही है ।

प्रश्न–इस शरीरमें मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ–इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? दोनों प्रश्नोंका भगवान्‌ने एक ही साथ उत्तर दे दिया है । भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (५ । २९; ९ । २४) और समस्त फलोंका विधान वे ही करते हैं (७ । २२), इसलिये वे कहते हैं कि 'अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ ।' यहाँ 'एव'के प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि 'अधिभूत' और 'अधिदैव' भी मुझसे भिन्न नहीं हैं । भगवान्‌ने यह तो स्पष्ट कह दिया कि 'अधियज्ञ' मैं हूँ; परन्तु यह अधियज्ञ शरीरमें कैसे है, इसके उत्तरमें भगवान्‌ने 'इस शरीरमें' (अत्र देहे) इतना ही संकेत किया है । अन्तर्यामी व्यापक स्वरूप ही देहमें रहता है, इसीलिये श्लोकके अर्थमें 'अन्तर्यामी' शब्द जोड़कर स्पष्टीकरण कर दिया गया है । भगवान् व्यापक—अन्तर्यामीरूपसे सभीके अंदर हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'दिव्य पुरुष' तथा बीसवें श्लोकमें 'सनातन अव्यक्त' कहकर बाईसवें श्लोकमें उसकी व्यापकता और सर्वाधारताका वर्णन किया है । नवम अध्यायके चौथेमें भी अव्यक्तरूपकी व्यापकता दिखलायी गयी है । यहाँ भगवान्‌ने अपने उस अव्यक्त सूक्ष्म और व्यापक स्वरूपको 'अधियज्ञ' कहा है और उसके साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करनेके लिये 'अधियज्ञ मैं ही हूँ' यह स्पष्ट घोषणा कर दी है ।

प्रश्न–'देहभृतां वर' इस सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको 'देहभृतां वर' (देहधारियोंमें श्रेष्ठ) कहकर यह सूचित किया है कि तुम मेरे भक्त हो, इसलिये मेरी बातोंको संकेतमात्रसे ही समझ सकते हो; अतएव 'अधियज्ञ मैं ही हूँ' इतने संकेतसे तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि 'यह सब कुछ मैं ही हूँ ।' तुम्हारे लिये यह समझना कोई बड़ी बात नहीं है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके छः प्रश्नोंका उत्तर देकर अब भगवान् अन्तकालसम्बन्धी सातवें प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अन्तकाले' इस पदके साथ 'च' के प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'च' अव्यय 'अपि' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । इससे अन्तकालका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया है अतः भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव है, कि जो सदा सर्वदा मेरा अनन्य चिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो इस मनुष्य-जन्मके अन्तिम क्षणतक भी मेरा चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है ।

प्रश्न—'एव' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'माम्' और 'स्मरन्' के बीचमें 'एव' पद देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि वह माता पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, धन ऐश्वर्य, मान-प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि किसीका भी स्मरण न करके केवल मेरा ही स्मरण करता है ।

स्मरण चित्तसे होता है और 'एव' पद दूसरे चिन्तनका सर्वथा अभाव दिखलाकर यह सूचित करता है कि उसका चित्त केवल एकमात्र भगवान‌में ही लगा है ।

प्रश्न—यहाँ 'भाव' शब्द किसका वाचक है ? और उसे स्मरण करना क्या है ?

उत्तर—ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी चेतन और जड पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है। अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उसे स्मरण करना है।

प्रश्न—'अन्तकाल' किस समयका वाचक है ?

उत्तर—जिस अन्तिम क्षणमें इस स्थूल देहसे प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसहित जीवात्माका वियोग होता है, उस क्षणको अन्तकाल कहते हैं।

प्रश्न—तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा चौदहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और अठारहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें हेतु बतलाया है और यहाँ अन्तकालके स्मरणको कारण माना गया है—यह क्या बात है ?

उत्तर—मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, वह संस्काररूपसे उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है। इस प्रकारके असंख्य कर्म-संस्कार अन्तःकरणमें भरे रहते हैं; इन संस्कारोंके अनुसार ही, जिस समय जैसा सहकारी निमित्त मिल जाता है; वैसी ही वृत्ति और स्मृति होती है। जब सात्त्विक कर्मोंकी अधिकतासे सात्त्विक संस्कार बढ़ जाते हैं, उस समय मनुष्य सत्त्वगुणप्रधान हो जाता है और उसीके अनुसार स्मृति भी सात्त्विक होती है। इसी प्रकार राजस-तामस कर्मोंकी अधिकतासे राजस, तामस संस्कारोंके बढ़नेपर वह रजोगुण या तमोगुणप्रधान हो जाता है और उसके अनुसार स्मृति होती है। इस तरह कर्म, गुण और स्मृति, तीनोंकी एकता होनेके कारण इनमेंसे किसीको भी भावी योनिकी प्राप्तिमें हेतु बतलाया जाय तो कोई दोष नहीं है। क्योंकि वस्तुतः बात एक ही है।

प्रश्न—अन्तसमयमें देव, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि सजीव पदार्थोंका स्मरण करते हुए मरनेवाला उन-उन योनियोंको प्राप्त हो जाता है, यह बात तो ठीक है; किन्तु जो मनुष्य जमीन, मकान आदि निर्जीव जड पदार्थोंका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उनको कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—जमीन, मकान आदिका चिन्तन करते-करते मरनेवालेको अपने गुण और कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनि मिलती है और उस योनिमें वह अन्तसमयकी वासनाके अनुसार जमीन, मकान आदि जड पदार्थोंको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि वह जिस योनिमें जन्मेगा, उसी योनिमें उन स्मरण किये हुए जमीन, मकान आदिसे उसका सम्बन्ध हो जायगा। जैसे मकानका मालिक मकानको अपना समझता है, वैसे ही उसमें घोंसला बनाकर रहनेवाले पक्षी और बिल बनाकर रहनेवाले चूहे और चींटी आदि जीव भी उसे अपना ही समझते हैं; अतः यह समझना चाहिये कि प्रत्येक योनिमें प्रत्येक जड वस्तुकी प्राप्ति प्रकारान्तरसे हो सकती है।

प्रश्न—'सदा तद्भावभावितः' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्य अन्तकालमें जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह उसी भावको प्राप्त होता है—यह सिद्धान्त ठीक है। परन्तु अन्तकालमें किस भावका स्मरण क्यों होता है, यह बतलानेके लिये ही भगवान् 'सदा तद्भावभावितः' कहते हैं। अर्थात् अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है। जैसे वैद्यलोग किसी औषधमें बार-बार किसी रसकी भावना दे-देकर उसको उस रससे भावित कर लेते हैं वैसे ही पूर्वसंस्कार, सङ्ग, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, वह उसीसे भावित हो जाता है। 'सदा' शब्दसे भगवान्‌ने निरन्तरताका निर्देश किया है। अभिप्राय यह है कि जीवनमें सदा-सर्वदा बार-बार दीर्घकालतक जिस भावका अधिक चिन्तन किया जाता है उसीका दृढ अभ्यास हो जाता है। यह दृढ अभ्यास ही 'सदा तद्भावसे भावित' होना है और यह नियम है कि जिस भावका दृढ अभ्यास होता है उसी भावका अन्तकालमें प्रायः अनायास ही स्मरण होता है।

प्रश्न—क्या सभीको अन्तकालमें जीवनभर अधिक चिन्तन किये हुए भावका ही स्मरण होता है ?

उत्तर—अधिकांशको तो ऐसा ही होता है। परन्तु कहीं-कहीं जडभरतके चित्तमें हरिणके बच्चेकी भावनाकी भाँति

मृत्यु-समयके समीपवर्ती कालमें किया हुआ अल्पकालका चिन्तन भी पुराने अभ्यासको दबाकर दृढरूपमें प्रकट हो जाता है और उसीका स्मरण करा देता है।

प्रश्न—'तद्भावभावितः' पदका अन्वय दूसरी प्रकार करके यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीरको छोड़कर जाता है, निरन्तर उस भावसे भावित होते-होते उस-उसको ही प्राप्त हो जाता है' तो क्या हानि है ?

उत्तर—इसमें हानिकी तो कोई बात ही नहीं है। इससे तो यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य मरनेके साथ तुरंत ही अन्तकालमें स्मरण किये हुए भावको पूर्णतया प्राप्त नहीं होता। मरनेके बाद सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें अङ्कित हुए उस भावसे भावित होता-होता निश्चित समयपर ही उस भावको पूर्णतया प्राप्त होता है। किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय जिस क्षण फोटो (चित्र) खींचा जाता है उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य जैसा चिन्तन करता है वैसे ही रूपका फोटो उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है। उसके बाद फोटोकी भाँति अन्य सहकारी पदार्थोंकी सहायता पाकर उस भावसे भावित होता हुआ वह समयपर स्थूलरूपको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति ही चित्र खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलने-डुलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा फोटो उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं तो चित्र बिगड़ जायगा।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर अन्य किसीका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है।

सम्बन्ध—अन्तकालमें जिसका स्मरण करते हुए मनुष्य मरता है, उसीको प्राप्त होता है; और अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है, जिसका जीवनमें अधिक स्मरण किया जाता है। यह निर्णय हो जानेपर भगवत्प्राप्ति चाहनेवालेके लिये अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है और अन्तकाल अचानक ही कब आ जाय, इसका कुछ पता नहीं है; अतएव अब भगवान् निरन्तर भजन करते हुए ही युद्ध करनेके लिये अर्जुनको आदेश करते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त दो श्लोकोंमें कहे हुए अर्थके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध दिखलानेके लिये यहाँ 'तस्मात्' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य-शरीर क्षणभङ्गुर है, कालका कुछ भी भरोसा नहीं है तथा जिसका अधिक चिन्तन होता है वही भाव अन्तमें स्मरण होता है। यदि भगवान्‌का स्मरण निरन्तर नहीं होगा और विषयभोगोंका स्मरण करते-करते ही शरीरका वियोग हो जायगा तो भगवत्प्राप्तिका द्वाररूप यह मनुष्यजीवन व्यर्थ ही चला जायगा। इसलिये निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌ने जो अर्जुनको सब कालमें अपना स्मरण करनेके लिये कहा, सो तो ठीक ही है; किन्तु युद्ध करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुन क्षत्रिय थे, धर्मानुसार उनको युद्धका

अवसर प्राप्त हो गया था। धर्मयुद्ध क्षत्रियके लिये वर्णधर्म है; इसलिये यहाँ 'युद्ध' शब्दको वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये की जानेवाली सभी क्रियाओंका उपलक्षण समझना चाहिये। भगवान्‌की आज्ञा समझकर निष्कामभावसे वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। इसके सिवा कर्तव्यकर्मके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करनेवाले और भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण कारण तीसरे अध्यायके चौथेसे तीसवें श्लोकतक दिखलाये गये हैं, उनपर विचार करनेसे भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्यको वर्णाश्रमधर्मके अनुसार कर्तव्य-कर्म अवश्य ही करने चाहिये। यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ युद्ध करनेको कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'च' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'च' का प्रयोग करके भगवान्‌ने युद्धको गौणता और स्मरणको प्रधानता दी है। भाव यह है कि युद्ध आदि वर्णधर्मके कर्म तो प्रयोजन और विधानके अनुसार नियत समयपर ही किये जाते हैं और वैसे ही करने भी चाहिये, परन्तु भगवान्‌का स्मरण तो मनुष्यको हर समय हर हालतमें अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन और युद्ध आदि वर्ण-धर्मके कर्म, दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—हो सकते हैं; साधकोंकी भावना, रुचि और अधिकारके अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न युक्तियाँ हैं। जो भगवान्‌के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्य-प्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌के द्वारा ही रचित और वास्तवमें भगवान्‌से अभिन्न तथा भगवान्‌की क्रीडास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति प्रत्येक परमाणु-में भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्षकी भाँति होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्स्मरणके साथ-साथ अन्यान्य कर्म करते रहना बहुत आसान बात है। तथा जिसका विषय-भोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्‌में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्काम भावसे केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है। जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर चढ़कर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है, अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत करता है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए वर्णाश्रमके सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं।

प्रश्न—मन-बुद्धिको भगवान्‌में समर्पित कर देना क्या है ?

उत्तर—बुद्धिसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और तत्त्वको समझकर परमश्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना और मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको भगवान्‌में समर्पित कर देना है। छठे अध्यायके अन्तमें भी 'मद्गतेनान्तरात्मना' पदसे यही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करके अर्जुनके सातवें प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर दिया गया, अब उसी प्रश्नका विस्तारपूर्वक उत्तर देनेके लिये अभ्यासयोगके द्वारा मनको वशमें करके भगवान्‌के 'अधियज्ञ' रूपका अर्थात् सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त रूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका तीन श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अभ्यासयोग' शब्द किसका वाचक है और चित्तका उस अभ्यासयोगसे युक्त होना क्या है ?

उत्तर—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है।

योगके द्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' कहते हैं।

प्रश्न—'नान्यगामी' कैसे चित्तको समझना चाहिये?

उत्तर—जो चित्त किसी पदार्थविशेषके चिन्तनमें लगा दिये जानेपर क्षणभरके लिये भी उसके चिन्तनको छोड़कर दूसरे पदार्थका चिन्तन नहीं करता—जहाँ लगा है, वहीं लगातार एकनिष्ठ होकर लगा रहता है, उस चित्तको नान्यगामी अर्थात् दूसरी ओर न जानेवाला कहते हैं। यहाँ परमेश्वरका विषय है, इससे यह समझना चाहिये कि वह चित्त परमेश्वरमें ही लगा रहता है।

प्रश्न—अनुचिन्तन करना किसे कहते हैं?

उत्तर—अभ्यासमें लगे हुए और दूसरी ओर न जानेवाले चित्तके द्वारा परमेश्वरके निराकार स्वरूपका जो निरन्तर ध्यान करते रहना है, इसीको 'अनुचिन्तन' कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'परमम्' और 'दिव्यम्' इन विशेषणोंके सहित 'पुरुषम्' इस पदका प्रयोग किसके लिये किया गया है और उसे प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया है, भगवान्‌के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त ज्ञानस्वरूपको यहाँ 'दिव्य परम पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते-करते उसे यथार्थ-रूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—दिव्यपुरुषकी प्राप्ति बतलाकर अब उसका स्वरूप बतलाते हैं—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है॥ ९॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—परम दिव्य पुरुषके स्वरूपका महत्त्व प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि वह परमात्मा सदा सब कुछ जानता है। भूत, वर्तमान और भविष्यकी, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—किसी भी जगत्‌की ऐसी कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बात नहीं, जिसको वह यथार्थरूपमें न जानता हो; इसलिये वह सर्वज्ञ (कविम्) है। वह सबका आदि है; उससे पहले न कोई था, न हुआ और न उसका कोई कारण ही है; वही सबका कारण और सबसे पुरातन है; इसलिये वह सनातन (पुराणम्) है। वह सबका स्वामी है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वान्तर्यामी है; वही सबका नियन्त्रणकर्ता है और वही सबके शुभाशुभ कर्मफलोंका यथायोग्य विभाग करता है; इसीलिये वह सबका नियन्ता (अनुशासितारम्) है। इतना शक्तिमान् होनेपर भी वह अत्यन्त ही सूक्ष्म है, जितने भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व हैं वह उन सबसे बढ़कर सूक्ष्म है और सबमें सदा व्याप्त है, इसी कारण सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धि ही उसका अनुभव करती है; इसीलिये वह सूक्ष्मतम (अणोरणीयांसम्) है। इतना सूक्ष्म होनेपर भी समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका आधार वही है, वही सबका धारण, पालन और पोषण करता है; इसलिये वह धाता (सर्वस्य धातारम्) है। सदा सबमें व्याप्त और सबके धारण-पोषणमें लगे रहनेपर भी वह सबसे इतना परे और इतना अतीन्द्रिय है कि मनके द्वारा उसके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन ही नहीं किया जा सकता; मन और बुद्धिमें जो चिन्तन और विचार करनेकी शक्ति आती है, उसका मूल स्रोत वही है—ये उसीकी जीवनधाराको लेकर जीवित और कार्यशील रहते हैं; वह निरन्तर इनको और सबको देखता है तथा इनमें शक्तिसञ्चार करता रहता है किन्तु ये उसको नहीं देख पाते; इसीलिये वह अचिन्त्यस्वरूप (अचिन्त्यरूपम्) है। अचिन्त्य होनेपर भी वह प्रकाशमय है और सदा-सर्वदा सबको प्रकाश देता रहता है; जैसे सूर्य

स्वयंप्रकाशस्वरूप है और अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है, वैसे ही वह स्वयंप्रकाश परम पुरुष अपनी अखण्ड ज्ञानमयी दिव्य ज्योतिसे सदा-सर्वदा सबको प्रकाशित करता है; इसीलिये वह सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप (आदित्यवर्णम्) है। और ऐसा दिव्य, नित्य और अनन्त ज्ञानमय प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, उसमें अविद्या या अज्ञानरूप अन्धकारकी कल्पना ही नहीं की जा सकती; जैसे सूर्यने कभी अन्धकारको देखा ही नहीं, वैसे ही उसका स्वरूप भी सदा-सर्वदा अज्ञान-तमसे सर्वथा रहित है; बल्कि घोर रात्रिके अत्यन्त अन्धकारको भी जैसे सूर्यका पूर्वाभास ही नष्ट कर देता है; वैसे ही घोर विषयी पुरुषका अज्ञान भी उसके विज्ञानमय प्रकाशकी उज्ज्वल किरणें पाकर नष्ट हो जाता है; इसीलिये वह अविद्यासे अति परे (तमसः परस्तात्) है। ऐसे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वररूप पुरुषको सदा स्मरण करना चाहिये।*

प्रश्न—जब भगवान्‌का उपर्युक्त स्वरूप अचिन्त्य है, उसका मन-बुद्धिसे चिन्तन ही नहीं किया जा सकता, तब उसके स्मरण करनेकी बात कैसे कही गयी?

उत्तर—यह सत्य है कि अचिन्त्यस्वरूपकी यथार्थ उपलब्धि मन-बुद्धिको नहीं हो सकती। परन्तु उसके जो लक्षण यहाँ बतलाये गये हैं, इन लक्षणोंसे युक्त समझकर उसका बार-बार स्मरण और मनन तो हो ही सकता है और ऐसा स्मरण-मनन ही स्वरूपकी यथार्थ उपलब्धिमें हेतु होता है। इसीलिये उसके स्मरणकी बात कही गयी है और यह कहना उचित ही है।

सम्बन्ध—परम दिव्य पुरुषका स्वरूप बतलाकर अब साधनकी विधि और फल बतलाते हैं—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है॥ १०॥

प्रश्न—यहाँ 'भक्त्या युक्तः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'भक्त्या युक्तः' का अर्थ है भक्तिसे युक्त। भगवत्-विषयक अनुरागका नाम भक्ति है; जिसमें भक्ति होती है, वही भक्तिसे युक्त है। अनुराग या प्रेम किसी-न-किसी प्रेमास्पदमें होता है। इससे यह समझना चाहिये कि यहाँ निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अहंग्रह-उपासनाका अर्थात् ज्ञानयोगका प्रसङ्ग नहीं है, उपास्य-उपासकभावसे की जानेवाली भक्तिका प्रसङ्ग है।

प्रश्न—योगबल क्या है, भृकुटीके मध्यका स्थान कौन-सा है और प्राणोंको वहाँ अच्छी तरह स्थापन करना किसे कहते हैं तथा वह किसप्रकार किया जाता है?

उत्तर—आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ अभ्यासयोग (अष्टाङ्गयोग) ही 'योग' है, योगाभ्याससे उत्पन्न जो यथायोग्य प्राणसञ्चालन और प्राणनिरोधका सामर्थ्य है, उसका नाम 'योगबल' है। दोनों भौंहोंके बीचमें जहाँ योगशास्त्रके जाननेवाले पुरुष 'आज्ञाचक्र' बतलाया करते हैं, वही भृकुटीके मध्यका स्थान है। कहते हैं कि यह आज्ञाचक्र द्विदल है। इसमें त्रिकोण योनि है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र इसी त्रिकोणमें एकत्र होते हैं। जानकार योगी पुरुष महाप्रयाणके समय योगबलसे प्राणोंको यहाँ लाकर स्थिररूपसे निरुद्ध कर देते हैं। इसीका नाम अच्छी तरह प्राणोंका स्थापन करना है। इस प्रकार आज्ञाचक्रमें प्राणोंका निरोध करना साधनसापेक्ष है।

* श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में इससे मिलता-जुलता मन्त्र है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (३।८)

'यह पुरुष जो सूर्यके सदृश प्रकाशस्वरूप, महान् और अज्ञानान्धकारसे परे है, इसको मैं जानता हूँ। उसको जानकर ही अधिकारी मृत्युको लाँघता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये दूसरा मार्ग नहीं है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मसम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥

प्रश्न—यहाँ सब द्वारोंका रोकना क्या है ?

उत्तर—श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय— इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इनके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों) को भी 'द्वार' कहते हैं। इन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बंद करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको भी रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारोंका संयम करना है। इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'हृद्देश' किस स्थानका नाम है, और मनको हृद्देशमें स्थिर करना क्या है ?

उत्तर—नाभि और कण्ठ— इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणोंका निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है; और इधर-उधर भटकनेवाले मनको संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

प्रश्न—प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनको हृदयमें रोकनेके बाद प्राणोंको ऊर्ध्वगामी नाड़ीके द्वारा हृदयसे ऊपर उठाकर मस्तकमें स्थापित करनेके लिये कहा गया है, ऐसा करनेसे प्राणोंके साथ-साथ मन भी वहीं जाकर स्थित हो जाता है।

प्रश्न—योगधारणामें स्थित रहना क्या है ? और 'योगधारणाम्' के साथ 'आत्मनः' पद देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे इन्द्रियोंका संयम और मन तथा प्राणोंका मस्तकमें भलीभाँति निश्चल हो जाना ही योगधारणामें स्थित रहना है। 'आत्मनः' पदसे यह बात दिखलायी गयी है कि यहाँ परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली योगधारणाका विषय है, अन्य देवतादिविषयक चिन्तनसे या प्रकृतिके चिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाली धारणाका विषय नहीं है।

प्रश्न—यहाँ ओङ्कारको 'एकाक्षर' कैसे कहा ? और इसे 'ब्रह्म' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दसवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी ओङ्कारको 'एक अक्षर' कहा है (गिरामस्म्येकमक्षरम्)। इसके अतिरिक्त यह अद्वितीय अविनाशी परब्रह्म परमात्माका नाम है और नाम तथा नामीमें वास्तवमें अभेद माना गया है; इसलिये भी ओङ्कारको 'एक अक्षर' और 'ब्रह्म' कहना उचित ही है। कठोपनिषद्में भी कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(१ । २ । १६)

'यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम है; इसी अक्षरको जानकर ही जो जिसकी इच्छा करता है, उसे वही प्राप्त हो जाता है।'

प्रश्न—वाणी आदि इन्द्रियोंके और मनके रुक जानेपर तथा प्राणोंके मस्तकमें स्थापित हो जानेपर ओङ्कारका उच्चारण कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—यहाँ वाणीसे उच्चारण करनेके लिये नहीं कहा गया है। उच्चारण करनेका अर्थ मनके द्वारा उच्चारण करना ही है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किसका वाचक है और उसका स्मरण करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसङ्ग होनेसे

'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है। चौथे श्लोकमें 'इस शरीरमें 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ' इस कथनसे भगवान्‌ने जिस प्रकार अधियज्ञके साथ अपनी एकता दिखलायी है, उसी प्रकार यहाँ 'ब्रह्म'के साथ अपनी एकता दिखलानेके लिये 'माम्' पदका प्रयोग किया है।

प्रश्न—मनसे ओङ्कारका उच्चारण और उसके अर्थस्वरूप ब्रह्मका चिन्तन, दोनों काम एक साथ कैसे होते हैं?

उत्तर—मनके द्वारा दोनों काम एक साथ अवश्य ही हो सकते हैं। परमात्माके नाम 'ॐ' का मनसे उच्चारण करते हुए, साथ-साथ ब्रह्मका चिन्तन करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती। मनसे नामका उच्चारण तो नामीके चिन्तनमें उल्टा सहायक होता है। महर्षि पतञ्जलिजीने भी कहा है 'ध्यान-कालमें सवितर्क समाधितक शब्द, अर्थ और तद्विषयकज्ञानका विकल्प मनमें रहता है' (योगदर्शन १।४१) अतः जिसका चिन्तन किया जाता है उसीके वाचक नामका मनके संकल्प-में रहना तो स्वाभाविक है और उन्होंने यह भी कहा है कि—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योगदर्शन १।२७-२८)

'उसका नाम प्रणव (ॐ) है।' 'उस ॐका जप करते हुए उसके अर्थ परमात्माका चिन्तन करना चाहिये।'

प्रश्न—यहाँ परमगतिको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है; इसीको सदाके लिये आवागमनसे मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा 'निर्वाण ब्रह्म' को प्राप्त होना कहते हैं।

प्रश्न—आठवेंसे दसवें श्लोकतक सगुण-निराकार ईश्वरकी उपासनाका प्रकरण है और ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासनाका। इस प्रकार यहाँ भिन्न-भिन्न दो प्रकरण क्यों माने गये? यदि छहों श्लोकोंका एक ही प्रकरण मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—आठवेंसे दसवें श्लोकतकके वर्णनमें उपास्य परम पुरुषको सर्वज्ञ, सबके नियन्ता, सबके धारण-पोषण करने-वाले और सूर्यके सदृश स्वयंप्रकाशरूप बतलाया है। ये सभी सर्वव्यापी भगवान्‌के दिव्य गुण हैं। परन्तु ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक एक भी ऐसा विशेषण नहीं दिया गया है जिससे यहाँ निर्गुण निराकारका प्रसङ्ग माननेमें तनिक भी आपत्ति हो सकती हो। इसके अतिरिक्त, उस प्रकरणमें उपासकको 'भक्तियुक्त' कहा गया है, जो भेदोपासनाका द्योतक है तथा उसका फल दिव्य परम पुरुष (सगुण परमेश्वर) की प्राप्ति बतलाया गया है। यहाँ अभेदोपासनाका वर्णन होनेसे उपासकके लिये कोई विशेषण नहीं दिया गया है और इसका फल भी परम गति (निर्गुण ब्रह्म) की प्राप्ति बतलाया है। इसके अतिरिक्त ग्यारहवें श्लोकमें नये प्रकरणका आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा भी की गयी है। साथ ही दोनों प्रकरणोंको एक मान लेनेसे योगविषयक वर्णनकी पुनरुक्तिका भी दोष आता है। इन सब कारणोंसे यही प्रतीत होता है कि इन छहों श्लोकोंमें एक ही प्रकरण नहीं है। दो भिन्न-भिन्न प्रकरण हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार निराकार-सगुण परमेश्वरके और निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक योगियोंकी अन्तकालीन गतिका प्रकार और फल बतलाया गया; किन्तु अन्तकालमें इस प्रकारका साधन वे ही पुरुष कर सकते हैं, जिन्होंने पहलेसे योगका अभ्यास करके मनको अपने आधीन कर लिया है। साधारण मनुष्यके द्वारा अन्तकालमें इस प्रकार सगुण-निराकार-का और निर्गुण-निराकारका साधन किया जाना बहुत ही कठिन है, अतएव सुगमतासे परमेश्वरकी प्राप्तिका उपाय जानने-की इच्छा होनेपर अब भगवान् अपने नित्य-निरन्तर स्मरणको अपनी प्राप्तिका सुगम उपाय बतलाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ॥ १४॥

प्रश्न—यहाँ 'अनन्यचेताः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'सततम्' और 'नित्यशः' इन दो पदोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'सततम्' पदसे यह दिखलाया है कि एक क्षणका भी व्यवधान न पड़कर लगातार स्मरण होता रहे। और 'नित्यशः' पदसे यह सूचित किया है कि ऐसा लगातार स्मरण आजीवन सदा-सर्वदा होता ही रहे, इसमें एक दिनका भी नागा न हो। इस प्रकार दो पदोंका प्रयोग करके भगवान्ने जीवनभर नित्य-निरन्तर स्मरणके लिये कहा है। इसका यही भाव समझना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किसका वाचक है और उसको स्मरण करना क्या है?

उत्तर—यह नित्य प्रेमपूर्वक स्मरण करनेका प्रसंग है और इसमें 'तस्य', 'अहम्' आदि भेदोपासनाके सूचक पदोंका प्रयोग हुआ है। अतएव यहाँ 'माम्' पद सगुण साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है। परन्तु जो श्रीविष्णु और श्रीराम या भगवान्के दूसरे रूपको इष्ट माननेवाले हैं उनके लिये वह रूप भी 'माम्' का ही वाच्य है। तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करते रहना ही उसका स्मरण करना है।

प्रश्न—ऐसे भक्तके लिये भगवान् 'सुलभ' क्यों हैं?

उत्तर—अनन्यभावसे भगवान्का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्के वियोगको नहीं सह सकता, तब 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (४ । ११) के अनुसार भगवान्को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है; और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब कठिनताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इसी हेतुसे ऐसे भक्तके लिये भगवान्को सुलभ बतलाया गया है।

प्रश्न—नित्य-निरन्तर स्मरण करनेवाले भक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं, यह तो मान लिया; परन्तु भगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण क्या सहज ही हो सकता है?

उत्तर—जिनकी भगवान्में और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंमें परम श्रद्धा और प्रेम है, जिनको यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्का मिलना सुलभ है, उनके लिये तो भगवत्कृपासे नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण होना सहज ही है। अवश्य ही, जिनमें श्रद्धा-प्रेमका अभाव है, जो भगवान्के गुण-प्रभावको नहीं जानते और जिनको महत्संगका सौभाग्य प्राप्त नहीं है, उनके लिये नित्य-निरन्तर भगवच्चिन्तन होना कठिन है।

सम्बन्ध—भगवान्के नित्य-निरन्तर चिन्तनसे भगवत्प्राप्तिकी सुलभताका प्रतिपादन किया, अब उनके पुनर्जन्म न होनेकी बात कहकर यह दिखलाते हैं कि भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका भगवान्से फिर कभी वियोग नहीं होता—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ १५ ॥

प्रश्न—'परम सिद्धि' क्या है और 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किसके लिये किया गया है?

उत्तर—अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको 'परम सिद्धि' कहते हैं; और भगवान्के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'पुनर्जन्म' क्या है और उसे 'दुःखोंका घर' तथा 'अशाश्वत' (क्षणभङ्गुर) किस लिये बतलाया गया है ?

उत्तर—जीव जबतक भगवान्‌को प्राप्त नहीं हो जाता तबतक कर्मवश उसका एक योनिको छोड़कर दूसरी योनिमें जन्म लेना मिट नहीं सकता। इसलिये मरनेके बाद कर्म-परवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है। और ऐसी कोई भी योनि नहीं है जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो। जीवनकी अनित्यताका प्रमाण तो मृत्यु है ही; परन्तु जीवनमें जिन वस्तुओंसे संयोग होता है, उनमें भी कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सदा एक-सी रहनेवाली हो; और जिससे सदा संयोग बना रहे। जो वस्तु आज सुख देनेवाली प्रतीत होती है, कल उसीका रूपान्तर हो जानेपर अथवा उसके सम्बन्धमें अपना भाव बदल जानेपर वह दुःखप्रद हो जाती है। जिसको जीवनमें मनुष्य सुखप्रद ही मानता है, ऐसी वस्तुका भी जब नाश होता है या जब उसको छोड़कर मरना पड़ता है, तब वह भी दुःखदायिनी ही हो जाती है। इसके साथ-साथ प्रत्येक वस्तु या स्थितिमें कमीका बोध और उसके विनाशकी आशंका तो सदा दुःख देनेवाली होती ही है। सुखरूप दीखनेवाली वस्तुओंके संग्रह और भोगमें आसक्तिवश जो पाप किये जाते हैं, उनका परिणाम भी नाना प्रकारके कष्टों और नरकयन्त्रणाओंकी प्राप्ति भी होना है। इस प्रकार पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभङ्गुर) बतलाया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म क्यों नहीं होता?

उत्तर—इसीलिये नहीं होता कि उन अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यह नियम है कि एक बार जिसको समस्त सुखोंके अनन्त सागर, सबके परमाधार, परम आश्रय, परमात्मा, परमपुरुष भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, उसका फिर कभी किसी भी परिस्थितिमें भगवान्‌से वियोग नहीं होता। इसीलिये भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा कहा गया है।

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता, इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे जीवोंका पुनर्जन्म होता है। अतः यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि किस लोकतक पहुँचे हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है। इसपर भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं॥ १६॥

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्मलोक' शब्द किस लोकका वाचक है, 'आ' अव्ययके प्रयोगका क्या अभिप्राय है और 'लोकाः' पदसे किन-किन लोकोंका लक्ष्य है ?

उत्तर—जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको 'अधिदैव' कहा गया है (८। ४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम 'ब्रह्मलोक' है। और 'लोकाः' पदसे भिन्न-भिन्न लोकपालोंके स्थानविशेष 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि समस्त लोकोंका लक्ष्य है। तथा 'आ' अव्ययके प्रयोगसे उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं उन सबको ले लिया गया है।

प्रश्न—'पुनरावर्ती' किन लोकोंको कहते हैं ?

उत्तर—बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो एवं जिनमें निवास करनेवाले प्राणियोंका मुक्त होना निश्चित न हो, उन लोकोंको 'पुनरावर्ती' कहते हैं।

सम्बन्ध—ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोकोंको पुनरावर्ती बतलाया, परन्तु वे पुनरावर्ती कैसे हैं—इस जिज्ञासापर अब भगवान् ब्रह्माके दिन-रातकी अवधिका वर्णन करके सब लोकोंकी अनित्यता सिद्ध करते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्म का जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

प्रश्न—'सहस्रयुग' शब्द कितने समयका वाचक है और उस समयको जो ब्रह्माके दिन-रातका परिमाण बतलाया गया है—इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'युग' शब्द 'दिव्य युग'का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलानेपर होता है । यह देवताओंका युग है, इसलिये इसको 'दिव्ययुग' कहते हैं । इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है । अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका चौबीस घंटेका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है । ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक 'दिव्ययुग' होता है । इसे 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं । इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं । दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है । कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं । यह एक दिव्य युग है । ऐसे हजार दिव्य युगोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और उतने युगोंकी एक रात्रि होती है । इसे दूसरी तरह समझिये । हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापर—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेता—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,००० वर्ष (कलियुगसे चौगुना)
कुल जोड़—४३,२०,००० वर्ष

यह एक दिव्य युग हुआ । ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है ।

मनुस्मृति प्रथम अध्यायमें चौंसठसे तिहत्तरवें श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है । ब्रह्माके दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' और रात्रिको 'प्रलय' कहते हैं । ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है । ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना क्या है ?

प्रश्न—जो लोग ब्रह्माके दिन-रातका परिमाण जानते हैं, वे कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ब्रह्माके दिन-रात्रिकी अवधि जान लेनेपर मनुष्यको ब्रह्मलोक और उसके अन्तर्वर्ती सभी लोकोंकी अनित्यताका ज्ञान हो जाता है । तब वह इस बातको भलीभाँति समझ लेता है कि जब लोक ही अनित्य हैं, तब वहाँके भोग तो अनित्य और विनाशी हैं ही । और जो वस्तु अनित्य और विनाशी होती है, वह स्थायी सुख दे नहीं सकती । अतएव इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करना और मनुष्यजीवनको प्रमादमें लगाकर उसे व्यर्थ खो देना बड़ी भारी मूर्खता है । मनुष्यजीवनकी अवधि बहुत ही थोड़ा है (९ । ३३) अतः भगवान्‌का प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करके शीघ्र-से-शीघ्र उन्हें प्राप्त

कर लेना ही बुद्धिमानी है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सफलता है। जो इस प्रकार समझते हैं, वे ही दिन-रात्रिरूप कालके तत्त्वको जानकर अपने अमूल्य समयकी सफलताका लाभ उठानेवाले हैं।

सम्बन्ध—ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर अब उस दिन और रातके आरम्भमें बार-बार होनेवाली समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन करते हुए उन सबकी अनित्यताका कथन करते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं॥१८॥

प्रश्न—यहाँ 'सर्वाः' विशेषणके सहित 'व्यक्तयः' पद किनका वाचक है?

उत्तर—जो वस्तु इन्द्रियोंके द्वारा जानी जा सके, उसका नाम 'व्यक्ति' है। भूतप्राणी सब जाने जा सकते हैं; अतएव देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी प्राणी हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वाः' विशेषणके सहित 'व्यक्तयः' पद है।

प्रश्न—'अव्यक्त' शब्दसे किसका लक्ष्य है और ब्रह्माके दिनके आगममें उस अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना क्या है?

उत्तर—प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पञ्चमहाभूतोंके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं। यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है।

प्रश्न—रात्रिका आगम क्या है? और उस समय अव्यक्तसे उत्पन्न सब व्यक्ति पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम है।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं। यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है। आत्मा अजन्मा और अविनाशी है, इसलिये वास्तवमें उसकी उत्पत्ति और लय नहीं होते। अतएव यहाँ यही समझना चाहिये कि प्रकृतिमें स्थित प्राणियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रकृतिके सूक्ष्म अंशका स्थूलरूपमें परिणत हो जाना ही उनकी उत्पत्ति है और उस स्थूलका पुनः सूक्ष्मरूपमें लय हो जाना ही उन प्राणियोंका लय होना है।

प्रश्न—यहाँ जिस 'अव्यक्त' को 'सूक्ष्म प्रकृति' कहा गया है इसमें और नवम अध्यायके सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें जिस प्रकृतिका वर्णन है, उसमें परस्पर क्या भेद है?

उत्तर—स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, एक ही प्रकृतिका अवस्थाभेदसे दो प्रकारका पृथक्-पृथक् वर्णन है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें 'अव्यक्त' नामसे उस अपरा प्रकृतिका वर्णन है, जिसको सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया गया है। और नवम अध्यायके सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें उस मूल प्रकृतिका वर्णन है जो अपने अनिर्वचनीय रूपमें स्थित है और जिसके आठ भेद नहीं हुए हैं। यह मूल प्रकृति ही जब कारण-अवस्थासे सूक्ष्म-अवस्थामें परिणत होती है, तब यही आठ भेदोंमें विभक्त अपरा प्रकृतिके नामसे कही जाती है।

सम्बन्ध—यद्यपि ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें समस्त भूत अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं, तथापि जबतक वे परम पुरुष परमेश्वरको प्राप्त नहीं होते, तबतक उनका पुनर्जन्मसे पिंड नहीं छूटता, वे आवागमनके चक्करमें घूमते ही रहते हैं। इसी भावको दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है॥ १९॥

प्रश्न—यहाँ 'भूतग्रामः' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'सः', 'एव' और 'अयम्' पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'भूतग्रामः' पद यहाँ चराचर प्राणिमात्रके समुदायका वाचक है; उसके साथ 'सः', 'एव' और 'अयम्' पदोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो भूत-प्राणी ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें अव्यक्तमें लीन होते हैं, जिन्हें पूर्वश्लोकमें 'सर्वाः व्यक्तयः' के नामसे कहा गया है, वे ही ब्रह्माके दिनके आरम्भमें पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। अव्यक्तमें लीन हो जानेसे न तो वे मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है। इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य स्थूल शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि कल्प-कल्पान्तरसे जो इस प्रकार बार-बार अव्यक्तमें लीन और पुनः उसीसे प्रकट होता रहा है, तुम्हें प्रत्यक्ष दीखनेवाला यह स्थावर-जङ्गम भूतसमुदाय वही है; कोई नया उत्पन्न नहीं हुआ है।

प्रश्न—'भूत्वा' पदके दो बार प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार यह भूतसमुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है। ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं, (९।७) तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता। ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः-पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (९।८)। जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा।

प्रश्न—'अवशः' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अवशः' पद 'भूतग्रामः' का विशेषण है। जो किसी दूसरेके अधीन हो, स्वतन्त्र न हो, उसे अवश या पर-वश कहते हैं। ये अव्यक्तसे उत्पन्न और पुनः अव्यक्तमें ही लीन होनेवाले समस्त प्राणी अपने-अपने स्वभावके वश हैं अर्थात् अनादिसिद्ध भिन्न-भिन्न गुण और कर्मोंके अनुसार जो इन सबकी भिन्न-भिन्न प्रकृति है, उस प्रकृति या स्वभावके वश होनेके कारण ही इनका बार-बार जन्म और मरण होता है; इसीलिये तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंको अर्थात् सुख-दुःखोंको भोगता है एवं प्रकृतिका संग ही इसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो जीव प्रकृतिसे उस पार पहुँचकर परमात्माको प्राप्त हो गया है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्रश्न—स्वभावके पराधीन समस्त भूत-प्राणी जो बार-बार उत्पन्न होते हैं, उन्हें उनके अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार ठीक-ठीक व्यवस्थाके साथ उत्पन्न करनेवाला कौन है? प्रकृति, परमेश्वर, ब्रह्मा अथवा कोई और ही?

उत्तर—यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं। महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परन्तु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं।

नवें अध्यायमें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें अध्यायमें

(श्लोक ३, ४) जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महाप्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (सर्गके) आरम्भ-समयका है।

सम्बन्ध—ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें समस्त भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं, वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है? या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता॥ २०॥

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' विशेषणके साथ 'अव्यक्तात्' पद किस 'अव्यक्त' पदार्थका वाचक है? उससे भिन्न दूसरा 'अव्यक्तभाव' क्या है? तथा उसे 'परः', 'अन्यः' और 'सनातनः' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों)का लय होना बतलाया गया है, उसी वस्तुका वाचक यहाँ 'तस्मात्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तात्' पद है; उससे भिन्न दूसरा 'अव्यक्तभाव' (तत्त्व) वह है जिसका इस अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अधियज्ञ' नामसे, नवें श्लोकमें 'कवि', 'पुराण' आदि नामोंसे, आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे, बाईसवें श्लोकमें 'परम पुरुष' के नामसे और नवम अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्ति' के नामसे वर्णन किया गया है। पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि दोनों वस्तुओंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी, दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं। वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान् और ज्ञेय है; परन्तु यह दूसरा चेतन, अविनाशी और ज्ञाता है। साथ ही यह उसका स्वामी, संचालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है।

प्रश्न—'वह सनातन अव्यक्त सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता'—इस वाक्यमें 'सब भूतों' से किसका लक्ष्य है? उनका नाश होना और उस समय उस सनातन अव्यक्तका नष्ट न होना वस्तुतः क्या है?

उत्तर—ब्रह्मासे लेकर ब्रह्माके दिन-रात्रिमें उत्पन्न और विलीन होनेवाले अपने-अपने मन, इन्द्रिय, शरीर, भोग्यवस्तु और वासस्थानोंके सहित जितने भी चराचर प्राणी हैं, 'सब भूतों' से यहाँ उन सभीका लक्ष्य है। महाप्रलयके समय स्थूल और सूक्ष्म शरीरसे रहित होकर जो ये अव्याकृत मायानामक मूलप्रकृतिमें लीन हो जाते हैं, वही इनका नाश है। उस समय भी उस प्रकृतिके अधिष्ठाता सनातन अव्यक्त परम दिव्य पुरुष परमेश्वर प्रकृतिसहित उन समस्त जीवोंको अपनेमें लीन करके अपनी ही महिमामें स्थित रहते हैं, यही उनका समस्त भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट न होना है।

सम्बन्ध—आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए उनकी प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है॥ २१॥

प्रश्न—यहाँ 'अव्यक्तः' और 'अक्षरः' पद किसके वाचक हैं ?

उत्तर—जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव'के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष'के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषके वाचक यहाँ 'अव्यक्तः' और 'अक्षरः' पद हैं।

प्रश्न—'परम गति' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'परम' विशेषण होनेसे यह भाव है कि जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता एवं जिसके प्राप्त होते ही सम्पूर्ण दुःखोंका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक 'परम गति' शब्द है (८।१३)।

प्रश्न—यहाँ 'परम धाम' शब्द किसका वाचक है और उसके साथ अव्यक्त, अक्षर तथा परम गतिकी एकता करनेका और जिसे प्राप्त होकर वापस नहीं आते—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌का जो नित्यधाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय, दिव्य, चेतन और भगवान्‌का ही स्वरूप होनेके कारण वास्तवमें भगवान्‌से अभिन्न ही है; अतः यहाँ 'परम धाम' शब्द भगवान्‌के नित्य धाम, उनके स्वरूप एवं भगवद्भाव—इन सभीका वाचक है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परमगतिकी प्राप्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इसी बातको समझानेके लिये यह कहा गया है कि जिसको प्राप्त करके मनुष्य नहीं लौटता, वही मेरा परम धाम है; उसीको अव्यक्त, अक्षर तथा परम गति भी कहते हैं। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। यथार्थमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सनातन अव्यक्त पुरुषकी परम गति और परम धामके साथ एकता दिखलाकर, अब उस सनातन अव्यक्त परम पुरुषकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

प्रश्न—'जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं' और 'जिस परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है'—इन दोनों वाक्योंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रथम वाक्यसे यह समझना चाहिये कि जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी, चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है। दूसरे वाक्यसे यह बात समझनी चाहिये कि जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् अव्यक्त परमेश्वरसे व्याप्त है, यही बात नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

प्रश्न—'परः पुरुषः' किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'परः पुरुषः' सर्वव्यापी 'अधियज्ञ' का वाचक है। इसी अध्यायके आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें जिस सगुण-निराकारकी उपासनाका प्रकरण है तथा बीसवें श्लोकमें जिस अव्यक्त पुरुषकी बात कही गयी है, यह प्रकरण भी उसीकी उपासनाका है। उसी परमेश्वरमें समस्त भूतोंकी स्थिति और उसीकी सबमें व्याप्ति बतलायी गयी है।

प्रश्न—आठवेंसे दसवें श्लोकतक इस अव्यक्त पुरुषकी

उपासनाका प्रकरण आ चुका है, फिर उसे यहाँ दुबारा लानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यद्यपि दोनों ही जगह अव्यक्त पुरुषकी ही उपासनाका वर्णन है—इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु इतना भेद है कि वहाँ आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें तो योगी पुरुषोंद्वारा प्राप्त किये जानेवाले केवल अन्तकालीन साधनका फलसहित वर्णन है और यहाँ सर्वसाधारणके लिये सदा-सर्वदा की जा सकनेवाली अनन्य-भक्तिका और उसके द्वारा उसी परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन है । इसी अभिप्रायसे उस उपासनाके प्रकरणको यहाँ पुनः लाया गया है ।

प्रश्न—'अनन्यभक्ति' किसको कहते हैं और उसके द्वारा परम पुरुषका प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर-में ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम सन्तुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य-भक्ति है । इस अनन्य भक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उसका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है । यही साधकका उस परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है ।

सम्बन्ध—अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी । प्रसङ्गवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता । परन्तु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं । अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जिस कालमें शरीर त्याग कर गये हुए योगीजन तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ॥ २३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'काल' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमा-तक अधिकार है ।

प्रश्न—यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ 'समय' मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—छब्बीसवें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति' के नामसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है । वे दोनों ही शब्द मार्गवाचक हैं । इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समय-वाचक नहीं हैं । अतएव चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा । इसीलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है ।

प्रश्न—यदि यही बात है तो संसारमें लोग दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा क्यों समझते हैं ?

उत्तर—लोगोंका समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है, क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है । अतः उस समय मरनेवाला योगी गन्तव्य स्थानतक शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है । पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता । बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी, वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा । इतनी बात अवश्य है कि यदि अर्चिमार्गका अधिकारी रात्रिमें मरेगा तो उसका दिनके अभिमानी देवताके साथ सम्बन्ध दिनके उदय होनेपर ही होगा, इस बीचके समयमें वह 'अग्निः' के अभिमानी देवताके अधिकारमें रहेगा । यदि कृष्णपक्षमें मरे

तो उसका शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे सम्बन्ध शुक्लपक्ष आनेपर ही होगा, इसके बीचके समयमें वह दिनके अभिमानी देवताके अधिकारमें रहेगा। इसी तरह यदि दक्षिणायनमें मरेगा तो उसका उत्तरायणाभिमानी देवतासे सम्बन्ध उत्तरायणका समय आनेपर ही होगा, इसके बीचके समयमें वह शुक्लपक्षाभिमानी देवताके अधिकारमें रहेगा। इसीप्रकार दक्षिणायन मार्गके अधिकारीके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'योगिनः' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'योगिनः' पदके प्रयोगसे यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है। यहाँ जो 'शुक्ल' और 'कृष्ण' इन दो मार्गोंके वर्णनका प्रकरण है, **वह यज्ञ,** दान, तप आदि शुभकर्म और उपासना करनेवाले **श्रेष्ठ** पुरुषोंकी गतिका ही वर्णन है।

प्रश्न—'प्रयाताः' पदका क्या अभिप्राय है? और भगवान्‌ने यहाँ 'वक्ष्यामि' पदसे क्या कहनेकी प्रतिज्ञा की है?

उत्तर—'प्रयाताः' पद जानेवालोंका वाचक है। जो मनुष्य अन्तकालमें शरीरको छोड़कर उच्च लोकोंमें जानेवाले हैं, उनका वर्णन करनेके उद्देश्यसे इसका प्रयोग हुआ है। जिस रास्तेसे गया हुआ मनुष्य वापस नहीं लौटता और जिस रास्तेसे गया हुआ वापस लौटता है, उन दोनों रास्तोंका क्या भेद है, वे दोनों रास्ते कौन-कौन-से हैं, तथा उन रास्तोंपर किन-किनका अधिकार है—'वक्ष्यामि' पदसे भगवान्‌ने इन सब बातोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिन दो मार्गोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी, उनमेंसे जिस मार्गसे गये हुए साधक वापस नहीं लौटते, उसका वर्णन पहले किया जाता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ २४॥

प्रश्न—'ज्योतिः' और 'अग्निः'—ये दोनों पद किस देवताके वाचक हैं तथा उस देवताका स्वरूप क्या है? उक्त मार्गमें उसका कितना अधिकार है और वह इस विषयमें क्या करता है?

उत्तर—यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

प्रश्न—'अहः' पद किस देवताका वाचक है, उसका क्या स्वरूप है, उसका कहाँतक अधिकार है एवं वह इस विषयमें क्या करता है?

उत्तर—'अहः' पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे

यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

प्रश्न—यहाँ 'शुक्लः' पद किस देवताका वाचक है, उसका कैसा स्वरूप है, कहाँतक अधिकार है एवं क्या काम है?

उत्तर—पहलेकी भाँति 'शुक्लः' पद भी शुक्लपक्षाभिमानी देवताका ही वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है। और उत्तरायण-मार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरंत ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण-अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

प्रश्न—'षण्मासा उत्तरायणम्' पद किस देवताका वाचक है? उसका कैसा स्वरूप है, कहाँतक अधिकार है एवं क्या काम है?

उत्तर—जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'षण्मासा उत्तरायणम्' पद है। इसका स्वरूप शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे परमधामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके, उपनिषदोंमें वर्णित—(छान्दोग्य उ० ४ । १५ । ५; तथा ५ । १० । १,२; बृहदारण्यक उ० ६ । २ । १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्‌के परमधामसे भगवान्‌के पार्षद आकर उसे परम धाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्‌से मिलन हो जाता है।

ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ 'चन्द्र' शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्मविदः' पद कौन-से मनुष्योंका वाचक है?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्मविदः' पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और आचार्योंके उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्षभावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका वाचक है। यहाँका 'ब्रह्मविदः' पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है, क्योंकि उनके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक उ० ४ । ४ । ६) 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृहदारण्यक उ० ३ । २ । ११) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उ० ४ । ४ । ६) अर्थात् 'क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते', 'शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते', 'यहींपर लीन हो जाते हैं', 'वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।' जिसको सगुण परमात्माका साक्षात्कार हो गया है, ऐसा भक्त उपर्युक्त मार्गसे भगवान्‌के परम धामको भी जा सकता है अथवा भगवान्‌के स्वरूपमें लीन भी हो सकता है। यह उसकी रुचिपर निर्भर है।

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्म' शब्द किसका वाचक है? और उसको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्म' शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धाम, जिसे सत्यलोक, परम धाम, साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक एवं ब्रह्मलोक भी कहते हैं, वहाँ पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको प्राप्त होना है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यह ब्रह्मलोक इस अध्यायके सोलहवें श्लोकमें वर्णित पुनरावर्ती ब्रह्मलोक नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार वापस न लौटनेवालोंके मार्गका वर्णन करके अब जिस मार्गसे गये हुए साधक वापस लौटते हैं, उसका वर्णन किया जाता है—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—'धूमः' पद किस देवताका वाचक है ? उसका स्वरूप कैसा होता है, उसका कहाँतक अधिकार है और क्या काम है ?

उत्तर—यहाँ 'धूमः' पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। अग्नि-अभिमानी देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है। तथा दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाला जो साधक दिनमें मर जाता है, उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी देवताको सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरंत ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

प्रश्न—'रात्रिः' पद किसका वाचक है, उसका स्वरूप कैसा है, अधिकार कहाँतक है और क्या काम है ?

उत्तर—यहाँ 'रात्रिः' पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि पृथ्वीलोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि रहती है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार करके अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, तब तो उसे कृष्णपक्ष आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपने अधिकारसे पार करके कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

प्रश्न—यहाँ 'कृष्णः' पद किसका वाचक है ? उसका स्वरूप कैसा होता है, कहाँतक अधिकार है और क्या काम है ?

उत्तर—कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वी-मण्डलकी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जहाँतक पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है, और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन-मार्गका अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और जो दक्षिणायनके समय आता है उसे तुरंत ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है।

प्रश्न—यहाँ 'षण्मासा दक्षिणायनम्' पद किसका वाचक

है? उसका स्वरूप कैसा है, कहाँतक अधिकार है और क्या काम है?

उत्तर—जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणायनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित पितृलोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशाभिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छान्दोग्य उ० ५।१०।४; बृहदारण्यक उ० ६।२।१६)। यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनरागमनशील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये।

ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और जहाँ पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है।

प्रश्न—दक्षिणायन-मार्गसे जानेवालेको 'योगी' क्यों कहा?

उत्तर—स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस दृष्टिसे उसे भी 'योगी' कहना उचित है। इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर, वहाँ कुछ कालतक निवास करके वापस लौटते हैं। वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं। अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है। यहाँ 'योगी' शब्दका प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (२।४२, ४३, ४४ तथा ९।२०, २१ आदि)।

प्रश्न—दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाले साधकोंको प्राप्त होनेवाली चन्द्रमाकी ज्योति क्या है? और उसे प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है। उसीके-जैसे प्रकाशमय स्वरूपका नाम 'ज्योति' है और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है। वहाँ जानेवाला साधक उस लोकमें शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है।

प्रश्न—उक्त चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वापस लौटना क्या है और वह साधक वहाँसे किस मार्गसे और किस प्रकार वापस लौटता है?

उत्तर—वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ जाना ही वहाँसे लौटना है। जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे जब वे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है। वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वहाँसे वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, इसके अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है। उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म ग्रहण करता है। (छान्दोग्य उ० ५।१०।५, ६, ७; बृहदारण्यक उ० ६।२।१६)।

सम्बन्ध—इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन—दोनों मार्गोंका वर्णन करके अब उन दोनोंको सनातन मार्ग बतलाकर इस विषयका उपसंहार करते हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

क्योंकि जगत्‌के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है॥ २६॥

प्रश्न—यहाँ 'जगतः' पद किसका वाचक है और दोनों गतियोंके साथ उसका क्या सम्बन्ध है एवं इन दोनों मार्गोंको 'शाश्वत' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'जगतः' पद ऊपर-नीचेके लोकोंमें विचरनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंका वाचक है, क्योंकि सभी प्राणी अधिकार प्राप्त होनेपर दोनों मार्गोंके द्वारा गमन कर सकते हैं। चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर अपने तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं। उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है। अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध है। ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियोंके लिये हैं और सदैव रहेंगे। इसीलिये इनको 'शाश्वत' कहा है। यद्यपि महाप्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्‌में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, तथापि जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है। अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—इन मार्गोंके 'शुक्ल' और 'कृष्ण' नाम रखनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमेश्वरके परमधाममें जानेका जो मार्ग है, वह प्रकाशमय—दिव्य है। उसके अधिष्ठातृदेवता भी सब प्रकाशमय हैं; और उसमें गमन करनेवालोंके अन्तःकरणमें भी सदा ही ज्ञानका प्रकाश रहता है; इसलिये इस मार्गका नाम 'शुक्ल' रक्खा गया है। और जो ब्रह्माके लोकतक समस्त देवलोकोंमें जानेका मार्ग है, वह शुक्लमार्गकी अपेक्षा अन्धकारयुक्त है। उसके अधिष्ठातृदेवता भी अन्धकारस्वरूप हैं तथा उसमें गमन करनेवाले लोग भी अज्ञानसे मोहित रहते हैं। इसलिये उस मार्गका नाम 'कृष्ण' रक्खा गया है।

प्रश्न—'अनावृत्ति' शब्द किसका वाचक है और उसके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जहाँ जाकर साधक वापस नहीं लौटता, जो भगवान्‌का परमधाम है, उसीका वाचक यहाँ 'अनावृत्ति' शब्द है। चौबीसवें श्लोकमें शुक्लमार्गसे जानेवालोंको ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है। वहाँ जानेके बाद मनुष्य पुनर्जन्मको नहीं पाता, अतएव उसे अनावृत्ति भी कहते हैं—यही बात स्पष्ट करनेके लिये यहाँ पुनः 'अनावृत्ति' शब्दका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'पुनः आवर्तते' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने कृष्णमार्गके द्वारा प्राप्त होनेवाले सभी लोकोंको पुनरावृत्तिशील बतलाया है। भाव यह है कि कृष्णमार्गसे गया हुआ मनुष्य जिन-जिन लोकोंको प्राप्त होता है, वे सब-के-सब लोक विनाशशील हैं। इसलिये इस मार्गसे गये हुए मनुष्यको लौटकर मृत्युलोकमें वापस आना पड़ता है।

सम्बन्ध—अब उन दोनों मार्गोंको जाननेवाले योगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको योगी बननेके लिये कहते हैं—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

हे पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन! तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो।

प्रश्न—यहाँ 'एते' विशेषणके सहित 'सृती' पद किसका वाचक है और उसको जानना क्या है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकोंमें जिन दो मार्गोंका वर्णन हुआ है, उन्हीं दोनों मार्गोंका वाचक यहाँ 'एते' विशेषणके सहित

'सृती' पद है। सकामभावसे शुभ कर्मोंका आचरण और देवोपासना करनेवाला पुण्यात्मा पुरुष कृष्णमार्गसे जाकर अपने कर्मानुसार देवलोकको प्राप्त होता है और पुण्योंका क्षय होनेपर वहाँसे वापस लौट आता है (९। २०,२१)। निष्कामभावसे कर्मोपासना करनेवाले कर्मयोगी तथा कर्तृत्वाभिमानका त्याग करनेवाले सांख्ययोगी दोनों ही शुक्लमार्गसे भगवान्‌के परम धामको प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें वहाँसे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ता—इस बातको श्रद्धापूर्वक अच्छी प्रकार समझ लेना ही इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानना है।

प्रश्न—यहाँ 'योगी' का क्या अभिप्राय है और 'कश्चन' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया गया है एवं उसका मोहित न होना क्या है?

उत्तर—कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि जितने प्रकारके परमेश्वरकी प्राप्तिके उपायभूत योग बतलाये गये हैं, उनके अनुसार चेष्टा करनेवाले सभी साधक 'योगी' हैं। उनमेंसे जो कोई भी उपर्युक्त दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जान लेता है, वही मोहित नहीं होता—यही बात समझानेके लिये 'कश्चन' का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है, यही उसका मोहित होना है। किन्तु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके भोगोंमें आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है। यही उसका मोहित न होना है।

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' पदसे क्या ध्वनि निकलती है और अर्जुनको सब समय योगयुक्त होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'तस्मात्' पदसे भगवान् यह ध्वनित कर रहे हैं कि भगवत्प्राप्तिके साधनरूप योगका इतना महत्त्व है कि उससे युक्त रहनेवाला योगी दोनों मार्गोंका तत्त्व भलीभाँति समझ लेनेके कारण किसी प्रकारके भी भोगोंमें आसक्त होकर मोहित नहीं होता, इसलिये तुम भी सदा-सर्वदा योगयुक्त हो जाओ; केवल मेरी ही प्रीतिके लिये निरन्तर भक्तिप्रधान कर्मयोगमें श्रद्धापूर्वक तत्पर रहो। इस अध्यायके सातवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने ऐसी ही आज्ञा दी है, क्योंकि अर्जुन इसीके अधिकारी थे।

यहाँ भगवान्‌ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी पता नहीं है कि कब आ जाय। यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा। और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो योगभ्रष्ट होकर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्-प्राप्तिकेसाधनमेंनित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने अर्जुनको योगयुक्त होनेके लिये कहा। अब योगयुक्त पुरुषकी महिमा और इस अध्यायमें वर्णित रहस्यको समझकर उसके अनुसार साधन करनेका फल बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसन्देह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परम पदको प्राप्त होता है॥ २८॥

प्रश्न—यहाँ 'योगी' किसका वाचक है?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिके लिये जितने प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे किसी भी साधनमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निरन्तर लगे रहनेवाले पुरुषका वाचक यहाँ 'योगी' है।

प्रश्न—'इदम्' पद किसका वाचक है और उसको तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है। और इसमें दी हुई शिक्षाको अर्थात् भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवान्के गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है।

प्रश्न—यहाँ 'वेद','यज्ञ','तप' और'दान' शब्द किनके वाचक हैं? उनका पुण्यफल क्या है और उसे उल्लङ्घन करना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'वेद' शब्द अङ्गोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका, 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका; 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसञ्चय होता है उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया गया है, वही पुण्यफल है। एवं जो उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभङ्गुर तथा अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत हो जाना है, यही उनको उल्लङ्घन कर जाना है।

प्रश्न—'आद्यम्' और 'परम्' विशेषणके सहित 'स्थानम्' पद किसका वाचक है और उसे प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायमें जो भगवान्के परम धामके नामसे कहा गया है, जहाँ जाकर मनुष्य पुनः इस संसारचक्रमें नहीं आता, जो सबका आदि, सबसे परे और श्रेष्ठ है, उसीका वाचक यहाँ 'परम्' और'आद्यम्' विशेषणकेसहित 'स्थानम्' पद है; उसे तत्त्वसे जानकर उसमें चले जाना ही उसे प्राप्त हो जाना है। इसीको परम गतिकी प्राप्ति, दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम पदकी प्राप्ति और भगवद्भावकी प्राप्ति भी कहते हैं



ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

नवमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें भगवान्‌ने जो उपदेश दिया है, उसको उन्होंने सब विद्याओंका और समस्त गुप्त रखने योग्य भावोंका राजा बतलाया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें अर्जुनको पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करके उसका माहात्म्य बतलाया है, तीसरेमें उस उपदेशमें श्रद्धा न रखनेवालोंके लिये जन्म-मरणरूप संसारचक्रकी प्राप्ति बतलायी गयी है। चौथेसे छठेतक भगवान्‌के निराकारस्वरूपकी व्यापकता और निर्लेपताका वर्णन करते हुए भगवान्‌की ईश्वरीय योगशक्तिका दिग्दर्शन कराकर उसी स्वरूपमें समस्त भूतोंकी स्थिति वायु और आकाशके दृष्टान्तपूर्वक बतलायी गयी है। तदनन्तर सातवेंसे दसवेंतक महाप्रलयके समय समस्त प्राणियोंका भगवान्‌की प्रकृतिमें लय होना और कल्पोंके आदिमें पुनः भगवान्‌के सकाशसे प्रकृतिद्वारा उनका रचा जाना एवं इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का उनसे निर्लिप्त रहना बतलाया गया है। ग्यारहवें और बारहवेंमें भगवान्‌के प्रभावको न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करनेवालोंकी निन्दा करके तेरहवें और चौदहवेंमें भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले अनन्य भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाया गया है। पंद्रहवेंमें एकत्वभावसे ज्ञानयज्ञके द्वारा ब्रह्मकी उपासना करनेवाले ज्ञानयोगियोंका और विश्वरूप परमेश्वरकी उपासना करनेवालोंका वर्णन किया गया है। तदनन्तर सोलहवेंसे उन्नीसवेंतक भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और विभूतिसहित स्वरूपका वर्णन करते हुए कार्य-कारणरूप समस्त जगत्‌को भी अपना स्वरूप बतलाया है। बीसवें और इक्कीसवेंमें स्वर्गभोगके लिये यज्ञादि कर्म करनेवालोंके आवागमनका वर्णन करके बाईसवेंमें निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले अपने भक्तोंका योगक्षेम स्वयं वहन करनेकी प्रतिज्ञा की है। तेईसवेंसे पचीसवेंतक अन्य देवताओं-की उपासनाको भी प्रकारान्तरसे अविधिपूर्वक अपनी उपासना बतलाकर तथा भगवान्‌को तत्त्वसे न जाननेकी बात कहकर उसका फल उन-उन देवताओंकी प्राप्ति और अपनी उपासनाका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। छब्बीसवेंमें भगवद्भक्तिकी सुगमता दिखलाकर सत्ताईसवेंमें अर्जुनको सब कर्म भगवदर्पण करनेके लिये कहा है और अट्ठाईसवेंमें उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। उन्तीसवेंमें अपनी समताका वर्णन करके तीसवें और इकतीसवेंमें दुराचारी होनेपर भी अनन्य भक्तके भगवान्‌के भजनका महत्त्व दिखलाया है। बत्तीसवेंमें अपनी शरणागतिसे स्त्री, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादिको भी परम गति-रूप फलकी प्राप्ति बतलायी है। तैंतीसवें और चौंतीसवेंमें पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तजनोंकी बड़ाई करके शरीरको अनित्य बतलाते हुए अर्जुनको अपना शरण होनेके लिये कहकर अङ्गोंसहित शरणागतिके स्वरूपका निरूपण करके अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जाननेकी एवं अन्तकालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्‌ने संक्षेपमें तीसरे और चौथे श्लोकोंमें दे दिया किन्तु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं। तथा सातवें अध्यायमें वर्णित

उपदेशके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमें पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

प्रश्न—'अनसूयवे' पदका क्या अर्थ है और यहाँ अर्जुनको 'अनसूयु' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण करना 'असूया' है । जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिलकुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं।* यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको 'अनसूयु' कहकर यह भाव दिखलाया है कि जो मुझमें श्रद्धा रखता है और असूयादोषसे रहित है, वही इस अध्यायमें दिये हुए उपदेशका अधिकारी है । इसके विपरीत मुझमें दोषदृष्टि रखनेवाला अश्रद्धालु मनुष्य इस उपदेशका पात्र नहीं है । अठारहवें अध्यायके सड़सठवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि 'जो मुझमें दोष-दृष्टि करता है, उसे गीताशास्त्रका उपदेश नहीं सुनाना चाहिये ।'

प्रश्न—यहाँ 'इदम्' पद किसका वाचक है ? और जिसके कहनेकी प्रतिज्ञा की है, वह विज्ञानसहित ज्ञान क्या है ?

उत्तर—सातवें, आठवें और इस नवें अध्यायमें प्रभाव और महत्त्व आदिके रहस्यसहित जो निर्गुण-निराकार तत्त्वका; तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वका; एवं उनकी उपलब्धि करानेवाले उपदेशोंका वर्णन हुआ है, उन सबका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है और वही विज्ञानसहित ज्ञान है ।

प्रश्न—इसे 'गुह्यतमम्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखने योग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान् पुरुषोत्तमके तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है । पंद्रहवें अध्यायके बीसवें और अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें भी इस प्रकारके वर्णनको भगवान्‌ने 'गुह्यतम' कहा है ।

प्रश्न—यहाँ 'अशुभ' शब्द किसका वाचक है और उससे मुक्त होना क्या है ?

उत्तर—समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनका और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक यहाँ 'अशुभ' शब्द है । इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है ।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानके उपदेशकी प्रतिज्ञा की, उसके प्रति श्रद्धा, प्रेम सुननेकी उत्कण्ठा और उस उपदेशके अनुसार आचरण करनेमें अत्यधिक उत्साह उत्पन्न करनेके लिये भगवान् अब उसका यथार्थ माहात्म्य सुनाते हैं—

---

* न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥ (अत्रिस्मृति ३४)

जो गुणवानोंके गुणोंका खण्डन नहीं करता, थोड़े गुणवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरेके दोषोंमें प्रीति नहीं करता, उस मनुष्यका यह भाव अनसूया कहलाता है ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है ॥ २ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें आया हुआ 'इदम्' पद किसका वाचक है ? और उसे 'राजविद्या' तथा 'राजगुह्य' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, उसीका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है । संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनुभव कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता । इसलिये इसे राजविद्या अर्थात् सब विद्याओंका राजा कहा गया है। इसमें भगवान्‌के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्वका, उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है । इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्‌ने अपना समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत्‌का कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान् , परब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ । तुम सब प्रकारसे मेरी शरण आ जाओ । इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सकती है, हरेकके सामने नहीं । इसीलिये इसे राजगुह्य अर्थात् सब गोपनीयोंका राजा बतलाया गया है ।

प्रश्न—इसे 'पवित्र' और 'उत्तम' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुसार आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है । इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है । और संसारमें जितनी भी उत्तम वस्तुएँ हैं, यह उन सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है; इसलिये इसे 'उत्तम' कहा गया है ।

प्रश्न—इसके लिये 'प्रत्यक्षावगमम्' और 'धर्म्यम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है । साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरंत ही परम सुख और परम शान्तिके समुद्र, परमप्रेमी, परम दयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाता है । इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है । तथा वर्ण और आश्रम आदिके जितने भी विभिन्न धर्म बतलाये गये हैं, यह उन सबका अविरोधी और स्वाभाविक ही परम धर्ममय होनेके कारण उन सबकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ है । इसलिये यह 'धर्म्य' है ।

प्रश्न—इसे 'अव्ययम्' और 'कर्तुं सुसुखम्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके बाद, यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्‌का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता । इसे जो पुरुष एक बार भलीभाँति प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी किसी भी अवस्थामें इसे भूल नहीं सकता । इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है । और कोई यह न समझ बैठे कि जब यह इतने महत्त्वकी बात है तो इसके अनुसार आचरण करके इसे प्राप्त करना बहुत ही कठिन होगा, इसीलिये भगवान् यहाँ 'कर्तुं सुसुखम्' इन पदोंका प्रयोग करके कहते हैं कि यह साधनमें बहुत ही सुगम है । अभिप्राय यह है कि इस अध्यायमें किये हुए उपदेशके अनुसार भगवान्‌की शरणागति प्राप्त करना बहुत ही सुगम है । क्योंकि इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजन-

की आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है। सिद्ध होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है।

सम्बन्ध—जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे धारण क्यों नहीं करते ? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें प्रधान कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न करनेवाले मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परन्तप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रश्न—'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद किस धर्मका वाचक है तथा उसमें श्रद्धा न करना क्या है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिसका वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विपरीत भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—वे ही सब उसमें श्रद्धा न करना है।

प्रश्न—'अश्रद्दधानाः' पद किस श्रेणीके मनुष्योंका वाचक है ?

उत्तर—जो लोग भगवान्के स्वरूप, गुण, प्रभाव और महत्त्व आदिमें विश्वास न होनेके कारण भगवान्की उपर्युक्त भक्तिका कोई साधन नहीं करते और अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवनको भोगोंके भोग और उनकी प्राप्तिके विविध उपायोंमें ही व्यर्थ नष्ट करते हैं, उनका वाचक यहाँ 'अश्रद्दधानाः' पद है।

प्रश्न—श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यह अभिप्राय है कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी भगवान्की दयासे जीवको इस संसार-चक्रसे छूटकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यका शरीर मिलता है। ऐसे भगवत्प्राप्तिके अधिकारी दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर भी जो लोग भगवान्के वचनोंमें श्रद्धा न रखनेके कारण भजन-ध्यान आदि साधन नहीं करते, वे भगवान्को न पाकर फिर उसी जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें पड़कर पूर्वकी भाँति भटकने लगते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन किया था, अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले दो श्लोकोंमें प्रभावके साथ अपने अव्यक्तस्वरूपका वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किन्तु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

प्रश्न—'अव्यक्तमूर्तिना' पदसे भगवान्के किस स्वरूपका लक्ष्य है ?

उत्तर—आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें

'कवि' 'पुराण' आदि, वीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और बाईसवें श्लोकमें भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—'इदम्' और 'सर्वम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—इदम् विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित इस समस्त ब्रह्माण्ड-का वाचक है।

प्रश्न—अव्यक्तमूर्ति भगवान्‌से समस्त जगत् किस प्रकार व्याप्त है ?

उत्तर—जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशोपनिषद् १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

प्रश्न—'सर्वभूतानि' पद किसका वाचक है और इन सब भूतोंको भगवान्‌में स्थित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'भूतानि' पद समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंका वाचक है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं; उन्होंने ही इस समस्त जगत्‌को अपने किसी अंशमें धारण कर रक्खा है (१०। ४२), और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (९। १८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्‌के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्‌में स्थित बतलाया गया है।

प्रश्न—यदि यह सारा जगत् भगवान्‌से परिपूर्ण है, तब फिर 'मैं उन सब भूतोंमें स्थित नहीं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्‌के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्‌के नाशसे भगवान्‌का नाश नहीं होता तथा जिस जगह इस जगत्‌की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। अर्थात् मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

प्रश्न—'मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ', भगवान्‌के इस कथनका यदि निम्नलिखित भाव माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

जैसे स्वप्नके वे सब जीव और पदार्थ स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अंदर होनेसे वह पुरुष उन्हींके अंदर सीमित होकर स्थित नहीं है, बाहर भी है, वैसे ही सारा जगत् भगवान्‌के एक अंशमें होनेके कारण भगवान् उसके अंदर सर्वत्र व्याप्त होने-पर भी उसीमें सीमित नहीं हैं।

दूसरे, जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुषको स्वप्नके सब पदार्थ स्वप्नावस्थामें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी स्वप्नकी क्रियासे और पदार्थोंसे वस्तुतः उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह स्वप्नकी सृष्टिसे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित है; वह स्वप्नसे पहले भी था, स्वप्नकालमें भी है और स्वप्नका नाश हो जानेके बाद भी रहेगा—वैसे ही भगवान् सर्वदा रहते हैं, सम्पूर्ण जगत्‌का नाश होनेपर भी उनका नाश नहीं होता। बल्कि जहाँ जगत्‌की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् तो अपनी महिमामें आप स्थित हैं ही। इस प्रकार उससे सर्वथा अतीत और निर्लेप होनेसे वे उसमें स्थित नहीं हैं।

तीसरे, जैसे स्वप्नके सब पदार्थ वस्तुतः स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे अभिन्न और उसके स्वरूप होनेके कारण वह उसके अंदर नहीं है, बल्कि वह ही वह है, उसी प्रकार समस्त जगत् भी भगवान्‌से अभिन्न उनका स्वरूप ही होनेके कारण वे उसके अंदर स्थित नहीं हैं, बल्कि वे ही वे हैं।

इस तरह जगत्‌के आधार एवं उससे अतीत होनेसे और जगत् उनका स्वरूप ही होनेसे, वे जगत्‌में स्थित नहीं

हैं। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि मैं जगत्‌के अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी वस्तुतः उनमें नहीं हूँ—वरं अपनी ही महिमामें अटल स्थित हूँ।

उत्तर—कोई आपत्ति नहीं है। अभेदज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव भी बहुत ठीक है। परन्तु यहाँ उसका प्रसंग नहीं है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है॥ ५॥

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें सब भूतोंको भगवान्‌ने अपनेमें स्थित बतलाया और इस श्लोकमें कहते हैं कि वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। इस विरुद्ध उक्तिका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ इस विरुद्ध उक्तिका प्रयोग करके और साथ ही अर्जुनको अपनी ईश्वरीय योगशक्ति देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिको देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। बादलोंका आधार आकाश है परन्तु बादल उसमें सदा नहीं रहते। वस्तुतः अनित्य होनेके कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है। अतः वे आकाशमें नहीं हैं। इसी प्रकार यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं परन्तु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते और इनकी मुझसे भिन्न सत्ता नहीं है इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। अतएव जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्‌का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।

प्रश्न—इस विरुद्ध उक्तिके सम्बन्धमें भगवान्‌का निम्नलिखित अभिप्राय माना जाय तो क्या दोष है?

इस विरुद्ध उक्तिसे भगवान् अपने पूर्वकथित सिद्धान्तकी ही पुष्टि कर रहे हैं। जब स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति सारा जगत् भगवान्‌के सङ्कल्पके आधारपर ही है, वस्तुतः भगवान्‌से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं, तब यह कहना ठीक ही है कि वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं। फिर यह सारी सृष्टि दीखती कैसे है, इसका रहस्य क्या है, इस शङ्काके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! यह मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार है, देखो! कैसा आश्चर्य है। सारा जगत् मुझमें दीखता भी है और वस्तुतः मेरे सिवा और कुछ है भी नहीं। अभिप्राय यह है कि जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है तबतक सब कुछ मुझमें ही स्थित है, मेरे सिवा इस जगत्‌का कोई अन्य आधार है ही नहीं। और वास्तवमें मैं ही सब कुछ हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जब साधकको मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है; फिर उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न और कोई वस्तु रहती ही नहीं। इसलिये वे सब भूत वस्तुतः मुझमें स्थित नहीं हैं।

उत्तर—कोई दोष नहीं है। अभेदज्ञानकी दृष्टिसे यह भी ठीक ही है। परन्तु यहाँ उसका प्रसंग नहीं है।

प्रश्न—'ऐश्वरम्' और 'योगम्' पद किसके वाचक हैं? और इनको देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने इस श्लोकमें कही हुई किस बातको देखनेके लिये कहा है?

उत्तर—सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम् योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है। इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपना 'ईश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है।

प्रश्न—'भूतभृत्' और 'भूतभावनः' इन दोनों पदोंका क्या अभिप्राय है? 'मम आत्मा' पद किसके वाचक हैं और 'भूतस्थः न' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो भूतोंका धारण-पोषण करे, उसे 'भूतभृत्

कहते हैं और जो भूतोंको उत्पन्न करे, उसे 'भूतभावन' कहते हैं। 'मम आत्मा' से भगवान्‌के सगुण निराकार स्वरूपका निर्देश है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के इस सगुण निराकार स्वरूपसे ही समस्त जगत्‌की उत्पत्ति और उसका धारण-पोषण होता है, इसलिये उसे 'भूतभावन' और 'भूतभृत्' कहा गया है। इतना होनेपर भी वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्‌से अतीत हैं, यही दिखलानेके लिये 'भूतस्थः न' (वह भूतोंमें स्थित नहीं है) ऐसा कहा गया है।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकोंमें भगवान्‌ने समस्त भूतोंको अपने अव्यक्तरूपसे व्याप्त और उसीमें स्थित बतलाया। अतः इस विषयको स्पष्ट जाननेकी इच्छा होनेपर अब दृष्टान्तद्वारा भगवान् उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान॥ ६॥

प्रश्न—यहाँ वायुको 'सर्वत्रग' और 'महान्' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भूतप्राणियोंके साथ वायुका सादृश्य दिखलानेके लिये उसे 'सर्वत्रग' और 'महान्' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वायु सर्वत्र विचरनेवाला है, उसी प्रकार सब भूत भी नाना योनियोंमें भ्रमण करनेवाले हैं और जिस प्रकार वायु 'महान्' अर्थात् अत्यन्त विस्तृत है, उसी प्रकार भूत समुदाय भी बहुत विस्तारवाला है।

प्रश्न—यहाँ 'नित्यम्' पदका प्रयोग करके वायुके सदा आकाशमें स्थित बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वायु आकाशसे ही उत्पन्न होता है, आकाशमें ही स्थित रहता है और आकाशमें ही लीन हो जाता है—यही भाव दिखलानेके लिये 'नित्यम्' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि सब अवस्थाओंमें और सब समय वायुका आधार आकाश ही है।

प्रश्न—जैसे वायु आकाशमें स्थित है, उसी प्रकार सब भूत मुझमें स्थित हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूतसमुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही, सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

सम्बन्ध—विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकारस्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये उसकी व्यापकता, असङ्गता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया। अब अपने भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंद्वारा कल्पोंके अन्तमें सब भूतोंका प्रलय और कल्पोंके आदिमें उनकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

हे अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ॥ ७॥

प्रश्न—'कल्पक्षय' किस समयका वाचक है ?

उत्तर—ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

प्रश्न—'सर्वभूतानि' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

प्रश्न—'प्रकृतिम्' पद किसका वाचक है ? उसके साथ 'मामिकाम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है और उस प्रकृतिको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा जिसे अव्याकृत या प्रधान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृतिम्' पद है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये उसके साथ 'मामिकाम्' यह विशेषण दिया गया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुणकर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कारणशरीरसहित उनका मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

प्रश्न—आठवें अध्यायके अठारहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें जिस 'अव्यक्त' से सब भूतोंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है और जिसमें सबका लय होना बतलाया गया है, उस 'अव्यक्त' में और इस प्रकृतिमें क्या भेद है ? तथा वहाँके लयमें और यहाँके लयमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—वहाँ 'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिके निराकार—सूक्ष्म स्वरूपका वाचक है, मूलप्रकृतिका नहीं। उसमें समस्त भूत अपने 'सूक्ष्म-शरीर' के सहित लीन होते हैं, और इसमें 'कारण-शरीर' के सहित लीन होते हैं। उसमें ब्रह्मा लीन नहीं होते, वे सोते हैं; और इसमें स्वयं ब्रह्मा भी लीन हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँके प्रलयमें और यहाँके महाप्रलयमें बहुत अन्तर है।

प्रश्न—सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें तो भगवान्‌ने समस्त जगत्‌का 'प्रलय' स्वयं अपनेको बतलाया है और यहाँ सबका प्रकृतिमें लीन होना कहते हैं। इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है ?

उत्तर—दोनों ही ठीक हैं। वस्तुतः दोनों जगह एक ही बात कही गयी है। पहले कहा जा चुका है कि प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान्‌से भिन्न नहीं होती। अतएव प्रकृतिमें लय होना भगवान्‌में ही लीन होना है। इसलिये यहाँ प्रकृतिमें लीन होना बतलाया है और प्रकृति भगवान्‌की है तथा वह भगवान्‌में ही स्थित है, इसलिये भगवान् ही समस्त जगत्‌के प्रलयस्थान हैं। इस प्रकार दोनोंका अभिप्राय एक ही है।

प्रश्न—'कल्पादि' शब्द किस समयका वाचक है और उस समय भगवान्‌का सब भूतोंको रचना क्या है ?

उत्तर—कल्पोंका अन्त होनेके बाद यानी ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌की इच्छा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महा-सर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ॥ ८॥

प्रश्न—'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका वाचक है ? और भगवान्‌का उसको अङ्गीकार करना क्या है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिस मूल-प्रकृतिमें सब भूतोंका लय होना बतलाया है, उसीका वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषण-

के सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान्‌को जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे स्वीकार करना है।

प्रश्न—'इमम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'भूतग्रामम्' पद किसका वाचक है और उसका स्वभावके बलसे परतन्त्र होना क्या है?

उत्तर—पहले 'सर्वभूतानि' के नामसे जिनका वर्णन हो चुका है, उन समस्त चराचर भूतोंके समुदायका वाचक 'इमम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'भूतग्रामम्' पद है। उन भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान्‌की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंशभूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है।

जो मनुष्य भगवान्‌की शरण ग्रहण करके उस प्रकृतिके बन्धनको काट डालते हैं वे उसके वशमें नहीं रहते (७। १४), वे प्रकृतिके पार भगवान्‌के पास पहुँचकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'पुनः' पदके दो बार प्रयोग करनेका और 'विसृजामि' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'पुनः' पदका दो बार प्रयोग करके तथा 'विसृजामि' पदसे भगवान्‌ने यह बात दिखलायी है कि जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुणकर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९॥

हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते॥९॥

प्रश्न—'उन कर्मों' से कौन-से कर्मोंका लक्ष्य है तथा उनमें भगवान्‌का 'आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित रहना' क्या है?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान्‌के द्वारा जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, जिनका पूर्व श्लोकोंमें संक्षेपमें वर्णन हो चुका है, 'उन कर्मों' से यहाँ उन्हीं सब चेष्टाओंका लक्ष्य है। भगवान्‌का उन कर्मोंमें या उनके फलमें किसी प्रकार भी आसक्त न होना—'आसक्तिरहित रहना' है; और केवल अध्यक्षतामात्रसे प्रकृतिद्वारा प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये की जानेवाली चेष्टामें कर्तृत्वाभिमानसे तथा पक्षपातसे रहित होकर निर्लिप्त रहना—'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है।

प्रश्न—भगवान्‌ने जो अपनेको 'आसक्तिरहित' और 'उदासीनके सदृश स्थित' बतलाया है और यह कहा है कि वे कर्म मुझे नहीं बाँधते, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कर्म और उनके फलमें आसक्त न होने एवं उनमें कर्तृत्वाभिमान और पक्षपातसे रहित रहनेके कारण ही वे कर्म मुझे बाँधनेवाले नहीं होते।

अन्य लोगोंके लिये भी जन्म-मरण, हर्ष-शोक और सुख-दुःख आदि कर्मफलरूप बन्धनोंसे छूटनेका यही सरल उपाय है। जो मनुष्य इस तत्त्वको समझकर इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानसे और फलासक्तिसे रहित होकर कर्म करता है, वह अनायास ही कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध—'उदासीनवदासीनम्' इस पदसे भगवान्‌में जो कर्तापनका अभाव दिखलाया गया, अब उसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत्को रचती है और इस हेतुसे ही यह संसारचक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

प्रश्न—'मया' पदके साथ 'अध्यक्षेण' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जगत्-रचनादि कार्योंके करनेमें मैं केवल अपनी प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले अधिष्ठाताके रूपमें स्थित रहता हूँ और मुझ अधिष्ठातासे सत्ता-स्फूर्ति पाकर मेरी प्रकृति ही जगत्-रचनादि समस्त क्रियाएँ करती है ।

प्रश्न—भगवान्की अध्यक्षतामें प्रकृति सचराचर जगत्को किस प्रकार उत्पन्न करती है ?

उत्तर—जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीजका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (१४ । ३) । इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत्को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है।

यह दृष्टान्त केवल समझानेके लिये ही दिया गया है, वस्तुतः भगवान्के साथ ठीक-ठीक नहीं घटता; क्योंकि किसान अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और एकदेशीय है तथा वह अपनी शक्ति देकर जमीनसे कुछ करवा भी नहीं सकता । परन्तु भगवान् तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं तथा उन्हींकी शक्ति तथा सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृति सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करती है।

प्रश्न—इसी हेतुसे यह संसारचक्र घूम रहा है इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि मुझ भगवान्की अध्यक्षता और प्रकृतिका कर्तृत्व—इन्हीं दोनोंके द्वारा चराचरसहित समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त क्रियाएँ हो रही हैं।

प्रश्न—चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें और इस अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने यह कहा है कि 'मैं उन भूतोंको भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें रचता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'चराचरप्राणियोंके सहित समस्त जगत्को प्रकृति रचती है।' इन दोनों वर्णनोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जहाँ भगवान्ने अपनेको जगत्का रचयिता बतलाया है वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत्की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टि-रचनादि कार्य करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान्की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है । जबतक उसे भगवान्का सहारा नहीं मिलता तबतक वह जड़प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। इसीलिये आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत्की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्की रचना करती है ।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियोंसे एक ही तत्त्व समझाया गया है ।

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व समझाया । फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असङ्गता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया । अब अपने सगुण साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—'परम्' विशेषणके सहित 'भावम्' पद किसका वाचक है और उसको न जानना क्या है ?

उत्तर—चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान्‌के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है, तथा सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'परमभाव'को न जाननेकी बात कही है, भगवान्‌के उस सर्वोत्तम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'भावम्' पद है। सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता-कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (४।६,७,८)—इस रहस्यको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है।

प्रश्न—'मूढाः' पद किस श्रेणीके मनुष्योंको लक्ष्य करके कहा गया है और उनके द्वारा मनुष्य-शरीरधारी भूतमहेश्वर भगवान्‌की अवज्ञा करना क्या है ?

उत्तर—अगले श्लोकमें जिनको राक्षसों और असुरोंकी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले कहा है, सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें जिनका वर्णन हुआ है और सोलहवें अध्यायके चौथे तथा सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है। भगवान्‌के उपर्युक्त प्रभावको न जाननेके कारण ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त समस्त प्राणियोंके महान् ईश्वर भगवान्‌को अपने-जैसा ही एक साधारण मनुष्य मानना एवं इसी कारण उनकी आज्ञा आदिका पालन न करना तथा उनपर अनर्गल दोषारोपण करना—यही उनकी अवज्ञा करना है*।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

* पितामह भीष्मने दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ब्रह्माजीका और देवताओंका एक संवाद सुनाया है, उससे श्रीकृष्णके प्रभावका पता लगता है। ब्रह्माजी देवताओंको सावधान करते हुए कहते हैं—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव तुम सबके पूजनीय हैं। उन महान् वीर्यवान् शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा न करना। ये ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं। ये ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं और परम सत्य हैं। देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमितपराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये। जो मूढमति लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं। जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर इनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाभ भगवान्‌को नहीं पहचानते, वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं। जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान्‌का अपमान करता है, वह अत्यन्त भयानक नरकमें पड़ता है।

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः ।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः ॥ (महा० भीष्म० ६६ । २३)

'हे श्रेष्ठ देवताओ! इस प्रकार उनके तात्त्विक स्वरूपको जानकर सब लोगोंको लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको प्रणाम करना चाहिये।'

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—'मोघाशाः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिनकी आशाएँ (कामनाएँ) व्यर्थ हों, उनको 'मोघाशाः' कहते हैं। भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशा करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं (१६ । १० से १२) इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं।

प्रश्न—'मोघकर्माणः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनके यज्ञ, दान और तप आदि समस्त कर्म व्यर्थ हों—शास्त्रोक्त फल देनेवाले न हों, उनको 'मोघकर्माणः' कहते हैं। भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी पामर लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक जो मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता। इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है। (१६।१७, २३; १७।२८)

प्रश्न—'मोघज्ञानाः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (१८।२२), उनको 'मोघज्ञानाः' कहते हैं। भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य सांसारिक भोगोंको सत्य और सुखप्रद समझकर उन्हींके परायण रहते हैं। वे भ्रमवश समझते हैं कि इन भोगोंको भोगना ही परम सुख है, इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है (१६।११)। इसी कारण वे सच्चे सुखकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। इसीलिये उन्हें 'मोघज्ञानाः' कहा है। ऐसे लोग अपनी ज्ञानशक्तिका दुरुपयोग करके उसे व्यर्थ ही नष्ट करते हैं।

प्रश्न—'विचेतसः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका चित्त विक्षिप्त हो, संसारकी भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें आसक्त रहनेके कारण स्थिर न रहता हो, उन्हें 'विचेतसः' कहते हैं। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका मन प्रतिक्षण भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करता रहता है (१६। १३ से १६)। इसलिये उन्हें 'विचेतसः' कहा गया है।

प्रश्न—'राक्षसीम्', 'आसुरीम्' और 'मोहिनीम्'—इन विशेषणोंके सहित 'प्रकृतिम्' पदका क्या भाव है ? और उसको धारण किये रहना क्या है ?

उत्तर—राक्षसोंकी भाँति बिना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं। काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्व हरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं। और प्रमाद या मोहके कारण किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं। ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना वरं उसीको उत्तम समझकर पकड़े रहना ही 'उसे धारण करना' है। भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं; इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' के प्रयोगसे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'एव' से यह भाव दिखलाया गया है कि वे ऐसे आसुर स्वभावके ही आश्रित रहते हैं, दैवी प्रकृतिका आश्रय कभी नहीं लेते।

सम्बन्ध—भगवान्‌का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ॥ १३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु'के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें जिन निम्न श्रेणीके मूढ और आसुर मनुष्योंका वर्णन किया गया है, उनसे सर्वथा विलक्षण उच्च श्रेणीके पुरुषोंका इस श्लोकमें वर्णन है—यही भाव दिखलानेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'दैवीम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका वाचक है और 'उसके आश्रित होना' क्या है ?

उत्तर—देव अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण और आचरण हैं, सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि छब्बीस नामोंसे वर्णन किया गया है, उन सबका वाचक यहाँ 'दैवीम्' इस विशेषणके साथ 'प्रकृतिम्' पद है। उनको भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है।

प्रश्न—'महात्मानः' पदका प्रयोग किस श्रेणीके पुरुषोंके लिये किया गया है ?

उत्तर—जिनका आत्मा महान् हो, उन्हें 'महात्मा' कहते हैं। महान् आत्मा वही है जो अपने महान् लक्ष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे भगवान्‌की ओर लग गया है; अतएव यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्य प्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सदा सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद भगवान्‌के किस रूपका वाचक है तथा उनको 'सब भूतोंका आदि' और 'अविनाशी' समझना क्या है ?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ भगवान्‌के सगुण पुरुषोत्तमरूपका वाचक है। उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (७।६; ९।१८; १०।२, ४, ५, ६, ८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्‌को 'सब भूतोंका आदि' समझना है। और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; उन्हींको अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्‌का नाश नहीं होता (८।२०)—इस बातको *यथार्थतः समझना ही 'भगवान्‌को अविनाशी समझना'* है।

प्रश्न—'अनन्यमनसः' पद किस अवस्थामें पहुँचे हुए भक्तोंका वाचक है और वे भगवान्‌को कैसे भजते हैं ?

उत्तर—जिनका मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्तोंका वाचक यहाँ 'अनन्यमनसः' पद है। ऐसे भक्त अगले श्लोकमें तथा दसवें अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌को भजते रहते हैं।

सम्बन्ध—अब पूर्वश्लोकमें वर्णित भगवत्प्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं॥ १४॥

प्रश्न—'दृढव्रताः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका व्रत या निश्चय दृढ़ होता है, उनको 'दृढव्रताः' कहते हैं। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ़ होते हैं। बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित नहीं कर सकते। इसीलिये उनको 'दृढव्रताः' (दृढ़ निश्चयवाले) कहा गया है।

प्रश्न—'सततम्' पदका क्या अभिप्राय है? इसका सम्बन्ध

केवल 'कीर्तयन्तः' के साथ है या 'यतन्तः' और 'नमस्यन्तः' के साथ भी है ?

उत्तर—'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है। और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है। कीर्तन-नमस्कारादि सब उपासनाके ही अङ्ग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌का कीर्तन करना क्या है ?

उत्तर—कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए राम, कृष्ण, गोविन्द, हरि, नारायण, वासुदेव, केशव, माधव, शिव आदि उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना; भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक, धीरे-धीरे या जोरसे, खड़े या बैठे, वाद्य-नृत्यके साथ अथवा बिना वाद्य-नृत्यके, गायन करना और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम-गुणगानसम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—'यतन्तः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌की पूजा करना, सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवा करना और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण करना आदि भगवान्‌की भक्तिके जिन अङ्गोंका अन्य पदोंसे कथन नहीं किया गया है, उन सबको उत्साह और तत्परताके साथ करते रहना 'यतन्तः' पदसे समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम करना; अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और उनकी मधुर लीलाओंका जिनमें वर्णन हो—ऐसे सब ग्रन्थोंको एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—'यही भगवान्‌को प्रणाम करना' है।

प्रश्न—'नित्ययुक्ताः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं।

प्रश्न—'भक्त्या' पदका क्या अभिप्राय है और उसके द्वारा भगवान्‌की उपासना करना क्या है ?

उत्तर—श्रद्धायुक्त अनन्य प्रेमका नाम भक्ति है। इसलिये श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही भक्तिद्वारा भगवान्‌की उपासना करना है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं, और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्‌स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं॥ १५॥

प्रश्न—'अन्ये' पदका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है ?

उत्तर—यहाँ 'अन्ये' पदका प्रयोग ज्ञानयोगियोंको पूर्वोक्त भक्तोंकी श्रेणीसे पृथक् करनेके लिये किया गया है। अभिप्राय

यह है कि पूर्वोक्त भक्तोंसे भिन्न जो ज्ञानयोगी हैं, वे आगे बतलाये हुए प्रकारसे उपासना किया करते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पदका अर्थ निर्गुण-निराकार ब्रह्म क्यों किया गया है ?

उत्तर—ज्ञानयज्ञसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी ही उपासना होती है; यहाँ 'माम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने सच्चिदानन्दघन निर्गुण ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताका प्रतिपादन किया है। इसी कारण 'माम्' का अर्थ निर्गुण-निराकार ब्रह्म किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानयज्ञका क्या स्वरूप है ? और उसके द्वारा एकत्वभावसे 'माम्' पदके लक्ष्य निर्गुण ब्रह्मका पूजन करते हुए उसकी उपासना करना क्या है ?

उत्तर—तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है। उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; संपूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना; तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना है।

प्रश्न—'च' के प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—उपर्युक्त ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उपासना करनेवालोंसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंको पृथक् करनेके लिये ही यहाँ 'च' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना क्या है ?

उत्तर—समस्त विश्व उस भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान् ही इसमें व्याप्त हैं। अतः भगवान् स्वयं ही विश्वरूपमें स्थित हैं। इसलिये चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं ऐसा समझकर जो उन सबकी अपने कर्मोंद्वारा यथायोग्य निष्कामभावसे सेवा-पूजा करना है (१८।४६) यही 'बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना' है।

सम्बन्ध—समस्त विश्वकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना कैसे है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ॥ १६॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले जितने भी श्रौत-स्मार्त कर्म और उनके साधन हैं, सब मैं ही हूँ। श्रौत कर्मको 'क्रतु' कहते हैं। पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं और पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न 'स्वधा' कहलाता है। भगवान् कहते हैं कि ये 'क्रतु', 'यज्ञ' और 'स्वधा' मैं ही हूँ। एवं इन कर्मोंके लिये प्रयोजनीय जितनी भी वनस्पतियाँ, अन्न तथा रोगनाशक जड़ी-बूटियाँ हैं, वे सब भी मैं हूँ। जिन मन्त्रोंके द्वारा ये सब कर्म सम्पन्न होते हैं और जिनका विभिन्न व्यक्तियोंद्वारा विभिन्न भावोंसे जप किया जाता है, वे सब मन्त्र भी मैं हूँ। यज्ञके लिये जिन घृतादि सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है, वे सब हवि भी मैं हूँ; गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि भी मैं हूँ और जिससे यज्ञकर्म सम्पन्न होता है—वह

हवनक्रिया भी मैं ही हूँ। अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिसमें यज्ञादि किये जाते हैं, वे अधिष्ठान तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इसी बातको सिद्ध करनेके लिये प्रत्येकके साथ 'अहम्' पदका प्रयोग किया गया है और 'एव' का प्रयोग करके इसीकी पुष्टि की गयी है कि भगवान्‌के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है; इस प्रकार विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाले सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌का तत्त्व न समझनेके कारण ही सब वस्तुएँ उनसे पृथक् दीखती हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्‌का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता पितामह, जाननेयोग्य, पवित्र, ओङ्कार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

प्रश्न—'अस्य' विशेषणके सहित 'जगतः' पद किसका वाचक है तथा भगवान् उसके पिता, माता, धाता और पितामह कैसे हैं?

उत्तर—यहाँ 'जगतः' पद चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्वका वाचक है। यह समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है। भगवान् अपने एक अंशमें इस समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं (१०। ४२) एवं वे ही सब प्रकारके कर्मफलोंका यथायोग्य विधान करते हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको इसका 'धाता' कहा है। और जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; इसीलिये उन्होंने अपनेको इसका 'पितामह' बतलाया है।

प्रश्न—'वेद्यम्' पद किसका वाचक है और यहाँ भगवान्‌का अपनेको 'वेद्य' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जाननेयोग्य वस्तुको 'वेद्य' कहते हैं। समस्त वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमतत्त्व एकमात्र भगवान् ही हैं (१५।१५), इसलिये भगवान्‌ने अपनेको 'वेद्य' कहा है।

प्रश्न—'पवित्र' शब्दका क्या अर्थ है? और भगवान्‌का अपनेको पवित्र कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे 'पवित्र' कहते हैं। भगवान् परम पवित्र हैं और भगवान्‌के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जगत्‌में जप, तप, व्रत, तीर्थ आदि जितने भी पवित्र करनेवाले पदार्थ हैं, वे सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं तथा उनमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी भगवान्‌की ही है—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको 'पवित्र' कहा है।

प्रश्न—'ओङ्कार' किसे कहते हैं और यहाँ भगवान्‌ने अपनेको ओङ्कार क्यों बतलाया है?

उत्तर—'ॐ' भगवान्‌का नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतलाया है तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान्‌ने अपनेको ओङ्कार बतलाया है।

प्रश्न—'ऋक्', 'साम' और 'यजुः'—ये तीनों पद किनके लिये आये हैं और भगवान्‌का इनको अपना स्वरूप बतलानेमें क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्‌से हुआ है तथा सारे वेदोंसे भगवान्‌का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'च' और 'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'च' अव्ययसे इस श्लोकमें वर्णित समस्त पदार्थोंका समाहार किया गया है और 'एव' से भगवान्‌के सिवा अन्य वस्तुमात्रकी सत्ताका निराकरण किया गया है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें वर्णित सभी पदार्थ भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, उनसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

प्रश्न—'गतिः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम 'गति' है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु एकमात्र भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'गति' कहा है। 'परा गति', 'परमा गति', 'अविनाशी पद' आदि नाम भी इसीके हैं।

प्रश्न—'भर्ता' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पालन-पोषण करनेवालेको 'भर्ता' कहते हैं। सम्पूर्ण जगत्का रक्षण और पालन करनेवाले भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'भर्ता' कहा है।

प्रश्न—'प्रभुः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शासन करनेवाला स्वामी 'प्रभु' कहलाता है। भगवान् ही सबके एकमात्र परम प्रभु हैं। ये ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी और परम पूज्य परमदेव हैं (श्वेताश्वतर उ० ६।७); तथा सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि सब इन्हींके भयसे अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित हैं (कठ उ० २।३।३)। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'प्रभु' कहा है।

प्रश्न—'साक्षी' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान् समस्त लोकोंको, सब जीवोंको और उनके शुभाशुभ समस्त कर्मोंको जानने और देखनेवाले हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यमें कहीं भी, किसी भी प्रकारका ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जिसे भगवान् न देखते हों; उनके-जैसा सर्वज्ञ अन्य कोई भी नहीं है, वे सर्वज्ञताकी सीमा हैं। इसलिये उन्होंने अपनेको 'साक्षी' कहा है।

प्रश्न—'निवासः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—रहनेके स्थानका नाम 'निवास' है। उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, जन्मते-मरते, समस्त जीव सदा-सर्वदा और सर्वथा केवल भगवान्में ही निवास करते हैं, इसलिये भगवान्ने अपनेको 'निवास' कहा है।

प्रश्न—'शरणम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसकी शरण ली जाय उसे 'शरणम्' कहते हैं। भगवान्के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणागतके दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(६।१८।३३)

अर्थात् 'एक बार भी 'मैं तेरा हूँ' यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसीलिये भगवान्ने अपनेको 'शरण' कहा है।

प्रश्न—'सुहृत्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रत्युपकार न चाहकर बिना ही किसी कारणके स्वाभाविक ही हित चाहने एवं हित करनेवाले दयालु और प्रेमी पुरुषको 'सुहृत्' कहते हैं। भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करनेवाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको 'सुहृत्' कहा है। पाँचवें अध्यायके अन्तमें भी भगवान्ने कहा है कि 'मुझे समस्त प्राणियोंका सुहृद् जानकर मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है (५।२९)।'

प्रश्न—'प्रभवः', 'प्रलयः' और 'स्थानम्'—इन तीनों पदोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त जगत्की उत्पत्तिके कारणको 'प्रभव', स्थितिके आधारको 'स्थान' और प्रलयके कारणको 'प्रलय' कहते हैं। इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भगवान्के ही संकल्पमात्रसे होते हैं; इसलिये उन्होंने अपनेको 'प्रभव', 'प्रलय' और 'स्थान' कहा है।

प्रश्न—'निधानम्' पदका क्या अभिप्राय है ?—

उत्तर—जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रक्खी जाती हो, उसे 'निधान' कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियोंके सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्‌के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है, इसलिये भगवान्‌ने अपनेको 'निधान' कहा है।

प्रश्न—'अव्ययम्' विशेषणके सहित 'बीजम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका कभी नाश न हो उसे 'अव्यय' कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी कारण हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको 'अव्यय बीज' कहा है। सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हींको 'सनातन बीज' और दसवें अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है।

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌ने एक बार भी 'अहम्' पदका प्रयोग नहीं किया, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—अन्य श्लोकोंमें आये हुए क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, घृत, ऋक्, यजु आदि बहुत-से शब्द ऐसे हैं, जो स्वभावतः ही भगवान्‌से भिन्न वस्तुओंके वाचक हैं। अतएव उन वस्तुओंको अपना रूप बतलानेके लिये भगवान्‌ने उनके साथ 'अहम्' पदका प्रयोग किया है। परन्तु इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्‌के विशेषण हैं; इसके अतिरिक्त पिछले श्लोकमें आये हुए 'अहम्' के साथ इस श्लोकका अन्वय होता है। इसलिये इसमें 'अहम्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ॥ १९॥

प्रश्न—मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, तथा वर्षाको आकर्षित करता और बरसाता हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्‌को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर रोक रखनेवाला तथा उसे लोकहितार्थ मेघोंके द्वारा यथासमय यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

प्रश्न—'अमृतम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसके पान कर लेनेपर मनुष्य मृत्युके वश न होकर अमर हो जाता है, उसे अमृत कहते हैं। देवलोकके जिस अमृतकी बात कही जाती है उस अमृतके पानसे यद्यपि देवताओंका मरण मृत्युलोकके जीवोंके समान नहीं होता, इनसे अत्यन्त विलक्षण होता है, परन्तु यह बात नहीं कि उसके पानसे नाश ही न हो। ऐसे परम अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसीलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं।

प्रश्न—'मृत्युः' पद किसका वाचक है और भगवान्‌का उसे अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं। सृष्टि-लीलाके सुचारुरूपसे चलते रहनेमें सर्ग और संहार दोनोंकी ही परम आवश्यकता है और ये दोनों ही कार्य लीलामय भगवान् करते हैं; वे ही यथासमय लोकोंका संहार करनेके लिये महाकालरूप धारण किये रहते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'मैं लोकोंको क्षय करनेके लिये बढ़ा हुआ महाकाल हूँ' (११। ३२)। इसीलिये भगवान्‌ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'सत्' और 'असत्' पद किनके वाचक हैं और उनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रका नाम 'असत्' है। इन्हीं दोनोंको पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। ये दोनों ही भगवान्‌की 'परा' और 'अपरा' प्रकृति हैं और वे प्रकृतियाँ भगवान्‌से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌को अपना स्वरूप कहा है।

सम्बन्ध—तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अपने सगुण-निर्गुण और विराट् रूपकी उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकतक समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया। समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना है, परन्तु ऐसा न जानकर फलासक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है। इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं॥ २०॥

प्रश्न—'त्रैविद्याः', 'सोमपाः' और 'पूतपापाः' इन तीनों पदोंका क्या अर्थ है तथा ये किस श्रेणीके मनुष्योंके विशेषण हैं?

उत्तर—ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं। इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले एवं उसके अनुसार सकाम कर्म करनेवाले मनुष्योंको 'त्रैविद्य' कहते हैं। यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं। उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपाप' कहते हैं। ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं।

प्रश्न—'पूतपापाः' से यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि जिनके समस्त पाप सर्वथा धुल गये हैं, वे 'पूतपाप' हैं, तो क्या हानि है?

उत्तर—अगले श्लोकमें पुण्योंका क्षय होनेपर उनका पुनः मृत्युलोकमें लौट आना बतलाया गया है। यदि उनके सर्वथा पाप सर्वथा नष्ट हो गये होते तो पुण्यकर्मोंके क्षय होनेपर उसी क्षण उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये थी। जब पाप-पुण्य दोनोंहीका अभाव हो गया, तो फिर जन्ममें कोई कारण ही नहीं रह गया; ऐसी अवस्थामें पुनरागमनका प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये था। परन्तु उनका पुनरागमन होता है; इसलिये जैसा अर्थ किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किनका वाचक है और उनको यज्ञोंद्वारा पूजना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'माम्' पद भगवान्‌के अङ्गभूत इन्द्रादि देवताओंका वाचक है, शास्त्र-विधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक यज्ञ और पूजा आदिके द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करना ही 'मुझको यज्ञोंद्वारा पूजना' है। यहाँ भगवान्‌के इस कथनका यह भाव है कि इन्द्रादि देव मेरे ही अङ्गभूत होनेसे उनका पूजन भी प्रकारान्तरसे मेरा ही पूजन है। किन्तु अज्ञानवश सकाम मनुष्य इस तत्त्वको नहीं समझते; इसलिये उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न—'स्वर्गतिम्' पद किसका वाचक है? उसके लिये प्रार्थना करना क्या है?

उत्तर—स्वर्गकी प्राप्तिको 'स्वर्गति' कहते हैं। उपर्युक्त वेदविहित कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करके उनसे स्वर्गप्राप्तिकी याचना करना ही उसके लिये प्रार्थना करना है।

प्रश्न—'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पद किस लोकको लक्ष्य करके कहा गया है और 'देवताओंके दिव्य भोगोंका भोगना' क्या है?

उत्तर—यहाँ [illegible] पुण्यकर्मोंके फलरूपसे [illegible] इन्द्रलोकसे लेकर [illegible]

सबको लक्ष्य करके यहाँ 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है । अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये । अपने-अपने पुण्यकर्मानुसार उन लोकोंमें जाकर—जो मनुष्यलोकमें नहीं मिल सकते, ऐसे तेजोमय और विलक्षण देव-भोगोंका मन और इन्द्रियोंद्वारा भोग करना ही 'देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगना' है ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं ॥ २१ ॥

प्रश्न—स्वर्गलोकको विशाल कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्यवस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगनेयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका विविध प्रकारका परिमाण मृत्युलोककी अपेक्षा कहीं विशद और महान् है । इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है ।

प्रश्न—पुण्योंका क्षय होना और मृत्युलोकको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—जिन पुण्यकर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, उन पुण्यकर्मोंके फलका भोग समाप्त हो जाना ही 'उनका क्षय हो जाना' है; और उस स्वर्गविषयक पुण्यफलकी समाप्ति होते ही दूसरे बचे हुए पुण्य-पापोंका भोग करनेके लिये पुनः मृत्युलोकमें गिराया जाना ही 'मृत्युलोकको प्राप्त होना' है ।

प्रश्न—'त्रयीधर्मम्' पद किस धर्मका वाचक है और उसका आश्रय लेना क्या है ?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम—इन तीनों वेदोंमें जो स्वर्गकी प्राप्तिके उपायभूत धर्म बतलाये गये हैं, उनका वाचक 'त्रयीधर्मम्' पद है । स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप उन धर्मोंका यथाविधि पालन करना और स्वर्ग-सुखको ही सबसे बढ़कर प्राप्त करनेयोग्य वस्तु मानना 'त्रयीधर्म' का आश्रय लेना है ।

भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भोग-कामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं । इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य होता है और इसीलिये उन्हें फिर मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है । किन्तु जो पुरुष स्वर्ग-सुख प्रदान करनेवाले इन धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र भगवान्‌के ही शरणागत हो जाते हैं, वे साक्षात् भगवान्‌को प्राप्त करके सब बन्धनोंसे सर्वथा छूट जाते हैं । इसलिये उन कृतकृत्य पुरुषोंका फिरसे जगत्‌में जन्म नहीं होता ।

प्रश्न—'कामकामाः' पदका क्या अर्थ है ? यह किन पुरुषोंका विशेषण है तथा 'गतागत' (आवागमन) को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'काम' सांसारिक भोगोंका नाम है, और उन भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्योंके लिये 'कामकामाः' पदका प्रयोग हुआ है । यह उपर्युक्त स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप वेदविहित सकामकर्म और उपासनाका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्योंका विशेषण है, और ऐसे मनुष्योंका जो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार नीचे और ऊँचे लोकोंमें भटकते रहना है, वही 'गतागत' को प्राप्त होना है ।

सम्बन्ध—पहले दो श्लोकोंमें यज्ञद्वारा देवताओंका पूजन करनेवाले सकामी मनुष्योंके देवपूजनका फल आवागमन बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न अपने अनन्यप्रेमी निष्काम भक्तोंकी उपासनाका फल उनका योगक्षेम वहन करना बतलाते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ॥ २२ ॥

प्रश्न—'अनन्याः' पद कैसे भक्तोंका विशेषण है ?

उत्तर—जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्‌में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्‌का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्‌से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है और जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किनका वाचक है और उनका 'चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजन करना' क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'माम्' पद सगुण भगवान् पुरुषोत्तमका वाचक है। उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींकी आज्ञानुसार निष्कामभावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना यही उनका 'चिन्तन करते हुए भजन करना' है।

प्रश्न—नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंका योगक्षेम वहन करना क्या है ?

उत्तर—अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना है। भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है। हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्‌ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी।

प्रश्न—भगवान् साधनसम्बन्धी योगक्षेमका वहन करते हैं—यह तो ठीक ही है, परन्तु क्या जीवननिर्वाहोपयोगी लौकिक योगक्षेमका भी वे वहन करते हैं ?

उत्तर—जब सम्पूर्ण विश्वके छोटे-बड़े अनन्त जीवोंका भरण-पोषण भगवान् ही करते हैं; कोई भजता है या नहीं—इस बातकी परवा न करके जब स्वाभाविक ही परम सुहृद्‌भावसे समस्त विश्वके योगक्षेमका सारा भार भगवान्‌ने उठा रक्खा है, तब अनन्य भक्तका जीवनभार वे उठा लें—इसमें तो कहना ही क्या है ? बात यह है कि जो अनन्य भक्त नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌के चिन्तनमें ही लगे रहते हैं, भगवान्‌को छोड़कर दूसरे किसी भी विषयकी कुछ भी परवा नहीं करते—ऐसे नित्याभियुक्त भक्तोंकी सारी देख-भाल भगवान् ही करते हैं।

जैसे मातृपरायण छोटा शिशु केवल माताको ही जानता है, उसकी कौन-कौन-सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी रक्षा होनी चाहिये और उसे कब किन-किन वस्तुओंकी आवश्यकता होगी, इस बातकी वह कभी कोई चिन्ता नहीं करता; माता ही यह ध्यान रखती है कि इसकी कौन-कौन-सी वस्तुएँ सँभालकर रखनी चाहिये, माता ही यह विचार करती है कि इसके लिये कब किस वस्तुकी आवश्यकता होगी और माता ही उन-उन वस्तुओंकी रक्षा करती है, तथा ठीक समयपर उसके लिये आवश्यक वस्तुओंका प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार नित्याभियुक्त अनन्य भक्तके जीवनमें लौकिक या पारमार्थिक किस-किस वस्तुकी रक्षा आवश्यक है, और किस-किसकी प्राप्ति आवश्यक है, इसका निश्चय भी भगवान् करते हैं और उन-उन प्राप्त वस्तुओंकी रक्षा तथा अप्राप्तकी प्राप्ति भी भगवान् ही करा देते हैं।

जो मातृपरायण बालक माताकी देख-रेखमें होता है, माता जैसे उस बच्चेकी बुद्धिकी ओर ध्यान न देकर उसका जिसमें वास्तविक हित होता है, वही करती है—उससे भी बहुत बढ़कर भगवान् भी अपने भक्तका जिसमें यथार्थ हित होता है, वही करते हैं। ऐसे भक्तोंके लिये कब किन [illegible] आवश्यकता होगी और किन-किन वस्तुओंकी रक्षा [illegible] है, इसका निश्चय भगवान् ही करते हैं और [illegible] निश्चय [illegible] ओतप्रोत होता है और [illegible] भार वहन करते हैं। [illegible] ही नहीं है तथा न [illegible] रहे हैं। जिन वस्तुओंके प्राप्त [illegible]

को भूलकर विषयभोगोंमें फँस जाता है, जिनसे वस्तुतः उसके योगक्षेमकी हानि होती है, उनका प्राप्त न होना और न रहना हीसच्चे योगक्षेमकी प्राप्ति है; तथा जिन वस्तुओंके न होनेसे, जिनकी रक्षा न होनेसे भगवान्‌की स्मृतिमें बाधा पहुँचती है और इसलिये उसका वास्तविक कल्याणके साथ योग होनेमें तथा कल्याणकी रक्षा होनेमें बाधा उपस्थित होती है, उनके प्राप्त होने और सुरक्षित रहनेमें ही सच्चा योगक्षेम है।

अनन्य नित्याभियुक्त भक्तके वास्तविक कल्याणका और सच्चे योगक्षेमका भार भगवान् वहन करते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि उसका कल्याणके साथ योग किन वस्तुओंकी प्राप्तिमें और किनके संरक्षणमें है, इस बातपर लक्ष्य रखते हुए भगवान् ही स्वयं उनकी प्राप्ति कराते हैं और भगवान् ही उनकी रक्षा करते हैं, चाहे वे लौकिक हों या साधनसम्बन्धी! इससे यह निश्चय समझना चाहिये कि जो पुरुष भगवान्‌के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्‌पर रहता है; वे ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम सुहृद् भगवान् अपने भक्तका सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं; इसलिये उसमें कभी भूल नहीं होती, और उसका विपरीत परिणाम नहीं हो सकता। भगवान्‌का चलाया हुआ 'योगक्षेम' बहुत ही सुख, शान्ति, प्रेम और आनन्द देनेवाला होता है और भक्तको बहुत शीघ्र भगवान्‌के प्रत्यक्ष साक्षात् करानेमें परम सहायक होता है। इसीलिये यहाँ योगका अर्थ—भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति और क्षेमका अर्थ—उस भगवत्प्राप्तिके लिये किये जानेवाले साधनोंकी रक्षा किया गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने समस्त विश्वको अपना स्वरूप बताया फिर यज्ञोंद्वारा की जानेवाली देवपूजाको प्रकारान्तरसे अपनी ही पूजा बताकर उसका फल आवागमनके चक्रमें पड़ना और अपने अनन्य भक्तकी उपासनाका फल उसे अपनी प्राप्ति करा देना कैसे बताया? इसपर कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है॥ २३॥

प्रश्न—'श्रद्धयान्विताः' का क्या अभिप्राय है? तथा इस विशेषणका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदरपूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धयान्विताः' कहा गया है। और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिमें है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंका अन्य देवताओंकी पूजा करना क्या है? और वह भगवान्‌की 'अविधिपूर्वक पूजा' क्यों है?

उत्तर—जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'अन्य देवताओंकी पूजा करना' है। समस्त देवता भी भगवान्‌के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्‌से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्‌की 'अविधिपूर्वक' पूजा है।

प्रश्न—अन्य देवताओंकी पूजाके द्वारा भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा किस प्रकार की जा सकती है और उसका फल क्या है?

उत्तर—अन्य देवता भी भगवान्‌के ही अङ्गभूत होनेके

कारण सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, ऐसा समझकर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे उन देवताओंकी शास्त्रोक्त प्रकारसे श्रद्धापूर्वक पूजा करना, उन देवताओंकी पूजाके द्वारा भगवान्‌की 'विधिपूर्वक पूजा करना' है; और इसका फल भी भगवान्‌की ही प्राप्ति है।

राजा रन्तिदेवने अतिथि एवं अभ्यागतोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर स्वयं भूखका कष्ट सहन करके अन्नदानद्वारा निष्कामभावसे भगवान्‌की पूजा की थी। इसके फलस्वरूप उनको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। इसी प्रकार कोई भी मनुष्य जो देवता, गुरु, ब्राह्मण, माता-पिता, अतिथि, अभ्यागत आदि समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उन्हींकी आज्ञाके अनुसार उन सबकी सेवा आदिका कार्य करता है, उसकी वह सेवा विधिपूर्वक भगवान्‌की सेवा होती है और उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति ही होता है।

इस तत्त्वको समझे बिना जो सकामबुद्धिसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अन्य देवताओंकी यथायोग्य सेवा-पूजा आदि की जाती है, वह सेवा-पूजा भी यद्यपि होती तो है भगवान्‌की ही, क्योंकि भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और सबके महेश्वर हैं और भगवान् ही सर्वरूप हैं, तथापि भावकी न्यूनताके कारण वह भगवान्‌की विधिपूर्वक सेवा नहीं समझी जाती। इसीलिये उसका फल भी भगवत्-प्राप्ति न होकर स्वर्गप्राप्ति ही होता है। भगवत्स्वरूप की अनभिज्ञताके कारण फलमें इतना महान् भेद हो जाता है।

सम्बन्ध—अन्य देवताओंके पूजन करनेवालोंकी पूजा भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा नहीं है, यह कहकर अब वैसी पूजा करनेवाले मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप फलसे वञ्चित क्यों रहते हैं, इसका स्पष्टरूपसे निरूपण करते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं॥ २४॥

प्रश्न—भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु कैसे हैं?

उत्तर—यह सारा विश्व भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्‌के ही अङ्ग हैं, तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (१०।२०)। अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं। भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (५।२९)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तु' यहाँ 'परन्तु' के अर्थमें है। अभिप्राय यह है कि ऐसा होते हुए भी वे भगवान्‌के प्रभावको नहीं जानते, यह उनकी कैसी अज्ञता है।

प्रश्न—यहाँ 'ते' पद किन मनुष्योंको लक्ष्य करता है, तथा उनका भगवान्‌को तत्त्वसे नहीं जानना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'ते' पद पूर्वश्लोकमें वर्णित प्रकारसे अन्य देवताओंकी पूजाद्वारा अविधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवाले सकाम मनुष्योंको लक्ष्य करता है तथा सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌के गुण, प्रभावसहित जिस स्वरूपका वर्णन हुआ है, उसको न जाननेके कारण भगवान्‌को सब यज्ञोंके भोक्ता और समस्त लोकोंके महान् ईश्वर न समझना—यही उनको तत्त्वसे न जानना है।

प्रश्न—'अतः' पदका क्या अभिप्राय है और उसके साथ 'च्यवन्ति' क्रियाका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—'अतः' पद हेतुवाचक है। इसके साथ 'च्यवन्ति' क्रियाके प्रयोगका यहाँ यह अभिप्राय है कि इसी कारण अर्थात् भगवान्‌को तत्त्वसे न जाननेके कारण ही वे मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप अत्यन्त उत्तम फलसे वञ्चित रहकर स्वर्गप्राप्तिरूप अल्प फलके भागी होते हैं और आवागमनके चक्करमें पड़े रहते हैं।

को भूलकर विषयभोगोंमें फँस जाता है, जिनसे वस्तुतः उसके योगक्षेमकी हानि होती है, उनका प्राप्त न होना और न रहना ही सच्चे योगक्षेमकी प्राप्ति है; तथा जिन वस्तुओंके न होनेसे, जिनकी रक्षा न होनेसे भगवान्‌की स्मृतिमें बाधा पहुँचती है और इसलिये उसका वास्तविक कल्याणके साथ योग होनेमें तथा कल्याणकी रक्षा होनेमें बाधा उपस्थित होती है, उनके प्राप्त होने और सुरक्षित रहनेमें ही सच्चा योगक्षेम है।

अनन्य नित्याभियुक्त भक्तके वास्तविक कल्याणका और सच्चे योगक्षेमका भार भगवान् वहन करते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि उसका कल्याणके साथ योग किन वस्तुओं-की प्राप्तिमें और किनके संरक्षणमें है, इस बातपर लक्ष्य रखते हुए भगवान् ही स्वयं उनकी प्राप्ति कराते हैं और भगवान् ही उनकी रक्षा करते हैं, चाहे वे लौकिक हों या साधनसम्बन्धी! इससे यह निश्चय समझना चाहिये कि जो पुरुष भगवान्‌के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेम-पूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्‌पर रहता है; वे ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम सुहृद् भगवान् अपने भक्तका सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं; इसलिये उसमें कभी भूल नहीं होती, और उसका विपरीत परिणाम नहीं हो सकता। भगवान्‌का चलाया हुआ 'योगक्षेम' बहुत ही सुख, शान्ति, प्रेम और आनन्द देने-वाला होता है और भक्तको बहुत शीघ्र भगवान्‌के प्रत्यक्ष साक्षात् करानेमें परम सहायक होता है। इसीलिये यहाँ योगका अर्थ—भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति और क्षेमका अर्थ—उस भगवत्प्राप्तिके लिये किये जानेवाले साधनोंकी रक्षा किया गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने समस्त विश्वको अपना स्वरूप बताया फिर यज्ञोंद्वारा की जानेवाली देवपूजाको प्रकारान्तरसे अपनी ही पूजा बताकर उसका फल आवागमनके चक्रमें पड़ना और अपने अनन्य भक्तकी उपासनाका फल उसे अपनी प्राप्ति करा देना कैसे बताया? इसपर कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है॥ २३॥

प्रश्न—'श्रद्धयान्विताः' का क्या अभिप्राय है? तथा यहाँ इस विशेषणका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदर-पूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धयान्विताः' कहा गया है। और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिमें है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंका अन्य देवताओंकी पूजा करना क्या है? और वह भगवान्‌की 'अविधिपूर्वक पूजा' क्यों है?

उत्तर—जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'अन्य देवताओंकी पूजा करना' है। समस्त देवता भी भगवान्‌के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओं-को भगवान्‌से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्‌की 'अविधिपूर्वक' पूजा है।

प्रश्न—अन्य देवताओंकी पूजाके द्वारा भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा किस प्रकार की जा सकती है और उसका फल क्या है?

उत्तर—अन्य देवता भी भगवान्‌के ही अङ्गभूत होनेके

कारण सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, ऐसा समझकर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे उन देवताओंकी शास्त्रोक्त प्रकारसे श्रद्धापूर्वक पूजा करना, उन देवताओंकी पूजाके द्वारा भगवान्‌की 'विधिपूर्वक पूजा करना' है; और इसका फल भी भगवान्‌की ही प्राप्ति है ।

राजा रन्तिदेवने अतिथि एवं अभ्यागतोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर स्वयं भूखका कष्ट सहन करके अन्नदानद्वारा निष्कामभावसे भगवान्‌की पूजा की थी । इसके फलस्वरूप उनको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी । इसी प्रकार कोई भी मनुष्य जो देवता,गुरु,ब्राह्मण,माता-पिता,अतिथि, अभ्यागत आदि समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उन्हींकी आज्ञाके अनुसार उन सबकी सेवा आदिका कार्य करता है, उसकी वह सेवा विधिपूर्वक भगवान्‌की सेवा होती है और उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति ही होता है ।

इस तत्त्वको समझे बिना जो सकामबुद्धिसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अन्य देवताओंकी यथायोग्य सेवा-पूजा आदि की जाती है, वह सेवा-पूजा भी यद्यपि होती तो है भगवान्‌की ही, क्योंकि भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और सबके महेश्वर हैं और भगवान् ही सर्वरूप हैं, तथापि भावकी न्यूनताके कारण वह भगवान्‌की विधिपूर्वक सेवा नहीं समझी जाती। इसीलिये उसका फल भी भगवत्-प्राप्ति न होकर स्वर्गप्राप्ति ही होता है । भगवत्स्वरूप की अनभिज्ञताके कारण फलमें इतना महान् भेद हो जाता है ।

सम्बन्ध—अन्य देवताओंके पूजन करनेवालोंकी पूजा भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा नहीं है, यह कहकर अब वैसी पूजा करनेवाले मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप फलसे वञ्चित क्यों रहते हैं, इसका स्पष्टरूपसे निरूपण करते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु कैसे हैं ?

उत्तर—यह सारा विश्व भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्‌के ही अङ्ग हैं, तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (१० । २०)। अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं । भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (५ । २९)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तु' यहाँ 'परन्तु' के अर्थमें है । अभिप्राय यह है कि ऐसा होते हुए भी वे भगवान्‌के प्रभावको नहीं जानते, यह उनकी कैसी अज्ञता है ।

प्रश्न—यहाँ 'ते' पद किन मनुष्योंको लक्ष्य करता है, तथा उनका भगवान्‌को तत्त्वसे नहीं जानना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'ते' पद पूर्वश्लोकमें वर्णित प्रकारसे अन्य देवताओंकी पूजाद्वारा अविधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवाले सकाम मनुष्योंको लक्ष्य करता है तथा सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌के गुण, प्रभावसहित जिस स्वरूपका वर्णन हुआ है, उसको न जाननेके कारण भगवान्‌को सब यज्ञोंके भोक्ता और समस्त लोकोंके महान् ईश्वर न समझना—यही उनको तत्त्वसे न जानना है ।

प्रश्न—'अतः' पदका क्या अभिप्राय है और उसके साथ 'च्यवन्ति' क्रियाका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—'अतः' पद हेतुवाचक है । इसके साथ 'च्यवन्ति' क्रियाके प्रयोगका यहाँ यह अभिप्राय है कि इसी कारण अर्थात् भगवान्‌को तत्त्वसे न जाननेके कारण ही वे मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप अत्यन्त उत्तम फलसे वञ्चित रहकर स्वर्गप्राप्तिरूप अल्प फलके भागी होते हैं और आवागमनके चक्रमें

सम्बन्ध—भगवान्‌के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

प्रश्न—'देवव्रताः' पद किन मनुष्योंका वाचक है ? और उनका देवोंको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें 'देवताओंके व्रत' हैं। इनका पालन करनेवाले मनुष्योंका वाचक 'देवव्रताः' पद है। ऐसे मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें, चौथे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें तो देवपूजनको कल्याणमें हेतु बतलाया है और यहाँ (२०,२१,२४ में) उसका फल अनित्य स्वर्गकी प्राप्ति एवं आवागमनके चक्करमें पड़ना बतलाते हैं; इसका क्या कारण है ?

उत्तर—तीसरे और चौथे अध्यायोंमें निष्कामभावसे देवपूजन करनेका विषय है; इस कारण उसका फल परम कल्याण बतलाया गया है; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई देवपूजा अन्तःकरणकी शुद्धिमें हेतु होनेसे उसका फल परम कल्याण ही होता है। किन्तु यहाँ सकामभावसे की जानेवाली देवपूजाका प्रकरण है। अतःइसका फल उन देवताओंकी प्राप्तितक ही बतलाया जा सकता है। वे अधिक-से-अधिक उन उपास्य देवताओंकी आयुपर्यन्त स्वर्गादि लोकोंमें रह सकते हैं। अतएव उनका पुनरागमन निश्चित है।

प्रश्न—'पितृव्रताः' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनका पितरोंको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पाठ-पूजा करना तथा उनके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि 'पितरोंके व्रत' हैं और इन सबके पालन करनेवालोंका वाचक 'पितृव्रताः' पद है। जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं। यही पितरोंको प्राप्त होना है। ये भी अधिक-से-अधिक दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं। अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये। देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रमके अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये; परन्तु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है, और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्-आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्-प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है। इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें; परन्तु उनमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें।

प्रश्न—'भूतेज्याः' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनका भूतोंको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान

आदि जो भी कुछ करते हैं, उनका वाचक 'भूतेज्याः' पद है। ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप-भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है। भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'मद्याजिनः' पद किनका वाचक है और उनका भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—जो पुरुष भगवान्‌के सगुण निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, समस्त कर्म उनके अर्पण करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं और इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति-विषयक विविध भाँतिके साधन करते हैं, उनका वाचक यहाँ 'मद्याजिनः' पद है। और उनका भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाना, भगवान्‌के समीप रहना, उनके ही-जैसे दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्‌को प्राप्त होना है।

प्रश्न—इस वाक्यमें 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'अपि' पदसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे निराकार, साकार, किसी भी रूपकी निष्कामभावसे उपासना करनेवाला मुझको प्राप्त होता है—इसमें तो कहना ही क्या है, किन्तु सकामभावसे उपासना करनेवाला भी मुझे प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ॥ २६ ॥

प्रश्न—'यः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है। बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदिकी भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये।

प्रश्न—पूजाकी अनेक सामग्रियोंमेंसे केवल पत्र, पुष्प, फल और जलके ही नाम लेनेका क्या अभिप्राय है? और इन सबका भक्तिपूर्वक भगवान्‌को अर्पण करना क्या है?

उत्तर—यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्‌के अर्पण की जा सकती है। भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। 'मुझ-जैसे साधारण-से-साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता है!' इस भावसे भावित होकर प्रेमविह्वल चित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्‌के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करना है।

प्रश्न—'प्रयतात्मनः' पदका क्या अर्थ है? और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'प्रयतात्मा' कहते हैं। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम सामग्री मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता। मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके कारण विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदी-

की बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए 'फलों'का भोग लगाया और रन्तिदेवके 'जल'को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया। इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुको मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।

इन भक्तोंका विशेषत: इस प्रसङ्गसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंका संक्षिप्त विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

विदुर

बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास पूरा करके जब पाण्डवोंने दुर्योधनसे अपने राज्यकी माँग की, तब दुर्योधनने राज्य देनेसे साफ इन्कार कर दिया। इसपर पाण्डवोंकी ओरसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरवोंके यहाँ गये। बाहरी शिष्टाचार दिखलानेके लिये दुर्योधनने उनके स्वागतकी बड़ी तैयारी की थी। जब भोजनके लिये कहा, तब भगवान्‌ने अस्वीकार कर दिया। दुर्योधनके कारण पूछनेपर भगवान्‌ने कहा—'भोजन दो प्रकारसे किया जाता है। या तो जहाँ प्रेम हो, वहाँ जो कुछ भी मिले, बड़े आनन्दसे खाया जाता है। या जब भूखके मारे प्राण जाते हों तब चाहे जहाँ, चाहे जिस भावसे जो कुछ मिले उसीसे उदरपूर्ति करनी पड़ती है। यहाँ दोनों ही बातें नहीं हैं। प्रेम तो आपमें है ही नहीं, और भूखों मैं नहीं मरता*। इतना कहकर भगवान् बिना ही बुलाये भक्त विदुरजीके घर चल दिये। पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, वाह्लीक आदि बड़े-बूढ़े लोगोंने विदुरके घर जाकर श्रीकृष्णसे अपने-अपने घर चलनेके लिये भी अनुरोध किया; परन्तु भगवान् किसीके यहाँ नहीं गये और उन्होंने विदुरजीके घरपर ही उनके अत्यन्त प्रेमसे दिये हुए पदार्थोंका भोग लगाकर उन्हें कृतार्थ किया। (महा० उद्योग० ९१) 'दुर्योधनकी मेवा त्यागी, साग विदुर घर खायो' प्रसिद्ध ही है।

सुदामा

सुदामाजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यकालके सखा थे। दोनों उज्जैनमें सान्दीपनिजी महाराजके घर एक साथ ही पढ़े थे। सुदामा वेदवेत्ता, विषयोंसे विरक्त, शान्त और जितेन्द्रिय थे। विद्या पढ़ चुकनेपर दोनों सखा अपने-अपने घर चले गये।

सुदामा बड़े ही गरीब थे। एक समय ऐसा हुआ कि लगातार कई दिनोंतक इस ब्राह्मणपरिवारको अन्नके दर्शन नहीं हुए। भूखके मारे बेचारी ब्राह्मणीका मुख सूख गया, बच्चोंकी दशा देखकर उसकी छाती भर आयी। वह जानती थी कि द्वारकाधीश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मेरे स्वामीके सखा हैं। उसने डरसे काँपते-काँपते पतिको सब हालत सुनाकर द्वारका जानेके लिये अनुरोध किया। वह पतिके निष्काम-भावको भी जानती थी, इससे उसने कहा—'प्रभो! मैं जानती हूँ कि आपको धनकी रत्तीभर भी चाह नहीं है, परन्तु धन बिना गृहस्थीका निर्वाह होना बड़ा कठिन है। अतएव मेरी समझसे आपका अपने प्रिय मित्रके पास जाना ही आवश्यक और उचित है।'

सुदामाने सोचा कि ब्राह्मणी दु:खोंसे घबड़ाकर धनके लिये मुझे वहाँ भेजना चाहती है। उन्हें इस कार्यके लिये मित्रके घर जानेमें बड़ा संकोच हुआ। वे कहने लगे—'पगली! क्या तू धनके लिये मुझे वहाँ भेजती है? क्या ब्राह्मण कभी धनकी इच्छा किया करते हैं? अपना तो काम भगवान्‌का भजन ही करना है। भूख लगनेपर भीख माँग ही सकते हैं।'

ब्राह्मणीने कहा—'यह तो ठीक है, परन्तु यहाँ भीख भी तो नसीब नहीं होती। मेरे फटे चिथड़े और भूखसे छटपटाते बच्चोंके मुँहकी ओर तो देखिये! मुझे धन नहीं चाहिये। मैं नहीं कहती कि आप उनके पास जाकर राज्य या लक्ष्मी माँगें। अपनी इस दीनदशामें एक बार वहाँ जाकर आप उनसे मिल तो आइये।' सुदामाने जानेमें बहुत आनाकानी की; परन्तु अन्तमें यह विचारकर कि चलो इसी बहाने श्रीकृष्णचन्द्रके दुर्लभ दर्शनका परम लाभ होगा। सुदामाने जानेका निश्चय कर लिया। परन्तु खाली हाथों कैसे जायँ? उन्होंने स्त्रीसे कहा—'हे कल्याणि! यदि कुछ भेंट देनेयोग्य सामग्री घरमें

* सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः। न च सम्प्रीयसे राजन्न चैवापद्गता वयम्॥ (महा० उद्योग० ९१। २५)

हो तो लाओ।' पतिकी बात तो ठीक थी, परन्तु वह बेचारी क्या देती? घरमें अन्नकी कनी भी तो नहीं थी। ब्राह्मणी चुप हो गयी। परन्तु आखिर यह सोचकर कि कुछ दिये बिना सुदामा जायँगे नहीं, वह बड़े संकोचसे पड़ोसिनके पास गयी। आशा तो नहीं थी, परन्तु पड़ोसिनने दया करके चार मुट्ठी चिउरे उसे दे दिये। ब्राह्मणीने उनको एक मैले-कुचैले फटे चिथड़ेमें बाँधकर श्रीकृष्णकी भेंटके लिये पतिको दे दिया।

सुदामाजी द्वारका पहुँचे। पूछते-पूछते भगवान्‌के महलोंके दरवाजे पर गये। यहाँपर कविवर नरोत्तमजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे लिखते हैं, द्वारपाल सुदामाजीको आदरसे वहीं बैठाकर संवाद देने प्रभुके पास गया और वहाँ जाकर उसने कहा—

सीस पगा न झगा तन पै प्रभु!
　　जाने को आहि, बसै केहि गामा।
धोती फटी-सी, लटी दुपटी,
　　अरु पायँ उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल, देखि
　　रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम,
　　बतावत आपनो नाम सुदामा॥

भगवान् 'सुदामा' शब्द सुनते ही सारी सुध-बुध भूल गये और हड़बड़ाकर उठे। मुकुट वहीं रह गया, पीताम्बर कहीं गिर पड़ा, पादुका भी नहीं पहन पाये और दौड़े द्वारपर! भगवान्‌ने दूरसे ही सुदामाका बुरा हाल देखकर कहा—

ऐसे बिहाल बिवाइन सों,
　　पग कंटक जाल गड़े पुनि जोये।
हाय! महादुख पाये सखा! तुम
　　आये इतै न, किते दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दसा,
　　करुना करिके करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं,
　　नैनन के जल सों पग धोये॥
　　　　　　(नरोत्तम कवि)

परातका पानी छूनेकी भी आवश्यकता नहीं हुई। सरकारने अपने आँसुओंकी धारासे ही सुदामाके पद पखार डाले और उन्हें छातीसे चिपटा लिया। तदनन्तर भगवान् उन्हें आदरसहित महलमें ले गये और वहाँ अपने दिव्य पलंगपर बैठाया, तथा स्वयं अपने हाथोंसे पूजनकी सामग्रीका संग्रह कर, अपने ही हाथोंसे उनके चरणोंको धोकर, उस जलको स्वयं त्रिलोकपावन होते हुए भी अपने मस्तकपर धारण किया।

तदनन्तर भगवान्‌ने प्रिय मित्रके शरीरमें दिव्य गन्धयुक्त चन्दन, अगर, कुङ्कुम लगाया और सुगन्धित धूप, दीप आदिसे पूजन करके उन्हें दिव्य भोजन कराया। पान-सुपारी दी। ब्राह्मण सुदामाका शरीर अत्यन्त मलिन और क्षीण था। देहभरमें स्थान-स्थानपर नसें निकली हुई थीं। वे एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए थे। परन्तु भगवान्‌के प्रिय सखा होनेके नाते साक्षात् लक्ष्मीका अवतार रुक्मिणीजी अपनी सखी देवियोंसहित रत्नदण्डयुक्त व्यजन-चामर हाथोंमें लिये परम दरिद्र भिक्षुक ब्राह्मणकी बड़ी चावसे सेवा-पूजा करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका हाथ अपने हाथमें लेकर लड़कपनकी मनोहर बातें करने लगे।

कुछ देरके बाद भगवान्‌ने प्रिय मित्रकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हँसकर कहा कि भाई! तुम मेरे लिये कुछ भेंट भी लाये हो? भक्तोंकी प्रेमपूर्वक दी हुई जरा-सी वस्तुको भी मैं बहुत मानता हूँ, क्योंकि मैं प्रेमका भूखा हूँ। अभक्तके द्वारा दी हुई अपार सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।'

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
　　　　(श्रीमद्भागवत १०।८१।४)

भगवान्‌के इतना कहनेपर भी सुदामा चिउरोंकी पोटली भगवान्‌को नहीं दे सके।

भगवान्‌की अतुल राजसम्पत्ति और वैभव देखकर उन्हें चिउरा देनेमें सुदामाको बड़ी लज्जा हुई।

तब सब प्राणियोंके अन्तरकी बात जाननेवाले हरिने ब्राह्मणके आनेका कारण समझकर विचार किया कि 'यह मेरा निष्काम भक्त और प्रिय सखा है। इसने धनकी कामनासे पहले भी कभी मेरा भजन नहीं किया और न अब भी

इसे किसी तरहकी कामना है। परन्तु यह अपनी पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनासे मेरे पास आया है, अतएव इसे मैं वह (भोग और मोक्षरूप) सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंको भी दुर्लभ है।'

यों विचारकर भगवान्‌ने 'यह क्या है?' कहकर जल्दीसे सुदामाकी बगलमें दबी हुई चिउरोंकी पोटली जबरदस्ती खींच ली। पुराना फटा कपड़ा था, पोटली खुल गयी और चिउरे चारों ओर बिखर गये। भगवान् बड़े प्रेमसे कहने लगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ८१ । ९)

'हे सखे! आपके द्वारा लाया हुआ यह चिउरोंका उपहार मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। ये चिउरे मुझको और (मेरे साथ ही) समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे।' यों कहकर भगवान् उन बिखरे हुए चिउरोंको बीन-बीनकर उन्हें चबाने लगे। भक्तके प्रेमपूर्वक लाये हुए उपहारका इस प्रकार भोग लगाकर भगवान्‌ने अपने अतुलनीय प्रेमका परिचय दिया।

कुछ दिन बड़े आनन्दपूर्वक वहाँ रहकर सुदामा अपने घर लौटे। इधर घरका रूपान्तर हो गया था। भगवान्‌की लीलासे टूटी मड़ैया स्वर्णमहलके रूपमें परिणत हो चुकी थी। सुदामाने भगवान्‌की लीला समझकर उसे स्वीकार किया। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'धन्य है! मेरे सखा ऐसे हैं कि याचकको बिना बताये गुप्तरूपसे सब कुछ देकर उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं। परन्तु मुझे धन नहीं चाहिये, मेरी तो बार-बार यही प्रार्थना है कि—जन्म-जन्मान्तरमें वही श्रीकृष्ण मेरे सुहृद्, सखा तथा मित्र हों और मैं उनका अनन्य भक्त रहूँ। मैं इस सम्पत्तिको नहीं चाहता, मुझको तो प्रत्येक जन्ममें उन सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति और उनके भक्तोंका पवित्र संग मिलता रहे। वे दया करके ही धन नहीं दिया करते, क्योंकि धनके गर्वसे धनवानोंका अधःपतन हो जाता है। इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य नहीं देते।'

सुदामा आजीवन अनासक्तभावसे घरमें रहे और उन्होंने अपना सब समय भगवान्‌के भजनमें ही बिताया।

द्रौपदी

पाण्डव वनमें रहकर अपने दुःखके दिन काट रहे थे, परन्तु दुर्योधनकी खलमण्डली अपनी दुष्टताके कारण उनके विनाशकी ही बात सोच रही थी। दुर्योधनने एक बार दुर्वासा मुनिको प्रसन्न करके उनसे यह वर माँगा कि—'हमारे धर्मात्मा बड़े भाई महात्मा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित वनमें रहते हैं। एक दिन आप अपने दस हजार शिष्योंसहित उनके यहाँ भी जाकर अतिथि होइये। परन्तु इतनी प्रार्थना है कि वहाँ सब लोगोंके भोजन कर चुकनेपर जब यशस्विनी द्रौपदी खा-पीकर सुखसे आराम कर रही हो, उसी समय जाइयेगा।' दुर्योधनने दुष्टमण्डलीकी सलाहसे यह सोचा कि द्रौपदीके खा चुकनेपर उस दिनके लिये सूर्यके दिये हुए पात्रसे अन्न मिलेगा नहीं, इससे कोपन-स्वभाव दुर्वासा पाण्डवोंको शाप देकर भस्म कर डालेंगे और इस प्रकार सहज ही अपना काम सध जायगा। सरल-हृदय दुर्वासा दुर्योधनके इस कपटको नहीं समझे, इसलिये वे उसकी बात मानकर पाण्डवोंके यहाँ काम्यक वनमें जा पहुँचे। पाण्डव द्रौपदीसहित भोजनादि कार्योंसे निवृत्त होकर सुखसे बैठे वार्तालाप कर रहे थे। इतनेहीमें दस हजार शिष्योंसहित दुर्वासाजी वहाँ जा पहुँचे। युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर ऋषिका स्वागत-सत्कार किया और भोजनके लिये प्रार्थना की। दुर्वासाजीने प्रार्थना स्वीकार की और वे नहानेके लिये नदीतीरपर चले गये। इधर द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई। परन्तु इस विपत्तिसे प्रियबन्धु श्रीकृष्णके सिवा उनकी प्यारी कृष्णाको और कौन बचाता? उसने भगवान्‌का स्मरण करते हुए कहा—'हे कृष्ण! हे गोपाल! हे अशरण-शरण! हे शरणागतवत्सल! अब इस विपत्तिसे तुम्हीं बचाओ'—

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३ । १६)

'तुमने पहले कौरवोंकी राजसभामें जैसे दुष्ट दुःशासनके हाथसे मुझे छुड़ाया था, वैसे ही तुम्हें इस विपत्तिसे भी मुझे उबारना चाहिये।' इस समय भगवान् द्वारकामें रुक्मिणीजीके

पास महलमें थे। द्रौपदीकी स्तुति सुनते ही उसे संकटमें जान भक्तवत्सल भगवान् रुक्मिणीको त्यागकर बड़ी ही तीव्रगतिसे द्रौपदीकी ओर दौड़े। अचिन्त्यगति परमेश्वरको आते क्या देर लगती? वे तुरंत द्रौपदीके पास आ पहुँचे। द्रौपदीके मानो प्राण आ गये। उसने प्रणाम करके सारी विपत्ति भगवान्‌को कह सुनायी। भगवान्‌ने कहा—'यह सब बात पीछे करना। मुझे बड़ी भूख लगी है; मुझे शीघ्र कुछ खानेको दो।' द्रौपदीने कहा—'भगवन्! खानेके फेरमें पड़कर तो मैंने तुम्हें याद ही किया है। मैं भोजन कर चुकी हूँ, अब उस पात्रमें कुछ भी नहीं है।' भगवान् बड़े विनोदी हैं, कहने लगे—

कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणातुरे मयि।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानयित्वा प्रदर्शय॥
(महा० वन० २६३। २३)

'हे द्रौपदी! इस समय मैं भूख और रास्तेकी थकावटसे व्याकुल हो रहा हूँ; यह मेरे साथ विनोदका समय नहीं है। जल्दी जाओ और सूर्यका दिया हुआ बर्तन लाकर मुझे दिखलाओ।'

बेचारी द्रौपदी क्या करती? पात्र लाकर सामने रख दिया। भगवान्‌ने तीक्ष्णदृष्टिसे देखा और एक सागका पत्ता ढूँढ़ निकाला। भगवान् बोले—'तुम कह रही थीं न कि कुछ भी नहीं है, इस पत्तेसे तो त्रिभुवनतृप्त हो जायगा।' यज्ञभोक्ता भगवान्‌ने 'पत्ता' उठाया और मुँहमे डालकर कहा—

विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक्।
(महा० वन० २६३। २५)

इस पत्तेसे सारे विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता भगवान् तृप्त हो जायँ। साथ ही सहदेवसे कहा कि—'जाओ ऋषियोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' उधर नदीतटपर दूसरा ही गुल खिल रहा था, सन्ध्या करते-करते ही ऋषियोंके पेट फूल गये और डकारें आने लगी थीं। शिष्योंने दुर्वासासे कहा—'महाराज! हमारा तो गलेतक पेट भर गया है, यहाँ जाकर हम खायँगे क्या!' दुर्वासाकी भी यही दशा थी, वे बोले—'भैया! भगो यहाँसे जल्दी! ये पाण्डव बड़े ही धर्मात्मा, विद्वान् और सदाचारी हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त हैं, वे चाहें तो हमें वैसे ही भस्म कर सकते हैं जैसे रूईके ढेरको आग! मैं अभी अम्बरीषवाली घटना भूला नहीं हूँ, श्रीकृष्णके शरणागतोंसे मुझे बड़ा भारी डर लगता है।' दुर्वासाके ये वचन सुन शिष्य-मण्डली यत्र-तत्र भाग गयी। सहदेवको कहीं कोई न मिला।

अब भगवान्‌ने पाण्डवोंसे और द्रौपदीसे कहा—'लो, अब तो मुझे द्वारका जाने दो। तुमलोग धर्मात्मा हो, जो कोई निरन्तर धर्म करनेवाले हैं उन्हें कभी दुःख नहीं होता'—

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित्।
(महा० वन० २६३। ४४)

गजराज

गजराज त्रिकूट पर्वतपर रहता था। एक दिन वह गरमीसे व्याकुल होकर अनेकों बड़े-बड़े हाथियों और हथिनियोंके साथ वरुणदेवके ऋतुमान् नामक बगीचेमें अत्यन्त विस्तृत सुन्दर सरोवरके तटपर पहुँचा। तदनन्तर वह सरोवरके अंदर घुस गया और अमृततुल्य जल पीकर हथिनियों और उनके छोटे-छोटे बच्चोंके साथ खेलने लगा। उस सरोवरमें एक महान् बलवान् ग्राह रहता था। ग्राहने गजराजका पैर पकड़ लिया। गजराजने अपना सारा बल लगाकर उससे पैर छुड़ानेकी चेष्टा की, परन्तु वह न छुड़ा सका। इधर ग्राह उसे जलके अंदर खींचने लगा। साथके हाथी और हथिनियाँ सूँड़-से-सूँड़ मिलाकर गजराजको बचानेके लिये बाहर खींचने लगे, परन्तु उनका एक भी नहीं चली। बहुत समयतक यह लड़ाई चलती रही। अन्तमें वह कातर होकर भगवान्‌की शरण हो गया। उसने कहा—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥
(श्रीमद्भागवत ८। २। ३३)

'जो बहुत तेजीके साथ इधर-उधर दौड़ते हुए इस प्रचण्ड वेगवाले महाबली कराल कालरूपी सर्पके भयसे भीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीकी रक्षा करता है, तथा जिसके भयसे मृत्यु भी [प्राणियोंको मारनेके लिये] इतस्ततः दौड़ता रहता है—ऐसा जो कोई ईश्वर है, उसकी हम शरण जाते हैं।'

फिर गजराजने मन-ही-मन भगवान्‌की बड़ी ही सुन्दर स्तुति की; भगवान्‌ने भक्तकी पुकार सुनी और सुनते ही वे

भक्तको बचानेके लिये अधीर हो उठे। यहाँ एक कविकी बड़ी ही सुन्दर उक्ति है—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मर-
न्नुत्तानोऽपि गदागदेति निगदन् पद्मामनालोकयन्।
निर्गच्छन्नपरिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽस्तु
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः॥

'ग्राहके चगुलमें फँसे हुए गजराजको बचानेके लिये पलंगको छोड़ते हुए, पार्षदोंकी परवा न करते हुए, कौस्तुभ-मणिको भुलाकर, उठते-उठते ही 'गदा, गदा' इस प्रकार पुकारते हुए, लक्ष्मीजीको भी न देखते हुए और गरुड़जीपर विना कुछ बिछाये नंगी पीठ ही चढ़कर जानेवाले भगवान् नारायण हमारी रक्षा करें।'

गरुड़की पीठपर चढ़कर भगवान् वहाँ जा पहुँचे। गजेन्द्र-ने आकाशमें गरुड़पर स्थित भगवान्‌के दर्शन किये और सूँड़-से एक कमलका 'पुष्प' ऊपरको उठाकर अत्यन्त कष्टसे आर्त्तस्वरसे कहा—'हे नारायण, हे सबके गुरु! आपको नमस्कार है।'

भगवान्‌ने भक्तके प्रेमपूर्वक दिये हुए कमलके पुष्पको स्वीकार किया। अपने सुदर्शन चक्रसे ग्राहका सिर काटकर गजेन्द्रको महान् संकटसे छुड़ाया।

शबरी

शबरी भीलनी थी। हीन जातिकी थी। परन्तु थी भगवान्‌की परम भक्त। उसने अपने जीवनका बहुत-सा अंश दण्डकारण्यमें छिप-छिपकर ऋषियोंकी सेवा करनेमें बिताया था। जिधरसे ऋषि स्नान करने जाते, उस रास्तेको झाड़ना, कँकरीली जमीनपर बालू बिछाना, जंगलसे काट-काटकर ईंधन लाकर उनके आश्रमोंमें रख देना—यही उसका काम था। मतङ्ग मुनिने उसपर कृपा की। भगवान्‌के नामका उपदेश किया और ब्रह्मलोक जाते समय वे उससे कह गये कि 'भगवान् राम तेरी कुटियापर पधारेंगे। उनके दर्शनसे ही तू कृतार्थ हो जायगी। तबतक यहीं रहकर भजन कर।'

शबरीको भजनकी लगन लग गयी और उसका जीवन रामकी बाट जोहनेमें ही बीतने लगा। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-ही-त्यों शबरीकी उत्कण्ठा बढ़ने लगी। यह सोचकर कि—अब प्रभु पधारते ही होंगे, कहीं प्रभुके पैरमें काँटा न गड़ जाय, वह जल्दी-जल्दी जाकर दूरतक रास्ता बुहार आती। पानी छिड़कती। आँगनको गोबरसे लीपती और भगवान्‌के विराजनेके लिये मिट्टी-गोबरकी सुन्दर चौकी बनाकर रखती। जंगलमें जा-जाकर चाख-चाखकर जिस पेड़के फल मीठे होते तोड़-तोड़कर लाती और दोनोंमें भरकर रखती। दिन-पर-दिन बीतने लगे। उसका रोजका यही काम था। न मालूम वह दिनमें कितनी बार रास्ता बुहारती, कितनी बार चौका लगाती और चौकी बनाती तथा फल चुन-चुनकर लाती। आखिर भगवान् उसकी कुटियापर पधारे। शबरी कृतकृत्य हो गयी! श्रीरामचरितमानसमें गोसाईंजी लिखते हैं—

सबरी देखि राम गृह आए। मुनि के बचन समुझि जिय भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥

शबरी आनन्दसागरमें डूब गयी। प्रेमके आवेशमें उसकी वाणी रुक गयी और वह बार-बार भगवान्‌के पावन चरण-कमलोंमें मस्तक टेक-टेककर प्रणाम करने लगी। फिर उसने भगवान्‌का पूजन किया। फल सामने रक्खे। भगवान्‌ने उसकी भक्तिकी बड़ाई करते हुए उसकी पूजा स्वीकार की और उसके दिये हुए प्रेमभरे फलोंका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर दिया! उसके फलोंमें भगवान्‌को कितना अपूर्व स्वाद मिला, इसका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

घर, गुरुगृह, प्रिय-सदन, सासुरे भई जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥*

रन्तिदेव

महाराज रन्तिदेव संकृतिनामक राजाके पुत्र थे। ये बड़े ही प्रतापी और दयालु थे। रन्तिदेवने गरीबोंको दुखी देखकर अपना सर्वस्व दान कर डाला। इसके बाद वे किसी तरह कठिनतासे अपना निर्वाह करने लगे। पर उन्हें जो कुछ मिलता था, उसे स्वयं भूखे रहनेपर भी वे गरीबोंको बाँट दिया

* यह इतिहास श्रीरामचरितमानस आदि ग्रन्थोंसे लिया गया है।

करते थे। इस प्रकार राजा सर्वथा निर्धन होकर सपरिवार अत्यन्त कष्ट सहने लगे।

एक समय पूरे अड़तालीस दिनतक राजाको भोजनकी कौन कहे, जल भी पीनेको नहीं मिला। भूख-प्याससे पीडित बलहीन राजाका शरीर काँपने लगा। अन्तमें उन्चासवें दिन प्रातःकाल राजाको घी, खीर, हलवा और जल मिला। अड़तालीस दिनके लगातार अनशनसे राजा परिवारसहित बड़े ही दुर्बल हो गये थे। सबके शरीर काँप रहे थे।

रन्तिदेव भोजन करना ही चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। करोड़ रुपयोंमेंसे नामके लिये लाख रुपये दान करना बड़ा सहज है, परन्तु भूखे पेट अन्नदान करना बड़ा कठिन कार्य है। पर सर्वत्र हरिको व्याप्त देखनेवाले भक्त रन्तिदेवने वह अन्न आदरसे श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणरूप अतिथि-नारायणको बाँट दिया। ब्राह्मणदेवता भोजन करके तृप्त होकर चले गये।

उसके बाद राजा बचा हुआ अन्न परिवारको बाँटकर खाना ही चाहते थे कि एक शूद्र अतिथिने पदार्पण किया। राजाने भगवान् श्रीहरिका स्मरण करते हुए बचा हुआ कुछ अन्न उस दरिद्रनारायणकी भेंट कर दिया। इतनेमें ही कई कुत्तोंको साथ लिये एक और मनुष्य अतिथि होकर वहाँ आया और कहने लगा—'राजन्! मेरे ये कुत्ते और मैं भूखा हूँ, भोजन दीजिये।'

हरिभक्त राजाने उसका भी सत्कार किया और आदर-पूर्वक बचा हुआ सारा अन्न कुत्तोंसहित उस अतिथिभगवान्‌के समर्पण कर उसे प्रणाम किया।

अब, एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके—केवल इतना-सा जल बच रहा था। राजा उसको पीना ही चाहते थे कि अकस्मात् एक चाण्डालने आकर दीनस्वरसे कहा—'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये।'

चाण्डालके दीनवचन सुनकर और उसे थका हुआ जानकर राजाको बड़ी दया आयी और उन्होंने ये अमृतमय वचन कहे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥
(श्रीमद्भागवत ९।२१।१२-१३)

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता; मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ, जिससे वे लोग दुःखरहित हो जायँ।'

इस मनुष्यके प्राण जल बिना निकल रहे हैं, यह प्राण-रक्षाके लिये मुझसे दीन होकर जल माँग रहा है 'जीनेकी इच्छावाले इस दीन प्राणीको यह जीवनरूप जल अर्पण करनेसे मेरी भूख, प्यास, थकावट, शारीरिक कष्ट, दीनता, क्लान्ति, शोक, विषाद और मोह आदि सब मिट गये।'

इतना कहकर स्वाभाविक दयालु राजा रन्तिदेवने स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहनेपर भी उस चाण्डालको वह जल आदर और प्रसन्नतापूर्वक दे दिया।

फलकी कामना करनेवालोंको फल देनेवाले त्रिभुवननाथ भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही महाराज रन्तिदेवकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा ब्राह्मणादि रूप धरकर आये थे। राजाका धैर्य और उसकी भक्ति देखकर वे परम प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपना-अपना यथार्थ रूप धारणकर राजाको दर्शन दिया। राजाने तीनों देवोंका एक ही साथ प्रत्यक्ष दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और उनके कहनेपर भी कोई वर नहीं माँगा। क्योंकि राजाने आसक्ति और कामना त्याग कर अपना मन केवल भगवान् वासुदेवमें लगा रक्खा था। यों परमात्माके अनन्य भक्त रन्तिदेवने अपना चित्त पूर्णरूपसे केवल ईश्वरमें लगा दिया और परमात्माके साथ तन्मय हो जानेके कारण त्रिगुणमयी माया उनके सामनेसे स्वप्नके समान लीन हो गयी। रन्तिदेवके परिवारके अन्य सब लोग भी उनके संगके प्रभावसे नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए।

प्रश्न—'भक्त्युपहृतम्' का क्या अर्थ है? और उसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उपर्युक्त पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेम-पूर्वक समर्पण की जाती है, उसे 'भक्त्युपहृत'

इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता। और जहाँ प्रेम होता है तथा जिसको मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरेद्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण किये जानेपर स्वीकार कर लेनेकी बात ही कौन-सी है? पुण्यमयी व्रजगोपिकाओंके घरोंकी तरह उन भक्तोंके घरोंमें घुस-घुसकर मैं उनकी सामग्रियोंका भोग लगा जाता हूँ। वस्तुतः मैं प्रेमका भूखा हूँ, वस्तुओंका नहीं।

प्रश्न—'अहम्' और 'अश्नामि' का क्या भाव है?

उत्तर—इनके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओं-को मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर देता हूँ।

सम्बन्ध—यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर॥ २७॥

प्रश्न—'यत्' पदके साथ-साथ 'करोषि', 'अश्नासि', 'जुहोषि', 'ददासि' और 'तपस्यसि'—इन पाँच क्रियाओंके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने सब प्रकारके कर्तव्य-कर्मोंका समाहार किया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्‌का भजन, ध्यान आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान-पान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है (१७। १४—१७)।

प्रश्न—उपर्युक्त समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना किसे कहते हैं?

उत्तर—साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है। अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्‌का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ, इसलिये मेरेद्वारा जो कुछ भी यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्‌के ही हैं। कठपुतली-को नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं और वे ही सब रूपोंमें इन सबके भोक्ता भी हैं; मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना है।

प्रश्न—पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्‌के अर्पण करना—इस प्रकारका अर्पण, वास्तवमें अर्पण करना है या नहीं?

उत्तर—इस प्रकारसे करना भी भगवान्‌के ही अर्पण करना है। पहले इसी प्रकार होता है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

प्रश्न—'एवम्' पदके सहित 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एवम्' पदके प्रयोगका यह भाव है कि यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किन्तु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है। इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसका आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव सुदृढ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' समझना चाहिये ।

प्रश्न—शुभाशुभफलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होना क्या है और उनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख-दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंका फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है। उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है। मरनेके बाद भगवान्‌के परम धाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्‌को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होना है ।

प्रश्न—पूर्वश्लोकके कथनानुसार भगवदर्पण कर्म करनेवाला मनुष्य अशुभकर्म तो करता ही नहीं, फिर अशुभके फलसे छूटनेकी बात यहाँ कैसे कही गयी ?

उत्तर—इस प्रकारके साधनमें लगनेसे पहले, पूर्वके अनेक जन्मोंमें और इस जन्ममें भी उसके द्वारा जितने अशुभ कर्म हुए हैं एवं 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' के अनुसार विहित कर्मोंके करनेमें जो आनुषङ्गिक दोष बन जाते हैं—उन सबसे भी कर्मोंको भगवदर्पण करनेवाला साधक मुक्त हो जाता है। यही भाव दिखलानेके लिये शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मफलोंसे मुक्त होनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—शुभ कर्मोंका फल बन्धनकारक क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—पूर्वश्लोकके कथनानुसार जब समस्त शुभ कर्म भगवान्‌के अर्पण हो जाते हैं, तब तो उनका फल भगवत्प्राप्ति ही होता है। परन्तु सकामभावसे किये हुए शुभकर्म इस लोक और परलोकमें भोगरूप फल देनेवाले होते हैं। जिन कर्मोंका फल भोगप्राप्ति है, वे पुनर्जन्ममें डालनेवाले और भोगेच्छा तथा आसक्तिसे भी बाँधनेवाले होते हैं। इसलिये उनके फलको बन्धनकारक बतलाना ठीक ही है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शुभ कर्म त्याज्य हैं। शुभ कर्म तो करने ही चाहिये, परन्तु उनका कोई फल न चाहकर उन्हें भगवदर्पण करते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर उनका फल बन्धनकारक न होकर भगवत्प्राप्ति ही होगा।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती—इस कथनसे भगवान्‌में विषमताके दोषकी आशङ्का हो सकती है। अतएव उसका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं—*

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ॥ २९ ॥

प्रश्न—'मैं सब भूतोंमें सम हूँ' तथा 'मेरा कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है'—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समानभावसे व्याप्त हूँ। अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है। इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है।

प्रश्न—भक्तिसे भगवान्‌को भजना क्या है तथा 'वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌के साकार या निराकार—किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना; पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट सामग्रियोंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम भक्तिपूर्वक भगवान्‌को भजना है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं। वे जैसे भगवान्‌को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उनको अपनेमें बतलाया है। और उन भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उनमें बतलाया है।

अभिप्राय यह है कि इसी अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंके अनुसार भगवान्‌का निराकार रूप समस्त चराचर प्राणियोंमें व्याप्त और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित होनेपर भी भगवान्‌का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेषरूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी भक्तिके कारण ही होता है। इसीसे भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भागवत ९।४।६८)

'साधु (भक्त) मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते तथा मैं उनको छोड़कर और किसीको किञ्चित् भी नहीं जानता।'

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है।

सम्बन्ध—भगवान् भजन करनेवालोंमें अपना समभाव प्रदर्शित करते हुए अब अगले दो श्लोकोंमें दुराचारीको भी शाश्वत शान्ति प्राप्त होनेकी घोषणा करके अपनी भक्तिकी विशेष महिमा दिखलाते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है॥ ३०॥

प्रश्न—'अपि'का प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है?

उत्तर—'अपि' के द्वारा भगवान्‌ने अपने समभावका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है।

प्रश्न—'चेत्' अव्ययका प्रयोग यहाँ क्यों किया गया?

उत्तर—'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है। इसका प्रयोग

करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते। तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो जाता है।

प्रश्न—'सुदुराचारः' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और उसका 'अनन्यभाक्' होकर भगवान्‌को भजना क्या है?

उत्तर—जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खान-पान और चाल-चलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंका वाचक यहाँ 'सुदुराचारः' पद है। ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेना और एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है। इस प्रकार भगवान्‌का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और प्रभावका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना है—यही अनन्यभाक् होकर भगवान्‌का भजन करना है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्यको 'साधु' समझनेके लिये कहकर उसे जो यथार्थ निश्चयवाला बतलाया है, इसमें भगवान्‌का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मेरा भक्त यदि दुराचारोंके सर्वथा त्यागकी इच्छा और चेष्टा करनेपर भी स्वभाव और अभ्यासकी विवशतासे किसी दुराचारका पूर्णतया त्याग न कर सकता हो, तो भी उसे दुष्ट न समझकर साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसने जो यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोत्तम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और पापवासनाओंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।'—यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ निश्चय है। जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है; और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही पूर्ण धर्मात्मा हो जायगा। अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है।

प्रश्न—सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने कहा है कि 'दुष्कृती (दुराचारी) मनुष्य मुझे नहीं भजते' और यहाँ दुराचारीके भजनका फल बतलाते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंमें विरोध-सा प्रतीत होता है, इसका क्या समाधान है?

उत्तर—वहाँ जिन दुराचारियोंका वर्णन किया गया है, वे केवल पाप ही नहीं करते। उनका न तो भगवान्‌में विश्वास है, न वे भगवान्‌को जानते हैं और न पाप-कर्मोंसे बचना ही चाहते हैं। इसीलिये उन नास्तिक और मूढ़ पुरुषोंके लिये 'माययापहृतज्ञानाः', 'नराधमाः' और 'आसुरं भावमाश्रिताः' इत्यादि विशेषण दिये गये हैं परन्तु यहाँ जिनका वर्णन है, इनसे पाप तो बनते हैं पर ये उन पापोंसे छूटनेके लिये व्यग्र हैं। इनकी भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप और नाममें भक्ति है तथा इन्होंने दृढ़ विश्वासके साथ यह निश्चय कर लिया है कि 'एकमात्र पतितपावन परम दयालु परमेश्वर ही सबकी अपेक्षा परम श्रेष्ठ हैं। वे ही हमारे परम इष्टदेव हैं, उनका भजन करना ही मनुष्यजीवनका परम कर्तव्य है। उन्हींकी कृपासे हमारे पापोंका समूल नाश हो जायगा और हमको उनकी सहज ही प्राप्ति हो जायगी।' इसीलिये इनको 'सम्यग्व्यवसितः' और 'अनन्यभाक्' भक्त बतलाया गया है। अतएव इनके द्वारा भजन होना स्वाभाविक ही है। और नास्तिकोंका भगवान्‌में विश्वास नहीं होता, इसलिये उनके द्वारा भजन होना सम्भव नहीं है। अतएव भगवान्‌के दोनों वचनोंमें कोई विरोध नहीं है। प्रसङ्गभेदसे दोनों ही कथन ठीक हैं।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

प्रश्न–उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌का भजन करनेवाले भक्तका शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाना क्या है ? तथा 'शश्वत् शान्ति' को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर–इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है । और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसकी एक बार प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (५ । १२), निर्वाणपरमा शान्ति (६ । १५) और परमा शान्ति (१८ । ६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'शश्वत् शान्ति' को प्राप्त होना है ।

प्रश्न–'प्रति जानीहि' पदका क्या अर्थ है और इसके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–'प्रति' उपसर्गके सहित 'ज्ञा' धातुसे बना हुआ 'प्रति जानीहि' पद है । इसका अर्थ 'प्रतिज्ञा करो' या 'दृढ़ निश्चय करो' होता है । यहाँ इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन ! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका यह महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये ।

प्रश्न–'मेरा भक्त नष्ट नहीं होता' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–यहाँ 'प्र' उपसर्गके सहित 'नश्यति' क्रियाका भावार्थ पतन होना है । अतः यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है पतन नहीं होता । अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी ही प्राप्ति होती है; वह पूर्व कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न–ऐसे किसी भक्तका उदाहरण भी है ?

बिल्वमङ्गल

उत्तर–अनेकों उदाहरण हैं । अभी हालका उदाहरण भक्तिरसपूर्ण 'श्रीकृष्णकर्णामृत' काव्यके रचयिता श्रीबिल्वमङ्गलजीका है । दक्षिणके कृष्णवेणी नदीके तटपर एक ग्राममें रामदासनामक भक्त ब्राह्मण निवास करते थे, बिल्वमङ्गल उन्हींके पुत्र थे । पढ़े-लिखे थे; शान्त, शिष्ट, साधुस्वभाव थे; परन्तु पिताके मरनेपर कुसङ्गमें पड़कर ये अत्यन्त ही दुराचारी हो गये । वेश्याके यहाँ पड़े रहना और दिन-रात पापकर्ममें रत रहना ही इनका काम हो गया । चिन्तामणिनामक एक वेश्यापर ये अनुरक्त थे । वेश्या नदीके उस पार रहती थी । पिताका श्राद्ध था, इसलिये ये दिनमें उसके घर नहीं जा सके । तन घरमें था, पर मन वहाँ लगा था । श्राद्धका काम समाप्त होते-हाते शाम हो गयी । ये जानेको तैयार हुए । लोगोंने कहा, आज पिताका श्राद्ध है, मत जाओ । परन्तु उनकी कौन सुनता ? दौड़े, नदी तटपर पहुँचे । तूफान आ गया । मूसलधार पानी बरसने लगा । केवटोंने डरकर नावोंको किनारे बाँधकर पेड़ोंका आश्रय लिया । बड़ी भयावनी रात हो गयी । इन्होंने केवटोंको समझाया, लालच दिया; परन्तु जान देनेको कौन तैयार होता ? इनकी तो लगन ही दूसरी थी । कुछ भी आगा-पीछा न सोचकर ये नदीमें कूद पड़े । किसी स्त्रीकी सड़ी लाश बही जा रही थी, अँधेरेमें कुछ सूझता तो था ही नहीं । फिर ये तो उस समय कामान्ध थे । इन्होंने समझा, लकड़ी है और उसे पकड़ लिया । न मुर्देका खयाल, न दुर्गन्धका; दैवयोगसे पार पहुँच गये और दौड़कर चिन्तामणिके घर पहुँचे । घरका दरवाजा बंद था, पर इनकी छटपटाहट तो अजीब थी । इन्होंने दीवाल फाँदकर अंदर जाना चाहा । हाथ बढ़ाया । एक रेशमका-सा कोमल रस्सा

हाथ लग गया, वह था काला नाग सर्प; फन दीवालपर था, नीचेकी ओर लटक रहा था। ये उसकी पूँछ पकड़कर ऊपर चढ़ गये। भगवान्‌की लीला थी, साँपने इन्हें काटा नहीं। इन्होंने जाकर चिन्तामणिको जगाया। वह इन्हें देखते ही सहमी सी रह गयी, उसने कहा—'तुम इस भयावनी रातमें नदीपार होकर बंद घरमें कैसे आये?' बिल्वमङ्गलने काठपर चढ़कर नदीपार होने और रस्सेकी सहायतासे दीवालपर चढ़नेकी कथा सुनायी! वृष्टि थम चुकी थी। चिन्तामणि दीपक हाथमें लेकर बाहर आयी, देखती है तो दीवालपर भयानक काला नाग लटक रहा है और नदीके तीरपर सड़ा मुर्दा पड़ा है। बिल्वमङ्गलने भी देखा और देखते ही वे काँप उठे। चिन्तामणिने भर्त्सना करके कहा कि 'तू ब्राह्मण है? अरे! आज तेरे पिताका श्राद्ध था, परन्तु एक हाड़-मांसकी पुतलीपर तू इतना आसक्त हो गया कि अपने सारे धर्म-कर्मको तिलाञ्जलि देकर इस डरावनी रातमें मुर्दे और साँपकी सहायतासे यहाँ दौड़ा आया! तू आज जिसे परम सुन्दर समझकर इस तरह पागल हो रहा है, उसकी भी एक दिन तो यही दशा होनेवाली है जो तेरे आँखोंके सामने इस सड़े मुर्देकी है! धिक्कार है तेरी इस नीच वृत्तिको! अरे! यदि तू इसी प्रकार उस मनमोहन श्यामसुन्दरपर आसक्त होता—यदि उससे मिलनेके लिये यों छटपटाकर दौड़ता तो अबतक उसको पाकर अवश्य ही कृतार्थ हो चुका होता।'

वेश्याके उपदेशने जादूका काम किया। बिल्वमङ्गलकी हृदयतन्त्री नवीन सुरोंसे बज उठी। विवेककी आग धधकने लगी, उसने उसके कल्मषको जला दिया। अन्तःकरणकी शुद्धि होते ही भगवत्-प्रेमका समुद्र उमड़ा और उनकी आँखोंसे अश्रुओंकी अजस्र-धारा बहने लगी। बिल्वमङ्गलने चिन्तामणिके चरण पकड़ लिये और कहा कि '[illegible] आज मुझको विवेकदृष्टि देकर कृतार्थ कर दिया।' [illegible] मन चिन्तामणिको गुरु मानकर प्रणाम किया। [illegible] रातभर चिन्तामणि उनको भगवान् श्रीकृष्णके [illegible] कर सुनाती रही। बिल्वमङ्गलपर उसका बड़ा [illegible] पड़ा। वे प्रातःकाल होते ही चिन्तामणिके [illegible] चिन्तनमें निमग्न होकर उन्मत्तकी भाँति [illegible] निकल पड़े। बिल्वमङ्गलके जीवन-नाटकका [illegible]

बिल्वमङ्गल कृष्णवेणी नदीके तटपर रहनेवाले [illegible] सोमगिरिके पास गये और उनसे गोपाल-मन्त्रराजकी [illegible] पाकर भजनमें लग गये। वे भगवान्‌का नाम-कीर्तन [illegible] विचरण करने लगे। मनमें भगवान्‌के दर्शनकी लालसा [illegible] उठी; परन्तु अभी दुराचारी स्वभावका सर्वथा नाश नहीं [illegible] था। बुरे अभ्याससे विवश होकर उनका मन [illegible] युवतीकी ओर लगा। बिल्वमङ्गल उसके घरके दरवाजे [illegible] जा बैठे। घरके मालिकने बाहर आकर देखा कि एक [illegible] मुख ब्राह्मण बाहर बैठा है। उसने कारण पूछा। [illegible] कपट छोड़कर सारी घटना सुना दी और कहा [illegible] बार उस युवतीको प्राण भरकर देख लेना [illegible] उसे यहाँ बुलवा दो।' युवती उसी सेठकी [illegible] ने सोचा कि इसमें हानि ही क्या है, [illegible] इसकी तृप्ति होती हो तो अच्छी बात है। [illegible] अपनी पत्नीको बुलानेके लिये [illegible] मन-समुद्रमें तरह-तरहकी [illegible]

बिल्वमङ्गल भगवान्‌के [illegible] कैसे होता [illegible] विवेकचक्षु [illegible] भान हो [illegible] सोचकर [illegible] इतनेमें [illegible] उसे [illegible] हुआ और [illegible] उस समय [illegible] उचित समझा और तत्काल [illegible] दोनों आँखोंमें [illegible] लिया! आँखोंसे [illegible] बिल्वमङ्गल हँसते और नाचते [illegible] आकाशको गुंजाने लगे। सेठको और [illegible] हुआ, परन्तु वे बेचारे निरुपाय [illegible] बचा-खुचा चित्त-मल भी आज सारा [illegible] वे उस अनाथके नाथको [illegible] व्याकुल हो उठे। [illegible]

फूटी आँखोंने चौबीसों घंटे आँसुओंकी झड़ी लगा दी। न भूखका पता है न प्यासका, न सोनेका ज्ञान है और न जागनेका। 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकारसे दिशाओंको गुँजाते हुए बिल्वमङ्गल जंगल-जंगल और गाँव-गाँवमें घूम रहे हैं। जिस दीनबन्धुके लिये जान-बूझकर आँखें फोड़ीं, जिस प्रियतमको पानेके लिये ऐश-आरामपर लात मारी, वह मिलनेमें इतना विलम्ब करे—यह भक्त विरहीसे कैसे सहन हो? ऐसी दशामें प्रेममय श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं? एक छोटे-से गोप-बालकके वेषमें भगवान् बिल्वमङ्गलके पास आकर अपनी मुनि-मन-मोहिनी मधुर वाणीसे बोले, 'सूरदासजी! आपको बड़ी भूख लगी होगी। मैं कुछ मिठाई लाया हूँ, जल भी लाया हूँ; आप इसे ग्रहण कीजिये।' बिल्वमङ्गलके प्राण तो बालकके उस मधुर स्वरसे ही मोहे जा चुके थे, उसके हाथका दुर्लभ प्रसाद पाकर तो उनका हृदय हर्षके हिलोरोंसे उछल उठा! बिल्वमङ्गलने बालकसे पूछा, 'भैया! तुम्हारा घर कहाँ है? तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्या किया करते हो?'

बालकने कहा 'मेरा घर पास ही है। मेरा कोई खास नाम नहीं; जो मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं उसीसे बोलता हूँ, गायें चराया करता हूँ। मुझसे जो प्रेम करते हैं मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ।' बिल्वमङ्गल बालककी मधुर वाणी सुनकर विमुग्ध हो गये। बालक जाते-जाते कह गया कि 'मैं रोज आकर आपको भोजन करवा जाया करूँगा।' बिल्वमङ्गलने कहा, 'बड़ी अच्छी बात है, तुम रोज आया करो।' बालक चला गया और बिल्वमङ्गलका मन भी साथ लेता गया। बालक रोज आकर भोजन करा जाता।

बिल्वमङ्गलने यह तो नहीं समझा कि मैंने जिसके लिये फकीरीका बाना लिया और आँखोंमें सूए चुभाये, यह बालक वही है; परन्तु उस गोप-बालकने उनके हृदयपर इतना अधिकार अवश्य जमा लिया कि उनको दूसरी बातका सुनना भी असह्य हो उठा। एक दिन बिल्वमङ्गल मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'सारी आफतें छोड़कर यहाँतक आया, यहाँ यह नयी आफत लग गयी। स्त्रीके मोहसे छूटा तो इस बालकके मोहमें फँस गया।' यों सोच ही रहे थे कि वह रसिक बालक उनके पास आ बैठा और अपनी दीवाना बना देनेवाली वाणीसे बोला, 'बाबाजी! चुपचाप क्या सोचते हो? वृन्दावन चलोगे?' वृन्दावनका नाम सुनते ही बिल्वमङ्गलका हृदय हरा हो गया, परन्तु अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए बोले कि 'भैया! मैं अंधा वृन्दावन कैसे जाऊँ?' बालकने कहा, 'यह लो मेरी लाठी, मैं इसे पकड़े-पकड़े तुम्हारे साथ चलता हूँ।' बिल्वमङ्गलका चेहरा खिल उठा, लाठी पकड़कर भगवान् भक्तके आगे-आगे चलने लगे। धन्य दयालुता! भक्तकी लाठी पकड़कर मार्ग दिखाते हैं। थोड़ी-सी देरमें बालकने कहा, 'लो! वृन्दावन आ गया, अब मैं जाता हूँ।' बिल्वमङ्गलने बालकका हाथ पकड़ लिया। हाथका स्पर्श होते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी, सात्त्विक प्रकाशसे सारे द्वार प्रकाशित हो उठे; बिल्वमङ्गलने दिव्यदृष्टि पायी और उन्होंने देखा कि बालकके रूपमें साक्षात् मेरे श्यामसुन्दर ही हैं। बिल्वमङ्गलका शरीर पुलकित हो गया, आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी अनवरत धारा बहने लगी। भगवान्का हाथ उन्होंने और भी जोरसे पकड़ लिया और कहा कि अब पहचान लिया है, बहुत दिनोंके बाद पकड़ सका हूँ। प्रभो! अब नहीं छोड़नेका। भगवान्ने कहा, छोड़ते हो कि नहीं? बिल्वमङ्गलने कहा, 'नहीं, कभी नहीं, त्रिकालमें भी नहीं।'

भगवान्ने जोरसे झटका देकर हाथ छुड़ा लिया। भला, जिसके बलसे बलान्वित होकर मायाने सारे जगत्को पद-दलित कर रखा है, उसके बलके सामने बेचारे अंधे बिल्वमङ्गल क्या कर सकते थे? पर उन्होंने एक ऐसी डोरीसे उनको बाँध लिया था कि जिससे छूटकर जाना उनके लिये बड़ी टेढ़ी बात थी। हाथ छुड़ाते ही बिल्वमङ्गलने कहा—'जाते हो? पर स्मरण रखो!'

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

'हे कृष्ण! तुम बलपूर्वक मुझसे हाथ छुड़ाकर जाते हो इसमें क्या आश्चर्य है? मैं तुम्हारी वीरता तो तब समझूँ, जब तुम मेरे हृदयसे निकलकर जाओ।'

बिल्वमङ्गल अत्यन्त दुराचारी थे, भक्त बने और पतनका कारण सामने आनेपर भी बच गये तथा अन्तमें भगवान्को प्राप्त करके कृतार्थ हो गये। वृन्दावन जाते समय इन्होंने रास्तेमें भावावेशके समय जिन मधुर पदोंकी रचना की है

उन्हींका नाम 'श्रीकृष्णकर्णामृत' है। उसके पहले ही श्लोकमें चिन्तामणिको गुरु बताकर उनकी वन्दना की है—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे
शिक्षागुरुश्च भगवाञ्छिखिपिञ्छमौलिः ।
यत्पादकल्पतरुपल्लवशेखरेषु
लीलास्वयंवररसं लभते जयश्रीः ॥

'मेरे मोहको दूर करनेवाली चिन्तामणि वेश्या और दीक्षागुरु सोमगिरिकी जय हो! तथा सिरपर मयूरपिच्छ धारण करनेवाले मेरे शिक्षागुरु भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो! जिनके चरणरूपी कल्पवृक्षके पत्तोंके शिखरोंमें विजयलक्ष्मी लीलासे स्वयंवरसुखका लाभ करती है (अर्थात् भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेवाले जिनके चरणोंमें विजयलक्ष्मी सदा अपनी इच्छासे निवास करती है)।'

श्रीशुकदेवजीकी भाँति श्रीबिल्वमङ्गलजीने भी भगवान् श्रीकृष्णकी मधुमयी लीलाका आस्वादन किया था, इसीसे इनका एक नाम 'लीलाशुक' भी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सदाचारिता और दुराचारिताके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाते हुए शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

प्रश्न—'पापयोनयः' पद यहाँ किसका वाचक है?

उत्तर—पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है। इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं। यहाँ 'पापयोनि' पद इन्हीं सबका वाचक है। भगवान्की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है। वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है।* ऐसी जातियोंमें प्राचीन और अर्वाचीन कालमें भगवान्के अनेकों ऐसे महान् भक्त हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी भक्तिके प्रतापसे भगवान्को प्राप्त किया था। इनमें निषादजातीय गुह आदिके नाम तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

निषादराज गुह

निषादजातीय गुह शृङ्गवेरपुरमें भीलोंके राजा थे। ये भगवान्के बड़े ही भक्त थे। भगवान् श्रीरघुनाथजी जब श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसहित वन पधारे, तब उन्होंने इनका आतिथ्य स्वीकार किया था। भगवान् इनको अपना सखा मानते थे। इसीसे भरतजीने इनको अपने हृदयसे लगा लिया था—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ ॥

प्रश्न—यदि 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण मान लिया जाय तो क्या हानि है?

---

* (१) नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः । (नारदभक्तिसूत्र ७२)
'भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।'

(२) आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् । (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ७८)
'शास्त्रपरम्परासे अहिंसादि सामान्य धर्मोंकी भाँति भक्तिमें भी चाण्डालादि सभी निन्द्य योनितकके मनुष्योंका अधिकार है।'

(३) भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ (श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २१)
'हे उद्धव! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा'रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ। ... चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है।'

उत्तर—वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है। उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है। अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥

(अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तमयोनि—ब्राह्मण-योनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं। और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पाप-कर्मा होते हैं, वे अधम योनि अर्थात् कुत्तेकी, सूकरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं।'

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती। अब रही स्त्रियोंकी बात—सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है। इस कारणसे उनको भी पापयोनि कहना नहीं बन सकता। सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको भी परम गति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है,* वह कैसे रहेगी, अतएव 'पापयोनयः' पद स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न मानकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक है—ऐसा मानना ही ठीक प्रतीत होता है।

स्त्री, वैश्य और शूद्रोंमें भी अनेक भक्त हुए हैं, संकेतमात्र बतलानेके लिये यहाँ यज्ञपत्नी, समाधि और सञ्जयकी चर्चा की जाती है—

यज्ञपत्नी

वृन्दावनमें कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे उनके सखाओंने जाकर उनसे अन्न माँगा। याज्ञिक ऋषियोंने उनको फटकारकर निकाल दिया। तब वे इनकी पत्नियोंके पास गये; वे श्रीकृष्णका नाम सुनते ही प्रसन्न हो गयीं और भोजन-सामग्री लेकर श्रीकृष्णके समीप गयीं। एक ब्राह्मणने अपनी पत्नीको नहीं जाने दिया, जबर-दस्ती पकड़कर बंद कर दिया। उसका प्रेम इतना उमड़ा कि वह भगवान्‌के सुने हुए रूपका ध्यान करती हुई देह छोड़-कर सबसे पहले श्रीकृष्णको प्राप्त हो गयी (श्रीमद्भागवत १० । २३)।

समाधि

समाधि द्रुमिणनामक धनी वैश्यके पुत्र थे। इनको इनके स्त्री-पुत्रोंने धनके लोभसे घरसे निकाल दिया था। ये वनमें चले गये, वहाँ सुरथनामक राजासे इनकी भेंट हुई। वे भी मन्त्रियों, सेनापतियों और स्वजनोंसे ही धोखा खाकर वनमें भाग आये थे। दोनोंकी एक-सी ही दशा थी। आखिर दोनोंने

---

* किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ (श्रीमद्भागवत २ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

'व्याधका कौन-सा (अच्छा) आचरण था? ध्रुवकी आयु ही क्या थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी उत्तम जाति थी? यादवपति उग्रसेनका कौन-सा पुरुषार्थ था? कुब्जाका ऐसा क्या विशेष सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? माधव तो केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं; क्योंकि उन्हें भक्ति ही प्रिय है।'

ही सच्चिदानन्दमयी भगवतीकी शरण ली और वे दोनों विषयों-की आसक्तिका त्याग करके भगवतीकी आराधना करने लगे। तीन वर्ष आराधना करनेपर उन्हें भगवतीने दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा। राजा सुरथके मनमें भोग-वासना शेष थी, इससे उन्होंने भोगोंकी याचना की। परन्तु समाधिका मन वैराग्ययुक्त था, वे संसारकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताको जान चुके थे; अतएव उन्होंने भगवत्तत्त्वके ज्ञानकी याचना की। भगवतीकी कृपासे उनका अज्ञान नष्ट हो गया और उनको भगवत्-तत्त्वके ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (मार्कण्डेयपुराण १८। ९३; ब्रह्मवैवर्तपुराण प्र० ६२। ६३)।

सञ्जय

सञ्जय गावल्गणनामक सूतके पुत्र थे। ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्णके परम भक्त तथा उनको तत्त्वसे जाननेवाले थे। अर्जुनके साथ सञ्जयकी लड़कपनसे मित्रता थी, इसीसे अर्जुनके अन्तःपुरमें सञ्जयको चाहे जब प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त था। जिस समय सञ्जय कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके यहाँ गये, उस समय अर्जुन अन्तःपुरमें थे; वहीं भगवान् श्रीकृष्ण और देवी द्रौपदी तथा सत्यभामा थीं। सञ्जयने वापस लौटकर वहाँका बड़ा सुन्दर स्पष्ट वर्णन किया है (महा० उद्योग० ५९)।

महाभारत-युद्धमें भगवान् वेदव्यासजीने इनको दिव्यदृष्टि दी थी, जिसके प्रभावसे इन्होंने धृतराष्ट्रको युद्धका सारा हाल सुनाया था।

महर्षि व्यास, सञ्जय, विदुर और भीष्म आदि कुछ ही ऐसे महानुभाव थे, जो भगवान् श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपको पहचानते थे। धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जयने कहा था कि 'मैं स्त्री-पुत्रादिके मोहमें पड़कर अविद्याका सेवन नहीं करता, मैं भगवान्‌के अर्पण किये बिना वृथा धर्मका आचरण नहीं करता, मैं शुद्धभाव और भक्तियोगके द्वारा ही जनार्दन श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थ जानता हूँ।' भगवान्‌का स्वरूप और पराक्रम बतलाते हुए सञ्जयने कहा—'उदारहृदय श्रीवासुदेवके चक्रका मध्यभाग पाँच हाथ विस्तारवाला है, परन्तु भगवान्‌के इच्छानुकूल वह चाहे जितना बड़ा हो सकता है। वह तेजःपुञ्जसे प्रकाशित चक्र सबके सारासार बलकी थाह लेनेके लिये बना है। वह कौरवोंका संहारक और पाण्डवोंका प्रियतम है। महाबलवान् श्रीकृष्णने लीलासे ही भयानक राक्षस नरकासुर, शम्बरासुर और अभिमानी कंस-शिशुपालका वध कर दिया; परम ऐश्वर्यवान् सुन्दर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण मनके संकल्पसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको अपने वशमें कर सकते हैं।....एक ओर सारा जगत् हो और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण हों तो साररूपमें वही उस सबसे अधिक ठहरेंगे। वे अपनी इच्छामात्रसे ही जगत्‌को भस्म कर सकते हैं, परन्तु उनको भस्म करनेमें सारा विश्व भी समर्थ नहीं है।

> यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
> ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥
> (महा० उद्योग० ६८। ९)

जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा है और जहाँ हृदयकी सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं निःसन्देह विजय है।' सर्वभूतात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण लीलासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका सञ्चालन किया करते हैं; वे श्रीकृष्ण सब लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंका बहाना करके तुम्हारे अधर्मी मूर्ख-पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रभावसे काल-चक्र, जगत्-चक्र और युग-चक्रको सदा घुमाया करते हैं। मैं यह सत्य कहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु और स्थावर-जङ्गमरूप जगत्‌के एकमात्र अधीश्वर हैं। जैसे किसान अपने ही बोये हुए खेतको (पक जानेपर) काट लेता है, उसी प्रकार महायोगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त जगत्‌के पालनकर्ता होनेपर भी स्वयं उसका संहाररूप कर्म भी करते हैं। वे अपनी महामायाके प्रभावसे सबको मोहित करते हैं; परन्तु जो मनुष्य उनकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे मायासे कभी मोहको प्राप्त नहीं होते—

> ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ।
> (महा० उद्योग० ६८। १५)

फिर इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके नाम और उनके बड़े सुन्दर अर्थ धृतराष्ट्रको सुनाये। सञ्जयने भी महाभारत-युद्धके न होने देनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उसे [illegible] ही सके। धृतराष्ट्र जब वन जाने लगे तब सञ्जय भी [illegible] चले गये।

प्रश्न—यहाँ दो बार 'अपि' के प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्‌ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है। भगवान्‌के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेद-बुद्धि नहीं है। मेरी शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है।

प्रश्न—यहाँ 'भगवान्‌की शरण होना' क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास करके चौंतीसवें श्लोकके कथनानुसार प्रेमपूर्वक सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण हो जाना अर्थात् उनके प्रत्येक विधानमें सदा सन्तुष्ट रहना उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि भगवान्‌की शरण होना है।

प्रश्न—इस प्रकार भगवान्‌की शरण हो जानेवाले भक्तोंका 'परम गति' को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—साक्षात् परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही परम गतिको प्राप्त होना है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेवाले स्त्री-पुरुष किसी भी जातिके क्यों न हों, उनको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ॥ ३३ ॥

प्रश्न—'किम्' और 'पुनः' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी (९।३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (९।३२), मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलोग मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है!

प्रश्न—'पुण्याः' पदका क्या अर्थ है और यह विशेषण ब्राह्मणोंका है या ब्राह्मण और राजर्षि—दोनोंका ?

उत्तर—जिनका स्वभाव और आचरण पवित्र और उत्तम हो, उनको 'पुण्य' (पवित्र) कहते हैं। यह विशेषण ब्राह्मणोंका है; क्योंकि जो राजा होकर ऋषियोंके-जैसे शुद्ध स्वभाव और उत्तम आचरणोंवाले हों, उन्हींको 'राजर्षि' कहते हैं। अतः उनके साथ 'पुण्याः' विशेषण देनेकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—'भक्ताः' पदका सम्बन्ध किसके साथ है ?

उत्तर—'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है, क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम गतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

ब्राह्मणों और राजर्षियोंमें तो अगणित भक्त हुए हैं। इनकी महिमाका दिग्दर्शन करानेमात्रके लिये यहाँ महर्षि सुतीक्ष्ण और राजर्षि अम्बरीषकी चर्चा की जाती है।

सुतीक्ष्ण

महर्षि सुतीक्ष्ण दण्डकारण्यमें रहते थे, ये अगस्त्यजीके शिष्य थे। ये बड़े तपस्वी, तेजस्वी और भक्त थे। इन्होंने दुष्पण्यनामक एक वैश्यका, जो अपने पापोंके कारण पिशाच हो गया था, उद्धार किया था (स्कन्द० ब्रह्म० २२)। ये भगवान् श्रीरामजीके अनन्य भक्त थे। जब इन्होंने सुना कि

भगवान् श्रीरघुनाथजी जगज्जननी श्रीजानकीजीसहित इधर ही पधार रहे हैं, तो इनके आनन्दकी सीमा न रही। ये भाँति-भाँतिके मनोरथ करते हुए सामने चले। प्रेममें बेसुध हो गये। मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, यह कौन दिशा है, रास्ता है कि नहीं, सब भूल गये। कभी पीछे घूमकर फिर आगे चलने लगते, कभी प्रभुके गुण गा-गाकर नाचने लगते! भगवान् श्रीरघुनाथजी पेड़की आड़में छिपकर भक्तकी प्रेमोन्माद-दशाको देख रहे थे। मुनिका अत्यन्त प्रेम देखकर भवभयहारी भगवान् मुनिके हृदयमें प्रकट हो गये। हृदयमें भगवान्‌के दर्शन पाकर सुतीक्ष्णजी रास्तेके बीचमें ही अचल होकर बैठ गये। हर्षके मारे उनका शरीर पुलकित हो गया। तब श्रीरघुनाथजी उनके पास आकर उनकी प्रेमदशा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

श्रीरघुनाथजीने मुनिको बहुत प्रकारसे जगाया; परन्तु मुनि नहीं जागे। उन्हें प्रभुके ध्यानका सुख प्राप्त हो रहा था। जब श्रीरामजीने अपना वह रूप हृदयसे हटा लिया, तब व्याकुल होकर उठे। आँखें खोलते ही उन्होंने अपने सामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्यामसुन्दर सुखधाम श्रीरामजीको देखा। तपस्याका फल प्राप्त हो गया। वे धन्य हो गये! (श्रीरामचरितमानस-अरण्यकाण्ड)

अम्बरीष

राजर्षि अम्बरीष वैवस्वत मनुके पौत्र महाराज नाभागके प्रतापी पुत्र थे। ये चक्रवर्ती सम्राट् थे। परन्तु वे इस बातको जानते थे कि यह सारा ऐश्वर्य स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंकी भाँति असत् है, इसलिये उन्होंने अपना सारा जीवन परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया था। उनकी समस्त इन्द्रियाँ मनसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की सेवामें ही लगी रहती थीं।

एक समय राजाने रानीसमेत श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये एक वर्षकी एकादशियोंके व्रतका नियम लिया। अन्तिम एकादशीके दूसरे दिन विधिवत् भगवान्‌की पूजा की गयी। राजा पारण करना ही चाहते थे कि ऋषि दुर्वासा अपने शिष्योंसहित पधारे। राजाने सब प्रकारसे दुर्वासाजीका सत्कार कर उनसे भोजन करनेके लिये प्रार्थना की। ऋषिने भोजन करना स्वीकार किया और वे मध्याह्नका नित्यकर्म करनेके लिये यमुनाजीके तटपर चले गये। द्वादशी केवल एक ही घड़ी बाकी थी। द्वादशीमें पारण न होनेसे व्रत-भङ्ग होता है। राजाने ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर श्रीहरिके चरणोदकसे पारण कर लिया और भोजन करानेके लिये दुर्वासाजीकी बाट देखने लगे। दुर्वासाजी अपनी नित्यक्रियाओंसे निवृत्त होकर राजमन्दिरमें लौटे और अपने तपोबलसे राजाके पारण कर लेनेकी बातको जानकर अत्यन्त क्रोधसे त्यौरी चढ़ाकर अपराधीकी तरह हाथ जोड़े सामने खड़े हुए राजासे कहने लगे—'अहो! इस धनमदसे अन्ध अधम राजाकी धृष्टता और धर्मके निरादरको तो देखो! अब यह विष्णुका भक्त नहीं है। यह तो अपनेको ही ईश्वर मानता है। मुझ अतिथिको निमन्त्रण देकर इसने मुझे भोजन कराये बिना ही स्वयं भोजन कर लिया! इसे अभी इसका फल चखाना है।' यों कहकर दुर्वासाजीने मस्तकसे एक जटा उखाड़कर जोरसे उसे पृथ्वीपर पटका, जिससे तत्काल कालाग्निके समान कृत्यानामक एक भयानक राक्षसी प्रकट हो गयी और वह अपने चरणोंकी चोटसे पृथ्वीको कँपाती हुई तलवार हाथमें लिये राजाकी ओर झपटी। परन्तु भगवान्‌पर दृढ़ भरोसा रखनेवाले अम्बरीष ज्यों-के-त्यों वहाँ खड़े रहे, वे न पीछे हटे और न उन्हें किसी प्रकारका भय ही हुआ। जो समस्त संसारमें परमात्माको व्यापक समझता है वह किससे क्यों डरे और कैसे डरे।

कृत्या अम्बरीषतक पहुँच ही नहीं पायी थी कि भगवान्‌के सुदर्शनचक्रने कृत्याको उसी क्षण ऐसे भस्म कर दिया जैसे प्रचण्ड दावानल कुपित सर्पको भस्म कर डालता है। अब सुदर्शन ऋषि दुर्वासाकी खबर लेनेके लिये उनके पीछे चला। दुर्वासा बड़े घबड़ाये और प्राण लेकर भागे। चक्र उनके पीछे-पीछे चला। दुर्वासा दसों दिशाओं और चौदहों भुवनोंमें भटके। परन्तु कहीं भी उन्हें ठहरनेको ठौर नहीं मिली। किसीने भी उन्हें आश्रय और अभयदान नहीं दिया। अन्तमें बेचारे वैकुण्ठमें गये और भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें पड़कर गिड़गिड़ाते हुए बोले—'हे प्रभो! मैंने आपके प्रभावको न जानकर आपके भक्तका अपमान किया है, मुझे इस अपराधसे छुड़ाइये। आपके नामकीर्तनमात्रसे ही नरकके जीव भी नरकके कष्टोंसे छूट जाते हैं, [illegible] क्षमा कीजिये।'

नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो। क्षणभर भी मुझे मत भूलो।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है तथा उसको भजना क्या है और भजनके लिये आज्ञा देनेमें क्या हेतु है?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ सगुण परमेश्वरका वाचक है, और अगले श्लोकमें बतलायी हुई विधिसे भगवान्‌के परायण हो जाना अर्थात् अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर आदि-को भगवान्‌के ही समर्पण कर देना उनका भजन करना है। और भजनसे ही भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होती है तथा भगवत्प्राप्तिमें ही मनुष्यजीवनके उद्देश्यकी सफलता है, इसी हेतुसे भजन करनेके लिये कहा गया है।

सम्बन्ध—पिछले श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करनेके लिये कहा। अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा॥ ३४॥

प्रश्न—भगवान्‌में मनवाला होना क्या है?

उत्तर—भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्‌की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीय-बुद्धि नहीं रह जाती। ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ-से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता। जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। भगवान्‌का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षण-मात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको भगवान्‌में मनवाला कहते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त होना क्या है?

उत्तर—भगवान् ही परमगति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधान-में सदा ही सन्तुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम भगवान्‌का भक्त बनना है।

प्रश्न—भगवान्‌का पूजन करना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर उनके मङ्गलमय विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने-अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करके उसका विधि-पूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना, अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्‌की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और चित्रपट आदिका आदर-सत्कार करना, उनकी सेवाके कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, नि[illegible] भावसे यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा भगवान्‌की पूजा [illegible] माता-पिता, ब्राह्मण, साधु-महात्मा और गुरुजनोंके [illegible] समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप [illegible] अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा [illegible] का यथायोग्य पूजन, आदर-सत्कार कर[illegible] भजने सबको यथायोग्य सुख [illegible] हित करनेकी यथार्थ [illegible] भगवान्‌की पूजा ही

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है और उसको नमस्कार करना क्या है ?

उत्तर—जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं। जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं, ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपमें सबका संहार करते हैं; जो भगवान् युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं- उन समस्त जगत्के कर्ता, हर्ता, विधाता, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्का वाचक यहाँ 'माम्' पद है।

उनके साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, साधु-संत और महापुरुषोंको तथा विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित, मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही भगवान्को नमस्कार करना है।

प्रश्न—'आत्मानम्' पद किसका वाचक है और उसे उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्में युक्त करना क्या है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक यहाँ 'आत्मा' पद है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है।

प्रश्न—भगवान्के परायण होना क्या है ?

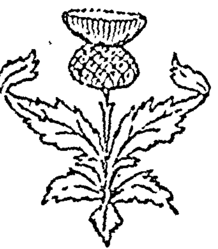
उत्तर—इस प्रकार सब कुछ भगवान्को समर्पण कर देना और भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना, भगवान्के परायण होना है।

प्रश्न—'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है तथा भगवान्को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'एव' पद अवधारणके अर्थमें है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। तथा इसी मनुष्यशरीरमें ही भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही हैं।



ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

दशमोऽध्यायः

अध्यायका नाम — इस अध्यायमें प्रधानरूपसे भगवान्‌की विभूतियोंका ही वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विभूतियोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप — इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने पुनः परम श्रेष्ठ उपदेश प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे सुननेके लिये अर्जुनसे अनुरोध किया है। दूसरे और तीसरेमें 'योग' शब्दवाच्य अपने प्रभावका वर्णन करके उसके जाननेका फल बतलाया है। चौथेसे छठेतक विभूतियोंका संक्षेपमें वर्णन करके सातवेंमें अपनी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका फल बतलाया है। आठवें और नवेंमें अपने बुद्धिमान् अनन्य प्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर दसवें और ग्यारहवेंमें उसके फलका वर्णन किया है। तदनन्तर बारहवेंसे पंद्रहवेंतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति करके सोलहवेंसे अठारहवेंतक विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है। उन्नीसवेंमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंके विस्तारको अनन्त बतलाकर प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके बीसवेंसे उन्चालीसवेंतक उनका वर्णन किया है। चालीसवेंमें अपनी दिव्य विभूतियोंके विस्तारको अनन्त बतलाकर इस प्रकरणकी समाप्ति की है। तदनन्तर इकतालीसवें और बयालीसवें श्लोकोंमें 'योग' शब्दवाच्य अपने प्रभावका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन, जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा ॥ १ ॥

प्रश्न—'भूयः' और 'एव' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'भूयः' पदका अर्थ 'पुनः' या 'फिर' होता है और 'एव' पद यहाँ 'अपि' के अर्थमें आया है। इनका प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि सातवेंसे नवें अध्यायतक मैंने जिस विषयका प्रतिपादन किया है, उसी विषयको अब प्रकारान्तरसे फिर भी कह रहा हूँ?

प्रश्न—'परम वचन' का क्या भाव है? और उसे पुनः सुननेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो उपदेश परम पुरुष परमात्माके परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य खोलनेवाला हो और जिससे उन परमेश्वरकी प्राप्ति हो, उसे 'परम वचन' कहते हैं। अतएव इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है। और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने [illegible] दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही [illegible] अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक [illegible] सावधानीके साथ श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना [illegible]

प्रश्न—'प्रीयमाणाय' विशेषणका और [illegible] पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने क्या

उत्तर—'प्रीयमाणाय' विशे[illegible]

यह दिखलाया है कि हे अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ। यह तुम्हारे प्रेमका ही फल है। तथा 'हितकाम्यया' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे प्रेमने मेरे स्वभावमें तुम्हारी हितकामना भर रक्खी है; इसलिये मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, स्वाभाविक ही वे ही बातें कह रहा हूँ, जो केवल तुम्हारे हित-ही-हितसे भरी हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावका और अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ॥ २॥

प्रश्न—यहाँ 'प्रभवम्' पदका क्या अर्थ है और उसे समस्त देवसमुदाय और महर्षिजन भी नहीं जानते, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, भक्तोंके परित्राण, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी चित्र-विचित्र लीलाओंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीमत्स्य, श्रीकच्छप आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभवम्' पद है। उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

प्रश्न—यहाँ 'सुरगणाः' पद किनका वाचक है और 'महर्षयः'से किन-किन महर्षियोंको समझना चाहिये?

उत्तर—'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उनचास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है। तथा 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

प्रश्न—देवताओंका और महर्षियोंका मैं सब प्रकारसे आदि हूँ, इस कथनका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज आदि प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

प्रश्न—भगवान्‌को अजन्मा, अनादि और लोकोंका महेश्वर जानना क्या है?

उत्तर—भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (४।६), अन्य जीवोंकी भाँति

उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी सन्देह न करना—यही 'भगवान्‌को अजन्मा जानना' है। तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं तथा सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना-'भगवान्‌को अनादि जानना' है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्ता, हर्ता, सब प्रकारसे सबका भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना' है।

प्रश्न—ऐसे पुरुषको मनुष्योंमें असम्मूढ़' बतलाकर जो यह कहा गया है कि 'वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है', इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे अजन्मा, अनादि और लोकमहेश्वर जाननेका फल दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जगत्‌के सब मनुष्योंमें जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के प्रभावको ठीक-ठीक जानता है, वही वास्तवमें भगवान्‌को जानता है। और जो भगवान्‌को जानता है, वही 'असम्मूढ़' है; शेष तो सब सम्मूढ़ ही हैं। और जो भगवान्‌के तत्त्वको भलीभाँति समझ लेता है, वह स्वाभाविक ही अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌के भजनमें ही लगाता है(१५। १९), विषयी लोगोंकी भाँति भोगोंको सुखके हेतु समझकर उनमें फँसा नहीं रहता। इसलिये वह इस जन्म और पूर्व-जन्मोंके सब प्रकारके पापोंसे सर्वथा मुक्त होकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं ॥ ४-५ ॥

प्रश्न—'बुद्धि', 'ज्ञान' और 'असम्मोह'—ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न किन भावोंके वाचक हैं ?

उत्तर—कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना 'ज्ञान' है; यहाँ 'ज्ञान' शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्‌के स्वरूपज्ञान-तक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है।

भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुःखमूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही 'असम्मोह' है।

प्रश्न—'क्षमा' और 'सत्य' किसके वाचक हैं ?

उत्तर—बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या गाली देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना आदि जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, अपनेमें बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग

और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव होना 'क्षमा' है।

इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरेको समझानेके उद्देश्यसे हितकर प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना 'सत्य' है।

प्रश्न—'दम' और 'शम' शब्द किसके वाचक हैं?

उत्तर—विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंको उनसे रोककर अपने अधीन बना लेना—उन्हें मनमानी न करने देना 'दम' कहलाता है। और मनको भलीभाँति संयत करके उसे अपने अधीन बना लेनेको 'शम' कहते हैं।

प्रश्न—'सुख' और 'दुःख' का क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल) के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुखोंका वाचक यहाँ 'सुख' है। इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक*—सब प्रकारके दुःखोंका वाचक यहाँ 'दुःख' शब्द है?

प्रश्न—'भव' और 'अभाव' तथा 'भय' और 'अभय' शब्दोंका क्या अर्थ है?

उत्तर—सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्‌का उत्पन्न होना 'भव' है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना 'अभाव' है। किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम 'भय' है और सर्वत्र एक परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'अभय' है।

प्रश्न—'अहिंसा', 'समता' और 'तुष्टि' की परिभाषा क्या है?

उत्तर—किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचानेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी क्रिया, पदार्थ और घटना आदि विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर राग-द्वेषरहित समबुद्धि रहनेके भावको 'समता' कहते हैं।

जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्‌का विधान समझकर सदा सन्तुष्ट रहनेके भावको 'तुष्टि' कहते हैं।

प्रश्न—तप, दान, यश और अयश—इन चारोंका अलग-अलग अर्थ क्या है?

उत्तर—स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है, अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना 'दान' है, जगत्‌में कीर्ति होना 'यश' है और अपकीर्तिका नाम 'अयश' है।

प्रश्न—प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारके जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं।

प्रश्न—यहाँ इन दो श्लोकोंमें सुख, भव, अभय और यश—इन चार ही भावोंके विरोधी भाव दुःख, अभाव, भय और अपयशका वर्णन किया गया है। क्षमा, सत्य, दम और अहिंसा आदि भावोंके विरोधी भावोंका वर्णन क्यों नहीं किया गया?

उत्तर—दुःख, अभाव, भय और अपयश आदि भाव जीवोंको प्रारब्धका भोग करानेके लिये उत्पन्न होते हैं; इसलिये इन सबका उद्भव कर्मफलदाता और जगत्‌के नियन्त्रणकर्ता भगवान्‌से होना ठीक ही है। परन्तु क्षमा,

* मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको 'आधिभौतिक', अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको 'आधिदैविक' और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणमें किसी प्रकारके रोगसे होनेवाले कष्टोंको 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं।

सत्य, दम और अहिंसा आदिके विरोधी क्रोध, असत्य, इन्द्रियोंका दासत्व और हिंसा आदि दुर्गुण और दुराचार भगवान्‌से नहीं उत्पन्न होते । वरं गीतामें ही दूसरे स्थानोंमें इन दुर्गुण-दुराचारोंकी उत्पत्तिका मूल कारण—अज्ञान-जनित 'काम' बतलाया गया है (३ । ३७) और इन्हें मूल-सहित त्याग देनेकी प्रेरणा की गयी है । इसलिये सत्य आदि सद्गुण और सदाचारोंके विरोधी भावोंका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मुझमें भाववाले सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

प्रश्न–सप्त महर्षियोंके क्या लक्षण हैं ? और वे कौन-कौन हैं ?

उत्तर–सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः ।
सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः ।
वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये ॥
(वायुपुराण ६१ । ९३-९४)

'तथा देवर्षियों* के इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन ऋषियोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण-विद्या और आयुमें वृद्ध धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करनेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं–ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं ।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है ।†

ये सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न होते हैं। यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है । इसलिये यहाँ उन्हींका लक्ष्य है जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं । ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके लिये साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९-७०)

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ–ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं । ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है । ये प्रवृत्तिमार्गका संचालन करनेवाले हैं और (मेरेहीद्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं।'

---

* देवर्षियोंके लक्षण इसी अध्यायके १२-१३ वें श्लोकोंकी टीकामें देखिये ।

† ये सप्तर्षि प्रवृत्तिमार्गी होते हैं, इनके विचारोंका और जीवनका वर्णन इस प्रकार है—

षट्कर्माभिरता नित्यं शालिनो गृहमेधिनः । तुल्यैर्व्यवहरन्ति स्म अदृष्टैः कर्महेतुभिः ॥
अग्राम्यैर्वर्तयन्ति स्म रसैश्चैव स्वयंकृतैः । कुटुम्बिनः ऋद्धिमन्तो बाह्यान्तरनिवासिनः ॥
कृतादिषु युगाख्येषु सर्वेष्वेव पुनः पुनः । वर्णाश्रमव्यवस्थानं क्रियते प्रथमं तु वै ॥
(वायुपुराण ६१ । ९५—९७)

ये महर्षि पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना—इन छः कर्मोंको सदा करनेवाले, ब्रह्मचारियोंको पढ़ानेके लिये घरोंमें गुरुकुल रखनेवाले तथा प्रजाकी उत्पत्तिके लिये ही स्त्री और अग्निका ग्रहण करनेवाले होते हैं । कर्मजन्य अदृष्टकी दृष्टिसे (अर्थात् वर्ण आदिसे) जो समान हैं, उन्हींके साथ ये व्यवहार करते हैं और अपने ही द्वारा उचित भोजन, पदार्थोंसे निर्वाह करते हैं । ये बाल-बच्चेवाले, गो-धन आदि सम्पत्तिवाले तथा लोकोंके बाहर तथा भीतर निवास करते हैं । सत्य आदि सभी युगोंके आरम्भमें पहले-पहल ये ही सब महर्षिगण बार-बार वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था किया करते हैं ।

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि यही हैं (हरिवंश० ७ । ८, ९)। अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे इन्हींका ग्रहण करना चाहिये ।*

प्रश्न—यहाँ सप्त महर्षियोंसे इस वर्तमान मन्वन्तरके विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप—इन सातोंको मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

---

* ये सातों ही अत्यन्त तेजस्वी, तपस्वी और बुद्धिमान् प्रजापति हैं। प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाले होनेके कारण इनको 'सप्त ब्रह्मा' कहा गया है (महाभारत, शान्तिपर्व २०८ । ३,४,५)। इनका संक्षिप्त चरित्र इस प्रकार है—

(१) मरीचि—ये भगवान्‌के अंशांशावतार माने जाते हैं। इनके कई पत्नियाँ हैं, जिनमें प्रधान दक्षप्रजापतिकी पुत्री सम्भूति और धर्मनामक ब्राह्मणकी कन्या धर्मव्रता हैं। इनकी सन्ततिका बड़ा विस्तार है। महर्षि कश्यप इन्हींके पुत्र हैं। ब्रह्माजीने इनको पद्मपुराणका कुछ अंश सुनाया था। प्रायः सभी पुराणोंमें, महाभारतमें और वेदोंमें भी इनके प्रसंगमें बहुत कुछ कहा गया है। ब्रह्माजीने सबसे पहले ब्रह्मपुराण इन्हींको दिया था। ये सदा-सर्वदा सृष्टिकी उत्पत्ति और उसके पालनके कार्यमें लगे रहते हैं। इनकी विस्तृत कथा वायुपुराण, स्कन्दपुराण, अग्निपुराण, पद्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण, विष्णुपुराण और महाभारत आदिमें है।

(२) अङ्गिरा—ये बड़े ही तेजस्वी महर्षि हैं। इनके कई पत्नियाँ हैं, जिनमें प्रधानतया तीन हैं; उनमेंसे मरीचिकी कन्या सुरूपासे बृहस्पतिका, कर्दम ऋषिकी कन्या स्वराट्से गौतम-वामदेवादि पाँच पुत्रोंका और मनुकी पुत्री पथ्यासे विष्णु आदि तीन पुत्रोंका जन्म हुआ (वायुपुराण अ० ६५) तथा अग्निकी कन्या आत्रेयीसे आङ्गिरसनामक पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई (ब्रह्मपुराण)। किसी-किसी ग्रन्थमें माना गया है कि बृहस्पतिका जन्म इनकी शुभानामक पत्नीसे हुआ था। (महाभारत)

(३) अत्रि—ये दक्षिण दिशाकी ओर रहते हैं। प्रसिद्ध पतिव्रता अनसूयाजी इन्हींकी धर्मपत्नी हैं। अनसूयाजी भगवान् कपिलदेवकी बहिन और कर्दम-देवहूतिकी कन्या हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने वनवासके समय इनका आतिथ्य स्वीकार किया था। अनसूयाजीने जगज्जननी सीताजीको भाँति-भाँतिके गहने-कपड़े और सतीधर्मका महान् उपदेश दिया था।

ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको जब ब्रह्माजीने प्रजाविस्तारके लिये आज्ञा दी, तब अत्रिजी अपनी पत्नी अनसूयाजीसहित ऋक्षनामक पर्वतपर जाकर तप करने लगे। ये दोनों भगवान्‌के बड़े ही भक्त हैं। इन्होंने घोर तप किया और तपके फलस्वरूप चाहा भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन! ये जगत्पति भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका अखण्ड चिन्तन करने लगे। इनके मस्तकसे योगाग्नि निकलने लगी, जिससे तीनों लोक जलने लगे। तब इनके तपसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर—तीनों इन्हें वर देनेके लिये प्रकट हुए। भगवान्‌के तीनों स्वरूपोंके दर्शन करके मुनि अपनी पत्नीसहित कृतार्थ हो गये और गद्‌गद होकर भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान्‌ने इन्हें वर माँगनेको कहा। ब्रह्माजीकी सृष्टि रचनेकी आज्ञा थी, इसलिये अत्रिने कहा—'मैंने पुत्रके लिये भगवान्‌की आराधना की थी और उनके दर्शन चाहे थे, आप तीनों पधार गये। आपलोगोंकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। मुझपर यह कृपा कैसे हुई, आप ही बतलाइये।' अत्रिके वचन सुनकर तीनों मुसकुरा दिये और बोले—'ब्रह्मन्! तुम्हारा संकल्प सत्य है। तुम जिनका ध्यान करते हो, हम तीनों वे ही हैं—एकके ही तीन स्वरूप हैं। हम तीनोंके अंशसे तुम्हारे तीन पुत्र होंगे। तुम तो कृतार्थरूप हो ही।' इतना कहकर भगवान्‌के तीनों स्वरूप अन्तर्धान हो गये। तीनोंने उनके यहाँ अवतार धारण किया। भगवान् विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा और शिवजीके अंशसे दुर्वासाजी हुए। भक्तिका यही प्रताप है। जिनकी ध्यानमें भी कल्पना नहीं हो सकती; वे ही बच्चे बनकर गोदमें खेलने लगे (वाल्मीकीय रामायण वनकाण्ड और श्रीमद्भागवत-स्कन्ध ४)।

(४) पुलस्त्य—ये बड़े ही धर्मपरायण, तपस्वी और तेजस्वी हैं। योगविद्याके बहुत बड़े आचार्य और पारदर्शी हैं। पराशरजी जब राक्षसोंका नाश करनेके लिये एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे, तब वसिष्ठकी सलाहसे पुलस्त्यने उनसे यज्ञ बंद करनेके लिये कहा। पराशरजीने पुलस्त्यकी बात मानकर यज्ञ रोक दिया। इससे प्रसन्न होकर महर्षि पुलस्त्यने ऐसा आशीर्वाद दिया, जिससे पराशरको समस्त शास्त्रोंका ज्ञान हो गया।

इनकी सन्ध्या, प्रतीची, प्रीति और हविर्भू नामक पत्नियाँ हैं—जिनसे कई पुत्र हुए। दत्तोलि अथवा अगस्त्य और प्रसिद्ध ऋषि निदाघ इन्हींके पुत्र हैं। विश्रवा भी इन्हींके पुत्र हैं—जिनसे कुबेर, रावण, कुम्भकर्ण और विभीषणका जन्म हुआ था। पुराणोंमें और महाभारतमें जगह-जगह इनकी चर्चा आयी है। इनकी कथा विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, कूर्मपुराण, श्रीमद्भागवत, वायुपुराण और महाभारत-उद्योगपर्वमें विस्तारसे है।

उत्तर—इन विश्वामित्र आदि सात महर्षियोंमें अत्रि और वसिष्ठके अतिरिक्त अन्य पाँच न तो भगवान्‌के ही मानस पुत्र हैं और न ब्रह्माके ही। अतएव यहाँ इनको न मानकर उन्हींको मानना ठीक है।

प्रश्न—'चत्वारः पूर्वे' से किनको लेना चाहिये?

उत्तर—सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना चाहिये। ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥
(श्रीमद्भागवत २। ७। ५)

'मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे ही भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें प्रलय-

(५) पुलह—ये बड़े ऐश्वर्यवान् और ज्ञानी महर्षि हैं। इन्होंने महर्षि सनन्दनसे ईश्वरीय ज्ञानकी शिक्षा प्राप्त की थी और यह ज्ञान गौतमको सिखाया था। इनके दक्षप्रजापतिकी कन्या क्षमा और कर्दम ऋषिकी पुत्री गतिसे अनेकों सन्तान हुईं। कूर्मपुराण, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा है।

(६) क्रतु—ये भी बड़े ही तेजस्वी महर्षि हैं। इन्होंने कर्दम ऋषिकी कन्या क्रिया और दक्षपुत्री सन्नतिसे विवाह किया था। इनके साठ हजार वालखिल्य नामक ऋषियोंने जन्म लिया। ये ऋषि भगवान् सूर्यके रथके सामने उनकी ओर मुँह करके स्तुति करते हुए चलते हैं। पुराणोंमें इनकी कथाएँ कई जगह आयी हैं।

(श्रीमद्भागवत-चतुर्थस्कन्ध; विष्णुपुराण-प्रथम अंश)

(७) वसिष्ठ—महर्षि वसिष्ठका तप, तेज, क्षमा और धर्म विश्वविदित हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें कई प्रकारके वर्णन मिलते हैं, जो कल्पभेदकी दृष्टिसे सभी ठीक हैं। वसिष्ठजीकी पत्नीका नाम अरुन्धती है। ये बड़ी ही साध्वी और पतिव्रताओंमें अग्रगण्य हैं। वसिष्ठ सूर्यवंशके कुलपुरोहित थे। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके दर्शन और सत्संगके लोभसे ही इन्होंने सूर्यवंशी राजाओंकी पुरोहिती स्वीकार की और सूर्यवंशके हितके लिये ये लगातार चेष्टा करते रहे। भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर इन्होंने अपने जीवनको कृतकृत्य समझा।

कहा जाता है कि 'तपस्या बड़ी है या सत्संग?' इस विषयपर एक बार विश्वामित्रजीसे इनका मतभेद हो गया। वसिष्ठजी कहते थे कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्रजी तपको बड़ा बतलाते थे। अन्तमें दोनों पञ्चायत करानेके लिये शेषजीके पास पहुँचे। इनके विवादके कारणको सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा कि 'भगवन्! आप देख रहे हैं, मेरे सिरपर सारी पृथ्वीका भार है। आप दोनोंमें कोई महात्मा थोड़ी देरके लिये इस भारको उठा लें तो मैं सोच-समझकर आपका झगड़ा निपटा दूँ।' विश्वामित्रजीको अपने तपका बड़ा भरोसा था; उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याका फल देकर पृथ्वीको उठाना चाहा, परन्तु उठा न सके। पृथ्वी काँपने लगी। तब वसिष्ठजीने अपने सत्संगका आधे क्षणका फल देकर पृथ्वीको सहज ही उठा लिया और बहुत देरतक उसे लिये रहे। विश्वामित्रजीने शेषभगवान्‌से पूछा कि 'इतनी देर हो गयी, आपने निर्णय क्यों नहीं सुनाया?' तब उन्होंने हँसकर कहा 'ऋषिवर! निर्णय तो अपने आप ही हो गया। जब आधे क्षणके सत्संगकी भी बराबरी दस हजार वर्षके तपसे नहीं हो सकती, तब आप ही सोच लीजिये कि दोनोंमें कौन बड़ा है।' सत्संगकी महिमा जानकर दोनों ही ऋषि प्रसन्न होकर लौट आये।

वसिष्ठजी वसुसम्पन्न अर्थात् अणिमादि सिद्धियोंसे युक्त और गृहवासियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, इसीलिये इनका नाम 'वसिष्ठ' पड़ा था। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रु इनके आश्रमके समीप भी नहीं आ सकते थे। सौ पुत्रोंका संहार करनेवाले विश्वामित्रके प्रति, अपनेमें पूरा सामर्थ्य होनेपर भी क्रोध न करके इन्होंने उनका जरा भी अनिष्ट नहीं किया। महादेवजीने प्रसन्न होकर वसिष्ठजीको ब्राह्मणोंका आधिपत्य प्रदान किया था। सनातनधर्मके मर्मको यथार्थरूपसे जाननेवालोंमें वसिष्ठजीका नाम सर्वप्रथम लिया जानेयोग्य है। इनके जीवनकी विस्तृत घटनाएँ रामायण, महाभारत, देवीभागवत, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण, लिङ्गपुराण, लिङ्गपुराण आदि ग्रन्थोंमें हैं।

कालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया।'

प्रश्न—इसी श्लोकमें कहा है—'जिनकी सब लोकोंमें यह प्रजा है', परन्तु 'चत्वार: पूर्वे' का अर्थ सनकादि महर्षि मान लेनेसे इसमें विरोध आता है; क्योंकि सनकादिकी तो कोई प्रजा नहीं है ?

उत्तर—सनकादि सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले निवृत्ति-धर्मके प्रवर्तक आचार्य हैं। अतएव उनकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले सभी लोग शिष्यके सम्बन्धसे उनकी प्रजा ही माने जा सकते हैं। अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—'मनव:' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है। मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १।३)।* प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि,

* सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। इसीको महायुग कहते हैं। ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी सन्ध्या होती है। मन्वन्तर बीतनेपर जब सन्ध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है। प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओंके मानके सहित होते हैं। इसके सिवा कल्पके आरम्भकालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी सन्ध्या होती है। इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ सन्ध्याएँ होती हैं। ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके मानकी १५ सन्ध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अंकोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी सन्धि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह सन्ध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
सन्धिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह सन्ध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९५,२००
कल्पकी सन्धिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी सन्ध्यासमेत सात सन्ध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका सन्ध्याकाल चल रहा है। (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस २००७ वि० तक कलियुगके ५०५१ वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष सन्ध्याकालका मान होता है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी सन्ध्याके ही ३०,९४९ सौर वर्ष बीतने बाकी हैं।

दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।* चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

प्रश्न—इन सात महर्षि आदिके साथ 'मद्भावाः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ये सभी भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनके लिये 'मद्भावाः' यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—सप्तर्षियोंकी और सनकादिकी उत्पत्ति तो ब्रह्माजीके मनसे ही मानी गयी है। यहाँ भगवान्‌ने उनको अपने मनसे उत्पन्न कैसे कहा?

उत्तर—इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्‌से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें भी कोई विरोधकी बात नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार दूसरे और तीसरे श्लोकोंद्वारा जो भगवान्‌के योग (प्रभाव) का और चौथेसे छठेतक उनकी विभूतियोंका वर्णन किया गया, उसे जाननेका फल अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ७॥

प्रश्न—यहाँ 'एताम्' विशेषणके सहित 'विभूतिम्' पद किसका वाचक है और 'योगम्' पदसे क्या कहा गया है तथा इन दोनोंको तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर—पिछले तीनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७।८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ' 'यज्ञ मैं हूँ' (९।१६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक यहाँ 'एताम्' विशेषणके सहित 'विभूतिम्' पद है।

भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (१०।२,३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (७।१२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (१०।४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण जगत्‌से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योगम्' पद है।

इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित है। इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही

* श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। वि पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

कालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया।'

प्रश्न—इसी श्लोकमें कहा है—'जिनकी सब लोकोंमें यह प्रजा है', परन्तु 'चत्वारः पूर्वे' का अर्थ सनकादि महर्षि मान लेनेसे इसमें विरोध आता है; क्योंकि सनकादिकी तो कोई प्रजा नहीं है ?

उत्तर—सनकादि सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले निवृत्ति-धर्मके प्रवर्तक आचार्य हैं। अतएव उनकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले सभी लोग शिष्यके सम्बन्धसे उनकी प्रजा ही माने जा सकते हैं। अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—'मनवः' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है। मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १। ३)।* प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि,

* सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। इसीको महायुग कहते हैं। ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी सन्ध्या होती है। मन्वन्तर बीतनेपर जब सन्ध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है। प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओंके मानके सहित होते हैं। इसके सिवा कल्पके आरम्भकालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी सन्ध्या होती है। इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ सन्ध्याएँ होती हैं। ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके मानकी १५ सन्ध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अंकोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी सन्धि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह सन्ध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
सन्धिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह सन्ध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९५,२००
कल्पकी सन्धिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी सन्ध्यासमेत सात सन्ध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका सन्ध्याकाल चल रहा है। (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस २००७ वि० तक कलियुगके ५०५१ वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष सन्ध्याकालका मान होता है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी सन्ध्याके ही ३०,९४९ और वर्ष बीतने बाकी हैं।

दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।* चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

प्रश्न—इन सात महर्षि आदिके साथ 'मद्भावाः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ये सभी भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनके लिये 'मद्भावाः' यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—सप्तर्षियोंकी और सनकादिकी उत्पत्ति तो ब्रह्माजीके मनसे ही मानी गयी है। यहाँ भगवान्‌ने उनको अपने मनसे उत्पन्न कैसे कहा ?

उत्तर—इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्‌से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें भी कोई विरोधकी बात नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार दूसरे और तीसरे श्लोकोंद्वारा जो भगवान्‌के योग (प्रभाव) का और चौथेसे छठेतक उनकी विभूतियोंका वर्णन किया गया, उसे जाननेका फल अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ७॥

प्रश्न—यहाँ 'एताम्' विशेषणके सहित 'विभूतिम्' पद किसका वाचक है और 'योगम्' पदसे क्या कहा गया है तथा इन दोनोंको तत्त्वसे जानना क्या है ?

उत्तर—पिछले तीनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७।८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ' 'यज्ञ मैं हूँ' (९।१६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक यहाँ 'एताम्' विशेषणके सहित 'विभूतिम्' पद है।

भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (१०।२,३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (७।१२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (१०।४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण जगत्‌से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योगम्' पद है।

इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित है। इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही

* श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है।

प्रश्न—'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद किसका वाचक है और उससे युक्त हो जाना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌की जो अनन्यभक्ति है (११ । ५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (१३ । १०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (१४ । २६) भी कहते हैं; सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'योग' के नामसे पुकारा गया है और नवम अध्यायके तेरहवें, चौदहवें तथा चौंतीसवें तथा इसी अध्यायके नवें श्लोकोंमें जिसका स्वरूप बतलाया गया है—उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसमें संलग्न रहना ही उससे युक्त हो जाना है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के प्रभाव और विभूतियोंके ज्ञानका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगकी प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

प्रश्न—भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का 'प्रभव' समझना क्या है ?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से ही उत्पन्न है, अतः भगवान् ही समस्त जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण हैं; इसलिये भगवान् ही सर्वोत्तम हैं, यह समझना भगवान्‌को समस्त जगत्‌का प्रभव समझना है।

प्रश्न—सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से ही चेष्टा करता है—यह समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियमपूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है' यह समझना है।

प्रश्न—'भावसमन्विताः' विशेषणके सहित 'बुधाः' पद कैसे भक्तोंका वाचक है ?

उत्तर—जो भगवान्‌के अतिशय प्रेमसे युक्त हैं, भगवान्‌में जिनकी अटल श्रद्धा है, जो भगवान्‌के गुण और प्रभावको भलीभाँति विश्वासपूर्वक समझते हैं—भगवान्‌के उन बुद्धिमान् भक्तोंका वाचक 'भावसमन्विताः' विशेषणके सहित 'बुधाः' पद है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे समझकर भगवान्‌को भजना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को भजना है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—'मच्चित्ताः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (८।

१४; ९।२२); भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीयबुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते, ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ताः' विशेषणका प्रयोग किया है।

प्रश्न—'मद्गतप्राणाः' का क्या भाव है?

उत्तर—जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने 'मद्गतप्राणाः' का प्रयोग किया है।

प्रश्न—'परस्परं बोधयन्तः' का क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है,—यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है।

प्रश्न—भगवान्‌का कथन करना क्या है?

उत्तर—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्‌का कथन करना है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे सब कुछ करते हुए नित्य सन्तुष्ट रहना क्या है?

उत्तर—प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य सन्तुष्ट रहना' है। इस प्रकार सन्तुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और सन्तोषका कारण केवल भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है। सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और सन्तोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे सब कुछ करते हुए भगवान्‌में निरन्तर रमण करना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीडा करते रहना—यही भगवान्‌में निरन्तर रमण करना है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ १०॥

प्रश्न—'तेषाम्' पद किनका वाचक है?

उत्तर—पूर्वके दो श्लोकोंमें 'बुधाः' और 'मच्चित्ताः' आदि पदोंसे जिन भक्तोंका वर्णन किया गया है, उन्हीं निष्काम अनन्यप्रेमी भक्तोंका वाचक यहाँ 'तेषाम्' पद है।

प्रश्न—'सततयुक्तानाम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'मच्चित्ताः', 'मद्गतप्राणाः', 'परस्परं बोधयन्तः' और 'कथयन्तः' से जो बातें कही गयी हैं, सबका समाहार 'सततयुक्तानाम्' पदमें किया गया है।

प्रश्न—'प्रीतिपूर्वकं भजताम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च' में जो बात कही गयी है उसका समाहार यहाँ 'प्रीतिपूर्वकं भजताम्' में किया गया है। अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्‌को भजनेवाले नहीं हैं, किन्तु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही भगवान्‌का, उस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे, निरन्तर भजन करनेवाले हैं।*

प्रश्न—ऐसे भक्तोंको भगवान् जो बुद्धियोग प्रदान करते हैं—वह क्या है और उससे भगवान्‌को प्राप्त हो जाना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धियोगका प्रदान करना' है। इसीको भगवान्‌ने सातवें और नवें अध्यायमें विज्ञानसहित ज्ञान कहा है और इस बुद्धियोगके द्वारा भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाना है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ॥ ११॥

प्रश्न—उन भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ, इसके लिये उनको कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता।

प्रश्न—'अज्ञानजम्' विशेषणके सहित 'तमः' पद किसका वाचक है और उसे मैं उनके आत्मभावमें स्थित हुआ नाश करता हूँ, भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरणशक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसका वाचक यहाँ 'अज्ञानजम्' विशेषणके सहित 'तमः' पद है। 'उसे मैं भक्तोंके आत्मभावमें स्थित हुआ नाश करता हूँ' इस कथनसे भगवान्‌ने भक्तिकी महिमा और अपनेमें विषमताके दोषका अभाव दिखलाया है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता। परन्तु मेरे प्रेमी भक्त मुझे अपना अन्तर्यामी समझते हुए पूर्वश्लोकोंमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ।

प्रश्न—'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद किसका वाचक है और उसके द्वारा 'अज्ञानजनित अन्धकारका नाश करना' क्या है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकार तत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकारतत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है; जिसे सातवें और नवें अध्यायमें विज्ञानसहित ज्ञानके

---

* न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
(श्रीमद्भागवत ६। ११। २५)

'हे सर्वसद्गुणयुक्त! आपको त्याग कर न तो मैं स्वर्गमें सबसे ऊँचे लोकका निवास चाहता हूँ, न ब्रह्माका पद चाहता हूँ, न समस्त पृथ्वीका राज्य, न पाताललोकका आधिपत्य, न योगकी सिद्धि—अधिक क्या मुक्ति भी नहीं चाहता।'

नामसे कहा है—ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध' का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है। उसके द्वारा भक्तोंके अन्तःकरणमें भगवत्तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक आवरण-दोषका सर्वथा अभाव कर देना ही 'अज्ञानजनित अन्धकारका नाश करना' है।

प्रश्न—इस ज्ञानदीप (बुद्धियोग) के द्वारा पहले अज्ञानका नाश होता है या भगवान्‌की प्राप्ति होती है?

उत्तर—'ज्ञानदीप'के द्वारा यद्यपि अज्ञानका नाश और भगवान्‌की प्राप्ति—दोनों एक ही साथ हो जाते हैं, तथापि यदि पूर्वापरका विभाग किया जाय तो यही समझना चाहिये कि पहले अज्ञानका नाश होता है और फिर उसी क्षण भगवान्‌की प्राप्ति भी हो जाती है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्ररूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी—उसका वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें किया। उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्‌ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किन्तु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषयको अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित भलीभाँति समझाया। तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी। फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌के भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान्‌की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतलाकर उस विषयका उपसंहार कर दिया। इसपर भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह बात समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्‌की स्तुति करके भगवान्‌से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं॥ १२-१३॥

प्रश्न—'आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं'—अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं वे आपके ही स्वरूप हैं। तथा आपका जो नित्यधाम है वह भी सच्चिदानन्दमय दिव्य और आपसे अभिन्न होनेके कारण आपका ही स्वरूप है तथा आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं।

प्रश्न—'सर्वे' विशेषणके सहित 'ऋषयः' पद किन ऋषियोंका वाचक है एवं वे आपको 'सनातन दिव्य पुरुष', 'आदिदेव', 'विभु' और 'अजन्मा' कहते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'सर्वे' विशेषणके सहित 'ऋषयः'* पद ...

---

* ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत् सन्नियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥

मार्कण्डेय, अङ्गिरा आदि समस्त ऋषियोंका वाचक है और अपनी मान्यताके समर्थनमें अर्जुन उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षयविनाशरहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्वव्यापी बतलाते हैं। अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।*

प्रश्न—देवर्षिके क्या लक्षण हैं और ऐसे देवर्षि कौन-कौन हैं?

उत्तर—देवर्षिके लक्षण ये हैं—

देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः ॥
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ।
भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा ॥
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम् ।
तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम् ॥
मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये ।
इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये ॥

(वायुपुराण ६१ । ८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये। इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ। भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण है। जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कारण इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और जो ऐश्वर्य (सिद्धियों) के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्मण और राजा—ये सभी देवर्षि हैं।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ ।
बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ ।
ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद्देवर्षयः स्मृताः ॥

(वायुपुराण ६१ । ८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके पुत्र कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यप-

---

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः । यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ॥

(वायुपुराण ५९ । ७९, ८१)

'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चित रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रक्खा है। गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है।'

* परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—

'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सन्ध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है। इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा। सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा। लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोंसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रक्खा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; ये ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं, ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं। ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है।' 'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते। महान् भय (संकट) में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं।'

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः । भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥

(महा० भीष्म० ६७ । २४)

के दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं।

प्रश्न—देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास कौन हैं? अर्जुनने खास तौरसे इन्हींके नाम क्यों गिनाये और इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमामें क्या कहा था?

उत्तर—देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्के यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले, उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं।* ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान् सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्-

* नारद कई हुए हैं परन्तु ये देवर्षि नारद एक ही हैं। इनको भगवान्का 'मन' कहा गया है। ये परम तत्त्वज्ञ, परम प्रेमी और ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं। भक्तिके तो ये प्रधान आचार्य हैं। संसारपर इनका अमित उपकार है। प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तोंको इन्होंने भक्तिमार्गमें प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकीय रामायण-जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी संसारको इन्हींकी कृपासे प्राप्त हुए। शुकदेव-जैसे महान् ज्ञानीको भी इन्होंने उपदेश दिया।

ये पूर्वजन्ममें दासीपुत्र थे। इनकी माता महर्षियोंके जूँठे बर्तन माँजा करती थीं। जब ये पाँच ही वर्षके थे, इनकी माताकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी। तब ये सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होकर जंगलकी ओर निकल पड़े। वहाँ जाकर ये एक वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्के स्वरूपका ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते इनकी वृत्तियाँ एकाग्र हो गयीं और इनके हृदयमें भगवान् प्रकट हो गये। परन्तु थोड़ी देरके लिये इन्हें अपने मनमोहन रूपकी झलक दिखलाकर भगवान् तुरंत अन्तर्धान हो गये। अब तो ये बहुत छटपटाये और मनको पुनः स्थिर करके भगवान्का ध्यान करने लगे। किन्तु भगवान्का वह रूप उन्हें फिर न दीख पड़ा। इतनेहीमें आकाशवाणी हुई कि 'हे दासीपुत्र! इस जन्ममें फिर तुम्हें मेरा दर्शन न होगा। इस शरीरको त्याग कर मेरे पार्षदरूपमें तुम मुझे पुनः प्राप्त करोगे।' भगवान्के इन वाक्योंको सुनकर इन्हें बड़ी सान्त्वना हुई और ये मृत्युकी बाट जोहते हुए निःसंग होकर पृथ्वीपर विचरने लगे। समय आनेपर इन्होंने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको त्याग दिया। कल्पके अन्तमें भगवान्के प्राणोंमें प्रविष्ट हो गये और फिर दूसरे कल्पमें ये दिव्य विग्रह धारणकर ब्रह्माजीके मानसपुत्रके रूपमें पुनः अवतीर्ण हुए और तबसे ये अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतको धारणकर वीणा बजाते हुए भगवान्के गुणोंको गाते रहते हैं (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १ अ० ६)।

महाभारत सभापर्वके पाँचवें अध्यायमें कहा है—

'देवर्षि नारदजी वेद और उपनिषदोंके मर्मज्ञ, देवगणोंसे पूजित, इतिहास पुराणोंके विशेषज्ञ, अतीत कल्पोंकी बातोंको जाननेवाले, न्याय और धर्मके तत्त्वज्ञ, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, आयुर्वेदादिके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, परस्पर-विरुद्ध विविध विधि-वाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें प्रवीण, प्रभावशाली वक्ता, नीतिज्ञ, मेधावी, स्मरणशील, ज्ञानी, कवि, भले बुरेको पृथक्-पृथक् पहचाननेमें चतुर, समस्त प्रमाणोंद्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय करनेमें समर्थ, न्यायके वाक्योंके गुण दोषोंको जाननेवाले, बृहस्पति-जैसे विद्वानोंकी शङ्काओंका समाधान करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्षके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले, सारे ब्रह्माण्डमें और त्रिलोकीमें इधर-उधर ऊपर-नीचे जो कुछ होता है—सबको योगबलसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, सांख्य और योगके विभागको जाननेवाले, देव-दैत्योंको वैराग्यका उपदेश करनेमें चतुर, सन्धि-विग्रहके तत्त्वको जाननेवाले, कर्तव्य-अकर्तव्यका विभाग करनेमें दक्ष, षाड्गुण्य-प्रयोगके विषयमें अनुपम, सकल शास्त्रोंमें प्रवीण, युद्धविद्यामें निपुण, संगीत विशारद और भगवान्के भक्त, विद्या और गुणोंके भण्डार, सदाचारके आधार, सबके हितकारी और सर्वत्र गतिवाले हैं।' उपनिषद्, पुराण और इतिहास इनकी पवित्र गाथाओंसे भरे हैं।

× × × ×

महर्षि असित और देवल पिता-पुत्र हैं। इनके सम्बन्धमें कूर्मपुराणमें वर्णन मिलता है—

एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासन्तानकारणात्। कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः॥
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ। वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ॥
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत। नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥

(कूर्मपुराण १९। १, २, ५)

'कश्यप मुनि प्रजाविस्तारके हेतुसे इन पुत्रोंको उत्पन्न करके फिर पुत्र प्राप्तिकी कामनासे महान् तप करने लगे। उनके इस प्रकार उग्र तप करनेसे ये 'वत्सर' और 'असित' नामके दो पुत्र हुए। ये दोनों ही ब्रह्मवादी (ब्रह्मवेत्ता एवं ब्रह्मका उपदेश

की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं। इनके जीवनका प्रधान कार्य है भगवान्‌की महिमाका ही विस्तार करना। महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्‌की महिमा गानेके कई प्रसङ्ग आये हैं। भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें किस ऋषिने क्या कहा था, इसका संक्षेपसे भीष्मपर्वमें हा पितामह भीष्मने वर्णन किया है।*

करनेवाले) थे। 'असित' के उनकी पत्नी एकपर्णाके गर्भसे महातपस्वी योगाचार्य 'देवल' नामके वेदनिष्णात पुत्र उत्पन्न हुए।'

ये दोनों ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। देवल ऋषिने भगवान् शिवकी आराधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। ये दोनों बड़े ही प्रवीण और प्राचीन महर्षि हैं। प्रत्यूषनामक वसुके भी देवल ऋषिनामक पुत्र थे (हरिवंश० ३ । ४४)।

× × × ×

श्रीवेदव्यासजी भगवान्‌के अंशावतार माने जाते हैं। इनका जन्म द्वीपमें हुआ था, इससे इनका 'द्वैपायन' नाम पड़ा; शरीर श्यामवर्ण है, इससे ये 'कृष्णद्वैपायन' कहलाये और वेदोंके विभाग करनेसे लोग इन्हें 'वेदव्यास' कहने लगे। ये महामुनि पराशरजीके पुत्र हैं। इनकी माताका नाम सत्यवती था। ये जन्मते ही तप करनेके लिये वनमें चले गये थे। ये भगवत्तत्त्वके पूर्ण ज्ञाता और अद्वितीय महाकवि हैं। ये ज्ञानके असीम और अगाध समुद्र हैं, विद्वत्ताकी पराकाष्ठा और कवित्वकी सीमा हैं। व्यासके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त जगत्‌के ज्ञानका प्रकाश एवं अवलम्बन है।

ब्रह्मसूत्रकी रचना भगवान् व्यासने ही की। महाभारत-सदृश अलौकिक ग्रन्थका प्रणयन भगवान् व्यासने किया। अठारह पुराण और अनेक उपपुराण भगवान् व्यासने बनाये। भारतका इतिहास इस बातका साक्षी है। आज सारा संसार व्यासके ज्ञानप्रसादसे अपने-अपने कर्तव्यका मार्ग खोज रहा है।

प्रत्येक द्वापरयुगमें वेदोंका विभाग करनेवाले भिन्न-भिन्न व्यास होते हैं। इसी वैवस्वत मन्वन्तरके ये पराशरपुत्र श्रीकृष्ण-द्वैपायन अट्ठाईसवें वेदव्यास हैं। इन्होंने अपने प्रधान शिष्य पैलको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद और सुमन्तुको अथर्ववेद पढ़ाया। एवं सूतजातीय महान् बुद्धिमान् रोमहर्षण महामुनिको इतिहास और पुराण पढ़ाये।

* देवर्षि नारदने कहा—'भगवान् श्रीकृष्ण समस्त लोकोंको उत्पन्न करनेवाले और समस्त भावोंको जाननेवाले हैं तथा साध्योंके और देवताओंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।'

मार्कण्डेय मुनिने कहा—'श्रीकृष्ण यज्ञोंके यज्ञ, तपोंके तप और भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप हैं।'

भृगुने कहा—'ये देवताओंके देवता और परम पुरातन विष्णु हैं।'

व्यासने कहा—'ये इन्द्रको इन्द्रत्व देनेवाले देवताओंके परम देवता हैं।'

अङ्गिराने कहा—'ये सब प्राणियोंकी रचना करनेवाले हैं।'

सनत्कुमार आदिने कहा—'इनके मस्तकसे आकाश और भुजाओंसे पृथ्वी व्याप्त है, तीनों लोक इनके पेटमें हैं; ये सनातन पुरुष हैं; तपसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही साधक इन्हें जान सकते हैं। आत्मदर्शनसे तृप्त ऋषिगणोंमें भी ये परमोत्तम माने जाते हैं और युद्धसे पीठ न दिखानेवाले उदार राजर्षियोंके भी ये ही परम गति हैं।' (महा० भीष्म० ६८)

महाभारत, वनपर्वके बारहवें अध्यायमें भक्तिमती द्रौपदीका वचन है—

असित और देवल ऋषिने कहा है—'श्रीकृष्ण ही प्रजाकी पूर्व सृष्टिमें प्रजापति और सब लोकोंके एकमात्र रचयिता हैं।'

परशुरामजीने कहा है—'ये ही विष्णु हैं, इन्हें कोई जीत नहीं सकता; ये ही यज्ञ हैं, यज्ञ करनेवाले हैं और यज्ञके द्वारा यजनीय हैं।'

नारदजीने कहा है—'ये साध्यदेवोंके और समस्त कल्याणोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।'

'जैसे बालक अपने इच्छानुसार खिलौनोंसे खेला करता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि देवताओंको लेकर खेला करते हैं।'

इसके अतिरिक्त महाभारतमें भगवान् व्यासने कहा है—'सौराष्ट्रदेशमें द्वारिका नामकी एक पवित्र नगरी है, उसमें साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम मधुसूदन भगवान् विराजते हैं। वे स्वयं सनातनधर्मकी मूर्ति हैं। वेदज्ञ ब्राह्मण और आत्मज्ञानी पुरुष महात्मा श्रीकृष्णको साक्षात् 'सनातनधर्म' बतलाते हैं। भगवान् गोविन्द पवित्रोंमें परम पवित्र, पुण्योंमें परम पुण्य और मङ्गलोंके परम मङ्गल हैं। ये कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें सनातन देवोंके देव हैं। वे ही मधुसूदन अक्षर, क्षर, क्षेत्रज्ञ, परमेश्वर और अचिन्त्यमूर्ति हैं।' (महा० वन० ८८ । २४ से २७)

प्रश्न—आप स्वयं भी मुझसे कह रहे हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (४।६ से ९ तक; ५।२९; ७।७ से १२ तक; ९।४ से ११ और १६ से १९ तक; तथा १०।२, ३, ८)। अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही॥ १४॥

प्रश्न—यहाँ 'केशव' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क' 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों जिसके वपु यानी स्वरूप हों, उसे 'केशव' कहते हैं। अतः यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको केशव कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'एतत्' और 'यत्' पद भगवान्‌के किस कथनका संकेत करते हैं और उस सबको सत्य मानना क्या है?

उत्तर—सातवें अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा, रहस्य और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका सङ्केत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्' पद हैं; तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्‌के हर्ता, कर्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंकेभी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेशको सत्य मानना तथा उसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न करना उन सब वचनोंको सत्य मानना है।

प्रश्न—'भगवन्' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(६।५।७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य' सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है। ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं। वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(६।५।७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'व्यक्तिम्' पद किसका वाचक है तथा उसे देवता और दानव नहीं जानते—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार करनेके लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका

श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा है—'हे राजन्! मनुष्योंमें तुम लोग बड़े ही भाग्यवान् हो, क्योंकि लोकोंको पवित्र करनेवाले मुनिगण तुम्हारे महलोंमें पधारते हैं और मानवचिह्नधारी साक्षात् परब्रह्म गूढरूपमें यहाँ विराजते हैं। अहा! महात्मालोग जिस कैवल्य निर्वाण सुखके अनुभवको खोजा करते हैं, ये श्रीकृष्ण वही परम ब्रह्म हैं। ये तुम्हारे प्रिय, सु[illegible] के लड़के, पूज्य, पथप्रदर्शक एवं गुरु हैं; तब बताओ, तुम्हारे समान भाग्यशाली और कौन है!' (७।१५।७५-७[illegible]

संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे जो भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण करते हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'व्यक्तिम्' पद है । उनको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन दिव्य लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—'भूतभावन', 'भूतेश', 'देवदेव', 'जगत्पते' और 'पुरुषोत्तम'—इन पाँच सम्बोधनोंका क्या अर्थ है और यहाँ एक ही साथ पाँच सम्बोधनोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करता है, उसे 'भूतभावन' कहते हैं; जो समस्त प्राणियोंको नियममें चलानेवाला सबका शासक हो—उसे 'भूतेश' कहते हैं; जो देवोंका भी पूजनीय देव हो, उसे 'देवदेव' कहते हैं; समस्त जगत्के पालन करनेवाले स्वामीको 'जगत्पति' कहते हैं तथा जो क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम हो उसे 'पुरुषोत्तम' कहते हैं । यहाँ अर्जुनने इन पाँचों सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिनामक जो क्षर और अक्षरपुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं ।

प्रश्न—आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्के आदि हैं; आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य, रहस्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता, स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं । और आपका यह जानना भी उस प्रकारका नहीं है, जिस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि-शक्तिके द्वारा शास्त्रादिकी सहायतासे अपनेसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुके स्वरूपको जानते हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, अतः अपनेहीद्वारा अपनेको जानते हैं। आपमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका कोई भेद नहीं है ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

प्रश्न—'दिव्याः' विशेषणके सहित 'आत्मविभूतयः' पद किन विभूतियोंका वाचक है और उनको आप ही पूर्णतया कहनेमें समर्थ हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—समस्त लोकोंमें जो पदार्थ तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, गुण और शक्ति आदिसे सम्पन्न हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'दिव्याः' विशेषणके सहित 'आत्मविभूतयः' पद है । तथा उनको पूर्णतया आप ही कहनेमें समर्थ हैं, इस कथनका यह अभिप्राय है कि वे सब विभूतियाँ आपकी हैं—इसलिये, एवं आपके सिवा दूसरा कोई उनको पूर्णतया जानता ही नहीं—इसलिये भी आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी व्यक्ति उनका पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकता; अतएव कृपया आप ही उनका वर्णन कीजिये ।

प्रश्न—जिन विभूतियोंद्वारा आप इन समस्त लोकोंको व्याप्त किये हुए स्थित हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं केवल इसी लोकमें स्थित आपकी दिव्य विभूतियोंका वर्णन नहीं सुनना चाहता; मैं आपकी उन समस्त विभिन्न विभूतियोंका पूरा वर्णन सुनना चाहता हूँ, जिनसे विभिन्न रूपोंमें आप स्वर्गादि समस्त लोकोंमें परिपूर्ण हो रहे हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं॥ १७॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अर्जुनने इसमें भगवान्से दो बातें पूछी हैं—(१) श्रद्धा और प्रेमके साथ निरन्तर आपका चिन्तन करता रहूँ और गुण, प्रभाव तथा तत्त्वके सहित आपको भलीभाँति जान सकूँ—ऐसा कोई उपाय बतलाइये। (२) जड-चेतन जितने भी चराचर पदार्थ हैं, उनमें मैं किन-किनको आपका स्वरूप समझकर उनमें चित्त लगाऊँ—इसकी व्याख्या कीजिये। अभिप्राय यह है कि किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझा जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है॥ १८॥

प्रश्न—यहाँ 'जनार्दन' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान्को जनार्दन नामसे पुकारकर यह भाव दिखलाते हैं कि आपसे सभी मनुष्य अपनी इष्ट-वस्तुओंको चाहते हैं और आप सबको सब कुछ देनेमें समर्थ हैं; अतएव मैं भी आपसे जो कुछ प्रार्थना करता हूँ, कृपा करके उसे भी पूर्ण कीजिये।

प्रश्न—यहाँ 'योगम्' और 'विभूतिम्' पद किनके वाचक हैं? तथा उन दोनोंको फिरसे विस्तारपूर्वक कहनेके लिये प्रार्थना करनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस अपनी ईश्वरीय शक्तिके द्वारा भगवान् स्वयं इस जगत्के रूपमें प्रकट होकर अनेक रूपोंमें विस्तृत होते हैं, उस शक्तिका नाम 'योग' है और उन विभिन्न रूपोंके विस्तारका नाम 'विभूति' है। इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्ने इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है, वहाँ इनका अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। उस श्लोकमें इन दोनोंको तत्त्वसे जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति होना बतलाया गया है। अतएव अर्जुन इन 'विभूति' और 'योग' दोनोंका रहस्य भलीभाँति जाननेकी इच्छासे बार-बार विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है कि 'आपके अमृतमय वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती?'

उत्तर—इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं। इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही उसकी प्यास बढ़ती जा रही है। मन करता है कि यह अमीरस निरन्तर ही पीता रहूँ। अतएव भगवन्! यह मत सोचिये कि 'अमुक बात तो कही जा चुकी है, अथवा बहुत कुछ कहा जा चुका है, अब और क्या कहें।' बस, दया करके यह दिव्य अमृत बरसाते ही रहिये!

सम्बन्ध—अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तारपूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

प्रश्न—'कुरुश्रेष्ठ' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुनको 'कुरुश्रेष्ठ' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम कुरुकुलमें सर्वश्रेष्ठ हो, इसलिये मेरी विभूतियोंका वर्णन सुननेके अधिकारी हो।

प्रश्न—'दिव्याः' विशेषणके सहित 'आत्मविभूतयः' पदका क्या अर्थ है और उन सबको अब प्रधानतासे कहूँगा—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जब सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परन्तु वे सब-के-सब दिव्य विभूति नहीं हैं। दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास हो। भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता। उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा।

प्रश्न—मेरे विस्तारका अन्त नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान् अर्जुनके अठारहवें श्लोकमें कही हुई उस बातका उत्तर दे रहे हैं, जिसमें अर्जुनने विस्तारपूर्वक (पूर्णरूपसे) विभूतियोंका वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की थी। भगवान् कहते हैं, कि मेरी सारी विभूतियोंका तो वर्णन हो ही नहीं सकता; मेरी जो प्रधान-प्रधान विभूतियाँ हैं, उनका भी पूरा वर्णन सम्भव नहीं है।*

---

* विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है। इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और सञ्चालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न समष्टि-विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं। रुद्र, वसु, आदित्य, इन्द्र, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं। इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं। ये सभी भगवान्की विभूतियाँ हैं।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च। इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥

(श्रीविष्णुपुराण ३ । १ । ४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र और ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

इनके अतिरिक्त, सृष्टि-सञ्चालनार्थ प्रजाके समष्टि-विभागोंमेंसे यथायोग्य निर्वाचन कर लिया जाता है। इस सारे निर्वाचनमें प्रधानतया उन्हींको लिया जाता है, जिनमें भगवान्के तेज, शक्ति, विद्या, ज्ञान और बल आदिका विशेष विकास हो। इसीलिये भगवान्ने इन सबको भी अपनी विभूति बतलाया है।

वायुपुराणके सत्तरवें अध्यायमें वर्णन आता है कि 'महर्षि कश्यपके द्वारा जब प्रजाकी सृष्टि हो गयी, तब प्रजापतिने विभिन्नजातीय प्रजाओंमेंसे जो सबसे श्रेष्ठ और तेजस्वी थे, उनको चुनकर उन-उन जातियोंकी प्रजाका नियन्त्रण करनेके लिये उन्हें उनका राजा बना दिया। चन्द्रमाको नक्षत्र-ग्रह आदिका, बृहस्पतिको आङ्गिरसोंका, शुक्राचार्यको भार्गवोंका, विष्णुको आदित्योंका, पावकको वसुओंका, दक्षको प्रजापतियोंका, प्रह्लादको दैत्योंका, इन्द्रको मरुतोंका, नारायणको साध्योंका, शङ्करको रुद्रोंका, वरुणको

सम्बन्ध—अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

प्रश्न—'गुडाकेश' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'गुडाका' निद्राको कहते हैं । उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं । भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो । अतएव मेरे उपदेशको धारण करके अज्ञाननिद्राको भी जीत सकते हो ।

प्रश्न—'सर्वभूताशयस्थितः' विशेषणके सहित 'आत्मा' पद किसका वाचक है और वह 'आत्मा' मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको परा 'प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (७ । ५; १३ । १), उसीका वाचक यहाँ 'सर्वभूताशयस्थितः' विशेषणके सहित 'आत्मा' पद है । वह भगवान्का ही अंश होनेके कारण (१५ । ७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (१३ । २) । इसीलिये भगवान्ने कहा है कि 'वह आत्मा मैं हूँ ।'

प्रश्न—'भूतानाम्' पद किसका वाचक है और उनका आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—चराचर समस्त देहधारी प्राणियोंका वाचक यहाँ 'भूतानाम्' पद है । समस्त प्राणियोंका सृजन, पालन और संहार भगवान्से ही होता है । सब प्राणी भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उन्चास वायुदेवताओंका तेज* और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥

जलोंका, कुबेरको यक्ष-राक्षसादिका, शूलपाणिको भूत-पिशाचोंका, सागरको नदियोंका, चित्ररथको गन्धर्वोंका, उच्चैःश्रवाको घोड़ोंका, सिंहको पशुओंका, साँड़को चौपायोंका, गरुड़को पक्षियोंका, शेषको डसनेवालोंका, वासुकिको नागोंका, तक्षकको दूसरी जातिके सर्पों और नागोंका, हिमवान्को पर्वतोंका, विप्रचित्तिको दानवोंका, वैवस्वतको पितरोंका, पर्जन्यको सागर, नदी और मेघोंका, कामदेवको अप्सराओंका, संवत्सरको ऋतु और मासादिका, सुधामाको पूर्वका, केतुमानको पश्चिमका और वैवस्वत मनुको सब मनुष्योंका राजा बनाया । इन्हीं सब अधिकारियोंद्वारा समस्त जगत्का सञ्चालन और पालन हो रहा है ।' यहाँ इस अध्यायमें जो विभूतिवर्णन है, वह बहुत अंशमें इसीसे मिलता-जुलता है ।

* उन्चास मरुतोंके नाम ये हैं—सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण ६७ । १२३ से १३०) । गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं । परन्तु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है । इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्गणोंका तेज या किरणें माना गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'आदित्य' शब्द किनका वाचक है और उनमें 'विष्णु' मैं हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं।* इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं; और अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं। इसीलिये भगवान्ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं—उन सबमें सूर्य प्रधान हैं; इसलिये भगवान्ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'वायुदेवताओंका 'मरीचि' शब्दवाच्य तेज मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दितिपुत्र उन्चास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं। उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सकता था।† इसलिये उनके इस तेजको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अश्विनी, भरणी और कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्की प्रधान विभूति हैं। इसलिये यहाँ उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ ॥ २२ ॥

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश)। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं।

* धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते। जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥

(महा० आदि० ६५ । १५-१६)

† कश्यपजीकी पत्नी दितिके बहुत-से पुत्रोंके नष्ट हो जानेपर उसने अपने पति कश्यपजीको अपनी सेवासे प्रसन्न किया। उसकी सम्यक् आराधनासे सन्तुष्ट हो तपस्वियोंमें श्रेष्ठ कश्यपजीने उसे वर देकर सन्तुष्ट किया। उस समय उसने इन्द्रके वध करनेमें समर्थ एक अति तेजस्वी पुत्रका वर माँगा। मुनिश्रेष्ठ कश्यपजीने उसे अभीष्ट वर दिया और उस अति उग्र वरको देते हुए वे उससे बोले—'यदि तुम नित्य भगवान्के ध्यानमें तत्पर रहकर अपने गर्भको पवित्रता और संयमके साथ सौ वर्षतक धारण कर सकोगी तो तुम्हारा पुत्र इन्द्रको मारनेवाला होगा।' उस गर्भको अपने वधका कारण जान देवराज इन्द्र भी विनयपूर्वक दितिकी सेवा करनेके लिये आ गये। उसकी पवित्रतामें कभी बाधा हो तो हम कुछ कर सकें, इसी प्रतीक्षामें इन्द्र वहाँ हर समय उपस्थित रहने लगे। अन्तमें सौ वर्षमें जब कुछ दिन ही कम रहे थे तब एक दिन दिति बिना ही चरणशुद्धि किये अपने बिछौनेपर लेट गयी। उसी समय निद्राने उसे घेर लिया। तब इन्द्र मौका पाकर हाथमें वज्र लेकर उसकी कोखमें प्रवेश कर गये और उन्होंने उस महागर्भके सात टुकड़े कर डाले। इस प्रकार वज्रसे पीडित होनेसे वह गर्भ जोर-जोरसे रोने लगा। इन्द्रने उससे पुनः-पुनः कहा कि 'मत रो।' किन्तु जब वह गर्भ सात भागोंमें विभक्त होकर भी न मरा तो इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो फिर एक-एकके सात-सात टुकड़े कर डाले। इस प्रकार एकसे उन्चास होकर भी वे जीवित ही रहे। तब इन्द्रने जान लिया ये मरेंगे नहीं। वे ही अति वेगवान् मरुत् नामक देवता हुए। इन्द्रने जो उनसे कहा था कि 'मा रोदीः' (मत रो), इसलिये वे मरुत् कहलाये (विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अध्याय २१)।

प्रश्न—'वेदोंमें सामवेद मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त रमणीय स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है। इसलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'देवोंमें मैं इन्द्र हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि जितने भी देवता हैं, उन सबके शासक और राजा होनेके कारण इन्द्र सबमें प्रधान हैं, अतः उनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, रसना, घ्राण, वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा तथा मन—इन ग्यारह इन्द्रियोंमें मन अन्य दसों इन्द्रियोंका स्वामी, प्रेरक, उन सबसे सूक्ष्म और श्रेष्ठ होनेके कारण सबमें प्रधान है। इसलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'भूतप्राणियोंकी चेतना मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—समस्त प्राणियोंकी जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा उनको दुःख-सुखका और समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है, जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है। तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस ज्ञानशक्तिका नाम 'चेतना' है। यह प्राणियोंके समस्त अनुभवोंकी हेतुभूता प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ॥ २३॥

प्रश्न—एकादश रुद्र कौन हैं और उनमें शङ्करको अपना रूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली*—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं। इनमें शम्भु अर्थात् शङ्कर सबके अधीश्वर (राजा) हैं, तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं। इसलिये उन्हें भगवान्‌ने अपना स्वरूप कहा है।

प्रश्न—यक्ष-राक्षसोंमें धनपति कुबेरको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कुबेर† यक्ष-राक्षसोंके राजा तथा उनमें श्रेष्ठ हैं और धनाध्यक्षके पदपर आरूढ प्रसिद्ध लोकपाल हैं, इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—आठ वसु कौन-से हैं और उनमें पावक (अग्नि) को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

---

* हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः। वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशांपते। एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः॥
(हरिवंश० १। ३। ५१, ५२)

† ये पुलस्त्य ऋषिके पौत्र हैं और विश्रवाके औरस पुत्र हैं। भरद्वाज-कन्या देववर्णिनीके गर्भसे इनका जन्म हुआ था। इनके दीर्घकालतक कठोर तप करनेपर ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगनेको कहा। तब इन्होंने विश्वके धनरक्षक होनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर ब्रह्माजीने कहा कि 'मैं भी चौथे लोकपालकी नियुक्ति करना चाहता हूँ; अतएव इन्द्र, यम और वरुणकी भाँति तुम भी इस पदको ग्रहण करो।' उन्होंने ही इनको पुष्पकविमान दिया। तबसे ये ही धनाध्यक्ष हैं। इनकी विमाता कैकसीसे रावण-कुम्भकर्णादिका जन्म हुआ था (वाल्मीकिरा० उत्तरकाण्ड स० ३)। नलकूबर और मणिग्रीव, जो नारद मुनिके शापसे जड़ हुए अर्जुनके वृक्ष हो गये थे और जिनका भगवान् श्रीकृष्णने उद्धार किया था, कुबेरके ही पुत्र थे (श्रीमद्भागवत १०।१०)।

उत्तर—धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं।* इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के मुख भी माने जाते हैं। इसीलिये अग्नि (पावक) को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—शिखरवालोंमें मेरु मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सुमेरु पर्वत नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है; उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं। इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे सुमेरुको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र हूँ।२४।

प्रश्न—बृहस्पतिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बृहस्पति† देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और आङ्गिरसोंके राजा माने गये हैं। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप कहा है।

प्रश्न—स्कन्द कौन हैं और सेनापतियोंमें इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप क्यों बतलाया ?

उत्तर—स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है। इनके छः मुख और बारह हाथ हैं। ये महादेवजीके पुत्र‡ और देवताओंके सेनापति हैं। संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—जलाशयोंमें समुद्रको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—पृथ्वीमें जितने भी जलाशय हैं, उन सबमें समुद्र§ बड़ा और सबका राजा माना जाता है; अतः समुद्रकी प्रधानता है। इसलिये समस्त जलाशयोंमें समुद्रको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात् ओङ्कार हूँ। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ॥ २५॥

प्रश्न—महर्षि कौन-कौन हैं ? और उनके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं—

---

* धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥ (महा० आदि० ६६। १८)

† ये महर्षि अङ्गिराके बड़े ही प्रतापी पुत्र हैं। स्वारोचिष मन्वन्तरमें बृहस्पति सप्तर्षियोंमें प्रधान थे (हरिवंश० ७। १२, मत्स्यपुराण ९। ८)। ये बड़े भारी विद्वान् हैं। वामन-अवतारमें भगवान्‌ने साङ्गोपाङ्ग वेद, षट्शास्त्र, स्मृति, आगम आदि सब इन्हींसे सीखे थे (बृहद्धर्मपुराण मध्य० १६। ६९ से ७३)। इन्हींके पुत्र कचने शुक्राचार्यके यहाँ रहकर सञ्जीवनी विद्या सीखी थी। ये देवराज इन्द्रके पुरोहितका काम करते हैं। इन्होंने समय-समयपर इन्द्रको जो दिव्य उपदेश दिये हैं, उनका मनन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। महाभारत शान्ति और अनुशासनपर्वमें इनके उपदेशोंकी कथाएँ पढ़नी चाहिये।

‡ कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत वनपर्व २२३)। इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं।

§ 'समुद्र' से यहाँ 'समष्टि समुद्र' समझना चाहिये।

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः ।
यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ॥
यस्मादृषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः ।
तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ॥
भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः ।
प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान् महांस्तस्मान्महर्षयः ॥

(वायुपुराण ५९ । ८२-८३, ८९-९०)

ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं । परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है । जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर) का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं । भृगु मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस महर्षि हैं । ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं । चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी) से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये ।'

प्रश्न—महर्षियोंमें 'भृगु' को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महर्षियोंमें भृगुजी* मुख्य हैं । ये भगवान्के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—'गिराम्' पदका क्या अर्थ है, 'एकम् अक्षरम्' से क्या लेना चाहिये और उसे भगवान्का रूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओङ्कार (प्रणव) को 'एक अक्षर' कहते हैं (८ । १३) जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है, क्योंकि 'प्रणव' भगवान्का नाम है (१७ । २३) । प्रणवके जपसे भगवान्की प्राप्ति होती है । नाम और नामीमें अभेद माना गया है । इसलिये भगवान्ने 'प्रणव' को अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्का प्रत्यक्ष करानेवाला है । मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है । † इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—स्थावरोंमें हिमालयको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं । जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं । उनमें हिमालय

---

*ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमें भृगु एक प्रधान हैं । स्वायम्भुव और चाक्षुष आदि कई मन्वन्तरोंमें ये सप्तर्षियोंमें रह चुके हैं । इसके वंशजोंमें बहुत से ऋषि, मन्त्रप्रणेता और गोत्रप्रवर्तक हुए हैं । महर्षियोंमें इनका बड़ा भारी प्रभाव है । इन्होंने दक्षकन्या ख्यातिसे विवाह किया था । उनसे धाता-विधाता नामके दो पुत्र और श्रीनामकी एक कन्या हुई थी । वही श्री भगवान् नारायणकी पत्नी हुईं । च्यवन ऋषि भी इन्हींके पुत्र थे । इनके ज्योतिष्मान्, सुकृति, हविष्मान्, तपोधृति, निरुत्सुक और अतिबाहु नामक पुत्र विभिन्न मन्वन्तरोंमें सप्तर्षियोंमें प्रधान रह चुके हैं । ये महान् मन्त्रप्रणेता महर्षि हैं । विष्णुभगवान्के वक्षःस्थलपर लात मारकर इन्होंने ही उनकी सात्त्विक क्षमाकी परीक्षा ली थी । आज भी विष्णुभगवान् इस भृगुलताके चिह्नको अपने हृदयपर धारण किये हुए हैं । भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वसिष्ठ—ये प्रजा-सृष्टि करनेवाले होनेसे 'नौ ब्रह्मा' माने गये हैं । प्रायः सभी पुराणोंमें भृगुजीकी चर्चा भरी है (इनकी कथाका विस्तार हरिवंश, मत्स्यपुराण, शिवपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण, पद्मपुराण, वायुपुराण, महाभारत और श्रीमद्भागवतमें है) ।

†विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ (मनु० २ । ८५)
'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है ।'

सर्वोत्तम है। वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है। भगवान् नर-नारायण वहीं तपस्या कर चुके हैं। साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है। इस लिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, देवर्षियोंमें नारद मुनि, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ।२६।

प्रश्न–वृक्षोंमें पीपलके वृक्षको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–पीपलका वृक्ष* समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है। इसलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया।

प्रश्न–देवर्षि किनको कहते हैं, और उनमें नारदको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–देवर्षिके लक्षण बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टीका-में दिये गये हैं, उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये। ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं। साथ ही वे भगवान्‌के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारद-जीको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है। नारदजीके सम्बन्धमें भी बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें देखना चाहिये।

प्रश्न–चित्ररथ गन्धर्वको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं। स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। 'गुह्यक लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्वलोक' है। देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य। जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्व-लोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—'मौनेय' और 'प्राधेय'। महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा। इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई। भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, प्रयुत, भीम, चित्ररथ, शालिशिरा, पर्जन्य, कलि और नारद—ये सोलह देव-गन्धर्व 'मुनि' से उत्पन्न होनेके कारण 'मौनेय' कहलाये। और सिद्ध, पूर्ण, बर्हि, पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सुपर्ण, विश्वावसु, सुचन्द्र, भानु, अतिबाहु, हाहा, हूहू और तुम्बुरु—ये चौदह 'प्राधा' से उत्पन्न होनेके कारण 'प्राधेय' कहलाये (महाभारत आदिपर्व ६५)। इनमें हाहा,

---

* पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है। स्कन्दपुराणमें है—

मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च।
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः॥
फलेऽच्युतो न सन्देहः सर्वदेवैः समन्वितः॥
स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः।
यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः॥

(स्कन्द० नागर० २४७। ४१, ४२, ४४)

'पीपलकी जड़में विष्णु, तनेमें केशव, शाखाओंमें नारायण, पत्तोंमें भगवान् हरि और फलमें सब देवताओंसे युक्त अच्युत सदा निवास करते हैं–इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं। इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है।'

इसके अतिरिक्त वैद्यक-ग्रन्थोंमें भी अश्वत्थकी बड़ी महिमा है—इसके पत्ते, फल, छाल, सभी रोगनाशक हैं। रक्तविकार कफ, वात, पित्त, दाह, वमन, शोथ, अरुचि, विषदोष, खाँसी, विषम-ज्वर, हिचकी, उरःक्षत, नासारोग, विसर्प, कृमि, कुष्ठ, त्वचा-व्रण, अग्निदग्धव्रण, बागी आदि अनेक रोगोंमें इसका उपयोग होता है।

द्र, विश्वावसु, तुम्बुरु और चित्ररथ आदि प्रधान हैं। और नमें भी चित्ररथ सबके अधिपति माने जाते हैं। चित्ररथ व्य संगीत-विद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। सीसे भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। इनकी थाएँ अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, महाभारत-आदिपर्व, ायुपुराण आदिमें हैं।

प्रश्न—सिद्ध किसको कहते हैं और उन सबमें कपिल निको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्‌की िद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि ेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों, उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे ज़ारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं। गवान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं। महायोगी कर्दम-मुनिकी पत्नी देवहूतिको ज्ञान प्रदान करनेके लिये इन्होंने उन्हींके गर्भसे अवतार लिया था। इनके प्राकट्यके समय स्वयं ब्रह्माजीने आश्रममें आकर श्रीदेवहूतिजीसे कहा था—

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥

(श्रीमद्भागवत ३।२४।१९)

'ये सिद्धगणोंके अधीश्वर और सांख्यके आचार्योंद्वारा पूजित होकर तुम्हारी कीर्तिको बढ़ावेंगे और लोकमें 'कपिल' नामसे प्रसिद्ध होंगे।'

ये स्वभावसे ही नित्य ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म और वैराग्य आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं। इनकी बराबरी करनेवाला भी दूसरा कोई सिद्ध नहीं है, फिर इनसे बढ़कर तो कोई हो ही कैसे सकता है? इसीलिये भगवान्‌ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलाया है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी और मनुष्योंमें राजा मुझको जान॥ २७॥

प्रश्न—घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा घोड़ेको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उच्चैःश्रवाकी उत्पत्ति अमृतके लिये समुद्रका मन्थन करते समय अमृतके साथ हुई थी। अतः यह चौदह रत्नोंमें गिना जाता है और समस्त घोड़ोंका राजा समझा जाता है। इसीलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—गजेन्द्रोंमें ऐरावत नामक हाथीको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं। ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन है, सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है। इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई थी। इसलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—मनुष्योंमें राजाको अपना स्वरूप कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी रक्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है। ऐसे राजामें भगवान्‌की शक्ति साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक रहती है। इसीलिये भगवान्‌ने राजाको अपना स्वरूप कहा है।

प्रश्न—साधारण राजाओंको न लेकर यहाँ यदि प्रत्येक मन्वन्तरमें होनेवाले मनुओंको लें, जो अपने-अपने समयके मनुष्योंके अधिपति होते हैं, तो क्या आपत्ति है? इस मन्वन्तर-के लिये प्रजापतिने वैवस्वत मनुको मनुष्योंका अधिपति बनाया था, यह कथा प्रसिद्ध है।

मनुष्याणामधिपतिं चक्रे वैवस्वतं मनुम्।

(वायुपुराण ७०।१८)

उत्तर—कोई आपत्ति नहीं है। वैवस्वत मनुको भी 'नराधिप' माना जा सकता है।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ। शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ, और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

प्रश्न—शस्त्रोंमें वज्रको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्‌का तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भागवत ६ । ११ । १९-२०) इसलिये वज्रको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—दूध देनेवाली गायोंमें कामधेनुको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है, यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है;इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—कन्दर्पके साथ 'प्रजनः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'कन्दर्प' शब्द कामदेवका वाचक है। इसके साथ 'प्रजनः' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो धर्मानुकूल सन्तानोत्पत्तिके लिये उपयोगी है, वही 'काम' मेरी विभूति है। यही भाव सातवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी—कामके साथ 'धर्माविरुद्धः' विशेषण देकर दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषयसुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; परन्तु शास्त्रविधिके अनुसार सन्तानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे श्रेष्ठ है। अतः उसको भगवान्‌की विभूतियोंमें गिना गया है।

प्रश्न—सर्पोंमें वासुकिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्‌के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं,इसलिये उनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

मैं नागोंमें शेषनाग और जलचरोंका अधिपति वरुणदेवता हूँ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ ॥ २९ ॥

प्रश्न—नागोंमें शेषनागको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं, तथा भगवान्‌की शय्या बनकर और नित्य उनकी सेवामें लगे रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले,उनके परम अनन्य भक्त और बहुत बार भगवान्‌के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्‌से ही मानी गयी है।* इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—जलचरोंके अधिपति वरुणको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके

---

* शेषं चाकल्पयद्देवमनन्तं विश्वरूपिणम् ।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम् ॥ (महा० भीष्म० ६७ । १३)

'इन परमदेवने विश्वरूप अनन्त नामक देवस्वरूप शेषनागको उत्पन्न किया, जो पर्वतोंके सहित इस सारी पृथ्वीको तथा भूतमात्रको धारण किये हुए हैं।'

अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न-पितरोंमें अर्यमाको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये सात पितृगण हैं।* इनमें अर्यमानामक पितर समस्त पितरोंमें प्रधान होनेसे उनमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—नियमन करनेवालोंमें यमको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मर्त्य और देव-जगत्में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं। इनके सभी दण्ड, न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं। ये भगवान्के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं। इसीलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।†

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड हूँ॥ ३०॥

प्रश्न—दैत्योंमें प्रह्लादको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं। उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्गुणसम्पन्न, परम

---

* कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदस्त्रयश्चान्त्या ह्यमूर्तयः॥ (शिवपुराण, धर्म० ६३। २)

कहीं-कहीं इनके नाम इस प्रकार मिलते हैं—सुकाल, आङ्गिरस, सुस्वधा, सोमपा, वैराज, अग्निष्वात्त और बर्हिषद् (हरिवंश, पूर्व० अ० १८)। मन्वन्तरभेदसे नामोंका यह भेद सम्भव है।

† यमराजके दरबारमें न किसीके साथ किसी भी कारणसे कोई पक्षपात ही होता है और न किसी प्रकारकी सिफारिश, रिश्वत या खुशामद ही चलती है। इनके नियम इतने कठोर हैं कि उनमें जरा भी रियायतके लिये गुंजाइश नहीं है। इसीलिये ये 'नियमन करनेवालोंमें सबसे बढ़कर' माने जाते हैं। इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा, अनन्त और यम—ये दस दिक्पाल हैं (बृहद्धर्मपुराण, उत्तर० ९)। ये समष्टिजगत्की सब दिशाओंके संरक्षक हैं।

कहते हैं कि पुण्यात्मा जीवको ये यमराज स्वाभाविक ही सौम्यमूर्ति दीखते हैं और पापियोंको अत्यन्त लाल नेत्र, विकराल दाढ़, बिजली-सी लपलपाती हुई जीभ और ऊपरको उठे हुए भयानक बालोंसे युक्त अत्यन्त भयानक काली आकृति-वाले तथा हाथमें कालदण्ड उठाये हुए दिखलायी देते हैं (स्कन्दपुराण काशीखण्ड पूर्व० ८। ५५, ५६)।

ये परम ज्ञानी हैं। नचिकेताको इन्होंने आत्मतत्त्वका ज्ञान दिया था। कठोपनिषद्, महाभारत-अनुशासनपर्व और वाराहपुराणमें नचिकेताकी कथा मिलती है। साथ ही ये बड़े ही भगवद्भक्त हैं। श्रीमद्भागवत, छठे स्कन्धके तीसरे अध्यायमें विष्णुपुराण, तृतीय अंशके सातवें अध्यायमें और स्कन्दपुराण काशीखण्ड पूर्वार्धके आठवें अध्यायमें इन्होंने अपने दूतोंके सामने जो भगवान्की और भगवन्नामकी महिमा गायी है, वह अवश्य ही पढ़ने योग्य है।

परन्तु इनको भी छकानेवाले पुरुष कभी-कभी हो जाते हैं। स्कन्दपुराणमें कथा आती है कि कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती भक्त राजा थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनके पुण्यबलसे इनके यहाँके पहलेके जीव थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परम गतिको प्राप्त होने लगे। [illegible] जीवोंका इनके यहाँ जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक सूना हो गया! तब इन्होंने जाकर ब्रह्माजीसे [illegible] इनको श्रीविष्णुभगवान्के पास भेजा। भगवान् विष्णुने कहा, 'जबतक मेरे अनन्य भक्त कीर्तिमान् राजा हैं [illegible] ऐसा ही होगा; परन्तु संसारमें ऐसा सदा चलता नहीं।' (स्कन्दपुराण, वैष्णव० वै० ११। १२। १३

धर्मात्मा और भगवान‌के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'काल' शब्द किसका वाचक है? और उसे अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि नामोंसे कहे जानेवाले समयका वाचक है। यह गणित-विद्याके जाननेवालोंका गणनाका आधार है। इसलिये काल-को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—सिंह तो हिंसक पशु है, इसकी गणना भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें कैसे की?

उत्तर—सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है। वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर, और साहसी होता है। इसलिये भगवान्‌ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है।

प्रश्न—पक्षियोंमें गरुड़को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। साथ ही ये भगवान्‌के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं। इसलिये गरुड़को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ॥ ३१॥

प्रश्न—'पवताम्' पदका अर्थ यदि वेगवान् मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—यद्यपि व्याकरणकी दृष्टिसे 'वेगवान्' अर्थ नहीं बनता परन्तु टीकाकारोंने यह अर्थ भी माना है। इसलिये कोई मानें तो मान भी सकते हैं। वायु वेगवानोंमें (तीव्र गतिसे चलनेवालोंमें) भी सर्वश्रेष्ठ माना गया है और पवित्र करने-वालोंमें भी। अतः दोनों प्रकारसे ही वायुकी श्रेष्ठता है।

प्रश्न—यहाँ 'राम' शब्द किसका वाचक है और उनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-का वाचक है। उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ। श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही श्रीरामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ।

प्रश्न—मछलियोंमें मगरको अपनी विभूति बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है; इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्‌ने अपनी विभूति बतलाया है।

प्रश्न—नदियोंमें जाह्नवी (गङ्गा) को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गङ्गाजी समस्त नदियोंमें परमश्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्‌के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं।* पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान्

---

* धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभूत्रभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥
(श्रीमद्भागवत ८। २१। ४)

'हे राजन्! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्‌के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गङ्गा (मन्दाकिनी) हो गया। वह गङ्गा भगवान्‌की निर्मल कीर्तिके समान आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको पवित्र कर रही है।'

विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गङ्गारूप हो गये थे। इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गङ्गाजीका अत्यन्त माहात्म्य है।* इसीलिये भगवान्‌ने गङ्गाको अपना स्वरूप बतलाया है।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ॥ ३२॥

प्रश्न—बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनेको भूतोंका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है; यहाँ फिर सर्गोंका आदि, मध्य और अन्त बतलाते हैं। इसमें क्या पुनरुक्तिका दोष नहीं आता?

उत्तर—पुनरुक्तिका दोष नहीं है; क्योंकि वहाँ 'भूत' शब्द चेतन प्राणियोंका वाचक है और यहाँ 'सर्ग' शब्द जड-चेतन समस्त वस्तुओं और समस्त लोकोंके सहित सम्पूर्ण सृष्टिका वाचक है।

प्रश्न—समस्त विद्याओंमें अध्यात्मविद्याको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो

न ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः॥
सन्निवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम्॥ (श्रीमद्भागवत ९। ९। १४-१५)

जिन अनन्त भगवान्‌के चरण-कमलोंमें श्रद्धापूर्वक भलीभाँति चित्तको लगाकर निर्मलहृदय मुनिगण तुरंत ही दुस्त्यज त्रिगुणोंके प्रपञ्चको त्याग कर उनके स्वरूप बन गये हैं, उन्हीं चरण-कमलोंसे उत्पन्न हुई, भव-बन्धनको काटनेवाली भगवती गङ्गाजीका जो माहात्म्य यहाँ बतलाया गया है, इसमें कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है।'

* जगज्जननी महेश्वरी, दक्षकन्या सतीके देह-त्याग करनेपर जब भगवान् शिव तप करने लगे, तब देवताओंने जगन्माताकी स्तुति की। महेश्वरी प्रकट हुईं। देवताओंने पुनः शङ्करजीको वरण करनेके लिये उनसे प्रार्थना की। देवीने कहा—'मैं दो रूपोंमें सुमेरुकन्या मेनकाके गर्भसे शैलराज हिमालयके घर प्रकट होऊँगी।' तदनन्तर वे पहले गङ्गारूपमें प्रकट हुईं। देवता उनकी स्तुति करते हुए उन्हें देवलोकमें ले गये। वहाँ वे मूर्तिमती हो शङ्करजीके साथ दिव्य कैलासधामको पधार गयीं और ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर अन्तर्धानांशसे अर्थात् निराकाररूपसे उनके कमण्डलुमें स्थित हो गयीं (अन्तर्धानांशभागेन स्थिता ब्रह्मकमण्डलौ)। ब्रह्माजी कमण्डलुमें उन्हें ब्रह्मलोक ले गये। तदनन्तर एक बार भगवान् शङ्करजी गङ्गाजीसहित वैकुण्ठमें पधारे। वहाँ भगवान् विष्णुके अनुरोध करनेपर उन्होंने गान किया। वे जो रागिनी गाते, वही मूर्तिमती होकर प्रकट हो जाती। वे 'श्री' रागिनी गाने लगे, तब वह भी प्रकट हो गयी। उस रागिनीसे मुग्ध होकर रसमय भगवान् नारायण स्वयं रसरूप होकर बह गये। ब्रह्माजीने सोचा—'ब्रह्मसे उत्पन्न संगीत ब्रह्ममय है और स्वयं ब्रह्म हरि भी इस समय द्रवीभूत हो गये हैं अतएव ब्रह्ममयी गङ्गाजी इन्हें संवरण कर लें।' यह विचारकर उन्होंने ब्रह्मद्रवसे कमण्डलुका स्पर्श कराया। स्पर्श होते ही सारा जल गङ्गाजीमें मिल गया और निराकारा गङ्गाजी जलमयी हो गयीं। ब्रह्माजी फिर ब्रह्मलोकमें चले गये। इसके बाद जब भगवान् विष्णुने वामन-अवतारमें अपने सात्त्विक पादसे समस्त द्युलोकको नाप लिया, तब ब्रह्माजीने कमण्डलुके उसी जलसे भगवच्चरणको स्नान कराया। कमण्डलुका जल प्रदान करते ही वह चरण वहीं स्थिर हो गया और भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर भी उनका दिव्यचरण वहाँ स्वर्गगङ्गाके साथ रह गया। उसीसे उत्पन्न गङ्गाजीको महान् तप करके भगीरथजी अपने पूर्वपुरुषोंका उद्धार करनेके लिये इस लोकमें लाये। यहाँ भी श्रीशङ्करजीने ही उनको मस्तकमें धारण किया। गङ्गाजीके माहात्म्यकी यह बड़ी ही सुन्दर, आनन्दप्रद और विचित्र कथा विस्तारपूर्वक बृहद्धर्मपुराण मध्य खण्डके बारहवें अध्यायसे अट्ठाईसवें अध्यायतक पढ़नी चाहिये।

जाता है। संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सभी इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ होता है। परन्तु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है। इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'वाद' को विभूतियोंमें बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं—जल्प, वितण्डा और वाद। उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जाने वाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं। 'जल्प' और 'वितण्डा' से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है; और 'वाद' से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-साधनमें सहायता प्राप्त होती है। 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' आवश्यकता होनेपर ग्राह्य है। इसी विशेषताके कारण भगवान्‌ने 'वाद' को अपनी विभूति बतलाया है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास हूँ। अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ॥ ३३॥

प्रश्न—अक्षरोंमें अकारको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्वर और व्यञ्जन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और वही सबमें व्याप्त है। श्रुतिमें भी कहा है—

'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐतरेय ब्रा० पू० ३। ६)।

'समस्त वाणी अकार है।' इन कारणोंसे अकार सब वर्णोंमें श्रेष्ठ है, इसीलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—सब प्रकारके समासोंमें द्वन्द्व समासको अपनी विभूति बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—द्वन्द्व समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता* होनेके कारण, वह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्‌ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है।

प्रश्न—तीसवें श्लोकमें जिस 'काल' को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है, उसमें और इस श्लोकमें बतलाये हुए 'काल' में क्या भेद है?

---

* संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ बहुव्रीहि और ४ द्वन्द्व। कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं। अव्ययीभाव समासके पूर्व और उत्तर—इन दो पदोंमेंसे पूर्व पदके अर्थकी प्रधानता होती है। जैसे अधिहरि—यहाँ अव्ययीभाव समास है; इसका अर्थ है—हरौ अर्थात् हरिमें; सप्तमी विभक्ति ही 'अधि' शब्दका अर्थ है और यही व्यक्त करना यहाँ अभीष्ट है। तत्पुरुष समासमें उत्तरपदके अर्थकी प्रधानता होती है; जैसे—'सीतापतिं वन्दे' इस वाक्यके अन्तर्गत 'सीतापति' शब्दमें तत्पुरुष समास है। इस वाक्यका अर्थ है—सीताके पति श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करता हूँ। यहाँ सीता और पति—इन दो पदोंमेंसे 'पति' पदके अर्थकी ही प्रधानता है; क्योंकि 'सीतापति' शब्दसे 'श्रीराम' का ही बोध होता है। बहुव्रीहि समासमें अन्य पदके अर्थकी प्रधानता होती है; जैसे 'पीताम्बरः' यहाँ बहुव्रीहि समास है। इसका अर्थ है—जिसके पीले वस्त्र हों, वह व्यक्ति। यहाँ पूर्वपद है 'पीत' और उत्तरपद है 'अम्बर'। इनमेंसे किसी भी पदके अर्थकी प्रधानता नहीं है, इनके द्वारा जो 'अन्य व्यक्ति' (भगवान्) रूप अर्थ व्यक्त होता है उसकी प्रधानता है। द्वन्द्व समासमें दोनों ही पदोंके अर्थकी प्रधानता रहती है—जैसे 'रामलक्ष्मणौ पश्य'—राम और लक्ष्मणको देखो। यहाँ राम और लक्ष्मण दोनोंको ही देखना व्यक्त होता है; अतः दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम और छन्दोंमें गायत्री छन्द हूँ तथा महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ ॥ ३५ ॥

प्रश्न—सामवेदको तो भगवान्‌ने पहले ही अपना स्वरूप बतला दिया है (१० । २२), फिर यहाँ 'बृहत्साम' को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें बृहत् साम* ('बृहत्' नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ 'बृहत् साम' कोअपना स्वरूपबतलाया है।

प्रश्न—छन्दोंमें गायत्री छन्दको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है।† गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है। इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है। 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है।

† गायत्रीकी महिमाका निम्नाङ्कित वचनोंद्वारा किञ्चित् दिग्दर्शन कराया जाता है—

'गायत्री छन्दसां मातेति।' (नारायणोपनिषद् ३४)

'गायत्री समस्त वेदोंकी माता हैं।'

सर्ववेदसारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना ।
ब्रह्मादयोऽपि सन्ध्यायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च ॥ (देवीभागवत ११ । १६ । १५)

'गायत्रीकी उपासना समस्त वेदोंकी सारभूत है, ब्रह्मा आदि देवता भी सन्ध्याकालमें गायत्रीका ध्यान और जप करते हैं।'

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता ।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा ॥ (देवीभागवत १२ । ८ । ८९)

'गायत्रीकी उपासनाको समस्त वेदोंने नित्य (अनिवार्य) कहा है। इस गायत्रीकी उपासनाके बिना ब्राह्मणका तो सब तरहसे अधःपतन है ही।'

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम् ।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ॥ (शङ्खस्मृति १२ । २४-२५)

'(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्री देवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत् ॥ (संवर्तस्मृति २१८)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंका शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रणव (ॐकार) सहित तीन महाव्याहृतियोंसे युक्त गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।'

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात्परः ।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ॥ (बृहद्योगियाज्ञवल्क्य १० । १०)

'गङ्गाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्‌से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा।'

प्रश्न—महीनोंमें मार्गशीर्षको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा० अनुशासन० १०६ और १०९)। अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है। तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल बतलाया गया है।* नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीनेमें विधान है। वाल्मीकीय रामायणमें इसे संवत्सरका भूषण बतलाया गया है। इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—ऋतुओंमें वसन्त ऋतुको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है। इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नवीन पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं। इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी। इस ऋतुमें प्रायः सभी प्राणियोंको आनन्द होता है। इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ। मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ॥ ३६॥

प्रश्न—द्यूत अर्थात् जूआ तो बहुत बुरी चीज है और शास्त्रोंमें इसका बड़ा निषेध है, इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप क्यों बतलाया? और यदि भगवान्‌का ही स्वरूप है तो फिर इसके खेलनेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच—जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता और शक्तिसे रहित हो। ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त है, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है। इसी दृष्टिसे यहाँ भगवान्‌ने बहुत ही संक्षेपमें देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी और सर्प आदि चेतन; तथा वज्र,इन्द्रिय, मन, समुद्र आदि जड पदार्थोंके साथ-साथ जय, निश्चय, तेज, नीति, ज्ञान आदि भावोंका भी वर्णन किया है। थोड़ेमें सबका वर्णन हो जाय, इसीसे प्रधान-प्रधान समष्टि-विभागोंके नाम बतलाये हैं। अभिप्राय यह है कि जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भावका मनसे चिन्तन होने लगे उस-उसमें मेरा ही चिन्तन करना चाहिये। इसीसे छल करनेवालोंमें जूएको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है। उसे उत्तम बतलाकर उसमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे नहीं।

भगवान्‌ने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको एवं सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है। उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय। इनके करनेमें जो आपत्ति है वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है।

प्रश्न—'प्रभाव', 'विजय', 'निश्चय' और 'सात्त्विकभाव' को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह

* शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया। आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः॥

(श्रीमद्भागवत ६।१९।२)

'पहले-पहल मार्गशीर्षके शुक्लपक्षमें स्त्री अपने पतिकी आज्ञासे सब कामनाओंके देनेवाले इस पुं

वास्तवमें मेरा ही है। जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है। इसी प्रकार विजय प्राप्त करनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं। इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है।* इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

* केन उपनिषद्‌में एक गाथा है—एक समय स्वर्गके देवताओंने परमात्माके प्रतापसे असुरोंपर विजय प्राप्त की। देवोंकी कीर्ति और महिमा सब तरफ छा गयी। विजयोन्मत्त देवता भगवान्‌को भूलकर कहने लगे कि 'हमारी ही जय हुई है। हमने अपने पराक्रम और बुद्धिबलसे दैत्योंका दलन किया है, इसीलिये लोग हमारी पूजा करते हैं और हमारे विजयगीत गाते हैं।' देवताओंके अभिमानका नाश कर उनका उपकार करनेके लिये परमात्मा ब्रह्मने अपनी लीलासे एक ऐसा अद्भुत रूप प्रकट किया, जिसे देख-कर देवताओंकी बुद्धि चकरा गयी। देवताओंने इस यक्षरूपधारी अद्भुत पुरुषका पता लगानेके लिये अपने अगुआ अग्निदेवसे कहा कि 'हे जातवेदस्! हम सबमें आप सर्वापेक्षया अधिक तेजस्वी हैं, आप इनका पता लगाइये कि ये यक्षरूपधारी वास्तवमें कौन हैं?' अग्निने कहा—'ठीक है, मैं पता लगाकर आता हूँ।' यों कहकर अग्नि वहाँ गये, परन्तु उसके समीप पहुँचते ही तेजसे ऐसे चकरा गये कि बोलनेतकका साहस न हुआ। अन्तमें उस यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा कि 'तू कौन है?' अग्निने कहा—'मेरा नाम प्रसिद्ध है, मुझे अग्नि कहते हैं और जातवेदस् भी कहते हैं।' ब्रह्मने फिर पूछा—'यह सब तो ठीक है; परन्तु हे अग्नि-देव! तुझमें किस प्रकारका सामर्थ्य है, तू क्या कर सकता है?' अग्निने कहा—'हे यक्ष! इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, उन सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

ब्रह्मने उसके सामने एक सूखे घासका तिनका डालकर कहा कि 'इस तृणको तू जला दे!' अग्निदेवता अपने पूरे वेगसे तृणको जलानेके लिये सर्वप्रकारसे यत्न करने लगे, परन्तु तृणको नहीं जला सके। लज्जासे उनका मस्तक नीचा हो गया और अन्तमें यक्षसे बिना कुछ कहे ही अग्निदेवता अपना-सा मुँह लिये देवताओंके पास लौट आये और बोले कि 'मैं तो इस बातका पता नहीं लगा सका कि यह यक्ष कौन है?'

इसके बाद वायुदेव यक्षके पास गये; परन्तु उनकी भी अग्निकी-सी दशा हो गयी, वे बोल नहीं सके। यक्षने पूछा—'तू कौन है?' वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, मेरा नाम और गुण प्रसिद्ध है—मैं गमनक्रिया करनेवाला और पृथ्वीकी गन्धको वहन करने-वाला हूँ। अन्तरिक्षमें गमन करनेवाला होनेके कारण मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं।' यक्षने कहा—'तुझमें क्या सामर्थ्य है?' वायुने कहा—'इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी पदार्थ हैं, उन सबको मैं ग्रहण कर सकता हूँ (उड़ा ले सकता हूँ)।' ब्रह्मने वायुके सम्मुख भी वही सूखा तिनका रख दिया और कहा—'इस तिनकेको उड़ा दे।' वायुने अपना सारा बल लगा दिया, परन्तु तिनका हिलातक नहीं। यह देखकर वायुदेव बड़े लज्जित हुए और तुरंत ही देवताओंके पास आकर उन्होंने कहा—'हे देवगण! पता नहीं, यह यक्ष कौन है; मैं तो कुछ भी नहीं जान सका।'

अब इन्द्र यक्षके समीप गये। देवराजको अभिमानमें भरा देखकर यक्षरूपी ब्रह्म वहाँसे अन्तर्धान हो गये, इन्द्रका अभिमान चूर्ण करनेके लिये उनसे बाततक नहीं की। इतनेमें उन्होंने देखा कि अन्तरिक्षमें अत्यन्त शोभायुक्त और सब प्रकारके उत्तमोत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित हिमवान्‌की कन्या भगवती पार्वती उमा खड़ी हैं। इन्द्रने विनयभावसे उनसे पूछा—

'माता! अभी जो यक्ष हमें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये, वे कौन थे?' उमाने कहा—'वे यक्ष प्रसिद्ध ब्रह्म थे। हे इन्द्र! इन ब्रह्मने ही असुरोंको पराजित किया है, तुमलोग तो केवल निमित्तमात्र हो; ब्रह्मकी विजयसे ही तुमलोगोंकी महिमा बढ़ी है और इसीसे तुम्हारी पूजा भी होती है। तुम जो अपनी विजय और अपनी महिमा मानते हो, यह सब तुम्हारा मिथ्या अभिमान है; इसे त्याग करो और यह समझो कि जो कुछ होता है सो केवल उस ब्रह्मकी सत्तासे ही होता है।'

उमाके वचनोंसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं, अभिमान जाता रहा। ब्रह्मकी महती शक्तिका परिचय पाकर इन्द्र लौटे और उन्होंने अग्नि और वायुको भी ब्रह्मका उपदेश दिया। अग्नि और वायुने भी ब्रह्मको जान लिया। इसीसे ये तीन देवता सबसे श्रेष्ठ हुए। इनमें भी इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये। कारण, उन्होंने ब्रह्मको सबसे पहले जाना था।

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनञ्जय अर्थात् तू, मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

प्रश्न—वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव मैं ही हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है। कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा-अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (४।६)। अतएव जो मनुष्य मुझे साधारण मनुष्य समझते हैं वे भारी भूल करते हैं।

प्रश्न—पाण्डवोंमें अर्जुनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि पाँचों पाण्डवोंमें तो धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे बड़े तथा भगवान्‌के भक्त और धर्मात्मा थे ?

उत्तर—निस्सन्देह युधिष्ठिर पाण्डवोंमें सबसे बड़े, धर्मात्मा और भगवान्‌के परम भक्त थे, तो भी अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे भगवान्‌के साथ रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के परम प्रिय सखा और उनके अनन्यप्रेमी भक्त हैं। इसलिये अर्जुनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।*

प्रश्न—मुनियोंमें व्यासको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं। भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका भलीभाँति चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता भगवान्‌के अंशावतार और सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं। अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्‌ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—कवियोंमें शुक्राचार्यको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे कवि कहते हैं। शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंमें विशारद, संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं, इसलिये इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।†

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

---

* भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् । काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च । नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥
(महा० वन० १२ । ४६-४७)

'हे दुर्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरिनारायण हूँ। हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोकमें आये थे। इसलिये हे अर्जुन ! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ। हे भरतश्रेष्ठ ! हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर है, यह किसीके जाननेमें नहीं आ सकता।'

†महर्षि भृगुके च्यवन आदि सात पुत्रोंमें शुक्र प्रधान हैं। इन्होंने भगवान् शङ्करकी आराधना करके सञ्जीवनी विद्या और जरा-मरणरहित वज्रके समान दृढ़ शरीर प्राप्त किया था। भगवान् शङ्करके प्रसादसे ही योगविद्यामें निपुण होकर इन्होंने योगाचार्यकी पदवी प्राप्त की थी। ये दैत्योंके पुरोहित हैं। 'काव्य', 'कवि' और 'उशना' इन्हींके नामान्तर हैं। पितरोंकी मानसी कन्या गौसे इनका विवाह हुआ था। षण्ड-अमर्क नामक दो पुत्र, जो प्रह्लादके गुरु थे, इन्हींसे उत्पन्न हुए थे। ये अनेकों अत्यन्त गुप्त और दुर्लभ मन्त्रोंके ज्ञाता, अनेकों विद्याओंके पारदर्शी, महान् बुद्धिमान् और परम नीतिनिपुण हैं। इनकी 'शुक्रनीति' प्रसिद्ध है। बृहस्पतिपुत्र कचने इन्हींसे सञ्जीवनी विद्या सीखी थी। इनकी महाभारत, श्रीमद्भागवत, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण और स्कन्दपुराण आदिमें बड़ी ही विचित्र और शिक्षाप्रद कथाएँ हैं।

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखने-योग्य भावोंका रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

प्रश्न—दमन करनेवालोंके दण्डको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृङ्खल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्म-में प्रवृत्त करता है। मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमन-शक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं। दमन-शक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं। इसलिये जो भी देवता, राजा और शासक आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमन-शक्तिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—विजय चाहनेवालोंकी नीतिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है। न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है। जिस राज्यमें नीति नहीं रहती, अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान उपाय है। इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—मौनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—जितने भी गुप्त रखनेयोग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं। बोलना बंद किये बिना उनका गुप्त रक्खा जाना कठिन है। इसप्रकार गोपनीय भावों-के रक्षक मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानवताम्' पद किन ज्ञानियोंका वाचक है ? और उनके ज्ञानको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है। उनका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है। इसलिये उसको भगवान्‌ने परमात्माका स्वरूप बतलाया है। तेरहवें अध्यायके सतरहवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपनेको ज्ञानस्वरूप बतलाया है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ॥ ३९ ॥

प्रश्न—समस्त चराचर प्राणियोंका बीज क्या है ? और उसे अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके बीज या महान् कारण हैं। इसीसे सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है। इसीलिये भगवान्‌ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—ऐसा कोई भी चर या अचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्व-रूपता दिखलायी है। अभिप्राय यह है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी प्राणी मुझसे रहित नहीं है। अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी तुम्हारा मन जाय वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो। इस प्रकार अर्जुनके उस प्रश्नका 'कि आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना चाहिये ?' (१०। १७) भी इससे उत्तर हो जाता है।

सम्बन्ध—उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी दिव्य विभूतियोंको अनन्त बतलाकर प्रधानतासे उनका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक उनका वर्णन किया। अब पुनः अपनी दिव्य विभूतियोंकी अनन्तता दिखलाते हुए उनका उपसंहार करते हैं—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

प्रश्न—मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी साधारण विभूतियोंकी तो बात ही क्या है; जो दिव्य विभूतियाँ हैं, उनकी भी सीमा नहीं है । जैसे जल और पृथ्वीके परमाणुओंकी गणना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार मेरी विभूतियोंकी भी गणना नहीं हो सकती। वे इतनी हैं कि न तो कोई भी उन्हें जान सकता है और न उनका वर्णन ही कर सकता है । अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मेरी अनन्त विभूतियाँ हैं, उनका कोई भी पार नहीं पा सकता ।

प्रश्न—यह विभूतियोंका विस्तार मैंने एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने अपनी दिव्य विभूतियोंका जो कुछ भी विस्तार तुम्हें बतलाया है, वह उन दिव्य विभूतियोंके एकदेश (अंशमात्र) का ही वर्णन है और पूरा वर्णन तो अत्यन्त ही कठिन है । अतएव अब मैं इस वर्णनका यहीं उपसंहार करता हूँ।

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योग शक्तिका वर्णन करते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ॥ ४१ ॥

प्रश्न—'यत् यत्' तथा 'विभूतिमत्', 'श्रीमत्' और 'ऊर्जितम्' विशेषणोंके सहित 'सत्त्वम्' पद किसका वाचक है और उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना क्या है ?

उत्तर—जो भी प्राणी या कोई जड वस्तु ऐश्वर्यसम्पन्न, शोभा और कान्ति आदि गुणोंसे सम्पन्न एवं बल, तेज, पराक्रम या अन्य किसी प्रकारकी शक्तिसे युक्त हैं, उन सबका वाचक यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंसहित 'सत्त्वम्' पद है । और जिसमें उपर्युक्त ऐश्वर्य शोभा, शक्ति, बल और तेज आदि सब-के-सब या उनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान्‌के तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है ।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निकल रहा है, कहीं रेडियोमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य हो रहे हैं। परन्तु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः वह बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती है, उसको भगवान्‌के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार मुख्य-मुख्य वस्तुओंमें अपने तेजकी विशेषताके अंशकी अभिव्यक्ति बतलाकर अब भगवान् यह बतला रहे हैं कि समस्त जगत् मेरी योगशक्तिके एक अंशसे ही धारण किया हुआ है

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ॥ ४२॥

प्रश्न—यहाँ 'अथवा' शब्दके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अथवा' शब्द पक्षान्तरका बोधक है। बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन करके और इकतालीसवें श्लोकमें अपने तेजकी अभिव्यक्तिके स्थानोंको बतलाकर जो बात समझायी है, उससे भी भिन्न अपने विशेष प्रभावकी बात अब कहते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'अथवा' शब्दका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ? इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो कर दिया, किन्तु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है। सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्रकार समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।

प्रश्न—'इदम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद किसका वाचक है ? और उसको भगवान्‌की योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'इदम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके सहित ब्रह्माण्डका वाचक है। यह ब्रह्माण्ड भगवान्‌के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किया हुआ है, यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने इस जगत्‌के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

एकादशोऽध्यायः

इस अध्यायमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उनको अपने विश्वरूपके दर्शन कराये हैं।

अध्यायका नाम अध्यायके अधिकांशमें केवल विश्वरूपका और उसके स्तवनका ही प्रकरण है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप इस अध्यायमें पहलेसे चौथेतक अर्जुनने भगवान्‌की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करके विश्वरूपके दर्शन करानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है। पाँचवेंसे आठवेंतक भगवान्‌ने अपने अंदर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त चराचर प्राणियों तथा अनेकों आश्चर्यप्रद दृश्योंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेकी आज्ञा देकर अन्तमें दिव्यदृष्टि प्रदान करनेकी बात कही है। नवेंमें सञ्जयने भगवान्‌के द्वारा अर्जुनको विश्वरूप दिखलानेकी बात कहकर, दसवेंसे तेरहवेंतक अर्जुनको कैसा रूप दिखलायी दिया—इसका वर्णन किया है। चौदहवेंमें उस रूपको देखकर अर्जुनके विस्मित और हर्षित होकर श्रद्धाके साथ भगवान्‌को प्रणाम करके बोलनेकी बात कही है। तदनन्तर पंद्रहवेंसे इकतीसवेंतक अर्जुनने विश्वरूपका स्तवन, उसके प्रभावका वर्णन और उसमें दिखलायी देनेवाले दृश्योंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्‌से अपना वास्तविक परिचय देनेके लिये प्रार्थना की है। बत्तीसवेंसे चौंतीसवेंतक भगवान्‌ने अपनेको लोकोंका नाश करनेवाला 'काल' तथा भीष्म-द्रोणादि समस्त वीरोंको पहले ही अपने द्वारा मारे हुए बतलाकर अर्जुनको उत्साहित करते हुए निमित्तमात्र बनकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इसके बाद पैंतीसवेंमें भगवान्‌के वचन सुनकर आश्चर्य और भयमें निमग्न अर्जुनके बोलनेका प्रकार बताकर छत्तीसवेंसे छियालीसवेंतक भगवान्‌की स्तुति, उनको नमस्कार, उनसे क्षमा-याचना और दिव्य चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करनेका वर्णन है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवेंमें भगवान्‌ने अपने विश्वरूपकी महिमा और उसके दर्शनकी दुर्लभता बतलाकर उनचासवेंमें अर्जुनको आश्वासन देते हुए चतुर्भुज रूप देखनेकी आज्ञा दी है। पचासवेंमें चतुर्भुज रूपके दर्शन कराकर फिर मनुष्यरूप होनेका सञ्जयने वर्णन किया है। इक्यावनवेंमें अर्जुनने भगवान्‌का सौम्य मानवरूप देखकर सचेत और प्रकृतिगत होनेकी बात कही है। तदनन्तर बावनवें और तिरपनवेंमें भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज रूपके दर्शनको दुर्लभ बतलाकर चौवनवेंमें अनन्य भक्तिके द्वारा उस रूपका दर्शन, ज्ञान और प्राप्त होना सुलभ बतलाया है। फिर पचपनवेंमें अनन्यभक्तिका स्वरूप और उसका फल बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका सङ्क्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की। तब भगवान्‌ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योगशक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसंगको सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपको (जिसके एक अंशमें समस्त विश्व स्थित है) प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले चार श्लोकोंमें भगवान्‌की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ॥ १ ॥

प्रश्न—'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्‌ने 'अर्जुन ! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं ये सब बातें तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ' ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनके हृदयमें कृतज्ञता, सुख और प्रेमकी तरङ्गें उछलने लगीं। उन्होंने सोचा, 'अहा ! इन सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌की मुझ तुच्छपर कितनी कृपा है जो ये मुझ क्षुद्रको अपना प्रेमी मान रहे हैं और मेरे सामने अपने महत्त्वकी कैसी-कैसी गोपनीय बातें खुले शब्दोंमें प्रकट करते ही जा रहे हैं।' अब तो उन्हें महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया और उन्होंने परम विश्वासके साथ भगवान्‌का गुणगान करते हुए पुनः योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तार सुनानेके लिये प्रेमभरी प्रार्थना की—भगवान्‌ने प्रार्थना सुनी और अपनी विभूतियों तथा योगका संक्षिप्त वर्णन सुनाया। अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी। वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर आनन्दमुग्ध हो गये।

साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है तबतक वह भगवत्-कृपाके परम लाभसे वञ्चित-सा ही रहता है। भगवत्-कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता। परन्तु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है 'ओहो, भगवन् ! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ। मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ। यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है।' ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन् ! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ। आपने अनुग्रह करनेके लिये ही यह परम गोपनीय अपना रहस्य मुझको सुनाया है। 'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है।

प्रश्न—'परमम्', 'गुह्यम्', 'अध्यात्मसंज्ञितम्'—इन तीन विशेषणोंके सहित 'वचः' पद भगवान्‌के कौन-से उपदेशका सूचक है तथा इन विशेषणोंका क्या भाव है ?

उत्तर—दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिन परम वचनोंको भगवान्‌ने पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की है और उस प्रतिज्ञाके अनुसार ग्यारहवें श्लोकतक जो भगवान्‌का उपदेश है एवं उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर पुनः बीसवेंसे बयालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने जो अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका परिचय दिया है तथा सातवेंसे नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ 'परमम्', 'गुह्यम्' और 'अध्यात्मसंज्ञितम्'—इन तीनों विशेषणोंके सहित 'वचः' पद है।

जिन-जिन प्रकरणोंमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका निरूपण करके अर्जुनको अपनी शरणमें आनेके लिये प्रेरणा की है और स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्‌का कर्ता, हर्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ। उन प्रकरणोंको भगवान्‌ने स्वयं 'परम गुह्य' बतलाया है। अतएव यहाँ उन्हीं विषशेषणोंका अनुवाद करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है।

प्रश्न—यहाँ 'अयम्' विशेषणके सहित 'मोहः' पद अर्जुनके किस मोहका वाचक है और उपर्युक्त उपदेशके द्वारा उसका नाश हो जाना क्या है ?

उत्तर—अर्जुन जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था। अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, रहस्य और स्वरूपको कुछ समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है ॥ २ ॥

प्रश्न—मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपसे ही समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, आप ही उनका पालन करते हैं और वे सब आपमें ही लीन होते हैं—यह बात मैंने आपके मुखसे (सातवें अध्यायसे लेकर दसवें अध्यायतक) विस्तारके साथ बार-बार सुनी है।

प्रश्न—तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रकट होकर सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक वैसा ही है; परन्तु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

प्रश्न—'परमेश्वर' और 'पुरुषोत्तम'—इन दोनों सम्बोधनोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'परमेश्वर' सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वर-स्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं। तथा 'पुरुषोत्तम' सम्बोधनसे यह भाव दिखलाते हैं कि आप क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम साक्षात् भगवान् हैं। अतएव मुझपर दया करके मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये।

प्रश्न—आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए आपने अपने विषयमें जो कुछ कहा है—वह पूर्णरूपसे यथार्थ है, उसमें मुझे किञ्चिन्मात्र भी शङ्का नहीं है।

प्रश्न—'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'रूपम्' पद किस रूपका वाचक है और उसे देखना चाहता हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपका वाचक यहाँ 'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'रूपम्' पद है। और 'उसे मैं देखना चाहता हूँ' इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा; आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (१०।४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतार्थ हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ।

प्रश्न—यदि अर्जुनको भगवान्‌के कथनमें पूर्ण विश्वास था, किसी तरहकी शङ्का थी ही नहीं, तो फिर उन्होंने वैसा रूप देखनेकी इच्छा ही प्रकट क्यों की?

उत्तर—जैसे किसी सत्यवादीके पास पारस, चिन्तामणि या अन्य कोई अद्भुत वस्तु हो और उसके बतलानेपर सुननेवाले मनुष्यको यह पूर्ण विश्वास भी हो जाय कि इनके पास अमुक वस्तु अवश्य है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; तथापि वह अद्भुत वस्तु पहले कभी देखी हुई न होनेके कारण यदि उसके मनमें उसे देखनेकी उत्कट इच्छा हो जाय और वह उसे प्रकट कर दे तो इससे विश्वासमें कमी होनेकी कौन-सी बात है? इसी प्रकार, भगवान्‌के उस अलौकिक स्वरूपको अर्जुनने पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये उसे देखनेकी उनके मनमें इच्छा जाग्रत् हो गयी और उसको उन्होंने प्रकट कर दिया तो इसमें उनका विश्वास कम था—यह नहीं समझा जा सकता। बल्कि विश्वास था तभी तो देखनेकी इच्छा प्रकट की।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

हे प्रभो! यदि मेरेद्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये॥ ४॥

प्रश्न—'प्रभो' और 'योगेश्वर'—इन दो सम्बोधनोंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं। इसलिये यदि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ, तो आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं। तथा 'योगेश्वर' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि आप सम्पूर्ण योगोंके स्वामी हैं। अतएव यदि आप चाहें तो मुझको अपना वह रूप अनायास ही दिखला सकते हैं। जब साधारण योगी भी अनेक प्रकारसे अपना ऐश्वर्य दिखला सकता है, तब आपकी तो बात ही क्या है?

प्रश्न—'यदि मेरेद्वारा आपका वह रूप देखा जा सकता है ऐसा आप मानते हैं, तो वह मुझे दिखलाइये' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका जो प्रभाव मैं आपके श्रीमुखसे सुन चुका हूँ, वह वस्तुतः वैसा ही है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। और यह भी ठीक है कि आपने यदि उस स्वरूपके दर्शन मुझको नहीं कराये तो उससे यह सिद्ध नहीं हो जायगा कि दर्शन करानेका आप योगेश्वरेश्वरमें सामर्थ्य नहीं है और न किसी भी अंशमें मेरा विश्वास ही कम होगा। परन्तु इतना अवश्य है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है। आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं। यदि आप उस लालसाको सच्ची पाते हैं तब तो प्रभो! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ। क्योंकि आप तो भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते। इसलिये यदि उचित समझें तो कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझे कराइये।

सम्बन्ध—परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'शतशः' और 'सहस्रशः' इन संख्यावाचक दो पदोंके प्रयोग करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान्‌ने अपने रूपोंकी असंख्यता प्रकट की है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि इस मेरे विश्वरूपमें एक ही जगह तुम असंख्य रूपोंको देखो।

प्रश्न—'नानाविधानि' का क्या भाव है ?

उत्तर—'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है।

प्रश्न—'नानावर्णाकृतीनि' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अङ्गोंकी बनावटका वाचक है। जिन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हों, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं। उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि' का प्रयोग हुआ है। अतएव इस पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट भी नाना प्रकारकी हैं, यह भी तुम देखो।

प्रश्न—'दिव्यानि' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं। 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं—मेरी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा रचित होनेसे अलौकिक और आश्चर्यजनक हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उन्चास मरुद्गणोंको देख। तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥

प्रश्न—आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुद्गणोंको देखनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त सभी शब्द प्रधान-प्रधान देवताओंके वाचक हैं। इनका नाम लेकर भगवान्‌ने सभी देवताओंको अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है। इनमेंसे आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या दसवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी तेईसवेंमें की जा चुकी है। इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है। अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं।*

प्रश्न—'अदृष्टपूर्वाणि' और 'बहूनि' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'आश्चर्याणि' पदका क्या अर्थ है और उनको देखनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो दृश्य पहले कभी देखे हुए न हों, उन्हें 'अदृष्टपूर्व' कहते हैं। जो अद्भुत अर्थात् देखनेमात्रसे 'आश्चर्य'

---

* ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण ३।२।७, अग्निपुराण २७३।४)। कहीं इनको कश्यपके औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वाल्मीकीय रामायण अरण्य० १४।१४) तथा कहीं ब्रह्माके कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५।५७)। कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं। इन्होंने दध्यङ् मुनिसे ज्ञान प्राप्त किया था। (ऋग्वेद १।१७।११६।१२; देवीभागवत ७।२६) राजा शर्यातिकी पुत्री एवं च्यवनमुनिकी पत्नी सुकन्यापर प्रसन्न होकर इन्होंने वृद्ध और अन्ध च्यवनको नेत्र और नवयौवन प्रदान किया था (देवीभागवत ७।४, ५)। महाभारत, पुराण और रामायणमें इनकी कथाएँ अनेक जगह आती हैं।

उत्पन्न करनेवाले हों, उन्हें 'आश्चर्य' (आश्चर्यजनक) कहते हैं। 'बहूनि' विशेषण अधिक संख्याका बोधक है। ऐसे बहुत-से पहले किसीके द्वारा भी न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपोंको देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन वस्तुओंको तुमने या अन्य किसीने आजतक कभी नहीं देखा है, उन सबको भी तुम मेरे इस विराट् रूपमें देखो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो सो देख ॥ ७ ॥

प्रश्न—'गुडाकेश' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय।

प्रश्न—'अद्य' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अद्य' पद यहाँ 'अब' का वाचक है। इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ।

प्रश्न—'सचराचरम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद किसका वाचक है तथा 'इह' और 'एकस्थम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने अपने कौन-से शरीरमें और किस जगह समस्त जगत्‌को देखनेके लिये कहा है?

उत्तर—पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं; तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं। ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'कृत्स्नम्' और 'सचराचरम्' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद है।

'इह' पद 'देहे' का विशेषण है। इसके साथ 'एकस्थम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने अर्जुनको यह भाव दिखलाया है कि मेरा यह शरीर जो कि सारथीके रूपमें तुम्हारे सामने रथपर विराजित है, इसी शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्‌को स्थित देखो। अर्जुनको भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात कही थी कि मैं इस समस्त जगत्‌को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

प्रश्न—और भी जो कुछ तू देखना चाहता है, सो देख—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेके अतिरिक्त और भी मेरे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरके एक अंशमें प्रत्यक्ष देख सकते हो।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌के रूपको नहीं देख सके तब उनके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसन्देह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ; उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख ॥ ८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदके साथ-साथ यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि तू मुझे इन अपने (साधारण) नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे अद्भुत योगशक्तिसे युक्त दिव्य स्वरूपके दर्शन करना चाहते हो, यह तो बड़े आनन्दकी बात है और मैं भी तुम्हें अपना वह रूप दिखलानेके लिये तैयार हूँ। परन्तु भाई! इन साधारण नेत्रोंद्वारा मेरा वह अलौकिक रूप देखा नहीं जा सकता, उसको देखनेके लिये जिस शक्तिकी आवश्यकता है, वह तुम्हारे पास नहीं है।

प्रश्न—भगवान्‌ने जो अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी थी, वह दिव्य दृष्टि क्या थी ?

उत्तर—भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया—उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता प्राप्त हो गयी। इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है। ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने सञ्जयको भी दी थी।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जाय कि भगवान्‌ने अर्जुनको ऐसा ज्ञान दिया कि जिससे अर्जुन इस समस्त विश्वको भगवान्‌का स्वरूप मानने लगे और उस ज्ञानका नाम ही यहाँ दिव्य दृष्टि है, तो क्या हानि है ?

उत्तर—यहाँके प्रसङ्गको पढ़कर यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञानके द्वारा अर्जुनका इस दृश्य-जगत्‌को भगवद्-रूप समझ लेना ही 'विश्वरूपदर्शन' था और वह ज्ञान ही 'दिव्य दृष्टि' थी। समस्त विश्वको ज्ञानके द्वारा भगवान्‌के एक अंशमें देखनेके लिये तो अर्जुनको दसवें अध्यायके अन्तमें ही कहा जा चुका था और उसको उन्होंने स्वीकार भी कर लिया था। इस प्रकार स्वीकार कर लेनेके बाद भी अर्जुन जब भगवान्‌से बल, वीर्य, शक्ति और तेजसे युक्त उनके ईश्वरीय स्वरूपको प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा करते हैं और भगवान् भी अपने श्रीकृष्णरूपके अंदर ही एक ही जगह समस्त विश्वको दिखला रहे हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि वह ज्ञानद्वारा समझा जानेवाला रूप था ?

इसके अतिरिक्त भगवान्‌ने जो विश्वरूपका वर्णन किया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान्‌के जिस रूपमें समस्त ब्रह्माण्डके दृश्य और भविष्यमें होनेवाली युद्ध-सम्बन्धी घटनाओंको और उनके परिणामको देख रहे थे, वह रूप उनके सामने था; इससे यही मानना पड़ता है कि जिस विश्वमें अर्जुन अपनेको खड़े देख रहे थे, वह विश्व भगवान्‌के शरीरमें दिखलायी देनेवाले विश्वसे भिन्न था। ऐसा न होता तो उस विराट् रूपके द्वारा दृश्य-जगत्‌के स्वर्गलोकसे लेकर पृथ्वीतकके आकाशको और सब दिशाओंको व्याप्त देखना सम्भव ही न था। भगवान्‌के उस भयानक रूपको देखकर अर्जुनको आश्चर्य, मोह, भय, सन्ताप और विभ्रमादि भी हो रहे थे; इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि भगवान्‌ने उपदेश देकर ज्ञानके द्वारा इस दृश्य-जगत्‌को अपना स्वरूप समझा दिया हो, ऐसी बात नहीं थी। ऐसा होता तो अर्जुनको भय, सन्ताप, मोह और विभ्रमादि होनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

प्रश्न—यह मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है कि जैसे आजकल रेडियो आदि यन्त्रोंद्वारा दूर देशके शब्द सुने तथा दृश्य देखे जा सकते हैं, वैसे ही भगवान्‌ने उन्हें कोई ऐसा यन्त्र दे दिया हो जिससे वे एक ही जगह खड़े समस्त विश्वको बिना किसी बाधाके देख सके हों और उस यन्त्रको ही दिव्य दृष्टि कहा गया हो ?

उत्तर—रेडियो आदि यन्त्रोंद्वारा एक कालमें एक जगह दूर देशके वे ही शब्द और दृश्य सुने और देखे जा सकते हैं, जो एकदेशीय हों और उस समय वर्तमान हों। उनसे एक ही यन्त्रसे एक ही कालमें एक ही जगह सब देशोंकी घटनाएँ नहीं देखी-सुनी जा सकतीं। न उनमें लोगोंके मनकी बातें प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं और न भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके दृश्य ही। इसके अतिरिक्त यहाँके प्रसङ्गमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि अर्जुनने किसी यन्त्रद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपको देखा था। अतएव ऐसा मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। हाँ, रेडियो आदि यन्त्रोंके आविष्कारसे आजकलके अविश्वासी लोगोंको किसी सीमातक समझाया जा सकता है कि जब रेडियो आदि भौतिक यन्त्रोंद्वारा दूर देशकी घटनाएँ सुनी-देखी जा सकती हैं तब [illegible] की

हुई योगशक्तिद्वारा उनके विश्वरूपका देखा जाना कौन बड़ी बात है ? अवश्य ही यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह भगवान्‌का कोई ऐसा मायामय मनोयोग नहीं था जिसके प्रभावसे अर्जुन बिना ही हुए ऐसी घटनाओंको स्वप्नके दृश्यों-की भाँति देख रहे थे। अर्जुन जिस स्वरूपको देख रहे थे, वह प्रत्यक्ष सत्य था और उसके देखनेका एकमात्र साधन था — भगवत्कृपासे मिली हुई योगशक्तिरूप दिव्य दृष्टि !

प्रश्न—'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद किसका वाचक है और उसे देखनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हुए थे, वह दिव्य था। भगवान्‌ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके उसे अर्जुनको दिखलाया था। अतः उसके देखनेसे ही भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके दर्शन आप ही हो जाते हैं। इसीलिये यहाँ 'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके सहित उसके द्वारा प्रकट किये हुए भगवान्‌के विराट् स्वरूपका वाचक है; और उसे देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपने विराट् स्वरूपके दर्शनद्वारा योग-शक्तिको देखनेके लिये कहा है।

सम्बन्ध—अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्‌ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा सञ्जय उसका वर्णन करते हैं—

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

सञ्जय बोले—हे राजन् ! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया ॥ ९ ॥

प्रश्न—यहाँ सञ्जयने भगवान्‌के लिये 'महायोगेश्वरः' और 'हरिः' इन दो विशेषणोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जो महान् यानी बड़े-से-बड़े योगेश्वर हों उनको 'महायोगेश्वर' तथा सब पापों और दुःखोंके हरण करनेवाले-को 'हरि' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके सञ्जयने भगवान्‌की अद्भुत शक्ति-सामर्थ्यकी ओर लक्ष्य कराते हुए धृतराष्ट्रको सावधान किया है। उनके कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे बड़े-से-बड़े योगेश्वर और सब पापों तथा दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं।

प्रश्न—'रूपम्' के साथ 'परमम्' और 'ऐश्वरम्' इन दोनों विशेषणोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो पदार्थ शुद्ध, श्रेष्ठ और अलौकिक हो, उसकी विशेषताका द्योतक 'परम' विशेषण है और जिसमें ईश्वरके गुण, प्रभाव एवं तेज दिखलायी देते हों तथा जो ईश्वरकी दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न हो, उसे 'ऐश्वर' कहते हैं। भगवान्‌ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्-की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्-ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनपर अनुग्रह करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योग-शक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था। इन्हीं भावोंको प्रकट करनेके लिये सञ्जयने 'रूपम्' पदके साथ इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया है।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले, बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०-११ ॥

प्रश्न–'अनेकवक्त्रनयनम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसके नाना प्रकारके असंख्य मुख और आँखें हों, उस रूपको 'अनेकवक्त्रनयन' कहते हैं। अर्जुनने भगवान्‌का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (११ । १९); परन्तु उसके अंदर दिखलायी देनेवाले और भी असंख्य विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्‌को अनेक मुखों और नयनोंसे युक्त बतलाया गया है।

प्रश्न–'अनेकाद्भुतदर्शनम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो दृश्य पहले कभी न देखे हुए हों, जिनका ढंग विचित्र और आश्चर्यजनक हो, उनको 'अद्भुत दर्शन' कहते हैं। जिस रूपमें ऐसे असंख्य अद्भुत दर्शन हों, उसे 'अनेकाद्भुतदर्शन' कहते हैं। भगवान्‌के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न–'अनेकदिव्याभरणम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–आभरण गहनोंको कहते हैं। जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों—उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं। भगवान्‌का जो रूप अर्जुनने देखा था, वह नाना प्रकारके असंख्य तेजोमय दिव्य आभूषणोंसे युक्त था; इस कारण भगवान्‌के साथ यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न–'दिव्यानेकोद्यतायुधम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिनसे युद्ध किया जाय, उन शस्त्रोंका नाम 'आयुध' है। और जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं। इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्‌ने अपने हाथोंमें उठा रक्खे थे, इसलिये उन्हें 'दिव्यानेकोद्यतायुध' कहा है।

प्रश्न–'दिव्यमाल्याम्बरधरम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसने बहुत उत्तम दिव्य अलौकिक मालाएँ और वस्त्रोंको धारण कर रक्खा हो, उसे 'दिव्यमाल्याम्बरधर' कहते हैं। [illegible] सुन्दर-सुन्दर [illegible] वे अनेक प्रकारके बहुत [illegible] सुसज्जित थे, इसलिये उनके साथ यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न–'दिव्यगन्धानुलेपनम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–[illegible]

प्रश्न–'सर्वाश्चर्यमयम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–[illegible]

प्रश्न–'अनन्तम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–[illegible]

प्रश्न–'विश्वतोमुखम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–[illegible]

प्रश्न–[illegible]

उत्तर—जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें देव कहते हैं। यहाँ 'देवम्' पदका प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि परम तेजोमय भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनने उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त देखा।

सम्बन्ध—उपर्युक्त विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरका प्रकाश कैसा था, अब उसका वर्णन किया जाता है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो॥ १२॥

प्रश्न—भगवान्‌के प्रकाशके साथ हजार सूर्योंके प्रकाशका सादृश्य बतानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इसके द्वारा विराट्स्वरूप भगवान्‌के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्स्वरूप भगवान्‌के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परन्तु विराट्स्वरूप भगवान्‌का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के उस प्रकाशमय अद्भुत स्वरूपमें अर्जुनने सारे विश्वको किस प्रकार देखा, अब यह बतलाया जाता है—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्‌को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्‌के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा॥ १३॥

प्रश्न—यहाँ 'तदा' पद किस समयका वाचक है?

उत्तर—जिस समय भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपनी असाधारण योगशक्तिके सहित विराट् रूप देखनेके लिये आज्ञा दी (११।८), उसी समयका वाचक यहाँ 'तदा' पद है।

प्रश्न—'जगत्' पदके साथ 'अनेकधा प्रविभक्तम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इन विशेषणोंका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे विभक्त—इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्‌के शरीरके एक देशमें देखा; अर्थात् इसके किसी एक अंशको देखा हो या इसके समस्त भेदोंको विभिन्नभावसे पृथक्-पृथक् न देखकर मिले-जुले हुए देखा हो—ऐसी बात नहीं है, समस्त विस्तारको ज्यों-का-त्यों पृथक्-पृथक् देखा।

प्रश्न—'एकस्थम्'के प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'एकस्थम्' अर्थात् 'एक देशमें स्थित' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'तत्र' पद किसका विशेषण है और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तत्र' पद पूर्वके वर्णनसे सम्बन्ध रखता है और यहाँ यह देवोंके देव भगवान्‌के शरीरका विशेषण है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि देवताओंके भी देवता, सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्मादि देवताओंके भी पूज्य भगवान् श्रीकृष्णके उपर्युक्त रूपमें पाण्डुपुत्र अर्जुनने समस्त जगत्‌को एक जगह स्थित देखा।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनद्वारा भगवान्‌का विराट्‌रूप देखे जानेके पश्चात् क्या हुआ, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला—॥ १४ ॥

प्रश्न—'ततः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ततः' पद 'तत्पश्चात्' का वाचक है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि अर्जुनने जब भगवान्‌के उपर्युक्त अद्भुत प्रभावशाली रूपके दर्शन किये, तब उनमें इस प्रकारका परिवर्तन हो गया।

प्रश्न—'धनञ्जयः' के साथ 'विस्मयाविष्टः' और 'हृष्टरोमा' इन दो विशेषणोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बहुत-से राजाओंपर विजय प्राप्त करके अर्जुनने धनसंग्रह किया था, इसलिये उनका एक नाम 'धनञ्जय' हो गया था। यहाँ उस 'धनञ्जयः' पदके साथ-साथ 'विस्मयाविष्टः' और 'हृष्टरोमा' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुनके हर्ष और आश्चर्यकी अधिकता दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया। उन्होंने इससे पूर्व भगवान्‌का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदयपटपर सहसा भगवान्‌के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अङ्कित हो गया, भगवान्‌का कुछ प्रभाव उनकी समझमें आया। इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही।

प्रश्न—'देवम्' पद किसका वाचक है तथा 'शिरसा प्रणम्य' और 'कृताञ्जलिः' का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'देवम्' पद भगवान्‌के तेजोमय विराट्-स्वरूपका वाचक है। और 'शिरसा प्रणम्य' तथा 'कृताञ्जलिः' इन दोनों पदोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि अर्जुनने जब भगवान्‌का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्वजीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्‌की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे। भगवान्‌के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्यभावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्‌के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान्‌का स्तवन करने लगे।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे हर्ष और आश्चर्यसे चकित अर्जुन अब भगवान्‌के विश्वरूपमें दीख पड़नेवाले दृश्योंका वर्णन करते हुए उस विश्वरूपका स्तवन करते हैं—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'देव' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌के तेजोमय अद्भुत रूपको देखकर अर्जुनका भगवान्‌में जो श्रद्धा-भक्तियुक्त अत्यन्त पूज्यभाव हो गया था, उसीको दिखलानेके लिये यहाँ 'देव' सम्बोधनका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'तव देहे' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका जो शरीर मेरे सामने उपस्थित है, उसीके अंदर मैं इन सबको देख रहा हूँ।

प्रश्न—जब अर्जुनने यह बात कह दी कि मैं आपके शरीरमें समस्त चराचर प्राणियोंके विभिन्न समुदायोंको देख रहा हूँ, तब समस्त देवोंको देख रहा हूँ—यह अलग कहनेकी क्या आवश्यकता रह गयी ?

उत्तर—जगत्के समस्त प्राणियोंमें देवता सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं, इसीलिये उनका नाम अलग लिया है।

प्रश्न—ब्रह्मा और शिव तो देवोंके अंदर आ ही गये, फिर उनके नाम अलग क्यों लिये गये और ब्रह्माके साथ 'कमलासनस्थम्' विशेषण क्यों दिया गया ?

उत्तर—ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम अलग लिये गये हैं। एवं ब्रह्माके साथ 'कमलासनस्थम्' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

प्रश्न—समस्त ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको अलग बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्यलोकके अंदर सब प्राणियोंमें ऋषियोंको और पाताललोकमें वासुकि आदि दिव्य सर्पोंको श्रेष्ठ माना गया है। इसीलिये उनको अलग बतलाया है।

यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥

प्रश्न—'विश्वेश्वर' और 'विश्वरूप' इन दोनों सम्बोधनोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं।

प्रश्न—'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि आपको इस समय मैं जिस रूपमें देख रहा हूँ, उसके भुजा, पेट, मुख और नेत्र असंख्य हैं; उनकी कोई किसी भी प्रकारसे गणना नहीं कर सकता।

प्रश्न—'सर्वतः अनन्तरूपम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपको इस समय मैं सब ओरसे अनेक प्रकारके पृथक्-पृथक् अगणित रूपोंसे युक्त देख रहा हूँ, अर्थात् आपके इस एक ही शरीरमें मुझे बहुत-से भिन्न-भिन्न अनन्तरूप चारों ओर फैले हुए दीख रहे हैं।

प्रश्न—आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देख रहा हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट्रूपका मैं कहीं भी आदि और अन्त नहीं देख रहा हूँ, अर्थात् मुझे यह नहीं मालूम हो रहा है कि यह कहाँसे कहाँतक फैला हुआ है। और इस प्रकार आदि-अन्तका पता न लगनेके कारण मैं यह भी नहीं समझ रहा हूँ कि इसका बीच कहाँ है; इसलिये मैं आपके मध्यको भी नहीं देख रहा हूँ। मुझे तो आगे-पीछे, दाहिने-बायें और ऊपर-नीचे—सब ओरसे आप सीमारहित दिखलायी पड़ रहे हैं। किसी ओरसे भी आपकी कोई सीमा नहीं दीखती।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेय स्वरूप देखता हूँ॥ १७॥

प्रश्न—'किरीटिनम्', 'गदिनम्' और 'चक्रिणम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसके सिरपर किरीट अर्थात् अत्यन्त शोभा और तेजसे युक्त मुकुट विराजित हो, उसे 'किरीटी' कहते हैं; जिसके हाथमें 'गदा' हो, उसे 'गदी' कहते हैं और जिसके पास 'चक्र' हो उसे 'चक्री' कहते हैं। इन तीनों पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं आपके इस अद्भुत रूपमें भी आपको महान् तेजोमय मुकुट धारण किये तथा हाथोंमें गदा और चक्र लिये हुए ही देख रहा हूँ।

प्रश्न—'सर्वतः दीप्तिमन्तम्' और 'तेजोराशिम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसका दिव्य प्रकाश ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर एवं सब दिशाओंमें फैला हुआ हो—उसे 'सर्वतो दीप्तिमान्' कहते हैं। तथा प्रकाशके समूहको 'तेजोराशि' कहते हैं। इन दोनों पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका यह विराट्रूप मुझको मूर्तिमान् तेजपुञ्ज तथा सब ओरसे परम प्रकाशयुक्त दिखलायी दे रहा है।

प्रश्न—'सर्वतो दीप्तिमन्तम्' और 'तेजोराशिम्' यह विशेषण दे चुकनेके बाद उसी भावके द्योतक 'दीप्तानलार्कद्युतिम्' पदके प्रयोगकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—भगवान्‌का वह विराट् रूप परम प्रकाशयुक्त और मूर्तिमान् तेजपुञ्ज कैसे था, अग्नि और सूर्यकी उपमा देकर इसी बातका ठीक-ठीक अनुमान करा देनेके लिये 'दीप्तानलार्कद्युतिम्' पदका प्रयोग किया गया है। अर्जुन इससे यह भाव दिखला रहे हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि और प्रकाशपुञ्ज सूर्य प्रकाशमान तेजकी राशि हैं, वैसे ही आपका यह विराट्स्वरूप उनसे भी असंख्यगुना अधिक प्रकाशमान तेजपुञ्ज है। अर्थात् अग्नि और सूर्यका वह तेज तो किसी एक ही देशमें दिखलायी पड़ता है, परन्तु आपका तो यह विराट् शरीर सभी ओरसे उनसे भी अनन्तगुना अधिक तेजोमय दीख रहा है।

प्रश्न—'दुर्निरीक्ष्यम्' का क्या भाव है? और यदि भगवान्‌का वह रूप दुर्निरीक्ष्य था, तो अर्जुन कैसे उसको देख रहे थे?

उत्तर—अत्यन्त अद्भुत प्रकाशसे युक्त होनेके कारण प्राकृत नेत्र उस रूपके सामने खुले नहीं रह सकते। अतएव सर्वसाधारणके लिये उसको 'दुर्निरीक्ष्य' बतलाया गया है। अर्जुनको तो भगवान्‌ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे। इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी।

प्रश्न—'समन्तात् अप्रमेयम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो मापा न जा सके या किसी भी उपायसे जिसकी सीमा न जानी जा सके, वह 'अप्रमेय' है। जो सब ओरसे अप्रमेय है, उसे 'समन्तात् अप्रमेय' कहते हैं। इसका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूपको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्‌के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है॥ १८॥

प्रश्न—'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणके सहित 'अक्षरम्' पद किसका वाचक है और उसका क्या भाव है?

उत्तर—जिस जाननेयोग्य परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये नित्य

साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है—उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है; और इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका विराट् रूप देखकर मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि वह परब्रह्म परमात्मा निर्गुण ब्रह्म भी आप ही हैं।

प्रश्न—'निधानम्' पदका क्या अर्थ है और भगवान्‌को इस जगत्‌का परम निधान बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस स्थानमें कोई वस्तु रक्खी जाय, वह उस वस्तुका निधान अथवा आधार (आश्रय) कहलाता है। यहाँ अर्जुनने भगवान्‌को इस जगत्‌का निधान कहकर यह भाव दिखलाया है कि कारण और कार्यके सहित यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही स्थित है, आपने ही इसे धारण कर रक्खा है; अतएव आप ही इसके आश्रय हैं।

प्रश्न—'शाश्वतधर्म' किसका वाचक है और भगवान्‌को उसके 'गोप्ता' बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं। भगवान् बार-बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्‌को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है।

प्रश्न—'अव्यय' और 'सनातन' विशेषणोंके सहित 'पुरुष' शब्दके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसका कभी नाश न हो, उसे 'अव्यय' कहते हैं; तथा जो सदासे हो और सदा एकरस बना रहे, उसे 'सनातन' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुष' शब्दका प्रयोग करके अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्‌के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्‌को संतप्त करते हुए देखता हूँ॥ १९॥

प्रश्न—सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने यह कहा था कि मैं आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देख रहा हूँ; फिर यहाँ इस कथनसे कि 'मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित देख रहा हूँ' पुनरुक्तिका-सा दोष प्रतीत होता है। अतः इसका क्या भाव है?

उत्तर—वहाँ अर्जुनने भगवान्‌के विराट् रूपको असीम बतलाया है और यहाँ उसे उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य बतलाया है। इसलिये पुनरुक्तिका दोष नहीं है। इसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि 'आदि' शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है। ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं। अतएव यहाँ अर्जुनके इस कथनका यह भाव है कि मैं आपको उत्पत्ति आदि छः भावविकारोंसे सर्वथा रहित देख रहा हूँ।

प्रश्न—'अनन्तवीर्यम्' का क्या भाव है?

उत्तर—'वीर्य' शब्द सामर्थ्य, बल, तेज और शक्ति आदिका वाचक है। जिसके वीर्यका अन्त न हो, उसे 'अनन्तवीर्य' कहते हैं। यहाँ अर्जुनने भगवान्‌को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेजकी कोई भी सीमा नहीं है।

प्रश्न—'अनन्तबाहुम्' का क्या भाव है?

उत्तर—जिसकी भुजाओंका पार न हो, उसे 'अनन्तबाहु' कहते हैं। इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखलायी दे रही हैं।

प्रश्न—'शशिसूर्यनेत्रम्' का क्या अर्थ है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि चन्द्रमा और सूर्यको मैं आपके दोनों नेत्रोंके स्थानमें देख रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि आपके इस विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मुख दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है, उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्यको देख रहा हूँ।

प्रश्न—'दीप्तहुताशवक्त्रम्'का क्या भाव है ?

उत्तर—'हुताश' अग्निका नाम है तथा प्रज्वलित अग्निको 'दीप्तहुताश' कहते हैं; और जिसका मुख उस प्रज्वलित अग्निके सदृश प्रकाशमान और तेजपूर्ण हो, उसे 'दीप्तहुताशवक्त्र' कहते हैं। इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके प्रधान मुखको मैं सब ओरसे प्रज्वलित अग्निकी भाँति तेज और प्रकाशसे युक्त देख रहा हूँ।

प्रश्न—'अपने तेजसे जगत्को संतप्त करते हुए देखता हूँ,' इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि मुझे ऐसा दिखलायी दे रहा है, मानो आप अपने तेजसे इसी सारे विश्वको—जिसमें मैं खड़ा हूँ—संतप्त कर रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं; तथा आपके इस अलौकिक और भयङ्कर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'महात्मन्' सम्बोधनसे भगवान्को समस्त विश्वके महान् आत्मा बतलाकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि आपका यह विराट् रूप इतना विस्तृत है कि स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका यह सम्पूर्ण आकाश और सभी दिशाएँ उससे व्याप्त हो रही हैं। ऐसा कोई स्थान मुझे नहीं दीखता, जहाँ आपका यह स्वरूप न हो। साथ ही मैं यह देख रहा हूँ कि आपका यह अद्भुत और अत्यन्त उग्र रूप इतना भयानक है कि स्वर्ग, मर्त्य और अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकोंके जीव इसे देखकर भयके मारे अत्यन्त ही त्रस्त—पीड़ित हो रहे हैं। उनकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गयी है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१ ॥

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

प्रश्न—'सुरसङ्घाः'के साथ 'अमी' विशेषण देकर 'वे ही आपमें प्रवेश कर रहे हैं' यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सुरसङ्घाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं।

प्रश्न—कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण कर रहे हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि बहुत-से देवताओंको भगवान्के उग्र रूपमें प्रवेश करते देखकर शेष बचे हुए देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

प्रश्न—'महर्षिसिद्धसङ्घाः' किनका वाचक है और वे 'स्वस्ति कल्याण हो' ऐसा कहकर पुष्कल स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं, इस कथनका क्या अभि

उत्तर—मरीचि, अङ्गिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञानाधार सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं—उन सभीका वाचक यहाँ 'महर्षिसिद्धसङ्घाः' पद है। वे 'सबका कल्याण हो' ऐसा कहकर पुष्कल स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण वे आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं; वरं समस्त जगत्‌के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हुए अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं देख रहा हूँ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके समुदाय हैं—वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं ॥ २२ ॥

प्रश्न—'रुद्राः', 'आदित्याः', 'वसवः', 'साध्याः', 'विश्वे', 'अश्विनौ' और 'मरुतः'—ये सब अलग-अलग किन-किन देवताओंके वाचक हैं?

उत्तर—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उनचास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो दसवें अध्यायके इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंकी व्याख्या और उसकी टिप्पणीमें तथा अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके छठे श्लोककी टिप्पणीमें किया जा चुका है—वहीं देखना चाहिये। मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं।* और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, मुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं।† आदित्य और रुद्र आदि देवताओंके आठ गण (समुदाय) हैं, उन्हींमेंसे साध्य और विश्वेदेव भी दो विभिन्न गण हैं (ब्रह्माण्डपुराण ७१।२)।

प्रश्न—'ऊष्मपाः' पद किनका वाचक है?

उत्तर—जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं। मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके दो सौ सैंतीसवें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं। अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदाय‡ का वाचक समझना चाहिये।

प्रश्न—'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः' यह पद किन-किन समुदायोंका वाचक है?

उत्तर—कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा

---

* मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥
(वायुपुराण ६६।१५-१६)

धर्मकी पत्नी दक्षकन्या साध्यासे इन बारह साध्यदेवताओंकी उत्पत्ति हुई थी। स्कन्दपुराणमें इनके इस प्रकार नामान्तर मिलते हैं—मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु। (स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड २१।१७-१८) मन्वन्तर-भेदसे सब ठीक है।

† विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो मुनिस्तथा।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥
(वायुपुराण ६६।३१-३२)

धर्मकी पत्नी दक्षकन्या विश्वासे इन दस विश्वेदेवोंकी उत्पत्ति हुई थी। कुछ पुराणोंमें मन्वन्तर-भेदसे इनके भी नामान्तर मिलते हैं।

‡ पितरोंके नाम दसवें अध्यायके उनतीसवें श्लोककी व्याख्यामें बतलाये जा चुके हैं।

अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियों-के ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं। यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है। भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्षलोग हैं। इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं। देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसों-को असुर कहते हैं। कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं। राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है। कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं। इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुर-सिद्धसङ्घाः' पद है।

प्रश्न—वे सब विस्मित होकर आपको देख रहे हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त सभी देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके भिन्न-भिन्न समुदाय आश्चर्यचकित होकर आपके इस अद्भुत रूपकी ओर देख रहे हैं—ऐसा मुझे दिखलायी देता है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ॥ २३॥

प्रश्न—सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने यह कह दिया था कि मैं आपके विराट् रूपको अनेक भुजाओं, उदरों, मुखों और नेत्रोंसे युक्त देख रहा हूँ; फिर इस श्लोकमें पुनः उसीके लिये 'बहुवक्त्रनेत्रम्', 'बहुबाहूरुपादम्' और 'बहूदरम्' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने केवल उस रूपको देखनेकी ही बात कही थी और यहाँ उसे देखकर अन्य लोकोंके और स्वयं अपने व्याकुल हो जानेकी बात कह रहे हैं, इसी कारण उस रूपका पुनः वर्णन किया है।

प्रश्न—तीनों लोकोंके व्यथित होनेकी बात भी बीसवें श्लोकमें कह दी गयी थी। फिर इस श्लोकमें पुनः कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बीसवें श्लोकमें विराट् रूपके असीम विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) और उसकी उग्रताको देखकर केवल तीनों लोकोंके ही व्याकुल होनेकी बात कही गयी है और इस श्लोकमें अर्जुन उसको अनेक हाथ, पैर, जङ्घा, मुख, नेत्र, पेटसे युक्त और बहुत-से दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल देखकर अपने व्याकुल होनेकी भी बात कह रहे हैं इसलिये पुनरुक्तिका दोष नहीं है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ॥ २४॥

प्रश्न—यहाँ 'विष्णु' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌को विष्णु नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह दिखलाते हैं कि आप साक्षात् विष्णु ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये कृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं अतः आप मेरी व्याकुलताको दूर करनेके लिये इस विश्वरूपका संवरण करके विष्णुरूपसे प्रकट हो जाइये।

प्रश्न—बीसवें श्लोकमें स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका आकाश भगवान्‌से व्याप्त बतलाकर उसकी सीमारहित सर्वाप

वर्णन कर ही चुके थे, फिर यहाँ 'नभःस्पृशम्' विशेषण देनेकी आवश्यकता क्यों हुई ?

उत्तर—बीसवें श्लोकमें विराट् रूपकी लंबाई-चौड़ाईका वर्णन करके तीनों लोकोंके व्याकुल होनेकी बात कही गयी है; और इस श्लोकमें उसकी असीम लंबाईको देखकर अर्जुनने अपनी व्याकुलताका तथा धैर्य और शान्तिके नाशका वर्णन किया है; इस कारण यहाँ 'नभःस्पृशम्' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—सतरहवें श्लोकमें 'दीप्तिमन्तम्' विशेषण दिया ही गया था, फिर यहाँ 'दीप्तम्' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—वहाँ केवल भगवान्‌के रूपको देखनेकी ही बात कही गयी थी और यहाँ उसे देखकर धैर्य और शान्तिके भङ्ग होनेकी बात कही गयी है। इसीलिये उस रूपका पुनः वर्णन किया गया है।

प्रश्न—अर्जुनने अपने व्याकुल होनेकी बात भी तेईसवें श्लोकमें कह दी थी, फिर इस श्लोकमें 'प्रव्यथितान्तरात्मा' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—वहाँ केवल व्याकुल होनेकी बात ही कही थी। यहाँ अपनी स्थितिको भलीभाँति प्रकट करनेके लिये वे पुनः कहते हैं कि मैं केवल व्याकुल ही नहीं हो रहा हूँ, आपके फैलाये हुए मुखों और प्रज्वलित नेत्रोंसे युक्त इस विकराल रूपको देखकर मेरी धीरता और शान्ति भी जाती रही है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों ॥ २५ ॥

प्रश्न—तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌के विराट्‌रूपका विशेषण 'बहुदंष्ट्राकरालम्' दे ही दिया था, फिर यहाँ पुनः उनके मुखोंका विशेषण 'दंष्ट्राकरालानि' देनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—वहाँ उस रूपको देखकर अर्जुनने अपने व्याकुल होनेकी बात कही थी और यहाँ दिग्भ्रम और सुखके अभावकी बात विशेषरूपसे कह रहे हैं; इसलिये उसी विशेषणका पुनः मुखोंके साथ प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन दो सम्बोधनोंका प्रयोग करके भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'देवेश' और 'जगन्निवास' इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार हैं—इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा था; और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका यह विराट्‌स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया। अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास' होनेमें कोई सन्देह ही नहीं रह गया। और प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो ! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया। परन्तु आपके इस विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक कि मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट् स्वरूपको शीघ्र समेट लीजिये।'

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

ये सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ॥ २६-२७ ॥

प्रश्न—'धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' के साथ 'अमी,' 'सर्वे' और 'एव' इन पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अमी' से यह भाव दिखलाया है कि धृतराष्ट्रके पुत्र जिन दुर्योधनादिको मैं अभी-अभी अपने सामने युद्धके लिये तैयार खड़े देख रहा था, उन्हींको अब मैं आपमें प्रवेश होकर नष्ट होते देख रहा हूँ। तथा 'सर्वे' और 'एव' से यह भाव दिखलाया है कि वे दुर्योधनादि सारे-के-सारे ही आपके अंदर प्रवेश कर रहे हैं; उन एक सौमेंसे एक भी बचा हो, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न—'अवनिपालसङ्घैः' और 'सह' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अवनिपाल' शब्द राजाओंका वाचक है और ऐसे राजाओंके बहुत-से समूहोंका वाचक 'अवनिपालसङ्घैः' पद है। उसका और 'सह' पदका प्रयोग करके अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट होते नहीं देख रहा हूँ; उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे।

प्रश्न—भीष्म और द्रोणके नाम अलग गिनानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरवसेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे। अर्जुनके मतमें इनका परास्त होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था। यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन्! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।'

प्रश्न—सूतपुत्रके साथ 'असौ' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी। इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके विकराल मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं।

प्रश्न—'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है तथा 'सह' पदका प्रयोग करके 'अस्मदीयैः' एवं 'योधमुख्यैः' इन दोनों पदोंसे क्या बात कही गयी है?

उत्तर—'अपि' तथा प्रश्नमें आये हुए अन्यान्य पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल शत्रुपक्षके वीर ही आपके अंदर नहीं प्रवेश कर रहे हैं; हमारे पक्षके जो मुख्य-मुख्य वीर योद्धा हैं, शत्रुपक्षके वीरोंके साथ-साथ उन सबको भी मैं आपके विकराल मुखोंमें प्रवेश करते देख रहा हूँ।

प्रश्न—'त्वरमाणाः' पद किनका विशेषण है और इसके प्रयोगका क्या भाव है तथा 'मुखानि' के साथ 'दंष्ट्राकरालानि' और 'भयानकानि' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—'त्वरमाणाः' पूर्वश्लोकमें वर्णित दोनों पक्षोंके सभी योद्धाओंका विशेषण है। 'दंष्ट्राकरालानि' उन मुखोंका विशेषण है जो बड़ी-बड़ी भयानक दाढ़ोंके कारण बहुत विकराल आकृतिके हों; और 'भयानकानि' का अर्थ है—जो देखने मात्रसे भय उत्पन्न करनेवाले हों। यहाँ इन पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि पिछले श्लोकमें वर्णित दोनों पक्षके सभी योद्धाओंको मैं बड़े वेगके साथ दौड़-दौड़कर आपके बड़ी-बड़ी दाढ़ोंके कारण विकराल और भयानक मुखोंमें प्रवेश करते देख रहा हूँ, अर्थात् मुझे यह प्रत्यक्ष दीख रहा है कि सभी वीर चारों ओरसे बड़े वेगके साथ दौड़-दौड़कर आपके भयङ्कर मुखोंमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो रहे हैं।

प्रश्न—कितने ही चूर्णित मस्तकोंसहित आपके दाँतोंमें फँसे हुए दीखते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि उन

सबको केवल आपके मुखोंमें प्रविष्ट होते ही नहीं देख रहा हूँ; उनमेंसे कितनोंको ऐसी बुरी दशामें भी देख रहा हूँ कि उनके मस्तक चूर्ण हो गये हैं और वे बुरी तरहसे आपके दाँतोंमें फँसे हुए हैं।

सम्बन्ध—दोनों सेनाओंके योद्धाओंको अर्जुन किस प्रकार भगवान्‌के विकराल मुखोंमें प्रविष्ट होते देख रहे हैं, अब दो श्लोकोंमें उसका पहले नदियोंके जलके दृष्टान्तसे और तदनन्तर पतङ्गोंके दृष्टान्तसे स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें नदियोंके समुद्रमें प्रवेश करनेका दृष्टान्त देकर प्रवेश होनेवालोंके लिये 'नरलोकवीराः' विशेषण किस अभिप्रायसे दिया गया है तथा मुखोंके साथ 'अभिविज्वलन्ति' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले थे। इसी हेतुसे उनके लिये 'नरलोकवीराः' विशेषण दिया गया है। वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे वैसे ही भगवत्प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी काम आदि शत्रुओंके साथ बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे। उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं।

यहाँ मुखोंके साथ 'अभिविज्वलन्ति' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है; और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्यरूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय होकर आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९ ॥

जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं ॥ २९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें प्रज्वलित अग्नि और पतङ्गोंका दृष्टान्त देकर भगवान्‌के मुखोंमें सब लोकोंके प्रवेश करनेकी बात कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतङ्गोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतङ्ग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं; वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतङ्गोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

सम्बन्ध—दोनों सेनाओंके लोगोंके प्रवेशका दृष्टान्तद्वारा वर्णन करके अब उन लोगोंको भगवान् किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं, इसका वर्णन किया जाता है—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ [illegible]

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे [illegible] विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्‌को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥ [illegible]

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌के महान् उग्र रूपको देखकर यहाँ भयभीत अर्जुन उस अत्यन्त भयानक रूपका वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि जिनसे अग्निकी भयानक लपटें निकल रही हैं, अपने उन विकराल मु[illegible] रहे हैं और इतनेपर भी [illegible] लपलपा रहे हैं। तथा [illegible] तेजसे सारा जगत् [illegible]

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भगवान्‌से अपने ऐश्वर्य [illegible] थी, उसीके अनुसार भगवान्‌ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परन्तु [illegible] अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो [illegible] तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं ? इ[illegible]

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि [illegible] ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता ॥ ३१ ॥

प्रश्न—अर्जुन यह तो जानते ही थे कि भगवान् श्रीकृष्ण ही अपनी योग-शक्तिसे मुझे यह अपना विश्वरूप दि[illegible] हैं, फिर उन्होंने यह कैसे पूछा कि आप उग्ररूपधारी कौन हैं ?

उत्तर—अर्जुन इतना तो जानते थे कि यह [illegible] श्रीकृष्णका ही है; परन्तु इस भयङ्कर रूपको देखकर उनके मनमें यह जाननेकी इच्छा हो गयी कि ये श्रीकृष्ण [illegible] कौन, जो इस प्रकारका भयङ्कर रूप [illegible] इसीलिये उन्होंने यह भी कहा है कि [illegible] विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ।

प्रश्न—'देववर' सम्बोधन देकर भगवान्‌को नमस्कार करनेका और प्रसन्न होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हो उसे 'देववर' कहते हैं। [illegible] उनके इस रूपको देखकर [illegible] नमस्कार कर रहे हैं, उनके [illegible] तथा उनके भयानक रूपको देखकर अर्जुन भयभीत हो रहे हैं अतः उनसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना कर रहे हैं।

प्रश्न—आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयङ्कर रूप [illegible] कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी योद्धा प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं—आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं; तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं—इस रहस्यको मैं नहीं जानता। अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका [illegible] बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो [illegible]
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे [illegible]

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा ॥ ३२ ॥

प्रश्न—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ। अतएव इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो।

प्रश्न—इस समय मैं इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता'। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुमको सबके नाशका भयङ्कर दृश्य दिखलाया है।

प्रश्न—जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें उपस्थित योद्धा लोग हैं, वे तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गुरु, ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे तब भी ये बचेंगे नहीं। इनका तो मरण ही निश्चित है। जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके। इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है।

प्रश्न—अर्जुनने तो भगवान्‌के विराट् रूपमें अपने और शत्रुपक्षके सभी योद्धाओंको मरते देखा था, फिर भगवान्‌ने यहाँ केवल कौरवपक्षके योद्धाओंकी बात कैसे कही ?

उत्तर—अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ केवल कौरवपक्षके वीरोंके विषयमें कहा है। इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्‌के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है। भगवान् मानो यह समझा रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं—*

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग। ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन् ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा ॥ ३३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' पदके सहित 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसन्देह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है। अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ।

प्रश्न—यश-लाभ करने और शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्य भोगनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग करो और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो।

प्रश्न—'सव्यसाचिन्' नामसे सम्बोधित करके यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि ये पहलेसे ही मेरेद्वारा मारे हुए हैं, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ ?

उत्तर—जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ अर्जुनको 'सव्यसाची' नामसे सम्बोधित करके और निमित्तमात्र बननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रक्खा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उल्टा क्षात्र-धर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकारका संशय न रखकर, अहंकार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार। भय मत कर। निस्सन्देह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर॥ ३४॥

प्रश्न—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण—इन चारोंके अलग-अलग नाम लेनेका क्या अभिप्राय है; तथा 'अन्यान्' विशेषणके सहित 'योधवीरान्' पदसे किनका लक्ष्य कराया गया है; और इन सबको अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर मारनेके लिये कहनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्रप्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारङ्गत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे; और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगी। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मारना चाहता।

जयद्रथ* स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शङ्करके भक्त

* जयद्रथ सिन्धुदेशके राजा वृद्धक्षत्रके पुत्र थे। इनका धृतराष्ट्रकी एकमात्र कन्या दुःशलाके साथ विवाह हुआ था। पाण्डवोंके वनवासके समय एक बार उनकी अनुपस्थितिमें ये द्रौपदीको हर ले गये थे। भीमसेन आदिने लौटकर जब यह बात सुनी तब उन लोगोंने इनके पीछे जाकर द्रौपदीको छुड़ाया और इन्हें पकड़ लिया था। फिर युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर सिर मूँडकर छोड़ दिया था। कुरुक्षेत्रके युद्धमें जब अर्जुन संशप्तकोंके साथ युद्ध करनेमें लगे थे, इन्होंने चक्रव्यूहके द्वारपर युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव—चारोंको शिवजीके वरदानसे रोक लिया, जिससे वे अभिमन्युकी सहायताके लिये अंदर नहीं जा सके और कई महारथियोंसे घेरे जाकर अभिमन्यु मारे गये। इसपर अर्जुनने यह प्रतिज्ञा की कि कल सूर्य-अस्त होनेसे पहले-पहले जयद्रथको न मार दूँगा तो मैं अग्निमें प्रवेश करके प्राण त्याग कर दूँगा। कौरवपक्षीय वीरोंने जयद्रथको बचानेकी बहुत चेष्टा की; परन्तु भगवान

रहे थे या सारा जगत् ? यदि सारा जगत् नहीं देख रहा था तो सबके हर्षित होनेकी, अनुराग करनेकी और राक्षसोंके भागनेकी एवं सिद्धोंके नमस्कार करनेकी बात अर्जुनने कैसे कही ?

उत्तर-भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टिसे केवल अर्जुन ही देख रहे थे, सारा जगत् नहीं। जगत्‌का हर्षित और अनुरक्त होना, राक्षसोंका डरकर भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब उस विराट् रूपके ही अङ्ग हैं। अभिप्राय यह है कि यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट्‌रूपका ही है, बाहरी जगत्‌का नहीं। उनको भगवान्‌का जो विराट् रूप दीखता था, उसीके अंदर ये सब दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे। इसीसे अर्जुनने ऐसा कहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जो 'स्थाने' पदका प्रयोग करके सिद्धसमुदायोंका नमस्कार आदि करना उचित बतलाया गया था, अब चार श्लोकोंमें भगवान्‌के प्रभावका वर्णन करके उसी बातको सिद्ध करते हुए अर्जुनके बार-बार नमस्कार करनेका भाव दिखलाते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये ये कैसे नमस्कार न करें; **क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥ ३७ ॥**

प्रश्न—'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके अर्जुन नमस्कार आदि क्रियाओंका औचित्य सिद्ध कर रहे हैं। अभिप्राय यह है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी सीमा नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्‌के एकमात्र परमाधार हैं। यह सारा जगत् आपमें ही स्थित है तथा आप इसमें व्याप्त हैं। अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है।

प्रश्न—'गरीयसे' और 'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे' का क्या भाव है ?

उत्तर—इन दोनों पदोंका प्रयोग भी नमस्कार आदिका औचित्य सिद्ध करनेके उद्देश्यसे ही किया गया है। अभिप्राय यह है कि आप सबसे बड़े और श्रेष्ठतम हैं; जगत्‌की तो बात ही क्या है, समस्त जगत्‌की रचना करनेवाले ब्रह्माके भी आदि रचयिता आप ही हैं। अतएव सबके परम पूज्य और परम श्रेष्ठ होनेके कारण इन सबका आपको नमस्कारादि करना उचित ही है।

प्रश्न—जो 'सत्', 'असत्' और उससे परे 'अक्षर' है—वह आप ही हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रको 'असत्' कहते हैं; इन्हींको सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। इनसे परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है। अर्जुन अपने नमस्कारादिके औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि यह सब आपका ही स्वरूप है। अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आश्रय और **जाननेवाले तथा जानने** योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है ॥ ३८ ॥

प्रश्न—आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌की स्तुति करते हुए अर्जुनने यह बतलाया है कि आप समस्त देवोंके भी आदिदेव हैं और सदासे और सदा ही रहनेवाले सनातन नित्य पुरुष परमात्मा हैं।

प्रश्न—आप इस जगत्‌के परम आश्रय हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह सारा जगत् प्रलयकालमें आपमें ही लीन होता है और सदा आपके ही किसी एक अंशमें रहता है; इसलिये आप ही इसके परम आश्रय हैं।

प्रश्न—'वेत्ता' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्‌को यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है।

प्रश्न—'वेद्यम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'वेद्यम्' पदसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्यजन्मका परम उद्देश्य है, तेरहवें अध्यायमें बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं।

प्रश्न—'परम्' विशेषणके सहित 'धाम' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता; वह साक्षात् परम धाम आप ही हैं।

प्रश्न—'अनन्तरूप' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसके स्वरूप अनन्त अर्थात् असंख्य हों, उसे 'अनन्तरूप' कहते हैं। अतएव इस नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके रूप असीम और अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता।

प्रश्न—यह समस्त जगत् आपसे व्याप्त है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं; इसका कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो !! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥ ३९ ॥

प्रश्न—वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा आप ही हैं—यह कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिनके नाम मैंने गिनाये हैं, इनके सहित जितने भी नमस्कार करने योग्य देवता हैं—वे सब आपके ही स्वरूप हैं। अतः आप ही सब प्रकारसे सबके द्वारा नमस्कार करनेके योग्य हैं।

प्रश्न—आप 'प्रपितामह' अर्थात् ब्रह्माके भी पिता हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सप्तर्षि आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पितामह हैं और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इसलिये आप सबके प्रपितामह हैं। इसलिये भी आपको नमस्कार करना सर्वथा उचित ही है।

प्रश्न—'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि अर्जुन भगवान्‌के प्रति सम्मान और अपने भयके कारण इतने नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उन्हें नमस्कार ही करना चाहते हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार । हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो । क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

प्रश्न—'सर्व' सम्बोधनका प्रयोग करके आगे-पीछे और सब ओरसे नमस्कार करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं; इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ। क्योंकि ऐसा कोई स्थान है ही नहीं, जहाँ आप न हों । अतएव सर्वत्र स्थित आपको मैं सब ओरसे प्रणाम करता हूँ ।

प्रश्न—'अमितविक्रमः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इस विशेषणका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि साधारण मनुष्योंकी भाँति आपका विक्रम परिमित नहीं है, आप अपरिमित पराक्रमशाली हैं। अर्थात् आप जिस प्रकारसे शस्त्रादिके प्रयोगकी लीला कर सकते हैं, वैसे प्रयोगका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता ।

प्रश्न—आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वरूप हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुन पहले 'सर्व' नामसे भगवान्‌को सम्बोधित कर चुके हैं । अब इस कथनसे उनकी सर्वताको सिद्ध करते हैं । अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है । विश्वमें क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों । अतएव सब कुछ आप ही हैं। वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्‌के गुण, रहस्य और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रिया द्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये दो श्लोकोंमें भगवान्‌से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है; और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ ॥ ४१-४२ ॥

प्रश्न—'इदम्' विशेषणके सहित 'महिमानम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—विराट्स्वरूपका दर्शन करते समय अर्जुनने जो भगवान्‌के अतुलनीय तथा अप्रमेय ऐश्वर्य, गौरव, गुण और प्रभावको प्रत्यक्ष देखा—उसीको लक्ष्य करके 'महिमानम्' पदके साथ 'इदम्' विशेषण दिया गया है ।

प्रश्न—'मया' के साथ 'अजानता' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'अजानता' पद यहाँ हेतुगर्भ विशेषण है। 'मया' के साथ इसका प्रयोग करनेका यह अभिप्राय है कि आपका जो माहात्म्य मैंने अभी प्रत्यक्ष देखा है, उसे यथार्थ न जाननेके कारण ही मैंने आपके साथ अनुचित व्यवहार किया है ।

अतएव अनजानमें किये हुए मेरे अपराधोंको आप अवश्य ही क्षमा कर दें।

प्रश्न—'सखा इति मत्वा', 'प्रणयेन' और 'प्रमादात्' इन पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रक्खा था। और इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्वका खयाल नहीं रक्खा। अतः प्रेम या प्रमादसे मेरे द्वारा निश्चय ही बड़ी भूल हुई। बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया। अब आप इसके लिये अपनी दयालुतासे मुझको क्षमा प्रदान कीजिये।

प्रश्न—'प्रसभम्' पदका प्रयोग करके 'हे कृष्ण' 'हे यादव' 'हे सखे' इन पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन प्रेम या प्रमादवश जिन अपराधोंका अपने द्वारा होना मानते हैं, यहाँ इन पदोंका प्रयोग करके वे उन्हींका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वे कहते हैं कि 'प्रभो! कहाँ आप और कहाँ मैं। मैं इतना मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको मैं अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आदरसूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा बिना सोचे-समझे 'कृष्ण' 'यादव' और 'सखे' आदि कहकर आपको तिरस्कारपूर्वक पुकारता रहा। मेरे इन अपराधोंको आप क्षमा कीजिये।'

प्रश्न—'अच्युत' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका कभी पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं। यहाँ भगवान्‌को 'अच्युत' नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह भाव दिखला रहे हैं कि मैंने अपने व्यवहार-बर्तावद्वारा आपका जो अपमान किया है, अवश्य ही यह मेरा बड़ा अपराध है; किन्तु भगवन्! मेरे ऐसे व्यवहारोंसे वस्तुतः आपकी कोई हानि नहीं हो सकती। संसारमें ऐसी कोई भी क्रिया नहीं हो सकती, जो आपको अपनी महिमासे जरा भी डिगा सके। किसीकी सामर्थ्य नहीं, जो आपका कोई अपमान कर सके। क्योंकि आप सदा ही अच्युत हैं।

प्रश्न—'यत्' और 'च' के प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें अर्जुनने जिन अपराधोंका स्पष्टीकरण किया है, इस श्लोकमें वे उनसे भिन्न अपने व्यवहारद्वारा होनेवाले दूसरे अपराधोंका वर्णन कर रहे हैं—यह भाव दिखलानेके लिये पुनः 'यत्' का और पिछले श्लोकमें वर्णित अपराधोंके साथ इस श्लोकमें बतलाये हुए समस्त अपराधोंका समाहार करनेके लिये 'च' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'अवहासार्थम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—प्रेम, प्रमाद और विनोद—इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है। किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी। इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद' इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं। यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं।

प्रश्न—'विहारशय्यासनभोजनेषु', 'एकः' और 'तत्समक्षम्' इन पदोंका प्रयोग करके 'असत्कृतोऽसि' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इनके द्वारा अर्जुन उन अवसरोंका वर्णन कर रहे हैं; जिनमें वे अपने द्वारा भगवान्‌का अपमान होना मानते हैं। वे कहते हैं कि एक साथ चलते-फिरते, बिछौनेपर सोते, ऊँचे-नीचे या बराबरीके आसनोंपर बैठते और खाते-पीते समय मेरे द्वारा आपका जो बार-बार अनादर किया गया है*

* श्रीमद्भागवतमें अर्जुनके वचन हैं—

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादिष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥
(१।१५।१९)

भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, बातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा-उनका ऐसा स्व

—फिर वह चाहे एकान्तमें किया गया हो या सब लोगोंके सामने—मैं अब उसको बड़ा अपराध मानता हूँ और ऐसे प्रत्येक अपराधके लिये आपसे क्षमा चाहता हूँ।

प्रश्न—'तत्' पद किसका वाचक है तथा 'त्वाम्' के साथ 'अप्रमेयम्' विशेषण देकर 'क्षामये' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'तत्' पद यहाँ इकतालीसवें और बयालीसवें श्लोकोंमें जिन अपराधोंका अर्जुनने वर्णन किया है, वैसे समस्त अपराधोंका वाचक है; तथा 'त्वाम्' पदके साथ 'अप्रमेयम्' विशेषण देकर 'क्षामये' क्रियाका प्रयोग करके अर्जुनने भगवान्से उन समस्त अपराधोंको क्षमा करनेके लिये प्रार्थना की है। अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है। उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता। किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है। यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं—जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था; और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ। अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है। परन्तु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भली-भाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं। मैंने जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ; और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करके अब दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्के प्रभावका वर्णन करते हुए अपराध क्षमा करनेकी योग्यताका प्रतिपादन करके भगवान्से प्रसन्न होनेके लिये पुनः प्रार्थना करते हैं—

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर जगत्के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं, हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥ ४३ ॥

प्रश्न—आप इस चराचर जगत्के पिता, बड़े-से-बड़े गुरु और पूज्य हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं—'भगवन्! यह सारा जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता, महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं—उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है; और वे ही आपके नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं। परन्तु हे प्रभो! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है। अतएव हे सर्वेश्वर! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं। समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्यवान् समझते हैं। अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूजनीय आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा करना आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है।

प्रश्न—'अप्रतिमप्रभाव' सम्बोधनके साथ 'तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है तो फिर अधिक कैसे हो सकता है' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसके प्रभावकी कोई तुलना न हो, उसे

था कि मैं कभी-कभी 'हे मित्र! तुम बड़े सच बोलनेवाले हो!' ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था; परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त अपराधोंको वैसे ही सहते रहते थे, जैसे मित्र अपने मित्रके अपराधको या पिता अपने पुत्रके अपराधको सहा करता है।'

'अप्रतिमप्रभाव' कहते हैं। इसका प्रयोग करके आगे कहे हुए वाक्यसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि विश्व-ब्रह्माण्डमें ऐसा कोई भी नहीं है, जिसकी आपके अचिन्त्यानन्त महान् गुणोंसे, ऐश्वर्यसे और महत्त्वसे तुलना हो सके। आपके समान तो बस, आप ही हैं। और जब आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, तब आपसे बढ़कर कोई है—ऐसी तो कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसी स्थितिमें, हे दयामय! आप यदि मेरे अपराधोंको क्षमा न करेंगे तो कौन करेगा?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

अतएव हे प्रभो! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं॥ ४४॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जो भगवान्‌के महामहिम गुणोंका वर्णन किया गया है, उन गुणोंको भगवान्‌के प्रसन्न होनेमें हेतु बतलानेके लिये 'तस्मात्' पदका प्रयोग किया है। अभिप्राय यह है कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ आपका स्वभाव ही है। इसीलिये मैं साहस करके आपसे विनयपूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न होइये।

प्रश्न—'त्वाम्' पदके साथ 'ईशम्' और 'ईड्यम्' विशेषण देकर 'मैं शरीरको चरणोंमें निवेदित करके, प्रणाम करके, आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ' इस कथनसे क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो! इस समस्त जगत्‌का नियमन करनेवाले—यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप सबके एकमात्र महेश्वर हैं। और आपके गुण-गौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं। मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ। मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ? मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा, वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा। अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुटाकर—समस्त अङ्गोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ। आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये।

प्रश्न—पिता-पुत्रकी, मित्र-मित्रकी और पति-पत्नीकी उपमा देकर अपराध क्षमा करनेकी योग्यता सिद्ध करनेका क्या भाव है?

उत्तर—इकतालीसवें और बयालीसवें श्लोकोंमें बतलाया जा चुका है कि प्रमाद, विनोद और प्रेम—इन तीन कारणोंसे मनुष्योंद्वारा किसीका अपराध बनता है। यहाँ अर्जुन उपर्युक्त तीनों उपमा देकर भगवान्‌से यह प्रार्थना करते हैं कि तीनों ही हेतुओंसे बने हुए मेरे अपराध आपको सहन करने चाहिये। अभिप्राय यह है कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है—वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्‌से चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूपको ही मुझे दिखलाइये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

प्रश्न—'अदृष्टपूर्वम्' का क्या भाव है और उसे देखकर हर्षित होनेकी और साथ ही भयसे व्याकुल होनेकी बात कह-कर अर्जुनने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जो रूप पहले कभी न देखा हुआ हो उस आश्चर्यजनक रूपको 'अदृष्टपूर्व' कहते हैं । अतएव यहाँ अर्जुनके कथनका भाव यह है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो ! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वरकी मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं; परन्तु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ ।

अर्जुनका यह कथन सहेतुक है । अभिप्राय यह है कि इसीलिये मैं आपसे विनीत प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने इस रूपको शीघ्र संवरण कर लीजिये ।

प्रश्न—'एव' पदके सहित 'तत्' पदका प्रयोग करके देवरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तत्' पद परोक्षवाची है । साथ ही यह उस वस्तुका भी वाचक है, जो पहले देखी हुई हो किन्तु अब प्रत्यक्ष न हो; तथा 'एव' पद उससे भिन्न रूपका निराकरण करता है । अतएव अर्जुनके कथनका अभिप्राय यह होता है कि आपका जो वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णुरूप है, मुझको उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये । केवल 'तत्' का प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी कि भगवान्‌का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखलानेके लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किन्तु रूपके साथ 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न देवसम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है ।

प्रश्न—'देवेश' और 'जगन्निवास' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो देवताओंके भी स्वामी हों, उन्हें 'देवेश' कहते हैं तथा जो जगत्‌के आधार और सर्वव्यापी हों उन्हें 'जगन्निवास' कहते हैं । इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त देवोंके स्वामी साक्षात् सर्वाधार सर्वव्यापी परमेश्वर हैं, अतः आप ही उस अपने देवरूपको प्रकट कर सकते हैं ।

प्रश्न—'प्रसीद' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रसीद' पदसे अर्जुन भगवान्‌को प्रसन्न होनेके लिये कहते हैं । अभिप्राय यह है कि आप शीघ्र ही इस विकराल रूपको समेटकर मुझे अपना चतुर्भुज स्वरूप दिखलानेकी कृपा कीजिये ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इस-लिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये ॥ ४६ ॥

प्रश्न—'तथा' के साथ 'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महाभारत-युद्धमें भगवान्ने शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे। परन्तु इस समय अर्जुन भगवान्के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं; इसी अभिप्रायसे 'तथा' के साथ 'एव' पदका प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—'तेन एव' पदोंसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें आये हुए 'तत् देवरूपम् एव' को लक्ष्य करके ही अर्जुन कहते हैं कि आप वही चतुर्भुजरूप हो जाइये। यहाँ 'एव' पदसे यह भी ध्वनित होता है कि अर्जुन प्रायः सदा भगवान्के द्विभुज रूपका ही दर्शन करते थे, परन्तु यहाँ 'चतुर्भुज रूप' को ही देखना चाहते हैं।

प्रश्न—चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णके लिये कहा गया है या देवरूप कहनेसे श्रीविष्णुके लिये ?

उत्तर—श्रीविष्णुके लिये कहा गया है, इसमें निम्नलिखित कई हेतु हैं—

(१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे। वरं 'चतुर्भुज' कहना भी निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे इक्यावनवें श्लोकमें आये हुए 'मानुषरूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे श्रीविष्णुका ही कथन किया गया है।

(३) आगे पचासवें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है।

(४) आगे बावनवें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं। यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं। अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं।

(५) विराट् स्वरूपकी महिमा अड़तालीसवें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर तिरपनवें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्तिदोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया; और उसीकी महिमामें तिरपनवाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके चौबीसवें और तीसवें श्लोकमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

प्रश्न—'सहस्रबाहो' और 'विश्वमूर्ते' सम्बोधन देकर चतुर्भुज होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनको भगवान् जो हजारों हाथोंवाले विराट्-स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपको समेटकर चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन इन नामोंसे सम्बोधन करके भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं।

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभताका वर्णन करते हुए उनचासवें श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्‌ ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्‌॥ ४७ ॥

श्रीभगवान्‌ बोले—हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट्‌ रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था॥ ४७ ॥

प्रश्न—'मया' के साथ 'प्रसन्नेन' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारी भक्ति और प्रार्थनासे प्रसन्न होकर तुमपर दया करके अपना गुण, प्रभाव और तत्त्व समझानेके लिये मैंने तुमको यह अलौकिक रूप दिखलाया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हें भय, दुःख और मोह होनेका कोई कारण ही नहीं था; फिर तुम इस प्रकार भयसे व्याकुल क्यों हो रहे हो?

प्रश्न—'आत्मयोगात्‌' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट्‌ रूपके दर्शन सब समय और सबको नहीं हो सकते। जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन कराता हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते हैं, जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो; दूसरेको नहीं। अतएव इस रूपका दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात है।

प्रश्न—'रूपम्‌' के साथ 'इदम्‌', 'परम्‌', 'तेजोमयम्‌', 'आद्यम्‌', 'अनन्तम्‌' और 'विश्वम्‌' विशेषण देनेका क्या भाव है?

उत्तर—इन विशेषणोंके प्रयोगसे भगवान्‌ अपने अलौकिक और अद्भुत विराट्‌स्वरूपका महत्त्व अर्जुनको समझा रहे हैं। वे कहते हैं कि मेरा यह रूप अत्यन्त उत्कृष्ट और दिव्य है, असीम और दिव्य प्रकाशका पुञ्ज है, सबको उत्पन्न करनेवाला सबका आदि है, असीम रूपसे विस्तृत है, किसी ओरसे भी इसका कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। तुम जो कुछ देख रहे हो, यह पूर्ण नहीं है। यह तो मेरे उस महान्‌ रूपका अंशमात्र है।

प्रश्न—मेरा यह रूप 'तेरे सिवा दूसरेके द्वारा पहले नहीं देखा गया' भगवान्‌ने इस प्रकार कैसे कहा, जब कि वे इससे पहले यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें अपने विराट्‌ स्वरूपके दर्शन करा चुके हैं?

उत्तर—यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें जिन विराट्‌ रूपोंके दर्शन कराये थे, उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट्‌ रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्‌ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्‌के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट्‌ रूप भगवान्‌ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था। अतएव भगवान्‌के कथनमें किसी प्रकारकी भी असङ्गति नहीं है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८ ॥

हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ॥ ४८ ॥

प्रश्न—'वेदयज्ञाध्ययनैः', 'दानैः', 'क्रियाभिः' और 'उग्रैः तपोभिः'—इन पदोंका एवं इनसे भगवान्‌के विराट्‌ रूपका देखा जाना शक्य नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अङ्ग-उपाङ्गोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है। यज्ञक्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवा-

में रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञका अध्ययन' है ।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है ।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं ।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन, अथवा शास्त्रविधिके अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्रतप' है।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट् स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है । इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है ।

प्रश्न—विराट् रूपके दर्शनको अर्जुनके अतिरिक्त दूसरोंके लिये अशक्य बतलाते समय 'नृलोके' पदका प्रयोग करनेका क्या भाव है ? क्या दूसरे लोकोंमें इसके दर्शन अशक्य नहीं हैं ?

उत्तर—वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्यलोकमें ही है । और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है । अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोग-स्थान ही हैं । मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई मेरे इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है ?

प्रश्न—'कुरुप्रवीर' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुम कौरवोंमें श्रेष्ठ वीरपुरुष हो, तुम्हारे-जैसे वीरपुरुषके लिये इस प्रकार भयभीत होना शोभा नहीं दे सकता; इसलिये भी तुम्हें भय नहीं करना चाहिये ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढभाव भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥ ४९ ॥

प्रश्न—मेरे इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता और मूढभाव नहीं होना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने जो प्रसन्न होकर तुम्हें इस परम दुर्लभ विराट् स्वरूपके दर्शन कराये हैं, इससे तुम्हारे अंदर व्याकुलता और मूढभावका होना कदापि उचित न था । तथापि जब इसे देखकर तुम्हें व्यथा तथा मोह हो रहा है और तुम चाहते हो कि मैं अब इस स्वरूपको संवरण कर लूँ, तब तुम्हारे इच्छानुसार तुम्हें सुखी करनेके लिये अब मैं इस रूपको तुम्हारे सामनेसे छिपा लेता हूँ; तुम मोहित और डरके मारे व्यथित न होओ ।

प्रश्न—'त्वम्'के साथ 'व्यपेतभीः' और 'प्रीतमनाः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'त्वम्'के साथ 'व्यपेतभीः' और 'प्रीतमनाः' विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जिस रूपसे तुम्हें भय और व्याकुलता हो रही थी, उसको संवर-

करके अब मैं तुम्हारे इच्छित चतुर्भुज रूपमें प्रकट होता हूँ; इसलिये तुम भयरहित और प्रसन्न-मन हो जाओ।

प्रश्न—'रूपम्'के साथ 'तत्' और 'इदम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है? तथा 'पुनः' पदका प्रयोग करके उस रूपको देखनेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—'तत्' और 'इदम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि जिस चतुर्भुज देवरूपके दर्शन मैंने तुमको पहले कराये थे एवं अभी जिसके दर्शनके लिये तुम प्रार्थना कर रहे हो, अब तुम उसी रूपको देखो; यह वही रूप अब तुम्हारे सामने है। अभिप्राय यह है कि अब तुम्हारे सामनेसे वह विश्वरूप हट गया है और उसके बदले चतुर्भुजरूप प्रकट हो गया है, अतएव अब तुम निर्भय होकर प्रसन्न मनसे मेरे इस चतुर्भुजरूपके दर्शन करो।

'पुनः' पदके प्रयोगसे यहाँ यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌ने अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन पहले भी कराये थे, पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें की हुई अर्जुनकी प्रार्थनामें 'तत् एव' और 'तेन एव' पदोंके प्रयोगसे भी यही भाव स्पष्ट होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार चतुर्भुजरूपका दर्शन करनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देकर भगवान्‌ने क्या किया, अब सञ्जय धृतराष्ट्रसे वही कहते हैं—

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

सञ्जय बोले—वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया ॥ ५० ॥

प्रश्न—'वासुदेवः' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं। इसलिये उनका नाम वासुदेव है।

प्रश्न—'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण लगानेका और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'स्वकं रूपम्'का अर्थ है अपना निजी रूप। वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है, किन्तु यहाँ 'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये। क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलानेकी तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती। और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्‌ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्‌का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों-का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते। अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्‌का दिव्य चतुर्भुज निजीरूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्‌ने उनको दिखलाया।

प्रश्न—'महात्मा' पदका और 'सौम्यवपुः' होकर भयभीत अर्जुनको धीरज दिया, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो, उन्हें महात्मा कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मरूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने 'सौम्यवपुः' अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके, चतुर्भुज रूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोले–हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ॥ ५१ ॥

प्रश्न–'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–भगवान्‌का जो मानुषरूप था वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था; तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्‌के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है–इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न–'सचेताः संवृत्तः' और 'प्रकृतिं गतः' का क्या भाव है ?

उत्तर–भगवान्‌के विराट् रूपको देखकर अर्जुनके मनमें भय, व्यथा और मोह आदि विकार उत्पन्न हो गये थे—उन सबका अभाव इन पदोंके प्रयोगसे दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि आपके इस श्यामसुन्दर मधुर मानुषरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ, अर्थात् मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ । अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे–उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ ।

सम्बन्ध–इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले–मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमनेदेखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं । देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं ॥ ५२ ॥

प्रश्न–'रूपम्' के साथ 'सुदुर्दर्शम्' और 'इदम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है । तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करनेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुज रूपका सङ्केत किया गया है । अभिप्राय यह है कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो मेरा अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण [illegible] हो जाता है ।

प्रश्न–देवतालोग भी सदा इस रूपके [illegible] इच्छा रखते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है [illegible] वाक्यमें 'अपि' पदके प्रयोगका [illegible]

उत्तर–इस कथनसे [illegible] दर्शनकी दुर्लभता और [illegible] 'अपि' पदके [illegible] [illegible]

नाहं वेदैर्न तपसा न [illegible]
शक्य एवंविधो द्रष्टुं [illegible]

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥

प्रश्न—नवम अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे। तथा सतरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं। किन्तु इस श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुज रूपके दर्शन न तो वेदके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही। अतएव इस विरोधका समाधान क्या है ?

उत्तर—इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है, क्योंकि कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना अनन्य भक्तिका एक अङ्ग है। पचपनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्' (मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और चौवनवें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भक्तिके अङ्ग होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु हैं—सकामभावसे किये जानेपर नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त यज्ञादि क्रियाएँ भगवान्‌का दर्शन करानेमें स्वभावसे समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के दर्शन तो प्रेमपूर्वक भगवान्‌के शरण होकर निष्कामभावसे कर्म करनेपर भगवत्कृपासे ही होते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'एवंविधः' और 'मां यथा दृष्टवानसि' के प्रयोगसे यदि यह बात मान ली जाय कि भगवान्‌ने जो अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, उसीके विषयमें 'मैं वेदोंद्वारा नहीं देखा जा सकता' आदि बातें भगवान्‌ने कही हैं, तो क्या हानि है ?

उत्तर—विश्वरूपकी महिमामें प्रायः इन्हीं पदोंका प्रयोग अड़तालीसवें श्लोकमें हो चुका है; इस श्लोकको पुनः उसी विश्वरूपकी महिमा मान लेनेसे पुनरुक्तिका दोष आता है। इसके अतिरिक्त, उस विश्वरूपके लिये तो भगवान्‌ने कहा है कि यह तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे किसीके द्वारा नहीं देखा जा सकता; और इसके देखनेके लिये अगले श्लोकमें उपाय भी बतलाते हैं। इसलिये जैसा माना गया है, वही ठीक है।

सम्बन्ध—यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

परन्तु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

प्रश्न—जिसके द्वारा भगवान्‌का दिव्य चतुर्भुज रूप देखा जा सकता है, जाना जा सकता है और उसमें प्रवेश किया जा सकता है—वह अनन्य भक्ति क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाना तथा अपने मन, इन्द्रिय और शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्‌का समझकर भगवान्‌के लिये भगवान्‌की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है, इसका वर्णन अगले श्लोकमें अनन्य भक्तके लक्षणोंमें विस्तारपूर्वक किया गया है।

प्रश्न—सांख्ययोगके द्वारा भी तो परमात्माको प्राप्त होना बतलाया गया है, फिर यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवान्‌के देखे जाने आदिमें हेतु क्योंकर बतलाया गया ?

उत्तर—सांख्ययोगके द्वारा निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है; और वह सर्वथा सत्य है। परन्तु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा

साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् वाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्‌के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

सम्बन्ध—अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्यभक्तिका स्वरूप जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ॥५५॥

प्रश्न—'मत्कर्मकृत्' का क्या भाव है?

उत्तर—जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, अपनेको केवल निमित्तमात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्‌की आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करनेवाला है।

प्रश्न—'मत्परमः' का क्या भाव है?

उत्तर—जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेने योग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्‌के परायण है।

प्रश्न—'मद्भक्तः' का क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्‌में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती; और जो भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्‌का भक्त है।

प्रश्न—'सङ्गवर्जितः' का क्या भाव है?

उत्तर—शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं—उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्‌को छोड़कर जिसका किसीमें भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है।

प्रश्न—'सर्वभूतेषु निर्वैरः' का क्या भाव है?

उत्तर—समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझने, अथवा सबमें एकमात्र भगवान्‌को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता; तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है।

प्रश्न—'यः' और 'सः' किनके वाचक हैं और 'वह मुझको ही प्राप्त होता है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'यः' और 'सः' पद उपर्युक्त लक्षणोंवाले भगवान्‌के अनन्य भक्तके वाचक हैं और वह मुझको ही प्राप्त होता है—इस कथनका भाव चौवनवें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त जो भगवान्‌का अनन्यभक्त है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

द्वादशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस बारहवें अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनोंसहित भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं। इसका उपक्रम और उपसंहार भगवान्‌की भक्तिमें ही हुआ है। केवल तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, वह भी भगवद्भक्ति और ज्ञानयोगकी परस्पर तुलना करनेके लिये ही है; अतएव इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें सगुण-साकार और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है, यह जाननेके लिये अर्जुनका प्रश्न है। दूसरेमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने सगुण-साकारके उपासकोंको युक्ततम (श्रेष्ठ) बतलाया है। तीसरे-चौथेमें निर्गुण-निराकार परमात्माके विशेषणोंका वर्णन करके उसकी उपासनाका फल भी भगवत्प्राप्ति बतलाया है और पाँचवेंमें देहाभिमानी मनुष्योंके लिये निराकारकी उपासना कठिन बतलायी है। छठे और सातवेंमें भगवान्‌ने यह बतलाया है कि सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्यभावसे निरन्तर मुझ सगुण परमेश्वरका चिन्तन करनेवाले भक्तोंका उद्धार स्वयं मैं करता हूँ। आठवेंमें भगवान्‌ने अर्जुनको मन-बुद्धि अपनेमें अर्पण करनेके लिये आज्ञा दी है और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। तदनन्तर नवेंसे ग्यारहवेंतक उपर्युक्त साधन न कर सकनेपर अभ्यासयोगका साधन करनेके लिये, उसमें भी असमर्थ होनेपर भगवदर्थ कर्म करनेके लिये और उसमें भी असमर्थ होनेपर समस्त कर्मोंका फलत्याग करनेके लिये क्रमशः कहा है। बारहवेंमें कर्मफलत्यागको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसका फल तत्काल ही शान्तिकी प्राप्ति होना बतलाया है। तत्पश्चात् तेरहवेंसे उन्नीसवेंतक भगवान्‌ने अपने प्रिय ज्ञानी महात्मा भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं और बीसवेंमें उन ज्ञानी महात्मा भक्तोंके लक्षणोंको आदर्श मानकर श्रद्धापूर्वक वैसा ही साधन करनेवाले भक्तोंको अत्यन्त प्रिय बतलाया है।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्यायतक भगवान्‌ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण-साकार परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण-साकार भगवान्‌की उपासनाका महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें सतरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उन्तीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुण-निराकारकी उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्‌की अनन्य भक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार स्वरूप भगवान्‌के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है, इसी जिज्ञासाके अनुसार अर्जुन पूछ रहे हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं—उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं? ॥ १ ॥

प्रश्न—'एवम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एवम्' पदसे अर्जुनने पिछले अध्यायके पचपनवें श्लोकमें बतलाये हुए अनन्य भक्तिके प्रकारका निर्देश किया है ।

प्रश्न—'त्वाम्' पद यहाँ किसका वाचक है और निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उसकी श्रेष्ठ उपासना करना क्या है ?

उत्तर—'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्‌ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्‌का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम-भावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है ।

प्रश्न—'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है । यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्‌के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्‌ने विधान भी नहीं किया है ।

प्रश्न—उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनने यह पूछा है कि यद्यपि उपर्युक्त प्रकारसे उपासना करनेवाले दोनों ही श्रेष्ठ हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है, तथापि उन दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर दोनों प्रकारके उपासकोंमेंसे कौन-से उत्तम हैं—यह बतलाइये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर उसके उत्तरमें भगवान् सगुण-साकारके उपासकोंको उत्तम बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—भगवान्‌में मनको एकाग्र करके निरन्तर उन्हींके भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी उपासना करना क्या है ?

उत्तर—गोपियोंकी भाँति* समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्‌में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनकी उपासना करना है ।

* या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ४४ [illegible])

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको [illegible] झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय [illegible] चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें [illegible] रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपरमणियाँ धन्य हैं ।'

उत्तर—विरोध नहीं है, क्योंकि नवें अध्यायमें 'ज्ञान' और 'विज्ञान' शब्द सगुण भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं; अतः वहाँ सगुण निराकारकी उपासनाको ही करनेमें सुगम बतलाया है। वहाँ चौथे श्लोकमें आया हुआ 'अव्यक्त' शब्द सगुण-निराकारका वाचक है, इसीलिये उसे समस्त भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला, सबमें व्याप्त और वास्तवमें असङ्ग होते हुए भी सबकी उत्पत्ति आदि करनेवाला बतलाया है।

प्रश्न—छठे अध्यायके चौबीसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका प्रकार बतलाकर अट्ठाईसवें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, उसकी संगति कैसे बैठेगी?

उत्तर—वहाँका वर्णन, जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियोंके लिये नहीं। अतः उसको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है।

प्रश्न—क्या निर्गुण-उपासकोंको ही साधन-कालमें अधिक परिश्रम होता है, सगुण-उपासकोंको नहीं होता?

उत्तर—सगुण उपासकोंको नहीं होता। क्योंकि एक तो सगुणकी उपासना सुगम है, दूसरे वे भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं; इसलिये स्वयं भगवान् उनकी सब प्रकारसे सहायता करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनको परिश्रम कैसे हो?

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासनासे देहाभिमानियोंके लिये परमात्माकी प्राप्ति कठिन बतलानेके उपरान्त अब दो श्लोकोंद्वारा सगुण परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरकी प्राप्ति शीघ्र और अनायास होनेकी बात कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं ॥ ६ ॥

प्रश्न—'तु' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तु' पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी अपेक्षा सगुण-उपासकोंकी विलक्षणता दिखलानेके लिये है।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌पर निर्भर होकर भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भय और निर्विकार रहना; उन दुःखोंको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्‌को ही परम प्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना—यही भगवान्‌के परायण होना है।

प्रश्न—सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना क्या है?

उत्तर—कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्‌की आज्ञा और संकेतके अनुसार कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना, और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; शास्त्रानुकूल प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण करना है।

प्रश्न—अनन्य भक्तियोग क्या है? और उसके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना क्या है?

उत्तर—एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्‌में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किञ्चित् अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं। और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर

भगवान्‌का चिन्तन करते हुए, जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ॥ ७॥

प्रश्न—'तेषाम्' पदके सहित 'मय्यावेशितचेतसाम्' पद किनका वाचक है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें मन-बुद्धिको सदाके लिये भगवान्‌में लगा देनेवाले जिन अनन्यप्रेमी सगुण-उपासकोंका वर्णन आया है, उन्हीं प्रेमी भक्तोंका वाचक यहाँ 'तेषाम्' के सहित 'मय्यावेशितचेतसाम्' पद है।

प्रश्न—'मृत्युरूप संसार-सागर' क्या है? और उससे भगवान्‌का उपर्युक्त भक्तको शीघ्र ही उद्धार कर देना क्या है?

उत्तर—इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके थपेड़ोंसे बचती हो। और जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म मृत्युरूपी तरङ्गें उठा करती हैं। समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा—इसकी गणना नहीं हो सकती। इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर जो भक्त निरन्तर भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर यहीं अपनी प्राप्ति करा देते हैं अथवा मरनेके बाद अपने परम धाममें ले जाते हैं—यहाँतक कि जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसारसमुद्रके उस पार अपने परम धाममें ले जाते हैं। यही भगवान्‌का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्व श्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया। इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ८॥

प्रश्न—बुद्धि और मनको भगवान्‌में लगाना किसे कहते हैं?

उत्तर—जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं—उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है। तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्‌में लगाना है।

इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेपर यदि मनुष्यको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर सब लोग भगवान्‌में मन-बुद्धि क्यों नहीं लगाते?

उत्तर—गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं होता और अज्ञान-जनित आसक्तिके कारण सांसारिक विषयोंका चिन्तन होता रहता है। संसारमें अधिकांश लोगोंकी यही स्थिति है, इसीसे सब लोग भगवान्‌में मन-बुद्धि नहीं लगाते।

प्रश्न—जिस अज्ञानजनित आसक्तिसे लोगोंमें सांसारिक भोगोंके चिन्तनकी बुरी आदत पड़ रही है, उसके छूटनेका क्या उपाय है?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जानने और माननेसे यह आदत छूट सकती है।

प्रश्न—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीलाके तत्त्व और रहस्य-का ज्ञान कैसे हो सकता है?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करनेसे उनका ज्ञान हो सकता है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि मैं उपर्युक्त प्रकारसे आपमें मन-बुद्धि न लगा सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ ९॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर॥ ९॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त जगत्‌के हितार्थ उपदेश कर रहे हैं। संसारमें सब साधकोंकी प्रकृति एक-सी नहीं होती, इसी कारण सबके लिये एक साधन उपयोगी नहीं हो सकता। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्योंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयुक्त होते हैं। अतएव भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें मन और बुद्धिके स्थिर स्थापन करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हो, तो तुम्हें अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा करनी चाहिये।

प्रश्न—अभ्यासयोग किसे कहते हैं और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिके लिये इच्छा करना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकार-की युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं। भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो—उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्व-साधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिः-स्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों—उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना।

(७) चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वासतथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये। साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सवेर हो सकती है। अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये। बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि इस प्रकार अभ्यासयोग भी मैं न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥ १० ॥

प्रश्न—यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि तुम्हारे लिये वस्तुतः मन लगाना या उपर्युक्त प्रकारसे 'अभ्यासयोग' के द्वारा मेरी प्राप्ति करना कोई कठिन बात नहीं है, तथापि यदि तुम अपनेको इसमें असमर्थ मानते हो तो कोई बात नहीं; मैं तुम्हें तीसरा उपाय बतलाता हूँ। स्वभाव-भेदसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयोगी हुआ करते हैं।

प्रश्न—'मत्कर्म' शब्द कौन-से कर्मोंका वाचक है और उनके परायण होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'मत्कर्म' शब्द उन कर्मोंका वाचक है जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं; तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है।

प्रश्न—मेरे लिये कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हो जायगा—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्में मन-बुद्धि लगानेपर यदि मनुष्यको निश्चय ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर सब लोग भगवान्में मन-बुद्धि क्यों नहीं लगाते?

उत्तर—गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भगवान्में श्रद्धा-प्रेम नहीं होता और अज्ञान-जनित आसक्तिके कारण सांसारिक विषयोंका चिन्तन होता रहता है। संसारमें अधिकांश लोगोंकी यही स्थिति है, इसीसे सब लोग भगवान्में मन-बुद्धि नहीं लगाते।

प्रश्न—जिस अज्ञानजनित आसक्तिसे लोगोंमें सांसारिक भोगोंके चिन्तनकी बुरी आदत पड़ रही है, उसके छूटनेका क्या उपाय है?

उत्तर—भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जानने और माननेसे यह आदत छूट सकती है।

प्रश्न—भगवान्के गुण, प्रभाव, लीलाके तत्त्व और रहस्य-का ज्ञान कैसे हो सकता है?

उत्तर—भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करनेसे उनका ज्ञान हो सकता है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि मैं उपर्युक्त प्रकारसे आपमें मन-बुद्धि न लगा सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ ९॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर॥ ९॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त जगत्के हितार्थ उपदेश कर रहे हैं। संसारमें सब साधकोंकी प्रकृति एक-सी नहीं होती, इसी कारण सबके लिये एक साधन उपयोगी नहीं हो सकता। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्योंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयुक्त होते हैं। अतएव भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें मन और बुद्धिके स्थिर स्थापन करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हो, तो तुम्हें अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा करनी चाहिये।

प्रश्न—अभ्यासयोग किसे कहते हैं और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिके लिये इच्छा करना क्या है?

उत्तर—भगवान्की प्राप्तिके लिये भगवान्में नाना प्रकार-की युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं। भगवान्के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो—उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्-को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है।

भगवान्में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्व-साधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिः-स्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों—उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना।

(७) चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वासतथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये। साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सवेर हो सकती है। अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये। बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि इस प्रकार अभ्यासयोग भी मैं न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा॥ १०॥

प्रश्न—यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि तुम्हारे लिये वस्तुतः मन लगाना या उपर्युक्त प्रकारसे 'अभ्यासयोग' के द्वारा मेरी प्राप्ति करना कोई कठिन बात नहीं है, तथापि यदि तुम अपनेको इसमें असमर्थ मानते हो तो कोई बात नहीं; मैं तुम्हें तीसरा उपाय बतलाता हूँ। स्वभाव-भेदसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयोगी हुआ करते हैं।

प्रश्न—'मत्कर्म' शब्द कौन-से कर्मोंका वाचक है और उनके परायण होना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'मत्कर्म' शब्द उन कर्मोंका वाचक है जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजादिविषयक होते हैं; तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है।

प्रश्न—मेरे लिये कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हो जायगा—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेपर यदि मनुष्यको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर सब लोग भगवान्‌में मन-बुद्धि क्यों नहीं लगाते?

उत्तर—गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं होता और अज्ञान-जनित आसक्तिके कारण सांसारिक विषयोंका चिन्तन होता रहता है। संसारमें अधिकांश लोगोंकी यही स्थिति है, इसीसे सब लोग भगवान्‌में मन-बुद्धि नहीं लगाते।

प्रश्न—जिस अज्ञानजनित आसक्तिसे लोगोंमें सांसारिक भोगोंके चिन्तनकी बुरी आदत पड़ रही है, उसके छूटनेका क्या उपाय है?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जानने और माननेसे यह आदत छूट सकती है।

प्रश्न—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीलाके तत्त्व और रहस्य-का ज्ञान कैसे हो सकता है?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करनेसे उनका ज्ञान हो सकता है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि मैं उपर्युक्त प्रकारसे आपमें मन-बुद्धि न लगा सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ ९॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर॥ ९॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त जगत्‌के हितार्थ उपदेश कर रहे हैं। संसारमें सब साधकोंकी प्रकृति एक-सी नहीं होती, इसी कारण सबके लिये एक साधन उपयोगी नहीं हो सकता। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्योंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयुक्त होते हैं। अतएव भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें मन और बुद्धिके स्थिर स्थापन करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हो, तो तुम्हें अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा करनी चाहिये।

प्रश्न—अभ्यासयोग किसे कहते हैं और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिके लिये इच्छा करना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकार-की युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं। भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो—उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्व-साधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिः-स्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों—उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना ।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना ।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना ।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना ।

(७) चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना ।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वासतथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है । इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये । साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सबेर हो सकती है । अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये । बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि इस प्रकार अभ्यासयोग भी मैं न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये । इसपर कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥ १० ॥

प्रश्न—यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि तुम्हारे लिये वस्तुतः मन लगाना या उपर्युक्त प्रकारसे 'अभ्यासयोग' के द्वारा मेरी प्राप्ति करना कोई कठिन बात नहीं है, तथापि यदि तुम अपनेको इसमें असमर्थ मानते हो तो कोई बात नहीं; मैं तुम्हें तीसरा उपाय बतलाता हूँ । स्वभाव-भेदसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयोगी हुआ करते हैं ।

प्रश्न—'मत्कर्म' शब्द कौन-से कर्मोंका वाचक है और उनके परायण होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'मत्कर्म' शब्द उन कर्मोंका वाचक है जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं; तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता । ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है ।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है ।

प्रश्न—मेरे लिये कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हो जायगा—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है । जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ । अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है ।

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि उपर्युक्त प्रकारसे आपके लिये मैं कर्म भी न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर॥ ११॥

प्रश्न—यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधन करनेमें भी तू असमर्थ है—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वास्तवमें उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियुक्त कर्मयोगका साधन करना तुम्हारे लिये कठिन नहीं, सुगम है। तथापि यदि तुम उसे कठिन मानते हो तो मैं तुम्हें अब एक अन्य प्रकारका साधन बतलाता हूँ।

प्रश्न—'यतात्मवान्' किसको कहते हैं और अर्जुनको 'यतात्मवान्' होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; अतः जिसने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरपर विजय प्राप्त कर ली हो, उसे 'यतात्मवान्' कहते हैं। मन और इन्द्रिय आदि यदि वशमें नहीं होते तो वे मनुष्यको बलात्कारसे भोगोंमें फँसा देते हैं और ऐसा होनेपर समस्त कर्मोंके फलरूप भोगोंकी कामना और आसक्तिका त्याग नहीं हो सकता। अतएव 'सर्वकर्मफलत्याग' के साधनमें आत्मसंयमकी परम आवश्यकता समझकर यहाँ अर्जुनको 'यतात्मवान्' बननेके लिये कहा गया है।

प्रश्न—छठेसे लेकर दसवें श्लोकतक बतलाये हुए साधनोंमें 'यतात्मवान्' होनेके लिये न कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—छठे, सातवें और आठवें श्लोकोंमें अनन्य भक्तियोगके साधकोंका वर्णन है; वैसे अनन्यप्रेमी भक्तोंका संसारके भोगोंमें प्रेम न रहनेके कारण उनके मन, बुद्धि आदि स्वाभाविक ही संसारसे विरक्त रहकर भगवान्‌में लगे रहते हैं। इस कारण उन श्लोकोंमें यतात्मवान् होनेके लिये नहीं कहा गया।

नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारणसे वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है। और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्‌का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं। अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजनीय नहीं है। परन्तु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें न हों तो उनकी भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता। इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है।

प्रश्न—'सर्वकर्म' शब्द यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनका फलत्याग करना क्या है?

उत्तर—यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द है; उन कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है—उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही सर्वकर्मोंका फलत्याग करना है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं। भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही

सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसङ्ग ही कैसे आ सकता है ?

प्रश्न—भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्मफलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन फलभेदकी दृष्टिसे है अथवा एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम बतलानेके लिये है या अधिकारिभेदसे है ?

उत्तर—न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है; और न एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

प्रश्न—इन चारों साधनोंमेंसे कौन-सा साधन कैसे मनुष्यके लिये उपयोगी है ?

उत्तर—जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किन्तु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

और जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है तथा कर्मोंमें श्रद्धा और रुचि अधिक होनेके कारण जिसका मन नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमें भी नहीं लगता—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

प्रश्न—छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना—इन तीनों प्रकारके साधनोंमें क्या भेद है ? तीनोंका फल अलग-अलग है या एक ?

उत्तर—समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना और सब कर्मोंके फलका त्याग करना—ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं; और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। केवल साधकोंकी भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है। समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना और भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना—इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; सर्वकर्मफलत्यागमें केवल फल-त्यागकी प्रधानता है। यही इनका मुख्य भेद है।

सर्वकर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्‌के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है; मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्‌के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारके भावसे उस साधकका कर्मोंमें और उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी रागद्वेष नहीं रहता; उसे जो कुछ भी प्रारब्धानुसार सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्‌का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी

सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अतएव वह भगवान्‌को समस्त जगत्‌में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाहके समस्त कर्म तथा भगवान्‌की पूजा-सेवादिके कर्मोंमें लगा रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌की आज्ञानुसार और भगवान्‌की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (११।५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

केवल 'सर्वकर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करता हूँ। वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं, (२।४७ से ५१ तक) अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य है। अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है (१८।९); इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता और साधनप्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।

सम्बन्ध—छठे श्लोकसे आठवेंतक अनन्य ध्यानका फलसहित वर्णन करके नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया, इससे यह शंका हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शंकाको हटानेके लिये कर्मफलके त्यागका महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ॥ १२ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अभ्यास' शब्द किसका वाचक है और 'ज्ञान' शब्द किसका? तथा अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'अभ्यास' शब्द नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमेंसे केवल अभ्यासमात्रका वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदिके लिये बार-बार की जानेवाली ऐसी चेष्टाओंका नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म फलका त्याग ही है। अभिप्राय यह है कि नवें श्लोकमें जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञानका फल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यासके साथ ज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा अभ्यासरहित ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्सङ्ग और शास्त्रसे उत्पन्न उस विवेकज्ञानका वाचक है जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्माके स्वरूपको तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगोंकी अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातोंको भी समझता है परन्तु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफलकी इच्छाका त्याग ही है। क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों उस ज्ञानके साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफलके त्यागका तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यानको तथा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थानपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावके

सम्बन्धसे दोनोंके द्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है। तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेपर अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्-प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना कि अभ्यासहीन विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका हेतु है। यही बात दिखलानेके लिये यहाँ अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'ध्यान' शब्द किसका वाचक है और उसे ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठेसे आठवें श्लोकतक बतलाये हुए ध्यानयोगमेंसे केवल ध्यानमात्रका वाचक है अर्थात् उपास्यदेव मानकर सकामभावसे केवल मन-बुद्धिको भगवान्‌के साकार या निराकार किसी भी स्वरूपमें स्थिर कर देनेका वाचक है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगोंकी कामनाका त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह है कि उस ध्यानयोगमें जो समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण कर देना, भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इसमें नहीं हैं। क्योंकि भगवान्‌को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जानेवाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफलके त्यागका अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

पहले प्रश्नके उत्तरमें बतलाया हुआ विवेकज्ञान और उपर्युक्त ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावके सम्बन्धसे परमात्माकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं। परन्तु दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर ध्यान और अभ्याससे रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ध्यान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यासके केवल विवेकज्ञान भगवान्‌की प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना बिना विवेकज्ञानके केवल ध्यान हो सकता है। ध्यानद्वारा चित्त स्थिर होनेपर चित्तकी मलिनता और चञ्चलताका नाश होता है; परन्तु केवल जानकारीसे वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलानेके लिये ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

प्रश्न—'कर्मफलत्याग' किसका वाचक है और उसे ध्यानसे श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है; परन्तु जबतक मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्तिके त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—त्यागसे तत्काल शान्ति मिल जाती है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मफलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग होनेसे मनुष्यको तत्काल ही परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है; फिर विलम्बका कोई भी कारण नहीं रह जाता। क्योंकि विषयासक्ति ही मनुष्यको बाँधनेवाली है, इसका नाश होनेके बाद भगवान् उससे छिपे नहीं रह सकते।

इस श्लोकमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनोंमें कर्मफलरूप भोगोंकी आसक्तिका त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अत उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफलके त्यागका महत्त्व दिखलानेके लिये अभ्यास, ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो कि संसारके झंझटोंसे अलग रहकर किये जाते हैं और क्रियाकी दृष्टिसे एककी अपेक्षा दूसरा क्रमसे सात्त्विक और निवृत्तिपरक होनेके नाते श्रेष्ठ भी हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागरूप भावकी प्रधानताके कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नतिमें क्रियाकी अपेक्षा भावका ही अधिक महत्त्व है। वर्ण-आश्रमके अनुसार यज्ञ, दान, युद्ध,

वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाहकी क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यासकी क्रिया; सत्सङ्ग और शास्त्रोंके द्वारा आध्यात्मिक बातोंको जाननेके लिये ज्ञानविषयक क्रिया और मनको स्थिर करनेके लिये ध्यान-विषयक क्रिया—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेपर भी उनमेंसे वही श्रेष्ठ है जिसके साथ कर्मफलका त्यागरूप वैराग्य है; क्योंकि संसारमें वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य प्रेमसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतः कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रियाके साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखनेमें साधारण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भक्तिके अङ्गभूत अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए प्रेमी भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें भगवत्प्राप्त ज्ञानी भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १३-१४ ॥

प्रश्न—'सर्वभूतानाम्' पद किससे सम्बन्ध रखता है?

उत्तर—प्रधानरूपसे तो इसका सम्बन्ध 'अद्वेष्टा' के साथ है, किन्तु अनुवृत्तिसे यह 'मैत्रः' और 'करुणः' के साथ भी सम्बद्ध है। भाव यह है कि समस्त भूतोंके प्रति उसमें केवल द्वेषका अभाव ही नहीं है, बल्कि उनके प्रति उसमें स्वाभाविक ही हेतुरहित 'मैत्री' और 'दया' भी है।

प्रश्न—सिद्ध पुरुषका तो सबमें समभाव हो जाता है, फिर उसमें मैत्री और करुणाके विशेष भाव कैसे रह सकते हैं?

उत्तर—भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उसके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे भगवान्‌में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

प्रश्न—'निर्ममः' और 'निरहङ्कारः'—इन दोनों लक्षणोंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इन लक्षणोंसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान्‌के ज्ञानी भक्तका सर्वत्र समभाव होता है, अतएव न तो उसकी किसीमें ममता रहती है और न उसका अपने शरीरमें अहङ्कार ही रहता है; तथापि बिना ही किसी प्रयोजनके वह समस्त भूतोंसे प्रेम रखता है और सबपर दया करता है। यही उसकी महत्ता है। भगवान्‌का साधक भक्त भी दया और प्रेम तो कर सकता है, पर उसमें ममता और अहङ्कारका सर्वथा अभाव नहीं होता।

प्रश्न—'समदुःखसुखः' इस पदमें आये हुए 'सुख-दुःख' शब्द हर्ष-शोकके वाचक हैं या अन्य किसीके और उनमें सम रहना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके वाचक नहीं हैं, किन्तु उनके हेतुओंके वाचक हैं तथा इनसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें

उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् १।२।१२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर उनको पीडारूप दुःखका बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीडाके अभावका बोधरूप सुख भी होता है, किन्तु रागद्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

प्रश्न—'क्षमावान्' किसे कहते हैं और ज्ञानी भक्तोंको क्षमावान् क्यों बतलाया गया है?

उत्तर—अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। उनकी सबमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण वे किसी भी घटनाको वास्तवमें किसीका अपराध ही नहीं समझते, अतएव वे अपना अपराध करनेवालेको भी बदलेमें किसी प्रकारका दण्ड नहीं देना चाहते। यही भाव दिखलानेके लिये उनको 'क्षमावान्' बतलाया गया है। क्षमाकी व्याख्या दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें विस्तारसे की गयी है।

प्रश्न—यहाँ 'योगी' पद किसका वाचक है और उसका निरन्तर सन्तुष्ट रहना क्या है?

उत्तर—भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तका वाचक यहाँ 'योगी' पद है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही सन्तुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असन्तोषका अनुभव नहीं होता। वह पूर्णकाम हो जाता है; अतएव संसारकी किसी भी घटनासे उसके सन्तोषका अभाव नहीं होता। यही उसका निरन्तर सन्तुष्ट रहना है।

संसारी मनुष्योंको जो सन्तोष होता है, वह क्षणिक होता है; जिस कामनाकी पूर्तिसे उनको सन्तोष होता है, उसकी कमी होते ही पुनः असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये वे सदा सन्तुष्ट नहीं रह सकते।

प्रश्न—'यतात्मा' का क्या अर्थ है, इसका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—जिसका मन और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ हो, उसे 'यतात्मा' कहते हैं। भगवान्के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती। यही भाव दिखलानेके लिये इसका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'दृढनिश्चयः' पद किसका वाचक है?

उत्तर—जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है; जिसे सर्वत्र भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

प्रश्न—भगवान्में मन-बुद्धिका अर्पण करना क्या है?

उत्तर—नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्में अर्पण करना' है।

प्रश्न—वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है—इस कथनका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—जिसका भगवान्में अहैतुक और अनन्य प्रेम है; जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है; जिसका कभी भगवान्से वियोग नहीं होता; जिसके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित हैं; भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं; जो भगवान्के ही हाथकी कठपुतली है—ऐसे ज्ञानी भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है॥ १५॥

प्रश्न—जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता—इसका क्या अभिप्राय है? भक्त जान-बूझकर किसीको उद्विग्न नहीं करता या उससे किसीको उद्वेग (क्षोभ) होता ही नहीं?

उत्तर—सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, सन्ताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसीको उद्वेग होता है तो उसमें उसके अपने अज्ञानजनित राग, द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं। क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है—वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—भक्तको दूसरे किसी प्राणीसे उद्वेग क्यों नहीं होता? उसे कोई भी प्राणी दुःख देते ही नहीं या दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी उसे उद्वेग (क्षोभ) नहीं होता?

उत्तर—भगवान्‌को प्राप्त ज्ञानी भक्तका सबमें समभाव हो जाता है; इस कारण वह जान-बूझकर अपनी ओरसे ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिससे उसके साथ किसीका द्वेष हो। अतएव दूसरे लोग भी प्रायः उसे दुःख पहुँचानेवाली कोई चेष्टा नहीं करते। तथापि सर्वथा यह बात नहीं कही जा सकती कि दूसरे कोई प्राणी उसकी शारीरिक या मानसिक पीड़ाके कारण बन ही नहीं सकते। इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (६।२२) इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

प्रश्न—भक्तको उद्वेग नहीं होता, यह बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कह दी गयी; फिर उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किन्तु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

प्रश्न—हर्ष और उद्वेगसे मुक्त कहनेसे भी भक्तकी निर्विकारता सिद्ध हो ही जाती है, फिर अमर्ष और भयसे मुक्त होनेकी बात क्यों कही गयी?

उत्तर—हर्ष और उद्वेगसे मुक्त कह देनेसे निर्विकारता तो सिद्ध हो जाती हैं, पर समस्त विकारोंका अत्यन्त अभाव स्पष्ट नहीं होता। अतः भक्तमें सम्पूर्ण विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है, इस बातको विशेष स्पष्ट करनेके लिये अमर्ष और भयका भी अभाव बतलाया गया।

अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किन्तु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है, और यह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है। वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग; तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशङ्कासे भय होता देखा जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है। किन्तु भगवान्‌के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्-बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'आकाङ्क्षासे रहित' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकांक्षासे रहित कहा है।

प्रश्न—इच्छा या आवश्यकताके बिना तो मनुष्यसे किसी प्रकारकी भी क्रिया नहीं हो सकती और क्रियाके बिना जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं, फिर ऐसे भक्तका जीवन कैसे चलता है ?

उत्तर—बिना इच्छा और आवश्यकताके भी प्रारब्धसे क्रिया हो सकती है, अतएव उसका जीवन प्रारब्धसे चलता है। अभिप्राय यह है कि उसके मन, वाणी और शरीरसे प्रारब्धके अनुसार सम्पूर्ण क्रियाएँ बिना किसी इच्छा, स्पृहा और सङ्कल्पके स्वाभाविक ही होती रहती हैं(४।१९); अतः उसके जीवन-निर्वाहमें किसी तरहकी अड़चन नहीं पड़ती।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त बाहर-भीतरसे शुद्ध होता है; उसकी इस शुद्धिका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—भगवान्‌के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उनके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्गसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

प्रश्न—'दक्ष' शब्दका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है। अनन्यभक्तिके द्वारा परम प्रेमी; सबके सुहृद् सर्वेश्वर परमेश्वरको प्राप्त कर लेना ही मनुष्यजन्मके प्रधान उद्देश्यको प्राप्त कर लेना है। ज्ञानी भक्त भगवान्‌को प्राप्त है, यह भाव दिखलानेके लिये उसको 'चतुर' कहा गया है।

प्रश्न—पक्षपातसे रहित होना क्या है ?

उत्तर—न्यायालयमें साक्षी देते समय अथवा पंच या न्यायकर्ताकी हैसियतसे किसीके झगड़ेका फैसला करते समय या इस प्रकारका दूसरा कोई मौका आनेपर अपने किसी कुटुम्बी, सम्बन्धी या मित्र आदिके लिहाजसे या द्वेषसे, अथवा अन्य किसी कारणसे भी झूठी गवाही देना, न्यायविरुद्ध फैसला देना या अन्य किसी प्रकारसे किसीको अनुचित लाभ-हानि पहुँचानेकी चेष्टा करना पक्षपात है। इससे रहित होना ही पक्षपातसे रहित होना है।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मूल श्लोकमें 'गतव्यथः' पद है। इससे भगवान्‌का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि किसी भी प्रकारके दुःख हेतुके प्राप्त होनेपर भी वह उससे दुखी नहीं होता, अर्थात् उसके अन्तःकरणमें किसी तरहकी चिन्ता, दुःख या शोक नहीं होता। भाव यह है कि शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वियोग होना और धन-गृह आदिकी हानि होना—इत्यादि दुःखके हेतु तो प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परन्तु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता।

प्रश्न—'सर्वारम्भपरित्यागी' का क्या भाव है ?

उत्तर—संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान्‌की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं। मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है, इत्यादि। पर भगवान्‌का भक्त इस रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बना रहता है। भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है। अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण 'सर्वारम्भपरित्यागी' ही है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—कभी हर्षित न होना क्या है ? और इस लक्षणसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इष्टवस्तुकी प्राप्तिमें और अनिष्टके वियोगमें प्राणियोंको हर्ष हुआ करता है; अतः किसी भी वस्तुके संयोग-वियोगसे अन्तःकरणमें हर्षका विकार न होना ही कभी हर्षित न होना है। ज्ञानी भक्तमें हर्षरूप विकारका सर्वथा अभाव दिखलानेके लिये यहाँ इस लक्षणका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता । इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

प्रश्न—भगवान्का भक्त द्वेष नहीं करता, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्का भक्त सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु वा प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्का भक्त कभी शोक नहीं करता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—हर्षकी भाँति ही उसमें शोकका विकार भी नहीं होता। अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है। भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। भगवान्की लीलाका रहस्य समझनेके कारण वह हर समय उनके परमानन्दस्वरूपके अनुभवमें मग्न रहता है। अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

एक बात और भी है—सर्वव्यापी, सर्वाधार भगवान् ही उसके लिये सर्वोत्तम परम प्रिय वस्तु हैं और उनके साथ उसका कभी वियोग होता नहीं, तथा सांसारिक वस्तुओंकी उत्पत्ति-विनाशमें उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इस कारण भी लोकदृष्टिसे होनेवाले प्रिय वस्तुओंके वियोगसे या अप्रियके संयोगसे उसे किसी प्रकारका शोक नहीं हो सकता।

प्रश्न—भगवान्का भक्त कभी किसी वस्तुकी भी आकाङ्क्षा क्यों नहीं करता ?

उत्तर—मनुष्यके मनमें जिन इष्ट वस्तुओंके अभावका अनुभव होता है, वह उन्हीं वस्तुओंकी आकाङ्क्षा करता है। भगवान्के भक्तको साक्षात् भगवान्की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ नष्ट हो जाती हैं, वह अचल-प्रतिष्ठामें स्थित हो जाता है; इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

प्रश्न—यहाँ 'शुभाशुभ' शब्द किन कर्मोंका वाचक है और भगवान्के भक्तको उनका परित्यागी कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है; और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान्का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (४।२०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभाशुभका परित्यागी' कहा गया है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त तो किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, फिर उसका कोई शत्रु कैसे हो सकता है ? ऐसी अवस्थामें वह शत्रु-मित्रमें सम है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अवश्य ही भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं; ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं। परन्तु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किञ्चित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंको ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता—वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशंका ही नहीं रहती। इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

प्रश्न—मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें सम कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है। न अनुकूलको चाहता है और न प्रतिकूलसे द्वेष ही करता है। कभी किसी भी अवस्थामें वह अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता। सर्वत्र भगवद्दर्शन होनेके कारण उसके अन्तःकरणसे विषमताका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अभिप्रायसे उसे इन सबमें सम रहनेवाला कहा गया है।

प्रश्न—'सङ्गविवर्जितः'का अर्थ संसारके संसर्गसे रहित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किन्तु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्गविवर्जित' है। दूसरे अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है। अतः 'सङ्गविवर्जितः' का जो अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियोंमें भक्तका मित्रभाव होना बतलाया और यहाँ सबमें आसक्तिरहित होनेके लिये कहते हैं। इन दोनों बातोंमें विरोध-सा प्रतीत होता है। इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इसमें विरोध कुछ भी नहीं है। भगवद्भक्तका जो सब प्राणियोंमें मित्रभाव होता है—वह आसक्तिरहित, निर्दोष और विशुद्ध होता है। सांसारिक मनुष्योंका प्रेम आसक्तिके सम्बन्धसे होता है, इसीलिये यहाँ स्थूलदृष्टिसे विरोध-सा प्रतीत होता है; वास्तवमें विरोध नहीं है। मैत्री सद्गुण है और यह भगवान्‌में भी रहती है, किन्तु आसक्ति दुर्गुण है और समस्त अवगुणोंका मूल होनेके कारण त्याज्य है; यह भगवद्भक्तोंमें कैसे रह सकती है ?

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—कभी हर्षित न होना क्या है ? और इस लक्षणसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इष्टवस्तुकी प्राप्तिमें और अनिष्टके वियोगमें प्राणियोंको हर्ष हुआ करता है; अतः किसी भी वस्तुके संयोग-वियोगसे अन्तःकरणमें हर्षका विकार न होना ही कभी हर्षित न होना है। ज्ञानी भक्तमें हर्षरूप विकारका सर्वथा अभाव दिखलानेके लिये यहाँ इस लक्षणका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त द्वेष नहीं करता, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु वा प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तः-करणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त कभी शोक नहीं करता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—हर्षकी भाँति ही उसमें शोकका विकार भी नहीं होता। अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है। भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। भगवान्‌की लीलाका रहस्य समझनेके कारण वह हर समय उनके परमानन्दस्वरूपके अनुभवमें मग्न रहता है। अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

एक बात और भी है—सर्वव्यापी, सर्वाधार भगवान् ही उसके लिये सर्वोत्तम परम प्रिय वस्तु हैं और उनके साथ उसका कभी वियोग होता नहीं, तथा सांसारिक वस्तुओंकी उत्पत्ति-विनाशमें उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इस कारण भी लोकदृष्टिसे होनेवाले प्रिय वस्तुओंके वियोगसे या अप्रियके संयोगसे उसे किसी प्रकारका शोक नहीं हो सकता।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त कभी किसी वस्तुकी भी आकाङ्क्षा क्यों नहीं करता ?

उत्तर—मनुष्यके मनमें जिन इष्ट वस्तुओंके अभावका अनुभव होता है, वह उन्हीं वस्तुओंकी आकाङ्क्षा करता है। भगवान्‌के भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण आवश्य-कताएँ नष्ट हो जाती हैं, वह अचल-प्रतिष्ठामें स्थित हो जाता है; इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

प्रश्न—यहाँ 'शुभाशुभ' शब्द किन कर्मोंका वाचक है और भगवान्‌के भक्तको उनका परित्यागी कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मों-का वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है; और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जाने-वाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (४।२०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पाप-कर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभाशुभका परित्यागी' कहा गया है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त तो किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, फिर उसका कोई शत्रु कैसे हो सकता है ? ऐसी अवस्थामें वह शत्रु-मित्रमें सम है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अवश्य ही भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं; ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं। परन्तु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किञ्चित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता—वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशंका ही नहीं रहती। इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

प्रश्न—मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें सम कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है। न अनुकूलको चाहता है और न प्रतिकूलसे द्वेष ही करता है। कभी किसी भी अवस्थामें वह अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता। सर्वत्र भगवद्दर्शन होनेके कारण उसके अन्तःकरणसे विषमताका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अभिप्रायसे उसे इन सबमें सम रहनेवाला कहा गया है।

प्रश्न—'सङ्गविवर्जितः'का अर्थ संसारके संसर्गसे रहित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किन्तु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नाश हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा '[illegible]' है। दूसरे अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें भी [illegible] है। अतः 'सङ्गविवर्जितः' का जो [illegible] ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—तेरहवें [illegible] का मित्रभाव होना [illegible] होनेके लिये कहते हैं। इन [illegible] होता है। इसका क्या [illegible] है ?

उत्तर—इसमें विशेष कुछ भी [illegible] सब प्राणियोंमें मित्रभाव [illegible] और विशुद्ध होता है। [illegible] सम्बन्धसे होता है। [illegible] प्रतीत होता है; [illegible] और यह [illegible] और [illegible] भगवद्भक्तोंमें [illegible] है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १९ ॥

प्रश्न—भगवान्‌के भक्तका निन्दा-स्तुतिको समान समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता । इसलिये न तो उसको स्तुतिमें हर्ष होता है और न निन्दामें किसी प्रकारका शोक ही होता है । उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है । सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेदबुद्धि नहीं होती । यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है ।

प्रश्न—'मौनी' पद न बोलनेवालेका वाचक प्रसिद्ध है, अतः यहाँ उसका अर्थ मननशील क्यों किया गया ?

उत्तर—मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है । विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है । भक्तका चित्त भगवान्‌में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्‌के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्‌के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है । बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है । मनको निर्विषय करने तथा वाणीको परिशुद्ध और संयत बनानेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है । परन्तु यहाँ भगवान्‌के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है । इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है । बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन हुआ करता है, जिससे जगत्‌का परम उपकार होता है । इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही कराया करते हैं । अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्‌का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । अठारहवें अध्यायके अड़सठवें और उन्हत्तरवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रियकार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता । इसके सिवा सतरहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है । यदि भगवान्‌को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता, तो वे उसे वाणीके तपके प्रसङ्गमें कहते; परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है; और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है । वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इससे यह कोई विशेष महत्त्वकी बात भी नहीं है; इससे यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है । वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है ।

प्रश्न—'येन केनचित् संतुष्टः' का यहाँ क्या अभिप्राय है ? क्या भगवान्‌के भक्तको शरीरनिर्वाहके लिये किसी तरहकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये—अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये ?

उत्तर—जो भक्त अनन्यभावसे भगवान्‌के चिन्तनमें लगा रहता है, दूसरे किसी भावका जिसके चित्तमें स्फुरण ही नहीं होता—उसके द्वारा शरीर-निर्वाहके लिये किसी चेष्टाका न होना और उसके लौकिक योगक्षेमका भी भगवान्‌के द्वारा ही वहन किया जाना सर्वथा सिद्ध और सुसङ्गत ही है; परन्तु यहाँ 'येन केनचित् सन्तुष्टः' से निष्कामभावसे वर्णाश्रमानुकूल शरीर-निर्वाहके उपयुक्त न्यायसङ्गत चेष्टा करनेका निषेध नहीं है । ऐसी चेष्टा करनेपर प्रारब्धके अनुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, भक्त उसीमें सन्तुष्ट रहता है । 'येन

केनचित् सन्तुष्ट:'का यही भाव है। वस्तुत: भगवान्‌के भक्त-का सांसारिक वस्तुओंके प्राप्त होने और नष्ट हो जानेसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह तो अपने परम इष्ट भगवान्‌को पाकर सदा ही सन्तुष्ट रहता है। अत: यहाँ 'येन केनचित् सन्तुष्ट:'का यही अभिप्राय माळूम होता है कि बाहरी वस्तु-ओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दु:खादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें सन्तुष्ट रहता है।

प्रश्न—'अनिकेत:' पदका क्या अर्थ मानना चाहिये?

उत्तर—जिसके अपना घर न हो, उसको 'अनिकेत' कहते हैं। भगवान्‌के जो संन्यासी ज्ञानी भक्त गृहस्थ-आश्रम-को छोड़कर पूर्णरूपसे मकान आदिका त्याग कर चुके हैं, जिनको किसी भी स्थानविशेषमें आसक्ति, ममता अथवा किसी प्रकारका स्वत्व नहीं है वे तो 'अनिकेत' हैं ही; उनके सिवा जो अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करके सर्वथा अकिञ्चन बन चुके हैं; जिनके घर-द्वार, शरीर, विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों वे भी 'अनिकेत' ही हैं। जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घरवाला—'अनिकेत' ही है।

प्रश्न—भक्तको 'स्थिरबुद्धि' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भक्तको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, भगवान्‌में उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अत: वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्‌के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता। इसीलिये उसे स्थिरबुद्धि कहा गया है। 'स्थिरबुद्धि' शब्दका विशेष अभिप्राय समझनेके लिये दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतककी व्याख्या देखनी चाहिये।

प्रश्न—तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवेंतक सात श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए 'जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है', 'जो ऐसा भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझे प्रिय है', 'ऐसा पुरुष मुझे प्रिय है'—इस प्रकार पृथक्-पृथक् पाँच बार कहा है, इसका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं और सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परन्तु स्वभाव आदिके भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती है तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्मम:' से रागका और 'समदु:खसुख:' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्ष:'से रागका, 'उदासीन:'से द्वेषका, और 'गतव्यथ:' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति'से राग-का, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका और 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'सङ्गविवर्जित:' तथा 'सन्तुष्ट:'से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदु:खेषु सम:'से हर्ष-शोकका अभाव दिखलाया है। 'सन्तुष्ट:' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक हैं। अन्य लक्षणोंमें स्वभावभेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी [illegible] कारण भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके [illegible] लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है [illegible] किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण [illegible] वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है।

प्रश्न—ये लक्षण सिद्ध पुरुषके [illegible]

उत्तर—विचार करनेपर [illegible] लक्षण साधकके नहीं, अपितु

प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषके ही हैं; क्योंकि प्रथम तो भगवत्प्राप्तिके उपाय और फल बतलानेके बाद इन लक्षणोंका वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने गुणातीत तत्त्वदर्शी महात्माके जो लक्षण बतलाये हैं, उनसे ये मिलते-जुलते-से हैं; अतः वे साधकके लक्षण नहीं हो सकते।

प्रश्न—इन सबको 'भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण' बतलानेमें क्या हेतु है?

उत्तर—इस अध्यायमें भक्तियोगका वर्णन है, इसीसे इसका नाम भी 'भक्तियोग' रक्खा गया है। अर्जुनका प्रश्न और भगवान्‌का उत्तर भी उपासनाविषयक ही है, तथा भगवान्‌ने 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः', 'भक्तिमान् यः स मे प्रियः' इत्यादि वाक्योंकी आवृत्ति भी इसीलिये की है। अतः यहाँ यही समझना चाहिये कि जिन लोगोंने भक्तिमार्गद्वारा परम सिद्धि प्राप्त की है, ये सब उन्हींके लक्षण हैं।

प्रश्न—कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी क्या उन सिद्ध पुरुषोंमें कोई अन्तर रहता है?

उत्तर—उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किन्तु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (३। ३३) इससे भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आ[चरण] स्वभावमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, [...] आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता [...] शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पा[ये जाते हैं]; किन्तु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवा[न्‌को प्राप्त] हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, [...] कर्मोंमें उपरामता—यह ज्ञानमार्गसे परम प[दको प्राप्त] महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रका[र] इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्त भावसे [कर्म करते] रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें [तक] कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌[को प्राप्त] पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पची[सवेंतक] ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणा[तीत पुरुषके] लक्षण बतलाये गये हैं। और यहाँ तेरहवेंसे उन्नी[सवेंतक] भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके [...]

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर [...] साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको [...] प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्का[म प्रेमभावसे] सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं॥ २०॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदके प्रयोगका क्या उद्देश्य है?

उत्तर—तेरहवेंसे लेकर उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌को प्राप्त सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन है और इस श्लोकमें उन उत्तम साधक भक्तोंकी प्रशंसा की गयी है, जो इन सिद्धोंसे भिन्न हैं; और सिद्ध भक्तोंके इन लक्षणोंको आदर्श मानकर उनका सेवन करते हैं। [...] बतलानेके [लिये 'तु' पद] का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—श्रद्धायुक्त भ[...]

उत्तर—सर्वव्यापी, [...] वचनोंमें एवं उनके गु[...]

प्रत्यक्षकेसदृशसम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो—वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्‌को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उन्हीं-पर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

प्रश्न—उपर्युक्त सात श्लोकोंमें वर्णित भगवद्भक्तोंके लक्षणों-को यहाँ धर्ममय अमृतके नामसे कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानव-धर्मका सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'पर्युपासते' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भलीभाँति तत्पर होकर निष्काम प्रेमभावसे इन उपर्युक्त लक्षणोंका श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना, यही 'पर्युपासते' का अभिप्राय है।

प्रश्न—पहले सात श्लोकोंमें भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उनको तो भगवान्‌ने अपना 'प्रिय भक्त' बतलाया और इस श्लोकमें जो सिद्ध नहीं हैं, परन्तु इन लक्षणोंकी उपासना करनेवाले साधक भक्त हैं—उनको 'अतिशय प्रिय' कहा, इसमें क्या रहस्य है?

उत्तर—जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं और भगवान्‌के साथ उनका नित्य तादात्म्य-सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। परन्तु जिन एकनिष्ठ साधक भक्तोंको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्‌पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है। इसीलिये भगवान्‌को वे विशेष प्रिय होते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंको भगवान् अपना नित्य सङ्ग प्रदान करके जबतक सन्तुष्ट नहीं कर देते, तबतक वे उनके ऋणी ही बने रहते हैं—ऐसी भगवान्‌की मान्यता है; अतएव भगवान्‌का उन्हें सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

त्रयोदशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

'क्षेत्र' (शरीर) और 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं। केवल अज्ञानसे ही इन दोनोंकी एकता-सी हो रही है। क्षेत्र जड़, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है; एवं क्षेत्रज्ञ चेतन, ज्ञान-स्वरूप, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। इस अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंके स्वरूपका उपर्युक्त प्रकारसे विभाग किया गया है। इसलिये इसका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का लक्षण बतलाया गया है, दूसरेमें परमात्माके साथ आत्माकी एकताका प्रतिपादन करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानको ही ज्ञान बताया गया है। तीसरेमें विकारसहित क्षेत्रके स्वरूप और स्वभाव आदिका एवं प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके चौथेमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रका प्रमाण देते हुए पाँचवें और छठेमें विकारोंसहित क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है। सातवेंसे ग्यारहवेंतक तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें साधन होनेके कारण जिनका नाम 'ज्ञान' रक्खा गया है, ऐसे 'अमानित्व' आदि बीस सात्त्विक भावों और आचरणोंका वर्णन किया गया है। तदनन्तर बारहवेंसे सतरहवेंतक ज्ञानके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके अठारहवेंमें अबतकके प्रतिपादित विषयोंका नाम बतलाकर इस प्रकरणको जाननेका फल परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति बतलाया गया है। इसके बाद 'प्रकृति' और 'पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके उन्नीसवेंसे इक्कीसवेंतक प्रकृतिके स्वरूप और कार्यका तथा 'क्षेत्रज्ञके स्वरूपका' वर्णन किया गया है। बाईसवेंमें परमात्मा और आत्माकी एकताका प्रतिपादन करके तेईसवेंमें गुणोंके सहित प्रकृतिको और पुरुषको जाननेका फल बतलाकर चौबीसवें और पचीसवें-में परमात्म-साक्षात्कारके विभिन्न उपायोंका वर्णन किया गया है। छब्बीसवेंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे समस्त चराचर प्राणियों-की उत्पत्ति बतलाकर सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक 'परमात्मा समभावसे स्थित अविनाशी और अकर्ता हैं तथा जितने भी कर्म होते हैं सब प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं तथा सब कुछ परमात्म-तत्त्वसे ही विस्तृत और उसीमें स्थित हैं' इस प्रकार समझनेका महत्त्व और साथ ही उसका फल भी बतलाया गया है। इकतीसवेंसे तैंतीसवेंतक आत्माके प्रभावको समझाते हुए उसके अकर्ता-पनका और निर्लेपताका दृष्टान्तोंद्वारा निरूपण करके अन्तमें चौंतीसवें श्लोकमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सगुण और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें सगुण उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और देहाभिमानियोंके लिये उसके अनुष्ठानमें कठिनताका निरूपण किया। तदनन्तर छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते ही अध्यायकी समाप्ति हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके साधनोंको विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकारका तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले भगवान् क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के लक्षण बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नामसे कहा जाता है; और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥ १ ॥

प्रश्न—'शरीरम्'के साथ 'इदम्' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है और शरीरको क्षेत्र क्यों कहते हैं?

उत्तर—'शरीरम्'के साथ 'इदम्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि यह आत्माके द्वारा देखा और जाना जाता है' इसलिये यह दृश्य है और द्रष्टारूप आत्मासे सर्वथा भिन्न है। तथा जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म-संस्काररूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसलिये इसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये भी इसे क्षेत्र कहते हैं और इसीलिये पंद्रहवें अध्यायमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है। इस क्षेत्रका स्वरूप इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें संक्षेपमें बतलाया गया है।

प्रश्न—इस (क्षेत्र) को जो जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय आदि जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड दृश्यवर्गसे सर्वथा विलक्षण है। यह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये इसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७।५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८।३) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५।१६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है, इसीसे भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन किया है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अक्रिय, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

प्रश्न—'तद्विदः'का क्या भाव है?

उत्तर—इस पदमें 'तत्' शब्दके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंका ग्रहण होता है। उन दोनों (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) को जो यथार्थरूपमें भलीभाँति जानते हैं, वे 'तद्विदः' हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि तत्त्ववेत्ता महात्माजन यह बात कहते हैं, अतएव इसमें किसी भी शङ्काके लिये अवकाश नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके लक्षण बतलाकर अब क्षेत्रज्ञ और परमात्माकी एकता करते हुए ज्ञानके लक्षणका निरूपण करते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान। और क्षेत्र क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥

प्रश्न—सब क्षेत्रोंमें 'क्षेत्रज्ञ' (जीवात्मा) भी मुझे ही जान, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है; इसीलिये दूसरे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हीं शब्दोंका प्रयोग किया गया है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि समस्त क्षेत्रोंमें जो चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ है, वह मेरा ही अंश (१५।७) होनेके कारण वस्तुतः मुझसे भिन्न नहीं है; मैं परमात्मा ही जीवात्माके रूपमें विभिन्न प्रकारसे प्रतीत होता हूँ—इस बातको तुम भलीभाँति समझ लो।

प्रश्न—यदि यहाँ ऐसा अर्थ मान लिया जाय कि 'समस्त क्षेत्रोंमें यानी शरीरोंमें तुम क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) को और मुझको

भी स्थित जानो' तो क्या हानि है ?

उत्तर—भक्तिप्रधान प्रकरण होता तो ऐसा अर्थ भी माना जा सकता था; किन्तु यहाँ प्रकरण ज्ञानप्रधान है, इस प्रकरणमें भक्तिका वर्णन ज्ञानके साधनके रूपमें आया है— इसलिये यहाँ भक्तिका स्थान गौण माना गया है। अतएव यहाँ अद्वैतपरक व्याख्या ही ठीक प्रतीत होती है।

प्रश्न—'जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही ज्ञान है— ऐसा मेरा मत है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि 'क्षेत्र' उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला, जड, अनित्य, ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) और क्षणिक है; इसके विपरीत 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) नित्य, चेतन, ज्ञाता, निर्विकार, शुद्ध और सदा एक-सा रहनेवाला है। अतएव दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं, अज्ञानसे ही दोनोंकी एकता-सी प्रतीत होती है—इस बातको तत्त्वसे समझ लेना ही वास्तविक ज्ञान है। यह मेरा मत है। इसमें किसी तरहका संशय या भ्रम नहीं है।

सम्बन्ध—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रमका नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है, और जिस कारणसे जो हुआ है; तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥

प्रश्न—'क्षेत्रम्' के साथ 'तत्' विशेषण देनेका क्या भाव है, तथा 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें किस बातके स्पष्टीकरणका संकेत किया है और वह किस श्लोकमें किया है ?

उत्तर—'क्षेत्रम्'के साथ 'तत्' विशेषण देकर यह भाव दिखाया है कि जिस शरीररूप क्षेत्रके लक्षण पहले श्लोकमें बतलाये गये हैं, उसीका स्पष्टीकरण करनेकी बात इस श्लोकमें कही जाती है; तथा 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें उसे बतलाया गया है।

प्रश्न—'यादृक्' पदसे क्षेत्रके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया गया है और वह कहाँ कहा गया है ?

उत्तर—'यादृक्'पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकोंमें समस्त भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

प्रश्न—'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया है और उसे किस श्लोकमें कहा है ?

उत्तर—'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया गया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

प्रश्न—'यतः च यत्' इन पदोंसे क्षेत्रके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया है और वह कहाँ कहा गया है ?

उत्तर—जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ है—यह बतलानेका संकेत 'यतः च यत्' पदोंसे किया है और उसका वर्णन उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्द्ध तथा बीसवेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

प्रश्न—'सः' पद किसका वाचक है तथा 'यः'पदसे उसके विषयमें भगवान्‌ने क्या कहनेका संकेत किया है एवं कहाँ कहा गया है ?

उत्तर—'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ'का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है। और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे उन्नीसवें श्लोकमें उसे 'अनादि' बीसवेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं इक्कीसवेंमें 'अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और बाईसवें तथा सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है।

प्रश्न—'यत्प्रभावः' पदसे क्षेत्रज्ञके विषयमें क्या कहनेका

संकेत किया गया है और वह किन श्लोकोंमें कहा गया है ?

उत्तर—'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे इक्कीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक बतलाया गया है।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है, तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

प्रश्न—'ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनका यह भाव है कि मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं।

प्रश्न—'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद किसका वाचक है, तथा इनके द्वारा (वह तत्त्व) पृथक् कहा गया है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इसीके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। इन सबके द्वारा (वह तत्त्व) 'पृथक् कहा गया है', इस कथनका यह अभिप्राय है कि जो सिद्धान्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विषयमें भगवान् यहाँ संक्षेपसे प्रकट कर रहे हैं, उसीका विस्तारसहित विभागपूर्वक वर्णन उनमें जगह-जगह अनेकों प्रकारसे किया गया है।

प्रश्न—'विनिश्चितैः' और 'हेतुमद्भिः' विशेषणोंके सहित 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद किन पदोंका वाचक है और इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो पद भलीभाँति निश्चय किये हुए हों और सर्वथा असन्दिग्ध हों, उनको 'विनिश्चित' कहते हैं; तथा जो पद युक्तियुक्त हों, अर्थात् जिनमें विभिन्न युक्तियोंके द्वारा सिद्धान्तका निर्णय किया गया हो—उनको 'हेतुमत्' कहते हैं। अतः इन दोनों विशेषणोंके सहित यहाँ 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद 'वेदान्तदर्शन' के जो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं। यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रका प्रमाण देकर अब भगवान् तीसरे श्लोकमें 'यत्' पदसे कहे हुए 'क्षेत्र' का और 'यद्विकारि' पदसे कहे हुए उसके विकारोंका अगले दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥*

* इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है। जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत्तत्त्व, अहङ्कार

पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी; तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—॥ ५ ॥

प्रश्न—'महाभूतानि' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पञ्चतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्मपञ्चमहाभूत हैं—सातवें अध्यायमें जिनका 'भूमिः', 'आपः', 'अनलः' 'वायुः' और 'खम्' के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ 'महाभूतानि' पद है ।

प्रश्न—'अहंकारः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—यह समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है । अहङ्कार ही पञ्चतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको 'अहंभाव' भी कहते हैं । यहाँ 'अहंकारः' पद उसीका वाचक है ।

प्रश्न—'बुद्धिः' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—जिसे 'महत्तत्त्व' (महान्) और 'समष्टि बुद्धि' भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसका वाचक यहाँ 'बुद्धिः' पद है ।

प्रश्न—'अव्यक्तम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा मूल प्रकृति है, सांख्यशास्त्रमें जिसको 'प्रधान' कहते हैं, भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायमें जिसको 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको 'प्रकृति' नाम दिया गया है—उसका वाचक यहाँ 'अव्यक्तम्' पद है ।

प्रश्न—दस इन्द्रियाँ कौन-कौन-सी हैं ?

उत्तर—वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं । इन सबका कारण अहंकार है ।

प्रश्न—'एकम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—समष्टि अन्तःकरणकी जो मनन करनेवाली शक्तिविशेष है, सङ्कल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है—उस मनका वाचक 'एकम्' पद है; यह भी अहङ्कारका कार्य है ।

प्रश्न—'पञ्च इन्द्रियगोचराः' इन पदोंका क्या अर्थ है ?

उत्तर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'पञ्च इन्द्रियगोचराः' पद है ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया ॥ ६ ॥

प्रश्न—'इच्छा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु और दुःखनाशक समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है—जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा

स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, अर्थात् ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं । पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत—ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं । इनमें ग्यारह इन्द्रिय तो अहङ्कारके तथा पञ्च स्थूल महाभूत पञ्चतन्मात्राओंके कार्य हैं; किन्तु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असङ्ग है ।

योगदर्शनमें कहा है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।' (२ । १९) विशेष यानी पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक मन और पञ्च स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ; लिङ्गमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिङ्ग यानी मूल प्रकृति—ये चौबीस तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं; इन्हींको 'दृश्य' कहते हैं ।

योगदर्शनमें जिसको 'दृश्य' कहा है, उसीको गीतामें 'क्षेत्र' कहा गया है ।

आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ 'इच्छा' पद है। यह अन्तःकरणका विकार है, इसलिये क्षेत्रके विकारोंमें इसकी गणना की गयी है।

प्रश्न—'द्वेष' किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोध-बुद्धि होती है—उसका नाम द्वेष है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं। यह भी अन्तःकरणका विकार है, अतः इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'सुख' क्या वस्तु है ?

उत्तर—अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम सुख है। अन्तःकरणका विकार होनेके कारण इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'दुःखम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक यहाँ 'दुःखम्' पद है। यह भी अन्तःकरणका विकार है, इसलिये इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'सङ्घातः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—पञ्चभूतोंसे बना हुआ जो यह स्थूल शरीरका पिण्ड है, मृत्यु होनेके बाद सूक्ष्म शरीरके निकल जानेपर भी जो सबके सामने पड़ा रहता है—उस स्थूल शरीरका नाम सङ्घात है। उपर्युक्त पञ्चभूतोंका विकार होनेके कारण इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'चेतना' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—अन्तःकरणमें जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जिसे दसवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' पद है। यह भी अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है, अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'धृतिः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—अठारहवें अध्यायके तैंतीसवें, चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें जिस धारण-शक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, जिसके सात्त्विक अंशको सोलहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें दैवी सम्पदाके अन्तर्गत 'धृति' के नामसे गिनाया गया है—उसीका वाचक यहाँ 'धृतिः' पद है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—यह विकारोंके सहित क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनका यह भाव है कि यहाँतक विकारों-सहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया, अर्थात् पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और छठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह ॥ ७ ॥

प्रश्न—'अमानित्वम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना; अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न

होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है। जिसमें 'अमानित्व' पूर्णरूपसे आ जाता है—उसका मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी प्राप्तिमें प्रसन्न होना तो दूर रहा; उलटी उसकी इन सबसे विरक्ति और उपरति हो जाती है।

प्रश्न—'अदम्भित्वम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति, योगसाधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है। जिस साधकमें 'अदम्भित्व' पूर्णरूपसे आ जाता है, वह मान-बड़ाईकी जरा भी इच्छा न रहनेके कारण अपने सच्चे धार्मिक भावोंको, सद्गुणोंको अथवा भक्तिके आचरणोंको भी दूसरोंके सामने प्रकट करनेमें सङ्कोच करता है—फिर बिना हुए गुणोंको अपनेमें दिखलाना तो उसमें बन ही कैसे सकता है।

प्रश्न—'अहिंसा' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना; वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहित-कारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे भी हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके भाव हैं—इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' है। जिस साधकमें 'अहिंसा' का भाव पूर्णतया आ जाता है, उसका किसीमें भी वैरभाव या द्वेष नहीं रहता; इसलिये न तो किसी भी प्राणीका उसके द्वारा कभी अहित ही होता है, न उसके द्वारा किसीको परिणाममें दुःख होता है और न वह किसीके लिये वस्तुतः भयदायक ही होता है। महर्षि पतञ्जलि-ने तो यहाँतक कहा है कि उसके पास रहनेवाले हिंसक प्राणियोंतकमें परस्परका स्वाभाविक वैरभाव भी नहीं रहता।*

प्रश्न—'क्षान्तिः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'क्षान्ति' क्षमाभावको कहते हैं। अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदला लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

प्रश्न—'आर्जवम्' का क्या भाव है?

उत्तर—मन, वाणी और शरीरकी सरलताका नाम 'आर्जव' है। जिस साधकमें यह भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

प्रश्न—'आचार्योपासनम्' का क्या भाव है?

उत्तर—विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्यो-पासन' यानी गुरु-सेवा है।

प्रश्न—'शौचम्' पदका क्या अर्थ है?

उत्तर—'शौच' शुद्धिको कहते हैं। सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणों-की शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तः-करणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकार-की शुद्धियोंका नाम 'शौच' है।

प्रश्न—'स्थैर्य' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्थिरभावको 'स्थैर्य' कहते हैं। अर्थात् बड़े-से-

* 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' (योगदर्शन २।३५)

बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना; एवं काम, क्रोध, भय या लोभ आदिसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना; तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चञ्चलताका न रहना 'स्थैर्य' है।

प्रश्न—'आत्मविनिग्रहः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'आत्मा' पद अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना 'आत्मविनिग्रह' है। जिस साधकमें आत्मविनिग्रहका भाव पूर्णतया आ जाता है—उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय उसके आज्ञाकारी अनुचर हो जाते हैं; वे फिर उसको विषयोंमें नहीं फँसा सकते, निरन्तर उसके इच्छानुसार साधनमें ही लगे रहते हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना ॥ ८ ॥

प्रश्न—'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' का क्या भाव है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किन्तु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है।

प्रश्न—'अनहङ्कार' किसको कहते हैं?

उत्तर—मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहम्' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है।

प्रश्न—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःख और दोषोंका बार-बार देखना क्या है?

उत्तर—जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड मकान एक दिन बनता है, वह उसका जन्म हुआ; कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया; अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर इनसे वैराग्य करना चाहिये।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना ॥ ९ ॥

प्रश्न—आठवें श्लोकमें जो इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य कहा है—उसीके अन्तर्गत पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव आ ही जाता है; यहाँ उसी बातको फिरसे कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें गुप्तभावसे आसक्ति रह जाया करती है, इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

प्रश्न—'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ अहङ्कारका अभाव न लेकर ममताका अभाव क्यों लिया गया?

उत्तर—अहङ्कारके अभावकी बात पूर्व श्लोकके 'अनहङ्कारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है, इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है। ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री, पुत्रादिसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुखी होता रहता है। ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है, इसलिये यहाँ इसका अर्थ ममताका अभाव ही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—इष्ट और अनिष्टकी उपपत्ति क्या है? और उसमें समचित्तता किसे कहते हैं?

उत्तर—अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग और प्रतिकूलका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट'के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना; तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'इष्ट और अनिष्टकी उपपत्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

प्रश्न—'अनन्य योग' क्या है और उसके द्वारा भगवान्‌में 'अव्यभिचारिणी भक्ति' करना किसे कहते हैं?

उत्तर—भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परमगति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है। तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्‌में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्‌का ही भजन, ध्यान करते रहना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्कामभावसे

निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

प्रश्न—'विविक्तदेश' कैसे स्थानको समझना चाहिये और उसका सेवन करना क्या है?

उत्तर—जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़भाड़ न हो; जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं; तथा ज्ञान-को प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

प्रश्न—'जनसंसदि' किसको कहते हैं? और उसमें प्रेम न करना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है, और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

प्रश्न—'अध्यात्मज्ञान' किसको कहते हैं और उसमें नित्य स्थित रहना क्या है?

उत्तर—आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तन-शील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उप-देशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

प्रश्न—तत्त्वज्ञानका अर्थ क्या है और उसका दर्शन करना क्या है?

उत्तर—तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

प्रश्न—यह सब ज्ञान है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं; इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रक्खा गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है, यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया किन्तु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त बीस साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान'के नामसे कहा गया है। अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों। अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं—वे तो सबमें रहने ही हैं। इनके अतिरिक्त, 'अव्यभिचारिणी भक्ति', 'एकान्तदेशसेवित्व', 'अ[illegible]-

नित्यत्व', 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन' इत्यादिमें अपनी-अपनी साधन-शैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है।

प्रश्न—जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं— वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं, इसलिये ये सब अज्ञान ही हैं; अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है ? उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमृतत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ॥ १२ ॥

प्रश्न—जिसका वर्णन करनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है, वह 'ज्ञेयम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञेयम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण और सगुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकरणमें स्वयं भगवान्‌ने ही उसको निर्गुण और गुणोंका भोक्ता बताया है।

प्रश्न—उस ज्ञेयको जाननेसे जिसकी प्राप्ति होती है, वह 'अमृत' क्या है ?

उत्तर—'अमृत' पद यहाँ परमानन्दस्वरूप परमात्माका वाचक है। अभिप्राय यह है कि जाननेके योग्य परब्रह्म परमात्माके ज्ञानसे मनुष्य सदाके लिये जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इसीको परम गति और परम पदकी प्राप्ति भी कहते हैं।

प्रश्न—'अनादिमत्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्रकृति और जीवात्माको अनादि बतलाया है। इन दोनोंका स्वामी होनेके कारण परब्रह्म पुरुषोत्तमको अनादिमत् अर्थात् अनादिवाला कहते हैं।

प्रश्न—'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका प्रयोग, वह ज्ञेय तत्त्व ही निर्गुण, निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है, यह बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है। 'ब्रह्म' पद वेद, ब्रह्मा और प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उनसे विलक्षण है, यह बतलानेके लिये ब्रह्म पदके साथ 'परम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—उस परब्रह्म परमात्माको 'सत्' और 'असत्' क्यों नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर—जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे 'सत्' कहते हैं। स्वतःप्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। श्रुतिने भी कहा है कि 'उस जाननेवालेको कैसे जाना जा सकता है!' वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको 'सत्' नहीं कहा जा सकता। तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे 'असत्' कहते हैं, किन्तु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य है, और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता

है; अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये परमात्मा 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे ही परे है।

प्रश्न—नवम अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें तो भगवान्ने कहा है कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'। अतः इस विरोधका क्या समाधान है?

उत्तर—वस्तुतः कोई विरोध ही नहीं है; क्योंकि जहाँ परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिमुखसे किया जाता है, वहाँ इस प्रकार समझाया जाता है कि जो कुछ भी है—सब ब्रह्म ही है; और जहाँ निषेधमुखसे वर्णन होता है—वहाँ ऐसा कहा जाता है कि वह 'ऐसा भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है', किन्तु है अवश्य। अतएव वहाँ विधिमुखसे वर्णन है। इसलिये भगवान्का यह कहना कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ', उचित ही है। किन्तु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही। उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके लिये ही है, उसके साक्षात् स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय उ० २।९), अर्थात् 'मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है)।' इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न 'सत्' कहा जाता है और न 'असत्' ही कहा जाता है। अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन, वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वके वर्णनकी प्रतिज्ञा करके उस तत्त्वका संक्षेपमें वर्णन किया गया, परन्तु वह ज्ञेय तत्त्व बड़ा गहन है। अतः साधकोंको उसका ज्ञान करानेके लिये सर्वव्यापकत्वादि लक्षणोंके द्वारा उसीका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥*

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है। क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥ १३॥

प्रश्न—वह सब ओर हाथ-पैरवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है। उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है। कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् होनेके कारण सभी जगह सब इन्द्रियोंका काम कर सकता है, उसकी हस्तेन्द्रियका काम करनेवाली ग्रहण-शक्ति और पादेन्द्रियका काम करनेवाली चलन-शक्ति सर्वत्र व्याप्त है।

प्रश्न—सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भी उस ज्ञेयतत्त्वकी सर्वव्यापकताका ही भाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह सब जगह आँखवाला है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह न देखता हो; इसीलिये उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह सब जगह सिरवाला है। जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं; कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ भगवान्का मस्तक न हो। वह सब जगह मुखवाला है। उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है; ऐसी कोई भी जगह नहीं है, जहाँ उसका मुख न हो। अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है।

* यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद्में अक्षरशः आया है। (३।१६)

प्रश्न—वह सब ओर कानवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भी ज्ञेयस्वरूप परमात्माकी सर्वव्यापकताका ही वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है। जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है।

प्रश्न—संसारमें वह सबको व्याप्त करके स्थित है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भी उस ज्ञेयतत्त्वकी सर्वव्यापकताका ही समग्रतासे प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है—उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीवसमूहसहित समस्त जगत्‌का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है, अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है।

सम्बन्ध—ज्ञेयस्वरूप परमात्माको सब ओरसे हाथ, पैर आदि समस्त इन्द्रियोंकी शक्तिवाला बतलानेके बाद अब उसके स्वरूपकी अलौकिकताका निरूपण करते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है, तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है ॥ १४ ॥

प्रश्न—वह परमात्मा सब इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माका सगुण रूप भी बहुत ही अद्भुत और अलौकिक है। अभिप्राय यह है कि तेरहवें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित कहा गया है।

श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। १९)

अर्थात् 'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है, तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है।' अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है।

प्रश्न—वह आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे संसारमें माता-पिता आदि आसक्तिके वश होकर अपने परिवारका धारण-पोषण करते हैं, वह परब्रह्म परमात्मा उस प्रकारसे धारण-पोषण करनेवाला नहीं है। वह बिना ही आसक्तिके सबका धारण-पोषण करता है। इसीलिये भगवान्‌को सब प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् बिना ही कारण हित करनेवाला कहा गया है (५। २९)। अभिप्राय यह है कि वह ज्ञेयस्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा वास्तवमें आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित है तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे सबका धारण-पोषण करनेवाला है, यही उसकी अलौकिकता है।

प्रश्न—वह गुणोंसे अतीत होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भी उस परमात्माकी अलौकिकताका ही प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है। वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है। यही उसकी अलौकिकता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है। और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है ॥ १५ ॥*

प्रश्न—वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण कैसे है ?

उत्तर—जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए बरफके ढेलोंके बाहर और भीतर सब जगह जल-ही-जल व्याप्त है, इसी प्रकार समस्त चराचर भूतोंके बाहर-भीतर वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा परिपूर्ण है।

प्रश्न—चर और अचर भी वही है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—पहले वाक्यमें यह बात कही गयी है कि वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है; इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है। अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्मा-का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।

प्रश्न—वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उस ज्ञेयको सर्वरूप बतला देनेसे यह शंका होती है कि यदि सब कुछ वही है तो फिर सब कोई उसको जानते क्यों नहीं ? इसपर कहते हैं कि जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता, इसलिये वह अविज्ञेय है।

प्रश्न—वह अति समीपमें है और दूरमें भी स्थित है, यह कैसे ?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हो। इसलिये वह अत्यन्त समीपमें भी है और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है। इसलिये इस तत्त्वको समझनेवाले श्रद्धालु मनुष्योंके लिये वह परमात्मा अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त सा स्थित प्रतीत होता है। तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'अविभक्त होनेपर भी सब प्राणियोंमें विभक्त-सा स्थित है' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है—वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक् पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है। किन्तु वह

* श्रुतिमें भी कहा है—"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥" (ईशोपनिषद् ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है। वह इस सम्पूर्ण [illegible] भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।

भिन्नता केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है ।

प्रश्न—'भूतभर्तृ', 'ग्रसिष्णु' और 'प्रभविष्णु'—इन पदोंका क्या अर्थ है और इनके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त प्राणियोंके धारण-पोषण करनेवालेको 'भूतभर्तृ' कहते हैं; सम्पूर्ण जगत्‌के संहार करनेवालेको 'ग्रसिष्णु' कहते हैं और सबकी उत्पत्ति करनेवालेको 'प्रभविष्णु' कहते हैं । इन तीनों पदोंका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि वह सर्वशक्तिमान् ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण चराचर जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला है । वही ब्रह्मारूपसे इस जगत्‌को उत्पन्न करता है, वही विष्णुरूपसे इसका पालन करता है और वही रुद्ररूपसे इसका संहार करता है । अर्थात् वह परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है ॥ १७ ॥

प्रश्न—वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति कैसे है ?

उत्तर—चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जितनी आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं; तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सभीका प्रकाशक वह परमात्मा है । तथा उन सबमें जितनी प्रकाशन-शक्ति है, वह भी उसी परब्रह्म परमात्माका एक अंशमात्र है । इसीलिये वह समस्त ज्योतियोंका भी ज्योति अर्थात् सबको प्रकाश प्रदान करनेवाला, सबका प्रकाशक है । उसका प्रकाशक दूसरा कोई नहीं है ।

श्रुतिमें भी कहा है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (कठोपनिषद् २ । २ । १५; श्वेताश्वतर उ० ६ । १४) अर्थात् वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा और न तारागण ही । न वहाँ यह बिजली प्रकाश करती है, फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है । उसीके प्रकाशित होनेसे ये सब प्रकाशमान होते हैं और उसीके प्रकाशसे यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है ।' गीतामें भी पंद्रहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें कहा गया है कि 'जो तेज सूर्यमें स्थित होकर समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्निमें स्थित है, उस तेजको तू मेरा ही तेज समझ ।'

प्रश्न—यहाँ 'तमः' पद किसका वाचक है और उस परमात्माको उससे 'पर' बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'तमः' पद अन्धकार और अज्ञानका वाचक है; और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञानस्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे तमसे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानम्' पद किसका वाचक है और इसके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानम्' पद परमात्माके स्वरूपका वाचक है । इसके प्रयोगका यह अभिप्राय है कि वह परमात्मा चेतन, बोधस्वरूप है ।

प्रश्न—उसे यहाँ पुनः 'ज्ञेय' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जिस ज्ञेयका बारहवें श्लोकमें प्रकरण आरम्भ किया गया है उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही इस संसारमें मनुष्यशरीरका परम कर्तव्य है, इस संसारमें जाननेके योग्य एकमात्र परमात्मा ही है । अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल्य जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये ।

प्रश्न—उसे 'ज्ञानगम्यम्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ज्ञेयम्' पदसे उसे जानना आवश्यक बतलाया गया । इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि उसे कैसे जानना चाहिये । इसलिये कहते हैं कि वह ज्ञानगम्य है अर्थात् पूर्वोक्त

अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे यह जाना जाता है। अतएव उन साधनोंद्वारा तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके उस परमात्माको जानना चाहिये।

प्रश्न–पूर्व श्लोकोंमें उस परमात्माको सर्वत्र व्याप्त बतलाया गया है, फिर यहाँ 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'—इस कथनसे केवल सबके हृदयमें स्थित बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–यह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है। जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यमुखी शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है। ज्ञानीके हृदयमें तो वह प्रत्यक्ष ही प्रकट है। यही बात समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित बतलाया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके स्वरूपका संक्षेपमें वर्णन करके अब इस प्रकरणको जाननेका फल बतलाते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रश्न–यहाँतक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप किन-किन श्लोकोंमें कहा गया है?

उत्तर–पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है। सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और बारहवेंसे सत्रहवेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है।

प्रश्न–'मद्भक्तः' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है तथा उस क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना क्या है एवं भगवद्भावको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर–'मद्भक्तः' पद यहाँ भगवान्‌का भजन, ध्यान, आज्ञापालन और पूजन तथा सेवा आदि भक्ति करनेवाले भगवद्भक्तका वाचक है। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस ज्ञानमार्गमें भी मेरी शरण ग्रहण करके चलनेवाला साधक सहजहीमें परम पदको प्राप्त कर सकता है।

यहाँ क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना, ज्ञानके साधनोंको भलीभाँति धारण करना और उनके द्वारा भगवान्‌के निर्गुण, सगुण रूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना है। तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवद्भावको प्राप्त हो जाना है।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये अर्जुनसे कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और उसके विकारोंका वर्णन करनेके उपरान्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भलीभाँति जाननेके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन प्रसंगवश किया गया। इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभावका और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका तथा प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ। अतः अब उन सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं। इसमें पहले प्रकृति-पुरुषकी अनादिताका प्रतिपादन करते हुए समस्त गुण और विकारोंको प्रकृतिजन्य बतलाते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९

प्रकृति और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि जान । और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥ १९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'प्रकृति' शब्द किसका वाचक है तथा सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें जिसका वर्णन 'अपरा प्रकृति' के नामसे हुआ है तथा इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जो क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, उनमें और इस प्रकृतिमें क्या भेद है ?

उत्तर—यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है। चौदहवें अध्यायमें इसीको महद्ब्रह्मके नामसे कहा गया है। सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है, भेद इतना ही है कि वहाँ उसके कार्य—मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चमहाभूतादिके सहित मूल प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है।

प्रश्न—'प्रकृति' और 'पुरुष'—इन दोनोंको अनादि जाननेके लिये कहनेका तथा 'च' और 'एव'—इन दोनों पदोंके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंकी अनादिता समान है, इस बातको जाननेके लिये अर्थात् इस लक्षणमें दोनोंकी एकता करनेके लिये 'च' और 'एव'—इन दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है। तथा दोनोंको अनादि समझनेके लिये कहनेका यह अभिप्राय है कि जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला—आगन्तुक नहीं है, यह अनादि-सिद्ध है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है—ऐसा समझना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ 'विकारान्' पद किनका और 'गुणान्' पद किनका वाचक है तथा इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है—उन सबका वाचक यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका वाचक 'गुणान्' पद है । इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है । तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते हैं (भागवत २ । ५ । २२ तथा ११ । २४ । ५) इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है । इसके सिवा तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भी गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया है। तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें और उन्तीसवें श्लोकोंमें भी गुणोंका वर्णन प्रकृतिके कार्यरूपमें हुआ है । इसलिये सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको उनके कार्यसहित प्रकृतिसे उत्पन्न समझना चाहिये तथा इसी तरह समस्त विकारोंको भी प्रकृतिसे उत्पन्न समझना चाहिये।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुननेके लिये कहा गया था, उसका वर्णन एवं श्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया । अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

प्रश्न—'कार्य' और 'करण' शब्द किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं और उनके कर्तृत्वमें प्रकृतिको हेतु बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत; तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है। बुद्धि, अहङ्कार और मन—ये तीनों अन्तः-करण; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; इन तेरहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है। ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; इसलिये प्रकृतिको इनके उत्पन्न करनेमें हेतु बतलाया गया है।

प्रश्न—इन तेईसमें एककी दूसरेसे किस प्रकार उत्पत्ति मानी जाती है ?

उत्तर—प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कार-से पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है। सांख्यकारिकामें भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सांख्यकारिका २२)

अर्थात् 'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि) की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहङ्कारकी और अहङ्कारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और दस इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओं-से पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई।' गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है।

प्रश्न—कहीं-कहीं 'कार्यकरण'के स्थानमें 'कार्यकारण' पाठ भी देखनेमें आता है। वैसा पाठ माननेसे 'कार्य' और 'कारण' शब्दोंको किन-किन तत्त्वोंका वाचक मानना चाहिये ?

उत्तर—'कार्य' और 'कारण' पाठ माननेसे पाँच ज्ञाने-न्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन सोलहका वाचक 'कार्य' शब्दको समझना चाहिये; क्योंकि ये सब दूसरोंके कार्य हैं, किन्तु स्वयं किसीके कारण नहीं हैं। तथा बुद्धि, अहङ्कार और पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका वाचक 'कारण' शब्दको समझना चाहिये। क्योंकि बुद्धि अहङ्कारका कारण है; अहङ्कार मन, इन्द्रिय और सूक्ष्म पाँच महाभूतोंका कारण है तथा सूक्ष्म पाँच महाभूत पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके कारण हैं।

प्रश्न—अन्तःकरणके बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और मन—ऐसे चार भेद अन्य शास्त्रोंमें माने गये हैं; फिर भगवान्ने यहाँ तीनका ही वर्णन कैसे किया ?

उत्तर—भगवान् चित्त और मनको भिन्न तत्त्व नहीं मानते, एक ही तत्त्वके दो नाम मानते हैं। सांख्य और योगशास्त्र भी ऐसा ही मानते हैं। इसलिये अन्तःकरणके चार भेद न करके तीन भेद किये गये हैं।

प्रश्न—'पुरुष' शब्द चेतन आत्माका वाचक है और आत्माको निर्लेप तथा शुद्ध माना गया है; फिर यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें कारण कैसे कहा गया है ?

उत्तर—प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन नहीं है। प्रकृतिके सङ्गसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका सङ्ग अनादि है, इसलिये यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अगले श्लोकमें कह भी दिया है कि 'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजनित गुणोंको भोगता है।' अतएव प्रकृतिसे मुक्त पुरुषमें भोक्तापनकी गन्धमात्र भी नहीं है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ॥ २१ ॥

प्रश्न—यहाँ 'प्रकृतिजान्' विशेषणके सहित 'गुणान्' पद किसका वाचक है तथा 'पुरुषः' के साथ 'प्रकृतिस्थः' विशेषण देकर उसे उन गुणोंका भोक्ता बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रकृतिजनित सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण तथा इनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप जितने भी सांसारिक पदार्थ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'प्रकृतिजान्' विशेषणके सहित 'गुणान्' पद है। तथा 'पुरुषः' के साथ 'प्रकृतिस्थः' विशेषण देकर उसे उन गुणोंका भोक्ता बतलानेका यह अभिप्राय है कि प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्माका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है। प्रकृतिसे सम्बन्ध छूट जानेके बाद उसमें भोक्तापन नहीं है, क्योंकि वास्तवमें पुरुषका स्वरूप नित्य असङ्ग ही है।

प्रश्न—'सदसद्योनि' शब्द किन योनियोंका वाचक है और गुणोंका सङ्ग क्या है, एवं वह इस जीवात्माके सदसद्-योनियोंमें जन्म लेनेका कारण कैसे है ?

उत्तर—'सदसद्योनि' शब्द यहाँ अच्छी और बुरी योनियोंका वाचक है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत् योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी भी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं वे असत् हैं। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ जो जीवका अनादिसिद्ध सम्बन्ध है एवं उनके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका सङ्ग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी और उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा। इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके सङ्गको कारण बतलाया गया है।

प्रश्न—चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने यह कहा है कि गुण और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णोंकी रचना मेरेद्वारा की गयी है, आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें यह बात कही है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ जाता है, उसीको प्राप्त होता है; एवं यहाँ यह कहते हैं कि अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें कारण गुणोंका सङ्ग है। इन तीनोंका समन्वय कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर—तीनोंमें वस्तुतः असामञ्जस्यकी कोई भी बात नहीं है। विचार करके देखनेसे तीनोंमें ही प्रकारान्तरसे गुणोंके सङ्गको अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें हेतु बतलाया गया है। १—भगवान् चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण-कर्मानुसार ही करते हैं। इसमें उन जीवोंके गुणोंका सङ्ग स्वाभाविक ही हेतु हो गया। २—मनुष्य जैसा कर्म और सङ्ग करता है, उसीके अनुसार उसकी तीनों गुणोंमेंसे किसी एकमें विशेष आसक्ति होती है और उन कर्मोंके संस्कार बनते हैं; तथा जैसे सस्कार होते हैं, वैसे ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही उसको अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है। अतएव इसमें भी मूलमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है। ३—इस श्लोकमें तो स्पष्ट ही गुणोंके सङ्गको हेतु बतलाया गया है। अतएव तीनोंमें एक ही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है। वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥

प्रश्न—इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे क्षेत्रज्ञके गुणातीत स्वरूपका निर्देश किया गया है । अभिप्राय यह है कि प्रकृतिजनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है वह क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत परमात्मा ही है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है ।

प्रश्न—यह आत्मा ही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहा गया है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है । वस्तुदृष्टिसे उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । अभिप्राय यह है कि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही अन्तर्यामीरूपसे सबके शुभाशुभ कर्मोंका निरीक्षण करनेवाला है, इसलिये उसे 'उपद्रष्टा' कहते हैं । वही अन्तर्यामीरूपसे सम्मति चाहनेवालेको उचित अनुमति देता है, इसलिये उसे 'अनुमन्ता' कहते हैं । वही विष्णुरूपसे समस्त जगत्‌का रक्षण और पालन करता है, इसलिये उसे 'भर्ता' कहते हैं । वही देवताओंके रूपमें समस्त यज्ञोंकी हवि को और समस्त प्राणियोंके रूपमें समस्त भोगोंको भोगता है, इसलिये उसे 'भोक्ता' कहते हैं; वही समस्त लोकपाल और ब्रह्मादि ईश्वरोंका भी नियमन करनेवाला महान् ईश्वर है, इसलिये उसे 'महेश्वर' कहते हैं और वस्तुतः वह सदा ही सब गुणोंसे सर्वथा अतीत है इसलिये उसे 'परमात्मा' कहते हैं । इस प्रकार यह एक ही परब्रह्म 'परमात्मा' भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे भिन्न-भिन्न नामोंद्वारा पुकारा जाता है, वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृतिके और पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब उनको यथार्थ जाननेका फल बतलाते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता ॥ २३ ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त प्रकारसे पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना क्या है ?

उत्तर—इस अध्यायमें जिस प्रकार पुरुषके स्वरूप और प्रभावका वर्णन किया गया है, उसके अनुसार उसे भलीभाँति समझ लेना अर्थात् जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है—सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं; प्रकृतिके सङ्गसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उस सच्चिदानन्दघनमें नित्य स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है । तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश्व प्रकृतिका ही पसारा है और यह नाशवान्, जड, क्षणभङ्गुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है ।

प्रश्न—'सर्वथा वर्तमानः' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि जो उपर्युक्त प्रकारसे पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जानता है—वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उन वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंका यथायोग्य करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता । इसलिये पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता ।

प्रश्न—यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' के साथ 'अपि'

प्रयोगसे यदि यह भाव मान लिया जाय कि वह निषिद्ध कर्म करता हुआभी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, तो क्या हानि है ?

उत्तर—आत्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी में काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (५।२६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बनना सम्भव नहीं है। इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (३।२१)। अतएव यहाँ 'सर्वथा वर्तमान:'के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका ऐसा अर्थ मानना उचित नहीं है, क्योंकि पापोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है।

प्रश्न—इस प्रकार प्रकृति और पुरुषकेतत्त्वको जाननेवाला पुनर्जन्मको क्यों नहीं प्राप्त होता ?

उत्तर—प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञान-जनित माना गया है। जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञान नहीं होता तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियोंमें जन्म होता है (१३।२१)। अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके ज्ञानका महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होता है। इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'ध्यान' शब्द किसका वाचक है और उसके द्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना क्या है ?

उत्तर—छठे अध्यायके ग्यारह, बारह और तेरहवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर, इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्यमात्रको भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है।

प्रश्न—यहाँ जिस ध्यानके द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है—वह ध्यान सगुण परमेश्वरका है या निर्गुण ब्रह्मका, साकारका है या निराकारका ? तथा यह ध्यान भेदभावसे किया जाता है या अभेदभावसे एवं इसके फलस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति भेदभावसे होती है या अभेदभावसे ?

उत्तर—यहाँ बाईसवें श्लोकमें परमात्मा और आत्माके अभेदका प्रतिपादन किया गया है एवं उसीके अनुसार पुरुषके स्वरूपज्ञानरूप फलकी प्राप्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन है; इसलिये यहाँ प्रसङ्गानुसार निर्गुणनिराकार ब्रह्मके अभेदध्यानका ही वर्णन है और उसका फल अभिन्नभावसे ही परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है परन्तु भेदभावसे सगुण-निराकारका और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न—'सांख्येन' और 'योगेन'—ये दोनों पद भिन्न-भिन्न दो साधनोंके वाचक हैं या एक ही साधनके विशेष्य-विशेषण हैं ? यदि एक ही साधनके वाचक हैं तो किस

साधनके वाचक हैं और उसके द्वारा आत्माको देखना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'सांख्येन' और 'योगेन'—ये दोनों पद सांख्ययोगके वाचक हैं। इसका वर्णन दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके अतिरिक्त इसका वर्णन पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें और तेरहवें श्लोकोंमें तथा चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें एवं और भी जहाँ-जहाँ उसका प्रकरण आया है, किया गया है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्न भावसे प्राप्त हो जाना है, यही सांख्ययोगके द्वारा आत्माको आत्मामें देखना है।

सांख्ययोगका यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है।

प्रश्न—साधनचतुष्टय क्या है ?

उत्तर—इसमें विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—ये चार साधन होते हैं। इन चार साधनोंमें पहला साधन है—

१ विवेक

सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम विवेक है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण कर देता है। विवेकका अर्थ है तत्त्वका यथार्थ अनुभव करना। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेकसिद्धि प्राप्त होती है। 'विवेक'का यथार्थ उदय हो जानेपर सत् और असत् एवं नित्य और अनित्य वस्तुका क्षीर-नीर-विवेककी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। इसके बाद दूसरा साधन है—

२ वैराग्य

विवेकके द्वारा सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जानेपर असत् और अनित्यमें सहज ही राग हट जाता है, इसीका नाम 'वैराग्य' है। मनमें भोगोंकी अभिलाषाएँ बनी हुई हैं और ऊपरसे संसारसे द्वेष और घृणा कर रहे हैं इसका नाम 'वैराग्य' नहीं है। वैराग्यमें रागका सर्वथा अभाव है, वैराग्य यथार्थमें आभ्यन्तरिक अनासक्तिका नाम है। जिनको सच्चा वैराग्य प्राप्त होता है, उन पुरुषोंके चित्तमें ब्रह्मलोकतकके समस्त भोगोंमें तृष्णा और आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वे असत् और अनित्यसे हटकर अखण्डरूपसे सत् और नित्यमें लगे रहते हैं। यही वैराग्य है। जबतक ऐसा वैराग्य न हो, तबतक समझना चाहिये कि विवेकमें त्रुटि रह गयी है। विवेककी पूर्णता होनेपर वैराग्य अवश्यम्भावी है।

३ षट्सम्पत्ति

इन विवेक और वैराग्यके फलस्वरूप साधकको छः विभागोंवाली एक परमसम्पत्ति मिलती है, यह पूरी न मिले तबतक यह समझना चाहिये कि विवेक और वैराग्यमें कसर ही है। क्योंकि विवेक और वैराग्यसे भलीभाँति सम्पन्न हो जानेपर साधकको इस सम्पत्तिका प्राप्त होना सहज है। इस सम्पत्तिका नाम है 'षट्सम्पत्ति' और इसके छः विभाग ये हैं—

१ शम

मनका पूर्णरूपसे निगृहीत, निश्चल और शान्त हो जाना ही 'शम' है। विवेक और वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर मन स्वाभाविक ही निश्चल और शान्त हो जाता है।

२ दम

इन्द्रियोंका पूर्णरूपसे निगृहीत और विषयोंके रसास्वादसे रहित हो जाना 'दम' है।

३ उपरति

विषयोंसे चित्तका उपरत हो जाना ही उपरति है। जब मन और इन्द्रियोंको विषयोंमें रसानुभूति नहीं होगी, तब स्वाभाविक ही साधककी उनसे उपरति हो जायगी। यह उपरति भोगवासनासे—केवल बाहरसे ही नहीं, भीतरसे—होनी चाहिये। भोगसंकल्पकी प्रेरणासे ब्रह्मलोकतकके दुर्लभ भोगोंकी ओर भी कभी वृत्ति ही न जाय, इसका नाम उपरति है।

४ तितिक्षा

द्वन्द्वोंको सहन करनेका नाम तितिक्षा है। यद्यपि सर्दी-

गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदिका सहन करना भी 'तितिक्षा' ही है; परन्तु विवेक, वैराग्य और शम, दम, उपरतिके अनन्तर प्राप्त होनेवाली तितिक्षा तो इससे कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये। संसारमें न तो द्वन्द्वोंका नाश ही हो सकता है और न कोई इनसे सर्वथा बच ही सकता है। किसी भी तरह इनको सह लेना भी उत्तम ही है; परन्तु सर्वोत्तम तो है—द्वन्द्व-जगत्‌से ऊपर उठकर, साक्षी होकर द्वन्द्वोंको देखना। यही वास्तविक तितिक्षा है। ऐसा होनेपर फिर सरदी-गरमी और मानापमान उसको विचलित नहीं कर सकते।

५ श्रद्धा

आत्मसत्तामें प्रत्यक्षकी भाँति अखण्ड विश्वासका नाम ही श्रद्धा है। पहले शास्त्र, गुरु और साधन आदिमें श्रद्धा होती है; उससे आत्मश्रद्धा बढ़ती है। परन्तु जबतक आत्मस्वरूपमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती, तबतक एकमात्र निष्कल, निरञ्जन, निराकार, निर्गुण ब्रह्मको लक्ष्य बनाकर उसमें बुद्धिकी स्थिति नहीं हो सकती।

६ समाधान

मन और बुद्धिका परमात्मामें पूर्णतया समाहित हो जाना—जैसे अर्जुनको गुरु द्रोणके सामने परीक्षा देते समय वृक्षपर रक्खे हुए नकली पक्षीका केवल गला ही देख पड़ता था, वैसे ही मन और बुद्धिको निरन्तर एकमात्र लक्ष्यवस्तु ब्रह्मके ही दर्शन होते रहना—यही समाधान है।

४ मुमुक्षुत्व

इस प्रकार जब विवेक, वैराग्य और षट्सम्पत्तिकी प्राप्ति हो जाती है, तब साधक स्वाभाविक ही अविद्याके बन्धनसे सर्वथा मुक्त होना चाहता है और वह सब ओरसे चित्त हटाकर, किसी ओर भी न ताककर एकमात्र परमात्माकी ओर ही दौड़ता है। उसका यह अत्यन्त वेगसे दौड़ना अर्थात् तीव्र साधन ही उसकी परमात्माको पानेकी तीव्रतम लालसाका परिचय देता है। यही मुमुक्षुत्व है।

प्रश्न—यहाँ 'कर्मयोग' शब्द किस साधनका वाचक है और उसके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना क्या है ?

उत्तर—जिस साधनका दूसरे अध्यायमें चालीसवें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है। अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्मयोग है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है।

प्रश्न—कर्मयोगके साधनमें साधक अपनेको परमात्मासे भिन्न समझता है, इसलिये उसको भिन्नभावसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होनी चाहिये; यहाँ अभेदभावसे ब्रह्मकी प्राप्ति कैसे बतलायी गयी ?

उत्तर—साधनकालमें भेदभाव रहनेपर भी जो साधक फलमें अभेद मानता है, उसको अभेदभावसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है; और यहाँ किन-किन साधनोंद्वारा अभेदभावसे ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, यही बतलानेका प्रसङ्ग है। इसीलिये यहाँ कर्मयोगके द्वारा भी अभिन्नभावसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

परन्तु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'तु' पद यहाँ इस बातका द्योतक है कि अब पूर्वोक्त साधकोंसे विलक्षण दूसरे साधकोंका वर्णन किया जाता है। अभिप्राय यह है कि जो लोग पूर्वोक्त साधनोंको भलीभाँति नहीं समझ पाते, उनका उद्धार कैसे हो सकता है ?' इसका उत्तर इस श्लोकमें दिया गया है।

प्रश्न—'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद किनका वाचक है और उनका दूसरोंसे सुनकर उपासना करना क्या है ?

उत्तर—बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है ।

जबालाके पुत्र सत्यकाम ब्रह्मको जाननेकी इच्छासे गौतमगोत्रीय महर्षि हारिद्रुमतके पास गये। वहाँ बातचीत होनेपर गुरुने चार सौ अत्यन्त कृश और दुर्बल गौएँ अलग करके उनसे कहा—'हे सौम्य ! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा ।' गुरुकी आज्ञानुसार अत्यन्त श्रद्धा, उत्साह और हर्षके साथ उन्हें वनकी ओर ले जाते हुए सत्यकामने कहा—'इनकी संख्या एक हजार पूरी करके मैं लौटूँगा ।' वे उन्हें तृण और जलकी अधिकतावाले निरापद वनमें ले गये और पूरी एक हजार होनेपर लौटे । फल यह हुआ कि लौटते समय रास्तेमें ही उनको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया । (छान्दोग्य उ० ४ । ४।९) इसी प्रकारके तत्त्वके जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो उसके अनुसार आचरण करना है, यही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है ।

प्रश्न—'श्रुतिपरायणाः' विशेषणका क्या भाव है ? तथा 'अपि' पदके प्रयोगका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—जो सुननेके परायण होते हैं अर्थात् जैसा सुनते हैं, उसीके अनुसार साधन करनेमें श्रद्धा और प्रेमके साथ तत्परतासे लग जाते हैं—उनको 'श्रुतिपरायणाः' कहते हैं । 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जब इस प्रकारके अल्पबुद्धिवाले पुरुष दूसरोंसे सुनकर भी उपासना करके मृत्युसे तर जाते हैं—इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, तब फिर जो साधक पूर्वोक्त तीन प्रकारके साधनोंमेंसे किसी प्रकारका एक साधन करते हैं—उनके तरनेमें तो कहना ही क्या है ।

प्रश्न—यहाँ 'मृत्युम्' पद किसका वाचक है और 'अति' उपसर्गके सहित 'तरन्ति' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'मृत्युम्' पद बार-बार जन्ममृत्युरूप संसारका वाचक है और 'अति' उपसर्गके सहित 'तरन्ति' क्रियाका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाले पुरुष जन्म-मृत्युरूप दुःखमय संसार-समुद्रसे पार होकर सदाके लिये सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं; फिर उनका पुनर्जन्म नहीं होता । अभिप्राय यह है कि तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति' से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति' से कही गयी है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके, अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान ॥ २६ ॥

प्रश्न—'यावत्', 'किञ्चित्' और 'स्थावरजङ्गमम्'—इन तीनों विशेषणोंका क्या अभिप्राय है तथा इन तीनों विशेषणोंसे युक्त 'सत्त्वम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—'यावत्' और 'किञ्चित्'—ये दोनों पद चराचर जीवोंकी सम्पूर्णताके बोधक हैं । देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'जङ्गम' कहते हैं और वृक्ष, लता, पहाड़ आदि स्थिर रहनेवाले प्राणियोंको 'स्थावर' कहते हैं । अतएव इन तीनों विशेषणोंसे युक्त 'सत्त्वम्' पद समस्त चराचर प्राणिसमुदायका वाचक है ।

प्रश्न—'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द यहाँ किनके वाचक हैं

और इन दोनोंका संयोग तथा उससे समस्त प्राणिसमुदायका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है—वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है, सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'परा प्रकृति' कहा गया है—वह चेतन तत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है, उसका यानी 'प्रकृतिस्थ' पुरुषका जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है—वही उनका उत्पन्न होना है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—'विनश्यत्सु' और 'सर्वेषु'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'भूतेषु' पद किनका वाचक है और उनके साथ इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—बार-बार जन्म लेने और मरनेवाले जितने भी प्राणी हैं, भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके संयोग-वियोगसे जिनका जन्मना और मरना माना जाता है, उन सबका वाचक यहाँ 'विनश्यत्सु' और 'सर्वेषु' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'भूतेषु' पद है। समस्त प्राणियोंका ग्रहण करनेके लिये उसके साथ 'सर्वेषु' और शरीरोंके सम्बन्धसे उनको विनाशशील बतलानेके लिये 'विनश्यत्सु' विशेषण दिया गया है।

यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि विनाश होना शरीरका धर्म है आत्माका नहीं। आत्मतत्त्व नित्य और अविनाशी है तथा वह शरीरोंके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त प्राणिसमुदायमें वस्तुतः एक ही है। यही बात इस श्लोकमें दिखलायी गयी है।

प्रश्न—यहाँ 'परमेश्वरम्' पद किसका वाचक है तथा उपर्युक्त समस्त भूतोंमें उसे नाशरहित और समभावसे स्थित देखना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'परमेश्वरम्' पद प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतनतत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ'के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है। यह परम पुरुष यद्यपि वस्तुतः शुद्ध सच्चिदानन्दघन है और प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके संगसे इसको क्षेत्रज्ञ और प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता कहा जाता है। अतः समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्वको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति समभावसे स्थित और नित्य देखना है—वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभावसे स्थित देखना' है।

प्रश्न—यहाँ 'जो देखता है वही यथार्थ देखता है' इस वाक्यसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इस श्लोकमें आत्मतत्त्वको जन्म और मृत्यु आदि समस्त विकारोंसे रहित—निर्विकार एवं सम बतलाया गया है। अतएव इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो इस नित्य चेतन एक आत्मतत्त्वको इस प्रकार निर्विकार, अविनाशी और असङ्गरूपसे सर्वत्र समभावसे स्थित देखता है—वही यथार्थ देखता है। जो इसे शरीरोंके सङ्गसे जन्म-मरणशील और सुखी-दुखी समझते हैं, उनका देखना यथार्थ देखना नहीं है; अतएव वे देखते हुए भी नहीं देखते।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह कहा गया है कि उस परमेश्वरको जो सब भूतोंमें नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही ठीक देखता है; इस कथनकी सार्थकता दिखलाते हुए उसका फल परम गतिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'हि' पद किस अर्थमें है और इसके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'हि' पद हेतु-अर्थमें है । इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि समभावसे देखनेवाला अपना नाश नहीं करता और परम गतिको प्राप्त हो जाता है । इसलिये उसका देखना ही यथार्थ देखना है ।

प्रश्न—सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना क्या है और इस प्रकार देखनेवाला अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे स्थित है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है । जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है । क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है; वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं । अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परन्तु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है । इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता । अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वत्र, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है; अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है ।

प्रश्न—'ततः' पदका प्रयोग किस अर्थमें हुआ है और इसका प्रयोग करके परम गतिको प्राप्त होनेकी बात कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'ततः' पद भी हेतुबोधक है । इसका प्रयोग करके परम गतिकी प्राप्ति बतलानेका यह भाव है कि सर्वत्र समभावसे स्थित सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाला वह पुरुष अपनेद्वारा अपना विनाश नहीं करता, इस कारण वह सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूटकर परम गतिको प्राप्त हो जाता है । जो परम पदके नामसे कहा है, जिसको प्राप्त करके पुनः लौटना नहीं पड़ता और जो समस्त साधनोंका अन्तिम फल है—उसको प्राप्त होना ही यहाँ 'परम गतिको प्राप्त होना' है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ २९ ॥

प्रश्न—तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये जाते हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है; और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं। इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं; तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं। अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये जाते हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है। इस प्रकार सब जगह वस्तुतः एक ही बात कही गयी है; इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है।

प्रश्न—आत्माको अकर्ता देखना क्या है और जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्ता समझना' है। तथा जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है—इस कथनसे उसकी महिमा प्रकट की गयी है। अभिप्राय यह है कि जो आत्माको मन, बुद्धि और शरीरके सम्बन्ध से समस्त कर्मोंका कर्ता-भोक्ता समझते हैं, उनका देखना भ्रमयुक्त होनेसे गलत है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको अकर्ता समझनेकी महिमा बतलाकर अब उसके एकत्वदर्शनका फल बतलाते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

प्रश्न—'भूतपृथग्भावम्' पद किसका वाचक है और उसे एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना क्या है?

उत्तर—जिन चराचर समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे बतलायी गयी है (१३।२६) तथा जिन समस्त भूतोंमें परमेश्वरको समभावसे देखनेके लिये कहा गया है (१३।२७), उन समस्त प्राणियोंके नानात्वका वाचक यहाँ 'भूतपृथग्भावम्' पद है। तथा जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है।

प्रश्न—यहाँ 'यदा' और 'तदा' पदके प्रयोगका क्या भाव है तथा ब्रह्मको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—'यदा' और 'तदा' पद कालवाचक अव्यय हैं। इनका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि मनुष्यको जिस क्षण ऐसा ज्ञान हो जाता है, उसी क्षण वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है यानी ब्रह्म ही हो जाता है। इसमें जरा भी विलम्ब नहीं होता। इस प्रकार जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ अभिन्नताको प्राप्त हो जाना है—उसीको परम गतिकी प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति, आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति और परम शान्तिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर

यह शङ्का होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; इस शङ्काका निवारण करनेके लिये अब भगवान्—तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका सङ्केत किया गया था, उसके अनुसार—तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—'अनादित्वात्' और 'निर्गुणत्वात्'—इन दोनों पदोंका क्या अर्थ है और इन दोनोंका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे ही हो—उसे 'अनादि' कहते हैं। प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो—उसे 'निर्गुण' कहते हैं। अतएव यहाँ 'अनादित्वात्' और 'निर्गुणत्वात्'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है।

प्रश्न—यहाँ 'परमात्मा'के साथ 'अयम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अयम्' पद जिसका प्रकरण पहलेसे चला आ रहा है, उसका निर्देश करता है। अतएव यहाँ 'परमात्मा' शब्दके साथ 'अयम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उन्तीसवेंमें 'आत्मा' और तीसवेंमें जिसको 'ब्रह्म' कहा गया है—उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है। अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—सत्ताईसवें श्लोकमें परमेश्वर, अट्ठाईसवेंमें ईश्वर, उन्तीसवेंमें आत्मा, तीसवेंमें ब्रह्म और इसमें परमात्मा—इस प्रकार एक ही तत्त्वके बतलानेके लिये इन श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न नामोंका प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर—तीसरे श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको 'क्षेत्रज्ञ'का स्वरूप और प्रभाव बतलानेका संकेत किया था। उसके अनुसार परब्रह्म परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञकी अभिन्नता दिखलाकर उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण करनेके लिये यहाँ परमात्माके वाचक भिन्न-भिन्न नामोंका सहेतुक प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं होता ? और उससे लिप्त कैसे नहीं होता ?

उत्तर—वास्तवमें प्रकृतिके गुणोंसे और उनके ही विकाररूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरसे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; वह गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं बनता। और शरीरोंसे लिप्त भी नहीं होता। इस बातको भगवान् स्वयं अगले दो श्लोकोंमें दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं।

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता ? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें आकाशका दृष्टान्त देकर क्या बात समझायी गयी है ?

उत्तर—आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह समभावसे व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता—वैसे ही आत्मा भी इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता।

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर क्या बात समझायी गयी है और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर आत्माके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गको—प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है। तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसका भिन्न-भिन्न प्राकट्य होता-सा देखा जाता है; ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है, तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि दोषोंसे ही युक्त होता है। वह अविनाशी आत्मा प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञानस्वरूप, अकर्ता निर्विकार, सम और निरञ्जन ही रहता है।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने सङ्केत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

प्रश्न—'ज्ञानचक्षुषा' पदका क्या अभिप्राय है तथा ज्ञान-चक्षुके द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जानना क्या है ?

उत्तर—दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिसको अज्ञानका नाश करनेमें कारण बतलाया है, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, यहाँ 'ज्ञानचक्षुषा' पद उसी 'तत्त्वज्ञान'का वाचक है।

उस ज्ञानके द्वारा जो भलीभाँति तत्त्वसे यह समझ लेना है कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; यह जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील,

विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है; तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असङ्ग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है। इस प्रकार दोनोंमें विलक्षणता होनेके कारण क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है। जो उसकी क्षेत्रके साथ एकता प्रतीत होती है वह अज्ञानमूलक है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है।

प्रश्न—'भूतप्रकृतिमोक्षम्' का क्या अभिप्राय है और उसको ज्ञानचक्षुके द्वारा जानना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है। अतः कार्यसहित प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही भूत-प्रकृतिमोक्ष है। तथा उपर्युक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेके साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्न भावसे प्रतिष्ठित हो जाना है यही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जानना है। अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्नमें मनुष्यको किसी निमित्तसे अपनी जाग्रत् अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्वप्न है अतः अपने असली शरीरमें जग जाना ही इसके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है। इस भावका उदय होते ही वह जग उठता है वैसे ही ज्ञानयोगीका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणताको समझकर साथ-ही-साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्रको सत्य मान लेनेके कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था। अतः वास्तविक सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें लीन हो जाना ही इससे मुक्त होना है यही उसका कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जानना है।

प्रश्न—जो इनको जानते हैं वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं इसका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त तत्त्वज्ञान होनेके साथ अज्ञानसहित समस्त दृश्यका अभाव हो जाता है और तत्काल ही उनको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

चतुर्दशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूपका; उनके कार्य, कारण और शक्तिका; तथा वे किस प्रकार किस अवस्थामें जीवात्माको कैसे बन्धनमें डालते हैं और किस प्रकार इनसे छूटकर मनुष्य परम पदको प्राप्त हो सकता है; तथा इन तीनों गुणोंसे अतीत होकर परमात्माको प्राप्त मनुष्यके क्या लक्षण हैं?—इन्हीं त्रिगुणसम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है। पहले साधनकालमें रज और तमका त्याग करके सत्त्व गुणको ग्रहण करना और अन्तमें सभी गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना चाहिये, इसको समझानेके लिये उन तीनों गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरेमें आगे कहे जानेवाले ज्ञानकी महिमा और उसके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। तीसरे और चौथेमें प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे सब प्राणियोंकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाकर पाँचवेंमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको जीवात्माके बन्धनमें हेतु बतलाया है। छठेसे आठवेंतक सत्त्व आदि तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार क्रमसे बतलाया गया है। नवममें जीवात्माको कौन गुण किसमें लगाता है—इसका संकेत करके तथा दसवेंमें दूसरे दो गुणोंको दबाकर किसी एक गुणके बढ़नेका प्रकार बतलाते हुए ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक बढ़े हुए सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके क्रमसे लक्षण बतलाये गये हैं। चौदहवें और पंद्रहवेंमें तीनों गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणकी वृद्धिके समय मरनेवालेकी गतिका निरूपण करके सोलहवेंमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्मोंका उनके अनुरूप फल बतलाया गया है। सतरहवेंमें ज्ञानकी उत्पत्तिमें सत्त्वगुणको, लोभकी उत्पत्तिमें रजोगुणको तथा प्रमाद, मोह और अज्ञानकी उत्पत्तिमें तमोगुणको हेतु बतलाकर अठारहवेंमें तीनों गुणोंमेंसे प्रत्येकमें स्थित जीवात्माकी उन गुणोंके अनुरूप ही गति बतलायी गयी है। उन्नीसवें और बीसवेंमें समस्त कर्मोंको गुणोंके द्वारा किये जाते हुए और आत्माको सब गुणोंसे अतीत एवं अकर्ता देखनेका तथा तीनों गुणोंसे अतीत होनेका फल बतलाया गया है। इक्कीसवेंमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके लिये उपाय पूछा है; इसके उत्तरमें बाईसवेंसे पचीसवेंतक भगवान्‌ने गुणातीतके लक्षण और आचरणोंका एवं छब्बीसवेंमें गुणोंसे अतीत होनेके उपायका और उसके फलका वर्णन किया है। तदनन्तर अन्तिम—सत्ताईसवेंमें ब्रह्म, अमृत, अव्यय आदि सब भगवान्‌के ही स्वरूप होनेसे अपनेको (भगवान्‌को) इन सबकी प्रतिष्ठा बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया। वहाँ उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है। गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, वे जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके सङ्गसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छूटे हुए पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाना है, इसलिये पहले भगवान् दो श्लोकोंमें उस ज्ञानका महत्त्व बतलाकर उसके पुनः वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १ ॥

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद किन ज्ञानोंका वाचक है और उनमेंसे यहाँ भगवान् किस ज्ञानके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं; तथा उस ज्ञानको अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर क्यों बतलाते हैं ?

उत्तर—श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं उन सभीका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'भूयः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'भूयः' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि इस ज्ञानका निरूपण तो पहले भी किया जा चुका है, परन्तु अत्यन्त ही गहन और दुर्विज्ञेय होनेके कारण समझमें आना कठिन है; अतः भलीभाँति समझानेके लिये प्रकारान्तरसे पुनः उसीका वर्णन किया जाता है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनयः' पद किनका वाचक है और वे लोग इस ज्ञानको समझकर जिसको प्राप्त हो चुके हैं, वह 'परम सिद्धि' क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'मुनयः' पद ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानियोंका वाचक है; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं—जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

प्रश्न—'इतः' पद किसका वाचक है और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'इतः' पद 'संसार'का वाचक है। इसका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि उन मुनियोंका इस महान् दुःखमय मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये सम्बन्ध छूट गया है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते ॥ २ ॥

प्रश्न—'ज्ञानम्'के साथ 'इदम्' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ? और उस ज्ञानका आश्रय लेना क्या है ?

उत्तर—जिसका वर्णन तेरहवें अध्यायमें किया जा चुका है और इस चौदहवें अध्यायमें भी किया जाता है, उसी ज्ञानकी यह महिमा है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'ज्ञानम्' पदके साथ 'इदम्' विशेषणका प्रयोग किया गया है। तथा इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना क्या

उत्तर—पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेद-भावसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। क्योंकि अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेका प्रधान कारण है गुणोंका सङ्ग और मुक्त पुरुष गुणोंसे सर्वथा अतीत होते हैं; इसलिये उनका पुनरागमन नहीं हो सकता। और जब उत्पत्ति नहीं है, तब विनाशका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानको फिरसे कहनेकी प्रतिज्ञा करके और उसके महत्त्वका निरूपण करके अब भगवान् उस ज्ञानका वर्णन आरम्भ करते हुए दो श्लोकोंमें प्रकृति और पुरुषसे समस्त जगत्‌की उत्पत्ति बतलाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है॥ ३॥

प्रश्न—'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद किसका वाचक है तथा उसे 'मम' कहनेका और 'योनिः' नाम देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—समस्त जगत्‌की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद है। इसकी व्याख्या नवें अध्यायके सातवें श्लोकपर की जा चुकी है। उसे 'मम' (मेरी) कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे साथ इसका अनादि सम्बन्ध है। 'योनिः' उपादानकारण और गर्भाधानके आधारको कहते हैं। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

प्रश्न—यहाँ 'गर्भम्' पद किसका वाचक है और उसको उस महद्ब्रह्मरूप प्रकृतिमें स्थापन करना क्या है?

उत्तर—सातवें अध्यायमें जिसे 'परा प्रकृति' कहा है, उसी चेतनसमूहका वाचक यहाँ 'गर्भम्' पद है। और महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायको जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायका गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

प्रश्न—'ततः' पद किसका वाचक है और 'सर्वभूतानाम्' पद किनका वाचक है तथा उनकी उत्पत्ति क्या है?

उत्तर—'ततः' पद यहाँ भगवान्‌द्वारा किये जानेवाले उस जड और चेतनके संयोगका और 'सर्वभूतानाम्' पद अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके अनुसार देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विभिन्न शरीरोंमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंका वाचक है। उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है। महासर्गके आदिमें उपर्युक्त संयोगसे पहले-पहल हिरण्यगर्भकी और तदनन्तर अन्यान्य भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'मूर्तयः' पद किनका वाचक है और समस्त योनियोंमें उनका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—'मूर्तयः' पद देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है; और उन देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है ।

प्रश्न—उन सब मूर्तियोंका मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ और महद्ब्रह्म योनि माता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है । उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ ।

सम्बन्ध—तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंके सङ्गसे ही इस जीवका अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होता है । उसके अनुसार जीवोंका नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी किन्तु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी । इसलिये अब वे गुण क्या हैं ? उनका सङ्ग क्या है ? किस गुणके सङ्गसे अच्छी योनिमें और किस गुणके सङ्गसे बुरी योनिमें जन्म होता है ?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पाँचवेंसे आठवें श्लोकतक पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—'सत्त्वम्', 'रजः', 'तमः'—इन तीनों पदोंके प्रयोगका और गुणोंको 'प्रकृतिसम्भव' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—गुणोंके भेद, नाम और संख्या बतलानेके लिये यहाँ 'सत्त्वम्', 'रजः' और 'तमः'—इन पदोंका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं; और तीनों परस्पर भिन्न हैं । इनको 'प्रकृतिसम्भव' कहनेका यह अभिप्राय है कि ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है ।

प्रश्न—'देहिनम्' पदके प्रयोगका और उसे अव्यय कहनेका क्या भाव है तथा उन तीनों गुणोंका इसको शरीरमें बाँधना क्या है ?

उत्तर—'देहिनम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है; और उसे 'अव्यय' कहकर यह दिखलाया है कि वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता । अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है । इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है । अभिप्राय यह है कि जीवात्माका तीनों गुणोंसे उत्पन्न शरीरोंमें और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें जो अभिमान, आसक्ति और ममत्व है—यही बन्धन है ।

उत्तर—पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेद-भावसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। क्योंकि अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेका प्रधान कारण है गुणोंका सङ्ग और मुक्त पुरुष गुणोंसे सर्वथा अतीत होते हैं; इसलिये उनका पुनरागमन नहीं हो सकता। और जब उत्पत्ति नहीं है, तब विनाशका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानको फिरसे कहनेकी प्रतिज्ञा करके और उसके महत्त्वका निरूपण करके अब भगवान् उस ज्ञानका वर्णन आरम्भ करते हुए दो श्लोकोंमें प्रकृति और पुरुषसे समस्त जगत्‌की उत्पत्ति बतलाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है॥ ३॥

प्रश्न—'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद किसका वाचक है तथा उसे 'मम' कहनेका और 'योनिः' नाम देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—समस्त जगत्‌की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद है। इसकी व्याख्या नवें अध्यायके सातवें श्लोकपर की जा चुकी है। उसे 'मम' (मेरी) कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे साथ इसका अनादि सम्बन्ध है। 'योनिः' उपादानकारण और गर्भाधानके आधारको कहते हैं। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भा-धानका आधार है।

प्रश्न—यहाँ 'गर्भम्' पद किसका वाचक है और उसको उस महद्ब्रह्मरूप प्रकृतिमें स्थापन करना क्या है?

उत्तर—सातवें अध्यायमें जिसे 'परा प्रकृति' कहा है, उसी चेतनसमूहका वाचक यहाँ 'गर्भम्' पद है। और महाप्रलय-के समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायको जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायका गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

प्रश्न—'ततः' पद किसका वाचक है और 'सर्वभूतानाम्' पद किनका वाचक है तथा उनकी उत्पत्ति क्या है?

उत्तर—'ततः' पद यहाँ भगवान्‌द्वारा किये जानेवाले उस जड और चेतनके संयोगका और 'सर्वभूतानाम्' पद अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके अनुसार देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विभिन्न शरीरोंमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंका वाचक है। उपर्युक्त जडचेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है। महासर्गके आदिमें उपर्युक्त संयोगसे पहले-पहल हिरण्यगर्भकी और तदनन्तर अन्यान्य भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'मूर्तयः' पद किनका वाचक है और समस्त योनियोंमें उनका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—'मूर्तयः' पद देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है; और उन देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है ।

प्रश्न—उन सब मूर्तियोंका मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ और महद्ब्रह्म योनि माता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है । उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ ।

सम्बन्ध—तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंके सङ्गसे ही इस जीवका अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होता है । उसके अनुसार जीवोंका नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी किन्तु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी । इसलिये अब वे गुण क्या हैं ? उनका सङ्ग क्या है ? किस गुणके सङ्गसे अच्छी योनिमें और किस गुणके सङ्गसे बुरी योनिमें जन्म होता है ?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पाँचवेंसे आठवें श्लोकतक पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—'सत्त्वम्', 'रजः', 'तमः'—इन तीनों पदोंके प्रयोगका और गुणोंको 'प्रकृतिसम्भव' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—गुणोंके भेद, नाम और संख्या बतलानेके लिये यहाँ 'सत्त्वम्', 'रजः' और 'तमः'—इन पदोंका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं; और तीनों परस्पर भिन्न हैं । इनको 'प्रकृतिसम्भव' कहनेका यह अभिप्राय है कि ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है ।

प्रश्न—'देहिनम्' पदके प्रयोगका और उसे अव्यय कहनेका क्या भाव है तथा उन तीनों गुणोंका इसको शरीरमें बाँधना क्या है ?

उत्तर—'देहिनम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है; और उसे 'अव्यय' कहकर यह दिखलाया है कि वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता । अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है । इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका इसको शरीरमें बाँध देना है । अभिप्राय यह है कि जीवात्माका तीनों गुणोंसे उत्पन्न शरीरोंमें और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें अभिमान, आसक्ति और ममत्व है—यही बन्धन है ।

सम्बन्ध--अब सत्त्वगुणका स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकार-रहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—'निर्मलत्वात्' पदके प्रयोगका तथा सत्त्वगुणको प्रकाशक और अनामय बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है। जब सत्त्वगुण बढ़ता है तब मनुष्यके मनकी चञ्चलता अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह संसारसे विरक्त और उपरत होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें मग्न हो जाता है। साथ ही उसके चित्त और समस्त इन्द्रियोंमें दुःख तथा आलस्यका अभाव होकर चेतन-शक्तिकी वृद्धि हो जाती है। 'निर्मलत्वात्' पद सत्त्वगुणके इन्हीं गुणोंका बोधक है और सत्त्वगुणका यह स्वरूप बतलानेके लिये ही उसे 'प्रकाशक' और 'अनामय' बतलाया गया है।

प्रश्न—उस सत्त्वगुणका इस जीवात्माको सुख और ज्ञानके सङ्गसे बाँधना क्या है ?

उत्तर—'सुख' शब्द यहाँ अठारहवें अध्यायके छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है। उस सुखकी प्राप्तिके समय जो 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान होकर जीवात्माका उस सुखके साथ सम्बन्ध हो जाता है, वह उस साधनके मार्गमें अग्रसर होनेसे रोक देता है और जीवन्मुक्त अवस्थाकी प्राप्तिसे वञ्चित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका सुखके सङ्गसे जीवात्माको बाँधना है।

'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसके प्रकट होनेपर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा अभिमान हो जाता है वह उसे गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका जीवात्माको ज्ञानके सङ्गसे बाँधना है।

प्रश्न—'अनघ' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अघ' पापको कहते हैं। जिसमें पापोंका सर्वथा अभाव हो, उसे 'अनघ' कहते हैं। यहाँ अर्जुनको 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह दिखलाते हैं कि तुममें स्वभावसे ही पापोंका अभाव है, अतएव तुम्हें बन्धनका डर नहीं है।

सम्बन्ध--अब रजोगुणका स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्माको बाँधे जानेका प्रकार बतलाते हैं—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है ॥ ७ ॥

प्रश्न—रजोगुणको 'रागात्मक' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—रजोगुण स्वयं ही राग यानी आसक्तिके रूपमें प्रकट होता है। 'राग' रजोगुणका स्थूल स्वरूप है, इसलिये यहाँ रजोगुणको 'रागात्मक' समझनेके लिये कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ रजोगुणको 'कामना' और 'आसक्ति' से उत्पन्न कैसे बतलाया गया, क्योंकि कामना तो स्वयं रजोगुणसे ही उत्पन्न होती है (३ । ३७; १४ । १२) अतएव रजोगुणको उनका कार्य माना जाय या कारण ?

उत्तर—कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा

रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है। इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना, आसक्ति आदि वृक्षस्थानीय हैं। बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। यहाँ 'तृष्णासङ्गसमुद्भवम्' पदके भी दोनों ही अर्थ बनते हैं। तृष्णा (कामना) और सङ्ग (आसक्ति) से जिसका सम्यक् उद्भव हो—उसका नाम रजोगुण माना जाय, तब तो रजोगुण उनका कार्य ठहरता है; तथा तृष्णा और सङ्गका सम्यक् उद्भव हो जिससे, उसका नाम रजोगुण माननेसे रजोगुण उनका कारण ठहरता है। बीज-वृक्षके न्यायसे दोनों ही बातें ठीक हैं, अतएव इसके दोनों ही अर्थ बन सकते हैं।

प्रश्न—कर्मोंका सङ्ग क्या है? और उसके द्वारा रजोगुणका जीवात्माको बाँधना क्या है?

उत्तर—'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानपूर्वक 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसङ्ग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, यही उसका कर्मसङ्गके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

सम्बन्ध—अब तमोगुणका स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाते हैं—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—तमोगुणका समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करना क्या है?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है। जिनका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध है तथा जिनकी शरीरमें अहंता या ममता है—वे सभी प्राणी निद्रादिके समय अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें मोह उत्पन्न होनेसे अपनेको मोहित मानते हैं। किन्तु जिनका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें अभिमान नहीं रहा है, ऐसे जीवन्मुक्त उनमें अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते; इसलिये यहाँ तमोगुणको 'समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाला' कहा है।

प्रश्न—तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न बतलानेका क्या अभिप्राय है? सत्रहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है?

उत्तर—तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें भी बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है। इसलिये कहीं तमोगुणसे अज्ञानकी और कहीं अज्ञानसे तमोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

प्रश्न—'प्रमाद', 'आलस्य' और 'निद्रा'—इन तीनों शब्दोंका क्या अर्थ है और इनके द्वारा तमोगुणका जीवात्माको बाँधना क्या है?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम प्रमाद है। कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम आलस्य है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वञ्चित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाकर अब उन तीनों गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें । तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥

प्रश्न—'सुख' शब्द यहाँ कौन-से सुखका वाचक है और सत्त्वगुणका इस मनुष्यको उसमें लगाना क्या है ?

उत्तर—'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (१८ । ३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक भोगों और चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे संयुक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है ।

प्रश्न—'कर्म' शब्द यहाँ कौन-से कर्मोंका वाचक है और रजोगुणका इस मनुष्यको उनमें लगाना क्या है ?

उत्तर—'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है । नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है ।

प्रश्न—तमोगुणका इस मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना और उसे प्रमादमें लगा देना क्या है ? तथा इन वाक्योंमें 'तु' और 'उत' इन दो अव्ययपदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है । यही उसका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है । और कर्तव्य-पालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद'में लगाना है ।

इस वाक्यमें 'तु' अव्ययके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि तमोगुण केवल ज्ञानको आवृत करके ही पिण्ड नहीं छोड़ता, दूसरी क्रिया भी करता है; और 'उत'के प्रयोगसे यह दिखलाया है कि यह जैसे ज्ञानको आच्छादित करके प्रमादमें लगाता है, वैसे ही निद्रा और आलस्यमें भी लगाता है । अभिप्राय यह है कि जब यह विवेक-ज्ञानको आवृत करता है, तब तो प्रमादमें लगाता है एवं जब अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनशक्तिरूप ज्ञानको क्षीण और आवृत करता है तब आलस्य और निद्रामें लगाता है ।

सम्बन्ध—सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने-अपने कार्यमें जीवको नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसे करनेमें किस प्रकार समर्थ होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है ॥ १० ॥*

प्रश्न—रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ना क्या है ?

उत्तर—जिस समय रजोगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर सत्त्वगुण अपना कार्य आरम्भ करता है उस समय

* गुणोंकी वृद्धिमें निम्नलिखित दस हेतु श्रीमद्भागवतमें बताये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च । ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥
(११ । १३ । १०)

'शास्त्र, जल, सन्तान, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका संग उसी गुणको बढ़ा देता है ।'

शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें प्रकाश, विवेक और वैराग्य आदिके बढ़ जानेसे वे अत्यन्त शान्त और सुखमय हो जाते हैं। अतः उस समय रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोग-वासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार दोनों गुणोंको दबाकर जो सत्त्वगुणका ज्ञान, प्रकाश और सुख आदिको उत्पन्न कर देना है यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

प्रश्न—सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ना क्या है ?

उत्तर—जिस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चञ्चलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस कारण उस समय सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश, विवेकशक्ति, शान्ति आदिका भी अभाव-सा हो जाता है। तमोगुणके कार्य निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदि भी दब जाते हैं। यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ जाना है।

प्रश्न—सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना क्या है ?

उत्तर—जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते है और प्रमादमें प्रवृत्ति हो जाती है, वृत्तियाँ विवेकशून्य हो जाती हैं। अतः सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश और ज्ञानका एवं रजोगुणके कार्य कर्मोंकी प्रवृत्ति और भोगोंको भोगनेकी इच्छा आदिका अभाव-सा हो जाता है; ये सब प्रकट नहीं हो पाते। यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर सत्त्वगुणकी वृद्धिके लक्षण पहले बतलाये जाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

प्रश्न—'यदा' और 'तदा' इन कालवाचक पदोंका तथा 'विद्यात्' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका तथा 'विद्यात्' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस समय इस श्लोकमें बतलाये हुए लक्षणोंका प्रादुर्भाव और उनकी वृद्धि हो, उस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये और उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

प्रश्न—'देहे' के साथ 'अस्मिन्' पदका प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अस्मिन्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने मनुष्य-शरीरकी विशेषताका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें बतलायी हुई सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्यशरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

प्रश्न—शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें प्रकाश और ज्ञानका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—शरीरमें चेतनता, हल्कापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही प्रकाशका उत्पन्न होना है। एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो

जाना 'ज्ञान'का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है; तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चञ्चलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव-सा हो जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके अब रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—'लोभ', 'प्रवृत्ति', 'कर्मोंका आरम्भ', 'अशान्ति' और 'स्पृहा'—इन सबका स्वरूप क्या है और रजोगुणकी वृद्धिके समय इनका उत्पन्न होना क्या है?

उत्तर—धनकी लालसाका नाम लोभ है जिसके कारण मनुष्य प्रतिक्षण धनकी वृद्धिके उपाय सोचता रहता है। धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग नहीं करता एवं धन-उपार्जनके समय कर्तव्य, अकर्तव्यका विवेचन छोड़कर दूसरेके स्वत्वपर भी अधिकार जमानेकी इच्छा या चेष्टा करने लगता है। नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है। उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है। मनकी चञ्चलताका नाम 'अशान्ति' है; और किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है।

रजोगुणके बढ़ जानेपर जब मनुष्यके अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश, विवेकशक्ति और शान्ति आदि एवं तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य आदि दोनों ही प्रकारके भाव दब जाते हैं, तब उसे नाना प्रकारके भोगोंकी आवश्यकता प्रतीत होने लग जाती है, उसके अन्तःकरणमें लोभ बढ़ जाता है, धनसंग्रहकी विशेष इच्छा उत्पन्न हो जाती है, नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मनमें नये-नये भाव उठने लगते हैं, मन चञ्चल हो जाता है, फिर उन भावोंके अनुसार क्रियाका भी आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है।

प्रश्न—यहाँ 'भरतर्षभ' सम्बोधन देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो भरतवंशियोंमें उत्तम हो, उसे भरतर्षभ कहते हैं। यहाँ अर्जुनको 'भरतर्षभ' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह दिखलाते हैं कि तुम भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ हो। तुम्हारे अंदर रजोगुणके कार्यरूप ये लोभादि नहीं हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार बढ़े हुए रजोगुणके लक्षणोंका वर्णन करके अब तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे अर्जुन! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

प्रश्न—अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह—इन सबका पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है; तथा तमोगुणकी वृद्धिके समय इनका उत्पन्न होना क्या है?

उत्तर—इन्द्रिय और अन्तःकरणकी दीप्तिका नाम प्रकाश है, और उसके विरुद्ध इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिके अभावका नाम 'अप्रकाश' है। इससे सत्त्वगुणके अन्य भावोंका भी अभाव समझ लेना चाहिये। बारहवें श्लोकमें कहे हुए रजोगुणके कार्य प्रवृत्तिके विरोधी भावका अर्थात् किसी भी कर्तव्यकर्मके आरम्भ करनेकी इच्छाके अभावका नाम 'अप्रवृत्ति' है। इससे रजोगुणके अन्य कार्योंका भी अभाव

समझ लेना चाहिये। शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलनाका और व्यर्थ चेष्टाका नाम 'प्रमाद' है। विवेकशक्तिकी विरोधिनी मोहिनी वृत्तिका और निद्राका नाम 'मोह' है।

जिस समय तमोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाता है; यही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगता, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होती है; यह 'अप्रवृत्ति' का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद'का उत्पन्न होना है। मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्था-का प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना —यही सब 'मोह' का उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं; अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—'यदा' और 'तदा'—इन कालवाची अव्यय पदोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है तथा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'यदा' और 'तदा'—इन कालवाची अव्यय-पदोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जिसकी स्वाभाविक स्थिति दूसरे गुणोंमें होते हुए भी सात्त्विक गुणकी वृद्धिमें मृत्यु हो जाती है। ऐसे मनुष्यमें जिस समय पूर्व संस्कार आदि किसी कारणसे सत्त्वगुण बढ़ जाता है—अर्थात् जिस समय ग्यारहवें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है—उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

प्रश्न—'देहभृत्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं; जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओं-का आवागमन नहीं होता।

प्रश्न—'लोकान्'के साथ 'अमलान्' विशेषण देनेका तथा 'उत्तमविदाम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'लोकान्' पदके साथ 'अमलान्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवालों-को जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंमें मल अर्थात् किसी प्रकारका दोष या क्लेश नहीं है; वे दिव्य प्रकाशमय, शुद्ध और सात्त्विक हैं। यहाँ 'उत्तमविदाम्' पदमें उत्तमशब्द-से शास्त्रविहित कर्म और उपासनाका लक्ष्य है। उनको जानने-वाले यानी निष्कामभावसे करनेवाले मनुष्य 'उत्तमवित्' कहलाते हैं। वे उक्त कर्मोपासनाके प्रभावसे जिन लोकोंको प्राप्त करते हैं, सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवाला सत्त्वगुणके सम्बन्धसे उन्हीं लोकोंको प्राप्त कर लेता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है; तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढयोनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

प्रश्न—रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना क्या है; तथा 'कर्मसङ्गिषु' पदका क्या अर्थ है ? और उनमें जन्म लेना क्या है ?

उत्तर—जिस समय रजोगुण बढ़ा होता है अर्थात् बारहवें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजसी भाव बढ़े हुए होते हैं—उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है। कर्म और उनके फलोंमें जिनकी आसक्ति है, उन मनुष्योंको 'कर्मसङ्गी' कहते हैं; इसलिये मनुष्ययोनिको प्राप्त होना ही 'कर्मसङ्गियोंमें जन्म लेना' है।

प्रश्न—तमोगुणकी वृद्धिमें मरना तथा मूढयोनिमें उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—जिस समयमें तमोगुण बढ़ा हो अर्थात् तेरहवें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामसभाव बढ़े हुए हों—उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है; और कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि जो तामसी योनियाँ हैं—उनमें जन्म लेना ही मूढयोनियोंमें उत्पन्न होना है।

सम्बन्ध—सत्त्व, रज, और तम—इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुणकी और कभी किसी गुणकी वृद्धि क्यों होती है ? इसपर कहते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'सुकृतस्य' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद कौन-से कर्मोंका वाचक है; तथा उनका सात्त्विक और निर्मल फल क्या है?

उत्तर—जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, उन सात्त्विक कर्मोंका वाचक यहाँ 'सुकृतस्य' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद है। ऐसे कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

प्रश्न—राजस कर्म कौन-से हैं ? और उनका फल दुःख क्या है ?

उत्तर—जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहङ्कारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (१८ । २४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करतेसमय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परन्तु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजसभाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं। और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह तो महान् दुःख है ही। इस प्रकार उनका जो कुछ भी फल मिलता है, सब दुःखरूप ही होता है।

प्रश्न—तामस कर्म कौन-से हैं और उनका फल अज्ञान क्या है ?

उत्तर—जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (१८ । २५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जडयोनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

प्रश्न—यहाँ गुणोंके फलका वर्णन करनेका प्रसङ्ग था, बीचमें कर्मोंके फलकी बात क्यों कही गयी ? यह अप्रासङ्गिक-सा प्रतीत होता है।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि पिछले श्लोकोंमें प्रत्येक गुणकी वृद्धिमें मरनेका भिन्न-भिन्न फल बतलाया गया है, अतः गुणोंकी वृद्धिके कारणरूप कर्म संस्कारोंका विषय भी अवश्य आना चाहिये; इसीलिये कर्मोंकी बात कही गयी है। अभिप्राय यह है कि सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें सञ्चित रहते हैं; उनमेंसे जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही सात्त्विक आदि भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे सात्त्विकादि गुणोंकी वृद्धि और वैसे ही स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। इसमें अन्तकालीन सात्त्विक आदि भावोंके फलकी जो विशेषता पिछले श्लोकोंमें दिखलायी गयी है, वह भी प्रायः पूर्वकृत सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके सम्बन्धसे ही होती है—इसी भावको दिखलानेके लिये यह श्लोक कहा गया है, अतएव अप्रासङ्गिक नहीं है; क्योंकि गुण और कर्म दोनोंके सम्बन्धसे ही अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है (४।१३)

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; फिर सत्त्वादि गुणोंकी वृद्धिमें मरनेका पृथक्-पृथक् फल बतलाया गया। इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया ? अतएव कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेनेके लिये ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाते हैं—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्सन्देह लोभ; तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

प्रश्न—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञान' शब्द उपलक्षणमात्र है। अतएव इस कथनसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विक भावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है।

प्रश्न—रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'लोभ' शब्दका प्रयोग भी यहाँ उपलक्षणमात्र ही है। इस कथनसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, स्वार्थपूर्वक कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजसभावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है।

प्रश्न—प्रमाद, मोह और अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलाकर इस वाक्यमें 'एव' पदके प्रयोग करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान तो उत्पन्न होते ही हैं; इनके सिवा निद्रा, आलस्य, अप्रकाश, अप्रवृत्ति आदि जितने तामसभाव हैं—वे सब भी तमोगुणसे ही उत्पन्न होते हैं।

सम्बन्ध—सत्त्वादि तीनों गुणोंके कार्य ज्ञान आदिका वर्णन करके अब सत्त्वगुणमें स्थिति कराने और रज तथा तमोगुणका त्याग करानेके लिये तीनों गुणोंमें स्थित पुरुषोंकी भिन्न-भिन्न गतियोंका प्रतिपादन करते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात्—

होनेकी बात यहाँ कही जाती है। 'देहसमुद्भवान्' विशेषण देकर यह दिखलाया है कि बुद्धि, अहङ्कार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर प्रकृतिजन्य गुणोंका ही कार्य है; अतएव इससे अपना सम्बन्ध मानना ही गुणोंसे लिप्त होना है। एवं 'त्रीन्' विशेषण देकर यह दिखलाया है कि इन गुणोंके तीन भेद हैं और तीनोंसे सम्बन्ध छूटनेपर ही मुक्ति होती है। रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुनर्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग कर देना चाहिये। आत्मा वास्तवमें असङ्ग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सम्बन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्ष-की भाँति अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना है।

प्रश्न—जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे विमुक्त होना क्या है और उसके बाद अमृतको अनुभव करना क्या है?

उत्तर—जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है; एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकारके दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके सङ्घातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं। अतएव जिनका शरीरके साथ किञ्चिन्मात्र भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे पुरुष लोकदृष्टिसे शरीरमें रहते हुए भी वस्तुतः शरीरके धर्म जन्म, मृत्यु और जरा आदिसे सदा-सर्वदा मुक्त ही हैं। अतः तत्त्व-ज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है। इसके अनन्तर जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको अभिन्न-भावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे उन्नीसवें श्लोकमें भगवद्भाव-की प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनु-भव करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्य-युक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है; तथा हे प्रभो! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है॥ २१॥

प्रश्न—'गुणान्' पदके साथ 'एतान्' और 'त्रीन्' इन पदोंका बार-बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिन तीनों गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन इस अध्यायमें हो चुका है, उन्हीं तीनों गुणोंसे अतीत होनेके विषयमें अर्जुन पूछ रहे हैं।

प्रश्न—'वह किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है' इस वाक्यसे अर्जुनने क्या पूछा है?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनने शास्त्रदृष्टिसे गुणातीत पुरुषके लक्षण पूछे हैं—जो गुणातीत पुरुषोंमें स्वाभाविक होते हैं और साधकोंके लिये सेवन करनेयोग्य आदर्श हैं।

प्रश्न—'किन आचरणोंवाला होता है' इस वाक्यसे क्या पूछा है?

उत्तर—इससे यह पूछा है कि गुणातीत पुरुषका व्यवहार कैसा होता है? अर्थात् गुणातीत पुरुष किसके साथ कैसा बर्ताव करता है और उसका रहन-सहन कैसा होता है? इत्यादि बातें जाननेके लिये यह प्रश्न किया है।

प्रश्न—'प्रभो' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्णको 'प्रभो' कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, कर्ता, हर्ता और सर्वसमर्थ परमेश्वर हैं—अतएव आप ही इस

विषयको पूर्णतया समझा सकते हैं और इसीलिये मैं आपसे पूछ रहा हूँ।

प्रश्न—'मनुष्य इन तीनों गुणोंसे अतीत कैसे होता है?' इस वाक्यसे क्या पूछा है?

उत्तर—इससे अर्जुनने 'गुणातीत' बननेका उपाय पूछा है। अभिप्राय यह है कि आपने जो गुणातीत होनेका उपाय पहले उन्नीसवें श्लोकमें बतलाया है—उसकी अपेक्षा भी सरल ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्र ही अनायास इन तीनों गुणोंसे पार हो सके।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है ॥ २२ ॥

प्रश्न—'प्रकाशम्' पदका क्या अर्थ है तथा यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रकाश'के ही प्रादुर्भाव और तिरोभावमें द्वेष और आकांक्षा न करनेके लिये क्यों कहा?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें आलस्य और जड़ताका अभाव होकर जो हलकापन, निर्मलता और चेतनता आ जाती है—उसका नाम 'प्रकाश' है। गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव होता ही नहीं। इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशकी बात कही है। अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी प्रकाश-वृत्तिका उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें यदि अपने-आप प्रादुर्भाव हो जाता है तो वह उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुनः उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है।

प्रश्न—'प्रवृत्तिम्' पदका क्या अभिप्राय है? और यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति' के ही प्रादुर्भाव और तिरोभावमें द्वेष और इच्छाका अभाव दिखलानेका क्या भाव है?

उत्तर—नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है। इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति'के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति'में ही रागद्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके मनमें किसी कर्मका आरम्भ करनेके लिये स्फुरणा होती है या शरीरादिद्वारा उसका आरम्भ होता है। तो वह उससे द्वेष नहीं करता; और जब ऐसा नहीं होता, उस समय वह उसको चाहता भी नहीं। किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है।

प्रश्न—'मोहम्' पदका क्या अभिप्राय है और यहाँ तमोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'मोह'के ही प्रादुर्भाव और तिरोभावमें द्वेष और आकाङ्क्षाका अभाव दिखलानेका क्या भाव है?

उत्तर—अन्तःकरणकी जो मोहिनी वृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है। इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान ज्ञानके पास आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके होता कौन? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें से

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—मान और अपमानमें सम रहना क्या है ?

उत्तर—मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है। अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं। परन्तु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है। उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमान-रूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानसे उसमें किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते। यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है।

प्रश्न—मित्र और वैरीके पक्षमें सम रहना क्या है ?

उत्तर—यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है; तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं। उसीकी अपेक्षासे भगवान्‌का यह कथन है कि वह मित्र और शत्रुके पक्षोंमें सम रहता है। अभिप्राय यह है कि जैसे संसारी मनुष्य अपने साथ मित्रता रखनेवालोंसे, उनके सम्बन्धी एवं हितैषियोंसे आत्मीयता और प्रीति करते हैं तथा उनके पक्षमें अपने स्वत्वका त्याग करके उनकी सहायता करते हैं; और अपने साथ वैर रखनेवालोंसे तथा उनके सम्बन्धी और हितैषियोंसे द्वेष रखते हैं, उनका बुरा करनेकी इच्छा रखते हैं एवं उनका अहित करनेमें अपनी शक्तिका व्यय करते हैं—गुणातीत इस प्रकार नहीं करता। वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा बिना राग-द्वेषके ही समभावसे सबके हितकी चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है।

प्रश्न—'सर्वारम्भपरित्यागी' का क्या भाव है ?

उत्तर—'आरम्भ' शब्द यहाँ क्रियामात्रका वाचक है; अतएव गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रियाएँ प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती हैं—उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्ता नहीं बनता। यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' अर्थात् 'सम्पूर्ण क्रियाओंका पूर्णरूपसे त्याग करनेवाला' कहा है।

प्रश्न—'वह गुणातीत कहा जाता है' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनके प्रश्नोंमेंसे दो प्रश्नोंके उत्तरका उपसंहार किया गया है। अभिप्राय यह है कि बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया गया है—उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसका आचार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें राग-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमानका लेशमात्र भी रहे तबतक समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब गुणातीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुणातीत बननेका उपाय अपनेको अकर्ता समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य-निरन्तर स्थित रहना बतला दिया था एवं उपर्युक्त चार श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है—उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी गुणातीत बननेका उपाय माना*

जाता है; किन्तु अर्जुनने इन उपायोंसे भिन्न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, इसलिये प्रश्नके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ॥२६॥

प्रश्न—'अव्यभिचारी भक्तियोग' किसको कहते हैं और उसके द्वारा भगवान्‌को निरन्तर भजना क्या है ?

उत्तर—केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है । अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो; जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे; जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाय—उस अनन्यप्रेमका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है।

ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन-मनन, उनके नामोंका उच्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्‌का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनकी आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें समस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को निरन्तर भजना है ।

प्रश्न—'माम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वाधार, समस्त जगत्‌के हर्ता-कर्ता, परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी सगुण परमेश्वरका वाचक है ।

प्रश्न—'गुणान्' पदके साथ 'एतान्' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है और उपर्युक्त पुरुषका उन गुणोंसे अतीत होना क्या है ?

उत्तर—'गुणान्' पदके साथ 'एतान्' विशेषण देकर यह दिखलाया गया है कि इस अध्यायमें जिन तीनों गुणोंका विषय चल रहा है, उन्हींका वाचक यहाँ 'गुणान्' पद है तथा इन तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे एवं समस्त सांसारिक पदार्थोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहना, उन गुणोंसे अतीत होना है ।

प्रश्न—'ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बन जाना है' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म है, जिसको पा लेनेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेके योग्य बन जाता है और तत्काल ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा उन्नीसवें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं बीसवें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया । अतएव फलमें विषमताकी शङ्काका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ ॥ २७ ॥

प्रश्न—'ब्रह्मणः' पदके साथ 'अव्ययस्य' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है और उस ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ,-इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'ब्रह्मणः'पदके साथ 'अव्ययस्य' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि यहाँ 'ब्रह्म' पद प्रकृतिका वाचक नहीं है, किन्तु निर्गुण-निराकार परमात्माका वाचक है और उसकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनका यहाँ यह अभिप्राय है कि वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न नहीं है; और मैं उससे भिन्न नहीं हूँ। वास्तवमें मैं और ब्रह्म दो वस्तु नहीं है एक ही तत्त्व है। अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है। क्योंकि वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माके ही अधिकारी-भेदसे उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न रूप बतलाये गये हैं। उनमेंसे परमात्माका जो मायातीत, अचिन्त्य, मन-वाणीका अविषय निर्गुण स्वरूप है वह तो एक ही है परन्तु सगुणरूपके साकार और निराकार ऐसे दो भेद हैं। जिस स्वरूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है, जो सबका आश्रय है, अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सबका धारण-पोषण करता है, वह तो भगवान्का सगुण अव्यक्त यानी निराकार रूप है। श्रीशिव, श्रीविष्णु एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि भगवान्के साकाररूप हैं तथा यह सारा जगत् भगवान्का विराट् स्वरूप है।

प्रश्न—'अमृतस्य' पद किसका वाचक है और 'अमृतकी प्रतिष्ठा मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है, अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट जाता है—उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मैं ही हूँ, अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।

प्रश्न—'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद किसका वाचक है और भगवान्का अपनेको ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो नित्यधर्म है, बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जिस धर्मको 'धर्म्यामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह मेरी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

प्रश्न—'ऐकान्तिकस्य' विशेषणके सहित 'सुखस्य' पद किसका वाचक है और उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक' सुखके नामसे और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख' के नामसे कहा गया है—उसी नित्य परमानन्दका वाचक यहाँ 'ऐकान्तिकस्य' विशेषणके सहित 'सुखस्य' पद है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति मेरी ही प्राप्ति है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पञ्चदशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सबके नियन्ता, सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, परम दयालु, सबके सुहृद्, सर्वाधार, शरण लेनेयोग्य, सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया गया है। एवं क्षर पुरुष (क्षेत्र), अक्षर पुरुष (क्षेत्रज्ञ) और पुरुषोत्तम (परमेश्वर)—इन तीनोंका वर्णन करके, क्षर और अक्षरसे भगवान् किस प्रकार उत्तम हैं, वे किसलिये 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं, उनको पुरुषोत्तम जाननेका क्या माहात्म्य है और किस प्रकार उनको प्राप्त किया जा सकता है—इत्यादि विषय भलीभाँति समझाये गये हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरेमें अश्वत्थ वृक्षके रूपकसे संसारका वर्णन किया गया है; तीसरेमें संसार-वृक्षके आदि, अन्त और प्रतिष्ठाकी अनुपलब्धि बतलाकर दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसे काटनेकी प्रेरणा करते हुए चौथेमें परमपदस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये उसी आदिपुरुषकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा है। पाँचवेंमें उस परम पदको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाकर छठेमें उस परम पदको परम प्रकाशमय और अपुनरावृत्तिशील बतलाया है। तदनन्तर सातवेंसे ग्यारहवेंतक जीवका स्वरूप, मन और इन्द्रियोंके सहित उसके एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका प्रकार, शरीरमें रहकर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे विषयोंके उपभोग करनेकी बात और प्रत्येक अवस्थामें स्थित उस जीवात्माको ज्ञानी ही जान सकता है, मलिन अन्तःकरणवाला पुरुष किसी प्रकार भी नहीं जान सकता—इत्यादि विषयोंका वर्णन किया गया है। बारहवेंमें समस्त जगत्‌को प्रकाशित करनेवाले सूर्य और चन्द्रमादिमें स्थित तेजको भगवान्‌का ही तेज बतलाकर तेरहवें और चौदहवेंमें भगवान्‌को पृथ्वीमें प्रवेश करके समस्त प्राणियोंके धारण करनेवाले, चन्द्ररूपसे सबके पोषण करनेवाले तथा वैश्वानररूपसे सब प्रकारके अन्नको पचानेवाले बतलाया है। और पंद्रहवेंमें सबके हृदयमें स्थित, सबकी स्मृति आदिके कारण, समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य, वेदोंको जाननेवाले और वेदान्तके कर्ता बतलाया गया है। सोलहवेंमें समस्त भूतोंको क्षर तथा कूटस्थ आत्माको अक्षर पुरुष बतलाकर सतरहवेंमें उनसे भिन्न सर्वव्यापी, सबका धारण-पोषण करनेवाले, अविनाशी परमात्माको पुरुषोत्तम बतलाया गया है। अठारहवेंमें पुरुषोत्तमत्वकी प्रसिद्धिके हेतुका प्रतिपादन करके उन्नीसवेंमें भगवान् श्रीकृष्णको पुरुषोत्तम समझनेवालेकी महिमा एवं बीसवेंमें उपर्युक्त गुह्यतम विषयके ज्ञानकी महिमा कहकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धनकारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम और अधम गति आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिके लिये योग्य बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्‌में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्यप्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं; तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं—उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है ॥ १ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अश्वत्थ' शब्दके प्रयोगका और इस संसाररूप वृक्षको 'ऊर्ध्वमूल' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अश्वत्थ' पीपलके वृक्षको कहते हैं। समस्त वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष उत्तम माना गया है। इसलिये उसके रूपकसे संसारका वर्णन करनेके लिये यहाँ 'अश्वत्थ'का प्रयोग किया गया है। 'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे ही हुआ है, यह बात चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूलवाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

प्रश्न—इस संसारवृक्षको नीचेकी ओर शाखावाला कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्य धामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्‌की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

प्रश्न—'अव्ययम्' और 'प्राहुः'—इन दो पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभङ्गुर है तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं। क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं। किन्तु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता।

प्रश्न—वेदोंको इस संसारवृक्षके पत्ते बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है।

प्रश्न—जो उस संसारवृक्षको जानता है, वह वेदोंको जानता है— इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चमक-दमकमें न फँसकर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है—वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि पंद्रहवें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान्‌को ही बतलाया है। जो संसारवृक्षका यह स्वरूप जान लेता है, वह इससे उपरत होकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है और भगवान्‌की शरणमें ही सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य है—इस अभिप्रायसे कहा गया है कि जो संसारवृक्षको जानता है, वह वेदोंको जानता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—इन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहनेका और विषयोंको कोंपल बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके सङ्गसे होती है (१३ । २१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है । और उन शाखाओंमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों विषय रहते हैं; इसीलिये उनको कोंपल बतलाया गया है।

प्रश्न—इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ क्या हैं तथा उनका नीचे-ऊपर सब जगह फैलना क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं और उनका नीचे पातालपर्यन्त एवं ऊपर ब्रह्मलोकपर्यन्त सर्वत्र विस्तृत होना ही सब जगह फैलना है ।

प्रश्न—'मूलानि' पद किनका वाचक है तथा उनको नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त बतलानेका क्या अभिप्राय है और वे मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले कैसे हैं ?

उत्तर—'मूलानि' पद यहाँ अविद्यामूलक 'अहंता' 'ममता' और 'वासना'का वाचक है । ये तीनों ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त समस्त लोकोंमें निवास करनेवाले आवागमनशील प्राणियोंके अन्तःकरणमें व्याप्त हो रही हैं, इसलिये इनको सर्वत्र व्याप्त बतलाया गया है । तथा मनुष्य शरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं । दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता । क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है । इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर—॥ ३ ॥

प्रश्न—इस संसारवृक्षका रूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ नहीं पाया जाता—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस संसारवृक्षका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है एवं जैसा देखने और सुननेमें आता है, यथार्थ विचार करनेपर और तत्त्वज्ञान होनेपर वैसा उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि विचारके समय भी यह नाशवान् और क्षणभङ्गुर प्रतीत होता है तथा तत्त्वज्ञान होनेके साथ तो उसका सदाके लिये सम्बन्ध ही छूट जाता है । तत्त्वज्ञानीके लिये यह रह ही नहीं जाता । इसीलिये सोलहवें श्लोकमें उसका वर्णन क्षर पुरुषके नामसे किया गया है ।

प्रश्न—इसका आदि, अन्त और स्थिति नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे संसारवृक्षको अनिर्वचनीय बतलाया है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह संसार कल्पके आदिमें उत्पन्न होकर कल्पके अन्तमें लीन हो जाता है, इस प्रकार

आदि-अन्त प्रसिद्ध होनेपर भी इस बातका पता नहीं है कि इसका यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी। स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता। इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति - तीनों ही उपलब्ध नहीं होते।

प्रश्न—इस संसारको 'सुविरूढमूल' कहनेका क्या अभिप्राय है तथा असङ्ग-शस्त्र क्या है और उसके द्वारा संसारवृक्षको छेदन करना क्या है?

उत्तर—इस संसार-वृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं—वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ हो गये हैं; अतएव जबतक उन जड़ोंको काट न डाला जाय, तबतक इस संसार-वृक्षका उच्छेद नहीं हो सकता। वृक्षकी भाँति ऊपरसे काट डालनेपर भी अर्थात् बाहरी सम्बन्धका त्याग कर देनेपर भी अहंता, ममता और वासनाका जबतक त्याग नहीं होता, तबतक संसार-वृक्षका उच्छेद नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये तथा उन जड़ोंका उच्छेद करना बड़ा ही दुष्कर है, यह दिखलानेके लिये भी उस वृक्षको अति दृढ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है। विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असङ्ग-शस्त्र' है। इस असङ्ग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना—उससे उपरत हो जाना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसार-वृक्षका दृढ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा संसारका छेदन करके क्या करना चाहिये, अब इसे बतलाते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रश्न—वह परम पद क्या है और उसको खोजना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जो 'माम्' पदसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहम्' पदसे कहा गया है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है—उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहते हैं। उस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसन्धान करते रहना है—यही उस परम पदको खोजना है। अभिप्राय यह है कि तीसरे श्लोकमें बतलाये हुए विधानके अनुसार विवेकपूर्वक वैराग्यद्वारा संसारसे सर्वथा उपरत होकर मनुष्यको उस परमपदस्वरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये मनन, निदिध्यासनद्वारा उसका अनुसन्धान करना चाहिये।

प्रश्न—जिसमें गये हुए मनुष्य फिर संसारमें नहीं लौटते—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि पिछले वाक्योंमें जिस परमपदका अनुसन्धान करनेके लिये कहा गया है, वह परमपद मैं ही हूँ। अभिप्राय यह है कि जिस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबका धारण-पोषण करनेवाले पुरुषोत्तमको प्राप्त होनेके बाद मनुष्य वापस नहीं लौटते—उसी परमेश्वरको यहाँ 'परमपद' के नामसे कहा गया है। यही बात आठवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भी समझायी गयी है।

प्रश्न—'जिससे इस पुराणी प्रवृत्तिका विस्तार हुआ है' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस आदिपुरुष परमेश्वरसे इस संसार-वृक्षकी अनादि परम्परा चली आती है और जिससे यह उत्पन्न होकर विस्तारको प्राप्त हुआ है, उसीकी शरण ग्रहण करनेसे सदाके लिये इस संसारवृक्षका सम्बन्ध छूटकर आदिपुरुष परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न—'तम्' और 'आद्यम्'—इन दोनों पदोंके सहित 'पुरुषम्' पद किसका वाचक है और 'प्रपद्ये' क्रियाका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'तम्' और 'आद्यम्'—इन दोनों पदोंके सहित 'पुरुषम्' पद उसी पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक है, जिसका वर्णन पहले 'तत्' और 'पदम्'से किया गया है एवं जिसकी मायाशक्तिसे इस चिरकालीन संसार-वृक्षकी उत्पत्ति और विस्तृति बतलायी गयी है। 'प्रपद्ये' क्रियाका अर्थ होता है 'मैं उसकी शरणमें हूँ।' अतएव इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उस परमपदस्वरूप परमेश्वरका अनुसन्धान उसीका आश्रय ग्रहण करके करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे अनन्य आश्रयपूर्वक एक परमेश्वरपर ही पूर्ण विश्वास करके उसीके भरोसेपर उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसन्धान करते रहना चाहिये।

प्रश्न—'एव' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' अव्ययका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि उसकी प्राप्तिके लिये एकमात्र उस परमेश्वरकी ही शरणमें जाना चाहिये।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—'निर्मानमोहाः'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'मान' शब्दसे यहाँ मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका बोध होता है और 'मोह' शब्द अविवेक, विपर्ययज्ञान और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंका वाचक है। इन दोनोंसे जो रहित हैं—अर्थात् जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है—ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं।

प्रश्न—'जितसङ्गदोषाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'सङ्ग' शब्द यहाँ आसक्तिका वाचक है। इस आसक्तिरूप दोषको जिन्होंने सदाके लिये जीत लिया है, जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता—ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं।

प्रश्न—'अध्यात्मनित्याः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है। अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है—ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं।

प्रश्न—'विनिवृत्तकामाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'काम' शब्द यहाँ सब प्रकारकी इच्छा, तृष्णा,

अपेक्षा, वासना और स्पृहा आदि न्यूनाधिक भेदोंसे वर्णन की जानेवाली मनोवृत्तिरूप कामनाका वाचक है। अतएव जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं; जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं — ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं।

प्रश्न—सुख-दुःखसंज्ञक द्वन्द्व क्या हैं? और उनसे विमुक्त होना क्या है?

उत्तर—शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा — इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है। इन सबसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है। इसलिये ऐसे पुरुषोंको सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त कहते हैं।

प्रश्न—'अमूढाः' पदका क्या भाव है?

उत्तर—'अमूढाः' पद जिनमें मूढता या अज्ञानका सर्वथा अभाव हो, उन ज्ञानी महात्माओंका वाचक है। उपर्युक्त समस्त विशेषणोंका यही विशेष्य है। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि 'निर्मानमोहाः' आदि समस्त गुणोंसे युक्त जो ज्ञानीजन हैं, वे ही परमपदको प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—वह अविनाशी परम पद क्या है और उसको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—चौथे श्लोकमें जिस पदका अनुसन्धान करनेके लिये और जिस आदि पुरुषके शरण होनेके लिये कहा गया है—उसी सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक अविनाशी परम पद है। तथा उस परमेश्वरकी मायासे विस्तार-को प्राप्त हुए इस संसारवृक्षसे सर्वथा अतीत होकर उस परम-पदस्वरूप परमेश्वरको पा लेना ही अव्यय पदको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त लक्षणोंवाले पुरुष जिसे प्राप्त करते हैं, वह अविनाशी पद कैसा है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उस परमेश्वरके स्वरूपभूत परमपदकी महिमा कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।*
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥

प्रश्न—जिसको पाकर मनुष्य वापस नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरा जो नित्य धाम है वह सच्चिदानन्दमय, दिव्य, चेतन और मेरा ही स्वरूप होनेके कारण वास्तवमें मुझसे अभिन्न ही है। अतः यहाँ 'परम धाम' शब्द मेरे नित्य धाम तथा मेरे स्वरूप और भाव आदि सभीका वाचक है। अभिप्राय यह है कि जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत धाम है और वही मेरा स्वरूप है। इसीको अव्यक्त, अक्षर और परम गति भी कहते हैं (८। २१)। इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः

* श्रुतिमें भी कहा है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (कठोपनिषद् २। २। १५)

अर्थात् 'उस पूर्णब्रह्म परमात्माको न सूर्य ही प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा, न तारागण और न यह बिजली ही उसे प्रकाशित कर सकती है। जब ये सूर्यादि भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते, तब इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है? क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशित होनेपर उसके पीछे-पीछे प्रकाशित होते हैं और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ प्रकाशित होता है।'

प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ।'

(बृहज्जाबाल० उ० ८ । ६)

'जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है ।'

प्रश्न—यहाँ 'तत्' पद किसका वाचक है तथा उसको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तत्' पद यहाँ उसी अविनाशी पदके नामसे कहे जानेवाले पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है; तथा सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि उसे प्रकाशित नहीं कर सकते—इस कथनसे उसकी अप्रमेयता, अचिन्त्यता और अनिर्वचनीयताका निर्देश किया गया है । अभिप्राय यह है कि समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते । इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (१५ । १२) । यही सर्वथा युक्तियुक्त भी है, अपने प्रकाशकको कोई कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ! जिन नेत्र, वाणी या मन आदि किसीकी वहाँ पहुँच भी नहीं है, वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं । श्रुतिमें भी कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

(ब्रह्मोपनिषद्)

'जहाँसे मनके सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है, वह पूर्णब्रह्म परमात्मा है ।' अतएव वह अविनाशी पद वाणी और मन आदिसे अत्यन्त ही अतीत है; उसका स्वरूप किसी प्रकार भी बतलाया या समझाया नहीं जा सकता ।

सम्बन्ध—पहलेसे तीसरे श्लोकतक संसारवृक्षके नामसे क्षर पुरुषका वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुषके बन्धनका हेतु उसके द्वारा मनुष्ययोनिमें अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मोंको बताया तथा उस बन्धनसे छूटनेका उपाय सृष्टिकर्ता आदि पुरुषकी शरण ग्रहण करना बताया । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे बँधे हुए जीवका क्या स्वरूप है ? और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? उसे कौन कैसे जानता है ? अतः इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये पहले जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

प्रश्न—'जीवलोके' पद किसका वाचक है तथा उसमें स्थित जीवात्माको भगवान्‌ने अपना सनातन अंश बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है । इनमें स्थित जीवात्माको सनातन और अपना अंश बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कारण-शरीरोंमें स्थित जीवसमुदायका सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध करके मैं ही इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाला हूँ (१४ । ३, ४), इसलिये मैं सबका परम पिता हूँ । अतः जैसे पिताका अंश पुत्र होता है, वैसे ही जीवसमुदाय मेरा अंश है । तथा स्वरूप

से भी जैसे मैं चेतन हूँ, वैसे ही जीवसमुदाय भी चेतन है, इसलिये यह मेरा अंश है। क्योंकि जो स्वयं चेतन है, वह किसी चेतनका ही अंश हो सकता है, जडका नहीं। वास्तवमें अंशीसे अंश भिन्न नहीं होता। मेरी भाँति जीव-समुदाय भी अनादि और नित्य है, इसलिये यह सनातन है और मुझसे भिन्न नहीं है।

इसके सिवा यहाँ अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार तो यही भाव ठीक है कि जिस प्रकार सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है—उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समभावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (१३। १६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्‌ने अपना अंश बतलाया है।

प्रश्न—'एव' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे यह जीवात्मा मेरा ही अंश है, अतः स्वरूपतः मुझसे भिन्न नहीं है।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रकृतिस्थानि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है और उनकी संख्या मनके सहित छः बतलानेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि मनके सहित इन्द्रियाँ तो ग्यारह (१३। ५) मानी गयी हैं ?

उत्तर—इन्द्रियाँ प्रकृतिका कार्य हैं और प्रकृतिका कार्य-रूप शरीर ही उनका आधार है; यह भाव दिखलानेके लिये उनके साथ 'प्रकृतिस्थानि' विशेषण दिया गया है; तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—जीवात्माका इन मनसहित छः इन्द्रियोंको आकर्षित करना क्या है ? जब जीवात्मा शरीरसे निकलता है, तब वह कर्मेन्द्रिय, प्राण और बुद्धिको भी साथ ले जाता है—ऐसा शास्त्रोंमें कहा है; फिर यहाँ इन छःको ही आकर्षण करनेकी बात कैसे कही गयी ?

उत्तर—जब जीवात्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तब पहले शरीरमेंसे मनसहित इन्द्रियोंको आकर्षित करके साथ ले जाता है; यही इस जीवात्माका मनसहित इन्द्रियोंको आकर्षित करना है। विषयोंको अनुभव करनेमें मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानता होनेसे इन छहोंको आकर्षित करना बतलाया गया है। यहाँ 'मन' शब्द अन्तःकरणका वाचक है, अतः बुद्धि उसीमें आ जाती है। और जीवात्मा जब मनसहित इन्द्रियोंको आकर्षित करता है, तब प्राणोंके द्वारा ही आकर्षित करता है, अतः पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राणोंको भी इन्हींके साथ समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है॥ ८॥

प्रश्न—यहाँ 'आशयात्' पद किसका वाचक है तथा गन्ध और वायुके दृष्टान्तकी चरितार्थता किस प्रकार है ?

उत्तर—'आशयात्' पद यहाँ जिन-जिन वस्तुओंमें गन्ध रहती है—उन पुष्प, चन्दन, केसर और कस्तूरी आदि वस्तुओंका वाचक है। उन वस्तुओंमेंसे गन्धको ले जानेकी भाँति मनसहित इन्द्रियोंको ले जानेके दृष्टान्तमें 'आशय' यानी आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है और गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है, क्योंकि पुष्पादि गन्धयुक्त पदार्थोंका सूक्ष्म

अंश ही गन्ध होता है। यहाँ वायुस्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर ले जाता है और दूसरे स्थानमें स्थापित कर देता है—उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें स्थापन कर देता है।

प्रश्न—यहाँ 'एतानि' पद किनका वाचक है और जीवात्माको ईश्वर कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'एतानि' पद उपर्युक्त मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका वाचक है। मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है। जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

प्रश्न—'यत्' पदका दो बार प्रयोग करके 'उत्क्रामति' और 'अवाप्नोति' इन दो क्रियाओंसे क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—एक 'यत्' पद जिसको यह जीव त्याग देता है, उस शरीरका वाचक है और दूसरा 'यत्' जिसको यह ग्रहण करता है, उस शरीरका वाचक है—यही भाव दिखलानेके लिये 'यत्' पदका दो बार प्रयोग करके 'उत्क्रामति' और 'अवाप्नोति' इन दो क्रियाओंका प्रयोग किया गया है। शरीरका त्याग करना 'उत्क्रामति' का और नवीन शरीरका ग्रहण करना 'अवाप्नोति' क्रियाका अर्थ है।

प्रश्न—आत्माका स्वरूप तो दूसरे अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें अचल माना गया है, फिर यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके उसके एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही गयी?

उत्तर—यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं बन सकता—तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है। दूसरे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके—अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है ॥ ९ ॥

प्रश्न—जीवात्माका श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंके सहित मनको आश्रय बनाना क्या है? और इनके सहारेसे ही जीवात्मा विषयोंका सेवन करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जीवात्माका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेना ही उनको आश्रय बनाना है। जीवात्मा इनके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है, इस कथनका यह भाव है कि वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किन्तु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, उसके कारण यह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है। तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भी कहा है कि प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है। श्रुतिमें भी कहा है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' (कठोपनिषद् १।३।४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं।'

सम्बन्ध—जीवात्माको तीनों गुणोंसे सम्बद्ध, एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेवाला और शरीरमें रहकर विषयोंका सेवन करनेवाला कहा गया। अतएव यह जिज्ञासा होती है कि ऐसे आत्माको कौन कैसे जानता है और कौन नहीं जानता? इसपर दो श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं ॥ १० ॥

प्रश्न—'गुणान्वितम्' पद किसका वाचक है तथा 'अपि' का प्रयोग करके उसके शरीर छोड़कर जाते, शरीरमें स्थित रहते और विषयोंको भोगते रहनेपर भी अज्ञानीजन उसको नहीं जानते—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'गुणान्वितम्' पद यहाँ गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले 'प्रकृतिस्थ पुरुष' (जीवात्मा) का वाचक है; अतएव 'अपि' का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि वह सबके सामने ही शरीर छोड़कर चला जाता है और सबके सामने ही शरीरमें स्थित रहता है तथा विषयोंका उपभोग करता है, तो भी अज्ञानीलोग उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझते। फिर समस्त क्रियाओंसे रहित गुणातीत रूपमें स्थित आत्माको तो वे समझ ही कैसे सकते हैं।

प्रश्न—उसको ज्ञानरूप नेत्रोंसे युक्त विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह दिखलाया है कि जिन पुरुषोंको विवेकज्ञानरूप नेत्र प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे विवेकशील ज्ञानी उस आत्माके यथार्थ स्वरूपको गुणोंके साथ उसका सम्बन्ध रहते हुए भी जानते हैं अर्थात् शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय हरेक अवस्थामें ही वह आत्मा वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असङ्ग ही है—ऐसा समझते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं। किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते ॥ ११ ॥

प्रश्न—'यत्न करनेवाले योगीजन' कौन हैं और उनका अपने हृदयमें स्थित 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' क्या है ?

उत्तर—जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है, पूर्व श्लोकमें जिन विवेकशील ज्ञानियोंके लिये आत्माको जाननेकी बात कही है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं—ऐसे उच्चकोटिके साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं। तथा जिस जीवात्माका प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना है—यही उनका 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' है।

प्रश्न—'अकृतात्मानः' और 'अचेतसः' पद कैसे मनुष्योंके वाचक हैं और वे प्रयत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है, एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है—ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं। और जिनके अन्तःकरणमें बोधशक्ति नहीं है, उन मूढ मनुष्योंको 'अचेतसः' कहते हैं। अतएव 'अकृतात्मानः' और 'अचेतसः' पद मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंसे युक्त अन्तःकरणवाले राजस, तामस मनुष्योंके वाचक हैं। ऐसे मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्माको नहीं जानते, इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते।

प्रश्न—दसवें श्लोकमें यह बात कही गयी कि उस आत्माको मूढ नहीं जानते, ज्ञाननेत्रोंसे युक्त विवेकशील ज्ञानी जानते हैं; एवं इस श्लोकमें यह बात कही गयी कि यत्न करनेवाले योगी उसे जानते हैं, अशुद्ध अन्तःकरणवाले अज्ञानी नहीं जानते। इन दोनों वर्णनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—दसवें श्लोकमें 'मूढाः' पद साधारण अज्ञानी मनुष्योंका वाचक है और 'ज्ञानचक्षुषः' पद विवेकशील ज्ञानियोंका वाचक है एवं इस श्लोकमें भी 'योगिनः' पद उन्हीं विवेकशील सात्त्विक उच्चकोटिके साधकोंका वाचक है और 'अचेतसः' पद राजस-तामस मनुष्योंका वाचक है। अतएव दसवें श्लोकमें जो आत्माके स्वरूपके जानने और न जाननेकी बात कही गयी है, उसीको स्पष्ट करनेके लिये इस श्लोकमें यह कहा है कि वे विवेकशील तो प्रयत्न करनेसे जानते हैं और अज्ञानीलोग यत्न करनेपर भी नहीं जानते। अतः इसमें कोई भेदकी बात नहीं है।

सम्बन्ध—छठे श्लोकपर दो शङ्काएँ होती हैं—पहली यह कि सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ परमात्माको क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते और दूसरी यह कि परम धामको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते? इनमेंसे दूसरी शङ्काके उत्तरमें सातवें श्लोकमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी। अब पहली शङ्काका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान॥ १२॥

प्रश्न—'आदित्यगतम्' विशेषणके सहित 'तेजः' पद किसका वाचक है और वह समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सूर्यमण्डलमें जो एक महान् ज्योति है, उसका वाचक यहाँ 'आदित्यगतम्' विशेषणके सहित 'तेजः' पद है; और वह समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, यह कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि स्थूल संसारकी समस्त वस्तुओंको एक सूर्यका तेज ही प्रकाशित करता है।

प्रश्न—चन्द्रमामें और अग्निमें स्थित तेज किसका वाचक है और उन तीनोंमें स्थित तेजको तू मेरा ही तेज समझ, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चन्द्रमामें जो ज्योत्स्ना है, उसका वाचक चन्द्रस्थ तेज है एवं अग्निमें जो प्रकाश है, उसका वाचक अग्निस्थ तेज है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं—ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है। जब कि इन तीनोंमें स्थित तेज भी मेरे ही तेजका अंश है, तब जो इन तीनोंके सम्बन्धसे तेजयुक्त कहे जानेवाले अन्यान्य पदार्थ हैं—उन सबका तेज मेरा ही तेज है, इसमें तो कहना ही क्या है। इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ॥ १३॥

प्रश्न—मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त भूतोंको धारण करता हूँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान् पृथ्वीको उपलक्षण बनाकर विश्वव्यापिनी धारणशक्तिको अपना अंश बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है तथा इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है—वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही आत्मरूपसे पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

प्रश्न—'रसात्मकः' विशेषणके सहित 'सोमः' पद किसका वाचक है और इस विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—रस ही जिसका स्वरूप हो, उसे रसात्मक कहते हैं; अतएव 'रसात्मकः' विशेषणके सहित 'सोमः' पद चन्द्रमाका वाचक है। और यहाँ 'सोमः' के साथ 'रसात्मकः' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि चन्द्रमाका स्वरूप रसमय—अमृतमय है तथा वह सबको रस प्रदान करनेवाला है।

प्रश्न—'ओषधीः' पद किसका वाचक है और 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंको पुष्ट करता हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ओषधीः' पद पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है। तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है—वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ॥ १४॥

प्रश्न—यहाँ 'प्राणिनां देहमाश्रितः' विशेषणके सहित 'वैश्वानरः' पद किसका वाचक है और मैं प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर बनकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ, भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसके कारण सबके शरीरमें गरमी रहती है और अन्नका पाक होता है, समस्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले उस अग्निका वाचक यहाँ 'प्राणिनां देहमाश्रितः' विशेषणके सहित 'वैश्वानरः' पद है। तथा भगवान्‌ने 'मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्नि होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ' इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन करनेकी शक्ति है—वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि—ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार दसवें अध्यायके इकतालीसवें श्लोकके भावानुसार सम्पूर्ण प्रकाशनशक्ति, धारणशक्ति, पोषणशक्ति और पाचनशक्ति आदि समस्त शक्तियोंको अपनी शक्तिका एक अंश बतलाकर—अर्थात् जैसे पंखा चलाकर वायुका विस्तार करनेमें, बत्ती जलाकर प्रकाश फैलानेमें, चक्की घुमानेमें, जल आदिको गरम करनेमें तथा रेडियो आदिके द्वारा शब्दका प्राकट्य करनेमें एक ही बिजलीकी शक्तिका अंश सब कार्य करता है; वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदिके द्वारा सबको प्रकाशित करनेमें, पृथ्वी आदिके द्वारा सबको धारण करनेमें, चन्द्रमाके द्वारा सबका पोषण करनेमें तथा वैश्वानरके

द्वारा अन्नको पचानेमें मेरी ही शक्तिका एक अंश सब कुछ करता है—यह बात कहकर अब भगवान् अपने सर्वान्तर्यामित्व और सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त स्वरूपका वर्णन करते हुए सब प्रकारसे जानने योग्य अपनेको बतलाते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

प्रश्न—मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि मैं सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हूँ, फिर भी सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे मेरी विशेष स्थिति है, अतएव हृदय मेरी उपलब्धिका विशेष स्थान है। इसीलिये 'मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ' ऐसा कहा जाता है (१३।१७; १८।६१); क्योंकि जिनका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ होता है उनके हृदयमें मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

प्रश्न—'स्मृति', 'ज्ञान' और 'अपोहन' शब्दोंका अर्थ क्या है ? और ये तीनों मुझसे ही होते हैं, यह कहकर भगवान्‌ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है। तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ।

प्रश्न—समस्त वेदोंद्वारा जाननेके योग्य मैं ही हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही समस्त वेदोंका विधेय हूँ। अर्थात् उनमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं—उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियोंको मेरा ही ज्ञान करा देना है। अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके अर्थको ठीक समझते हैं। इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते।

प्रश्न—'वेदान्त' शब्द यहाँ किसका वाचक है एवं भगवान्‌ने अपनेको उसका कर्ता एवं समस्त वेदोंका ज्ञाता बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—वेदोंके तात्पर्यनिर्णयका अर्थात् वेदविषयक शङ्काओंका समाधान करके एक परमात्मामें सबके समन्वयका नाम 'वेदान्त' है। उसका कर्ता अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको शान्ति प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ; तथा वेदोंका ज्ञाता भी मैं ही हूँ, इससे यह भाव दिखलाया है कि उनके यथार्थ तात्पर्यको मैं ही जानता हूँ।

सम्बन्ध—पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ वैराग्यके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए प्रभाव वृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकमें 'जीव' शब्दवाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करके उसे जाननेवालोंकी महिमा कहते हुए [illegible] श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उत्तमपुरुष 'पुरुषोत्तम'का प्रकरण आरम्भ क

तक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्ति तक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकमें क्षर और अक्षर पुरुषका स्वरूप बतलाते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है॥ १६॥

प्रश्न—'इमौ' और 'द्वौ'—इन दोनों सर्वनाम पदोंके सहित 'पुरुषौ' पद किन दो पुरुषोंका वाचक है तथा एकको क्षर और दूसरेको अक्षर कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिनका प्रसङ्ग इस अध्यायमें चल रहा है, उन्हींमें-से दो तत्त्वोंका वर्णन यहाँ 'क्षर' और 'अक्षर' नामसे किया जाता है—यह भाव दिखलानेके लिये 'इमौ' और 'द्वौ'—इन दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है। जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७। ४,५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म'के नामसे (८। ४, ३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे (१३। १) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है—उन्हीं दोनों तत्त्वोंका वाचक 'पुरुषौ' पद है। उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं।

प्रश्न—'सर्वाणि भूतानि' और 'कूटस्थः' पद किनके वाचक हैं तथा वे क्षर और अक्षर कैसे हैं?

उत्तर—'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है। इन्हींको तेरहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'क्षेत्र' के नामसे कहकर पाँचवें श्लोकमें उसका स्वरूप बतलाया है। उस वर्णनसे समस्त जडवर्गका वाचक यहाँ 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद हो जाता है। यह तत्त्व नाशवान् और अनित्य है। दूसरे अध्यायमें 'अन्तवन्त इमे देहाः' (२। १८) और आठवें अध्यायमें 'अधिभूतं क्षरो भावः' (८। ४) से यही बात कही गयी है। 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है। यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये इसे 'कूटस्थ' कहते हैं। और इसका कभी किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षर और अक्षर पुरुषका स्वरूप बतलाकर अब उन दोनोंसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम भगवान्‌के स्वरूपका और पुरुषोत्तम होनेके कारणका वर्णन दो श्लोकोंमें करते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है॥ १७॥

प्रश्न—'उत्तमः पुरुषः' किसका वाचक है तथा 'तु' और 'अन्यः'—इन दोनों पदोंका क्या भाव है?

उत्तर—'उत्तमः पुरुषः' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक है तथा 'तु' और 'अन्य'—इन दोनोंके द्वारा पूर्वोक्त 'क्षर' पुरुष और 'अक्षर' पुरुषसे भगवान्‌की विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि उत्तम पुरुष उन पूर्वोक्त दोनों पुरुषोंसे भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है।

प्रश्न—जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे पुरुषोत्तमके लक्षणका निरूपण

किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो सर्वाधार, सर्वव्यापी परमेश्वर समस्त जगत्‌में प्रविष्ट होकर, 'पुरुष' नामसे वर्णित 'क्षर' और 'अक्षर' दोनों तत्त्वोंका धारण और समस्त प्राणियों-का पालन करता है—वही उन दोनोंसे भिन्न और उत्तम 'पुरुषोत्तम' है।

प्रश्न—जो अव्यय, ईश्वर और परमात्मा कहा गया है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भी उस 'पुरुषोत्तम'का ही लक्षण बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है; तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है।

क्षर, अक्षर और ईश्वर—इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में इस प्रकार आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (१।१०)

'प्रधान यानी प्रकृतिका नाम क्षर है और उसके भोक्ता अविनाशी आत्माका नाम अक्षर है। प्रकृति और आत्मा—इन दोनोंका शासन एक देव (पुरुषोत्तम) करता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ॥ १८॥

प्रश्न—यहाँ 'अहम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अहम्' का प्रयोग करके भगवान्‌ने उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त पुरुषोत्तम स्वयं मैं ही हूँ, इस प्रकार अर्जुनके सामने अपने परम रहस्यका उद्‌घाटन किया है।

प्रश्न—भगवान्‌ने अपनेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा सम्बन्धरहित और अत्यन्त विलक्षण हूँ—अर्थात् जो तेरहवें अध्यायमें शरीर और क्षेत्रके नामसे कहा गया है, उस तीनों गुणोंके समुदायरूप समस्त विनाशशील जडवर्गसे मैं सर्वथा निर्लिप्त हूँ। अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ, क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किन्तु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ, क्योंकि वह 'प्रकृतिस्थ' है और मैं प्रकृतिसे पर अर्थात् गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ। अतः वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ; और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है और मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ।

प्रश्न—'यस्मात्' और 'अतः'—इन हेतुवाचक पदोंका प्रयोग करके मैं लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ, यह कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'यस्मात्' और 'अतः'—इन हेतुवाचक पदोंका प्रयोग करके अपनेको लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध बतलाते हुए भगवान्‌ने अपने पुरुषोत्तमत्वको सिद्ध किया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कारणोंसे मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ; इसलिये सम्पूर्ण जगत्‌में एवं वेद-शास्त्रोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ, अर्थात् सब मुझे पुरुषोत्तम ही कहते हैं।

सम्बन्ध—अब ऊपर कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषकी महिमा और लक्षण बतलाते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'एवम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—'एवम्' अव्यय यहाँ ऊपरके दो श्लोकोंमें किये हुए वर्णनका निर्देश करता है ।

प्रश्न—'माम्' किसका वाचक है और उसको 'पुरुषोत्तम' जानना क्या है ?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्‌का सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद्, सबके एकमात्र नियन्ता, सर्व-गुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरका वाचक है, और वे ही उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष पुरुषोत्तम हैं—ऐसा श्रद्धापूर्वक पूर्णरूपसे मान लेना ही उनको 'पुरुषोत्तम' जानना है ।

प्रश्न—'असम्मूढः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो; जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो—उसे 'असम्मूढ' कहते हैं । अतएव यहाँ 'असम्मूढः' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मनुष्य मुझे साधारण मनुष्य न मानकर साक्षात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पुरुषोत्तम समझता है, उसका जानना ही यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—'सर्वविद्'का क्या भाव है ?

उत्तर—जो सम्पूर्ण जाननेयोग्य वस्तुओंको भलीभाँति जानता हो, उसे 'सर्वविद्' कहते हैं । इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है । अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है—अर्थात् समस्त पदार्थोंको यथार्थ समझनेवाला है; इसीलिये उसको 'सर्वविद्' कहा है ।

प्रश्न—भगवान्‌को पुरुषोत्तम जाननेवाले पुरुषका उनको सर्वभावसे भजना क्या है तथा 'वह मुझे सर्वभावसे भजता है' इस कथनका क्या उद्देश्य है ?

उत्तर—भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्‌से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदि-का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्तव्य-कर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना—यही भगवान्‌को सब प्रकारसे भजना है । तथा 'वह सर्वभावसे मुझे भजता है' इस वाक्यका प्रयोग यहाँ भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जाननेवाले पुरुषकी पहचान बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है । अभिप्राय यह है कि जो भगवान्‌को क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम समझ लेता है, वह केवल भगवान्‌को ही उपर्युक्त प्रकारसे निरन्तर भजता है—यही उसकी पहचान है ।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान्‌को पुरुषोत्तम जाननेवाले पुरुषकी महिमाका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित विषयकी गुह्यतम बतलाकर उसे जाननेका फल वर्णन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं*—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है ॥ २० ॥

प्रश्न—'अनघ' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अघ' नाम पापका है। जिसमें पाप न हो, उसे 'अनघ' कहते हैं। भगवान्‌ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुननेके और धारण करनेके पात्र हो।

प्रश्न—'इति' और 'इदम्' पदके सहित 'शास्त्रम्' पद यहाँ इस अध्यायका वाचक है या समस्त गीताका ?

उत्तर—'इति' और 'इदम्'के सहित 'शास्त्रम्'पद यहाँ इस पंद्रहवें अध्यायका वाचक है; 'इदम्' से इस अध्यायका और 'इति'से उसकी समाप्तिका निर्देश किया गया है एवं उसे आदर देनेके लिये उसका नाम 'शास्त्र' रक्खा गया है।

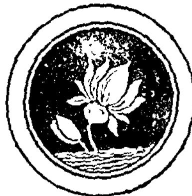
प्रश्न—इस उपदेशको गुह्यतम बतलानेका और 'मेरेद्वारा कहा गया' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बात प्रधानतासे कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है। मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये। तथा 'यह मेरेद्वारा कहा गया' ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वरद्वारा उपदिष्ट है, अतः यह समस्त वेद और शास्त्रोंका परम सार है।

प्रश्न—इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना क्या है तथा जाननेवालेका बुद्धिमान् हो जाना और कृतकृत्य हो जाना क्या है ?

उत्तर—इस अध्यायमें वर्णित भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्‌को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है। तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्‌को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है; और समस्त कर्तव्योंको पूर्ण कर चुकना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

षोडशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस सोलहवें अध्यायमें देवशब्दवाच्य परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा उनको प्राप्त करा देनेवाले सद्गुणों और सदाचारोंका, उन्हें जानकर धारण करनेके लिये दैवीसम्पद्के नामसे और असुरोंके-जैसे दुर्गुण और दुराचारोंका, उन्हें जानकर त्याग करनेके लिये आसुरीसम्पद्के नामसे विभागपूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहलेसे तीसरेतक दैवीसम्पद्को प्राप्त पुरुषके लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके चौथेमें आसुरी सम्पद्का संक्षेपमें निरूपण किया गया है। पाँचवेंमें दैवीसम्पद्का फल मुक्ति तथा आसुरीका फल बन्धन बतलाते हुए अर्जुनको दैवीसम्पद्से युक्त बतलाकर आश्वासन दिया गया है। छठेमें पुनः दैव और आसुर—इन दो सर्गोका संकेत करके आसुर सर्गको विस्तारपूर्वक सुननेके लिये कहा गया है। तदनन्तर सातवेंसे बीसवेंतक आसुर-प्रकृतिवाले मनुष्योंके दुर्भाव, दुर्गुण और दुराचारका तथा उन लोगोंकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है। इक्कीसवेंमें आसुरी-सम्पदाके प्रधान काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार बतलाकर बाईसवेंमें उनसे छूटे हुए साधकको निष्कामभावसे दैवी सम्पदाके साधनोंद्वारा परम गतिकी प्राप्ति दिखलायी है। तेईसवेंमें शास्त्रविधिका त्याग करके इच्छानुसार कर्म करनेवालोंकी निन्दा करके चौबीसवें श्लोकमें शास्त्रानुकूल कर्म करनेकी प्रेरणा करते हुए अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परन्तु दूसरा प्रसङ्ग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं?—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवी-सम्पद्से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता॥ १॥

प्रश्न—'अभय' किसको कहते हैं?

उत्तर—इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशङ्कासे मनमें जो कायरतापूर्ण विकार होता है, उसका नाम भय है—जैसे प्रतिष्ठाके नाशका भय, अपमानका भय, निन्दाका भय,

रोगका भय, राजदण्डका भय, भूत-प्रेतका भय और मरणका भय आदि। इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अभय' है।

प्रश्न—'सत्त्वसंशुद्धि' क्या है ?

उत्तर—'सत्त्व' अन्तःकरणको कहते हैं। अन्तःकरणमें जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममत्व-अहंकार और मोह-मत्सर आदि विकार और नाना प्रकारके कलुषित पापमय भाव रहते हैं—उनका सर्वथा अभाव होकर अन्तःकरणका पूर्णरूपसे निर्मल, परिशुद्ध हो जाना—यही 'सत्त्व संशुद्धि' (अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि) है।

प्रश्न—'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' किसको कहते हैं ?

उत्तर—परमात्माके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है; और उसकी प्राप्तिके लिये जो परमात्माके ध्यानमें निरन्तर स्थित रहना है, उसे 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' कहते हैं।

प्रश्न—'दानम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्तव्य समझकर देश, काल और पात्रका विचार करके निष्कामभावसे जो अन्न, वस्त्र, विद्या और औषधादि वस्तुओंका वितरण करना है—उसका नाम 'दान' है (१७।२०)।

प्रश्न—'दमः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर उन्हें अपने वशमें कर लेना 'दम' है।

प्रश्न—'यज्ञः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌की नित्य सेवा, देवता, ब्राह्मण, महात्मा, अतिथि माता-पिता और बड़ोंकी पूजा करना; हवन करना और बलिवैश्वदेव करना आदि सब यज्ञ हैं।

प्रश्न—'स्वाध्याय' किसको कहते हैं ?

उत्तर—वेदका अध्ययन करना; जिनमें विवेक-वैराग्य तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप एवं उनकी दिव्य लीलाओंका वर्णन हो—उन शास्त्र, इतिहास और पुराण आदिका पठन-पाठन करना एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करना आदि सभी स्वाध्याय हैं।

प्रश्न—'तपः' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। सत्रहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अङ्गरूपमें निरूपण हुआ है—यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है।

प्रश्न—'आर्जव' किसको कहते हैं ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी सरलताको 'आर्जव' कहते हैं।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, ॥ २ ॥

प्रश्न—'अहिंसा' किसे कहते हैं ?

उत्तर—किसी भी प्राणीको कभी कहीं भी लोभ, मोह या क्रोधपूर्वक अधिकमात्रामें, मध्यमात्रामें या थोड़ा-सा भी किसी प्रकारका कष्ट स्वयं देना, दूसरेसे दिलवाना या कोई किसीको कष्ट देता हो तो उसका अनुमोदन करना हर हालतमें हिंसा है। इस प्रकारकी हिंसाका किसी भी निमित्तसे मन, वाणी, शरीरद्वारा न करना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा न चाहना; वाणीसे किसीको न तो गाली देना, न कठोर वचन कहना और न किसी प्रकारके हानिकारक वचन ही कहना तथा शरीरसे न किसीको मारना, न [illegible]

प्रकारकी हानि हीं पहुँचाना आदि—ये सभी अहिंसाके भेद हैं।

प्रश्न—'सत्य' किसको कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रियों और अन्तःकरणसे जैसा कुछ देखा, सुना और अनुभव किया गया हो—दूसरोंको ठीक वैसा ही समझानेके लिये कपट छोड़कर जो यथासम्भव प्रिय और हितकर वाणीका उच्चारण किया जाता है—उसे 'सत्य' कहते हैं।

प्रश्न—'अक्रोधः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—स्वभावदोषसे अथवा किसीके द्वारा अपमान, अपकार, निन्दा या मनके प्रतिकूल कार्य किये जानेपर, दुर्वचन सुनकर अथवा किसीका अनीतियुक्त कार्य देखकर मनमें जो एक द्वेषपूर्ण उत्तेजनामयी वृत्ति उत्पन्न होती है—यह भीतरका क्रोध है, इसके बाद जो शरीर और मनमें जलन, मुखपर विकार और नेत्रोंमें लाली उत्पन्न हो जाती है—यह बढ़े हुए क्रोधका स्वरूप है। उन जलने और जलानेवाली दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका नाम 'क्रोध' है। इन वृत्तियोंका सर्वथा अभाव ही अक्रोध है।

प्रश्न—'त्याग' किसको कहते हैं ?

उत्तर—केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर, अथवा मैं तो भगवान्‌के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपनी इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है। या कर्तव्यकर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थका सर्वथा त्याग करना भी त्याग है, एवं आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रियामात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है।

प्रश्न—'शान्ति' किसको कहते हैं ?

उत्तर—संसारके चिन्तनका सर्वथा अभाव हो जानेपर विक्षेपरहित अन्तःकरणमें जो सात्त्विक प्रसन्नता होती है, यहाँ उसका नाम 'शान्ति' है।

प्रश्न—'अपैशुन' किसको कहते हैं ?

उत्तर—दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना, अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है।

प्रश्न—सब प्राणियोंपर दया करना क्या है ?

उत्तर—किसी भी प्राणीको दुखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये बिना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं। दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है। यही अहिंसा और दयाका भेद है।

प्रश्न—'अलोलुप्त्व' किसको कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय और विषयोंका संयोग होनेपर उनमें आसक्ति होना तथा दूसरोंको विषयभोग करते देखकर उन विषयोंकी प्राप्तिके लिये मनका ललचा उठना 'लोलुपता' है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अलोलुप्त्व' है।

प्रश्न—'मार्दव' क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है, उसीको 'मार्दव' कहते हैं।

प्रश्न—'ह्री' किसको कहते हैं ?

उत्तर—वेद, शास्त्र और लोक-व्यवहारके विरुद्ध आचरण न करनेका निश्चय होनेके कारण उनके विरुद्ध आचरणोंमें जो सङ्कोच होता है, उसे 'ह्री' यानी लज्जा कहते हैं।

प्रश्न—'अचापल' क्या है ?

उत्तर—हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेमतलब बकते रहना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है। इसीको प्रमाद भी कहते हैं। इसके सर्वथा अभावको 'अचापल' कहते हैं।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥ ३ ॥

प्रश्न—'तेज' किसको कहते हैं ?

उत्तर—श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

प्रश्न—'क्षमा' किस भावका नाम है ?

उत्तर—अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देने-दिलानेका भाव न रखना, किसी प्रकार भी उससे बदला लेनेकी इच्छा न रखना, उसके अपराधोंको अपराध ही न मानना और उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमा' है। अक्रोधमें तो केवल क्रोधका अभावमात्र ही बतलाया गया है, परन्तु क्षमामें अपराधका न्यायोचित दण्ड देनेकी इच्छाका भी त्याग है। यही अक्रोध और क्षमाका परस्पर भेद है।

प्रश्न—'धृति' किसको कहते हैं ?

उत्तर—भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे विमुख न होना 'धृति' है। इसीको धैर्य कहते हैं।

प्रश्न—'शौच' किसको कहते हैं ?

उत्तर—सत्यतापूर्वक पवित्र व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे प्राप्त किये हुए अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है, यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मृत्तिकादि द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। इन सबको बाह्य शौच अर्थात् बाहरकी शुद्धि कहते हैं। इसीको यहाँ 'शौच' के नामसे कहा गया है। भीतरकी शुद्धि 'सत्त्वसंशुद्धि' के नामसे पहले श्लोकमें अलग कही जा चुकी है।

प्रश्न—'अद्रोह' का क्या भाव है ?

उत्तर—अपने साथ शत्रुताका व्यवहार करनेवाले प्राणियोंके प्रति भी जरा भी द्वेष या शत्रुताका भाव न होना 'अद्रोह' कहलाता है।

प्रश्न—'न अतिमानिता' का क्या भाव है ?

उत्तर—अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी विशेष इच्छा करना तथा बिना इच्छा भी इन सबके प्राप्त होनेपर विशेष प्रसन्न होना—ये अतिमानिताके लक्षण हैं। इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'न अतिमानिता' है।

प्रश्न—'दैवीसम्पद्' किसको कहते हैं ?

उत्तर—'देव' भगवान्‌का नाम है। इसलिये उनसे सम्बन्ध रखनेवाले उनकी प्राप्तिके साधनरूप सद्गुण और सदाचारोंके समुदायको दैवीसम्पद् कहते हैं। दैवी प्रकृति भी इसीका नाम है।

प्रश्न—ये सब दैवीसम्पद्‌से युक्त पुरुषके लक्षण हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसका यह अभिप्राय है कि इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें छब्बीस लक्षणोंके रूपमें उस दैवीसम्पद्‌रूप सद्गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है। अतः ये सब लक्षण जिसमें स्वभावसे विद्यमान हों अथवा जिसने साधनद्वारा प्राप्त कर लिये हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्‌से युक्त है।

सम्बन्ध—इस प्रकार धारण करनेके योग्य दैवीसम्पत्से युक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करके अब त्याग करनेयोग्य आसुरीसम्पत्से युक्त पुरुषके लक्षण संक्षेपमें कहे जाते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—'दम्भ' किसको कहते हैं ?

उत्तर—मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभमें या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, योगसाधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना दम्भ है।

प्रश्न—'दर्प' किसको कहते हैं ?

उत्तर—विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें घमण्ड होता है—जिसके कारण मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'दर्प' है।

प्रश्न—'अभिमान' क्या है ?

उत्तर—अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है।

प्रश्न—'क्रोध' किसको कहते हैं ?

उत्तर—बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके सङ्गके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर—इत्यादि किसी भी कारणसे अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता—इत्यादि किसी प्रकारकी भी 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है।

प्रश्न—'पारुष्य' किसका नाम है ?

उत्तर—कोमलताके अत्यन्त अभावका या कठोरताका नाम 'पारुष्य' है। किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है; विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं।

प्रश्न—'अज्ञान' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही यहाँ 'अज्ञान' है।

प्रश्न—'आसुरीसम्पद्' किसको कहते हैं और ये सब आसुरीसम्पत्से युक्त पुरुषके लक्षण हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌की सत्ताको न माननेवाले उनके विरोधी नास्तिक मनुष्योंको 'असुर' कहते हैं। ऐसे लोगोंमें जो दुर्गुण और दुराचारोंका समुदाय रहता है, उसे आसुरीसम्पद् कहते हैं। ये सब आसुरीसम्पत्से युक्त पुरुषके लक्षण हैं, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरीसम्पद् संक्षेपमें बतलायी गयी है। अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरी-सम्पदासे युक्त समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार दैवी-सम्पद् और आसुरी-सम्पत्से युक्त पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करके अब भगवान् दोनों सम्पदाओंका फल बतलाते हुए अर्जुनको दैवी-सम्पदासे युक्त बतलाकर आश्वासन देते हैं—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

प्रश्न—दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये मानी गयी है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा

मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं।

प्रश्न—आसुरी-सम्पदा बन्धनके लिये मानी गयी है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दुर्गुण और दुराचाररूप जो रजोमिश्रित तमोगुणप्रधान भावोंका समुदाय है, वही आसुरी-सम्पदा है—जिसका वर्णन चौथे श्लोकमें संक्षेपसे किया गया है। वह मनुष्यको सब प्रकारसे संसारमें फँसानेवाली और अधोगतिमें ले जानेवाली है। वेद, शास्त्र और महात्मा सभी इस बातको मानते हैं।

प्रश्न—अर्जुनको यह कहकर कि 'तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है, अतः शोक मत कर' क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन देते हुए यह कहा है कि तुम स्वभावसे ही दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए हो, दैवी-सम्पदाके सभी लक्षण तुम्हारे अंदर विद्यमान हैं। और दैवी सम्पदा संसारसे मुक्त करनेवाली है, अतः तुम्हारा कल्याण होनेमें किसी प्रकारका भी सन्देह नहीं है। अतएव तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस अध्यायके प्रारम्भमें और इसके पूर्व भी दैवी-सम्पदाका विस्तारसे वर्णन किया गया, परन्तु आसुरी-सम्पदाका वर्णन अबतक बहुत संक्षेपसे ही हुआ। अतएव आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंके स्वभाव और आचार-व्यवहारका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये अब भगवान् उसकी प्रस्तावना करते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है, एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रश्न—'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' कैसे किया गया ?

उत्तर—'सर्ग' सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं। यहाँ 'अस्मिन् लोके' से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ 'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' किया गया है।

प्रश्न—मनुष्यसमुदायको दो प्रकारका बतलाकर उसके साथ 'एव' पदके प्रयोग करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि मनुष्यसमुदायके अनेक भेद होते हुए भी प्रधानतया उसके दो ही विभाग हैं, क्योंकि सब भेद इन दोमें आ जाते हैं।

प्रश्न—एक दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे दो प्रकारके समुदायोंको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि मनुष्योंके उन दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है; और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है। 'राक्षसी' और 'मोहिनी' प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

प्रश्न—दैवी प्रकृतिवाला मनुष्यसमुदाय विस्तारपूर्वक कहा गया, अब आसुरी प्रकृतिवालेको भी सुन—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया है कि इस अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक और अन्य अध्यायोंमें भी दैवी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायके स्वभाव, आचरण और व्यवहार आदिका वर्णन तो विस्तारपूर्वक किया जा चुका; किन्तु आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंके स्वभाव, आचरण और व्यवहारका वर्णन संक्षेपमें ही हुआ है, अतः अब त्याग करनेके उद्देश्यसे तुम उसे भी विस्तारपूर्वक सुनो।

सम्बन्ध—इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायके लक्षण सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करके अब भगवान् उनका वर्णन करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते । इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

प्रश्न—आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है । मनुष्यको उसीमें प्रवृत्त होना चाहिये । और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये । भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्तिको बिल्कुल नहीं समझते, इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं ।

प्रश्न—उनमें शौच, आचार और सत्य नहीं है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'शौच' कहते हैं बाहर और भीतरकी पवित्रताको, जिसका विस्तृत विवेचन तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी टीकामें किया गया है; 'आचार' कहते हैं उन उत्तम क्रियाओंको, जिनसे ऐसी पवित्रता सम्पन्न होती है; और 'सत्य' कहते हैं निष्कपट हितकर यथार्थ भाषणको, जिसका विवेचन इसी अध्यायके दूसरे श्लोककी टीकामें किया जा चुका है । अतः उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंमें इन तीनोंमेंसे एक भी नहीं होता; वरं इनसे विपरीत उनमें अपवित्रता, दुराचार और मिथ्याभाषण होता है ।

प्रश्न—इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें भगवान्‌ने तीन बार 'न' का और फिर 'अपि' का प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—यह दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववालोंमें केवल अपवित्रता ही नहीं, उनमें सदाचार भी नहीं होता और सत्यभाषण भी नहीं होता ।

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववालोंमें विवेक, शौच और सदाचार आदिका अभाव बतलाकर अब उनके नास्तिक भावका वर्णन करते हैं—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है । इसके सिवा और क्या है ? ॥ ८ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़न्त कल्पनाका वर्णन किया गया है । वे लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत्‌का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्‌की कोई नित्य सत्ता है । अर्थात् न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही है । यह चराचर जगत् केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न हुआ है । अतएव केवल काम ही इसका कारण है, इसके सिवा इसका और कोई प्रयोजन नहीं है ।

सम्बन्ध—ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्‌के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—'इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके'—इस वाक्यांशसे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके सारे कार्य इस नास्तिकवादके सिद्धान्तको दृष्टिमें रखकर ही होते हैं, यही दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है ।

प्रश्न—उन्हें 'नष्टात्मानः', 'अल्पबुद्धयः', 'अहिताः' और 'उग्रकर्माणः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि नास्तिकसिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; इससे उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती । उनकी बुद्धि भी अत्यन्त मन्द होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं । उनका मन निरन्तर सबका अहित करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं । तथा मन, वाणी, शरीरसे चराचर जीवोंको डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं ।

प्रश्न—वे जगत्‌का क्षय करनेके लिये ही समर्थ होते हैं इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारके लोग अपने जीवनमें बुद्धि, मन, वाणी और शरीरसे जो कुछ भी कर्म करते हैं—सब चराचर प्राणि-जगत्‌को कष्ट पहुँचाने या मार डालनेके लिये ही करते हैं । इसीलिये ऐसा कहा गया है कि उनका सामर्थ्य जगत्‌का विनाश करनेके लिये ही होता है ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं ॥ १० ॥

प्रश्न—'दम्भमानमदान्विताः' से क्या भाव है ?

उत्तर—मान, धन, पूजन, प्रतिष्ठा आदि स्वार्थसाधनके लिये जहाँ जैसा बननेमें श्रेष्ठता दिखलायी पड़ती हो, वास्तवमें न होते हुए भी वैसा होनेका भाव दिखलाना 'दम्भ' है । अपनेमें सम्मान्य या पूज्य होनेका अभिमान रखना 'मान' है और रूप, गुण, जाति, ऐश्वर्य, विद्या, पद, धन, सन्तान आदिके नशेमें चूर रहना 'मद' है । आसुरी-स्वभाववाले मनुष्य इन दम्भ, मान और मदसे युक्त होते हैं । इसीसे उन्हें ऐसा कहा गया है ।

प्रश्न—'दुष्पूरम्' विशेषणके सहित 'कामम्' पद किसका वाचक है और उसका आश्रय लेना क्या है ?

उत्तर—संसारके भिन्न-भिन्न भोगोंको प्राप्त करनेकी जो इच्छा है, जिसकी पूर्ति किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकती, ऐसी कामनाओंका वाचक यहाँ 'दुष्पूरम्' विशेषणके सहित 'कामम्' पद है और ऐसी कामनाओंको पूर्ण करनेके लिये मनमें दृढ़ संकल्प रखना ही उनका आश्रय लेना है ।

प्रश्न—अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करना क्या है ?

उत्तर—अज्ञानके वशमें होकर जो नाना प्रकारके शास्त्र-विरुद्ध सिद्धान्तोंकी कल्पना करके उनको दृढ़तापूर्वक धारण किये रहना है, यही उनको अज्ञानसे ग्रहण करना है ।

प्रश्न—'अशुचिव्रताः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदिके सभी नियम शास्त्र-विरुद्ध भ्रष्ट होते हैं ।

प्रश्न—'प्रवर्तन्ते' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि वे लोग अज्ञान-वश उपर्युक्त भ्रष्टाचारोंसे युक्त होकर संसारमें इच्छानुसार बरतते हैं ।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—उनको मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओं-का आश्रय लेनेवाले बतानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि वे आसुर-स्वभाव-वाले मनुष्य भोग-सुखके लिये इस प्रकारकी असंख्य चिन्ताओं-का आश्रय किये रहते हैं जिनका जीवनभर भी अन्त नहीं होता, जो मृत्युके शेष क्षणतक बनी रहती हैं और इतनी अपार होती हैं कि कहीं उनकी गणना या सीमा नहीं होती ।

प्रश्न—विषयोंके भोगमें परायण होनेका तथा 'इतना ही सुख है' ऐसा माननेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि विषयभोगकी सामग्रियोंका संग्रह करना और उन्हें भोगते रहना—बस, यही उनके जीवनका लक्ष्य होता है । अतएव उनका जीवन इसीके परायण होता है, उनका यह निश्चय होता है कि 'बस, जो कुछ सुख है सो यह भोगोंका भोग कर लेना ही है ।'

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषयभोगोंके लिये अन्याय-पूर्वक धनादि पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—उनको आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके मनमें कामोपभोग-की नाना प्रकारकी कल्पनाएँ उठा करती हैं और उन कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये वे भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये रहते हैं । उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; इस प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं । इसीसे सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है ।

प्रश्न—'कामक्रोधपरायणाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—उन आशाओंकी पूर्तिके लिये वे भगवान्‌का या किसी देवता, सत्कर्म और सद्विचारका आश्रय नहीं लेते केवल काम-क्रोधका ही अवलम्बन करते हैं । इसलिये उनको काम-क्रोधके परायण कहा गया है ।

प्रश्न—विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादिके संग्रहकी चेष्टा करना क्या है ?

उत्तर—विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अव-लम्बन करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकदमे और भय-प्रदान आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसञ्चय करने-का प्रयत्न करना है ।

सम्बन्ध—पिछले चार श्लोकोंमें आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके लक्षण और आचरण बतलाकर अब अगले चार श्लोकों-में उनके 'अहंता', 'ममता' और 'मोह' युक्त सङ्कल्पोंका निरूपण करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ॥ १३ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'मनोरथ' शब्द यहाँ स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, मकान और मान, बड़ाई आदि सभी मनोवाञ्छित पदार्थोंके चिन्तनका वाचक है; अतएव इस श्लोकमें यह भाव दिखलाया गया है कि आसुर-स्वभाववाले पुरुष अहङ्कारपूर्वक नाना प्रकारके विचार करते रहते हैं। वे सोचते हैं कि अमुक अभीष्ट वस्तु तो मैंने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर ली है और अमुक मनोवाञ्छित वस्तुको मैं अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन और ऐश्वर्य तो पहलेसे है ही और फिर इतना और हो जायगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

यह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ ॥ १४ ॥

प्रश्न—यह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा-इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कामोपभोगको ही परम पुरुषार्थ माननेवाले आसुर-स्वभावके मनुष्य काम-क्रोधपरायण होते हैं। ईश्वर, धर्म और कर्मफलमें उनका जरा भी विश्वास नहीं होता। इसलिये वे अहङ्कारसे उन्मत्त होकर समझते हैं कि 'जगत्‌में ऐसा कौन है, जो हमारे मार्गमें बाधा दे सके या हमारे साथ विरोध करके जीवित रह सके?' इसलिये वे क्रोधमें भरकर घमण्डके साथ क्रूर वाणीसे कहा करते हैं कि 'यह जो इतना बड़ा बलवान् और जगत्प्रसिद्ध प्रभावशाली पुरुष था, हमसे वैर रखनेके कारण देखते-ही-देखते हमारे द्वारा यमपुरी पहुँचा दिया गया; इतना ही नहीं, जो कोई दूसरे हमसे विरोध करते हैं या करेंगे, वे भी चाहे जितने ही बलवान् क्यों न हों, उनको भी हम अनायास ही मार डालेंगे।'

प्रश्न—मैं ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहङ्कारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं कि 'संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें, मार दें, बचा दें, जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें।' अतः बड़े गर्वके साथ कहते हैं—'अरे! हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान् है, सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हम ही हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफल-जीवन हैं, परम सिद्ध हैं, भविष्यमें होनेवाली घटना हमें पहलेसे ही मालूम हो जाती है। हम सब कुछ जानते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं है। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्‌पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।'

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १५-१६ ॥

प्रश्न—मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? इस कथनका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इससे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंके धन और कुटुम्बसम्बन्धी घमण्डका स्पष्टीकरण किया गया है। अभिप्राय यह है कि वे आसुर-स्वभाववाले पुरुष अहङ्कारसे कहते हैं कि हमारे धनका और हमारे कुटुम्बी, मित्र, बान्धव, सहयोगी, अनुयायी और साथियोंका पार ही नहीं है। हमारी एक आवाजसे असंख्यों मनुष्य हमारा अनुगमन करनेको तैयार हैं। इस प्रकार धनबल और जनबलमें हमारे समान दूसरा कोई भी नहीं है।

प्रश्न—मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा—इस कथनका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इससे उनका यज्ञ और दानसम्बन्धी मिथ्या अभिमान दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य वास्तवमें न तो सात्त्विक यज्ञ या दान करते हैं और न करना चाहते ही हैं। केवल दूसरोंपर रोब जमानेके लिये यज्ञ और दानका ढोंग रचकर अपने घमण्डको व्यक्त करते हुए कहा करते हैं कि 'हम अमुक यज्ञ करेंगे, बड़ा भारी दान देंगे। हमारे समान दान देनेवाला और यज्ञ करनेवाला दूसरा कौन है?'

प्रश्न—मैं आमोद-प्रमोद करूँगा—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे उनका सुखसम्बन्धी मिथ्या अभिमान दिखलाया गया है। वे आसुर-स्वभाववाले लोग भाँति-भाँतिकी डींग हाँकते हुए, गर्वमें फूलकर कहा करते हैं कि 'अहा! फिर कैसी मौज होगी; हम आनन्दमें मग्न हो रहेंगे, मजे उड़ायेंगे।'

प्रश्न—'इति अज्ञानविमोहिताः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि वे आसुर-स्वभाववाले लोग तेरहवें श्लोकसे लेकर यहाँतक बतलाये हुए अहङ्काररूप अज्ञानसे अत्यन्त मोहित रहते हैं।

प्रश्न—'अनेकचित्तविभ्रान्ताः' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंका चित्त अनेकों विषयोंमें विविध प्रकारसे विभ्रान्त रहता है। वे किसी भी विषयपर स्थिर नहीं रहते, भटकते ही रहते हैं।

प्रश्न—'मोहजालसमावृताः' का क्या भाव है?

उत्तर—इसका भाव यह है कि जैसे मछली जालमें फँसकर घिरी रहती है, वैसे ही आसुर-स्वभाववाले मनुष्य अविवेकरूपी मोह-मायाके जालमें फँसकर उससे घिरे रहते हैं।

प्रश्न—'कामभोगेषु प्रसक्ताः' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य विषयोपभोगको ही जीवनका एकमात्र ध्येय मानते हैं, इसलिये उसीमें विशेषरूपसे आसक्त रहते हैं।

प्रश्न—'वे अपवित्र नरकमें गिरते हैं' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे उन आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारकी स्थितिवाले मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं, और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओंसे भरे दुःखदायक कुम्भीपाक, रौरवादि घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है।

सम्बन्ध—*पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि ये लोग 'यज्ञ करूँगा' ऐसा कहते हैं; अतः अगले श्लोकमें उनके यज्ञका स्वरूप बतलाया जाता है—*

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥ १७ ॥

प्रश्न—'आत्मसम्भाविताः' किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं—वे 'आत्मसम्भावित' हैं।

प्रश्न—'स्तब्धाः'का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो घमण्डके कारण किसीके साथ-यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं।

प्रश्न—'धनमानमदान्विताः' किनको कहते हैं ?

उत्तर—जो धन और मानके मदसे उन्मत्त रहते हैं, उन्हें 'धनमानमदान्वित' कहते हैं।

प्रश्न—केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधि-रहित यजन करते हैं—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले आसुर-स्वभावके मनुष्य जो यज्ञ करते हैं, वह विधिसे रहित, केवल नाममात्रका यज्ञ होता है। वे लोग बिना श्रद्धाके केवल पाखण्डसे लोगोंको दिखलानेके लिये ही ऐसे यज्ञ किया करते हैं; उनके वे यज्ञ तामस होते हैं और इसीसे 'अधो गच्छन्ति तामसाः' के अनुसार वे नरकोंमें गिरते हैं। तामस यज्ञकी पूरी व्याख्या सतरहवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें देखनी चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके यज्ञका स्वरूप बतलाकर अब उनकी दुर्गतिके कारणरूप स्वभावका वर्णन करते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥

प्रश्न—'अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके परायण' का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि वे आसुर-स्वभाववाले मनुष्य अहङ्कारका अवलम्बन करके कहते हैं कि 'हम ही ईश्वर हैं, सब भोगोंको भोगनेवाले हैं, सिद्ध हैं, बलवान् हैं और सुखी हैं। ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे हम न कर सकें।' अपने बलका आश्रय लेकर वे दूसरोंसे वैर करते हैं, उन्हें धमकाने, मारने-पीटने और विपत्तिग्रस्त करनेमें प्रवृत्त होते हैं। वे अपने बलके सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं। दर्पका आश्रय लेकर वे यह डींग हाँका करते हैं कि हम बड़े धनी और बड़े कुटुम्बवाले हैं। हमारे समान दूसरा है ही कौन। कामका आश्रय लेकर वे नाना प्रकारके दुराचार किया करते हैं। और क्रोधके परायण होकर वे कहते हैं कि जो भी हमारे प्रतिकूल कार्य करेगा या हमारा अनिष्ट करेगा, हम उसीको मार डालेंगे। इस प्रकार केवल अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय लेकर उन्हींके बलपर वे भाँति-भाँतिकी कल्पना-जल्पना किया करते हैं और जो कुछ भी कार्य करते हैं, सब इन्हीं दोषोंकी प्रेरणासे और इन्हींपर अवलम्बन करके करते हैं। ईश्वर, धर्म या शास्त्र आदि किसीका भी आश्रय नहीं लेते।

प्रश्न—इसमें 'च' अव्यय क्यों आया है ?

उत्तर—'च' से यह भाव दिखलाया गया है कि ये आसुर-स्वभाववाले मनुष्य केवल अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके ही आश्रित नहीं हैं; दम्भ, लोभ, मोह आदि और भी अनेकों दोषोंको धारण किये रहते हैं।

प्रश्न—'अभ्यसूयकाः'का क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना असूया है। आसुर-स्वभाववाले पुरुष ऐसा ही करते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, वे भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये उन्हें 'अभ्यसूयक' कहा गया है।

प्रश्न—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका अपने और

के शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरके साथ द्वेष करनेवाले' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य जो दूसरोंसे वैर बाँधकर उनको नाना प्रकारसे कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं और स्वयं भी कष्ट भोगते हैं, वह उनका मेरे ही साथ द्वेष करना है; क्योंकि उनके और दूसरोंके—सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे मैं परमेश्वर स्थित हूँ। किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक आसुरी स्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचार आदिका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

प्रश्न—'द्विषतः', 'अशुभान्', 'क्रूरान्' और 'नराधमान्'—इन चार विशेषणोंके सहित 'तान्' पद किनका वाचक है तथा इन विशेषणोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणोंके सहित 'तान्' पद पिछले श्लोकोंमें जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, उन आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका बोधक है। उनकी दुर्गतिमें उनके दुर्गुण और दुराचार ही कारण हैं, यही भाव दिखलानेके लिये उपर्युक्त विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि वे लोग सबके साथ द्वेष करनेवाले, नाना प्रकारके अशुभ आचरण करके समाजको भ्रष्ट करनेवाले, निर्दयतापूर्वक बहुत-से कठोर कर्म करनेवाले और बिना ही कारण दूसरोंका बुरा करनेवाले अधम श्रेणीके मनुष्य होते हैं। इसी कारण मैं उनको बार-बार नीच योनियोंमें डालता हूँ।

प्रश्न—यहाँ आसुरी योनिसे कौन-सी योनियोंका निर्देश है?

उत्तर—सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

प्रश्न—'अजस्रम्' और 'एव' पदसे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'अजस्रम्' से यह बतलाया गया है कि वे निरन्तर हजारों-लाखों बार आसुरी योनिमें गिराये जाते हैं और 'एव' इस बातको बतलाता है कि वे लोग देव, पितर या मनुष्यकी योनिको न पाकर निश्चय ही पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंको ही प्राप्त होते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! वे मूढ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—उपर्युक्त आसुर-स्वभाववाले मूढ पुरुषोंको भगवत्-प्राप्तिकी तो बात ही क्या, जब ऊँची गति भी नहीं मिलती, केवल आसुरी योनि ही मिलती है, तब भगवान्‌ने 'माम् अप्राप्य' 'मुझको न पाकर' यह कैसे कहा ?

उत्तर—मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है। इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे मनुष्य-शरीरका सुअवसर पाकर भी भगवान्‌को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है। यहाँ दयामय भगवान् मानो जीवकी

इस दशापर तरस खाते हुए यह चेतावनी देते हैं कि मनुष्य-शरीर पाकर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करके मेरी प्राप्तिरूप जन्मसिद्ध अधिकारसे वञ्चित मत होओ।

प्रश्न—वे जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—ऐसा कहकर भगवान् यह दिखलाते हैं कि हजारों-लाखों बार वे आसुरी योनिमें ही जन्म लेते हैं, उन्हें ऊँची योनि नहीं मिलती।

प्रश्न—उससे भी अति अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं—इससे क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि वे आसुर-स्वभाववाले मनुष्य हजारों-लाखों बार आसुरी योनिमें जन्म लेकर फिर उससे भी नीच, महान् यातनामय कुम्भीपाक, महारौरव, तामिस्र और अन्धतामिस्र आदि घोर नरकोंमें पड़ते हैं।

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परमगतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है? इसपर अब दो श्लोकोंमें समस्त दुर्गतियोंके प्रधान कारणरूप आसुरी सम्पत्तिके त्रिविध दोषोंके त्याग करनेकी बात कहते हुए भगवान् परमगतिकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये॥ २१॥

प्रश्न—काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार क्यों बतलाया गया?

उत्तर—स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते है। मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं। धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं। लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं। पापोंका फल तामिस्र और अन्धतामिस्र आदि नरकोंकी प्राप्ति है, इसीलिये इन तीनोंको नरकके द्वार बतलाया गया है।

प्रश्न—काम, क्रोध और लोभको आत्माका नाश करनेवाले क्यों कहा गया?

उत्तर—'आत्मा' शब्दसे यहाँ जीवात्माका निर्देश है। परन्तु जीवात्माका नाश कभी होता नहीं, अतएव यहाँ आत्माके नाशका अर्थ है, जीवकी अधोगति। मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं। काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है।

प्रश्न—इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि जब यह [illegible] हो गया कि सारे अनर्थोंके मूलभूत मोहजनित काम, [illegible] और [illegible] ही समस्त अधोगतिके कारण हैं, [illegible] [illegible] नरक इनका तुरंत [illegible]

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

प्रश्न—'एतैः' और 'त्रिभिः'—इन दोनों पदोंके सहित 'तमोद्वारैः' पद किनका वाचक है और इनसे विमुक्त मनुष्यको 'नर' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिन काम, क्रोध और लोभको नरकके त्रिविध द्वार बतलाया गया है, उन्हींका वाचक यहाँ 'एतैः' और 'त्रिभिः' पदोंके सहित 'तमोद्वारैः' पद है । तामिस्र और अन्धतामिस्रादि नरक अन्धकारमय होते हैं, अज्ञानरूपी अन्धकारसे उत्पन्न दुराचार और दुर्गुणोंके फलस्वरूप उनकी प्राप्ति होती है, उनमें रहकर जीवोंको मोह और दुःखरूप तमसे ही घिरे रहना पड़ता है; इसीसे उनको 'तम' कहा जाता है । काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों उनके द्वार अर्थात् कारण हैं, इसलिये उनको तमोद्वार कहा गया है । इन तीनों नरकके द्वारोंसे जो विमुक्त है—सर्वथा छूटा हुआ है, वही मनुष्य अपने कल्याणका साधन कर सकता है । और मनुष्यदेह पाकर जो इस प्रकार कल्याणका साधन करता है, वही वास्तवमें 'नर' (मनुष्य) है । यह भाव दिखलानेके लिये उसे 'नर' कहा गया है ।

प्रश्न—अपने कल्याणका आचरण करना क्या है ?

उत्तर—काम, क्रोध और लोभके वश हुए मनुष्य अपना पतन करते हैं और इनसे छूटे हुए मनुष्य अपने कल्याणके लिये आचरण करते हैं; अतः काम, क्रोध और लोभका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्गुण और सदाचाररूप दैवीसम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है ।

प्रश्न—'इससे वह परम गतिको जाता है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि उपर्युक्त प्रकारसे काम, क्रोध और लोभके विस्ताररूप आसुरीसम्पदासे भलीभाँति छूटकर निष्कामभावसे दैवीसम्पदाका सेवन करनसे मनुष्य परमगतिको अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है ।

सम्बन्ध—जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है या नहीं ? इसपर कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही ॥ २३ ॥

प्रश्न—शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करना क्या है ?

उत्तर—वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है । आसुरीसम्पदाके आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदारूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान इन शास्त्रोंसे ही होता है । इन कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौर पर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि किसीकी भी इच्छाविशेषको लेकर आचरण करना है, यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है ।

प्रश्न—इस प्रकार आचरण करनेवाला सिद्धि, सुख और परमगतिको नहीं प्राप्त होता—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य

शास्त्रविधिका त्याग करता है, उसके कर्म यदि शास्त्रनिषिद्ध अर्थात् पाप होते हैं तो वे दुर्गतिके कारण होते हैं; अतएव उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। परन्तु यदि अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर भी किसी प्रकारकी कामनासे प्रेरित होकर कर्म करता है तो भी उनके मनमाने तौरपर किये जानेके कारण तथा शास्त्रकी अवहेलना करनेके कारण उनमें कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता। अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गप्राप्तिरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता।

सम्बन्ध—शास्त्रविधिको त्यागकर किये जानेवाले मनमाने कर्म निष्फल होते हैं, यह बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये? इसपर कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये-इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है। अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये। अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शास्त्रोंको प्रमाण मानकर तुम्हें शास्त्रोंमें बतलाये हुए कर्तव्य-कर्मोंका ही विधिपूर्वक आचरण करना चाहिये, निषिद्ध कर्मोंका कभी नहीं। तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

सप्तदशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस सतरहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाकर श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया है। फिर पूजा, यज्ञ, तप आदिमें श्रद्धाका सम्बन्ध दिखलाते हुए अन्तिम श्लोकमें श्रद्धारहित पुरुषोंके कर्मोंको असत् बतलाया गया है। इस प्रकार इस अध्यायमें त्रिविध श्रद्धाकी विभागपूर्वक व्याख्या होनेसे इसका नाम 'श्रद्धात्रयविभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी है, इसके उत्तरमें भगवान्‌के द्वारा दूसरेमें गुणोंके अनुसार त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धाका वर्णन किया गया है; तीसरेमें श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है; चौथेमें सात्त्विक, राजस और तामस श्रद्धायुक्त पुरुषोंके द्वारा क्रमशः देव, यक्ष, राक्षस और भूत-प्रेतोंके पूजे जानेकी बात कही गयी है; पाँचवें और छठेमें शास्त्रविरुद्ध घोर तप करनेवालोंकी निन्दा की गयी है;सातवेंमें आहार,यज्ञ,तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी गयी है; आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस आहारका वर्णन किया गया है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवेंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञके लक्षण बतलाये गये हैं। चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवेंमें क्रमशः शारीरिक,वाचिक और मानसिक तपके स्वरूपका कथन करकेसतरहवेंमें सात्त्विकतपके लक्षण बतलाये गये हैं तथा अठारहवें और उन्नीसवेंमें क्रमशः राजस और तामस तपके लक्षणोंका वर्णन किया गया है। बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानके लक्षणोंकी व्याख्या की गयी है। तेईसवेंमें 'ॐ तत्सत्' की महिमा बतलायी गयी है। चौबीसवेंमें 'ॐ' के प्रयोगकी, पचीसवेंमें 'तत्' शब्दके प्रयोगकी और छब्बीसवें तथा सत्ताईसवेंमें 'सत्' शब्दके प्रयोगकी व्याख्या की गयी है एवं अन्तके अट्ठाईसवें श्लोकमें बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको इस लोक और परलोकमें सर्वथा निष्फल और असत् बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्‌ने निष्कामभावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरीसम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरी सम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकोंके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्मकल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके, मनमाने ढंगसे अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है; वही करता है; उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, सिद्धिके लिये किये गये कर्मसे सिद्धि नहीं मिलती, सुखके लिये किये गये कर्मसे सुख नहीं मिलता और परमगति तो मिलती ही नहीं। अतएव करने और न करने योग्य कर्मोंकी व्यवस्था देनेवाले शास्त्रोंके विधानके अनुसार ही तुम्हें निष्कामभावसे कर्म करने चाहिये। इससे अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ होते हैं—यह तो ठीक ही है। परन्तु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं, परन्तु यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं; उनकी क्या स्थिति होती है ? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्‌से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर श्रद्धासे युक्त हुए देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है ? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी ? ॥ १ ॥

प्रश्न—शास्त्रविधिके त्यागकी बात सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी कही जा चुकी है और यहाँ भी कहते हैं। इन दोनोंका एक ही भाव है या इनमें कुछ अन्तर है ?

उत्तर—अवश्य अन्तर है। वहाँ अवहेलना करके शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको शास्त्रकी परवा ही नहीं है; वे अपने मनमें जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, वही करते हैं। इसीसे वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है। परन्तु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

प्रश्न—'निष्ठा' शब्दका क्या भाव है ?

उत्तर—'निष्ठा' शब्द यहाँ स्थितिका वाचक है। क्योंकि तीसरे श्लोकमें इसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने कहा है कि यह पुरुष श्रद्धामय है; जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही वह पुरुष है अर्थात् वैसी ही उसकी स्थिति है। अतएव उसीका नाम 'निष्ठा' है।

प्रश्न—'उनकी निष्ठा सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी ?' यह पूछनेका क्या भाव है ?

उत्तर—सोलहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने दैवी प्रकृतिवाले और आसुरी प्रकृतिवाले—इन दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन किया। इनमें दैवी प्रकृतिवाले लोग शास्त्रविहित कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करते हैं, इसीसे वे मोक्षको प्राप्त होते हैं। आसुर-स्वभाववालोंमें जो तामस लोग पापकर्मोंका आचरण करते हैं, वे तो नीच योनियोंको या नरकोंको प्राप्त होते हैं और तमोमिश्रित राजस लोग, जो शास्त्रविधिको त्याग कर मनमाने अच्छे कर्म करते हैं, उनको अच्छे कर्मोंका कोई फल नहीं मिलता; किन्तु पापकर्मका फल तो उन्हें भी भोगना ही पड़ता है। इस वर्णनसे दैवी और आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी उपर्युक्त बातें तो अर्जुनकी समझमें आ गयीं; परन्तु न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करनेपर भी जो श्रद्धाके साथ पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव स्वभाववाले या आसुर स्वभाववाले ? इसका स्पष्टीकरण नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी, या तामसी ? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले!

प्रश्न—ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं और जिनमें श्रद्धा भी है।

(२) जो शास्त्रविधिका तो किसी अंशमें पालन करते हैं, परन्तु जिनमें श्रद्धा नहीं है।

(३) जिनमें श्रद्धा तो है, परन्तु जो शास्त्रविधिका पालन नहीं कर पाते।

(४) जो शास्त्रविधिका पालन भी नहीं करते और जिनमें श्रद्धा भी नहीं है।

(५) जो अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं।

इन पाँचोंका क्या स्वरूप है, इनकी क्या गति होती है तथा इनका वर्णन गीताके कौन-से श्लोकोंमें प्रधानतया आया है ?

उत्तर—(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सत्रहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकाम भावसे आचरण करनेवाले सत्त्वमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन दूसरे अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवेंमें, चौथे अध्यायके बारहवें श्लोकमें, सातवेंके बीसवें, इक्कीसवें और बाई[illegible]

अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं परन्तु जिनमें श्रद्धा नहीं होती—उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परन्तु जिनमें श्रद्धा है—ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं—वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवेंके बारहवें-में, सोलहवें अध्यायके सातवेंसे लेकर बीसवेंतकमें और इस अध्यायके पाँचवें, छठे एवं तेरहवें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं—उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है—जिनका वर्णन चौथे प्रश्नके उत्तरमें आ चुका है। और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन रजःप्रधान तामस पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं उनका फल—तिर्यक्-योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँचों प्रश्नोंके उत्तरमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परन्तु यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं किया गया है।

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नको सुनकर भगवान् अब अगले दो श्लोकोंमें उसका संक्षेपसे उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥

प्रश्न—'देहिनाम्' पद किन मनुष्योंके लिये प्रयुक्त हुआ है?

उत्तर—जिनका देहमें स्वाभाविक अभिमान है, ऐसे साधारण मनुष्योंके लिये प्रयुक्त हुआ है।

प्रश्न—'सा' और 'स्वभावजा' ये पद कैसी श्रद्धाके वाचक हैं?

उत्तर—'सा' एवं 'स्वभावजा' पद शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्योंमें रहनेवाली श्रद्धाके वाचक हैं। वह श्रद्धा शास्त्रसे उत्पन्न नहीं है, स्वभाव-से है। इसलिये उसे 'स्वभावजा' कहते हैं। जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

प्रश्न—सात्त्विकी, राजसी, तामसी और त्रिविधाके साथ 'इति'के प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इनके साथ 'इति' पदका प्रयोग करके भगवान् यह दिखलाते हैं कि यह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इस प्रकार तीन ही तरहकी होती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है ॥ ३ ॥

प्रश्न—सभी मनुष्योंसे यहाँ क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिन देहाभिमानी मनुष्योंके लिये 'देहिनाम्' पद आया है, उन्हींके लिये 'सर्वस्य' पद आया है । अर्थात् यहाँ देहाभिमानी साधारण मनुष्योंके सम्बन्धमें कहा जा रहा है । क्योंकि इसी श्लोकमें आगे यह कहा गया है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह स्वयं भी वैसा ही है । यह कथन देहाभिमानी जीवके लिये ही लागू हो सकता है, गुणातीत ज्ञानीके लिये नहीं ।

प्रश्न—पिछले श्लोकमें श्रद्धाको 'स्वभावजा'—स्वभावसे उत्पन्न बतलाया गया है और यहाँ 'सत्त्वानुरूपा' अन्तःकरणके अनुरूप कहा गया है—इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्य सात्त्विक, राजस, तामस—जैसे कर्म करता है, वैसा ही उसका स्वभाव बनता है । और स्वभाव अन्तःकरणमें रहता है; अतः वह जैसे स्वभाववाला है, वैसे ही अन्तःकरणवाला माना जाता है । इसलिये उसे चाहे 'स्वभावसे उत्पन्न' कहा जाय चाहे 'अन्तःकरणके अनुरूप' बात एक ही है ।

प्रश्न—पुरुषको तो 'पर' यानी गुणोंसे सर्वथा अतीत बतलाया गया (१३ । २२), फिर यहाँ उसे 'श्रद्धामय' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परन्तु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है । क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है । जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती । यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुरूप जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है । अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है । इससे भगवान्‌ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है ।

सम्बन्ध—श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाका स्वरूप बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है । इसपर भगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कार्य देखकर कारणकी पहचान होती है—इस न्यायके अनुसार जब देवता सात्त्विक हैं तो उनकी पूजा करनेवाले भी सात्त्विक ही होंगे; और 'जैसे देव वैसे ही उनके पुजारी' इस लोकोक्तिके अनुसार यह बतलाते हैं कि देवताओंकी पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं । देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये ।

यहाँ देवपूजनरूप क्रिया सात्त्विक होनेके कारण उसे करनेवालोंको सात्त्विक बताया है; परन्तु पूर्ण सात्त्विक तो वही है, जो सात्त्विक क्रियाको निष्कामभावसे करता है ।

प्रश्न—राजस पुरुष यक्ष-राक्षसोंको (पूजते हैं)—इससे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—जैसे देवताओंको पूजनेवाले सात्त्विक [illegible]
उसी न्यायसे यक्ष-[illegible]
निष्ठावाले हैं, [illegible]
कुबेरादि [illegible]

प्रश्न—तामस मनुष्य प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं—इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे भी यही बात कही गयी है कि भूत, प्रेत, पिशाचोंको पूजनेवाले तामसी निष्ठावाले हैं। मरनेके बाद जो पाप-कर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

प्रश्न—इन लोगोंकी गति कैसी होती है ?

उत्तर—'जैसा इष्ट वैसी गति' प्रसिद्ध ही है। देवताओंको पूजनेवाले देवगतिको प्राप्त होते हैं, यक्ष-राक्षसोंको पूजनेवाले यक्ष-राक्षसोंकी गतिको और भूत-प्रेतोंको पूजनेवाले उन्हींके-जैसे रूप, गुण और स्थिति आदिको पाते हैं। नवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'यान्ति देवव्रता देवान्' 'भूतानि यान्ति भूतेज्याः' आदिसे यही सिद्धान्त बतलाया है।

सम्बन्ध—न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धाके साथ यजन करनेवालोंका वर्णन किया गया, परन्तु शास्त्रविधिका त्याग करनेवाले अश्रद्धालु मनुष्योंके विषयमें कुछ नहीं कहा गया; अतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि जिनमें श्रद्धा भी नहीं है और जो शास्त्रविधिको भी नहीं मानते और घोर तप आदि कर्म करते हैं, वे किस श्रेणीमें हैं ? इसपर अगले दो श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—शास्त्रविधिसे रहित और घोर तप कैसे तपको कहते हैं ?

उत्तर—जिस तपके करनेका शास्त्रोंमें विधान नहीं है, जिसमें शास्त्रविधिका पालन नहीं किया जाता, जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक होता है—ऐसे तपको शास्त्रविधिसे रहित घोर तप कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार तप करनेवाले मनुष्योंको दम्भ और अहङ्कारसे युक्त बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती। वे लोगोंको ठगनेके लिये और उनपर रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहङ्कारसे फूले रहते हैं। इसीसे उन्हें दम्भ और अहङ्कारसे युक्त कहा गया है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंको कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उनकी भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति होती है, इससे उनके चित्तमें निरन्तर उन्हीं भोगोंकी कामना बढ़ती रहती है। वे समझते हैं कि हम जो कुछ चाहेंगे, वही प्राप्त कर लेंगे; हमारे अन्दर अपार बल है, हमारे बलके सामने किसकी शक्ति है जो हमारे कार्यमें बाधा दे सके। इसी अभिप्रायसे उन्हें कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त कहा गया है।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

प्रश्न—शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायका क्या अर्थ है ?

उत्तर—पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका नाम 'भूतसमुदाय' है। इसका वर्णन तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे आ चुका है।

प्रश्न—वे लोग भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित

शुद्ध परमात्माको भी कृश करनेवाले होते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—शास्त्रसे विपरीत मनमाना घोर तप करनेवाले मनुष्य नाना प्रकारके भयानक आचरणोंसे उपर्युक्त भूत-समुदायको यानी शरीरको क्षीण और दुर्बल करते हैं, इतना ही नहीं है; वे अपने घोर आचरणोंसे अन्तःकरणमें स्थित परमात्माको भी क्लेश पहुँचाते हैं। क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे परमात्मा स्थित हैं। अतः स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना परमात्माको ही दुःख पहुँचाना है। इसलिये उन्हें भूतसमुदायको और परमात्माको क्लेश पहुँचानेवाले कहा गया है।

प्रश्न—'अचेतसः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करनेवाले, विवेकशक्तिसे रहित, आवरणदोषयुक्त मूढ़ मनुष्योंका वाचक 'अचेतसः' पद है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंको आसुर-निश्चयवाले कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त शास्त्रविधिसे रहित घोर तामस तप करनेवाले, दम्भी और घमण्डी मनुष्य सोलहवें अध्यायमें वर्णित आसुरी-सम्पदावाले ही हैं, यही भाव दिखलानेके लिये उनको 'आसुर-निश्चयवाले' कहा गया है।

सम्बन्ध—त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप करनेवाले लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥ ७ ॥

प्रश्न—'अपि' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'अपि' पदसे भगवान् यह दिखलाते हैं कि जैसे श्रद्धा और यजन सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं, वैसे ही आहार भी तीन प्रकारके होते हैं।

प्रश्न—'सर्वस्य' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'सर्वस्य' पद यहाँ मनुष्यमात्रका वाचक है, क्योंकि आहार सभी मनुष्य करते हैं और यह प्रकरण भी मनुष्योंका ही है।

प्रश्न—आहारादिके सम्बन्धमें अर्जुनने कुछ भी नहीं पूछा था, फिर बिना ही पूछे भगवान्‌ने आहारादिकी बात क्यों कही ?

उत्तर—मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है। आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।' (छान्दोग्य उ० ७।२६।२) अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी। अतएव इस प्रसङ्गमें आहारका विवेचन आवश्यक है। दूसरे, यजन अर्थात् देवादिका पूजन सब लोग नहीं करते; परन्तु आहार तो सभी करते हैं। जैसे जो जिस गुणवाले देवता, यक्ष-राक्षस या भूत-प्रेतोंकी पूजा करता है—वह उसीके अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस गुणवाला समझा जाता है; वैसे ही सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता है, वह उसी गुणवाला होता है। इसी भावको लेकर श्लोकमें 'प्रियः' पद देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है। अतः आहारकी दृष्टिसे भी उसकी पहचान हो सकती है। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ आहारके तीन भेद बतलाये हैं तथा सात्त्विक आहारका ग्रहण करानेके लिये और राजस-तामसका त्याग करानेके लिये भी इसके तीन भेद बतलाये हैं। यही बात यज्ञ, दान और तपके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेकी आज्ञा की है; उसीके अनुसार इस श्लोकमें ग्रहण करनेयोग्य सात्त्विक आहारका वर्णन करते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

प्रश्न—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना क्या है और उनको बढ़ानेवाले आहार कौन-से हैं?

उत्तर—(१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन, जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि। बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है।

(३) बलका अर्थ है सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति। इस आन्तर एवं बाह्य शक्तिका बढ़ना ही बलका बढ़ना है।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है।

(५) हृदयमें सन्तोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना और मुखादि शरीरके अङ्गोंपर शुद्ध भावजनित आनन्दके चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेमभावसम्पन्न होजाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है।

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, मूँग और चावल आदि सात्त्विक आहार हैं—उन सबको समझानेके लिये आहारका यह लक्षण किया गया है।

प्रश्न—वे आहार कैसे होते हैं?

उत्तर—'रस्याः', 'स्निग्धाः', 'स्थिराः' और 'हृद्याः'—इन पदोंसे भगवान्‌ने यही बात समझायी है।

(१) दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं।

(२) मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैल आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं।

(३) जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको 'स्थिराः' कहते हैं।

(४) जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको 'हृद्याः' कहते हैं।

प्रश्न—'आहाराः' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको आहार कहते हैं। इसकी व्याख्या पंद्रहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें देखनी चाहिये। वहाँ चतुर्विध अन्नके नामसे इसका वर्णन हुआ है।

प्रश्न—भगवान्‌ने पूर्वके श्लोकमें आहारके तीन भेद सुननेको कहा था, परन्तु यहाँ 'सात्त्विकप्रियाः' से आहार करनेवाले पुरुषोंकी बात कैसे कही?

उत्तर—जो पुरुष जिस गुणवाला है, उसको उसी गुणवाला आहार प्रिय होता है। अतएव पुरुषोंकी बात कहनेसे आहारकी बात आप ही आ गयी। मनुष्यकी भोजनविषयक प्रियताके सम्बन्धसे उसकी पहचान बतानेके उद्देश्यसे ऐसा प्रयोग किया गया है।

सम्बन्ध—ग्रहण करनेयोग्य सात्त्विक पुरुषोंके आहारका वर्णन करके अब अगले दो श्लोकोंमें त्याग करनेयोग्य राजस और तामस पुरुषोंके आहारका वर्णन करते हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक कैसे आहारको कहते हैं ?

उत्तर—नीम, करेला आदि पदार्थ कड़वे हैं, कुछ लोग काली मिर्च आदि चरपरे पदार्थोंको कड़वे मानते हैं। किंतु इस वर्णनमें तीक्ष्ण शब्द अलग आया है, कटु रसका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये यहाँ 'कटु' शब्दका तिक्त अर्थ मानकर उसका अर्थ 'कड़वा' किया गया है। इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, बहुत गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं, लाल मिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और राई आदि पदार्थ दाहकारक हैं।

प्रश्न—'दुःखशोकामयप्रदाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—खानेके समय गले आदिमें जो तकलीफ होती है तथा जीभ, तालु आदिका जलना, दाँतोंका आम जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं—उन्हें 'दुःख' कहते हैं। खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'शोक' कहते हैं और खानेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'आमय' कहते हैं। उपर्युक्त कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये इन्हें 'दुःखशोकामयप्रदाः' कहा है। अतएव इनका त्याग करना उचित है।

प्रश्न—ये राजस पुरुषको प्रिय हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त आहार राजस है; अतः जिनको इस प्रकारका आहार प्रिय यानी रुचिकर है, उनको रजोगुणी समझना चाहिये।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है॥ १०॥

प्रश्न—'याम' प्रहरको कहते हैं, अतएव 'यातयामम्' का अर्थ जिस भोजनको तैयार हुए एक प्रहर बीत चुका हो ऐसा न मानकर अधपका क्यों माना गया ? और अधपका भोजन कैसे भोजनको कहते हैं ?

उत्तर—इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' या बासी अन्नको तामस बतलाया गया है। 'यातयामम्' का अर्थ एक प्रहर पहलेका बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; क्योंकि जब एक ही प्रहर पहले बना हुआ भोजन भी तामस है, तब एक रात पहले बने भोजनका तामस होना तो यों ही सिद्ध हो जाता है, उसे अलग तामस बतलानेकी क्या आवश्यकता है। यह सोचकर यहाँ 'यातयामम्' का अर्थ 'अधपका' किया गया है।

अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये जो पूरी तरहसे पके न हों, अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो।

प्रश्न—'गतरसम्' पद कैसे भोजनका वाचक है ?

उत्तर—अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस सूख गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है)—उनको 'गतरस' कहते हैं।

प्रश्न—'पूति' पद किस प्रकारके भोजनका वाचक है ?

उत्तर—खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं।

प्रश्न—'पर्युषितम्' पद कैसे भोजनका वाचक है ?

उत्तर—पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं। रात बीत जानेसे ऐसे खाद्य पदार्थोंमें विकृति उत्पन्न हो जाती है और उनके खानेसे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये, जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो।

प्रश्न—'उच्छिष्ट' कैसे भोजनका वाचक है ?

उत्तर—अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं।

प्रश्न—'अमेध्यम्' पद कैसे भोजनका वाचक है ?

उत्तर—मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ—जो स्वभावसे ही अपवित्र हैं अथवा जिनमें किसी प्रकारके संसर्गदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और अधर्मसे उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो—उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं। ऐसे पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं।

प्रश्न—'च' और 'अपि' इन अव्ययोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इनके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिन वस्तुओंमें उपर्युक्त दोष थोड़े या अधिक हों, वे सब वस्तुएँ तो तामस हैं ही; उनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव और अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी तामस हैं।

प्रश्न—ऐसा भोजन तामस पुरुषोंको प्रिय होता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त भोजन तामस है और तामस प्रकृतिवाले मनुष्य ऐसे ही भोजनको पसंद किया करते हैं; यह उनकी पहचान है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भोजनके तीन भेद बतलाकर अब यज्ञके तीन भेद बतलाये जाते हैं; उनमें पहले करने-योग्य सात्त्विक यज्ञके लक्षण बतलाते हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है-इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है॥ ११॥

प्रश्न—'विधिदृष्टः' पदका क्या अर्थ है और यहाँ इस विशेषणके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'विधिदृष्टः'से भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि श्रौत और स्मार्त यज्ञोंमेंसे जिस वर्ण या आश्रमके लिये शास्त्रोंमें जिस यज्ञका कर्तव्यरूपसे विधान किया गया है, वह शास्त्रविहित यज्ञ ही सात्त्विक है। शास्त्रके विपरीत मनमाना यज्ञ सात्त्विक नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'यज्ञः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी वस्तुका समर्पण करके किसीकी यथायोग्य पूजा करना 'यज्ञ' कहलाता है।

प्रश्न—करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका समाधान करके किये हुए यज्ञको सात्त्विक बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यदि फलकी इच्छा ही न हो तो फिर कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है, ऐसी शङ्का हो जानेपर मनुष्यकी यज्ञमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती; अतएव 'करना ही कर्तव्य है' इस प्रकार मनका समाधान करके किये जानेवाले यज्ञको सात्त्विक बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना चाहिये। ऐसे शास्त्रविहित कर्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें दृढ निश्चय करके निष्कामभावसे जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है।

प्रश्न—'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद कैसे कर्ताका वाचक है और उनके द्वारा किये हुए यज्ञको सात्त्विक बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग आदिकी

प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दुःखनिवृत्तिकी जरा भी इच्छा नहीं करते—उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद है (६।१)। उनके द्वारा किये हुए यज्ञको सात्त्विक बतलाकर यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि सकामभावसे किया हुआ यज्ञ विधिपूर्वक किया जानेपर भी पूर्ण सात्त्विक नहीं हो सकता, सात्त्विक भावकी पूर्णताके लिये फलेच्छाका त्याग परमावश्यक है।

सम्बन्ध—अब राजस यज्ञके लक्षण बतलाते हैं—

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

परन्तु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान॥ १२॥

प्रश्न—'तु' अव्ययका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—सात्त्विक यज्ञसे इसका भेद दिखलानेके लिये 'तु' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—दम्भके लिये यज्ञ करना क्या है?

उत्तर—यज्ञ-कर्ममें आस्था न होनेपर भी जगत्‌में अपनेको 'यज्ञनिष्ठ' प्रसिद्ध करनेके उद्देश्यसे जो यज्ञ किया जाता है, उसे दम्भके लिये यज्ञ करना कहते हैं।

प्रश्न—फलका उद्देश्य रखकर यज्ञ करना क्या है?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप इस लोक और परलोकके सुख-भोगोंके लिये या किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ करना है—यह फल-प्राप्तिके उद्देश्यसे यज्ञ करना है।

प्रश्न—'एव', 'अपि' और 'च'—इन अव्ययोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इनके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है, वह शास्त्र-विहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी राजस है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों उसके 'राजस' होनेमें तो कहना ही क्या है!

सम्बन्ध—अब तामस यज्ञके लक्षण बतलाये जाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य हैं—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं॥ १३॥

प्रश्न—'विधिहीनम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है?

उत्तर—जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो, अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं।

प्रश्न—'असृष्टान्नम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है?

उत्तर—जिस यज्ञमें ब्राह्मण-भोजन या अन्नदान आदिके रूपमें अन्नका त्याग नहीं किया गया हो, उसे 'असृष्टान्न' कहते हैं।

प्रश्न—'मन्त्रहीनम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है?

उत्तर—जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्र-प्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों, अथवा अवहेलनासे त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं।

प्रश्न—'अदक्षिणम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है?

उत्तर—जिस यज्ञमें यज्ञ करानेवालोंको एवं अन्यान्य ब्राह्मण-समुदायको दक्षिणा न दी गयी हो, उसे 'अदक्षिण' कहते हैं।

प्रश्न—'श्रद्धाविरहित' कौन-सा यज्ञ है ?

उत्तर—जो यज्ञ बिना श्रद्धाके केवल मान, मद, मोह, दम्भ और अहङ्कार आदिकी प्रेरणासे किया जाता है—उसे 'श्रद्धाविरहित' कहते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंका लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपका लक्षण बतलानेके लिये पहले शारीरिक तपके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—'देव,' 'द्विज', 'गुरु' और 'प्राज्ञ'—ये शब्द किन-किनके वाचक हैं और उनका 'पूजन करना' क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मा, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें जिनके पूजनका विधान है—उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है। क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य हैं। 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े हों उन सबका वाचक है। तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका वाचक है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; इन्हें चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचानेकी उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है।

प्रश्न—'शौचम्' पद यहाँ किस शौचका वाचक है ?

उत्तर—'शौचम्' पद यहाँ केवल शारीरिक शौचका वाचक है। क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन पंद्रहवें श्लोकमें और मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है। जल-मृत्तिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और पवित्र रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका पवित्र होना ही 'शौच' है (१६ । ३)।

प्रश्न—'आर्जवम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'आर्जवम्' पद सीधेपनका वाचक है। यहाँ शारीरिक तपके निरूपणमें इसका वर्णन किया गया है, अतएव यह शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका और शारीरिक सरलताका वाचक है।

प्रश्न—'ब्रह्मचर्यम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्मचर्यम्' पद शरीर-सम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका बोधक है।

प्रश्न—'अहिंसा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है।

प्रश्न—इन सबको 'शारीरिक तप' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित शरीरको उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शारीरिक तप' कहते हैं।

सम्बन्ध—अब वाणीसम्बन्धी तपका स्वरूप बतलाते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

प्रश्न—'अनुद्वेगकरम्', 'सत्यम्' और 'प्रियहितम्'—इन विशेषणोंका क्या अर्थ है और 'वाक्यम्' पदके साथ इनके प्रयोगका तथा 'च' अव्ययका क्या भाव है ?

उत्तर—जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं। जैसा, देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको समझानेके लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ— उनको 'सत्य' कहते हैं। जो सुननेवालोंको प्रिय लगते हों तथा कटुता, रूखापन, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—ऐसे प्रेमयुक्त मीठे, सरल और शान्त वचनोंको 'प्रिय' कहते हैं। तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों और प्रेम, दया तथा मङ्गलसे भरे हों—उनको 'हित' कहते हैं।

'वाक्यम्' पदके साथ 'च' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस वाक्यमें अनुद्वेगकारिता, सत्यता, प्रियता, हितकारिता—इन सभी गुणोंका समावेश हो एवं जो शास्त्रवर्णित वाणीसम्बन्धी सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो—उसी वाक्यके उच्चारणको वाचिक तप माना जा सकता है; जिसमें इन दोषोंका कुछ भी समावेश हो या उपर्युक्त गुणोंमेंसे किसी गुणका अभाव हो, वह वाक्य सर्वाङ्गपूर्ण वाचिक (वाणीसम्बन्धी) तप नहीं है।

प्रश्न—'स्वाध्यायाभ्यसनम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यथाधिकार वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण और स्तोत्रादिका पाठ करना; भगवान्‌के गुण, प्रभाव और नामोंका उच्चारण करना तथा भगवान्‌की स्तुति आदि करना—सभी 'स्वाध्यायाभ्यसनम्' पदसे गृहीत होते हैं।

प्रश्न—इन सबको वाचिक तप कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त सभी गुण वाणीसे सम्बन्ध रखनेवाले और वाणीके समस्त दोषोंको नाश करके अन्तःकरणके सहित उसे पवित्र बना देनेवाले हैं, इसलिये इनको वाणी-सम्बन्धी तप बतलाया गया है।

सम्बन्ध—अब मनसम्बन्धी तपका स्वरूप बतलाते हैं—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'मनःप्रसादः' का क्या भाव है ?

उत्तर—मनकी निर्मलता और प्रसन्नताको 'मनःप्रसाद' कहते हैं, अर्थात् विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषोंसे रहित होकर मनका विशुद्ध होना तथा प्रसन्नता, हर्ष और बोधशक्तिसे युक्त हो जाना ही 'मनका प्रसाद' है।

प्रश्न—'सौम्यत्वम्' किसको कहते हैं ?

उत्तर—रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषोंसे सर्वथा शून्य होकर मनका सदा-सर्वदा शान्त और शीतल बने रहना ही 'सौम्यत्व' है।

प्रश्न—'मौनम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—मनका निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप, लीला और नाम आदिके चिन्तनमें या ब्रह्मविचारमें लगे रहना ही 'मौन' है।

प्रश्न—'आत्मविनिग्रह' क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरणकी चञ्चलताका सर्वथा नाश होकर उसका स्थिर तथा अच्छी प्रकार अपने वशमें हो जाना ही 'आत्मविनिग्रह' है।

प्रश्न—'भावसंशुद्धि' किसे कहते हैं ?

उत्तर—अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया-असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध और अनिष्टचिन्तन आदि दुर्भावोंका सर्वथा नष्ट हो जाना और इनके विरोधी दद

प्रश्न—आत्मसम्बन्धी पीडाके सहित तप करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ आत्मा शब्द मन, वाणी और शरीर—इन सभीका वाचक है और इन सबसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कष्ट है, उसीको 'आत्मसम्बन्धी पीडा' कहते हैं, अतएव मन, वाणी और शरीर—इन सबको या इनमेंसे किसी एकको अनुचित कष्ट पहुँचाकर जो अशास्त्रीय तप किया जाता है, उसीको आत्मसम्बन्धी पीड़ाके सहित तप करना कहते हैं।

प्रश्न—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये तप करना क्या है ?

उत्तर—दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—वही दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये तप करना है।

प्रश्न—यहाँ 'वा' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'वा' अव्ययका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो तप उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे भी युक्त है, वह भी तामस ही है।

सम्बन्ध—तीन प्रकारके तापोंका लक्षण करके अब दानके तीन भेद बतलानेके लिये पहले सात्त्विक दानके लक्षण कहते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥

प्रश्न—यहाँ 'इति' अव्ययके सहित 'दातव्यम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान् सत्त्वगुणकी पूर्णतामें निष्कामभावकी प्रधानताका प्रतिपादन करते हुए यह दिखलाते हैं कि वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे गिरता है और भगवान्‌के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है। अतः जो दान केवल इस कर्तव्य-बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है।

प्रश्न—यहाँ 'देश' और 'काल' शब्द किस देश-कालके वाचक हैं ?

उत्तर—जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है। जैसे—जिस देशमें, जिस समय दुर्भिक्ष या सूखा पड़ा हो, अन्न और जलका दान करनेके लिये वही देश और वही समय योग्य देश-काल है—चाहे वह तीर्थस्थल या पर्वकाल न हो, इसके अतिरिक्त साधारण अवस्थामें कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्यकाल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं—वे तो योग्य देश-काल हैं ही। इन्हीं सबके वाचक 'देश' और 'काल' शब्द हैं।

प्रश्न—'पात्र' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है। जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं। आर्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है। उनकी आतुरदशा ही पात्रताकी पहचान है। इनके सिवा जो श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान्, ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग हैं—जिनको जिस वस्तुका दान देना शास्त्रमें कर्तव्य बतलाया गया है—वे तो अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानपात्र हैं ही।

प्रश्न—यहाँ 'अनुपकारिणे' पदका प्रयोग किस उद्देश्यसे किया गया है? क्या अपना उपकार करनेवालोंको कुछ देना अनुचित या राजस दान है?

उत्तर—जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। कर्तव्य ही नहीं, अच्छे मनुष्य उपकारीकी सेवा किये बिना रह ही नहीं सकते। वे जानते हैं कि सच्चे उपकारका बदला चुकाने जाना तो उसका तिरस्कार करना है, क्योंकि सच्चे उपकारका बदला तो कोई चुका नहीं सकता; इसलिये वे केवल आत्मसन्तोषके लिये उसकी सेवा करते हैं और जितनी करते हैं उतनी ही उनकी दृष्टिमें थोड़ी ही जँचती है। वे तो कृतज्ञतासे दबे रहते हैं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामभक्त हनूमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको भक्तोंका ऋणी घोषित करते हैं। ऐसी अवस्थामें उपकार करनेवालोंको कुछ देना अनुचित या राजस कदापि नहीं हो सकता; परन्तु वह 'दान'की श्रेणीमें नहीं है। वह तो कृतज्ञताप्रकाशकी एक स्वाभाविक चेष्टा होती है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये।

यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रक्खे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

सम्बन्ध—अब राजस दानके लक्षण बतलाते हैं—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फलको दृष्टिमें रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है॥२१॥

प्रश्न—'तु' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'तु' का प्रयोग सात्त्विक दानसे राजस दानका भेद दिखलानेके लिये किया गया है।

प्रश्न—क्लेशपूर्वक दान देना क्या है?

उत्तर—किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालने-पर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेश-पूर्वक दान देना है।

प्रश्न—प्रत्युपकारके लिये देना क्या है?

उत्तर—जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकलने-की सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्तिको दान देना वस्तुतः सच्चा दान नहीं है, वह तो बदला पानेके लिये दिया हुआ बयाना-सा है। इस प्रकार आजकल सोमवती अमावास्या-जैसे पर्वोंपर अथवा अन्य किसी निमित्तसे दानका संकल्प करके ऐसे ब्राह्मणोंको दिया जाता है, जो अपने या अपने [illegible] अथवा मित्रोंके काममें आते हैं तथा [illegible] काम करवानेकी आशा है, या ऐसी संस्थाओं [illegible] को दिया जाता है, जिनसे [illegible] स्वार्थ-साधनकी सम्भावना होती है—[illegible] देना है।

प्रश्न—फलके उद्देश्यसे दान [illegible]

उत्तर—मान, बड़ाई, प्र[illegible]

परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है। कुछ लोग तो एक ही दानसे एक ही साथ कई लाभ उठाना चाहते हैं। जैसे—

(क) जिसको दान दिया गया है, वह उपकार मानेगा और समयपर अच्छे-बुरे कामोंमें अपना पक्ष लेगा।

(ख) ख्याति होगी, जिससे प्रतिष्ठा बढ़ेगी और सम्मान मिलेगा।

(ग) अखबारोंमें नाम छपनेसे लोग बहुत धनी आदमी समझेंगे और इससे व्यापारमें भी कई तरहकी सहूलियतें होंगी और अधिक-से-अधिक धन कमाया जा सकेगा।

(घ) अच्छी प्रसिद्धि होनेसे लड़के-लड़कियोंके सम्बन्ध भी बड़े घरानेमें हो सकेंगे, जिनसे कई तरहके स्वार्थ सधेंगे।

(ङ) शास्त्रके अनुसार परलोकमें दानका कई गुना उत्तम-से-उत्तम फल तो प्राप्त होगा ही।

इस प्रकारकी भावनाओंसे मनुष्य दानके महत्त्वको बहुत ही कम कर देते हैं।

प्रश्न—'वा', 'पुनः' और 'च'—इन तीनों अव्ययोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इन तीनोंका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे दिया हुआ दान राजस हो जाता है।

सम्बन्ध—अब तामस दानके लक्षण बतलाते हैं—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है॥ २२॥

प्रश्न—बिना सत्कार किये दिये जानेवाले दानका क्या स्वरूप है?

उत्तर—दान लेनेके लिये आये हुए अधिकारी पुरुषका आदर न करके अर्थात् यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रूखाईसे दान दिया जाता है—वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

प्रश्न—तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान कौन-सा है?

उत्तर—पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर, धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या सङ्केतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है—वह तिरस्कार-पूर्वक दिया जानेवाला दान है।

प्रश्न—दानके लिये अयोग्य देश-काल कौन-से हैं और उनमें दिया हुआ दान तामस क्यों है?

उत्तर—जो देश और काल दानके लिये उपयुक्त नहीं हैं अर्थात् जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ दान देना शास्त्रमें निषेध किया है (जैसे म्लेच्छोंके देशमें गौका दान देना, ग्रहणके समय कन्या-दान देना आदि) वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं और उनमें दिया हुआ दान दाताको नरकका भागी बनाता है। इसलिये वह तामस है।

प्रश्न—दानके लिये अपात्र कौन हैं और उनको दान देना तामस क्यों है?

उत्तर—जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, (जैसे धर्मध्वजी, पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाला, दूसरोंकी निन्दा करनेवाला, दूसरोंकी जीविका छेदन करके अपने स्वार्थ-साधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाला-मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाला, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाला, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि) वे सब दानके लिये अपात्र हैं तथा उनको दिया हुआ दान व्यर्थ और दाताको नरकमें ले जानेवाला होता है; इसलिये वह तामस है। यहाँ भूखे, प्यासे, नंगे और रोगी आर्त मनुष्योंको अन्न, जल, वस्त्र और ओषधि आदि देनेका कोई निषेध नहीं समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विक यज्ञ, तप और दान आदिको सम्पादन करने योग्य बतलानेके उद्देश्यसे और राजस-तामसको त्याज्य बतलानेके उद्देश्यसे उन सबके तीन-तीन भेद किये गये। अब वे सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान्‌से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ॥ २३ ॥

प्रश्न—ब्रह्म अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके बहुतसे नाम हैं, फिर यहाँ केवल उनके तीन ही नामोंका वर्णन क्यों किया गया?

उत्तर—परमात्माके 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम वेदोंमें प्रधान माने गये हैं तथा यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मोंसे इन नामोंका विशेष सम्बन्ध है। इसलिये यहाँ इन तीन नामोंका ही वर्णन किया गया है।

प्रश्न—'तेन' पदसे यहाँ उपर्युक्त तीनों नामोंका ग्रहण है या जिस परमेश्वरके ये तीनों नाम हैं उसका?

उत्तर—जिस परमात्माके ये तीनों नाम हैं उसीका वाचक यहाँ 'तेन' पद है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायमें तो यज्ञसहित सम्पूर्ण प्रजाकी उत्पत्ति प्रजापति ब्रह्मासे बतलायी गयी है (३।१०) और यहाँ ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति परमात्माके द्वारा बतलायी जाती है, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्रजापति ब्रह्माकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई है और प्रजापतिसे समस्त ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि उत्पन्न हुए हैं—इसलिये कहीं इनका परमेश्वरसे उत्पन्न होना बतलाया गया है और कहीं प्रजापतिसे; किन्तु बात एक ही है।

प्रश्न—ब्राह्मण, वेद और यज्ञ—इन तीनोंसे किन-किनको लेना चाहिये? तथा 'पुरा' पद किस समयका वाचक है?

उत्तर—'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका तथा 'पुरा' पद सृष्टिके आदिकालका वाचक है।

प्रश्न—परमेश्वरके उपर्युक्त तीन नामोंको बतलाकर फिर परमेश्वरने सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति की, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि जिस परमात्मासे समस्त कर्ता, कर्म और कर्म-विधिकी उत्पत्ति हुई है, उस भगवान्‌के वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन कर्मोंके अङ्ग-वैगुण्यकी पूर्ति हो जाती है। अतएव प्रत्येक कर्मके आरम्भमें परमेश्वरके नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

सम्बन्ध—परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन तीन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर पहले 'ॐ' के प्रयोगकी बात कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके यहाँ उच्चारण करके ही आरम्भ की जाती हैं—यह कहनेका क्या अभिप्राय है? वेदवादियोंकी शास्त्रविहित यज्ञादि क्रियाएँ सदा ओंकारका ... यज्ञ, दान और

उत्तर—इससे भगवान्‌ने प्रधानतया नामकी महिमा दिखलायी है। उनका यहाँ यह भाव है कि जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओङ्कारके उच्चारणसे समस्त कर्मोंका अङ्गवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है। इसीलिये वेदवादी अर्थात् वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओङ्कारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं। वे कभी किसी कालमें कोई भी शुभ कर्म भगवान्‌के पवित्र नाम ओङ्कारका उच्चारण किये विना नहीं करते। अतएव सबको ऐसा ही करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ॐकारके प्रयोगकी बात कहकर अब परमेश्वरके 'तत्' नामके प्रयोगका वर्णन करते हैं—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं॥ २५॥

प्रश्न—'इति'के सहित 'तत्' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तत्' पद परमेश्वरका नाम है। उसके स्मरणका उद्‌देश्य समझानेके लिये यहाँ 'इति'के सहित उसका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि कल्याणकामी मनुष्य प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान्‌के 'तत्' इस नामका स्मरण करते हुए, 'जिस परमेश्वरसे इस समस्त जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, उसीका सब कुछ है और उसीकी वस्तुओंसे उसकी आज्ञानुसार उसीके लिये मेरेद्वारा यज्ञादि क्रिया की जाती है; अतः मैं केवल निमित्तमात्र हूँ'—इस भावसे अहंता-ममताका सर्वथा त्याग कर देते हैं।

प्रश्न—मोक्षको चाहनेवाले साधकोंद्वारा किये जानेवाले कर्म फलको न चाहकर किये जाते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मोक्षकामी साधकोंद्वारा सब कर्म फलको न चाहकर किये जाते हैं—यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किन्तु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है—वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनकी आज्ञानुसार किया करते हैं। इससे भगवान्‌ने फलकामनाके त्यागका महत्त्व दिखलाया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार 'तत्' नामके प्रयोगकी बात कहकर अब परमेश्वरके 'सत्' नामके प्रयोगकी बात दो श्लोकोंमें कही जाती है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है॥ २६॥

प्रश्न—'सद्भाव' यहाँ किसका वाचक है? उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग क्यों किया जाता है?

उत्तर—'सद्भाव' नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है उस अविनाशी तत्त्वका वाचक है और वही परमेश्वरका स्वरूप है। इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है।

प्रश्न—'साधुभाव' किस भावका वाचक है और उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग क्यों किया जाता है?

उत्तर—अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधु भाव' है। वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है, इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्भाव' कहा जाता है।

प्रश्न—'प्रशस्त कर्म' कौन-सा कर्म है और उसमें 'सत्' शब्दका प्रयोग क्यों किया जाता है ?

उत्तर—जो शास्त्रविहित करनेयोग्य शुभ कर्म है, वही प्रशस्त—श्रेष्ठ कर्म है और वह निष्कामभावसे किये जानेपर परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—यज्ञ, तप और दानसे यहाँ कौन-से यज्ञ, तप और दानका ग्रहण है तथा 'स्थिति' शब्द किस भावका वाचक है और वह सत् है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ,तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ,तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये उसे 'सत्' कहते हैं।

प्रश्न—'तदर्थीयम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किस कर्मका वाचक है और उसे 'सत्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो कोई भी कर्म केवल भगवान्की आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—उसका वाचक यहाँ 'तदर्थीयम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है। ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये उसे 'सत्' कहते हैं।

प्रश्न—'एव' का प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'एव' का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसा कर्म 'सत्' है; इसमें तनिक भी संशय नहीं है। साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि ऐसा कर्म ही वास्तवमें 'सत्' है, अन्य सब कर्मोंके फल अनित्य होनेके कारण उनको 'सत्' नहीं कहा जा सकता।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है ? इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही ॥ २८ ॥

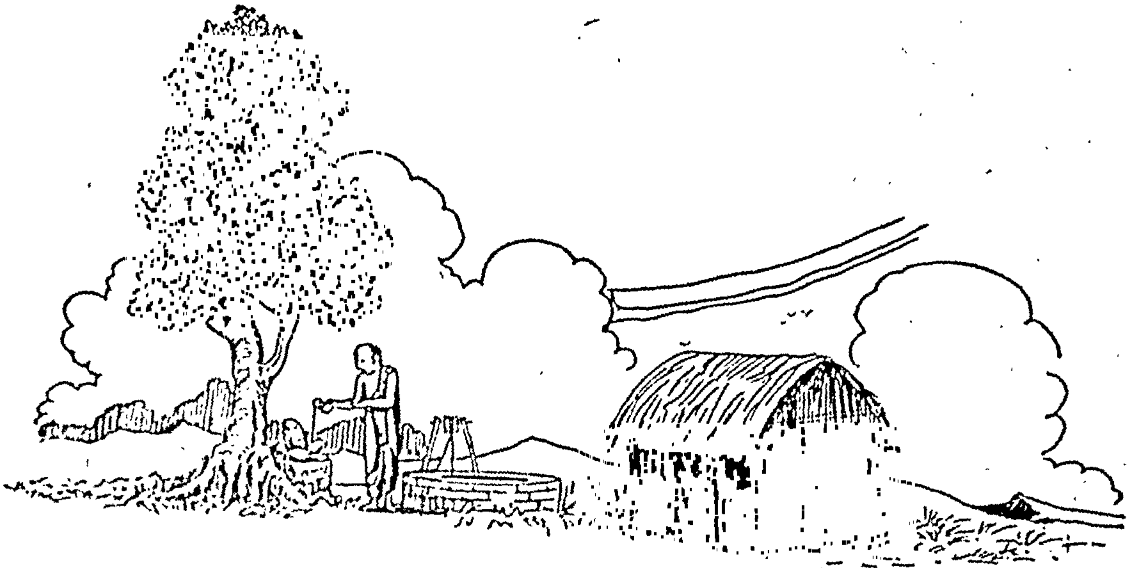
प्रश्न—बिना श्रद्धाके किये हुए हवन, दान और तपको तथा दूसरे समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'असत्' कहनेका यहाँ क्या अभिप्राय है और वे इस लोक और परलोकमें लाभप्रद नहीं हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं। बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है।

प्रश्न—'यत्' के सहित 'कृतम्' पदका अर्थ यदि निषिद्ध कर्म भी मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है। उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती तथा पापकर्मोंका फल मिलनेका जिनको विश्वास नहीं होता; तथापि उनका दुःखरूप फल उन्हें अवश्य ही मिलता है। अतएव यहाँ 'यत्कृतम्' से पाप-कर्मोंका ग्रहण नहीं है। इसके सिवा यज्ञ, दान और तप-रूप शुभ क्रियाओंके साथ-साथ आये हुए 'यत्कृतम्' पद उसी जातिकी क्रियाके वाचक हो सकते हैं। अतः जो यह बात कही गयी है कि वे कर्म इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं होते—सो यह कहना भी पापकर्मोंके उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वे सर्वथा दुःखके हेतु होनेके कारण उनके लाभप्रद होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। अतएव यहाँ बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्मोंका ही प्रसङ्ग है, अशुभ कर्मोंका नहीं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अष्टादशोऽध्यायः

अध्यायका नाम — जन्म-मरणरूप संसारके बन्धनसे सदाके लिये छूटकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेनेका नाम मोक्ष है; इस अध्यायमें पूर्वोक्त समस्त अध्यायोंका सार संग्रह करके मोक्षके उपायभूत सांख्ययोगका संन्यासके नामसे और कर्मयोगका त्यागके नामसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित वर्णन किया गया है इसलिये तथा साक्षात् मोक्षरूप परमेश्वरमें सर्व कर्मोंका संन्यास यानी त्याग करनेके लिये कहकर उपदेशका उपसंहार किया गया है (१८।६६), इसलिये भी इस अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप — इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व जाननेकी इच्छा प्रकट की है; दूसरे और तीसरेमें भगवान्ने इस विषयमें दूसरे विद्वानोंकी मान्यताका वर्णन किया है; चौथे और पाँचवेंमें अर्जुनको त्यागके विषयमें अपना निश्चय सुननेके लिये कहकर कर्तव्यकर्मोंको स्वरूपसे न त्यागनेका औचित्य सिद्ध किया है; तथा छठेमें त्यागके सम्बन्धमें अपना निश्चित मत बतलाया है और उसे अन्य मतोंकी अपेक्षा उत्तम कहा है। तदनन्तर सातवें, आठवें और नवेंमें, क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक त्यागके लक्षण बतलाकर दसवें और ग्यारहवेंमें सात्त्विक त्यागीके लक्षणोंका वर्णन किया है। बारहवेंमें त्यागी पुरुषोंके महत्त्वका प्रतिपादन करके त्यागके प्रसङ्गका उपसंहार किया है। तत्पश्चात् पंद्रहवेंतक अर्जुनको सांख्य (संन्यास) का विषय सुननेके लिये कहकर सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठानादि पाँच हेतुओंका वर्णन किया है और सोलहवेंमें शुद्ध आत्माको कर्ता समझनेवालेकी निन्दा करके सत्रहवेंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करनेवालेकी प्रशंसा की है। अठारहवेंमें कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहका स्वरूप बतलाकर उन्नीसवेंमें ज्ञान, कर्म और कर्ताके त्रिविध भेद बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए बीसवेंसे अट्ठाईसवें-तक क्रमशः उनके सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंका वर्णन किया है। उन्तीसवेंमें बुद्धि और धृतिके त्रिविध भेदोंको बतलानेकी प्रस्तावना करके तीसवेंसे पैंतीसवेंतक क्रमशः उनके सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंका वर्णन किया है। छत्तीसवेंसे उनचालीसवेंतक सुखके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद बतलाकर चालीसवें श्लोकमें गुणोंके प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए समस्त जगत्‌को त्रिगुणमय बतलाया है। उसके बाद इकतालीसवेंमें चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका प्रसङ्ग आरम्भ करके बयालीसवेंमें ब्राह्मणोंके, तैंतालीसवेंमें क्षत्रियोंके और चौवालीसवेंमें वैश्यों तथा शूद्रोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन किया है। पैंतालीसवेंमें अपने-अपने वर्णधर्मके पालनसे परम सिद्धिको प्राप्त करनेकी बात कहकर छियालीसवेंमें उसकी विधि बतलायी है फिर सैंतालीसवें और अड़तालीसवेंमें स्वधर्मकी प्रशंसा करते हुए उसके त्यागका निषेध किया है। तदनन्तर उनचासवें श्लोकसे पुनः संन्यासयोगका प्रसङ्ग आरम्भ करते हुए संन्याससे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलाकर पचासवेंमें ज्ञानकी परानिष्ठाके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है और इक्यावनवेंसे पचपनवेंतक फलसहित ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया है। फिर छप्पनवेंसे अट्ठावनवेंतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका महत्त्व और फल दिखलाकर अर्जुनको उसीका आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है और उसे न माननेसे हानि बतायी है तथा उनसठवें और साठवेंमें प्रकृतिकी प्रबलताके कारण स्वाभाविक कर्मोंके त्यागमें असामर्थ्यका अभाव बतलाकर इकसठवें और बासठवेंमें परमेश्वरको सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी बतलाकर सब प्रकारसे उनकी शरण होनेके लिये आज्ञा दी है। तिरसठवेंमें उस विषयका उपसंहार करते हुए अर्जुनको सारी बातोंका विचार करके इच्छानुसार करनेके लिये कहकर चौंसठवेंमें पुनः समस्त गीताके साररूप सर्वगुह्यतम रहस्यको सुननेके लिये आज्ञा दी है। तथा पैंसठवें और छाछठवेंमें अनन्यशरणागतिरूप सर्वगुह्यतम उपदेशका फलसहित वर्णन करते हुए भगवान्‌ने अर्जुनको अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा देकर गीताके उपदेशका उपसंहार किया है। तदनन्तर सड़सठवेंमें चतुर्विध अनधिकारियोंके प्रति गीताका उपदेश न देनेकी बात कहकर अड़सठवें और उनहत्तरवेंमें अधिकारियोंमें गीताप्रचारका, सत्तरवेंमें

गीताके अध्ययनका और इकहत्तरवेंमें केवल श्रद्धापूर्वक श्रवणका माहात्म्य बतलाया है । बहत्तरवेंमें भगवान्‌ने अर्जुनसे एकाग्रताके साथ गीता सुननेकी और मोह नाश होनेकी बात पूछी है, तिहत्तरवेंमें अर्जुनने अपने मोहनाश तथा स्मृति पाकर संशयरहित हो जानेकी बात कहकर भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना स्वीकार किया है । उसके बाद चौहत्तरवेंसे सतहत्तरवेंतक सञ्जयने श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रके उपदेशकी महिमाका बखान करके उसकी और भगवान्‌के विराट् रूपकी स्मृतिसे अपने बार-बार विस्मित और हर्षित होनेकी बात कही है और अठहत्तरवें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जिस पक्षमें हैं, उसकी विजय आदि निश्चित है—ऐसी घोषणा करके अध्यायका उपसंहार किया है ।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेशका आरम्भ हुआ । वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उन्चालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सतरहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुतसे साधन बतलाये । उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्‌के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

प्रश्न—यहाँ 'महाबाहो', 'हृषीकेश' और 'केशिनिषूदन' इन तीन सम्बोधनोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इन सम्बोधनोंसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और समस्त दोषोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं । अतः मैं आपसे जो कुछ जानना चाहता हूँ, उसे आप भलीभाँति जानते हैं । इसलिये मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर आप उस विषयको मुझे इस प्रकार समझाइये जिससे मैं उसे पूर्णरूपसे यथार्थ समझ सकूँ और मेरी सारी शङ्काओंका सर्वथा नाश हो जाय ।

प्रश्न—मैं संन्यासके और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ, इस कथनसे अर्जुनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त कथनसे अर्जुनने यह भाव प्रकट किया है कि संन्यास (ज्ञानयोग) का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और कर्म सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं, उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जाता है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग) का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है, क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान कर्मयोग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रकार किया जाता है— इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ । इसके सिवा इन दोनों साधनोंके मैं पृथक्-पृथक् लक्षण एवं स्वरूप भी जानना चाहता हूँ । आप कृपा करके मुझे इन दोनोंको इस प्रकार अलग-अलग करके समझाइये जिससे एकमें दूसरेका मिश्रण न हो सके और दोनोंका भेद भलीभाँति मेरी समझमें आ जाय ।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे संन्यास और त्यागका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌ने किन-किन श्लोकोंमें कौन-कौन-सी बात कही है ?

उत्तर—इस अध्यायके तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास

(ज्ञानयोग) का स्वरूप बतलाया है । उन्नीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं; और राजस, तामस इसके विरोधी हैं । पचासवेंसे पचपनवेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा सतरहवें श्लोकमें केवल सांख्य-योगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार छठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोग-का स्वरूप बतलाया है । नवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है । सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इस साधनमें उपयोगी बतलाया है और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है । पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। छियालीसवें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और सत्तावनवें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपना निश्चय प्रकट करनेके पहले संन्यास और त्यागके विषयमें दो श्लोकोंद्वारा अन्य विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—'काम्यकर्म' किन कर्मोंका नाम है तथा कितने ही पण्डितजन उनके त्यागको 'संन्यास' समझते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्ति-के लिये और रोग-सङ्कटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान किया गया है अर्थात् जिन कर्मोंके विधानमें यह बात कही गयी है कि यदि अमुक फलकी इच्छा हो तो मनुष्यको यह कर्म करना चाहिये, किन्तु उक्त फलकी इच्छा न होनेपर उसके न करनेसे कोई हानि नहीं है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम काम्यकर्म है ।

'कितने ही पण्डितजन काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कितने ही विद्वानोंके मतमें उपर्युक्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही संन्यास है । उनके मतमें संन्यासी वे ही हैं जो काम्यकर्मोंका अनुष्ठान न करके, केवल नित्य और नैमित्तिक कर्तव्य-कर्मोंका ही विधिवत् अनुष्ठान किया करते हैं ।

प्रश्न—'सर्वकर्म' शब्द किन कर्मोंका वाचक है और उनके फलका त्याग क्या है ? तथा कई विचार-कुशल पुरुष सब कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—अर्थात् जिस वर्ण और जिस आश्रममें स्थित मनुष्यके लिये जिन कर्मोंको शास्त्रने कर्तव्य बतलाया है तथा जिनके न करनेसे नीति, धर्म और कर्मकी परम्परामें बाधा आती है—उन समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द है । और इनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं—उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना, किसी भी कर्मके साथ किसी प्रकारके फलका सम्बन्ध न जोड़ना उपर्युक्त समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है ।

'कई विचारकुशल पुरुष समस्त कर्मफलके त्यागको ही

त्याग कहते हैं' इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि नित्य और अनित्य वस्तुका विवेचन करके निश्चय कर लेनेवाले पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंके फलका त्याग करके केवल कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते रहनेको ही त्याग समझते हैं, अतएव वे इस प्रकारके भावसे समस्त कर्तव्य-कर्म किया करते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं॥ ३॥

प्रश्न—कई एक विद्वान् कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। इसी भावको लेकर भगवान्‌ने भी आगे चलकर कहा है—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) 'आरम्भ किये जानेवाले सभी कर्म धूएँसे अग्निके समान दोषसे युक्त होते हैं।' इसलिये कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये अर्थात् संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिये।

प्रश्न—दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं है—इस वाक्यका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि बहुतसे विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं; बल्कि शास्त्रोंके द्वारा विहित होनेके कारण यज्ञ, दान और तपरूप कर्म उलटे मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥ ४॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है॥ ४॥

प्रश्न—यहाँ 'भरतसत्तम' और 'पुरुषव्याघ्र' इन दोनों विशेषणोंका क्या भाव है?

उत्तर—जो भरतवंशियोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो, उसे भरत-सत्तम' कहते हैं और जो पुरुषोंमें सिंहके समान वीर हो, उसे 'पुरुषव्याघ्र' कहते हैं। इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि तुम भरतवंशियोंमें उत्तम और वीर पुरुष हो, अतः आगे बतलाये जानेवाले तीन प्रकारके त्यागोंमेंसे तामस और राजस त्याग न करके सात्त्विक त्यागरूप कर्मयोगका अनुष्ठान करनेमें समर्थ हो।

प्रश्न—'तत्र' शब्दका क्या अर्थ है और उसके प्रयोगका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—'तत्र' का अर्थ है उपर्युक्त दोनों विषयोंमें अर्थात् 'त्याग' और 'संन्यास' में। इसके प्रयोगका यहाँ यह भाव है कि अर्जुनने भगवान्‌से संन्यास और त्याग—इन दोनोंका तत्त्व बतलानेके लिये प्रार्थना की थी, 'उन दोनोंमेंसे' यहाँ पहले भगवान् केवल त्यागका तत्त्व समझाना आरम्भ करते

हैं। अर्जुनने दोनोंका तत्त्व अलग-अलग बतलानेके लिये कहा था और भगवान्‌ने उसका कोई प्रतिवाद न करके त्यागका ही विषय बतलानेका सङ्केत किया है; इससे यही बात मालूम होती है कि 'संन्यास' का प्रकरण भगवान् आगे कहेंगे।

प्रश्न—त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने जिन दो बातोंको जाननेकी इच्छा प्रकट की थी, उनके विषयमें अबतक मैंने दूसरोंके मत बतलाये। अब मैं तुम्हें अपने मतके अनुसार उन दोनोंमेंसे त्यागका तत्त्व भलीभाँति बतलाना आरम्भ करता हूँ, अतएव तुम सावधान होकर उसे सुनो।

प्रश्न—त्याग (सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे) तीन प्रकारका बतलाया गया है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने शास्त्रोंको आदर देनेके लिये अपने मतको शास्त्रसम्मत बतलाया है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रोंने त्यागके तीन भेद माने गये हैं, उनको मैं तुम्हें भलीभाँति बतलाऊँगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार त्यागका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करके अब भगवान् उस त्यागका स्वरूप बतलानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें शास्त्रविहित शुभ कर्मोंको करनेके विषयमें अपना निश्चय बतलाते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं॥ ५॥

प्रश्न—यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह अवश्य कर्तव्य है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने शास्त्रविहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है। इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये। इनका अनुष्ठान किस भावसे करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी गयी है।

प्रश्न—'मनीषिणाम्' पद किन मनुष्योंका वाचक है तथा यज्ञ, दान और तप—ये सभी कर्म उनको पवित्र करनेवाले हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—वर्णाश्रमके अनुसार जिसके लिये जो कर्म कर्तव्यरूपमें बतलाये गये हैं, उन शास्त्रविहित कर्मोंका शास्त्रविधिके अनुसार अङ्ग-उपाङ्गोंसहित निष्कामभावसे भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है। उनके द्वारा किये जानेवाले यज्ञ, दान और तपरूप सभी कर्म बन्धनकारक नहीं हैं बल्कि उनके अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले होते हैं; अतएव मनुष्यको निष्कामभावसे यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है॥ ६॥

प्रश्न—'एतानि' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा यहाँ 'तु' और 'अपि'—इन अव्यय पदोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'एतानि' पद यहाँ उपर्युक्त यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका वाचक है। उसके साथ 'तु' और 'अपि'—इन दो

अव्ययपदोंका प्रयोग करके उनके सिवा माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्णाश्रमानुसार जीविका-निर्वाहके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—उन सबका समाहार किया गया है।

प्रश्न—इन सब कर्मोंको आसक्ति और फलका त्याग करके करना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान, उनमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके तथा उनसे प्राप्त होनेवाले इस लोक और परलोकके भोगरूप फलमें भी आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके करना चाहिये। इससे यह भाव भी समझ लेना चाहिये कि मुमुक्षु पुरुषको काम्य कर्म और निषिद्ध कर्मोंका आचरण नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है—इस कथनका क्या भाव है तथा पहले जो विद्वानोंके मत बतलाये थे, उनकी अपेक्षा भगवान्‌के मतमें क्या विशेषता है?

उत्तर—यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मतसे इसीका नाम त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है, कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं। क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं। सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं। अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है। इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं। इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। भगवान्‌के कथनानुसार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलका त्याग कर देना ही पूर्ण त्याग है। इसके करनेसे कर्मबन्धनका सर्वथा नाश हो जाता है; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं; उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। यही भगवान्‌के मतमें विशेषता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना सुनिश्चित मत बतलाकर अब भगवान् शास्त्रोंमें कहे हुए तामस, राजस और सात्त्विक इन तीन प्रकारके त्यागोंमें सात्त्विक त्याग ही वास्तविक त्याग है और वही कर्तव्य है; दूसरे दोनों त्याग वास्तविक त्याग नहीं हैं, अतः वे करने योग्य नहीं हैं—यह बात समझानेके लिये तथा अपने मतकी शास्त्रोंके साथ एकवाक्यता दिखलानेके लिये तीन श्लोकोंमें क्रमसे तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हुए पहले निकृष्ट कोटिके तामस त्यागके लक्षण बतलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है॥ ७॥

प्रश्न—'नियतस्य' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद किस कर्मका वाचक है और उसका स्वरूपसे त्याग उचित क्यों नहीं है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं। ऐसे कर्मोंका

स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि इससे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्‌में विप्लव हो जाता है (३ । २३-२४)। इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है।

प्रश्न–मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग है; इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो कोई भी अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रमें विधान किये हुए कर्तव्यकर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर वैसा त्याग करता है—उसका यह त्याग मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; क्योंकि मोहकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी गयी है (१४ । १३, १७)। तथा तामसी मनुष्योंकी अधोगति बतलायी है (१४ । १८)। इसलिये उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है; जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है।

सम्बन्ध—तामस त्यागका निरूपण करके अब राजस त्यागके लक्षण बतलाते हैं—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता ॥ ८ ॥

प्रश्न–'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है और उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना क्या है ?

उत्तर–सातवें श्लोककी व्याख्यामें कहे हुए सभी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक यहाँ 'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद है। उन कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है।

प्रश्न–वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको नहीं पाता—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर–इसका यह भाव है कि इस प्रकारकी भावनासे विहित कर्मोंका त्याग करके जो संन्यास लेना है, वह राजस त्याग है; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है। अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागका फल जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, उसे नहीं पाता; क्योंकि जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है—तबतक वह किसी प्रकार भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये। इस प्रकारके त्यागसे त्यागका फल प्राप्त होना तो दूर रहा, उलटा विहित कर्मोंके न करनेका पाप लग सकता है।

सम्बन्ध—अब उत्तम श्रेणीके सात्त्विक त्यागके लक्षण बतलाये जाते हैं—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा उनको कर्तव्य समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके करना क्या है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं—जिनकी व्याख्या छठे श्लोकमें की गयी है—उन समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; अतः इससे यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि निषिद्ध और काम्य कर्म नियत कर्मोंमें नहीं हैं। उपर्युक्त नियत कर्म मनुष्यको अवश्य करने चाहिये, इनको न करना भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना—यही उनको कर्तव्य समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके करना है।

प्रश्न—इस प्रकारके कर्मानुष्ठानको सात्त्विक त्याग कहनेका क्या अभिप्राय है ? क्योंकि यह तो कर्मोंका त्याग नहीं है, बल्कि कर्मोंका करना है ?

उत्तर—इस कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोगको सात्त्विक त्याग कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शास्त्रविहित अवश्य कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग न करके उनमें और उनके फलस्वरूप सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही मेरे मतसे सच्चा त्याग है; कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग न करके किसी भी भावसे प्रेरित होकर विहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर बैठना सच्चा त्याग नहीं है। क्योंकि त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये; और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं। अतएव कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही सात्त्विक त्याग है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषका निषिद्ध और काम्य कर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषकी अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता—वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है ॥ १० ॥

प्रश्न—'अकुशलम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है और सात्त्विक त्यागी पुरुष उनसे द्वेष नहीं करता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अकुशलम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद यहाँ शास्त्रद्वारा निषेध किये हुए पापकर्मोंका और काम्य कर्मोंका वाचक है; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्य कर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं। इस प्रकार दोनों ही बन्धनके हेतु होनेसे अकुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी उनसे द्वेष नहीं करता—इस कथनका यहाँ यह भाव है कि सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्य कर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेषबुद्धिसे नहीं करता; किन्तु अकुशल कर्मोंका त्याग करना मनुष्यका कर्तव्य है, इस भावसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है।

प्रश्न—'कुशले' पद किन कर्मोंका वाचक है और सात्त्विक त्यागी उनमें आसक्त नहीं होता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'कुशले' पद यहाँ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका और वर्णाश्रमानुकूल समस्त कर्तव्यकर्मोंका वाचक है। निष्कामभावसे किये हुए उपर्युक्त कर्म मनुष्यके पूर्वकृत सञ्चित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी उन कुशल कर्मोंमें आसक्त नहीं होता—

इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वह जो उपर्युक्त शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किन्तु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे ममता, आसक्ति और फलेच्छा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये उनका अनुष्ठान करता है।

प्रश्न–वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर–इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है। इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वही सच्चा त्यागी है।

सम्बन्ध–उपर्युक्त श्लोकमें सात्त्विक त्यागीको यानी निष्कामभावसे कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान करनेवाले कर्मयोगीको सच्चा त्यागी बतलाया। इसपर यह शङ्का होती है कि निषिद्ध और काम्य कर्मोंकी भाँति अन्य समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला मनुष्य भी तो सच्चा त्यागी हो सकता है, फिर केवल निष्कामभावसे कर्म करनेवालेको ही सच्चा त्यागी क्यों कहा गया। इसलिये कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है ॥ ११ ॥

प्रश्न–यहाँ 'देहभृता' पद किसका वाचक है और उसके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर–जिनके द्वारा देहका धारण-पोषण किया जाता है, ऐसे समस्त मनुष्य-समुदायका वाचक यहाँ 'देहभृता' पद है। अतः शरीरधारी किसी भी मनुष्यके लिये सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग कर देना शक्य नहीं है, इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (३ । ५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (३ । ८) इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा! अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है।

प्रश्न–'कर्मफलत्यागी' पद किस मनुष्यका वाचक है और जो कर्मफलका त्यागी है वही त्यागी है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर–कर्म और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'कर्मफलत्यागी' पद है। अतः जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—इस कथनसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि मनुष्यमात्रको कुछ-न-कुछ कर्म करने ही पड़ते हैं, बिना कर्म किये कोई रह ही नहीं सकता; इसलिये जो निषिद्ध और काम्य कर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करता रहता है तथा उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है—वही सच्चा त्यागी है।

ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है।

सम्बन्ध–पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि 'जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है।' इसपर यह शङ्का हो सकती है कि कर्मोंका फल न चाहनेपर भी किये हुए कर्म अपना फल दिये बिना नष्ट नहीं हो सकते—जैसे बोया हुआ बीज

समयपर अपने-आप वृक्षको उत्पन्न कर देता है, वैसे ही किये हुए कर्मोंका फल भी किसी-न-किसी जन्ममें सबको अवश्य भोगना पड़ता है; इसलिये केवल कर्मफलके त्यागसे मनुष्य त्यागी यानी 'कर्मबन्धनसे रहित' कैसे हो सकता है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है; किन्तु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ॥ १२ ॥

प्रश्न—'अत्यागिनाम्' पद किन मनुष्योंका वाचक है तथा उनके कर्मोंका अच्छा, बुरा और मिला हुआ—तीन प्रकारका फल क्या है; और वह मरनेके पश्चात् अवश्य होता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं—ऐसे सर्वसाधारण प्राकृत मनुष्योंका वाचक यहाँ 'अत्यागिनाम्' पद है।

उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पाप-कर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है। इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है। यही उनके कर्मोंका तीन प्रकारका फल है।

यह तीन प्रकारका फल उन लोगोंको मरनेके बाद अवश्य प्राप्त होता है—इस कथनसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसार चक्रमें घूमते रहते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'प्रेत्य' पदसे यह बात कही गयी है कि उनके कर्मोंका फल मरनेके बाद होता है; तो क्या जीते हुए उनके कर्मोंका फल नहीं होता ?

उत्तर—वर्तमान जन्ममें मनुष्य प्रायः पूर्वकृत कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका ही भोग करता है, नवीन कर्मोंका फल वर्तमान जन्ममें बहुत ही कम भोगा जाता है; इसलिये एक मनुष्य-योनिमें किये हुए कर्मोंका फल अनेक योनियोंमें अवश्य भोगना पड़ता है—यह भाव समझानेके लिये यहाँ 'प्रेत्य' पदका प्रयोग करके मरनेके बाद फल भोगनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—'तु' अव्ययका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्मफलका त्याग न करनेवालोंकी अपेक्षा कर्म-फलका त्याग करनेवाले पुरुषोंकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता प्रकट करनेके लिये यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'संन्यासिनाम्' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनके कर्मोंका फल कभी नहीं होता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; दसवें श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्तिका होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंका वाचक यहाँ 'संन्यासिनाम्' पद है।

अतः संन्यासियोंके कर्मोंका फल कभी नहीं होता—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार कर्म-

फलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं वे भूने हुए बीजकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती; तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्मोंसे पूर्वसञ्चित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (४ । २३)। इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बतलाते हैं—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३ ॥

प्रश्न—'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनकी सिद्धि क्या है?

उत्तर—'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है।

प्रश्न—'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद किसका वाचक है तथा उसमें 'सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनको तू मुझसे जान, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनके समाप्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है। 'सांख्य' का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्माऽनेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्)। अतएव जिस शास्त्रमें तत्त्वज्ञानके साधनरूप ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं। इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो।

इसीलिये यहाँ सम्पूर्णकर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु सांख्य-सिद्धान्तमें बतलाये गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि आत्माका अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त ज्ञानयोगका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रमें समस्त कर्मोंकी सिद्धिके जो पाँच हेतु बतलाये गये हैं—जिन पाँचोंके सम्बन्धसे समस्त कर्म बनते हैं, उनको मैं तुझे बतलाता हूँ; तू सावधान होकर सुन।

सम्बन्ध—अब उन पाँच हेतुओंके नाम बतलाये जाते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है ॥ १४॥

प्रश्न—'अधिष्ठानम्' पद यहाँ किसका वाचक है?

उत्तर—'अधिष्ठानम्' पद यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है किन्तु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है।

प्रश्न—'कर्ता' पद यहाँ किसका वाचक है

उत्तर—यहाँ 'कर्ता' पद प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है। इसीको तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है और तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहङ्कारविमूढात्मा' कहा गया है।

प्रश्न—'पृथग्विधम्' विशेषणके सहित 'करणम्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहङ्कार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं; इनके सिवा और भी जो-जो स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मकि करनेमें सहायक होते हैं, वे सब बाह्य करणके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'पृथग्विधम्' विशेषणके सहित 'करणम्' पद है।

प्रश्न—'विविधाः' और 'पृथक्'—इन दोनों पदोंके सहित 'चेष्टाः' किसका वाचक है?

उत्तर—एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अङ्गोंका सञ्चालन, श्वासोंका आना-जाना, अङ्गोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें सङ्कल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप चेष्टाएँ हैं—उन नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न समस्त चेष्टाओंका वाचक यहाँ 'विविधाः' और 'पृथक्'—इन दोनों पदोंके सहित 'चेष्टाः' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'दैवम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'पञ्चमम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका वाचक यहाँ 'दैवम्' पद है, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है। बहुत लोग इसे 'अदृष्ट' भी कहते हैं। इसके साथ 'पञ्चमम्' पदका प्रयोग करके 'पञ्च' संख्याकी पूर्ति दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकमें जो पाँच हेतुओंके सुननेके लिये कहा गया था, उनमेंसे चार हेतु तो दैवके पहले अलग बतलाये गये हैं और पाँचवाँ हेतु यह दैव है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है—उसके ये पाँचों कारण हैं॥ १५॥

प्रश्न—'नरः' पद यहाँ किसका वाचक है और इसके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'नरः' पद यहाँ मनुष्यका वाचक है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन-कर्म कर सकता है। अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है।

प्रश्न—'शरीरवाङ्मनोभिः' पदमें 'शरीर' शब्दसे किसका, 'वाक्' से किसका और 'मनस्' से किसका ग्रहण होता है? तथा यहाँ इस पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त पदमें 'शरीर' शब्दसे वाणीके सिवा समस्त इन्द्रियोंके सहित स्थूल शरीरको लेना चाहिये, 'वाक्' शब्दका अर्थ वाणी समझना चाहिये और 'मनस्' शब्दसे समस्त अन्तःकरणको लेना चाहिये। मनुष्य जितने भी पुण्य-पापरूप कर्म करता है उन सबको शास्त्रकारोंने कायिक, वाचिक और मानसिक—इस प्रकार तीन भेदोंमें विभक्त किया है। अतः यहाँ इस पदका प्रयोग करके समस्त शुभाशुभ कर्मोंका समाहार किया गया है।

प्रश्न—'न्याय्यम्' पद किस कर्मका वाचक है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है।

प्रश्न—'विपरीतम्' पद किस कर्मका वाचक है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया

है तथा जो कर्म, नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य-भक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है।

प्रश्न—'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है और उसके ये पाँचों कारण हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन समस्त कर्मोंका वाचक है। तथा 'उसके ये पाँचों कारण हैं'—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि इन पाँचोंके संयोग बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता; जितने भी शुभाशुभ कर्म होते हैं, इन पाँचोंके संयोगसे ही होते हैं। इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता। इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है, यह बात सतरहवें श्लोकमें कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये पहले आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करते हैं—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता॥ १६॥

प्रश्न—यहाँ 'एवम्'के सहित 'सति' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'एवम्'के सहित 'सति' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि समस्त कर्मोंके होनेमें उपर्युक्त अधिष्ठानादि ही कारण हैं, आत्माका उन कर्मोंसे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिये आत्माको कर्ता मानना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। तो भी लोग मूर्खतावश अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है !

प्रश्न—'अकृतबुद्धित्वात्' का क्या भाव है ?

उत्तर—सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं। अतः यहाँ 'अकृतबुद्धित्वात्' पदका प्रयोग करके आत्माको कर्ता माननेका हेतु बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध न होनेपर भी बुद्धिमें विवेकशक्ति न रहनेके कारण अज्ञानवश मनुष्य आत्माको कर्ता मान बैठता है।

प्रश्न—'आत्मानम्' पदके साथ 'केवलम्' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'केवलम्' विशेषणके प्रयोगसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। अभिप्राय यह है कि आत्माका यथार्थ स्वरूप 'केवल' यानी सर्वथा शुद्ध; निर्विकार और असङ्ग है। श्रुतियोंमें भी कहा है कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृहदारण्यक उ० ४।३।१५-१६) 'यह आत्मा वास्तवमें सर्वथा असङ्ग है।' अतः असङ्ग आत्माका कर्मोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसे कर्मोंका कर्ता मानना अत्यन्त विपरीत है।

प्रश्न—'सः'के साथ 'दुर्मतिः' विशेषण देकर यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि वह यथार्थ नहीं समझता ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको कर्ता समझनेवाले मनुष्यकी बुद्धि दूषित है, उसमें आत्मस्वरूपको यथार्थ समझनेकी शक्ति नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'दुर्मतिः' विशेषणका प्रयोग किया गया है। तथा वह यथार्थ नहीं जानता—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है (—
तेरहवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके कथनानुसार

र्मोंको प्रकृतिका ही खेल समझता है और आत्माको सर्वथा कर्ता समझता है, वही यथार्थ समझता है; उससे विपरीत त्माको कर्ता समझनेवाला मनुष्य अज्ञान और अहङ्कार-मोहित है (३।२७), इसलिये उसका समझना ठीक हीं है— गलत है।

प्रश्न—चौदहवें श्लोकमें कर्मोंके बननेमें जो पाँच हेतु लाये गये हैं—उनमें अधिष्ठानादि चार हेतु तो प्रकृति-नित ही हैं, परन्तु 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु 'प्रकृतिस्थ' रुषको माना गया है; और यहाँ यह बात कही जाती है कि त्मा कर्ता नहीं है, सङ्गरहित है। इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस विषयमें यह समझना चाहिये कि वास्तवमें त्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असङ्ग है; कृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी बन्ध नहीं है। किन्तु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असङ्ग त्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है; अतः वह प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं। इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है (१३।२१)। इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु जो 'कर्ता' माना गया है वह प्रकृतिमें स्थित पुरुष है और यहाँ आत्माके केवल यानी सङ्गरहित, शुद्ध स्वरूपका वर्णन है, अतः उसको अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता। इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती। यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है।

सम्बन्ध—आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको 'कर्ता' माननेवालेकी निन्दा करके अब आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर उसे अकर्ता समझनेवालेकी स्तुति करते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और र्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे धता है ॥ १७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'यस्य' पद किसका वाचक है तथा 'मैं कर्ता हूँ'—इस भावका न होना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'यस्य' पद समस्त कर्मोंको प्रकृतिका खेल समझनेवाले सांख्ययोगीका वाचक है। ऐसे पुरुषमें जो देहा-भिमान न रहनेके कारण कर्तापनका सर्वथा अभाव हो जाना है—यानी मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है' यह मेरा कर्तव्य है, इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना है—यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है।

प्रश्न—बुद्धिका लिपायमान न होना क्या है?

उत्तर—कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना; किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना—यही बुद्धिका लिपायमान न होना है।

प्रश्न—वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है; मन, बुद्धि,

इन्द्रियों और शरीरमें अहंता-ममताका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है—उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म किये जाते हैं वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं। क्योंकि अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थबुद्धिका अभाव हो जानेके बाद पापकर्मोंके आचरणका कोई कारण नहीं रह जाता। अत: जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष लोकदृष्टिसे स्वधर्मपालन करते समय यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है। किन्तु क्षात्रधर्म-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता। अर्थात् लोकदृष्टिसे समस्त कर्म करता हुआ भी वह उन कर्मोंसे सर्वथा बन्धनरहित ही रहता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (४।१३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (४।१४; ९।९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यह बात अवश्य है कि उसका अन्त:करण अत्यन्त शुद्ध तथा अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थबुद्धिसे रहित हो जानेके कारण उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा राग-द्वेष और अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते; उसकी समस्त क्रियाएँ वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रानुकूल ही हुआ करती हैं। इसमें भी उसे किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्मसंग्रहका प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है॥ १८॥

प्रश्न—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीनों पद अलग-अलग किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं तथा यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है उसका नाम 'ज्ञेय' है। 'यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है'—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इन तीनोंके संयोगसे ही मनुष्यकी कर्ममें प्रवृत्ति होती है अर्थात् इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है। क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञान-वृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक-अमुक वस्तुओंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है।

प्रश्न—कर्ता, करण और कर्म—ये तीनों पद अलग-अलग किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं तथा यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं—उनका ना[illegible]

पद है और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंका वाचक यहाँ 'कर्म' पद है। 'यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है'—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है ; क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है—तभी कर्म बनता है, इसके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता। चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको कर्म-संग्रह नाम दिया गया है; क्योंकि उन पाँचोंमें भी उपर्युक्त तीन हेतु ही मुख्य हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे कर्म-चोदना (कर्म-प्रेरणा) और कर्म-संग्रहका निरूपण करके अब तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस, तामस भावोंका त्याग करानेके लिये उपर्युक्त कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहके नामसे बतलाये हुए ज्ञान आदिमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमसे बतलानेकी प्रस्तावना करते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन ॥ १९ ॥

प्रश्न—'गुणसंख्याने' पद किसका वाचक है तथा उसमें गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके बतलाये हुए ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे। इस कारण यहाँ पूर्वोक्त छः पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका सङ्केत किया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जो ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक, राजस और तामस भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना की थी—उसके अनुसार पहले सात्त्विक ज्ञानके लक्षण बतलाते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

प्रश्न—'येन' पद यहाँ किसका वाचक है तथा उसके द्वारा पृथक्-पृथक् भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित देखना क्या है ?

उत्तर—'येन' पद यहाँ सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले उस अनुभवका वाचक है, जिसका वर्णन छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें किया गया है। तथा जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें, एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है—वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें उस अनुभवके द्वारा जो एक अद्वितीय अविनाशी, निर्विकार ज्ञानस्वरूप

परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना है— अर्थात् लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त प्राणियोंको और स्वयं अपनेको एक अविनाशी परमात्मासे अभिन्न समझना है—यही पृथक्-पृथक् भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित देखना है।

प्रश्न—उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो ऐसा यथार्थ अनुभव है, वही वास्तवमें सात्त्विक ज्ञान यानी सच्चा ज्ञान है। अतः कल्याणकामी मनुष्यको इसे ही प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त जितने भी सांसारिक ज्ञान हैं, वे नाममात्रके ही ज्ञान हैं— वास्तविक ज्ञान नहीं हैं।

सम्बन्ध—अब राजस ज्ञानके लक्षण बतलाते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान॥ २१॥

प्रश्न—सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानना क्या है?

उत्तर—कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं—उन सबमें आत्माको उनके शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक और अलग-अलग समझना—अर्थात् यह समझना कि प्रत्येक शरीरमें आत्मा अलग-अलग है और वे बहुत हैं तथा सब परस्पर विलक्षण हैं—यही सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग देखना है।

प्रश्न—उस ज्ञानको तू राजस जान—इस कथनका क्या भाव है।

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारका जो अनुभव है, वह राजस ज्ञान है- [illegible] नाममात्रका ही ज्ञान है, वास्तविक ज्ञान नहीं है। [illegible] यह है कि जिस प्रकार आकाशके [illegible] मनुष्य भिन्न-भिन्न घट, मठ आदिमें [illegible] आकाश समझता है और उसमें [illegible] समझता है उसका सम्बन्ध मानकर [illegible] किन्तु उसका यह [illegible] है [illegible] न जाननेके [illegible] शरीरोंमें अलग-अलग [illegible] है। और अनेक [illegible]

सम्बन्ध—अब तामस ज्ञानका लक्षण बतलाते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये [illegible]हैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च [illegible]मुदाहृतम्॥ २२॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाले [illegible] तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है—वह तामस कहा गया है॥ २२॥

प्रश्न—'तु' पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वोक्त सात्त्विक ज्ञानसे और राजस ज्ञानसे भी इस ज्ञानको अत्यन्त निकृष्ट दिखलानेके लिये यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णकी भाँति [illegible] आसक्त है—इस कथनका क्या [illegible] है?

उत्तर—इस कथनसे [illegible] बतलाया गया है। [illegible] [illegible] करता है

शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है, क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

प्रश्न—इस ज्ञानको 'अहैतुकम्' यानी बिना युक्तिवाला बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकारकी समझ विवेकशील मनुष्यमें नहीं होती, थोड़ा भी समझनेवाला मनुष्य विचार करनेसे जड शरीरके और चेतन आत्माके भेदको समझ लेता है; अतः जहाँ युक्ति और विवेक है, वहाँ ऐसा ज्ञान नहीं रह सकता।

प्रश्न—इस ज्ञानको तात्त्विक अर्थसे रहित और अल्प बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—इसे तात्त्विक अर्थसे रहित और अल्प बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि इस ज्ञानके द्वारा जो बात समझी जाती है, वह यथार्थ नहीं है अर्थात् यह वस्तुके स्वरूपको यथार्थ समझानेवाला ज्ञान नहीं है, विपर्यय-ज्ञान है और बहुत तुच्छ है; इसीलिये यह त्याज्य है।

प्रश्न—वह ज्ञान तामस कहा गया है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाला जो विपर्यय-ज्ञान है, वह तामस है—अर्थात् अत्यन्त तमोगुणी मनुष्योंकी समझ है; उन लोगोंकी समझ ऐसी ही हुआ करती है, क्योंकि तमोगुणका कार्य अज्ञान बतलाया गया है।

सम्बन्ध—अब सात्त्विक कर्मके लक्षण बतलाते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है॥ २३॥

प्रश्न—'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है तथा 'नियतम्' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं—उन शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप तथा जीविकाके और शरीर-निर्वाहके सभी श्रेष्ठ कर्मोंका वाचक यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; तथा 'नियतम्' विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि केवल शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक आदि कर्तव्यकर्म ही सात्त्विक हो सकते हैं, काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म सात्त्विक नहीं हो सकते।

प्रश्न—'सङ्गरहितम्' विशेषणका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'सङ्ग' नाम आसक्तिका नहीं है, क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है। इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'सङ्ग' समझना चाहिये; और जिन कर्मोंमें ऐसा सङ्ग नहीं है, अर्थात् जो बिना कर्तापनके और बिना देहाभिमानके किये हुए हैं—उन कर्मोंको सङ्गरहित कर्म समझना चाहिये। इसीलिये 'सङ्गरहितम्' विशेषणसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शास्त्रविहित कर्म भी 'सङ्गरहित' होनेसे ही सात्त्विक होते हैं, नहीं तो उनकी 'सात्त्विक' संज्ञा नहीं होती।

प्रश्न—'अफलप्रेप्सुना' पद किसका वाचक है और ऐसे पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म कैसे कर्मको कहते हैं?

उत्तर—कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किञ्चिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकाङ्क्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी

आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे स्वार्थ-बुद्धिरहित पुरुषका वाचक 'अफलप्रेप्सुना' पद है। ऐसे पुरुषद्वारा किये जानेवाले जिन कर्मोंमें कर्ताकी आसक्ति और द्वेष नहीं है, अर्थात् जिनका अनुष्ठान राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये किया जाता है—उन कर्मोंको बिना राग-द्वेषके किया हुआ 'कर्म' कहते हैं।

प्रश्न—उस कर्मको सात्त्विक कहते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उस कर्मको सात्त्विक कहते हैं—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस कर्ममें उपर्युक्त समस्त लक्षण पूर्णरूपसे पाये जाते हों, वही कर्म पूर्ण सात्त्विक है। यदि उपर्युक्त भावोंमेंसे किसी भावकी कमी हो, तो उसकी सात्त्विकतामें उतनी कमी समझनी चाहिये। इसके सिवा इससे यह भाव भी समझना चाहिये कि सत्त्वगुणसे और सात्त्विक कर्मसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है; अतः परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्योंको उपर्युक्त सात्त्विक कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये, राजस-तामस कर्मोंका आचरण करके कर्म-बन्धनमें नहीं पड़ना चाहिये।

प्रश्न—इस श्लोकमें बतलाये हुए सात्त्विक कर्ममें और नवें श्लोकमें बतलाये हुए सात्त्विक त्यागमें क्या भेद है?

उत्तर—इस श्लोकमें सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे सात्त्विक कर्मके लक्षण किये गये हैं, इस कारण 'सङ्गरहितम्' पदसे उनमें कर्तापनके अभिमानका और 'अरागद्वेषतः' पदसे राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है। किन्तु नवें श्लोकमें कर्मयोगकी दृष्टिसे किये जानेवाले कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाके त्यागका नाम ही सात्त्विक त्याग बतलाया गया है; इस कारण वहाँ कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही गयी है, बल्कि कर्तव्य बुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है। यही इन दोनोंका भेद है। दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; इस कारण इनमें वास्तवमें भेद नहीं है, केवल अनुष्ठानके प्रकारका भेद है।

सम्बन्ध—अब राजस कर्मके लक्षण बतलाते हैं—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहङ्कारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है॥ २४॥

प्रश्न—'बहुलायासम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा इस विशेषणके प्रयोगका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—जिन कर्मोंमें नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका विधान है तथा शरीरमें अहङ्कार रहनेके कारण जिन कर्मोंको मनुष्य भाररूप समझकर बड़े परिश्रम और दुःखके साथ पूर्ण करता है, ऐसे काम्य कर्मों और व्यावहारिक कर्मोंका वाचक यहाँ 'बहुलायासम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है। इस विशेषणका प्रयोग करके सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका भेद स्पष्ट किया गया है। अभिप्राय यह है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहङ्कार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता। इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं। किन्तु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहङ्कार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुखी होता है। इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है। इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं; अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किन्तु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है। इस कारण भी 'बहुलायासम्' विशेषणका प्रयोग करके बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है।

प्रश्न—'कामेप्सुना' पद कैसे पुरुषका वाचक है?

उत्तर—इन्द्रियोंके भोगोंमें ममता और आसक्ति रहनेके

कारण जो निरन्तर नाना प्रकारके भोगोंकी कामना करता रहता है तथा जो कुछ क्रिया करता है—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है ।

प्रश्न—'वा' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'वा' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं, वे भी राजस हैं और जिनमें भोगोंकी इच्छा नहीं है, किन्तु जो अहङ्कारपूर्वक किये जाते हैं—वे भी राजस हैं । अभिप्राय यह है कि जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहङ्कार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किन्तु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं ।

प्रश्न—'साहङ्कारेण' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहङ्कारपूर्वक करता है तथा मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहंकारेण' पद है ।

प्रश्न—वह कर्म राजस कहा गया है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त भावोंसे किया जानेवाला कर्म राजस है और राजस कर्मका फल दुःख बतलाया गया है (१४ । १६) तथा रजोगुण कर्मोंके सङ्गसे मनुष्यको बाँधनेवाला है (१४ । ७); अतः मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको ऐसे कर्म नहीं करने चाहिये ।

सम्बन्ध—अब तामस कर्मके लक्षण बतलाते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है—वह तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यका विचार करना क्या है और इनका विचार बिना किये केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना क्या है ?

उत्तर—किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है । तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है । और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा—यह हिंसाका विचार करना है । इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं—यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है । इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष—इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार किये बिना ही 'जो कुछ होगा सो देखा जायगा' इस प्रकार दुःसाहस करके जो अज्ञतासे किसी कर्मका आरम्भ कर देना है—यही परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुषका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना है ।

प्रश्न—वह कर्म तामस कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार बिना सोचे-समझे जिस कर्मका आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तमोगुणके कार्य मोहसे आरम्भ किया हुआ होनेके कारण तामस कहा जाता है ? तामस कर्मका फल अज्ञान यानी

सूकर, कूकर, वृक्ष आदि ज्ञानरहित योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति बतलाया गया है (१४ । १८); अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको कभी ऐसा कर्म नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—अब सात्त्विक कर्ताके लक्षण बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो कर्ता संगरहित, अहङ्कारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

प्रश्न—'मुक्तसङ्ग' कैसे मनुष्यको कहते हैं?

उत्तर—जिस मनुष्यका कर्मोंसे और उनके फलरूप समस्त भोगोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है—अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है—ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसङ्ग' कहते हैं।

प्रश्न—'अनहंवादी' का क्या भाव है?

उत्तर—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म-पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा; मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ; मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (१६ । १३, १४, १५) इत्यादि अहङ्कारके वचन [illegible] अभिमानशून्य वचन [illegible]' कहते हैं।

प्रश्न—'धृत्युत्साहसमन्वितः' पदमें 'धृति' और 'उत्साह' शब्द किन भावोंके वाचक हैं और इन दोनोंसे युक्त पुरुषके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धृति' है। और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है—किसी भी कर्मसे न उकताना, किन्तु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है। इन दोनों गुणोंसे युक्त पुरुष बड़े-से-बड़ा विघ्न उपस्थित होनेपर भी अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करता, बल्कि अत्यन्त उत्साहपूर्वक समस्त कठिनाइयोंको पार करता हुआ अपने कर्तव्यमें डटा रहता है। ये ही उसके लक्षण हैं।

प्रश्न—'सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः' यह विशेषण कैसे मनुष्यका वाचक है?

उत्तर—साधारण मनुष्योंकी जिस कर्ममें आसक्ति होती है और जिस कर्मको वे अपने इष्ट फलका साधन समझते हैं, उसके पूर्ण हो जानेसे उनके मनमें बड़ा भारी हर्ष होता है और किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित होकर उसके अधूरा रह जानेपर उनको बड़ा भारी कष्ट होता है; इसी तरह उनके अन्तःकरणमें कर्मकी सिद्धि-असिद्धिके सम्बन्धसे और भी बहुत प्रकारके विकार होते हैं। अतः अहंता, ममता, आसक्ति और फलेच्छा न रहनेके कारण जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है; तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है—ऐसे समतायुक्त पुरुषका वाचक 'सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः' यह विशेषण है।

प्रश्न—वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस कर्तामें उपर्युक्त समस्त भावोंका समावेश है, वही पूर्ण सात्त्विक है और जिसमें जिस भावकी कमी है, उतनी ही उसकी सात्त्विकतामें कमी है। इस प्रकारका सात्त्विक भाव परमात्माके तत्त्वज्ञानको प्रकट करनेवाला है, इसलिये मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको सात्त्विक कर्ता ही बनना चाहिये।

सम्बन्ध—अब राजस कर्ताके लक्षण बतलाते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है—वह राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

प्रश्न—'रागी' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—अर्थात् जो कुछ क्रिया करता है, उसमें और उसके फलमें जो आसक्त रहता है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं।

प्रश्न—'कर्मफलप्रेप्सुः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता रहता है तथा जो कुछ कर्म करता है, उन भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है।

प्रश्न—'लुब्धः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धनसंग्रहकी लालसा रखता है, यहाँतक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी भी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे लोभी मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है।

प्रश्न—'हिंसात्मकः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये राग-द्वेषपूर्वक कर्म करते समय दूसरोंके कष्टकी किञ्चिन्मात्र भी परवा न करके अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है।

प्रश्न—'अशुचिः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसमें शौचाचार और सदाचारका अभाव है अर्थात् जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किन्तु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है।

प्रश्न—'हर्षशोकान्वितः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—प्रत्येक क्रियामें और उसके फलमें राग-द्वेष रहनेके कारण हरेक कर्म करते समय तथा हरेक घटनामें जो कभी हर्षित होता है और कभी शोक करता है—इस प्रकार जिसके अन्तःकरणमें हर्ष और शोक होते रहते हैं, ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'हर्षशोकान्वितः' पद है।

प्रश्न—वह कर्ता राजस कहा गया है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य उपर्युक्त समस्त भावोंसे या उनमेंसे कितने ही भावोंसे युक्त होकर क्रिया करनेवाला है, वह 'राजस कर्ता' है। 'राजस कर्ता' बार-बार नाना योनियोंमें जन्मता और मरता रहता है, वह संसारचक्रसे मुक्त नहीं होता। इसलिये मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको 'राजस कर्ता' नहीं बनना चाहिये।

सम्बन्ध—अब तामस कर्ताके लक्षण बतलाते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला तथा शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री है—वह तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

प्रश्न—'अयुक्तः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषका वाचक 'अयुक्तः' पद है।

प्रश्न—'प्राकृतः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है (१६।७), जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खका वाचक 'प्राकृतः' पद है।

प्रश्न—'स्तब्धः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो सदा ही घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे घमंडी मनुष्यका वाचक 'स्तब्धः' पद है।

प्रश्न—'शठः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो दूसरोंको ठगनेवाला वञ्चक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे धूर्त मनुष्यका वाचक 'शठः' पद है।

प्रश्न—'नैष्कृतिकः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जो नाना प्रकारसे दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला है, दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'नैष्कृतिकः' पद है।

प्रश्न—'अलसः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्य-कर्ममें उसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—ऐसे आलसी मनुष्यका वाचक 'अलसः' पद है।

प्रश्न—'विषादी' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो रात-दिन शोक करता रहता है, जिसकी चिन्ताओंका कभी अन्त नहीं आता (१६।११)—ऐसे चिन्तापरायण पुरुषको 'विषादी' कहते हैं।

प्रश्न—'दीर्घसूत्री' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें ही हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं।

प्रश्न—वह कर्ता तामस कहा जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त विशेषणोंमें बतलाये हुए सभी [illegible] कार्य हैं; अतः जिस पुरुषमें [illegible] कितने ही [illegible] तामसी मनुष्योंकी [illegible] प्रकारकी पशु-पक्षी, कीट [illegible] होते हैं (१२।१५)—[illegible] को अपनेमें [illegible] रहने देना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावको ग्रहण करानेके लिये और [illegible] तामस भावोंका त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके [illegible] क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद [illegible] प्रस्तावना करते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे [illegible] विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन ॥ २९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'बुद्धि' और 'धृति' शब्द किन तत्त्वों-के वाचक हैं तथा उनके गुणोंके अनुसार तीन-तीन प्रकारके भेद सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक सुननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्तिविशेष-का वाचक है, इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें जिस ज्ञानके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है। यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है। यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है। मनुष्य किसी भी क्रिया या भाव-को इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इस कारण वह 'करण' के ही अन्तर्गत है। छब्बीसवें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझनेकी गुंजाइश हो जाती है कि 'धृति' केवल सात्त्विक ही होती है; किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं।

यहाँ गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं तुम्हें बुद्धितत्त्वके और धृतितत्त्व-के लक्षण—जो सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके सम्बन्ध-से तीन प्रकारके होते हैं—पूर्णरूपसे और अलग-अलग बतलाता हूँ। अतः सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृतिको धारण करनेके लिये तथा राजस-तामसका त्याग करनेके लिये तुम इन दोनों तत्त्वोंके समस्त लक्षणोंको सावधानीके साथ सुनो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जो बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना की है, उसके अनुसार पहले सात्त्विक बुद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है॥ ३०॥

प्रश्न—'प्रवृत्तिमार्ग' किस मार्गको कहते हैं और उसको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहङ्कार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसकी उपासनाका तथा शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह प्रवृत्तिमार्ग है। और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है।

प्रश्न—'निवृत्तिमार्ग' किसको कहते हैं और उसे यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम निवृत्तिमार्ग है। और श्रीसनकादि, नारदजी, ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है।

प्रश्न—'कर्तव्य' क्या है और 'अकर्तव्य' क्या है ? तथा इन दोनोंको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है—वही उसके लिये कर्तव्य है, और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये अकर्तव्य है। इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है।

प्रश्न—'भय' किसको और 'अभय' किसको कहते हैं ? तथा इन दोनोंको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—किसी दु:खप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्त:करणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे भय कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं। इन दोनोंके तत्त्वको जान लेना अर्थात् भय क्या है और अभय क्या है तथा किन-किन कारणोंसे मनुष्यको भय होता है और किस प्रकार उसकी निवृत्ति होकर 'अभय' अवस्था प्राप्त हो सकती है, इस विषयको भलीभाँति समझकर निर्भय हो जाना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है।

प्रश्न—बन्धन और मोक्ष क्या है ?

उत्तर—शुभाशुभ कर्मोंके सम्बन्धसे जो जीवको अनादि कालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही बन्धन है; और सत्सङ्गके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही मोक्ष है।

प्रश्न—बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—बन्धन क्या है, किस कारणसे इस जीवका बन्धन है और किन-किन कारणोंसे पुन: इसका बन्धन दृढ़ हो जाता है—इन सब बातोंको भलीभाँति समझ लेना बन्धनको यथार्थ जानना है और उस बन्धनसे मुक्त होना क्या है तथा किन-किन उपायोंसे किस प्रकार मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो सकता है, इन सब बातोंको ठीक-ठीक जान लेना ही मोक्षको यथार्थ जानना है।

प्रश्न—वह बुद्धि सात्त्विकी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो बुद्धि उपर्युक्त बातोंका ठीक-ठीक निर्णय कर सकती है, इनमेंसे किसी भी विषयका निर्णय करनेमें न तो उससे भूल होती है और न संशय ही रहता है—जब जिस बातका निर्णय करनेकी जरूरत पड़ती है, तब उसका यथार्थ निर्णय कर लेती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है। सात्त्विकी बुद्धि मनुष्यको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर परमपदकी प्राप्ति करानेवाली होती है, अत: कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी बुद्धि सात्त्विकी बना लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—अब राजसी बुद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी [illegible] जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—'धर्म' किसको कहते हैं और 'अधर्म' किसको कहते हैं तथा इन दोनोंको यथार्थ न जानना क्या है ?

उत्तर—अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, अध्यापन, प्रजा-पालन, कृषि, पशुपालन और [illegible] श्रमके अनुसार शास्त्रविहित [illegible] फल शास्त्रोंमें इस लोक और [illegible] गया है—तथा जो [illegible]

धर्म है* एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख बतलाया है—उन सबका नाम अधर्म है। किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना, या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है।

* शास्त्रोंमें धर्मकी बड़ी महिमा है। बृहद्धर्मपुराणमें कहा है—

इस विश्वकी रक्षा करनेवाले वृषभरूप धर्मके चार पैर माने गये हैं। सत्ययुगमें चारों पैर पूरे रहते हैं; त्रेतामें तीन, द्वापरमें दो और कलियुगमें एक ही पैर रह जाता है।

धर्मके चार पैर हैं—सत्य, दया, शान्ति और अहिंसा।

सत्यं दया तथा शान्तिरहिंसा चेति कीर्तिता। धर्मस्यावयवास्तात चत्वारः पूर्णतां गताः॥

इनमें सत्यके बारह भेद हैं—

अमिथ्यावचनं सत्यं स्वीकारप्रतिपालनम्। प्रियवाक्यं गुरोः सेवा दृढं चैव व्रतं कृतम्॥
आस्तिक्यं साधुसङ्गश्च पितुर्मातुः प्रियङ्करः। शुचित्वं द्विविधं चैव ह्रीरसञ्चय एव च॥

'झूठ न बोलना, स्वीकार किये हुएका पालन करना, प्रिय वचन बोलना, गुरुकी सेवा करना, नियमोंका दृढतासे पालन करना, आस्तिकता, साधुसङ्ग, माता-पिताका प्रियकार्य, बाह्यशौच, आन्तरशौच, लज्जा और अपरिग्रह।'

दयाके छः प्रकार हैं—

'परोपकारो दानं च सर्वदा स्मितभाषणम्। विनयो न्यूनताभावस्वीकारः समतामतिः॥

'परोपकार, दान, सदा हँसते हुए बोलना, विनय, अपनेको छोटा समझना और समत्वबुद्धि।'

शान्तिके तीस लक्षण हैं—

अनसूयाल्पसन्तोष इन्द्रियाणां च संयमः। असङ्गमो मौनमेवं देवपूजाविधौ मतिः॥
अकुतश्चिद्भयत्वं च गाम्भीर्यं स्थिरचित्तता। अरूक्षभावः सर्वत्र निःस्पृहत्वं दृढा मतिः॥
विवर्जनं ह्यकार्याणां समः पूजापमानयोः। श्लाघा परगुणेऽस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा॥
आतिथ्यं च जपो होमस्तीर्थसेवाऽऽर्यसेवनम्। अमत्सरो बन्धमोक्षज्ञानं संन्यासभावना॥
सहिष्णुता सुदुःखेषु अकार्पण्यममूर्खता।

'किसीमें दोष न देखना, थोड़ेमें सन्तोष करना, इन्द्रिय-संयम, भोगोंमें अनासक्ति, मौन, देवपूजामें मन लगाना, निर्भयता, गम्भीरता, चित्तकी स्थिरता, रूखेपनका अभाव, सर्वत्र निःस्पृहता, निश्चयात्मिका बुद्धि, न करनेयोग्य कार्योंका त्याग, मानापमानमें समता, दूसरेके गुणमें श्लाघा, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, धैर्य, क्षमा, अतिथिसत्कार, जप, होम, तीर्थसेवा, श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा, मत्सरहीनता, बन्ध-मोक्षका ज्ञान, संन्यास-भावना, अति दुःखमें भी सहिष्णुता, कृपणताका अभाव और मूर्खताका अभाव।'

अहिंसाके सात भाव हैं—

अहिंसा त्वासनजयः परपीडाविवर्जनम्।
श्रद्धा चातिथ्यसेवा च शान्तरूपप्रदर्शनम्॥
आत्मीयता च सर्वत्र आत्मबुद्धिः परात्मसु।

'आसनजय, दूसरेको मन-वाणी-शरीरसे दुःख न पहुँचाना, श्रद्धा, अतिथिसत्कार, शान्तभावका प्रदर्शन, सर्वत्र आत्मीयता और दूसरेमें भी आत्मबुद्धि।'

यह धर्म है। इस धर्मका थोड़ा-सा भी आचरण परम लाभ दायक और इसके विपरीत आचरण महान् हानिकारक है—

यथा स्वल्पमधर्मं हि जनयेत् तु महाभयम्। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड १। ४७)

'जैसे थोड़े-से अधर्मका आचरण महान् भयको उत्पन्न करनेवाला होता है, वैसे ही थोड़ा-सा भी इस धर्मका आचरण महान् भयसे रक्षा करता है।'

इस चतुष्पाद धर्मके साथ-साथ ही अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार धर्मोंका आचरण करना चाहिये।

प्रश्न—'कार्य' किसका नाम है और 'अकार्य' किसका? तथा धर्म-अधर्ममें और कर्तव्य-अकर्तव्यमें क्या भेद है एवं कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना क्या है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्म है—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है, बल्कि जिसका न करना ही उचित है—वह अकार्य (अकर्तव्य) है। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किन्तु शास्त्रविहित शुभ कर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य। जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य हैं; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम, दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना अकार्य है। इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है। इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता। इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी। यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है। किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाना या संशययुक्त हो जाना है—यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है।

प्रश्न—वह बुद्धि राजसी है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती—वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित, विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है। राजस भावका फल दुःख बतलाया गया है; अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको सत्सङ्ग, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन और सद्विचारोंके पोषणद्वारा बुद्धिमें स्थित राजस भावोंका त्याग करके सात्त्विक भावोंको उत्पन्न करने और बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सम्बन्ध—अब तामसी बुद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है॥ ३२॥

प्रश्न—अधर्मको धर्म मानना क्या है और धर्मको अधर्म मानना क्या है?

उत्तर—ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण, असन्तोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, परपीडन, अभक्ष्यभोजन, यथेच्छाचार और पर-स्वत्वापहरण आदि निषिद्ध पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है।

प्रश्न—अन्य सब पदार्थोंको विपरीत मान लेना क्या है?

उत्तर—अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और

हानिको लाभ मान लेना आदि जितना भी विपरीत ज्ञान है—वह सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत है ।

प्रश्न—वह बुद्धि तामसी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि तमोगुणसे ढकी रहनेके कारण जिस बुद्धिकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त-सी हो गयी है, इसी कारण जिसके द्वारा प्रत्येक विषयमें बिल्कुल उलटा निश्चय होता है—वह बुद्धि तामसी है । ऐसी बुद्धि मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाली है; इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको इस प्रकारकी विपरीत बुद्धिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब सात्त्विकी धृतिके लक्षण बतलाते हैं—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अव्यभिचारिण्या' विशेषणके सहित 'धृत्या' पद किसका वाचक है ? और उससे ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना क्या है ?

उत्तर—किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी—उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्तिविशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकालतक स्थिर रहती है, उस शक्तिका नाम 'धृति' है; परन्तु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसका व्यभिचार-दोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है । सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है—परमात्माको प्राप्त करना । इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं । इस प्रकारकी धारणशक्तिका वाचक यहाँ 'अव्यभिचारिण्या' विशेषणके सहित 'धृत्या' पद है । ऐसी धारणशक्तिसे जो परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोगद्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अटलरूपसे परमात्मामें रोके रखना है—यही उपर्युक्त धृतिसे ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना है ।

प्रश्न—वह धृति सात्त्विकी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो धृति परमात्माकी प्राप्तिरूप एक ही उद्देश्यमें सदा स्थिर रहती है, जो अपने लक्ष्यसे कभी विचलित नहीं होती, जिसके भिन्न-भिन्न उद्देश्य नहीं हैं तथा जिसके द्वारा मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये मन और इन्द्रिय आदिको परमात्मामें लगाये रखता है और किसी भी कारणसे उनको विषयोंमें आसक्त और चञ्चल न होने देकर सदा-सर्वदा अपने वशमें रखता है—ऐसी धृति सात्त्विक है । इस प्रकारकी धारणशक्ति मनुष्यको शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली होती है । अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपनी धारणशक्तिको इस प्रकार सात्त्विक बनानेकी चेष्टा करे ।

सम्बन्ध—अब राजस धृतिके लक्षण बतलाते हैं—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

परन्तु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणशक्ति राजसी है ॥ ३४ ॥

प्रश्न—'फलाकाङ्क्षी' पद कैसे मनुष्यका वाचक है तथा ऐसे मनुष्यका धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको धारण करना क्या है ?

उत्तर—'फलाकाङ्क्षी' पद कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके विभिन्न प्रकारके भोगोंकी इच्छा करनेवाले सकाम मनुष्यका वाचक है । ऐसे मनुष्यका जो अपनी धारणशक्तिके

द्वारा अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करना है—यही उसका धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं जो धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना है—यही उसका धृतिके द्वारा अर्थ और कामों-को धारण करना है।

प्रश्न—यह धारणशक्ति राजसी है, इसकथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस धृतिके द्वारा मनुष्य मोक्षके साधनोंकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर केवल उपर्युक्त प्रकारसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको ही धारण किये रहता है, वह 'धृति' रजोगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली होनेके कारण राजसी है; क्योंकि आसक्ति और कामना—ये सब रजोगुणके ही कार्य हैं। इस प्रकार-की धृति मनुष्यको कर्मोंद्वारा बाँधनेवाली है; अतएव कल्याण-कामी मनुष्यको चाहिये कि अपनी धारणशक्तिको राजसी न होने देकर सात्त्विकी बनानेकी चेष्टा करे।

सम्बन्ध—अब तामसी धृतिका लक्षण बतलाते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है—वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

प्रश्न—'दुर्मेधाः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है तथा यहाँ इसके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हों—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यका वाचक 'दुर्मेधाः' पद है; इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसे मनुष्योंमें तामसी 'धृति' हुआ करती है।

प्रश्न—स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद—ये शब्द अलग-अलग किन-किन भावोंके वाचक हैं तथा धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना क्या है?

उत्तर—निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं—उन सबका नाम स्वप्न है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्ट-प्राप्तिकी आशङ्कासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबड़ाहट-भरी वृत्ति होती है—उसका नाम भय है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम शोक है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें सन्ताप हो जाता है, उसे विषाद कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है। तथा जो धन, जन और बल आदि-के कारण होनेवाली—विवेक, भविष्यके विचार और दूरदर्शितासे रहित—उन्मत्तवृत्ति है, उसे मद कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है। इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामस भावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके इन्हींमें डूबे रहना है, यही धृति-के द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है।

प्रश्न—यह धारणशक्ति तामसी है, इसकथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि त्याग करने-योग्य उपर्युक्त तामस भावोंको जिस धृतिके कारण मनुष्य छोड़ नहीं सकता, अर्थात् जिस धारणशक्तिके कारण उपर्युक्त भाव मनुष्यके अन्तःकरणमें स्वभावसे ही धारण किये हुए रहते हैं—वह धृति तामसी है। यह धृति सर्वथा अनर्थमें हेतु है, अतएव कल्याणकामी मनुष्यको इसका तुरंत और सर्वतोभाव-से त्याग कर देना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करानेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है उस सु

सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाना आरम्भ करते हुए पहले सात्त्विक सुखके लक्षणोंका निरूपण करते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—॥३६॥ जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

प्रश्न—अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार मैंने ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस भेद बतलाये हैं, उसी प्रकार सात्त्विक सुखको प्राप्त करानेकेलिये औरराजस-तामसका त्याग करानेके लिये अब तुम्हें सुखके भी तीन भेद बतलाता हूँ; उनको तुम सावधानीके साथ सुनो ।

प्रश्न—'यत्र' पद किस सुखका वाचक है तथा अभ्याससे रमण करता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो सुख प्रशान्त मनवाले योगीको मिलता है (६।२७), उसी उत्तम सुखका वाचक यहाँ 'यत्र' पद है। मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (५।२१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है ।

प्रश्न—जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (५।२१, २४; ६।२८)—वही सात्त्विक सुख है ।

प्रश्न—यहाँ 'अग्रे' पद किस समयका वाचक है और सात्त्विक सुखका विषके तुल्य प्रतीत होना क्या है ?

उत्तर—जिस समय मनुष्य सात्त्विक सुखकी महिमा सुनकर उसको प्राप्त करनेकी इच्छासे,उसकी प्राप्तिके उपायभूत विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगता है—उस समयका वाचक यहाँ 'अग्रे' पद है। उस समय जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण आरम्भकालमें अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही आरम्भकालमें सात्त्विक सुखका विषके तुल्य प्रतीत होना है ।

प्रश्न—वह सुख परिणाममें अमृतके तुल्य है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लगता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं।

प्रश्न—वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है। और वह सुख सात्त्विक है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि यही सुख उत्तम सुख है, राजस और तामस सुख वास्तवमें सुख ही नहीं हैं। वे तो नाममात्रके ही सुख हैं, परिणाममें दुःखरूप ही हैं; अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको राजस-तामस सुखोंमें न फँसकर निरन्तर सात्त्विक सुखमें ही रमण करना चाहिये।

सम्बन्ध—अब राजस सुखके लक्षण बतलाते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है॥ ३८॥

प्रश्न—'अग्रे' पद किस समयका वाचक है तथा उस समय इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखका अमृतके तुल्य प्रतीत होना क्या है?

उत्तर—जिस समय राजस सुखकी प्राप्तिके लिये मनुष्य मन और इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयसेवनका आरम्भ करता है, उस समयका वाचक यहाँ 'अग्रे' पद है। इस सुखकी उत्पत्ति इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होती है—इसका अभिप्राय यह है कि जबतक मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तभीतक उसे उस सुखका अनुभव होता है और आसक्तिके कारण वह उसे अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता। यही उस सुखका भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होना है।

प्रश्न—राजस सुख परिणाममें विषके तुल्य है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इस राजस सुख-भोगका परिणाम विषकी भाँति दुःखप्रद है; यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है। अभिप्राय यह है कि मन और इन्द्रियोंद्वारा आसक्तिपूर्वक सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणमें जम जाते हैं, जिनके कारण मनुष्य पुनः उन्हीं विषय-भोगोंकी प्राप्तिकी इच्छा करता है और उसके लिये आसक्तिवश अनेक प्रकारके पापकर्म कर बैठता है तथा उन पापकर्मोंका फल भोगनेके लिये उसे कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है तथा यन्त्रणामय नरकोंमें पड़कर भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं।

विषयोंमें आसक्ति बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है। दूसरोंके पास अपनेसे अधिक सुख-सम्पत्ति देखकर ईर्ष्यासे जलन होती है; तथा भोगके अनन्तर शरीरमें बल, वीर्य, बुद्धि, तेज और शक्तिके ह्राससे और थकावटसे भी महान् कष्टका अनुभव होता है। इसीप्रकार और भी बहुत-से दुःखप्रद परिणाम होते हैं। इसलिये विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुखी होता है या मृत्यु हो जाती है; अथवा जैसे पतङ्ग नेत्रोंके विषय रूपमें आसक्त होनेके कारण प्रयत्नपूर्वक सुखबुद्धिसे दीपककी लौके साथ टकरानेमें सुख मानता है कि

परिणाममें जलकर कष्ट-भोग करता है और मर जाता है—इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है।

प्रश्न—वह सुख राजस कहा गया है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाला जो प्रतीतिमात्रका क्षणिक सुख है, वह विषयासक्तिसे ही सुखरूप प्रतीत होता है और आसक्ति रजोगुणका स्वरूप है अतः वह राजस है और आसक्तिके द्वारा मनुष्यको बाँधनेवाला है (१४।७)। इसलिये कल्याण चाहनेवालेको ऐसे सुखमें नहीं फँसना चाहिये।

सम्बन्ध—अब तामस सुखका लक्षण बतलाते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है—वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है॥ ३९॥

प्रश्न—निद्रा, आलस्य और प्रमादजनित सुख कौन-सा है और वह भोगकालमें तथा परिणाममें आत्माको मोहित करनेवाला कैसे है?

उत्तर—निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, उसे निद्राजनित सुख कहते हैं। वह सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है। इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस कारण वह सुख भोग-कालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है। और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख है। वह भी निद्राजनित सुखकी भाँति मन, इन्द्रियोंमें ज्ञानके प्रकाशका अभाव करके भोगकालमें उन सबको मोहित करनेवाला है तथा मोह और आसक्तिके कारण जड योनियोंमें गिरानेवाला होनेसे परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

मन बहलानेके लिये आसक्तिवश की जानेवाली व्यर्थ क्रियाओंका और अज्ञानवश कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलना करके उनके त्याग कर देनेका नाम प्रमाद है। व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खतावश जो सुखकी प्रतीति होती है, वह प्रमादजनित सुख है। जिस समय मनुष्य किसी प्रकार मन बहलानेकी व्यर्थ क्रियामें संलग्न हो जाता है, उस समय उसे कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है। और विवेकशक्तिके आच्छादित हो जानेसे ही कर्तव्यकी अवहेलना होती है। इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है। और उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपट, हिंसा आदि पापकर्मोंका और कर्तव्य-कर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

प्रश्न—वह सुख तामस है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि निद्रा, प्रमाद और आलस्य—ये तीनों ही तमोगुणके कार्य हैं (१४।१७); अतएव इनसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस सुख है। और इन

निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिमें सुखबुद्धि करवाकर ही यह तमोगुण मनुष्यको बाँधता है (१४ । ८), इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इस क्षणिक, मोहकारक और प्रतीतिमात्रके तामस सुखमें नहीं फँसना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अठारहवें श्लोकसे वर्णित मुख्य-मुख्य पदार्थोंके सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन-तीन भेद बतलाकर अब इस प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान् सृष्टिके समस्त पदार्थोंको तीनों गुणोंसे युक्त बतलाते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ॥ ४० ॥

प्रश्न—यहाँ 'पृथिव्याम्,' 'दिवि' और 'देवेषु' पद अलग-अलग किन-किनके वाचक हैं तथा 'पुनः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'पृथिव्याम्' पद पृथ्वीलोकका, उसके अंदरके समस्त पातालादि लोकोंका और उन लोकोंमें स्थित समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियों तथा पदार्थोंका वाचक है। 'दिवि' पद पृथ्वीसे ऊपर अन्तरिक्षलोकका तथा उसमें स्थित समस्त प्राणियों और पदार्थोंका वाचक है। एवं 'देवेषु' पद समस्त देवताओंका और उनके भिन्न-भिन्न समस्त लोकोंका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त पदार्थोंका वाचक है। इनके सिवा और भी समस्त सृष्टिमें जो कुछ भी वस्तु या जो कोई प्राणी हैं, उन सबका ग्रहण करनेके लिये 'पुनः' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'सत्त्वम्' पद किसका वाचक है और ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'सत्त्वम्' पद यहाँ वस्तुमात्रका यानी सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है तथा 'ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो' इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिजनित सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्य हैं तथा प्रकृतिजनित गुणोंके सम्बन्धसे ही प्राणियोंका नाना योनियोंमें जन्म होता है (१३।२१)। इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणियों एवं पदार्थोंमें कोई भी पदार्थ या प्राणी ऐसा नहीं है जो इन तीनों गुणोंसे रहित या अतीत हो। क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही; और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं।

प्रश्न—सृष्टिके अंदर गुणातीत पुरुष भी तो हैं, फिर यह बात कैसे कही कि कोई भी प्राणी गुणोंसे रहित नहीं है ?

उत्तर—यद्यपि लोकदृष्टिसे गुणातीत पुरुष सृष्टिके अंदर हैं, परन्तु वास्तवमें उनकी दृष्टिमें न तो सृष्टि है और न सृष्टिके या शरीरके अंदर उनकी स्थिति ही है; वे तो परमात्मामें ही अभिन्नभावसे नित्य स्थित हैं अतः परमात्मस्वरूप ही हैं। अतएव उनकी गणना साधारण प्राणियोंमें नहीं की जा सकती। उनके मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके संघातरूप शरीरको—जो कि सबके प्रत्यक्ष है—लेकर यदि उन्हें प्राणी कहा जाय तो आपत्ति नहीं है; क्योंकि यह संघात तो गुणोंका ही कार्य है, अतएव उसे गुणोंसे अतीत कैसे कहा जा सकता है। इसलिये यह कहनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं है कि सृष्टिके अंदर कोई भी प्राणी या पदार्थ तीनों गुणोंसे रहित नहीं है।

सम्बन्ध—इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा की थी, अतः दोनोंका तत्त्व समझानेके लिये पहले इस विषयपर विद्वानोंकी सम्मति बतलाकर चौथेसे बारहवें श्लोकतक भगवान्ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास के स्वरूपका निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग

से अठारहवेंसे चालीसवें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर उस विषयका उपसंहार किया ।

वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (१८।७) अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (१८।९), किन्तु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्याग-रूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके स्वाभाविक नियत कर्म बतलानेकी प्रस्तावना करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' इस पदमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन शब्दोंका समास करनेका तथा 'शूद्राणाम्' पदसे शूद्रोंको अलग करके कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों शब्दोंका समास किया गया है। शूद्र द्विज नहीं हैं, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणमें तथा वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये 'शूद्राणाम्' पदसे उनको अलग कहा गया है।

प्रश्न—'गुणैः' पदके साथ 'स्वभावप्रभवैः' विशेषण देनेका क्या भाव है और उन गुणोंके द्वारा उपर्युक्त चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप ही प्राणियोंके अन्तःकरणमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, यह भाव दिखलानेके लिये 'गुणैः' पदके साथ 'स्वभावप्रभवैः' विशेषण दिया गया है। तथा 'गुणोंके द्वारा चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है' इस कथनका यह भाव है कि उन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं। और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। यही बात चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोककी व्याख्यामें विस्तारपूर्वक समझायी गयी है।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें की हुई प्रस्तावनाके अनुसार पहले ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

प्रश्न—'आर्जवम्' क्या है ?

उत्तर—मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका भाव हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना—यह सब आर्जवके अन्तर्गत है।

प्रश्न—'आस्तिक्यम्' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'आस्तिक्यम्' पद आस्तिकताका वाचक है। वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक—इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंको यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ विश्वास रखना—ये सब आस्तिकताके लक्षण हैं।

प्रश्न—'ज्ञान' किसको कहते हैं ?

उत्तर—वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका नाम यहाँ 'ज्ञान' है।

प्रश्न—'विज्ञानम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेनेका नाम यहाँ 'विज्ञान' है।

प्रश्न—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती। इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है। इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य कर्तव्य-कर्म हैं।

प्रश्न—मनुस्मृतिमें तो ब्राह्मणके कर्म स्वयं अध्ययन करना और दूसरोंको अध्ययन कराना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंको यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना—इस प्रकार छः बतलाये गये हैं;* और यहाँ शम, दम आदि प्रायः सामान्य धर्मोंको ही ब्राह्मणोंके कर्म बतलाया गया है। इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ बतलाये हुए कर्म केवल सात्त्विक हैं; इस कारण ब्राह्मणके स्वभावसे इनका विशेष सम्बन्ध है; इसीलिये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंमें इनकी ही गणना की गयी है, अधिक विस्तार नहीं किया गया। इनके सिवा जो मनुस्मृति आदिमें अधिक बतलाये गये हैं, उनको भी इनके साथ समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म बतलाकर अब क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ४३॥

वाल्मीकि रामायणमें आता है कि तदनन्तर विश्वामित्र राज्य छोड़कर महान् तप करने लगे और हजारों वर्षके उग्र तपके प्रतापसे क्रमशः राजर्षि और महर्षिके पदको प्राप्त करके अन्तमें ब्रह्मर्षि हुए। देवताओंके अनुरोधसे क्षमाशील महर्षि वसिष्ठने भी उनको 'ब्रह्मर्षि' मान लिया। अन्तमें—

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्। पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम्॥

(वाल्मीकीय रामायण १।६५।२७)

'धर्मात्मा विश्वामित्रने भी उत्तम ब्राह्मणपद पाकर मन्त्र-जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि श्रीवसिष्ठजीकी पूजा की।'

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनुस्मृति १।८८)

प्रश्न—'शूरवीरता' किसको कहते हैं ?

उत्तर—बड़े-से-बड़े बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है। भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।*

* बालब्रह्मचारी पितामह भीष्ममें क्षत्रियोचित सब गुण प्रकट थे। उन्होंने प्रसिद्ध क्षत्रियशत्रु भगवान् परशुरामजीसे शस्त्रविद्या सीखी थी। जिस समय परशुरामजीने काशिराजकी कन्या अम्बासे विवाह कर लेनेके लिये भीष्मपर बहुत दबाव डाला, उस समय उन्होंने बड़ी नम्रतासे अपने सत्यकी रक्षाके लिये ऐसा करनेसे बिल्कुल इन्कार कर दिया; परन्तु जब परशुरामजी किसी तरह न माने और बहुत धमकाने लगे, तब उन्होंने साफ कह दिया—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया। क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिषत्सु वै। निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु॥
न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः। पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया॥
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः। (महा० उद्योग० १७८)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्र धर्मका त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा धारण किया हुआ व्रत है। हे परशुरामजी! आप जो लोगोंके सामने बड़ी डींग हाँका करते हैं कि 'मैंने बहुत वर्षोंतक अकेले ही क्षत्रियोंका अनेकों बार (इक्कीस बार) संहार किया है तो उसके लिये भी सुनिये—उस समय भीष्म या भीष्मके समान कोई क्षत्रिय पैदा नहीं हुआ था। आपने तिनकोंपर ही अपना प्रताप दिखाया है। क्षत्रियोंमें तेजस्वी तो पीछेसे प्रकट हुए हैं। हे परशुरामजी! इस समय युद्धमें मैं आपके घमंडको निःसन्देह चूर्ण कर दूँगा।'

परशुरामजी कुपित हो गये। युद्ध छिड़ गया और लगातार तेईस दिनोंतक भयानक युद्ध होता रहा, परन्तु परशुरामजी भीष्मको परास्त न कर सके। आखिर नारद आदि देवर्षियोंके और भीष्मजननी श्रीगङ्गाजीके प्रकट होकर बीचमें पड़नेपर तथा परशुरामजीके धनुष छोड़ देनेपर ही युद्ध समाप्त हुआ। भीष्मने न तो रणसे पीठ दिखायी और न पहले शस्त्रको ही छोड़ा (महा० उद्योग० १८५)

महाभारतके अठारह दिनोंके संग्राममें दस दिनोंतक अकेले भीष्मजीने कौरवपक्षके सेनापतित्वके पदको सुशोभित किया। शेष आठ दिनोंमें कई सेनापति बदले।

भगवान् श्रीकृष्णने महाभारत युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। कहते हैं भीष्मने किसी कारणवश प्रण कर लिया कि मैंने भगवान्‌को शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा। महाभारतमें यह कथा इस रूपमें न होनेपर भी सूरदासने भीष्मप्रतिज्ञाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी को, सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ। इती न करौं सपथ मोहि हरि की, छत्रिय गतिहि न पाऊँ॥
पाँडवदल सनमुख है धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ। सूरदास रनभूमि विजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

जो कुछ भी हो; महाभारतमें लिखा है—युद्धारम्भके तीसरे दिन भीष्मपितामहने जब बड़ा ही प्रचण्ड संग्राम किया तब भगवान्‌ने कुपित होकर घोड़ोंकी रास हाथसे छोड़ दी और सूर्यके समान प्रभायुक्त अपने चक्रको हाथमें लेकर उसे घुमाते हुए रथसे कूद पड़े। श्रीकृष्णको चक्र हाथमें लिये हुए देखकर सब लोग ऊँचे स्वरसे हाहाकार करने लगे। भगवान् प्रलयकालकी अग्निके समान भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े। श्रीकृष्णको चक्र लिये अपनी ओर आते देखकर महात्मा भीष्म तनिक भी नहीं डरे और अविचलितभावसे अपने धनुषकी डोरीको बजाते हुए कहने लगे—'हे देवदेव! हे जगन्निवास! हे माधव! हे चक्रपाणि! पधारिये। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे सबको शरण देनेवाले! मुझे बलपूर्वक इस श्रेष्ठ रथसे नीचे गिरा दीजिये। हे श्रीकृष्ण! आज आपके हाथसे मारे जानेपर मेरा इस लोक और परलोकमें बड़ा कल्याण होगा। हे यदुनाथ! आप स्वयं मुझे मारने दौड़े, इससे मेरा गौरव तीनों लोकोंमें बढ़ गया।'

अर्जुनने दौड़कर पीछेसे भगवान्‌के पैर पकड़ लिये और किसी तरह उन्हें लौटाया (महा० भीष्म० ५९)।

प्रश्न—'तेज' किसका नाम है ?

उत्तर—जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता; और दूसरे लोग न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम तेज है। इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं।

नवें दिनकी बात है, भगवान्‌ने देखा—भीष्मने पाण्डवसेनामें प्रलय-सा मचा रक्खा है ! भगवान् घोड़ोंकी रास छोड़कर कोड़ा हाथमें लिये फिर भीष्मकी ओर दौड़े। भगवान्‌के तेजसे पग-पगपर मानो पृथ्वी फटने लगी। कौरवपक्षके वीर घबड़ा उठे और 'भीष्म मरे ! भीष्म मरे !' कहकर चिल्लाने लगे। हाथीपर झपटते हुए सिंहकी भाँति भगवान्‌को अपनी ओर आते देखकर भीष्म तनिक भी विचलित न हुए और उन्होंने धनुष खींचकर कहा—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते। मामद्य सात्त्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ॥
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ। श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ॥
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे। प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ॥

(महा० भीष्म० १०६। ६४-६६)

'हे पुण्डरीकाक्ष ! हे देवदेव ! आपको नमस्कार है। हे यादवश्रेष्ठ ! आइये, आइये, आज इस महायुद्धमें मेरा वध करके मुझे वीरगति दीजिये। हे अनघ ! हे देवदेव श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे मरनेपर मेरा लोकमें सर्वथा कल्याण हो जायगा। हे गोविन्द ! युद्धमें आपके इस व्यवहारद्वारा आज मैं त्रिभुवनसे सम्मानित हो गया। हे निष्पाप ! मैं आपका दास हूँ, आप मुझपर जी भरकर प्रहार कीजिये।'

अर्जुनने दौड़कर भगवान्‌के हाथ पकड़ लिये, पर भगवान् रुके नहीं और उन्हें घसीटते हुए आगे बढ़े। अन्तमें अर्जुनके प्रतिज्ञाकी याद दिलाने और सत्यकी शपथ खाकर भीष्मको मारनेकी प्रतिज्ञा करनेपर भगवान् लौटे।

दस दिन महायुद्ध करनेपर जब भीष्म मृत्युकी बात सोच रहे थे, तब आकाशमें स्थित ऋषियों और वसुओंने भीष्मसे कहा—'हे तात ! तुम जो सोच रहे हो वही हमें पसंद है।' इसके बाद शिखण्डीके सामने बाण न चलानेके कारण बालब्रह्मचारी भीष्म अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर शर-शय्यापर गिर पड़े। गिरते समय भीष्मने सूर्यको दक्षिणायनमें देखा, इसलिये उन्होंने प्राणत्याग नहीं किया। गङ्गाजीने महर्षियोंको हंसरूपमें उनके पास भेजा। भीष्मने कहा कि 'मैं उत्तरायण सूर्य आनेतक जीवित रहूँगा और उपयुक्त समयपर ही प्राणत्याग करूँगा।' भीष्मके शरीरमें दो अंगुल भी ऐसी जगह न बची थी जहाँ अर्जुनके बाण न बिंध गये हों (महा० भीष्म० ११९)। सिर्फ उनका सिर नीचे लटक रहा था। उन्होंने तकिया माँगा। दुर्योधन आदि बढ़िया कोमल तकिये लेकर दौड़े आये। भीष्मने हँसकर कहा—'वीरो ! ये तकिये वीरशय्याके योग्य नहीं हैं।' अन्तमें अर्जुनसे कहा—'बेटा ! मेरे योग्य तकिया दो।' अर्जुनने तीन बाण उनके मस्तकके नीचे इस प्रकार मारे कि सिर ऊँचा उठ गया और वे बाण तकियेका काम देने लगे। इसपर भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और कहा—

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता। स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ॥ (महा० भीष्म० १२०। ४९)

'हे महाबाहो ! क्षात्रधर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहनेवाले क्षत्रियोंको रणाङ्गणमें प्राण त्याग करते समय शरशय्यापर इसी प्रकार चाहिये।'

भीष्मजी बाणोंसे घायल शर-शय्यापर पड़े थे। यह देखकर बाण निकालनेवाले कुशल शस्त्रवैद्य बुलाये गये। इसपर भीष्मजीने कहा कि मुझको तो क्षत्रियोंकी परमगति मिल चुकी है, अब इन चिकित्सकोंकी क्या आवश्यकता है ? (महा० भीष्म० १२०)।

घावके कारण भीष्मको बड़ी पीड़ा हो रही थी। उन्होंने ठण्ढा पानी माँगा। लोग घड़ोंमें ठण्ढा पानी ले-लेकर दौड़े। भीष्मने कहा—'मैं शरशय्यापर लेट रहा हूँ और उत्तरायणकी बाट देख रहा हूँ। आप मेरे लिये यह क्या ले आये ?' अन्तमें अर्जुनको बुलाकर कहा—'बेटा ! मेरा मुँह सूख रहा है। तुम समर्थ हो, पानी पिलाओ।' अर्जुनने रथपर सवार होकर गाण्डीवपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और भीष्मकी दाहिनी ओर पृथ्वीमें पार्जन्यास्त्र मारा। उसी क्षण वहाँसे अमृतके समान सुगन्धित और उत्तम जलकी धारा निकली और भीष्मके मुँहमें गिरने लगी। भीष्मजी उस जलको पीकर तृप्त हो गये (महा० भीष्म० १२१)।

महाभारत युद्ध समाप्त हो जानेके बाद युधिष्ठिर श्रीकृष्ण महाराजको साथ लेकर भीष्मके पास गये। सब बड़े बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ उपस्थित थे। भीष्मने भगवान्‌को देखकर प्रणाम और स्तवन किया। श्रीकृष्णने भीष्मसे कहा कि 'उत्तरायण

प्रश्न—'धैर्य' किसको कहते हैं ?

उत्तर—बड़े-से-बड़ा सङ्कट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र-पौत्रादिके मरजानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है।

प्रश्न—'चतुरता' क्या है ?

उत्तर—परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है।

प्रश्न—युद्धमें न भागना किसको कहते हैं ?

उत्तर—युद्ध करते समय भारी-से-भारी सङ्कट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्तिका प्रयोग करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है। इसी धर्मको ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किन्तु शस्त्र नहीं छोड़े (महा० द्रोण० ४९ । २२) आधुनिक कालमें भी राजस्थानके इतिहासमें ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनमें

आनेमें अभी देर है; इतनेमें आपने धर्मशास्त्रका जो ज्ञान सम्पादन किया है, वह युधिष्ठिरको सुनाकर इनके शोकको दूर कीजिये।' भीष्मने कहा—'प्रभो ! मेरा शरीर बाणोंके घावोंसे व्याकुल हो रहा है, मन-बुद्धि चञ्चल है, बोलनेकी शक्ति नहीं है, बार-बार मूर्च्छा आती है, केवल आपकी कृपासे अबतक जी रहा हूँ; फिर आप जगद्गुरुके सामने मैं शिष्य यदि कुछ कहूँ तो वह भी अविनय ही है। मुझसे बोला नहीं जाता, क्षमा करें।' प्रेमसे छलकती हुई आँखोंसे भगवान् गद्गद होकर बोले—'भीष्म ! तुम्हारी ग्लानि, मूर्च्छा, दाह, व्यथा, क्षुधाक्लेश और मोह—सब मेरी कृपासे अभी नष्ट हो जायँगे; तुम्हारे अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानकी स्फुरणा होगी; तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जायगी; तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर हो जायगा; तुम धर्म या जिस किसी भी विद्याका चिन्तन करोगे, उसीको तुम्हारी बुद्धि बताने लगेगी।' श्रीकृष्णने फिर कहा कि 'मैं स्वयं इसीलिये उपदेश न करके तुमसे करवाता हूँ जिससे मेरे भक्तकी कीर्ति और यश बढ़े !' भगवत्प्रसादसे भीष्मके शरीरकी सारी वेदनाएँ उसी समय नष्ट हो गयीं, उनका अन्तःकरण सावधान और बुद्धि सर्वथा जाग्रत् हो गयी। ब्रह्मचर्य, अनुभव, ज्ञान और भगवद्भक्तिके प्रतापसे अगाध ज्ञानी भीष्म जिस प्रकार दस दिनोंतक रणमें तरुण उत्साहसे झूमे थे, उसी प्रकारके उत्साहसे युधिष्ठिरको धर्मके सब अङ्गोंका पूरी तरह उपदेश दिया और उनके शोक-सन्तप्त हृदयको शान्त कर दिया (महा० शान्ति० और अनुशासनपर्व)।

अट्ठावन दिन शरशय्यापर रहनेके बाद सूर्यके उत्तरायण होनेपर भीष्मने प्राणत्यागका निश्चय किया और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—हे भगवन् ! हे देवदेवेश ! हे सुरासुरोंके द्वारा वन्दित ! हे त्रिविक्रम ! हे शंख-चक्र-गदाधारी ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे वासुदेव ! हिरण्यात्मा, परम पुरुष, सविता, विराट्, जीवरूप, अणुरूप परमात्मा और सनातन आप ही हैं। हे पुण्डरीकाक्ष ! हे पुरुषोत्तम ! आप मेरा उद्धार कीजिये। हे श्रीकृष्ण ! हे वैकुण्ठ ! हे पुरुषोत्तम ! अब मुझे जानेके लिये आज्ञा दीजिये। मैंने मन्दबुद्धि दुर्योधनको बहुत समझाया था—

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है', परन्तु उस मूर्खने मेरी बात नहीं मानी। मैं आपको पहचानता हूँ, आप ही पुराणपुरुष हैं। आप नारायण ही अवतीर्ण हुए हैं।

स मां त्वमनुजानीहि कृष्ण मोक्ष्ये कलेवरम्। त्वयाहं समनुज्ञातो गच्छेयं परमां गतिम्॥ (महा० अनु० १६७ । ४९)

'हे श्रीकृष्ण ! आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं शरीर त्याग करूँ। आपकी आज्ञासे शरीर त्यागकर मैं परम गतिको प्राप्त करूँगा !'

भगवान्ने आज्ञा दी, तब भीष्मने योगके द्वारा वायुको रोककर क्रमशः प्राणोंको ऊपर चढ़ाना आरम्भ किया। प्राणवायु जिस अङ्गको छोड़कर ऊपर चढ़ता था, उस अङ्गके बाण उसी क्षण निकल जाते और घाव भर जाते थे। क्षणभरमें भीष्मजीके शरीरसे सब बाण निकल गये, शरीरपर एक भी घाव न रहा और प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर ऊपर चले गये। लोगोंने देखा, ब्रह्मरन्ध्रसे निकला हुआ तेज देखते-देखते आकाशमें विलीन हो गया।

वीरराजपूतोंने युद्धमें हार जानेपर भी शत्रुको पीठ नहीं दिखायी और अकेले सैकड़ों-हजारों सैनिकोंसे जूझकर प्राण दे दिये।

प्रश्न—दान देना क्या है ?

उत्तर—अपने स्वत्वको उदारतापूर्वक यथावश्यक योग्य पात्रोंको देते रहना दान देना है (१७ । २०)।

प्रश्न—'ईश्वरभाव' किसको कहते हैं ?

उत्तर—शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगोंसे अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—यह 'ईश्वरभाव' है।

प्रश्न—ये सब क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि क्षत्रियोंके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी प्रधानता होती है; इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती। इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्णवालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किन्तु ये उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं, इसी कारण ये उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं।

प्रश्न—मनुस्मृतिमें तो प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदोंका अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना—ये क्षत्रियोंके कर्म संक्षेपसे बतलाये गये हैं* और यहाँ प्रायः दूसरे ही बतलाये गये हैं; इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ क्षत्रियोंके स्वभावसे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंका वर्णन है; अतः मनुस्मृतिमें बतलाये हुए कर्मोंमेंसे क्षत्रियोंके स्वभावसे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले प्रजापालन और दान—इन दो कर्मोंको तो यहाँ ले लिया गया है, किन्तु उनके अन्य कर्तव्य-कर्मोंका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया। इसलिये इनके सिवा जो अन्यान्य कर्म क्षत्रियोंके लिये दूसरी जगह कर्तव्य बतलाये गये हैं, उनको भी इनके साथ ही समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब वैश्य और शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

प्रश्न—'कृषि' यानी खेती करना क्या है ?

उत्तर—न्यायानुकूल जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है।

प्रश्न—'गौरक्ष्य' यानी 'गोपालन' किसको कहते हैं ?

उत्तर—नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जंगलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भलीभाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है। पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्‌ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें

* प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ (मनुस्मृति १ । ८९)

'गौरक्ष्य' पदका प्रयोग किया है। अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

प्रश्न—वाणिज्य यानी क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार क्या है ?

उत्तर—मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको धर्मानुकूल खरीदना और बेचना, तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना वाणिज्य यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है। वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं। इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है। तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी।*

प्रश्न—ये वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि वैश्यके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण प्रधान होता है, इस कारण उसकी उपर्युक्त कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, अतएव इनके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं मालूम होती।

प्रश्न—मनुस्मृतिमें तो उपर्युक्त कर्मोंके सिवा यज्ञ, अध्ययन और दान तथा ब्याज लेना—ये चार कर्म वैश्यके लिये अधिक बतलाये गये हैं;† यहाँ उनका वर्णन क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर—यहाँ वैश्यके स्वभावसे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंका वर्णन है; यज्ञादि शुभकर्म द्विजमात्रके कर्म हैं, अतः उनको उसके स्वाभाविक कर्मोंमें नहीं बतलाया है और ब्याज लेना वैश्यके कर्मोंमें अन्य कर्मोंकी अपेक्षा नीचा माना गया है, इस कारण उसकी भी स्वाभाविक कर्मोंमें गणना नहीं की गयी है। इनके सिवा शम-दमादि और भी जो मुक्तिके साधन हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे वैश्यके स्वधर्मसे अलग नहीं हैं; किन्तु उनमें वैश्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, इस कारण उसके स्वाभाविक कर्मोंमें उनकी गणना नहीं की गयी है।

प्रश्न—'परिचर्यात्मकम्' यानी सब वर्णोंकी सेवा करना किसको कहते हैं ?

उत्तर—उपर्युक्त द्विजाति वर्णोंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवन-निर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य

* काशीमें तुलाधार नामके एक वैश्य व्यापारी थे। वे महान् तपस्वी और धर्मात्मा थे। न्याय और सत्यका आश्रय लेकर क्रय-विक्रयरूप व्यापार करते थे।

जाजलिनामक एक ब्राह्मण समुद्रतटपर कठिन तपस्या करते थे। उनकी जटाओंमें चिड़ियोंने घोंसले बना लिये थे; इससे उनको अपनी तपस्यापर गर्व हो गया। तब आकाशवाणी हुई कि 'हे जाजलि! तुम तुलाधारके समान धार्मिक नहीं हो, वे तुम्हारी भाँति गर्व नहीं करते।' जाजलि काशी आये और उन्होंने देखा—तुलाधार फल, मूल, मसाले, घी आदि बेच रहे हैं। तुलाधारने स्वागत, सत्कार और प्रणाम करके जाजलिसे कहा—'आपने समुद्रके किनारे बड़ी तपस्या की है। आपके सिरकी जटाओंमें चिड़ियोंने बच्चे पैदा कर दिये, इससे आपको गर्व हो गया और अब आप आकाशवाणी सुनकर यहाँ पधारे हैं, बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ।' तुलाधारका ऐसा ज्ञान देखकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ। जाजलिने तुलाधारसे पूछा, तब उन्होंने धर्मका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया। जाजलिने तुलाधारके मुखसे धर्मका रहस्य सुनकर बड़ी शान्ति प्राप्त की। महाभारत, शान्तिपर्वमें २६१ से २६४ अध्यायतक यह सुन्दर कथा है।

† पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनुस्मृति १।९०)

सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सम्हालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको सन्तुष्ट रखना; अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओं-को कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मकम्' यानी सब वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है, इस कथनका क्या भाव है तथा यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—शूद्रके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, इस कारण उपर्युक्त सेवाके कार्योंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। ये कर्म उसके स्वभावके अनुकूल पड़ते हैं, अतएव इनके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनताका बोध नहीं होता। यहाँ 'अपि'का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे दूसरे वर्णोंके लिये उनके अनुरूप अन्य कर्म स्वाभाविक हैं; इसी तरह शूद्रके लिये भी सेवारूप कर्म स्वाभाविक है; साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि शूद्रका केवल एक सेवारूप कर्म ही कर्तव्य है* और वही उसके लिये स्वाभाविक है, अतएव उसके लिये इसका पालन करना बहुत ही सरल है।†

---

* एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनुस्मृति १। ९१)
'भगवान्‌ने शूद्रका केवल एक ही कर्म बताया है कि दोषदृष्टि छोड़कर पूर्वोक्त द्विज वर्णवालोंकी सेवा करना।'

† आजकल ऐसी बात कही जाती है कि वर्णविभाग उच्च वर्णके अधिकारारूढ़ लोगोंकी स्वार्थपूर्ण रचना है, परन्तु ध्यान देनेपर पता लगता है कि समाज-शरीरकी सुव्यवस्थाके लिये वर्णधर्म बहुत ही आवश्यक है और यह मनुष्यकी रचना है भी नहीं। वर्णधर्म भगवान्‌के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' (४। १३)

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरेहीद्वारा रचे हुए हैं। भारतके दिव्य दृष्टि-प्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भगवान्‌के द्वारा निर्मित इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति, शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य कल्याणप्रद और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्था-के लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं। परन्तु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये और समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये समाज—शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। चारों एक ही समाजशरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना है। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे बड़ा है। और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है—ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋग्वेद सं० १०। ९०। १२)

परन्तु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्म-विभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है। कोई

सम्बन्ध—इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ़ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्ति-सामञ्जस्य अपने-आप ही रहता है। स्वयं भगवान्‌ने और धर्मनिर्माता ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोप आदि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिक बलको दबाता है और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है, वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परन्तु वह धन-संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोग-विलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पद-गौरवको धूलके समान समझकर वह फल-मूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है और अपने शम, दम, तितिक्षा, क्षमा आदिसे समन्वित महान् तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्य ज्योतिसे सत्यका दर्शन कर उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण, साधु-स्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परन्तु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भंडार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षकमात्र है।

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है, किन्तु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे उसकी आवश्यकता ही है। क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और ज्ञानबल और बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असन्तोष नहीं है। और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है, क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक उन्हें भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

प्रश्न—इस वाक्यमें 'स्वे' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है तथा 'संसिद्धिम्' पद किस सिद्धिका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'स्वे' पदका दो बार प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस मनुष्यका जो स्वाभाविक कर्म है, उसीका अनुष्ठान करनेसे उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् ब्राह्मणको अपने शम-दमादि कर्मोंसे, क्षत्रियको शूर-वीरता, प्रजापालन और दानादि कर्मोंसे और वैश्यको कृषि आदि कर्मोंसे जो फल मिलता है, वही शूद्रको सेवाके कर्मोंसे मिल जाता है। इसलिये जिसका जो स्वाभाविक कर्म है, उसके लिये वही परम कल्याणप्रद है; कल्याणके लिये एक वर्णको दूसरे वर्णके कर्मोंके ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है।

'संसिद्धिम्' पद यहाँ अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिका या स्वर्गप्राप्तिका अथवा अणिमादि सिद्धियोंका वाचक नहीं है; यह उस परम सिद्धिका वाचक है, जिसे परमात्माकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति, शाश्वत पदकी प्राप्ति, परमपदकी प्राप्ति और निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहते हैं। इसके सिवा ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंमें ज्ञान और विज्ञान भी हैं, अतः उनका फल

अब रहा शूद्र, शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परन्तु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रक्खा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परन्तु इसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका, भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखाता है। न तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कर्म पारिश्रमिक देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब यही समझते हैं कि सब अपना-अपना स्वत्व ही पाते हैं, कोई किसीपर उपकार नहीं करता। परन्तु सभी एक-दूसरेकी सहायता करते हैं और सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति मानते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र सन्तुष्ट रहता है, चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता।

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर— ब्राह्मण धर्म-स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् और पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृङ्खला या नियम ही न रहेगा। सर्वथा उच्छृङ्खलता फैल जायगी। परन्तु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको गीतामें भगवान् क्षत्रियधर्मका उपदेश न करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है। जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये; क्योंकि वही उसका 'स्वधर्म' है। और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्म-पालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्म-का ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। खेदकी बात है, विभिन्न कारणोंसे आर्यजातिकी यह वर्ण-व्यवस्था इस समय शिथिल हो चली है, आज कोई भी वर्ण अपने धर्मपर आरूढ़ नहीं है। सभी मनमाने आचरण करनेपर उतर रहे हैं और इसका कुफल भी प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रहा है।

परम गतिके सिवा दूसरा मानना बन भी नहीं सकता।

प्रश्न—यहाँ 'नरः' पद किसका वाचक है और उसका प्रयोग करके 'अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है' यह कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ 'नरः' पद चारों वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णके प्रत्येक मनुष्यका वाचक है; अतएव इसका प्रयोग करके 'अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है'—इस कथनसे मनुष्यमात्रका मोक्षप्राप्तिमें अधिकार दिखलाया गया है। साथ ही यह भाव भी दिखलाया गया है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य-कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, परमात्माको लक्ष्य बनाकर सदा-सर्वदा वर्णाश्रमोचित कर्म करते-करते ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो सकता है (१८।५६)।

प्रश्न—अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करता हुआ परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वार्द्धमें यह बात कही गयी कि अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि कर्म तो मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, उनमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको कैसे पाता है। अतः उसका समाधान करनेके लिये भगवान्‌ने यह वाक्य कहा है। अभिप्राय यह है कि उन कर्मोंमें लगे रहकर परमपद-को प्राप्त कर लेनेका उपाय मैं तुम्हें अगले श्लोकमें स्पष्ट बतलाता हूँ, तुम सावधानीके साथ उसे सुनो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर-की अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है॥ ४६॥

प्रश्न—जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—अपने-अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेकी विधि बतलानेके लिये पहले इस कथनके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और शक्तिके सहित उनके सर्वव्यापी स्वरूपका लक्ष्य कराया गया है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यको अपने प्रत्येक कर्तव्य-कर्मका पालन करते समय इस बातका ध्यान रहना चाहिये कि सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके सहित यह समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान्‌से ही व्याप्त है, अर्थात् भगवान् ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं। इसलिये यह जगत् उन्हींका स्वरूप है। यह समस्त विश्व भगवान्‌से किस प्रकार व्याप्त है, यह बात नवें अध्यायके चौथे श्लोककी व्याख्यामें समझायी गयी है।

प्रश्न—अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा उस परमेश्वरकी पूजा करना क्या है?

उत्तर—भगवान् इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हीं-की रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूप-में प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का है; और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण भगवान् ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (५।२९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छा-का सर्वथा त्याग करके भगवान्‌की आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा जो समस्त जगत्-की सेवा करना है अर्थात् समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थका त्याग करके जो अपने कर्तव्य-का पालन करना है, यही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा भगवान्-की पूजा करना है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे अपने कर्मोंद्वारा [illegible] करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करके परमसिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है। अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूर-वीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्य-पालनद्वारा परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परमसिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई क्षत्रिय अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके ब्राह्मणोंकी भाँति अध्यापनादि शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य या शूद्र अपने कर्मोंको उच्च वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और अपनेसे ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे तो उचित है या नहीं? इसपर दूसरेके धर्मकी अपेक्षा स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर उसके त्यागका निषेध करते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता॥४७॥

प्रश्न—'स्वनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद किसका वाचक है और उससे गुणरहित स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस धर्मका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग किया जाय, उसको 'सु-अनुष्ठित' कहते हैं। परन्तु इस श्लोकमें स्वधर्मके साथ विगुण विशेषण दिया गया है, अतः परधर्मके साथ गुण-सम्पन्न विशेषणका अध्याहार करके यहाँ यह भाव समझना चाहिये कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किन्तु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—वैसे कर्मोंका वाचक यहाँ 'स्वनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद है। वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं, अतएव उपर्युक्त उस परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुण-रहित होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने पतिका सेवन करना ही कल्याणप्रद है—उसी प्रकार देखनेमें गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है।

प्रश्न—'स्वधर्मः' पद किसका वाचक है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है। अभिप्राय यह है कि झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है। इनको छोड़कर जिस वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है—वे तो उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार

बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं। तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वर-भक्ति, सत्यभाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं।

प्रश्न—'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'विगुणः' पद गुणोंकी कमीका द्योतक है। क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है। इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म तो वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं। इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है। उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यही भाव दिखलानेके लिये 'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'स्वभावनियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है और उसको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस वर्ण और आश्रममें स्थित मनुष्यके लिये उसके स्वभावके अनुसार जो कर्म शास्त्रद्वारा विहित हैं, वे ही उसके लिये 'स्वभावनियत' कर्म हैं। अतः उपर्युक्त स्वधर्मका ही वाचक यहाँ 'स्वभावनियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है। *उन कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता*—इस कथनका यहाँ यह भाव है कि उन कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषङ्गिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते, और दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्ति-च्छेदन आदि पाप लगते हैं। इसलिये गुणरहित होनेपर भी स्वधर्म गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं॥ ४८॥

प्रश्न—'सहजम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मोंको नहीं त्यागना चाहिये, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं। अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींका वाचक यहाँ 'सहजम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है।

दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग न करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो वे भी [illegible] होनेके कारण दोषयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग नहीं करना चाहिये, अर्थात् उनका आचरण करना चाहिये; क्योंकि उनके करनेसे मनुष्य पापका भागी नहीं होता बल्कि उलटा उनका त्याग करनेसे पापका भागी हो सकता है।

प्रश्न—'हि' अव्ययका प्रयोग करके सभी कर्मोंको धूएँसे अग्निकी भाँति दोषसे युक्त बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'हि' पद यहाँ हेतुके अर्थमें है, इसका प्रयोग करके समस्त कर्मोंको धूएँसे अग्निकी भाँति दोषसे [illegible] बतलानेका यहाँ यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार [illegible] ओतप्रोत रहता है, धूआँ अग्निसे सर्वथा [illegible] सकता [illegible] उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे [illegible] मात्र किसी-न-किसी प्रकारसे [illegible]

हिंसा हो ही जाती है, क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है। इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (३ । ५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा। इसीलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्याग और संन्यासके तत्त्वको समझानेके लिये भगवान्‌ने चौथेसे बारहवें श्लोकतक त्यागका विषय कहा और तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया। फिर इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्यकर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया। किन्तु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्याग कर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये? अतः यहाँ उपासनाके सहित विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र असक्तबुद्धिः', 'विगतस्पृहः' और 'जितात्मा'—इन तीनों विशेषणोंका अलग-अलग क्या अर्थ है और यहाँ इनका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन, बुद्धिकी कहीं किञ्चिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रहती है—वह सर्वत्र 'असक्तबुद्धिः' है। जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी परवा नहीं रही है, उसे 'विगतस्पृहः' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जितात्मा' कहते हैं। यहाँ संन्यासयोगके अधिकारीका निरूपण करनेके लिये इन तीनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है।

प्रश्न—यहाँ 'संन्यासेन' पद किस साधनका वाचक है और 'परमाम्' विशेषणके सहित 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' पद किस सिद्धिका वाचक है तथा संन्यासके द्वारा उसे प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—'संन्यासेन' पद यहाँ ज्ञानयोगका वाचक है, इसीको सांख्ययोग भी कहते हैं। इसका स्वरूप भगवान्‌ने इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक बतलाया है। इस साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाना है, उसका वाचक यहाँ 'परमाम्' विशेषणके सहित 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' पद है तथा उपर्युक्त सांख्ययोगके द्वारा जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त कर लेना है, वह संन्यासके द्वारा इस सिद्धिको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह बात कही गयी कि संन्यासके द्वारा मनुष्य परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है; इस

यह जिज्ञासा होती है कि उस संन्यास (सांख्ययोग)का क्या स्वरूप है और उसके द्वारा मनुष्य किस क्रमसे सिद्धिको प्राप्त होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ? अतः इन सब बातोंको बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए भगवान् अर्जुनको सुननेके लिये सावधान करते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥ ५० ॥

प्रश्न—'परा' विशेषणके सहित यहाँ 'निष्ठा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको पराभक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, उसका वाचक यहाँ 'परा' विशेषणके सहित 'निष्ठा' पद है । ज्ञानयोगके साधनसमुदायको ज्ञाननिष्ठा कहते हैं और उन साधनोंके फलरूप तत्त्वज्ञानको ज्ञानकी 'परा निष्ठा' कहते हैं ।

प्रश्न—यहाँ 'सिद्धिम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो पूर्वश्लोकमें नैष्कर्म्य सिद्धिके नामसे कही गयी है । यहाँ जो ज्ञानकी परा निष्ठा बतायी गयी है तथा चौवनवें श्लोकमें जिसका परा भक्तिके नामसे वर्णन आया है उसीका वाचक यहाँ 'सिद्धिम्' पद है ।

प्रश्न—'यथा' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—शुद्ध अन्तःकरणवाला अधिकारी पुरुष जिस विधिसे ज्ञानकी परा निष्ठाको प्राप्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, उस विधिका अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित ज्ञानयोगके प्रकारका वाचक यहाँ 'यथा' पद है ।

प्रश्न—उपर्युक्त सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषको ब्रह्मकी प्राप्ति कब होती है ?

उत्तर—सिद्धि प्राप्त होनेके बाद ब्रह्मकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता, उसी क्षण प्राप्ति हो जाती है ।

प्रश्न—'ब्रह्म' पद किसका वाचक है और उसको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है और तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है ।

प्रश्न—'तथा' पद किसका वाचक है और उसे तू मुझसे संक्षेपमें जान, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'यथा' पदसे विधिका लक्ष्य कराया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'तथा' पद है । एवं उसे तू मुझसे संक्षेपमें ही जान—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उसका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं करके यह विषय मैं तुम्हें संक्षेपमें ही बतलाऊँगा । इसलिये सावधानीके साथ उसे सुनो, नहीं तो उसे समझ नहीं सकोगे ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें की हुई प्रस्तावनाके अनुसार अब तीन श्लोकोंमें अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित ज्ञानयोगका वर्णन करते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥ ५१-५२-५३ ॥

प्रश्न—'विशुद्ध बुद्धि' किसे कहते हैं और उससे युक्त होना क्या है ?

उत्तर—पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरण-को 'विशुद्ध बुद्धि' कहते हैं और जिसका अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध हो गया हो, वह विशुद्ध बुद्धिसे युक्त कहलाता है।

प्रश्न—'लघ्वाशी' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (१७ । ८) तथा अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है—ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (६ । १७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं ।

प्रश्न—शब्द आदि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना क्या है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंके जितने भी सांसारिक भोग हैं, उन सबका त्याग करके—अर्थात् उनको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय न लगाकर—निरन्तर साधन करने-के लिये, जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्वच्छ हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो—ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़-की गुफा आदि स्थानोंमें निवास करना ही शब्दादि विषयों-का त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना है।

प्रश्न—सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करना क्या है तथा ऐसा करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेना क्या है ?

उत्तर—इसी अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस अटल धारणशक्तिके द्वारा शुद्ध आग्रह-से अन्तःकरणको सांसारिक विषयोंके चिन्तनसे रहित बनाकर इन्द्रियोंको सांसारिक भोगोंमें प्रवृत्त न होने देना ही सात्त्विक धारणासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करना है । और इस प्रकारके संयमसे जो मन, इन्द्रिय और शरीरको अपने अधीन बना लेना है—उनमें इच्छाचारिता-का और बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना है—यही मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेना है।

प्रश्न—राग और द्वेष—इन दोनोंका सर्वथा नाश करके भलीभाँति वैराग्यका आश्रय लेना क्या है ?

उत्तर—इन्द्रियोंके प्रत्येक भोगमें राग और द्वेष—ये दोनों छिपे रहते हैं, ये साधकके महान् शत्रु हैं (३।३४)। अतएव इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणी-में तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटनामें किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना है; और इस प्रकार राग-द्वेषका नाश करके जो निःस्पृहभावसे निरन्तर वैराग्यमें मग्न रहना है, यही राग-द्वेषका नाश करके भलीभाँति वैराग्यका आश्रय लेना है।

प्रश्न—अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह-का त्याग करना तथा इन सबका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहना क्या है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है—उसका नाम अहङ्कार है; इसीके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है । अतएव इस देहाभिमानका सर्वथा त्याग कर देना अहङ्कारका त्याग कर देना है। अन्यायपूर्वक बलात्कारसे जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है; इस प्रकारके दुःसाहसका सर्वथा त्याग कर देना बलका त्याग कर देना है । धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदिके कारण होनेवाला जो गर्व है—उसका नाम दर्प यानी

घमंड है; इस भावका सर्वथा त्याग कर देना घमंडका त्याग कर देना है। इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है, इसका सर्वथा त्याग कर देना कामका त्याग कर देना है। अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवाले-पर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम क्रोध है; इसका सर्वथा त्याग कर देना, किसी भी अवस्थामें ऐसे भावको उत्पन्न न होने देना क्रोधका त्याग कर देना है। सांसारिक भोगोंकी सामग्रीका नाम 'परिग्रह' है, अतएव उन सबका सर्वथा परित्याग कर देना ही मुख्यतया परिग्रहका त्याग है परन्तु प्रकारान्तरसे सांसारिक भोगोंको भोगनेके उद्देश्यसे किसी भी वस्तुका संग्रह न करना भी परिग्रहका त्याग कर देना ही है।

इस प्रकार इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (६। २५) तथा उठते-बैठने, सोने-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना ध्यानयोगके परायण रहना है।

प्रश्न—'ममतासे रहित होना' क्या है?

उत्तर—मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना; किसी भी वस्तु, क्रिया या प्राणीमें 'अमुक पदार्थ या प्राणी मेरा है और अमुक पराया है' इस प्रकारके भेदभावको न रहने देना 'ममतासे रहित होना' है।

प्रश्न—'शान्तः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है?

उत्तर—उपर्युक्त साधनोंके कारण जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और इसीसे जिसका अन्तः-करण अटल शान्ति और शुद्ध, सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है—'शान्तः' पद ऐसे उपरत मनुष्यका वाचक है।

प्रश्न—उपर्युक्त विशेषणोंका वर्णन करके ऐसा पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है—यह कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला मनुष्य इन साधनोंके [illegible] पर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेका अधिकारी बन [illegible] तत्काल ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, [illegible] में आत्मा और परमात्माका भेदभाव सर्वथा [illegible] सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ' ऐसी [illegible] समय वह समस्त जगत्‌में [illegible] जगत्‌को अपनेमें [illegible]

के चौबीसवें श्लोकमें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है।

प्रश्न—'प्रसन्नात्मा' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्न रहता हो—उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं; इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि ब्रह्म-भावको प्राप्त हुए पुरुषकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता न रहनेके कारण उसका मन निरन्तर प्रसन्न रहता है, कभी किसी भी कारणसे क्षुब्ध नहीं होता।

प्रश्न—ब्रह्मभूत योगी न तो शोक करता है और न आकाङ्क्षा ही करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे ब्रह्मभूत योगीका लक्षण किया गया है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्न प्रतीति, रमणीय-बुद्धि और ममता नहीं रहती। अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता। और वह पूर्णकाम हो जाता है, क्योंकि किसी भी वस्तुमें उसकी ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि नहीं रहती, इस कारण वह कुछ भी नहीं चाहता।

प्रश्न—'सर्वेषु भूतेषु समः' इस विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इस विशेषणसे उस ब्रह्मभूत योगीका समस्त प्राणियोंमें समभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह किसी भी प्राणीको अपनेसे भिन्न नहीं समझता—इस कारण उसका किसीमें भी विषमभाव नहीं रहता, सबमें सम-भाव हो जाता है; यही भाव छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें 'सर्वत्र समदर्शनः' पदसे दिखलाया गया है।

प्रश्न—'पराम्' विशेषणके सहित यहाँ 'मद्भक्तिम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'पराम्' विशेषणके सहित 'मद्भक्तिम्' पद है; क्योंकि वह परमात्माके यथार्थ स्वरूपका साक्षात् कराकर उनमें अभिन्नभावसे प्रविष्ट करा देता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्रह्मभूत योगीको परा भक्तिकी प्राप्ति बतलाकर अब उसका फल बतलाते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है॥ ५५॥

प्रश्न—'भक्त्या' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—पूर्वके श्लोकमें जिसका 'परा' विशेषणके सहित 'मद्भक्तिम्' पदसे और पचासवें श्लोकमें ज्ञानकी परानिष्ठाके नामसे वर्णन किया गया है, उसी तत्त्वज्ञानका वाचक यहाँ 'भक्त्या' पद है। यही ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और ध्यानयोग आदि समस्त साधनोंका फल है; इसके द्वारा ही सब साधकोंको परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होकर उनकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार समस्त साधनोंके फलकी एकता करनेके लिये ही यहाँ ज्ञानयोगके प्रकरणमें 'भक्त्या' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—इस भक्तिके द्वारा योगी मुझको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि इस परा भक्ति-रूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्व-ज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है; और सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता। अतएव फिर उसकी दृष्टिमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं रहता। इस प्रकार ज्ञान-योगके साधनसे प्राप्त होनेवाले निर्गुण-निराकार ब्रह्मके साथ

सगुण ब्रह्मकी एकता दिखलानेके लिये यहाँ ज्ञानयोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने ब्रह्मके स्थानमें 'माम्' पदका प्रयोग किया है ।

प्रश्न—'ततः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'ततः' पद हेतुवाचक है । परमात्माके स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—उसमें कालका व्यवधान नहीं होता, इस कारण यहाँ 'ततः' पदका अर्थ पश्चात् नहीं किया गया है । अतः जिसका प्रकरण हो, उसी हेतुका वाचक 'ततः' पद होता है; तथा यहाँ 'ज्ञात्वा' पदके साथ उसके हेतुका अनुवाद करनेकी आवश्यकता भी थी—इस कारण 'ततः' पदका अर्थ पूर्वार्द्धमें वर्णित 'परा भक्ति' समझना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ 'तदनन्तरम्' पदका अर्थ तत्काल कैसे किया गया ? 'ज्ञात्वा' पदके साथ 'तदनन्तरम्' पदका प्रयोग किया गया है, इससे तो 'विशते' क्रियाका यह भाव लेना चाहिये कि पहले मनुष्य भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थ जानता है और उसके बाद उसमें प्रविष्ट होता है ।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है; किन्तु 'ज्ञात्वा' पदसे जो कालके व्यवधानकी आशङ्का होती थी, उसे दूर करनेके लिये ही यहाँ 'तदनन्तरम्' पदका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं । भगवान् सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिये यह भाव समझानेके लिये ही यहाँ 'तदनन्तरम्' पदका अर्थ 'तत्काल' किया गया है; क्योंकि कालान्तरका बोध तो 'ज्ञात्वा' पदसे ही हो जाता है, उसके लिये 'तदनन्तरम्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं थी।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किन्तु इस वर्णनमें भगवान्‌ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है, अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'मद्व्यपाश्रयः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्याग कर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है; जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता, सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है तथा जो कुछ भी कर्म करता है, भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये, अपनेको केवल निमित्तमात्र समझकर, उन्हींकी प्रेरणा और शक्तिसे, जैसे भगवान् कराते हैं वैसे ही करता है, एवं अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझता है—ऐसे भक्तिप्रधान कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'मद्व्यपाश्रयः' पद है ।

प्रश्न—'सर्वकर्माणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है ?

उत्तर—अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियत कर्म' और 'स्वभावज कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुकूल

समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अपि' अव्ययका प्रयोग करके यहाँ भक्ति-प्रधान कर्मयोगीकी महिमा की गयी है और कर्मयोगकी सुगमता दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि सांख्ययोगी समस्त परिग्रहका और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

प्रश्न—'शाश्वतम्' और 'अव्ययम्' विशेषणोंके सहित 'पदम्' पद किसका वाचक है और भक्तिप्रधान कर्मयोगीका भगवान्की कृपासे उसको प्राप्त हो जाना क्या है ?

उत्तर—जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता—उस सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंके सहित 'पदम्' पद है। वही परम प्राप्य है, यह भाव दिखलानेके लिये उसे 'पद' के नामसे कहा गया है। पैंतालीसवें श्लोकमें जिसे 'संसिद्धि' की प्राप्ति, छियालीसवेंमें 'सिद्धि' की प्राप्ति और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वरकी प्राप्ति कहा गया है, उसीको यहाँ 'शाश्वतम्' और 'अव्ययम्' विशेषणोंके सहित 'पदम्' पदवाच्य भगवान्की प्राप्ति कहा गया है। अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न नामोंसे एक ही तत्त्वका वर्णन किया गया है। उपर्युक्त भक्तिप्रधान कर्मयोगीके भावसे भावित और प्रसन्न होकर, उसपर अतिशय अनुग्रह करके भगवान् स्वयं ही उसे परा भक्तिरूप बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं (१० । १०); उस बुद्धियोगके द्वारा भगवान्के यथार्थ स्वरूपको जानकर जो उस भक्तका भगवान्में तन्मय हो जाना है—सच्चिदानन्दघन परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाना है—यही उसका उपर्युक्त परमपदको प्राप्त हो जाना है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भक्तिप्रधान कर्मयोगीकी महिमाका वर्णन करके अब अर्जुनको वैसा बननेके लिये आज्ञा देते हैं*—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

प्रश्न—समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्में अर्पण करना क्या है ?

उत्तर—अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्में अर्पण कर देना है।

प्रश्न—'बुद्धियोगम्' पद किसका वाचक है और उसका अवलम्बन करना क्या है ?

उत्तर—सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, हानि और लाभमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है—उसका वाचक 'बुद्धियोगम्' पद है। इसलिये जो कुछ भी होता है, सब भगवान्की ही इच्छा और इशारेसे होता है—ऐसा समझकर समस्त वस्तुओंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त घटनाओंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विषय भावोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा समभावसे युक्त रहना ही उपर्युक्त बुद्धियोगका अवलम्बन करना है।

प्रश्न—भगवान्के परायण होना क्या है ?

उत्तर—भगवान्को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके

विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्‌के परायण होना है।

प्रश्न—निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना क्या है ?

उत्तर—मन-बुद्धिको अटल भावसे भगवान्‌में लगा देना; भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना है। नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें और यहाँ पैंसठवें श्लोकमें 'मन्मना भव' से भी यही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान् अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगी बननेकी आज्ञा देकर अब उस आज्ञाके पालन करनेका फल बतलाते हुए उसे न माननेमें बहुत बड़ी हानि दिखलाते हैं*—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहङ्कारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

प्रश्न—मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जायगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि पूर्व श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके और मेरे परायण होकर निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् सङ्कटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

प्रश्न—'अथ' और 'चेत्'—इन दोनों अव्ययोंका क्या भाव है और 'अहङ्कारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा'—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अथ' पक्षान्तरका बोधक है और 'चेत्' 'यदि' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों अव्ययोंके सहित उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इस कारण अवश्य ही मेरी आज्ञाका पालन करोगे; तथापि तुम्हें सावधान करनेके लिये मैं बतला देता हूँ कि जिस प्रकार मेरी आज्ञाका पालन करनेसे महान् लाभ होता है, उसी प्रकार उसके त्यागसे महती हानि भी होती है। इसलिये यदि तुम अहङ्कारके वशमें होकर अर्थात् अपनेको बुद्धिमान् या समर्थ समझकर मेरे वचनोंको न सुनोगे—मेरी आज्ञाका पालन न करके अपनी मनमानी करोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे; फिर तुम्हें इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी वास्तविक सुख और शान्ति नहीं मिलेगी और तुम अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर वर्तमान स्थितिसे गिर जाओगे।

प्रश्न—भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (४।३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (९।३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इस विरोधका क्या समाधान है ?

उत्तर—भगवान्‌ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्‌के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्‌की बात न सुनें, उनकी आज्ञा पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किन्तु इतनेपर भी यदि अहङ्कारके वशमें होकर वे भगवान्‌की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्‌के भक्त नहीं रह सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत

समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'अपि' अव्ययका प्रयोग करके यहाँ भक्ति-प्रधान कर्मयोगीकी महिमा की गयी है और कर्मयोगकी सुगमता दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि सांख्ययोगी समस्त परिग्रहका और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

प्रश्न—'शाश्वतम्' और 'अव्ययम्' विशेषणोंके सहित 'पदम्' पद किसका वाचक है और भक्तिप्रधान कर्मयोगीका भगवान्‌की कृपासे उसको प्राप्त हो जाना क्या है?

उत्तर—जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता—उस सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंके सहित 'पदम्' पद है। वही परम प्राप्य है, यह भाव दिखलानेके लिये उसे 'पद' के नामसे कहा गया है। पैंतालीसवें श्लोकमें जिसे 'संसिद्धि' की प्राप्ति, छियालीसवेंमें 'सिद्धि' की प्राप्ति और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वरकी प्राप्ति कहा गया है, उसीको यहाँ 'शाश्वतम्' और 'अव्ययम्' विशेषणोंके सहित 'पदम्' पदवाच्य भगवान्‌की प्राप्ति कहा गया है। अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न नामोंसे एक ही तत्त्वका वर्णन किया गया है। उपर्युक्त भक्तिप्रधान कर्मयोगीके भावसे भावित और प्रसन्न होकर, उसपर अतिशय अनुग्रह करके भगवान् स्वयं ही उसे परा भक्तिरूप बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं (१०। १०); उस बुद्धियोगके द्वारा भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जानकर जो उस भक्तका भगवान्‌में तन्मय हो जाना है—सच्चिदानन्दघन परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाना है—यही उसका उपर्युक्त परमपदको प्राप्त हो जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तिप्रधान कर्मयोगीकी महिमाका वर्णन करके अब अर्जुनको वैसा बननेके लिये आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो॥ ५७॥

प्रश्न—समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्‌में अर्पण करना क्या है?

उत्तर—अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्‌की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्‌में अर्पण कर देना है।

प्रश्न—'बुद्धियोगम्' पद किसका वाचक है और उसका अवलम्बन करना क्या है?

उत्तर—सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, हानि और लाभमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है—उसका वाचक 'बुद्धियोगम्' पद है। इसलिये जो कुछ भी होता है, सब भगवान्‌की ही इच्छा और इशारेसे होता है—ऐसा समझकर समस्त वस्तुओंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त घटनाओंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विषम भावोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा समभावसे युक्त रहना ही उपर्युक्त बुद्धियोगका अवलम्बन करना है।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके

विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्‌के परायण होना है।

प्रश्न—निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना क्या है?

उत्तर—मन-बुद्धिको अटल भावसे भगवान्‌में लगा देना; भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना है। नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें और यहाँ पैंसठवें श्लोकमें 'मन्मना भव' से भी यही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगी बननेकी आज्ञा देकर अब उस आज्ञाके पालन करनेका फल बतलाते हुए उसे न माननेमें बहुत बड़ी हानि दिखलाते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहङ्कारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥५८॥

प्रश्न—मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जायगा, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि पूर्व श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके और मेरे परायण होकर निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् सङ्कटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

प्रश्न—'अथ' और 'चेत्'—इन दोनों अव्ययोंका क्या भाव है और 'अहङ्कारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा'—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अथ' पक्षान्तरका बोधक है और 'चेत्' 'यदि' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों अव्ययोंके सहित उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इस कारण अवश्य ही मेरी आज्ञाका पालन करोगे; तथापि तुम्हें सावधान करनेके लिये मैं बतला देता हूँ कि जिस प्रकार मेरी आज्ञाका पालन करनेसे महान् लाभ होता है, उसी प्रकार उसके त्यागसे महती हानि भी होती है। इसलिये यदि तुम अहङ्कारके वशमें होकर अर्थात् अपनेको बुद्धिमान् या समर्थ समझकर मेरे वचनोंको न सुनोगे—मेरी आज्ञाका पालन न करके अपनी मनमानी करोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे; फिर तुम्हें इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी वास्तविक सुख और शान्ति नहीं मिलेगी और तुम अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर वर्तमान स्थितिसे गिर जाओगे।

प्रश्न—भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (४।३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (९।३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इस विरोधका क्या समाधान है?

उत्तर—भगवान्‌ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्‌के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्‌की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किन्तु इतनेपर भी यदि अहङ्कारके वशमें होकर वे भगवान्‌की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्‌के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जो अहङ्कारवश भगवान्‌की आज्ञाको न माननेसे नष्ट हो जानेकी बात कही है, उसीकी पुष्टि करनेके लिये अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अर्जुनकी मान्यतामें दोष दिखलाते हैं—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

प्रश्न—जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पहले भगवान्‌के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (२ । ३) जो अर्जुनने भगवान्‌से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (२ । ९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान्‌ने यहाँ उपर्युक्त वाक्य कहा है। अभिप्राय यह है कि तुम जो यह मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहङ्कारमात्र है; युद्ध न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है । अतएव इस प्रकार अज्ञानजनित अहङ्कारके वशीभूत होकर अपनेको पण्डित, समर्थ और स्वतन्त्र समझना एवं उसके बलपर यह निश्चय कर लेना कि अमुक कार्य मैं इस प्रकार सिद्ध कर लूँगा और अमुक कार्य नहीं करूँगा, बहुत ही अनुचित है।

प्रश्न—तेरा यह निश्चय मिथ्या है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि तुम्हारी यह मान्यता टिक न सकेगी; अर्थात् तुम बिना युद्ध किये रह न सकोगे; क्योंकि तुम स्वतन्त्र नहीं हो, प्रकृतिके अधीन हो ।

प्रश्न—यहाँ 'प्रकृतिः' पद किसका वाचक है और तेरी प्रकृति तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगी, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके समुदायका वाचक यहाँ 'प्रकृतिः' पद है; इसीको स्वभाव भी कहते हैं । इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न-भिन्न कर्मोंके अधिकारीसमुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है । अतएव यहाँ उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा । योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह नहीं सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा । यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ॥ ६० ॥

प्रश्न—'कौन्तेय' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ संदेशा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था । अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा ।

प्रश्न—जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि तुम क्षत्रिय

हो, युद्ध करना तुम्हारा स्वाभाविक धर्म है; अतएव वह तुम्हारे लिये पापकर्म नहीं है। इसलिये उसे न करनेकी इच्छा करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इसपर भी जो तुम न्यायसे प्राप्त युद्धरूप सहजकर्मको करना नहीं चाहते हो, इसमें केवलमात्र तुम्हारा अविवेक ही हेतु है; दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है।

प्रश्न—उसको भी तू अपने स्वाभाविक कर्मोंसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध करना तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है—इस कारण तुम उससे बँधे हुए हो अर्थात् उससे तुम्हारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी वह तुमको बलात्कारसे अपनी ओर आकर्षित कर लेगा और तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर उसे करना ही पड़ेगा। इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार अर्थात् सत्तावनवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्यु-रूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे।

जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता वरं अपना नाश कर लेता है; और जो किसी नौका या काष्ठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता वरं उसमें अधिक फँसता जाता है; और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें कर्म करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है? इसलिये भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देनेका क्या अभिप्राय है और ईश्वरको समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे रेलगाड़ी आदि किन्हीं यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—इसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है।

ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि [illegible] यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तः-करणमें स्थित है और उनके हृदयमें स्थित रहते हुए ही उनके कर्मानुसार उनको भ्रमण कराते रहते हैं। इसलिये ईश्वरके लिये [illegible] दूर नहीं है; क्योंकि वे [illegible] हैं।

[illegible]

[illegible]

उन सबको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्‌का उन प्राणियोंको अपनी मायाद्वारा भ्रमण कराना है।

प्रश्न—कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि परतन्त्र है तो किस रूपमें है तथा किसके परतन्त्र है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके? क्योंकि कहीं तो मनुष्यका कर्मोंमें अधिकार बतलाकर (२ । ४७) उसे स्वतन्त्र, कहीं प्रकृतिके अधीन (३ । ३३) और कहीं ईश्वरके अधीन बतलाया है (१० । ८) । इस अध्यायमें भी उनसठवें और साठवें श्लोकमें प्रकृतिके और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, इसलिये इसका स्पष्टीकरण होना चाहिये।

उत्तर—कर्म करने और न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (३ । ५)। मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र बतलाना नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि उससे कर्मोंके त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है। अब रह गया यह प्रश्न कि मनुष्य किसके अधीन होकर कार्य करता है, तो इसके सम्बन्धमें यह बात है कि मनुष्यको प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं। क्योंकि स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही उन जीवोंकी प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके ही अधीन बतलाना है। दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है।

रही यह बात कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और उसके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, किन्तु उन कर्मोंके करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है—उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्यकर्मोंमें लगानेके लिये है। इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है। अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह बात सिद्ध की गयी कि मनुष्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेमें स्वतन्त्र नहीं है, उसे अपने स्वभावके वश होकर स्वाभाविक कर्मोंमें प्रवृत्त होना ही पड़ता है, क्योंकि सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर स्वयं सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उनकी प्रकृतिके अनुसार उनको भ्रमण कराते हैं और उनकी प्रेरणाका प्रतिवाद करना मनुष्यके लिये अशक्य है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि यदि ऐसी ही बात है तो फिर कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इसपर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हुए कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा॥ ६२॥

प्रश्न—'तम्' पद किसका वाचक है और सब प्रकारसे उसकी शरणमें जाना क्या है ?

उत्तर—जिन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, परमेश्वरको पूर्वश्लोकमें समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित बतलाया गया है, उन्हींका वाचक यहाँ 'तम्' पद है और अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको, प्राणोंको और समस्त धन, जन आदिको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरणमें चले जाना है ।

अर्थात् भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्‌का समझकर और भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्‌की आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही सन्तुष्ट रहना; भगवान्‌के किसी भी विधानमें कभी किञ्चिन्मात्र भी असन्तुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर श्रवण, चिन्तन और कथन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं ।

प्रश्न—परमेश्वरकी दयासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है । इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया । अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर ॥ ६३ ॥

प्रश्न—'इति' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'इति' पद यहाँ उपदेशकी समाप्तिका बोधक है तथा दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे लेकर यहाँतक भगवान्‌ने जो कुछ कहा है, उस सबका लक्ष्य करानेवाला है ।

प्रश्न—'ज्ञानम्' पद यहाँ किस ज्ञानका वाचक है और उसके साथ 'गुह्यात् गुह्यतरम्' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञानम्' पद है; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्‌का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम ज्ञान रक्खा गया है । संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं—उन सबमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसी लिये इस उपदेशको [illegible] समझानेके लिये और यह बात समझने

अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, यहाँ 'ज्ञानम्' पदके साथ 'गुह्यात् गुह्यतरम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'मया', 'ते' और 'आख्यातम्' इन पदोंका क्या भाव है ?

उत्तर—'मया' पदसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मुझ परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपका तत्त्व जितना और जैसा मैं कह सकता हूँ वैसा दूसरा कोई नहीं कह सकता; इसलिये यह मेरे द्वारा कहा हुआ ज्ञान बहुत ही महत्त्वकी वस्तु है। तथा 'ते' पदसे यह भाव दिखलाया है कि तुम्हें इसका अधिकारी समझकर तुम्हारे हितके लिये मैंने यह उपदेश सुनाया है और 'आख्यातम्' पदसे यह भाव दिखलाया है कि मुझे जो कुछ कहना था, वह सब मैं कह चुका, अब और कुछ कहना बाकी नहीं रहा है।

प्रश्न—इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचार-कर जैसे चाहता है वैसे ही कर, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्‌ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (२।१८, ३७; ३।३०; ८।७; ११।३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इसके बाद अठारहवें अध्यायमें उसकी जिज्ञासाके अनुसार संन्यास और त्याग (योग) का तत्त्व भलीभाँति समझानेके अनन्तर पुनः छप्पनवें और सत्तावनवें श्लोकोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमाका वर्णन करके अर्जुनको अपनी शरणमें आनेके लिये कहा। इतनेपर भी अर्जुनकी ओरसे कोई स्वीकृतिकी बात नहीं कहे जानेपर भगवान्‌ने पुनः उस आज्ञाके पालन करनेका महान् फल दिखलाया और उसे न माननेसे बहुत बड़ी हानि भी बतलायी। इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्य-से पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें यह कहा कि 'यथेच्छसि तथा कुरु' अर्थात् उपर्युक्त प्रकारसे विचार करनेके उपरान्त तुम जैसा ठीक समझो, वैसा ही करो। अभिप्राय यह है कि मैंने जो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो वही करो।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ समझकर खिन्नचित्त और चकित-से हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर दया करके उसे समस्त गीताके उपदेशका सार बतलानेका विचार करके कहने लगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा॥ ६४॥

प्रश्न—'वचः'के साथ 'सर्वगुह्यतमम्' और 'परमम्' इन दोनों विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्‌ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है। उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्‌ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है,

वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं। इसीलिये भगवान्‌ने नवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'गुह्यतमम्' और दूसरेमें 'राजगुह्यम्' विशेषणका प्रयोग किया है; क्योंकि उस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और ऐश्वर्यका भलीभाँति वर्णन करके अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है। इसी तरह दसवें अध्यायमें पुन: उसी प्रकार अपनी शरणागतिका विषय आरम्भ करते समय पहले श्लोकमें 'वच:' के साथ 'परमम्' विशेषण दिया है अतएव यहाँ भगवान् 'वच:' पदके साथ 'सर्वगुह्यतमम्' और 'परमम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाते हैं कि मेरे कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखनेयोग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें कहूँगा।

प्रश्न—उस उपदेशको पुन: सुननेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—उसे पुन: सुननेके लिये कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि अब जो बात मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ, उसे पहले भी कह चुका हूँ (९। ३४; १२। ६-७; १८। ५६-५७); किन्तु तुम उसे विशेषरूपसे धारण नहीं कर सके, अतएव उस अत्यन्त महत्त्वके उपदेशको समस्त उपदेशमेंसे अलग करके मैं तुम्हें फिर बतलाता हूँ। तुम उसे सावधानीके साथ सुनकर धारण करो।

प्रश्न—'दृढम्' के सहित 'इष्ट:' पदसे क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—तिरसठवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रखा; इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि भगवान् ऐसा क्यों कह रहे हैं;—क्या मेरा भगवान्‌पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ। अत: 'दृढम्' और 'इष्ट:' इन दोनों पदोंसे भगवान् अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अत: तुम किसी तरहका शोक मत करो।

प्रश्न—'तत:' अव्ययके प्रयोगका तथा मैं तुझसे परम हितकी बात कहूँगा, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'तत:' पद यहाँ हेतुवाचक है, इसका प्रयोग करके और अर्जुनको उसके हितका वचन कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे घनिष्ठ प्रेमी हो; इसीलिये मैं तुमसे किसी प्रकारका छिपाव न रखकर गुप्तसे भी अति गुप्त बात तुम्हारे हितके लिये, तुम्हारे सामने प्रकट करूँगा और मैं जो कुछ भी कहूँगा वह तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकी बात होगी।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जिस सर्व गुह्यतम बातको कहनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की, उसे अब कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है॥ ६५॥

प्रश्न—भगवान्‌में मनवाला होना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्‌में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्‌की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्‌में मनवाला' होना है। इसकी विशेष व्याख्या नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें की गयी है।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त बनना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌को ही एकमात्र अपना भर्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किंचिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना

सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

प्रश्न—भगवान्‌का पूजन करना क्या है ?

उत्तर—नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धाभक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना; मनसे भगवान्‌का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब भगवान्‌की पूजा करनेके अन्तर्गत हैं। इसका वर्णन नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतककी व्याख्यामें तथा चौंतीसवें श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है और उसको नमस्कार करना क्या है ?

उत्तर—जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक यहाँ 'माम्' पद है।

उनके किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है। इसका भी विस्तार नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें देखना चाहिये।

प्रश्न—ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेके उपरान्त तू अवश्य ही मुझ सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको प्राप्त हो जायगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है, यह बात भी नवें अध्यायके अन्तिम श्लोककी व्याख्यामें बतलायी गयी है।

प्रश्न—मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन भगवान्‌के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ करानेके लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त वाक्य कहा है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला भक्त मुझे प्राप्त हो जाता है, इस बातपर दृढ विश्वास करके मनुष्यको वैसा बननेके लिये अधिक-से-अधिक चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—तू मेरा प्रिय है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे प्रेममय भगवान्‌ने उपर्युक्त प्रतिज्ञा करनेका हेतु बतलाया है। अभिप्राय यह है कि तुम मुझको बहुत ही प्यारे हो; तुम्हारे प्रति मेरा जो प्रेम है, उस प्रेमसे ही बाध्य होकर तुम्हारा विश्वास दृढ करानेके लिये मैं तुमसे यह प्रतिज्ञा करता हूँ; नहीं तो इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी।*

---

* जिन महात्मा अर्जुनके लिये भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे गीताका दिव्य उपदेश किया, उनकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है। महाभारत, उद्योगपर्वमें कहा है—

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः। नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥ (४९।२०)

'ये श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं और अर्जुन नर कहे गये हैं; ये नारायण और नर दो रूपोंमें प्रकट एक ही सत्त्व हैं।'

...से यह दिखलाना है कि अर्जुनके प्रति भगवान्‌का कितना प्रेम था। इसीसे पता लग जायगा कि अर्जुन भगवान्‌से कितना प्रेम करते थे।

...विहार, राजदरबार, यज्ञानुष्ठान आदिमें भी भगवान् श्रीकृष्ण प्रायः अर्जुनके साथ रहते थे। उनका

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌ने जो चार साधन बतलाये हैं, उन चारोंके करनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है या इनमेंसे एक-एकसे भी हो जाती है ?

उत्तर—जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परन्तु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो

परस्पर इतना मेल था कि अन्तःपुरतकमें पवित्र और विशुद्ध प्रेमके सङ्कोचरहित हृदय देखे जाते थे। सञ्जयने पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर धृतराष्ट्रसे कहा था—'श्रीकृष्ण-अर्जुनका मैंने विलक्षण प्रेम देखा है; मैं उन दोनोंसे बातें करनेके लिये बड़े ही विनीत भावसे उनके अन्तःपुरमें गया। मैंने जाकर देखा वे दोनों महात्मा उत्तम वस्त्राभूषणोंसे भूषित होकर महामूल्यवान् आसनोंपर विराजमान थे। अर्जुनकी गोदमें श्रीकृष्णके चरण थे और द्रौपदी तथा सत्यभामाकी गोदमें अर्जुनके दोनों पैर थे। मुझे देखकर अर्जुनने अपने पैरके नीचेका सोनेका पीढ़ा सरकाकर मुझे बैठनेको कहा, मैं आदरके साथ उसे छूकर नीचे ही बैठ गया।'

वनमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये और वहाँ बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने अर्जुनसे कहा—

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते। यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥ (महा० वन० १२।४५)

हे अर्जुन ! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। अर्थात् जो कुछ मेरा है, उसपर तुम्हारा अधिकार है। जो तुमसे शत्रुता रखता है, वह मेरा शत्रु है और जो तुम्हारा अनुवर्ती (साथ देनेवाला) है, वह मेरा भी है।'

भीष्मको पाण्डवसेनाका संहार करते जब नौ दिन बीत गये, तब रात्रिके समय युधिष्ठिरने बहुत ही चिन्तित होकर भगवान्‌से कहा—'हे श्रीकृष्ण ! भीष्मसे हमारा लड़ना वैसा ही है जैसा जलती हुई आगकी ज्योतिपर पतङ्गोंका मरनेके लिये टूट पड़ना। आप कहिये अब क्या करें।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—'आप चिन्ता न करें, मुझे आज्ञा दें तो मैं भीष्मको मार डालूँ। आप निश्चय मानिये कि अर्जुन भीष्मको मार देंगे।' फिर अर्जुनके साथ अपने प्रेमका सम्बन्ध जताते हुए भगवान्‌ने कहा—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च। मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते॥
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत्। एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम्॥
(महा० भीष्म० १०७।३३-३४)

'हे राजन् ! आपके भाई अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं, और शिष्य हैं। मैं अर्जुनके लिये अपने शरीरका मांसतक काटकर दे सकता हूँ। पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये प्राण दे सकते हैं। हे तात ! हम दोनों मित्रोंकी यह प्रतिज्ञा है कि परस्पर एक दूसरेको सङ्कटसे उबारें।'

इससे पता लग सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ कैसे विलक्षण प्रेमका सम्बन्ध था।

इन्द्रसे प्राप्त एक अमोघ शक्ति कर्णके पास थी। इन्द्रने कह दिया था कि 'इस शक्तिको तुम जिसपर छोड़ोगे, उसकी निश्चय ही मृत्यु हो जायगी। परन्तु इसका प्रयोग एक ही बार होगा।' कर्णने वह शक्ति अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ी थी। दुर्योधनादि उनसे बार-बार कहते कि 'तुम शक्तिका प्रयोग करके अर्जुनको मार क्यों नहीं डालते ?' कर्ण अर्जुनको मारनेकी इच्छा भी करते, परन्तु सामने आते ही अर्जुनके रथपर सारथिरूपमें बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण कर्णपर ऐसी मोहिनी डालते कि [illegible] वे शक्तिका प्रयोग करना भूल जाते। जब भीमपुत्र घटोत्कचने राक्षसी मायासे कौरवसेनाका भीषणरूपसे संहार किया, तब दुर्योधन आदि सब घबड़ा गये। सभीने कर्णको पुकारकर कहा—'इन्द्रकी शक्तिका प्रयोग कर इसे तुम मारो, जिससे हमलोगोंके प्राण तो बचें। इस आधी रातके समय यदि यह राक्षस हम सबको मार ही डालेगा तब अर्जुनको मारनेके लिये रक्खी हुई शक्ति हमारे किस काम आवेगी ?' अतः कर्णको वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़नी पड़ी और शक्तिके लगते ही घटोत्कच मर गया। घटोत्कचकी मृत्युसे सारा पाण्डव-परिवार दुःखी हो गया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और वे [illegible] बार अर्जुनको हृदयसे लगाने लगे। आगे चलकर उन्होंने सात्यकिसे कहा—'हे सात्यके ! [illegible] रखता था। इसीसे आजतक वह अर्जुनपर उस शक्तिका प्रयोग न कर सका। अर्जुनको मारनेमें समर्थ वह शक्ति [illegible] पाता थी, तबतक मैं सदा चिन्तित रहता था। चिन्ताके मारे न मुझे रातको नींद आती थी और न [illegible] था। आज उस अमोघ शक्तिको व्यर्थ हुई जानकर मैं अर्जुनको मानो मृत्युके मुखसे बचा हुआ समझता हूँ। [illegible] तुमलोग, भाई-बन्धु और मेरे प्राण भी मुझे अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं हैं। मैं जिस प्रकार [illegible]

सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

प्रश्न—भगवान्‌का पूजन करना क्या है ?

उत्तर—नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धाभक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना; मनसे भगवान्‌का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब भगवान्‌की पूजा करनेके अन्तर्गत हैं। इसका वर्णन नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतककी व्याख्यामें तथा चौंतीसवें श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है और उसको नमस्कार करना क्या है ?

उत्तर—जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक यहाँ 'माम्' पद है।

उनके किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है। इसका भी विस्तार नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें देखना चाहिये।

प्रश्न—ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेके उपरान्त तू अवश्य ही मुझ सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको प्राप्त हो जायगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है, यह बात भी नवें अध्यायके अन्तिम श्लोककी व्याख्यामें बतलायी गयी है।

प्रश्न—मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, इसका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुन भगवान्‌के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ करानेके लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त वाक्य कहा है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला भक्त मुझे प्राप्त हो जाता है, इस बातपर दृढ विश्वास करके मनुष्यको वैसा बननेके लिये अधिक-से-अधिक चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—तू मेरा प्रिय है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे प्रेममय भगवान्‌ने उपर्युक्त प्रतिज्ञा करनेका हेतु बतलाया है। अभिप्राय यह है कि तुम मुझको बहुत ही प्यारे हो; तुम्हारे प्रति मेरा जो प्रेम है, उस प्रेमसे ही बाध्य होकर तुम्हारा विश्वास दृढ करानेके लिये मैं तुमसे यह प्रतिज्ञा करता हूँ; नहीं तो इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी।*

---

* जिन महात्मा अर्जुनके लिये भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे गीताका दिव्य उपदेश किया, उनकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है। महाभारत, उद्योगपर्वमें कहा है—

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः। नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥ (४९।२०)

'ये श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं और अर्जुन नर कहे गये हैं; ये नारायण और नर दो रूपोंमें प्रकट एक ही सत्त्व हैं।'

यहाँ संक्षेपमें यह दिखलाना है कि अर्जुनके प्रति भगवान्‌का कितना प्रेम था। इसीसे पता लग जायगा कि अर्जुन भगवान्‌से कितना प्रेम करते थे।

[illegible], जलविहार, [illegible], यज्ञानुष्ठान आदिमें भी भगवान् श्रीकृष्ण प्रायः अर्जुनके साथ रहते थे। उनका

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌ने जो चार साधन बतलाये हैं, उन चारोंके करनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है या इनमेंसे एक-एकसे भी हो जाती है ?

उत्तर—जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परन्तु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो

परस्पर इतना मेल था कि अन्तःपुरतकमें पवित्र और विशुद्ध प्रेमके सङ्कोचरहित दृश्य देखे जाते थे। सञ्जयने पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर धृतराष्ट्रसे कहा था—'श्रीकृष्ण-अर्जुनका मैंने विलक्षण प्रेम देखा है; मैं उन दोनोंसे बातें करनेके लिये बड़े ही विनीत भावसे उनके अन्तःपुरमें गया। मैंने जाकर देखा वे दोनों महात्मा उत्तम वस्त्राभूषणोंसे भूषित होकर महामूल्यवान् आसनोंपर विराजमान थे। अर्जुनकी गोदमें श्रीकृष्णके चरण थे और द्रौपदी तथा सत्यभामाकी गोदमें अर्जुनके दोनों पैर थे। मुझे देखकर अर्जुनने अपने पैरके नीचेका सोनेका पीढ़ा सरकाकर मुझे बैठनेको कहा, मैं आदरके साथ उसे छूकर नीचे ही बैठ गया।'

वनमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये और वहाँ बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने अर्जुनसे कहा—

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते। यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ (महा० वन० १२। ४५)

हे अर्जुन! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। अर्थात् जो कुछ मेरा है, उसपर तुम्हारा अधिकार है। जो तुमसे शत्रुता रखता है, वह मेरा शत्रु है और जो तुम्हारा अनुवर्ती (साथ देनेवाला) है, वह मेरा भी है।'

भीष्मको पाण्डवसेनाका संहार करते जब नौ दिन बीत गये, तब रात्रिके समय युधिष्ठिरने बहुत ही चिन्तित होकर भगवान्‌से कहा—'हे श्रीकृष्ण! भीष्मसे हमारा लड़ना वैसा ही है जैसा जलती हुई आगकी ज्योतिपर पतङ्गोंका मरनेके लिये टूट पड़ना। आप कहिये अब क्या करें।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—'आप चिन्ता न करें, मुझे आज्ञा दें तो मैं भीष्मको मार डालूँ। आप निश्चय मानिये कि अर्जुन भीष्मको मार देंगे।' फिर अर्जुनके साथ अपने प्रेमका सम्बन्ध जताते हुए भगवान्‌ने कहा—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च। मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत्। एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥
(महा० भीष्म० १०७। ३३-३४)

'हे राजन्! आपके भाई अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं, और शिष्य हैं। मैं अर्जुनके लिये अपने शरीरका मांसतक काटकर दे सकता हूँ। पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये प्राण दे सकते हैं। हे तात! हम दोनों मित्रोंकी यह प्रतिज्ञा है कि परस्पर एक दूसरेको सङ्कटसे उबारें।'

इससे पता लग सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ कैसे विलक्षण प्रेमका सम्बन्ध था।

इन्द्रसे प्राप्त एक अमोघ शक्ति कर्णके पास थी। इन्द्रने कह दिया था कि 'इस शक्तिको तुम जिसपर छोड़ोगे, उसकी निश्चय ही मृत्यु हो जायगी। परन्तु इसका प्रयोग एक ही बार होगा।' कर्णने वह शक्ति अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ी थी। दुर्योधनादि उनसे बार-बार कहते कि 'तुम शक्तिका प्रयोग करके अर्जुनको मार क्यों नहीं डालते?' कर्ण अर्जुनको मारनेकी इच्छा भी करते, परन्तु सामने आते ही अर्जुनके रथपर सारथिरूपसे बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण कर्णपर ऐसी मोहिनी डालते कि जिससे वे शक्तिका प्रयोग करना भूल जाते। जब भीमपुत्र घटोत्कचने राक्षसी मायासे कौरवसेनाका भीषणरूपसे संहार किया, तब दुर्योधन आदि सब घबड़ा गये। सबने कर्णको पुकारकर कहा—'इन्द्रकी शक्तिका प्रयोग कर पहले इसे मारो, जिससे हमलोगोंके प्राण तो बचें। इस आधी रातके समय यदि यह राक्षस हम सबको मार ही डालेगा तब अर्जुनको मारनेके लिये रक्खी हुई शक्ति हमारे किस काम आवेगी?' अतः कर्णको वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़नी पड़ी और शक्तिके लगते ही घटोत्कच मर गया। घटोत्कचकी मृत्युसे सारा पाण्डव-परिवार दुःखी हो गया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और वे हर्षोन्मत्त-से होकर बार-बार अर्जुनको हृदयसे लगाने लगे। आगे चलकर उन्होंने सात्यकिसे कहा—'हे सात्यके! युद्धके समय कर्णको मैं ही मोहित कर रखता था। इसीसे आजतक वह अर्जुनपर उस शक्तिका प्रयोग न कर सका। अर्जुनको मारनेमें समर्थ वह शक्ति जबतक कर्णके पास थी, तबतक मैं सदा चिन्तित रहता था। चिन्ताके मारे न मुझे रातको नींद आती थी और न चित्तमें कभी हर्ष ही होता था। आज उस अमोघ शक्तिको व्यर्थ हुई जानकर मैं अर्जुनको कालके मुखसे बचा हुआ समझता हूँ। देखो—माता-पिता, तुमलोग, भाई-बन्धु और मेरे प्राण भी मुझे अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं हैं। मैं जिस प्रकार रणमें अर्जुनकी रक्षा करना आवश्यक

सकती है। क्योंकि भगवान्ने स्वयं ही आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्यचिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है; सातवें अध्यायके तेईसवें और नवेंके पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है। यह बात अवश्य है कि उपर्युक्त एक-एक साधनको प्रधानरूपसे करनेवालेमें दूसरी सब बातें भी आनुषङ्गिकरूपसे रहती ही हैं और श्रद्धा-भक्तिका भाव तो सभीमें रहता है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ॥ ६६ ॥

समझता हूँ, उस प्रकार किसीको नहीं समझता। तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी अधिक दुर्लभ कोई वस्तु हो तो उसे भी मैं अर्जुनको छोड़कर नहीं चाहता। इस समय अर्जुनका पुनर्जन्म-सा हो गया देखकर मुझे बड़ा भारी हर्ष हो रहा है।'

त्रैलोक्यराज्यादपि यत्किञ्चिदन्यत्सुदुर्लभम्। नेच्छेयं सात्वताहं तद्विना पार्थं धनञ्जयम् ॥
अतः प्रहर्षः सुमहान् युयुधानाद्य मेऽभवत्। मृतं प्रत्यागतमिव दृष्ट्वा पार्थं धनञ्जयम् ॥

(महा० द्रोण० १८२। ४४-४५)

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मैत्री इतनी प्रसिद्ध थी कि स्वयं दुर्योधनने भी एक बार ऐसा कहा था—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः ॥
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।

(महा० सभा० ५२। ३१-३३)

'श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ भी करनेको कहें, श्रीकृष्ण वह सब कर सकते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्यलोकका भी त्याग कर सकते हैं तथा इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये प्राणोंका परित्याग कर सकते हैं।'

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी आदर्श प्रीतिके और भी बहुत-से उदाहरण हैं। इसके लिये महाभारत और श्रीमद्भागवतके उन-उन स्थलोंको देखना चाहिये।

अर्जुनके इस विलक्षण प्रेमका ही प्रभाव है, जिसके कारण भगवान्को गुह्याद्गुह्यतर ज्ञानकी अपेक्षा भी अत्यन्त गुह्य—सर्वगुह्यतम अपने पुरुषोत्तमस्वरूपका रहस्य अर्जुनके सामने खोल देना पड़ा और इस प्रेमका ही प्रताप है कि परम धाममें भी अर्जुनको भगवान्की अत्यन्त दुर्लभ सेवाका ही सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसके लिये बड़े-बड़े ब्रह्मवादी महापुरुष भी ललचाते रहते हैं। स्वर्गारोहणके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने दिव्य देह धारण कर परम धाममें देखा—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ॥
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।

(महा० स्वर्गा० ४। २—४)

'भगवान् श्रीगोविन्द वहाँ अपने ब्राह्मशरीरसे युक्त हैं। उनका शरीर देदीप्यमान है। उनके समीप चक्र आदि दिव्य शस्त्र और अन्यान्य घोर अस्त्र दिव्य पुरुष-शरीर धारण कर उनकी सेवा कर रहे हैं! महान् तेजस्वी वीर अर्जुनके द्वारा भी भगवान् सेवित हो रहे हैं।' यही 'परम फल' है गीतातत्त्वके भलीभाँति सुनने, समझने और धारण करनेका। एवं अर्जुन-सरीखे इन्द्रियसंयमी, महान् त्यागी, विलक्षण ज्ञानी—विशेषकर भगवान्के परम प्रिय सखा, सेवक और शिष्यको इस 'परम फल' का प्राप्त होना सर्वथा उचित ही है!

प्रश्न—'सर्वधर्मान्' पद यहाँ किन धर्मोंका वाचक है और उनका त्याग क्या है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं; बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्वकर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है—उन शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वधर्मान्' पद है। उन समस्त कर्मोंका जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्‌में समर्पण कर देना है, वही उनका 'त्याग' है। क्योंकि भगवान् इस अध्यायमें त्यागका स्वरूप बतलाते समय सातवें श्लोकमें स्पष्ट कह चुके हैं कि नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना न्यायसङ्गत नहीं है; इसलिये उनका जो मोहपूर्वक त्याग है, वह तामस त्याग है। अतः यहाँ 'परित्यज्य' पदसे समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग मानना नहीं बन सकता।

इसके सिवा अर्जुनको भगवान्‌ने क्षात्रधर्मरूप युद्धका परित्याग न करनेके लिये एवं समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करके युद्ध करनेके लिये जगह-जगह आज्ञा दी है (३। ३०; ८। ७; ११। ३४) और समस्त गीताको भलीभाँति सुन लेनेके बाद इस अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें स्वयं अर्जुनने भगवान्‌को यह स्वीकृति देकर कि 'करिष्ये वचनं तव' (मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा) फिर स्वधर्मरूप युद्ध ही किया है। इसलिये यहाँ समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना अर्थात् सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें वैसे; कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं।

प्रश्न—इस प्रकार समस्त धर्मोंका परित्याग करके उसके बाद केवल एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चले जाना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण करके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इसी अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्‌पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है।

प्रश्न—मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनका वाचक यहाँ 'पाप' है और उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' से और इस अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें 'मत्प्रसादात्सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है—वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है।

प्रश्न—'मा शुचः' अर्थात् तू शोक मत कर, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन देते हुए गीताके उपदेशका उपसंहार किया है। तथा दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके यह दिखलाया है कि दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर ही चुके हो, अब पूर्णरूपसे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका उपसंहार करके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययन आदिका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति-रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

प्रश्न—'इदम्' पद यहाँ किसका वाचक है तथा यह तप-रहित मनुष्यसे किसी भी कालमें नहीं कहना चाहिये, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे लेकर उपर्युक्त श्लोकतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, रहस्य और स्वरूप-का तत्त्व समझानेके लिये भगवान्ने जो उपदेश दिया है, उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है । इसके अधिकारीका निर्णय करनेके लिये भगवान्ने चार दोषोंसे युक्त मनुष्योंको यह उपदेश सुनानेकी मनाही की है । उनमें-से उपर्युक्त वाक्यके द्वारा तपरहित मनुष्यको इसे सुनानेकी मनाही की गयी है ।

अभिप्राय यह है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखने-योग्य विषय है, तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवीसम्पदा-से युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है । अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, भोगोंकी आसक्तिके कारण सांसारिक विषय-सुखके लोभसे अपने धर्मका त्याग करके पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो—ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह इसको धारण नहीं कर सकेगा, इससे इस उपदेशका और साथ-ही-साथ मेरा भी अनादर होगा ।

प्रश्न—भक्तिरहित मनुष्यसे भी कभी नहीं कहना चाहिये; इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भक्तिरहित मनुष्यको उपर्युक्त उपदेश सुनानेकी मनाही की है । अभिप्राय यह है कि जिसका सगुण परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्य भाव नहीं है; जो अपनेको ही सबसे बड़ा समझनेवाला नास्तिक है, ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये, क्योंकि वह इसे सुनकर इसके भावोंको न समझनेके कारण इसे धारण नहीं कर सकेगा ।

प्रश्न—'अशुश्रूषवे' पद किसका वाचक है और उसे गीतोक्त उपदेश न सुनानेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसकी गीताशास्त्रको सुननेकी इच्छा न हो, उसका वाचक यहाँ 'अशुश्रूषवे' पद है । उसे सुनानेकी मनाही करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो किन्तु गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको सुननेमें ऊब जाता है और उसे ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है ।

प्रश्न—जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उसे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि संसारका उद्धार करनेके लिये सगुणरूपसे प्रकट शुद्ध परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, इससे अधिक पापका भागी होगा ।

प्रश्न—उपर्युक्त चारों दोष जिसमें हों, उसीको यह उपदेश नहीं कहना चाहिये या चारोंमेंसे जिसमें एक, दो या तीन दोष हों—उसको भी नहीं सुनाना चाहिये ?

उत्तर—चारोंमेंसे एक भी दोष जिसमें नहीं है, वह तो इस उपदेशका पूरा अधिकारी है ही; इसके सिवा जिसमें स्वधर्मपालनरूप तपकी कमी हो, पर उसके बादके तीन दोष नहीं हों तो वह भी अधिकारी है तथा जो न तो तपस्वी हो और न भगवान्‌का पूर्ण भक्त ही हो, परन्तु गीता सुनना चाहता हो तो वह भी किसी अंशमें अधिकारी है। किन्तु जो भगवान्‌में दोषदृष्टि रखता है—उनकी निन्दा करता है, वह तो सर्वथा अनधिकारी है; उसे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीतोक्त उपदेशके अनधिकारीके लक्षण बतलाकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने भक्तोंमें इस उपदेशके वर्णनका फल और माहात्म्य बतलाते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ६८॥

प्रश्न—'इमम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'परमम्' और 'गुह्यम्'—इन दो विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'इमम्' पद यहाँ गीतोक्त समस्त उपदेशका वाचक है। उसके साथ 'परमम्' और 'गुह्यम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् मुझ परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है।

प्रश्न—'मद्भक्तेषु' पद किसका वाचक है और इसका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—जिनकी भगवान्‌में श्रद्धा है; जो भगवान्‌को समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर उनमें प्रेम करते हैं; जिनके चित्तमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—उनका वाचक यहाँ 'मद्भक्तेषु' पद है। इसका प्रयोग करके यहाँ गीताके अधिकारीका निर्णय किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो मेरा भक्त होता है, उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (९। ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

प्रश्न—भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें इस उपदेशका कथन करना क्या है?

उत्तर—स्वयं भगवान्‌में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना अर्थात् भगवान्‌के भक्तोंको इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेशको उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका उपदेश कथन करनेके अन्तर्गत आ जाती हैं।

प्रश्न—वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार जो भक्त केवल मेरी भक्तिके ही उद्देश्यसे निष्कामभावसे मेरे भावोंका अधिकारी पुरुषोंमें विस्तार करता है, वह मुझे प्राप्त होता है—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है—अर्थात् यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ॥ ६९ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पद यहाँ किसका वाचक है और उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'तस्मात्' पद यहाँ पूर्व श्लोकमें वर्णित, इस गीता-शास्त्रका भगवान्‌के भक्तोंमें कथन करनेवाले, गीताशास्त्रके मर्मज्ञ, श्रद्धालु और प्रेमी भगवद्भक्तका वाचक है। 'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है।' इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं—उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे प्रिय है; इस कार्यके बराबर मेरा प्रिय कार्य संसारमें कोई है ही नहीं। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। क्योंकि वह अपने स्वार्थको सर्वथा त्यागकर केवल मेरा ही प्रिय कार्य करता है, इस कारण वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

प्रश्न—पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह घोषणा कर दी है कि केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय नहीं है, यही बात नहीं है; किन्तु उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जब उसके कार्यसे बढ़कर दूसरा कोई मेरा प्रिय कार्य है ही नहीं, तब किसी भी साधनके द्वारा कोई भी मनुष्य मेरा उससे बढ़कर प्रिय कैसे हो सकता है ? इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किन्तु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है। इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

प्रश्न—'आवयोः संवादम्' के सहित 'इमम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'धर्म्यम्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके प्रश्नोत्तरके रूपमें जो यह गीताशास्त्र है, जिसको अड़सठवें श्लोकमें 'परम गुह्य' बतलाया गया है—उसीका वाचक यहाँ 'आवयोः संवादम्' के सहित 'इमम्' पद है। इसके साथ 'धर्म्यम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह साक्षात् मुझ परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, वह सब-का-सब धर्मसे ओतप्रोत है, कोई भी बात धर्मसे विरुद्ध या व्यर्थ नहीं है। इसलिये इसमें बतलाये हुए उपदेशका पालन करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

प्रश्न—गीताशास्त्रका अध्ययन करना क्या है ?

उत्तर—गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्‌के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके अर्थका

पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि सभी अभ्यास गीताशास्त्रका अध्ययन करनेके अन्तर्गत हैं।

श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ-साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है; तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या पाठ करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है।

प्रश्न—उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा यह मेरा मत है—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने गीताशास्त्रके उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययनका माहात्म्य बतलाया है। अभिप्राय यह है कि इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः जो कोई मनुष्य मेरा तत्त्व जाननेके लिये इस गीताशास्त्रका अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि वह भी ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करता है। यह ज्ञानयज्ञरूप साधन अन्य द्रव्यमय साधनोंकी अपेक्षा बहुत ही उत्तम माना गया है (४।३३); क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्‌के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है; और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है, इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको तत्परताके साथ गीताका अध्ययन करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्योंके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा॥ ७१॥

प्रश्न—यहाँ 'नरः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'नरः' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है। इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है।

प्रश्न—श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण करना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्‌की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है। और उसका श्रवण करते समय भगवान्‌पर या भगवान्‌के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषारोपण न करना एवं गीताशास्त्रकी किसी रूपमें भी अवज्ञा न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है।

प्रश्न—'शृणुयात्' के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'शृणुयात्' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो अड़सठवें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो सत्तरवें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है; पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी पापोंसे छूट जाता है। इसलिये जिससे इसका अध्यापन अथवा अध्ययन भी न बन सके, उसे इसका श्रवण तो अवश्य ही करना चाहिये।

प्रश्न—श्रवण करनेवालेका पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होना क्या है ?

'सः' के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए जो पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्म हैं, उन सबसे छूटकर जो इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्‌के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंमें निवास करना है—यही उनका पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होना है ।

'सः' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य इसका अध्यापन और अध्ययन न कर सकनेके कारण उपर्युक्त प्रकारसे केवल श्रवण-मात्र भी कर लेगा, वह भी पापोंके फलसे मुक्त हो जायगा—जिससे उसे पशु, पक्षी आदि योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति न होगी; बल्कि वह उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करेगा ।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनञ्जय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

प्रश्न—'एतत्' पद यहाँ किसका वाचक है और 'क्या इसको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ?' इस प्रश्नका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके इस अध्यायके छाछठवें श्लोकपर्यन्त भगवान्‌ने जो दिव्य उपदेश दिया है, उस परम गोपनीय समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'एतत्' पद है । उस उपदेशका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनसे उपर्युक्त प्रश्न किया है । अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसन्देह बड़ी भूल की है ।

प्रश्न—क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?—इस प्रश्नका क्या भाव है ?

उत्तर—इस प्रश्नसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि तुमने उस उपदेशको भलीभाँति सुना है तो उसका फल भी अवश्य होना चाहिये । इसलिये तुम जिस मोहसे व्याप्त होकर धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे थे (२ । ७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (१ । ३६) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षा-के अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (२ । ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (१ । ४५—४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (२ । ६—७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह अब नष्ट हो गया या नहीं ? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यान-पूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये । और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है, तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना ।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के पूछनेपर अब अर्जुन भगवान्‌से कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा॥ ७३॥

प्रश्न—यहाँ 'अच्युत' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌को 'अच्युत' नामसे सम्बोधित करके यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप साक्षात् निर्विकार परब्रह्म, परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, अविनाशी परमेश्वर हैं—इस बातको अब मैं भलीभाँति जान गया हूँ।

प्रश्न—आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने कृतज्ञता प्रकट करते हुए भगवान्‌के प्रश्नका उत्तर दिया है। अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (२।९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (१।२८ से ४७ तक)—वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है।

प्रश्न—मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो जानेसे मेरे अन्तःकरणमें दिव्य ज्ञानका प्रकाश हो गया है; इससे मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है।

प्रश्न—'मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव प्रकट किया है कि अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है। मेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं तथा समस्त संशयोंका नाश हो जानेके कारण मेरे अन्तःकरणमें चञ्चलताका सर्वथा अभाव हो गया है।

प्रश्न—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवायेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए संजय दो श्लोकोंमें धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं —

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

सञ्जय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना॥ ७४॥

'सः' के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए जो पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्म हैं, उन सबसे छूटकर जो इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्‌के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंमें निवास करना है—यही उनका पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होना है ।

'सः' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य इसका अध्यापन और अध्ययन न कर सकनेके कारण उपर्युक्त प्रकारसे केवल श्रवण-मात्र भी कर लेगा, वह भी पापोंके फलसे मुक्त हो जायगा—जिससे उसे पशु, पक्षी आदि योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति न होगी; बल्कि वह उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करेगा ।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनञ्जय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

प्रश्न—'एतत्' पद यहाँ किसका वाचक है और 'क्या इसको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ?' इस प्रश्नका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके इस अध्यायके छाछठवें श्लोकपर्यन्त भगवान्‌ने जो दिव्य उपदेश दिया है, उस परम गोपनीय समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'एतत्' पद है । उस उपदेशका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनसे उपर्युक्त प्रश्न किया है । अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसन्देह बड़ी भूल की है ।

प्रश्न—क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?—इस प्रश्नका क्या भाव है ?

उत्तर—इस प्रश्नसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि तुमने उस उपदेशको भलीभाँति सुना है तो उसका फल भी अवश्य होना चाहिये । इसलिये तुम जिस मोहसे व्याप्त होकर धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे थे (२ । ७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (१ । ३६) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षा-के अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (२ । ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (१ । ४५–४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (२ । ६–७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह अब नष्ट हो गया या नहीं ? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यान-पूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये । और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है, तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना ।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के पूछनेपर अब अर्जुन भगवान्‌से कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा॥ ७३॥

प्रश्न—यहाँ 'अच्युत' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान्‌को 'अच्युत' नामसे सम्बोधित करके यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप साक्षात् निर्विकार परब्रह्म, परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, अविनाशी परमेश्वर हैं—इस बातको अब मैं भलीभाँति जान गया हूँ।

प्रश्न—आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने कृतज्ञता प्रकट करते हुए भगवान्‌के प्रश्नका उत्तर दिया है। अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (२।९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (१।२८ से ४७ तक)—यह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है।

प्रश्न—मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो जानेसे मेरे अन्तःकरणमें दिव्य ज्ञानका प्रकाश हो गया है; इससे मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञान नहीं रहा है।

प्रश्न—'मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव प्रकट किया है कि अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है। मेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं तथा समस्त संशयोंका नाश हो जानेके कारण मेरे अन्तःकरणमें चञ्चलताका सर्वथा अभाव हो गया है।

प्रश्न—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवावेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए सञ्जय दो श्लोकोंमें धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

सञ्जय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना॥ ७४॥

प्रश्न—'इति' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'इति' पदसे यहाँ गीताके उपदेशकी समाप्ति दिखलायी गयी है ।

प्रश्न—भगवान्‌के 'वासुदेव' नामका प्रयोग करके और 'पार्थ' के साथ 'महात्मा' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने गीताका महत्त्व प्रकट किया है । अभिप्राय यह है कि साक्षात् नर ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्वका है । दूसरा कोई भी शास्त्र इसकी बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि यह समस्त शास्त्रोंका सार है ।*

प्रश्न—यहाँ 'संवादम्' पदके साथ 'अद्भुतम्' और 'रोमहर्षणम्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि यह महात्मा अर्जुनके पूछनेपर साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ उपदेश बड़ा ही अद्भुत अर्थात् आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्‌के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त समग्ररूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है ।

प्रश्न—'अश्रौषम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि ऐसे अद्भुत आश्चर्यमय उपदेशको मैंने सुना, यह मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥

प्रश्न—'व्यासप्रसादात्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने व्यासजीके प्रति कृतज्ञताका भाव प्रकट किया है । अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूर देशमें होनेवाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है—उन्हींके कारण आज मुझे भगवान्‌का यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता ?

प्रश्न—'एतत्' पद यहाँ किसका वाचक है तथा उसके साथ 'परम्', 'गुह्यम्' और 'योगम्'—इन तीनों विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एतत्' पद यहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवाद-रूप इस गीताशास्त्रका वाचक है, इसके साथ 'परम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि यह अतिशय उत्तम है, 'गुह्यम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि यह अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है, अतः अनधिकारीके सामने इसका वर्णन नहीं करना चाहिये; तथा 'योगम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा यह स्वयं भी अर्थसहित श्रद्धापूर्वक इसका पाठ भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है ।

प्रश्न—उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त इस उपदेशको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति यह भाव प्रकट किया है कि यह गीताशास्त्र—जो मैंने आपको सुनाया है

* गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः । या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
(महा० भीष्म० ४३ । १)

'गीताका ही सम्यक् प्रकारसे श्रवण-कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि यह स्वयं पद्मनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे निकली है ।

किसी दूसरेसे सुनी हुई बात नहीं है, किन्तु समस्त योग-शक्तियोंके अध्यक्ष, सर्वशक्तिमान् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ही मुखारविन्दसे उस समय जब कि वे उसे अर्जुनसे कह रहे थे—मैंने प्रत्यक्ष सुना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अतिदुर्लभ गीता शास्त्रके सुननेका महत्त्व प्रकट करके अब सञ्जय अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए उस उपदेशकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करते हैं—

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

प्रश्न—'पुण्यम्' और 'अद्भुतम्'—इन दोनों विशेषणोंका क्या भाव है?

उत्तर—'पुण्यम्' और 'अद्भुतम्'—इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिव्य संवादरूप यह गीताशास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला तथा भगवान्के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, तत्त्व, रहस्य और स्वरूपको बतलानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है।

प्रश्न—इसे पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे सञ्जयने अपनी स्थितिका वर्णन करके गीतोक्त उपदेशकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट किया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्द्वारा वर्णित इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम हर्षका अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रकी स्मृतिका महत्त्व बतलाकर अब सञ्जय अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए भगवान्के विराट् स्वरूपकी स्मृतिका महत्त्व दिखलाते हैं—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारबार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

प्रश्न—भगवान्के 'हरि' नामका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, लीला, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदि करनेसे मनुष्यके समस्त पापोंका नाश हो जाता है; उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दुःखको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं। इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं।

प्रश्न—'तत्' और 'अति अद्भुतम्' विशेषणोंके सहित 'रूपम्' पद भगवान्के किस रूपका वाचक है?

उत्तर—जिस अत्यन्त आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शन-का महत्त्व भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूप-का वाचक यहाँ 'तत्' और 'अति अद्भुतम्' विशेषणोंके सहित 'रूपम्' पद है।

प्रश्न—उस रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मुझे महान् आश्चर्य होता है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे

हो गया। मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते। अहो! इसमें केवलमात्र भगवान्‌की अहैतुकी दया ही कारण है। साथ ही उस रूपके अत्यन्त अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि अहो! भगवान्‌की कैसी विचित्र योगशक्ति है।

प्रश्न—मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि मुझे केवल आश्चर्य ही नहीं होता है, उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्‌के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब सञ्जय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है॥ ७८॥

प्रश्न—श्रीकृष्णको योगेश्वर कहकर और अर्जुनको धनुर्धर कहकर इस श्लोकमें सञ्जयने क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—धृतराष्ट्रके मनमें सन्धिकी इच्छा उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे इस श्लोकमें सञ्जय उपर्युक्त विशेषणोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका और अर्जुनका प्रभाव बतलाते हुए पाण्डवोंके विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी योगशक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं; वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शङ्का है। इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार भगवान्‌के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं। अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है। अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं है। यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे सन्धि कर लो।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' 'आनन्दचिद्घन' षडैश्वर्यपूर्ण चराचरवन्दित परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं वे ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपका किसी अंशमें झाँकी कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण, मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीपरमात्मने नमः

महाभारतमें श्रीगीताजीका माहात्म्य

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

(महा०, भीष्म० ४३ । १, २, ३, ५)

अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? केवल गीताका ही भली प्रकारसे गान (पठन और मनन) करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) के साक्षात् मुखकमलसे प्रकट हुई है । गीता समस्त शास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गाजी सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं । गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द—ये चार गकारसे युक्त नाम जिसके हृदयमें बसते हैं, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है ।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥ जय० ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय० ॥
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय० ॥
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा ॥ जय० ॥
आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी ।
दैवी सद्गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय० ॥
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी ।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय० ॥
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय० ॥

गीतामें ध्यान-सम्बन्धी श्लोक

अ०	निराकार	निराकार साकार	साकार
२	१७,२०,२१,२३,२४,२५,२८,२९,४५,५५,६९	६१	०
३	१७,२८,४३	३०	०
४	२४,२५,२६,२७,३५	०	६,७,८,९,१०, ११,१३,१४
५	७,८,९,१३,१७,१९,२०,२१,२४,२७,२८	२९	०
६	७,८,१८,२०,२१,२२,२४,२५,२६,२७,२८,२९, ३१,३२	१०,१३,१४,३०,४७	०
७	७,१२,१९	१४,३०	०
८	८,९,१०,२०,२१,२२	५,७,१२,१३,१४	०
९	४,५,६,२९	१३,१४,१५,१८,२२,३४	०
१०	२०	३,८,९,१०,१२,३९,४१,४२	०
११	०	१८,३७,३८,५५	७,१७,४६
१२	३	६,७,८,१४	२
१३	११,१२,१४,१५,१७,२२,२४,२७,२८,२९,३०, ३१,३२	१०,१३,१६	०
१४	१९,२३,२७	२६	०
१५	५,१५,१७,१९	४	०
१६	१	०	०
१७	०	०	०
१८	२०,४६,५४,५५,६१,६२	५७,६५,६६	७७

गीतामें भगवत्प्राप्तिके साधनविषयक श्लोकोंकी संख्या

अ०	श्लोक	
२—	१७,२०,२३,२४,२५,२८,४५,४७,४८,४९,५०,५१,५५,५६,५७,५८,६१,६४,६८,७१	(२०)
३—	७,९,१७,१९,२५,२८,३०,३४	(८)
४—	६,८,९,१०,११,१४,१८,१९,२०,२१,२२,२३,२४,२५,२६,२७,२८,३४,३८,३९,४१,४२	(२२)
५—	२,३,४,५,६,७,८,१०,११,१२,१३,१७,१८,१९,२०,२१,२४,२५,२६,२८,२९	(२१)
६—	१,३,४,७,८,९,१०,१४,१८,२०,२५,२६,२९,३०,३१,३२,३५,४७	(१८)
७—	१,७,१२,१४,१६,१९,२३,२८,२९,३०	(१०)
८—	५,७,८,९,१३,१४,२२,२४,२७	(९)
९—	४,५,६,९,१३,१४,१५,१७,१८,१९,२२,२५,२६,२७,२९,३०,३१,३२,३३,३४	(२०)
१०—	३,८,९,१०,१२,१५,२०,३९,४१,४२	(१०)
११—	७,११,१३,१५,१६,१७,१८,१९,२०,३७,३८,३९,४०,४३,४६,५४,५५	(१७)
१२—	२,३,६,७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९	(१६)
१३—	२,७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,२२,२४,२५,२७,२८,२९,३०,३१,३२,३३	(२२)
१४—	१९,२०,२२,२३,२४,२५,२६,२७	(८)
१५—	१,४,५,१५,१९	(५)
१६—	१,२,३	(३)
१७—	११,१६,२०,२३,२५,२७	(६)
१८—	२,९,१०,११,१७,२०,२३,२६,३३,४२,४६,४९,५५,५६,५७,६२,६५,६६,६८,७०	(२०)